इस ग्रन्थकी सामग्रीका संचय पिछले लगभग बाईस वर्षोंसे हो रहा था विशेषत: तबसे जब आचार्य श्यामसुन्दरदासजीके 'रूपक-रहस्य'की रचनामें मैंने कुछ सहयोग दिया था। किन्तु उससे बहुत पहले ही मेरी नाट्यप्रियताने मेरे मनमें इसकी वासना इतनी भर दी थी कि मैं निरन्तर नाट्यविद्यासे सम्पन्न होनेका प्रयास करता ही रहता था। मेरठकी भारत-व्याकुल थिएट्रिकल कंपनीने तथा कलकत्तेकी कोरिन्थियन थिएट्रिकल कम्पनीने मेरी इस वासनाको और भी अधिक उद्दीप्त किया जिसे हिन्दू विश्वविद्यालयकी नाट्यसमितिके नाट्यप्रयोक्ता (डाइरेक्टर), वनस्पति-शास्त्रके आचार्य डा० याज्ञवल्क्य भारद्वाजने चरम सीमातक पहुँचा दिया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्ययन करते समय मैंने केवल अभिनय-कौशल ही नहीं सीखा वरन् संसार भरके श्रेष्ठ नाटककारोंके सब नाटक छान डाले, संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य) का सुव्यवस्थित अभ्यास किया और अभिनयकला, रंगप्रदीपन, रंग-व्यवस्था आदि सभी नाट्यसंगत विषयोंपर सभी प्राप्त ग्रन्थोंका सूक्ष्म अनुशीलन कर डाला। हिन्दी एम, ए, करनेके पश्चात् मैंने विचार किया कि इसी विषयपर प्रबन्ध लिखकर महाचार्य (डाक्टर) बन जाऊँ। मैंने इसके लिये डाक्टर श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्लका आशीर्वाद और निर्देश प्राप्त करके आवेदन-पत्र भी भेज दिया किन्तु डा० श्यामसुन्दरदासने वृद्धवयस्कताके कारण अवकाश प्राप्त कर लिया, आचार्य शुक्लजी भी चल बसे और मैं भी हिन्दू स्कूलसे टीचर्स ट्रेनिंग कालेजमें प्राध्यापक बनकर चला गया। इन सब घटनाओंने तथा ग्रन्थके विस्तारने मुझे यही प्रेरणा दी कि अब डाक्टरीकी उपाधिका मोह छोड़कर इस ग्रन्थको सर्वांगपूर्ण बनाकर अलग प्रकाशित किया जाय क्योंकि चारों ओर दृष्टि डालनेपर भी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ा जो इस शास्त्रका परीक्षक बन सकता। मेरे आत्मसम्मानने मुझे यही उपदेश दिया कि अनधिकारियोंके हाथोंसे सम्मान पानेकी अपेक्षा स्वयं सम्मान अर्जित करना कहीं अच्छा है। इस गर्वसे समृद्ध स्वाभिमानकी रक्षा करनेके लिये मैंने अपनी शक्ति ग्रन्थ-निर्माणमें केन्द्रित कर दी।

टीचर्स ट्रेनिंग कौलेजमें पहुँचनेपर वहाँके आचार्य मेरे गुरु प्रिंसिपल हरिकृष्णदास बूलचन्द मलकानीने अभिनव रंगशालाकी स्थापना कराकर मुझे स्वलिखित नाटकोंका प्रयोग करनेका प्रोत्साहन दिया जिनमें मेरे मित्र-शिष्य श्री शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, करुणापति त्रिपाठी, मुकुन्ददेव शर्मा, अशोकजी, काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'

'[illegible]', राधाविनोद गोस्वामी, कमलिनी मेहता, विमला वैद्य, पुष्पा, [illegible], इन्द्रा [illegible], सुशीलाशरण सिंह, उमाकुमारी मोडवेल, [illegible] डे. राधा चक्रवर्ती, प्रभावती सिंह, प्रभा तथा शोभा [illegible], सुशीला शर्मा, [illegible] सिपाहीमलानी, शक्ति अधिकारी, [illegible] वर्मा, कुन्ती नागर, शैलबाला दुबे आदिने पूर्ण सहयोग देकर तथा मेरे लिखे हुए नाटकोंमें अभिनय करके मेरे इस अनुष्ठान-की पूर्तिमें सक्रिय योग दिया। संवत् २००० में विक्रम सहस्राब्दि-महोत्सवके अवसरपर ऊपर लिखे मेरे मित्र-शिष्योंके अतिरिक्त श्री [illegible] प्रसाद गौड़ 'वेढब' बनारसी, इन्द्रशंकर मिश्र, त्रिलोचन पन्त आदि अनेक मित्रोंने श्री शिवप्रसाद मिश्र रचित 'महाकवि कालिदास' और मेरे नाटक 'विक्रमादित्य' का उत्तर कालिदासके [illegible] अभिनयमें [illegible] और [illegible] सहयोग दिया। इन सभी प्रयोगोंसे मेरे [illegible] अनुभवमें [illegible] [illegible] हुआ और जब मैं गुरुजनोंके [illegible] तथा नेता श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी [illegible] अपने भारतीय विद्याभवनमें हिन्दी और पालि विभागोंका [illegible] बनकर गया तब मेरा यह नाट्यानुभव अपनी [illegible] [illegible] गया।

उसमें निश्चय ही कुछ समय लगेगा क्योंकि उसमें रंगशाला, दृश्यपीठ, अभिनय-मुद्रा तथा नृत्यमुद्रा आदिके सैकड़ों चित्र प्रस्तुत करने पड़ेंगे जिसमें श्रम, समय और द्रव्य तीनों ही अपेक्षित हैं और जिसका मूल्य भी ३०) के लगभग पड़ेगा किन्तु हमारे जो ग्राहक १ अगस्त १९५२ तक १) अग्रिम देकर पूर्व ग्राहक बन जायंगे उन्हें हम केवल १२) रुपयेमें ही दे सकेंगे।

इस ग्रन्थके निर्माणमें अनेक ग्रन्थोंसे हमने उद्धरण लिए हैं जिन्हें उलटे अर्द्ध विराम (इनवर्टेड कोमा) में रखकर हमने मूल लेखकका नाम दे दिया है किन्तु कहीं उलटे अर्द्ध विराम नहीं लगे हैं और कहीं मूल लेखकका नाम नहीं आ पाया है। विज्ञ पाठक कृपया ठीक कर लेंगे और मैं अगले संस्करणमें उनका संस्कार भी कर दूँगा। कुछ ऐसे ग्रन्थोंके मैंने पूरे अंश ले लिए हैं जिनका मैं लेखक, सहायक लेखक या अनुवादकर्त्ता रहा हूँ जैसे भाषाकी शिक्षा, रूपकरहस्य, अरस्तूका काव्यशास्त्र आदि। इनके अतिरिक्त जिन दिवंगत अथवा वर्त्तमान लेखकोंकी कृतियोंके अंश मैंने लिए हैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। यदि किसीका नाम देना मैं भूल गया होऊँ तो वे क्षमा करके मुझे सूचित कर देंगे मैं उचित सुधार कर दूँगा।

बहुत सावधानी रखनेपर भी हमारे प्रूफ-संशोधकों या मुद्रकोंने कुछ भूलें छोड़ दी हैं, कुछ स्थानोंपर मात्राएँ टूट गई हैं और प्रायः ऐसी अशुद्धियाँ सस्कृत पाठोंमें अधिक रह गई हैं। सुविज्ञ पंडितगण कृपया उन्हें सुधार लेंगे।

हमने अभिनव-नाट्यशास्त्रकी रचना संस्कृतकी सूत्रप्रणालीपर की है। पहले एक सूत्र दे दिया है, फिर प्रायः पद्यबद्ध उसका नागरी रूपान्तर है और तत्पश्चात् नागरी भाषामें उसकी व्याख्या है। अपने वक्तव्यके समर्थनमें हमने जहाँ-जहाँ संस्कृतके उद्धरण दिए हैं वहाँ उनका नागरी अनुवाद भी दे दिया है। अन्य भाषाओंके उद्धरणोंका हमने केवल नागरी अनुवाद मात्र दिया है।

नाट्यशास्त्र अनेक शास्त्रोंका सागर है। इसमें भाषाशास्त्र, साहित्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, आलेख्यकर्म, वास्तुशास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंका संयोजन होता है इसी लिये भरतने नाट्यशास्त्रके प्रारंभमें कहा है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥

[कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला योग और कर्म नहीं है जो नाट्यमें न दिखाया जा सके।] इतने विस्तीर्ण विषयका निरूपण करना सरल कार्य न होते हुए भी मैंने चपलता करके केवल परमेश्वरके भरोसे अभिनव-भरत नाम स्वीकार करके इसकी रचना प्रारंभ की

जिसका प्रथम खंड दैवी शक्तिके सहारे आज पूर्ण भी हो गया है। इस ग्रन्थमें नाट्यरचनाके सम्बन्धमें भारतीय तथा अभारतीय जितने वाद, सिद्धान्त, मत तथा प्रयोग प्राप्त हैं सबका यथास्थान समावेश कर दिया गया है फिर भी कुछ ऐसे विषय छूट जा सकते हैं जो मेरी पहुँचसे बाहर हों। जो सज्जन ऐसी त्रुटियाँ मुझे सुझावेंगे या इस ग्रन्थके दोष बतावेंगे उन्हें मैं सधन्यवाद कृतज्ञतापूर्वक अगले संस्करणमें सुधार दूँगा।

मैं सभी पूर्व ग्राहकोंसे इस विलम्बके लिये क्षमा माँगता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अत्यन्त उदारताके साथ हमारी इस विवशताको क्षमा करेंगे।

काशी,
वसन्तपंचमी,
संवत् २००८

सीताराम चतुर्वेदी,
एम्. ए. (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास तथा संस्कृति), बी. टी., एल् एल्. बी., साहित्याचार्य,

अभिनवनाट्यशास्त्र

[प्रथम खंड]

रूपक-रचनाकी

विषय-तालिका

विषय पृष्ठ

१. प्रस्तावना १-१०

नाट्यका आध्यात्मिक पक्ष—नाट्यका लौकिक पक्ष—नाटककी श्रेष्ठता तथा लोकप्रियता—उपदेश और शान्तिके लिये नाट्यकी व्यवस्था—नाट्यकी परिधि—अभिनवनाट्यशास्त्रकी रचनाका प्रयोजन—ग्रन्थकी परिधि—ग्रन्थका नामकरण।

२. नाट्यकी उत्पत्ति १०-४२

अपने देशमें नाट्यकी उत्पत्ति—नाट्योत्पत्तिका आख्यान या संवाद-सिद्धान्त—आख्यान या संवाद-सिद्धान्तका खंडन—नाट्यकी उत्पत्तिका वैदिक कर्मकांड-सिद्धान्त—कर्मकांड-सिद्धान्तका खंडन—कर्मकांड-सिद्धान्तकी निरर्थकता—नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त—पुतली-नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त—इस मतकी भ्रमात्मकता—अभिनवभरतका विरोध—छाया-नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति—छाया नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति अमान्य—वीर पुरुषोंका आदर ही नाट्योत्पत्तिका कारण—उपर्युक्त मतकी अमान्यता—क्या प्रकृति-परिवर्तनका प्रतीकात्मक रूप नाट्य है—स्वयं-विरोध—इन्द्रध्वजोत्सवसे नाट्यकी उत्पत्ति—उक्त मतका खंडन—यूनानी नाट्यसे भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति—उक्त मतका खंडन—यूनानी नाटककी उत्पत्ति—रोमके नाटकोंकी उत्पत्ति—चीनी नाटकोंकी उत्पत्ति—जापानी नाटक—अन्य देशोंके नाटक भारतसे प्रभावित—म्लेच्छ देशोंमें नाटकोंका अभाव—अभिनवभरतके मतसे लोक-चिन्ताका शमन करनेके लिये संगीत, कथा और अभिनयके संयोगसे नाट्यकी उत्पत्ति।

३. परिभाषा [नाटककी परिभाषा] ४२-४८

नाट्य किसे कहते हैं—आक्षेप—आक्षेपका समाधान—किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर नाट्यकार द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता-द्वारा सिखाए हुए नट जब अभिनय तथा संगीतादिके द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकोंका मनोविनोद करते हैं तथा उन्हें उपदेश और मनःशान्ति प्रदान करते हैं तब उस प्रयोगको रूपक या नाटक कहते हैं।

४. सिद्धान्त ४८-६६

आदर्शवाद और यथार्थवाद—यथार्थकी असाधारणता ही आदर्श है—यथार्थवादकी व्याख्या—नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त—सुखान्त ही उचित है—अरस्तूका मत—समय, स्थान और व्यापारका एकत्व—नाट्य-रूढ़ियाँ—नाटकमें पद्य—पद्यका प्रयोग अनुचित—गीतोंका प्रयोग—गीतोंका अधिक प्रयोग अनुचित—संवाद सर्व-श्राव्य हों—नाटकका परिमाण—दस घड़ीमें पूर्ण हो सकनेवाला नाटक श्रेष्ठ—थोड़े समयमें खेले जा सकनेवाले, थोड़े पात्रों तथा दृश्योंवाले नाटक ही श्लाघ्य हैं।

५. नाट्यकार [नाटककार] ६६-७४

लोकका इतिहास, भाषा, संगीत, अभिनयकला तथा लोकवृत्तिका पारखी ही नाटककार हो सकता है—

कवि नाटक क्यों लिखता है—सिद्धान्ततः चार प्रकारके नाटककार—आदर्शवादी नाटककार—संभावनावादी नाटककार—वस्तुवादी नाटककार—भाग्यवादी नाटककार—स्वभावके अनुसार दो प्रकारके नाटककार—गम्भीर तथा अगम्भीर—जनताकी मनोवृत्ति समझना नाटककारके लिये आवश्यक—मानवचरित्रके अध्ययनके साथ भाषाओंका ज्ञान भी आवश्यक—रंगक्रियाकुशल, लोक-वृत्तिज्ञ, इतिहासज्ञ तथा भाषाका पंडित ही नाटककार हो सकता है।

६. रूपक-रचनाके तत्त्व ७४-७८

काव्यके दो भेद—दृश्य और श्रव्य—कथा, संवाद और रंग-निर्देश ही रूपकके तीन तत्त्व हैं—अरस्तूके अनुसार रूपकके तत्त्वोंका विवेचन—इतिवृत्त आचार, विचार, वर्णनशैली, दृश्य और गीत—वस्तु, नेता और रस क्या तत्त्व हैं।

७. कथावस्तु ७९—११२

कथावस्तुकी रचना—धनंजयका मत—पताकास्थानक—वस्तुकी अर्थप्रकृति (बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य)—नाटक-रचनाकी सन्धियाँ—संधि—मुखसंधि—मुखसन्धिके बारह अंग—प्रतिमुख-सन्धि—प्रतिमुख-सन्धिके तेरह अंग—गर्भसन्धि—गर्भसन्धिके तेरह अंग—अवमर्श या विमर्शसन्धि—विमर्शसन्धिके तेरह अंग—निर्वहणसन्धि—निर्वहणसन्धिके चौदह अंग संध्यन्तर—उपसन्धियाँ या सन्ध्यन्तर—इक्कीस अन्तःसन्धियाँ—सन्ध्यंगों और सन्ध्यन्तरोंका उद्देश्य—छः निमित्तोंसे संधियोंके चौंसठ अंगों और इक्कीस सन्ध्यन्तरोंका प्रयोग—अंक—अर्थोपक्षेपक (विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका अंकास्य, अंकावतार)—आधिकारिक और प्रासंगिक कथावस्तु—ग्राह्य, अग्राह्य और नियतग्राह्य—अरस्तूके अनुसार इतिवृत्त रचनाका विधान—दो प्रकारके इतिवृत्त, साधारण और गूढ़—नाटकमें एक इतिवृत्त हो और निश्चित परिमाणका हो—अंकमें क्या हो—स्वगत परिसंवाद—अंकोंकी संख्या—इतिवृत्तके भेद—इतिवृत्त और कथावस्तुमें भेद—इतिवृत्त और कथावस्तु—वस्तुरचनाकी पाँच रीतियाँ—नायक-केन्द्ररीति—घटनाचक्ररीति—मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति—कुतूहल-निर्वाह रीति—दृश्यानुकूल रीति—घटनाचक्ररीति ही श्रेष्ठतम—नाट्यवस्तुकी धाराएँ—गंभीर और हास्यात्मक कथावस्तु—विशिष्ट कथावस्तु—कथावस्तुकी गति—नाटकीय प्रभाव—पताकास्थानकका प्रयोग ठीक नहीं—अर्थोपक्षेपक—उसकी अनुपयुक्तता—कथावस्तु-रचनाके उपाय (दृश्यक्रम-संविधानक तथा घटनाक्रम-संविधानक)—संविधानकके तीन तत्त्व—पात्र, स्थान और व्यापार।

८. पात्र-योजना ११३—१३७

पात्रकी व्याख्या—भरतके अनुसार तीन प्रकृतिके मनुष्य—यह तो नायक और प्रेक्षक-परिवारका स्वभाव है—शारदातनयका मत—नायक-नायिका भेद—नायकके बाईस गुण—स्वभाव-भेदसे नायकके चार प्रकार (धीरशान्त, धीरललित, धीरोदात्त, धीरोद्धत)—इन चारों प्रकारोंके चार चार भेद (अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट)—भरतने इनके तीन तीन भेद किए, उत्तम, मध्यम और अधम—इनके भी तीन तीन भेद, दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य—नायकके सहायक—नायक के आठ सात्विक गुण—नायिका-भेद—स्वकीया—परकीया - गणिका - मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाके भेद—व्यवहार और दशाओंके अनुसार नायिकाओंके भेद—नायिकाकी दूतियाँ—नायिकाओंके अलंकार—अंगज, अयत्नज और स्वभावज अलंकार—अनुरागकी चेष्टाएँ—हरिऔधजीका रस-कलश—अन्तर्मुख और बहिर्मुख मानव—यूंगका मत—योरोपीय आचार्योंके बताए अन्य भेद—अरस्तूका मत—उच्च और अपराधी प्रकृति—कुल-परंपरा और संगतिका संस्कार—अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति—स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले—कल्पनाशील और संस्कारशील—सब भावोंके दोष—सामुद्रिक शास्त्र और कामशास्त्रके अनुसार पुरुषों और स्त्रियोंके भेद—रतिमंजरीमें स्त्रियोंके भेद—अभिनवभरतके मतानुसार नाटकीय पात्रके

तीन भेद, सबुद्धि, अबुद्धि तथा जड़—सबुद्धि मनुष्य—अबुद्धि पशु-पक्षि आदि—नाट्यक्रिया जड़ भी कर सकते हैं—रंगपीठपर पशु-पक्षियोंका प्रयोग अवाञ्छनीय—अल्पकालके लिये छोटे पालतू जीवोंका प्रयोग हो सकता है—मानव-पात्र ही लौकिक, अलौकिक तथा भावपात्रों (क्रोध, क्षमा, शान्ति, धर्म आदि) के प्रतिनिधि हो सकते हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक भेदसे मानव तीन प्रकारके होते हैं—गोरे, काले, पीले और लालके भेदसे चार प्रकारके—दुबले, मोटे न अधिक दुबले न अधिक मोटेके भेदसे चार प्रकारके—नाटे, लंबे, न बहुत नाटे, न बहुत लंबे भेदसे चार प्रकारकी देहोंवाले मनुष्य—सुन्दर, विकृत और कुरूप तीन प्रकारकी मानवीय आकृतियाँ—सरोग और नीरोग—सत्त्व, रज और तम प्रकृतिवाले—स्वभाव कैसे बनता है—संगतिसे संस्कार अच्छे और बुरे हो जाते हैं—अच्छे और बुरेका भेद—दूसरोंका हित करनेवाले, दूसरोंका अहित करनेवाले—स्वभावपर अवस्थाका प्रभाव—दस अवस्थाओंके मानव—पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें भेद—अवस्थाके अनुसार पुरुषोंके भेद—बालक—कुमार—किशोर—तीन प्रकारके तरुण—अनुरक्त, विरक्त—उदासीन—अनुरक्तके दो भेद—लोक-संग्रही और स्वार्थी—साहसी—स्वार्थी—विषयी—अनुरक्त लोभी—अनुरक्त ईर्ष्यालु—अनुरक्त अभिमानी—अनुरक्त क्रोधी तथा आवेश-क्रोधी—चिड़चिड़े—अनुरक्त मूढ़ महत्त्वाकांक्षी—दुहरे चरित्रके लोग—विशिष्ट प्रकृतिके लोग—प्रौढ़ अवस्था—अतिप्रौढ़ अवस्था—अतिवृद्ध अवस्था—स्त्रियोंकी प्रकृति—शिशु अवस्था—बालिका—कुमारी—किशोरी—सुशीला, कर्कशा, प्रमत्ता और दुहरे चरित्रवाली—प्रौढ़ा—वृद्धा—सपत्नी, विधवा, अपुत्रा, पुंश्चली, अपमानिता, ताडिता पीडिता तथा कामार्त्ता—नपुंसक—बुद्धिभेदसे सात प्रकारके लोग—देवबुद्धि, देवप्राय बुद्धि, अत्यन्त प्रखर बुद्धि, प्रखर बुद्धि, साधारण बुद्धि, स्थूल बुद्धि, मन्द बुद्धिकी सीमापर, निश्चित मन्दबुद्धि या जड़—अभिनवभरतका विरोध—स्वाधीन, पराधीन तथा जड़-स्वभावमें देश, जाति, कुल, वर्ग और वृत्तिका प्रभाव—लोकावेशके अनुसार स्वभाव—योरोपीय नाट्याचार्योंके कुछ सिद्धान्त—नाटकमें अधिक पात्रोंका प्रयोग निषिद्ध—कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, (व्यवसाय), देह, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति तथा संस्कारके अनुकूल पात्र-चित्रण।

९. स्थान-योजना १७३-१७८

स्थान-निर्देशका महत्त्व—संस्कृत नाटकोंमें स्थान-निर्देश—वास्तविक और काल्पनिक स्थान—आकाशमें कार्य—तीन प्रकारके स्थल—उन्नत, सम, निम्न—जल-स्थान—स्थानका प्रभाव—रंगव्यवस्थापकके सामर्थ्यसे बाहर स्थान-निर्देश करना अनुचित—नाटकीय वस्तुके अनुरूप काल, पात्र तथा संस्कारके योग्य स्थानका निर्देश हो।

१०. व्यापार-योजना १७८-१८५

व्यापारकी व्याख्या—नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायक या बाधक घटनाएँ ही व्यापार कहलाती हैं—सब कार्य अपने कारण, दूसरोंके कारण या दैवके कारण होते हैं—तीन प्रकारके व्यापार—इष्ट-प्राप्ति, आदर्शकी सृष्टि तथा पर-पीड़ा—सब व्यापारोंका आश्रय चार सम्बन्धोंपर—स्वसम्बन्ध, इष्ट-जन-सम्बन्ध, नगर-ग्राम-सम्बन्ध तथा राष्ट्र-सम्बन्ध—पुत्रैषणा, लोकैषणा, वित्तैषणा—तीन प्रकारकी विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ।

११. संवाद-योजना [भाषा-तत्त्व] १८५-२०१

भाषाकी आवश्यकता—संवादमें भावसंक्रमणका सामर्थ्य—व्यक्त और अव्यक्त ध्वनि—वर्णके दो रूप, ध्वनि और अक्षर—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—वेदके अनुसार दो प्रकारकी वाणी—निरुक्ता और अनिरुक्ता—विभिन्न देशोंकी वर्णमाला—संस्कृतके वर्ण अक्षर भी हैं, शब्द भी—हमारी भाषाका ध्वनितत्त्व—नागरीकी सैंतालीस ध्वनियाँ—नागरीकी अनुनासिका प्रकृति—नागरीकी कुछ विचित्र ध्वनियाँ—देशभेदसे उच्चारणमें विकार—नाटककी भाषा—दैवी, भौतिक और पार्थिव वाक्—भरतके अनुसार भाषा-भेद—समान, विभ्रष्ट और देशी—देशीके अनेक भेद—अतिभाषा, आर्यभाषा, जाति-भाषा और जात्यन्तरी भाषा—पात्रकी प्रकृतिके अनुसार शिष्ट

भाषाका प्रयोग ही उचित—इष्ट अर्थका बोधक शब्द या शब्द-समूह ही वाक्य कहलाता है—परस्पर बोल-चाल ही संवाद है—स्वयँल्लाप भी संवाद ही है—उल्लासमें बकना या गाना भी संवादके अन्तर्गत—संवाद गद्य में भी, पद्यमें भी।

१२. संवाद-योजना [काव्य-तत्त्व] २०२—

रूपक-काव्य—संवादमें आकर्षण—नाट्यका काव्यत्व प्रसंगानुकूलता है—चार प्रकारसे भाषाका संस्कार—नाटककारोंके संसर्गसे, नाटकोंका अध्ययन करने और देखनेसे, रंगपीठपर नाटक उपस्थित करनेकी कलाके ज्ञानसे, तथा जनताके विभिन्न वर्गों संप्रदायों, वृत्तियों और समुदायोंके संपर्क तथा अध्ययनसे—राजशेखरके अनुसार सारस्वत कविकी श्रेष्ठताका वर्णन—दो प्रकारके शिष्य (कवि)—बुद्धिमान् और आहार्य बुद्धि—कारयित्री प्रतिभा—भावयित्री प्रतिभा—काव्य-पाक कला—प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंकी आवश्यकता—तीन प्रकारके कवि—शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि—तीन प्रकारके शास्त्रकवि—आठ प्रकारके काव्य कवि रचना कवि, शब्दकवि, अर्थकवि, अलंकार-कवि, उक्तिकवि, रसकवि, मार्गकवि और शास्त्र कवि—अभिनवभरतका विरोध—वामनाचार्य और अवन्तिसुन्दरीका मत—दो प्रकारके काव्य-पाक—शब्द और अर्थ दोनोंका नित्य सम्बन्ध—पदरचनाकी सरलता ही काव्य है—वाग्देवकी परिभाषा—अनिरुद्ध कौतूहलको ही उत्पन्न करते हैं—योरोपीय आचार्योंके अनुसार काव्यकी परिभाषा—काव्यके दो रूप [illegible] और [illegible]—उत्तम, मध्यम और अधम [illegible]—अभिनवभरतकी असहमति—तीन प्रकारके शब्द—शब्द और वाक्य—रूढ शब्द—शब्दशक्ति—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—अभिधाशक्ति और वाचक शब्द—वाच्यार्थ—अभिधा शक्तिसे प्रकट होनेवाले चार प्रकारके अर्थ—रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ और [illegible]—लक्षणा और लक्ष्यार्थ—लक्षणाके भेद—रूढ़ि [illegible] लक्षणा नाट्यमें स्वरूप—[illegible]—[illegible] भाषाके [illegible]—[illegible] द्वारा किसी अर्थके [illegible] है—

वक्ता और श्रोताके कहने और समझनेके अनुसार दो प्रकारके अर्थ—वक्ताके भावोंके व्यंजक शब्द या शब्द-समूह ही वाक्य कहलाते हैं—नाटकीय वाक्यकी परिभाषा—ध्वनि—ध्वनिके भेद—सामाजिक जो अर्थ *समझें वही नाट्य शब्दका अर्थ है*—संवादकी परिभाषा—संबोधनात्मक शब्द-भावके अनुसार वाक्यके भेद—विधि-वाची, निषेधवाची, काकु-प्रवृत्ति—भावके अनुसार वाक्य-रचना—सूचनात्मक वाक्य—समर्थनात्मक वाक्य—आदेशात्मक वाक्य—सम्मतिसूचक वाक्य, उपदेशात्मक वाक्य—तर्जनात्मक वाक्य, अधिकारात्मक वाक्य—प्रार्थनात्मकवाक्य—व्यग्रतासूचक वाक्य उन्माद-सूचक वाक्य—हास्यात्मक वाक्य—उपेक्षात्मक वाक्य—व्यंग्यात्मक वाक्य—चाटुकारितायुक्त वाक्य—संवाद स्वाभाविक हो, उतना हो जितनेसे कथाका विस्तार और नाटकीय चरित्रोंका विकास हो, लोकबोध्य हो, जोड़-तोड़के प्रत्युत्तर आवश्यक अनिवार्य और स्वाभाविक हों, देर तक एक मंडलके पात्रोंद्वारा न चलें, उनमें अभिनयके लिये अवसर हो—पूर्ण वाक्य आवश्यक नहीं—योरोपीय नाटकोंके संवादका रूप साहित्यिक किन्तु प्रकृति स्वाभाविक—संवादमें सम्बन्ध-निर्वाह—संवादके लक्षण—अनुसंवादों तथा भावाभिनयमें केवल आंगिक अभिनय—काव्यालंकार योग्य तथा उचित सजावट ही अलंकार—भरतके अनुसार केवल चार अलंकार ही मान्य काव्यके गुण—प्रसाद और कुतूहल—नाट्य संवादके दोष—काव्यके दोष—अमंगलसूचक शब्दोंका प्रयोग त्याज्य—संवादकी स्वाभाविकता संवादकी परिस्थितियाँ—मनःस्थिति ही संवादका आधार—मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ—स्वार्थ परार्थ और वर्ग-प्रवृत्ति—समस्त मानव-चेष्टाके छः आधार—सम्पत्ति या गव्य (भोजन-वस्त्रादि सब इसमें सम्मिलित), स्त्री और परिवार, विद्या, आयुष्य या स्वास्थ्य (शरीरकी कुशलता), यश और मुक्ति—विभिन्न मानसिक अवस्थाओंमें चौबीस मनोवृत्ति-युग्म—अनुराग अनुरागके भेद—घृणा—स्थायी भावोंके द्वारा मनोवृत्तियोंका पोषण—स्थायी भावकी व्याख्या और उनके भेद—संचारी भाव—

अभिनवभरतके मतसे बत्तीस संचारी भाव—रतिकी व्याख्या हास—शोक—उत्साह—भय—क्रोध—आश्चर्य—घृणा—नाटकीय संवादके चार प्रकार—स्वाभाविक, कृत्रिम, प्रभावकर, साहित्यिक—इनकी व्याख्या—स्वाभाविक संवादकी श्रेष्ठता—भाषा सर्व-बोध्य हो—पात्रोंके अनुरूप वाणी हो—एक साथ उत्तरमें विभिन्नता होनी चाहिए—एक ही दृश्यपीठपर अनेक व्यापार-स्थलोंका प्रयोग और उनके अनुसार संवाद-योजना—नाट्यकारकी स्वतन्त्रता।

१३–संवाद-योजना [रंगनिर्देश] २९७–३१५

अभिनेता, रंगव्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीतव्यवस्थापक तथा नेपथ्य-व्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देशका महत्त्व—अन्य देशोंमें रंगनिर्देश—नाटकके सब प्रकारके कार्योंकी प्रणालीको स्पष्ट समझना ही रंगनिर्देशका उद्देश्य रंगनिर्देश सरल तथा पूर्ण हो—तीन प्रकारके रंगनिर्देश—मंचके लिये, नेपथ्यके लिये और सामग्रीके लिये—जीव, अग्नि तथा विस्फोटक पदार्थोंका प्रयोग निषिद्ध—अभिनेताओंके लिये रंगनिर्देश—प्रकाश-व्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देश—दस प्रकारकी प्रकाश व्यवस्था—एक दृश्यमें बहुत रंगोंका प्रकाश निषिद्ध—प्रकाश एक ओरसे ही हो—संगीत-व्यवस्थाके लिये रंग-निर्देश—रस या भावोंके अनुसार राग—कोमल और कर्कश वाद्यनिर्देश प्रसंगके अनुकूल संगीत-निर्देश—पत्ववाद्य या पृष्ठ-संगीत—पराश्रित गीत और वाद्य (प्ले बैक)—नेपथ्य-विधायकके लिये रंग निर्देश—नाट्यप्रयोक्ताके लिये रंगनिर्देश आवश्यक।

१४. संवादयोजना [छन्दस्तत्त्व (कविता और गीत)] ३१५—३५५

पद्यका प्रयोजन—छन्दकी व्याख्या—छन्दमें रस और भावकी अनुकूलता—छन्दकी परिभाषा—मात्रिक और वर्णिक वृत्त—मात्रा—पदान्तकी दीर्घता अस्वीकृत—लघु और गुरु—उच्चारणके अनुसार लघु-गुरुत्व—मत्रिक और वर्णिक छन्दमें अन्तर—शुभ, अशुभ और दग्धाक्षर वर्ण—अपवाद—मात्रिक और वर्णिक वृत्तके उपभेद—गण और उनके फल मात्रिक छन्द—वर्णवृत्त—रस या वर्णनके अनुसार छन्दोयोजना—क्षेमेन्द्रका मत—अभिनवभरतकी अपनी मति—मात्रिक सम—मात्रिक सम (दंडक)—मात्रिक अर्द्धसम—मात्रिक विषम—वर्णिक सम वर्णिक अर्द्धसम—वर्णिक विषम—अन्य देशोंमें छन्दकी योजना—योरोपीय छन्दःशास्त्र—अरबी छन्दःशास्त्र—फारसी छन्दःशास्त्र—उर्दूका छन्दःशास्त्र—चीनियोंकी छन्दोयोजना—जापानी छन्दोयोजना—कविता और गीत—ब्लैंक वर्स (अतुकान्त पद्य)—गीतका अवसर—कविताके प्रयोगस्थल—गीतका प्रयोग—गीतके रूप और प्रयोग—सिद्धार्थ (नृत्यनाट्य)।

१५. नाट्यवृत्ति ३५६-३७६

वृत्तिकी व्याख्या—भारती वृत्ति कैशिकी वृत्ति—सात्वती वृत्ति—आरभटी वृत्ति—राजशेखर और तर्कवागीश द्वारा वृत्तिकी व्याख्या कथावस्तुके व्यापारकी प्रकृति ही वृत्ति है—रसमीमांसा—रूपक—रूपकके दस भेद—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क, ईहामृग—उपरूपक—उपरूपकके अठारह भेद नाटिका त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, रासक, प्रेंखण, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश, भाणिका—विदेशोंमें रूपकके भेद—यूनानी नाटक—त्रासद (ट्रेजेडी)—प्रहसन—रोमके नाटक—योरोपके मध्ययुगीन नाटक—इतालवी नाटक—जर्मन, आस्ट्रियन और जेकोस्लोवाकियन नाटक—स्कैंडिनेवियन और फ्लेमिश नाटक रूसी नाटक—अंग्रेजी नाटक—अमरीकाके नाटक—एकांकी नाटक—कलावादी तथा वास्तविकतावादी नाटक—नवीन वर्गीकरण—विषयके अनुसार पाँच भेद—रङ्गमंचके अनुसार छः भेद—प्रदर्शन-विधिके अनुसार सात भेद—प्रभावके अनुसार ग्यारह भेद—रचनाके अनुसार पाँच भेद—उद्देश्यके अनुसार तीन भेद—दर्शकके अनुसार चार भेद—पात्रके अनुसार पाँच

भेद—वर्त्तमान वर्गीकरणके अनुसार छः भेद—कथा-प्रधान, चरित्र प्रधान, व्यापार प्रधान, संगीत-प्रधान, उद्देश्य-प्रधान तथा सम्वाद-प्रधान।

१६. नाट्यग्रथन २७६-२८६

संविधानककी रचना—नाटकका नामकरण—नाटकके नामकरणके सिद्धान्त—पात्रोंके नामकरण—पात्र-परिचय—अंक तथा दृश्य-विभाजन प्रस्तावना—रूपककी रूप-रचना—पूर्वरंग—भारतीवृत्तिके अंग—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख—स्थापनाके तीन अंग—वीथीके तेरह अंग—प्रहसनके दस अंग—अंक—गर्भांक—प्रस्तावनाके नौ अन्य प्रकार—प्रस्तावनाका विषय—घटना, सम्वाद, प्रवेश, निर्गम—विशेष नाट्य-ग्रथन — नाट्यनृत्य — गीतिनाट्य—मूकनाट्य—मूकसम्वादनाट्य—श्रव्यनाट्य (रेडियो प्ले)—उपसंहार।



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अभिनवनाट्यशास्त्र

प्रथम खण्ड : रूपक-रचना

वागर्थाभिनिवेशाय वन्दे वाणीविनायकौ ।
वन्दे प्राचेतसं व्यासं वन्दे स्वपितरौ गुरुम् ॥१॥
रामं शिवमयं वन्दे वन्दे राममयं शिवम् ।
मातृभूमिं शुभां काशीं वन्दे रामशिवाश्रिताम् ॥२॥
रामं रामप्रियां वन्दे वन्दे रामानुजाँस्तथा ।
रामस्य पितरौ वन्दे वन्दे रामानुगं हरिम् ॥३॥
अरुन्धतीं वशिष्ठं च भरतं प्रणिपत्य वै ।
सीतारामेण लोकार्थं नाट्यशास्त्रं प्रकाश्यते ॥४॥

आनन्दोल्लासपूर्णं वसुरसरुचिरं वेदवेदाङ्गसारम्
स्रष्टुः सृष्टिं विचित्रां निखिलसुरगणाशंसितं विश्वहृद्यम् ।
पूर्वं सुष्ठु प्रयुक्तंभरतमुनिवरैर्नाट्यवेदं पवित्रम्
नव्यप्राचीनभव्याभिनयगुणमयं विस्तरेणोल्लिखामि ॥५॥

प्रस्तावना

नाट्यका आध्यात्मिक पक्ष

॥ सर्वं खल्विदं ब्रह्मनाट्यम् ॥ १ ॥

[सकल विश्व है नाट्य ब्रह्मका ।]

मंगलमय, त्रिगुणातीत, निर्लेप, निराकार और निर्गुण होते हुए भी परब्रह्म परमेश्वर ऐसे लीलामय हैं कि सहसा उन्होंने संकल्प किया—एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय—अर्थात् मैं एक होकर भी अनेक रूप हो जाऊँ, और यह संकल्प करते ही वे अपने असंख्य, अद्भुत तथा विलक्षण नाम और रूप धारण करके इस महाशून्यमें इस प्रकार फैल गए कि उनकी भावमयी अभिनय-कलासे व्याप्त सृष्टिकी सम्पूर्ण अशाश्वत तथा अनित्य वस्तुओं और क्रियाओंको हम उस महानटके ही विभिन्न रूप और कार्य न समझकर इन्हें वैसे ही सत्य समझकर इनसे प्रभावित होने लगे जैसे रङ्गशालामें

भेद—वर्त्तमान वर्गीकरणके अनुसार छः भेद—कथा-प्रधान, चरित्र प्रधान, व्यापार-प्रधान, संगीत-प्रधान, उद्देश्य-प्रधान तथा सम्वाद-प्रधान।

१६. नाट्यग्रथन ३७६-३८६

संविधानकी रचना—नाटकका नामकरण—नाटकके नामकरणके सिद्धान्त—पात्रोंके नामकरण—पात्र-परिचय—अंक तथा दृश्य-विभाजन प्रस्तावना—रूपककी रूप-रचना—पूर्वरंग—भारतीवृत्तिके अंग—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन, आमुख—स्थापनाके तीन अंग—वीथीके तेरह अंग—प्रहसनके दस अंग—अंक—गर्भांक—प्रस्तावनाके नौ अन्य प्रकार—प्रस्तावनाका विषय—घटना, सम्वाद, प्रवेश, निर्गम—विशेष नाट्य-ग्रथन — नाट्यनृत्य — गीतिनाट्य—मूकनाट्य—मूकसम्वादनाट्य—श्रव्यनाट्य (रेडियो प्ले)—उपसंहार।

अभिनवनाट्यशास्त्र

[द्वितीय खंड]

[सचित्र रूपक-रचना]

मूल्य २०)

१ अगस्त सन् १९५२ तक १) अग्रिम भेजकर ग्राहक बननेवालोंको

केवल १२) में

अभिनवनाट्यशास्त्रके दूसरे खंडमें चित्रसहित निम्नलिखित विषयोंपर विस्तारसे विचार होगा—

१ — नाट्य-प्रयोक्ता
२ — नाटकके प्रकार
३ — [illegible] नाटक
४ — नट या अभिनेताके गुण-दोष
५ — नटोंकी शिक्षा (अभिनयकला)
६ — [illegible]
७ — [illegible]
८ — [illegible]
९ — प्रेक्षागृह-निर्माण
१० — [illegible]
११ — [illegible]
१२ — [illegible]
१३ — रंग-व्यवस्थापक
१४ — दृश्य प्रयोग
१५ — नेपथ्य-व्यवस्थापक
१६ — नेपथ्यकर्म (मुखराग, परिधान)
१७ — रंग-प्रदीपन
१८ — विज्ञापन
१९ — प्रवेश व्यवस्था
२० — उपवेशन-व्यवस्था
२१ — प्रेक्षकोंके संस्कार
२२ — रस-मीमांसा
२३ — नाट्य-समीक्षा
२४ — संसारके प्रसिद्ध नट और नाट्यकार।

व्यवस्थापक—
अखिल भारतीय विक्रम-परिषद्, काशी



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अभिनवनाट्यशास्त्र

प्रथम खण्ड : रूपक-रचना

वागर्थाभिनिवेशाय वन्दे वाणीविनायकौ ।
वन्दे प्राचेतसं व्यासं वन्दे स्वपितरौ गुरुम् ॥१॥
रामं शिवमयं वन्दे वन्दे राममयं शिवम् ।
मातृभूमिं शुभां काशीं वन्दे रामशिवाश्रिताम् ॥२॥
रामं रामप्रियां वन्दे वन्दे रामानुजाँस्तथा ।
रामस्य पितरौ वन्दे वन्दे रामानुगं हरिम् ॥३॥
अरुन्धतीं वशिष्टं च भरतं प्रणिपत्य वै ।
सीतारामेण लोकार्थं नाट्यशास्त्रं प्रकाश्यते ॥४॥

आनन्दोल्लासपूर्णं वसुरसरुचिरं वेदवेदाङ्गसारम्
स्रष्टुः सृष्टिं विचित्रां निखिलसुरगणाशंसितं विश्वहृद्यम् ।
पूर्वं सुष्ठु प्रयुक्तंभरतमुनिवरैर्नाट्यवेदं पवित्रम्
नव्यप्राचीनभव्याभिनयगुणमयं विस्तरेणोल्लिखामि ॥५॥

प्रस्तावना

नाट्यका आध्यात्मिक पक्ष

सर्वं खल्विदं ब्रह्मनाट्यम् ॥ १ ॥

[सकल विश्व है नाट्य ब्रह्मका ।]

मंगलमय, त्रिगुणातीत, निर्लेप, निराकार और निर्गुण होते हुए भी परब्रह्म परमेश्वर ऐसे लीलामय हैं कि सहसा उन्होंने संकल्प किया—एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय—अर्थात् मैं एक होकर भी अनेक रूप हो जाऊँ, और यह संकल्प करते ही वे अपने असंख्य, अद्भुत तथा विलक्षण नाम और रूप धारण करके इस महाशून्यमें इस प्रकार फैल गए कि उनकी भावमयी अभिनय-कलासे व्याप्त सृष्टिकी सम्पूर्ण अशाश्वत तथा अनित्य वस्तुओं और क्रियाओंको हम उस महानटके ही विभिन्न रूप और कार्य न समझकर इन्हें वैसे ही सत्य समझकर इनसे प्रभावित होने लगे जैसे रङ्गशालामें

बैठा हुआ कोई भावुक दर्शक, रङ्गपीठपर होनेवाले प्रत्येक सम्पूर्ण नाट्यको वास्तविक समझकर रङ्गमञ्चपर दिखाई देनेवाले पात्रों और रूपोंको सत्य समझकर तथा उनसे प्रभावित होकर विभिन्न रसोंका अनुभव करते हुए कभी हँसता है, कभी रोता है और कभी अचरजसे आँखें फाड़कर देखता रह जाता है। रङ्गमञ्चपर अभिनय करनेवाले अभिनेताओंको पहचानकर तो यह कहा भी जा सकता है कि यह अमुक व्यक्ति है, या अमुक है, किन्तु उस महानटका अभिनय ऐसा मोहक और मायामय है कि बड़े-बड़े योगियों और महात्माओंने पहचाननेका प्रयत्न करनेपर भी उन्हें न पहचान पाया और ज्ञानके आगार वेद भी नेति नेति कहकर चुप हो गए। स्वयं नटवरने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने श्रीमुखसे कह भी दिया—

> आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
> माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
> आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
> श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२,२९॥

[इस नटको, परमात्माको कोई तो अचरजमें भरकर देखता रह जाता है, कोई अचरजमें भरकर इसका वर्णन करता दिखाई देता है, कोई कोई अचरजमें भरकर इसका वर्णन ही सुनता मिलता है, पर आज तक कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो इसके विषयमें सब कुछ ठीक-ठीक पहचान पाया हो।]

[illegible] विराट् [illegible] प्रेम, हँसी, [illegible] उत्साह, आश्चर्य, घृणा आदि जितने भाव [illegible]

> [illegible] सर्ववाङ्मयम्।
> [illegible] सात्त्विकं शिवम्॥

[संसारमें होनेवाली सभी क्रियाएँ जिनके आङ्गिक अभिनयमें प्रकट होती हैं, संसार भरमें बोली जानेवाली सब भाषाएँ ही जिनके वाचिक अभिनयकी द्योतिका हैं और चन्द्र तारादि जितने भी संसारमें रूप हैं, वे सब जिसके आहार्य अभिनय हैं, उन सात्त्विक अभिनयके स्वरूप शिवजीको हम प्रणाम करते हैं।]

और यदि इस अश्रद्धालु, नास्तिक, तथा बुद्धिवादी कहलानेका झूठा ढोंग करनेवाले नास्तिक युगकी उपेक्षा करके हम श्रद्धा और विश्वासमय अतीतकी गाथाओंके सान्त्वना-पूर्ण पन्ने उलटें तो हमें साक्षात् भगवान् गीतामें यह कहते हुए सुनाई पड़ेंगे—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

[जब जब धर्मपर संकट आता है और अधर्म बढ़ता है तब तब मैं साधुओं की रक्षा, दुष्टोंका नाश, तथा धर्म की स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें उत्पन्न होता रहता हूँ।]

हम भारतीयोंके साँस्कृतिक विश्वासके अनुसार भगवान न जाने कितनी बार आए और मत्स्य, कच्छप, वराह, वामन, नृसिंह, परशुराम, राम-कृष्ण और बुद्धके ऐसे ऐसे विलक्षण नाटकीय रूप बनाकर आए कि भगवानकी नाट्यप्रियता तथा नाट्य-कुशलता उत्तरोत्तर सिद्ध और प्रत्यक्ष होती चली गई। इन अवतारी रूपोंको देखकर यह जान पड़ता है मानो वे कृष्णके रूपमें शृङ्गारका, रामके रूपमें वीरका, वामनके रूपमें हास्यका, परशुरामके रूपमें रौद्रका, नृसिंहके रूपमें भयानकका, मत्स्यके रूपमें करुणका, कच्छपके रूपमें अद्भुतका, वराहके रूपमें बीभत्सका और बुद्धके रूपमें शान्त रसका ही साकार अवतार धारण करके आए हों।

दशरूपकके रचयिता धनञ्जयने भी ग्रन्थके प्रारम्भमें नटवर विष्णुकी प्रार्थना करते हुए लिखा है—

> दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः।
> नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥

[जिनके दस रूपोंकी लीलाओंसे उनके भक्त मगन

होते हैं उन सर्वज्ञ नटवर विष्णुजी और भरतको मैं प्रणाम करता हूँ ।]

इसीलिये भक्तोंने भगवानके इन चरितोंको सीधे लीला कहना प्रारम्भ कर दिया और सभी लोग लीलामें या नाट्यमें इसी भावनासे अधिक रस लेने लगे कि जब स्वयं भगवान ही लीला करते हैं, अभिनय करते हैं, तो मनुष्य क्यों न करे । क्योंकि स्वयं भगवानने ही तो कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥
(गीता—३, २१)

[श्रेष्ठ लोग जैसा काम करते हैं वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं क्योंकि श्रेष्ठ लोग जो काम करते हैं वही प्रमाण बन जाता है और सब लोग उसे ही ठीक मानकर वैसा ही करने लगते हैं ।]

नाट्यका लौकिक पक्ष

लोकव्यवहारेऽपि नाट्यप्राधान्यम् ॥ २ ॥
[लोकके व्यवहारमें भी नाट्यका प्राधान्य है ।]

नाट्यके आध्यात्मिक और रहस्यमय पक्षके अतिरिक्त उसका लौकिक महत्त्व भी है । हम लोग अपने-अपने घरोंमें फटे-पुराने, मैले-कुचैले कपड़े पहनकर निर्वाह कर लेते हैं किन्तु जब हमें ब्याह-बारात, समाज-उत्सवमें जाना पड़ता है तो हम बाँकी चुन्नटदार धोती, दूधिया धुला हुआ कुर्त्ता, सुनहरी पाड़का दुपट्टा, रेशमी पाग और चरमराता कोमल मखमली जोड़ा डाटकर निकलते हैं । यह सब श्रृङ्गार केवल नाट्य ही तो है ।

रोग-शय्यासे उठनेपर जब कोई हमसे पूछता है—कहिए चित्त कैसा है, तब हम अत्यन्त विनीत तथा कृतज्ञतापूर्ण मुद्रामें कहते हैं—आपकी कृपासे अब अच्छा है । ईश्वर और वैद्यकी कृपाकी उपेक्षा करके हम शिष्टाचारवश अपनी स्वस्थताका कुल श्रेय कुशल पूछनेवालेको दे डालते हैं । यह शिष्टाचार-प्रदर्शन भी तो कोरा नाट्य ही है ।

कुटिल विक्रेता जब बड़े आदर और विनयपूर्ण शब्दोंमें अपने ग्राहकके आगे अपनी वस्तुको सराहता हुआ, अपनी सत्यता और निर्लोभिताका प्रवचन करता हुआ, अत्यन्त दैन्य मुद्रा साधकर, त्याग और सचाईका सटीक नाट्य करके, अपनेको हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर सिद्ध करनेका उपक्रम करता है, उस समय उसका व्यवहार नाट्य नहीं तो और क्या है ।

इसी प्रकार जीवनके सभी क्षेत्रोंमें अधिक सफलताका सौभाग्य उसीको प्राप्त होता दिखाई देता है जो इस प्रकारकी नाट्य-कलामें पूर्णतः कुशल और निष्णात होते हैं । विचित्र बात तो यह है कि बड़े-बड़े विचक्षण सुधी लोग भी सामाजिक व्यवहारके इस कृत्रिम किन्तु सफल अभिनयको ही शिष्टता, शील, व्यवहार-कुशलता और चतुरताकी उचित परमावधि मानते चले आए हैं । इस दृष्टिसे हमारे समाजका सम्पूर्ण शिष्टाचार एक ऐसा विराट् अभिनय है जिसके असफल या अतिरञ्जित अभिनयको लोग ढोंग, आडम्बर, प्रवञ्चना, दिखावा या बनावट कहते हैं, और सफल तथा समुचित अभिनयको शिष्टाचार कहते हैं । अतः अपने सामाजिक जीवनको पूर्णतः सफल बनानेके लिये भी यह आवश्यक है कि हम सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य अभिनयमें ऐसे कुशल हो जायँ कि अवसर और व्यक्तिके अनुकूल हम अपने भाव, अपनी चेष्टाएँ, अपनी वाणी, अपना व्यवहार और अपना स्वरूप व्यवस्थित कर सकें ।

शिष्टाचारके इन सामान्य व्यवहारोंके अतिरिक्त भी हम विशेष संस्कारों, उत्सवों और पर्वोंपर कभी कभी नाट्यका ठीक उसी रूपमें प्रयोग करते हैं जैसा रङ्गमञ्चपर अभिनय दिखानेके लिये अभिनेता करते हैं । यज्ञोपवीत संस्कारके समय जब नया माणवक मेखला और कौपीन बाँधकर, खड़ाऊँ पहनकर, बाएँ कन्धेपर पलाश-दण्ड, पीठपर कृष्णाजिन और दाहने हाथमें भिक्षापात्र लेकर 'भवति भिक्षां मे देहि' कहता हुआ अपने घरमें संस्कारके समय एकत्र हुए नरनारियोंसे भिक्षा माँगता है, वह वैदिक युगके ब्रह्मचारीके आचरणका शुद्ध नाट्य मात्र ही तो होता है । इसी प्रकार पाणिग्रहण-संस्कारके अवसरपर वरके मुँहपर हरिद्रा या कुंकुमका लेपन करके, उसकी आँखोंमें काजल लगाकर, उसके सिरपर फूलोंका मुकुट बाँधकर और पीला या गुलाबी वस्त्र पहनाकर, उसे सुसज्जित नालकी, पालकी, घोड़े-गाड़ी या हाथी इत्यादिपर बैठाकर जो बाजे-गाजेके

[illegible] सजाई जाती है वह भी तो प्राचीन युगकी [illegible] नाट्य या अनुकरण ही होता है, और इस [illegible] करनेके लिये लोग ऋण लेनेमें भी अपना [illegible] नहीं समझते। इसी प्रकार भगवान राम और [illegible] जन्मोत्सवके दिन छोटे छोटे बालकोंको राम, [illegible], भरत, शत्रुघ्न बनाकर या कृष्ण बनाकर उनकी पूजा [illegible] हमारे देशमें है वह भी तो नाट्य ही है। कोई दिन, कोई स्थान, कोई अवसर ऐसा नहीं है जब [illegible] नाट्य-प्रियता या अभिनय-प्रियता हमारी सेवा या [illegible] लिये [illegible] उपस्थित न होती हो और [illegible] या [illegible] सुन्दरतम और कलात्मक न बना [illegible]।

आँखोंको सुहानेवाला एक यज्ञ है। स्वयं महादेवजीने उमासे विवाह करके अपने शरीरमें इसके दो भाग कर दिए हैं— एक ताण्डव दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई देते हैं, इसीलिये अलग अलग रुचिवाले लोगोंके लिये प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है।]

शारदातनयने अपने भावप्रकाशनम्‌के अष्टम अधिकारमें विस्तारसे निरूपण किया है कि सब प्रकारके लोगोंको नाट्यमें किस प्रकार आनन्द मिलता है—

नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।
यद्यत्स्वशिल्पं नैपथ्य कर्म वा चेष्टितं वचः॥

यहाँतक कि बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ, हँसी-विनोदकी बातें सुनकर और नटोंकी वेष-भूषा देखकर ही मगन हो जाती हैं।

ब्रह्माजीने भी नाट्यशास्त्रके प्रारम्भमें ही कह दिया है—

विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।

—नाट्यशास्त्र १,१२४

[यह नाट्य, संसारमें विनोद उत्पन्न करनेवाला अर्थात् सबका मन बहलानेवाला या चित्त प्रसन्न करनेवाला होगा।]

आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्व कही हुई महाकवि कालिदासकी वाणी आज भी साधिकार जीवित है और उसके प्रमाण हैं आजके नाटकघर या चित्रघर। आज भी नाटकके नाममें वही जादू है जो पहले किसी समय रहा होगा। आज भी नाटकका विज्ञापन होते ही लोग नाटकघरपर टूटे पड़ते हैं। स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, सब धक्के खाते हुए, गर्मीमें कसे हुए भी नाटक समाप्त होनेतक डटे बैठे रहते हैं। नाटकमें इतना आकर्षण है कि बड़े स्वर-ताल-लयसे रामायणकी कथा कहनेवाले सुकंठ व्यासकी कथामें इतने श्रोता दिखाई नहीं पड़ते जितने अनपढ़ और अनगढ़ नटोंकी रामलीला देखनेके लिये। साधारण मंडलीवालोंकी लीला देखनेके लिये लोग जाड़ा-पाला, आँधी-पानी सहते हुए रात-रात भर खड़े रह जाते हैं और बिना पूरी लीला देखे टससे मस नहीं होते हैं। इसका कारण यही है कि मनुष्यको अद्भुत वस्तुओंमें तथा दूसरोंका अनुकरण करने और देखनेमें बड़ा रस मिलता है और जब अद्भुत वस्तु और अनुकरणके साथ-साथ गीत और नृत्यका भी संयोग हो तब तो कहना ही क्या। दशरूपकके प्रारम्भमें धनंजयने अरसिकोंकी चुटकी लेते हुए कहा है—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय॥

[१-६]

[जो भला आदमी आनन्द बरसानेवाले रूपकोंका फल केवल यही बतलाता है कि उससे इतिहास आदि पढ़नेके फलके समान केवल ज्ञान भर मिलता है उस अरसिकको दूरसे ही नमस्कार है।]

धनंजयका तात्पर्य यही है कि नाटकसे केवल ज्ञान ही भर नहीं मिलता, वरन् इससे ऐसा आनन्द भी मिलता है जो परमानन्द जैसा ही रसमय होता है।

उपदेश और शान्तिके लिये नाट्यकी व्यवस्था

० उपदेशाय विश्रान्त्यै चापि नाट्यम्॥ ४॥

[लोकचित्तकी शान्ति और शिक्षाका साधन 'नाट्य'।]

मनोरंजन तो नाटकका बाह्य और दृष्ट फल है। नाट्यको 'विनोदजननं लोके' कहनेसे पूर्व ही ब्रह्माजीने नाट्यवेदका उद्देश्य बताते हुए कह दिया था—

हितोपदेशजननं धृतिक्रीडासुखादिकृत्।
एतद्रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियास्वथ॥
सर्वोपदेशजननं नाट्यं लोके भविष्यति।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्॥
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्॥
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।

[धैर्य, क्रीड़ा, सुख आदि देनेवाला यह नाट्य सब रसों, भावों और क्रियाओंके द्वारा सबको उपदेश देनेवाला होगा। इस नाट्यसे दुखी, थके हुए, शोकयुक्त, तथा तपस्वी सबको शान्ति मिलेगी। इस नाट्यसे लोगोंमें धर्म, यश, आयु, कल्याण और बुद्धि भी बढ़ेगी और लोगोंको उपदेश भी मिलेगा।]

नन्दिकेश्वरने अपने अभिनयदर्पणमें नाट्यकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए नाट्यको ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर बता डाला है—

पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम्॥
कीर्त्तिप्रागल्भ्यसौभाग्यवैदग्ध्यानां प्रवर्धनम्।
औदार्यस्थैर्यधैर्याणां विलासस्य च कारणम्॥
दुःखार्तिशोकनिर्वेदखेदविच्छेद – कारणम्।
अपि ब्रह्मपरानन्दादिदमभ्यधिकं मतम्॥
जहार नारदादीनां चित्तानि कथमन्यथा।

[ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य, यजुर्वेदसे अभिनय, सामवेदसे गीत और अथर्ववेदसे रसोंका संग्रह करके यह

धर्म, अर्थ, [illegible], और मोक्ष देनेवाला नाट्यशास्त्र बनाया [illegible], [illegible] सौभाग्य और [illegible] बढ़ती है और [illegible] उदारता, [illegible], धैर्य और विलास उत्पन्न [illegible] तथा [illegible], पीड़ा, शोक, असन्तोष, जीकी जलन [illegible] और [illegible] ब्रह्मानन्दसे भी अधिक आनन्द [illegible] ब्रह्मानन्दका आनन्द ले चुकने- [illegible] मन यह नाट्य [illegible]।]

[illegible] कि नाट्यशास्त्रकी रचना करते समय [illegible] प्रभाव तक ही अपनी दृष्टि [illegible] नहीं रक्खी, वरन् नाटकके प्रयोगसे अभिभूत [illegible] उपदेशके रूपमें [illegible] आदि उपदेशोंका जो [illegible] उसका भी [illegible] किया था।

[illegible] अपनी [illegible] [illegible] अभिनय [illegible] [illegible] अभिनय [illegible] [illegible] और [illegible]

आप दर्शक या सामाजिकके चरित्रमें बिना अध्यवसायके घुलते मिलते बैठते चले जाते हैं। इसीलिये बहुतसे नाटक-कारों तथा समीक्षकोंकी यह स्पष्ट घोषणा है कि नाटककारको अपने पात्रोंके मुँहसे उपदेश नहीं कराने चाहिएँ। उसे चाहिए कि अपने पात्रोंको घटनाओंमें इस प्रकार गूँथ दे कि नाटककारका इष्ट प्रयोजन या उपदेश उन घटनाओंके परिणामसे व्यंजित हो जाय।

जापान, रूस, जेकोस्लोवाकिया तथा जर्मनीने नाटकके इस अद्भुत तथा स्वाभाविक प्रभावको देखकर शिक्षाके क्षेत्रमें इसका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया है। वहाँ छोटे या बड़े नाटकोंके द्वारा इतिहास, भूगोल, विज्ञान, समाज शास्त्र तथा राजनीति आदि सभी विषयोंकी शिक्षा दी जाने लगी है और राजनीतिक प्रचारके लिये तो नाटकका प्रयोग प्रायः सभी देशोंमें वेगसे किया जा रहा है। योरोपमें सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीमें ईसाई धर्मके प्रचारके लिये रहस्य-मय तथा नैतिक नाटक खेले जाने लगे थे और बहुत दिनों तक योरोपके विभिन्न प्रान्तोंमें नाटकको धर्मप्रचारका प्रमुख साधन माना जाने लगा था। आजकलके मनोवैज्ञानिकोंने भी यह सर्वसम्मत घोषणा की है कि बालककी शिक्षा स्वाभा-विक और स्वतः अर्जित होनी चाहिए और उसे स्वाभाविक बनानेके लिये, ऐसे शिक्षाजनक खेलोंकी व्यवस्था करनी चाहिए जिनमें अधिकसे अधिक खेल हों और शिक्षार्थी या ज्ञानार्जनकी अधिकसे अधिक सम्भावनाएँ हों। इस दृष्टिसे भी नाटक ही एक मात्र ऐसा खेल है जो आदिसे अन्त तक खेल होनेपर भी सीधे ज्ञान या उपदेशकी सम्भावनाओंसे [illegible]

जननम्' कहा वहीं उसे 'सर्वोपदेश-जननम्' भी कह दिया अर्थात् उन्होंने केवल नाट्यके बाह्य प्रभावको ही महत्त्व नहीं दिया वरन् उसके अन्तःप्रभावका महत्त्व भी स्पष्ट कर दिया।

नाट्यके द्वारा हम कितने विषय सीख सकते हैं, कितना उपदेश ग्रहण कर सकते हैं, इस विषयमें ब्रह्माजीने कहा है—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्।

—नाट्यशास्त्र १,१०७

[सम्पूर्ण त्रैलोक्यके भावोंका अनुकरण ही नाट्य है।] जब सम्पूर्ण त्रैलोक्यके भावोंका अनुकरण इसमें है तो इसमें तीनों लोकोंका इतिहास स्वभावतः आ ही गया। फिर आगे वे कहते हैं—

क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ॥
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः।
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम् ॥
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया।
क्लीबानां धार्ष्ट्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम् ॥
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि।
ईश्वराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ॥
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्।
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥

* * *

लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति।
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ॥
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥

* * *

सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद्भविष्यति।
येनानुकरणं नाट्यमेतत्तद्यन्मया कृतम् ॥
देवानामसुराणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्।
ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शकम् ॥
योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ॥
वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥
श्रुतिस्मृतिसदाचार - परिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥

[नाट्यमें कहीं धर्म, कहीं खेल, कहीं अर्थज्ञान, कहीं शान्ति, कहीं हँसना, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वधका वर्णन होगा। धर्मात्मा लोगोंके धर्म, कामियोंके काम, अशिष्टोंके सुधार, नम्र लोगोंकी शान्ति, नपुंसकोंकी ढिठाई, शूरों और मानियोंके उत्साह, मूर्खोंके ज्ञान, विद्वानोंकी विद्वत्ता, धनियोंके विलास, दुखियोंके धीरज, व्यवसायियोंके धन-प्राप्तिके उपाय, घबराए हुए लोगोंके धैर्य आदि अनेक भावों और अवस्थाओंसे भरे हुए इस नाट्यमें लोगोंकी क्रियाओंका अनुकरण किया जाता है और उत्तम, मध्यम और अधम पुरुषोंके कार्योंका प्रदर्शन होता है। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या काम नहीं है जो इसके द्वारा न दिखलाया जा सके। इस नाट्यमें सब शास्त्र, सब शिल्प, और अनेक प्रकारके कार्य सब इकट्ठे दिखाए जा सकते हैं। इस नाट्यके द्वारा सातों द्वीपोंके निवासियोंके जीवनका अनुकरण किया जा सकता है और देव, असुर, राजा, गृहस्थ और ब्रह्मर्षि आदि सबके वृत्तान्त दिखलाए जा सकते हैं। संसारका सब सुख-दुःख आंगिक आदि अभिनयोंसे इसमें दिखलाया जाता है और यह इस ढंगसे बनाया गया है कि वेद, विद्या, इतिहास, कथा आदि सबको इकट्ठा करके सब प्रकारके लोगोंका एक साथ मनोरञ्जन किया जाय।]

इसका यह अर्थ हुआ कि ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान संसारमें नहीं है जो नाट्यके द्वारा न सिखाया जा सके। अतः विनोद और शिक्षा दोनोंसे पूर्ण होनेके कारण नाटक ही एक मात्र सर्वाधिक कलापूर्ण और सुन्दर उत्सव है।

अभिनव नाट्यशास्त्रकी रचनाका प्रयोजन

नाट्यशासनायाभिनवनाट्यशास्त्रोत्पत्तिः ॥५॥

[नाट्य शासनके लिये ही शास्त्र यह अभिनव रचा।]

लोकरञ्जन और शिक्षाका जो इतना महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता था और माना जा रहा है उसकी सर्वतोमुखी उपेक्षा ही इस ग्रन्थकी उत्पत्तिका कारण है। क्योंकि शिक्षा और लोकरञ्जनके साधनोंकी उपेक्षासे पहले

लोक-रुचि बिगड़ती है, उससे समाज अव्यवस्थित होता है और अव्यवस्थित समाज सम्पूर्ण राष्ट्रको विनाशकी ओर बलपूर्वक खींच ले जाता है। वास्तवमें लोकरञ्जनके साधनों-पर राज्यका ऐसा नियंत्रण होना चहिए जिससे लोगोंकी रुचि और उनके संस्कारोंका परिष्कार और सुधार हो। यूनानमें दिअनुससके दिअनुसिया नगरमें होनेवाले नाटकोंका सब प्रबन्ध वहाँके राज्याधिकारियोंकी ओरसे होता था। यहाँतक कि नाटकोंका चुनाव, पात्रोंका चुनाव, रङ्गशालाकी व्यवस्था, दर्शकोंको बैठानेका प्रबन्ध, सब कुछ वहाँके राज्याधिकारियोंकी ओरसे होता था। हमारे देशमें भी संस्कृत नाटकोंकी प्रस्तावनासे यह ज्ञात होता है कि राजाओं या विद्वानोंकी सभाके आदेशपर ही नाटक खेले जाया करते थे। अपने मालविकाग्निमित्र नाटककी प्रस्तावनामें महाकवि कालिदासने सूत्रधारसे कहलाया है—

अभिहितोऽस्मि विद्वत्परिषदा कालिदासग्रथितवस्तुना मालविकाग्निमित्रं नाम नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यमिति।

[विद्वानोंकी सभाने कहलाया है कि इस वसन्तोत्सवपर कालिदासका लिखा हुआ मालविकाग्निमित्र नाटक ही खेला जाय।]

इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय नाटकके चुनावमें विद्वानोंका बड़ा हाथ था। नाटककार भी अपने नाटकके प्रयोगसे विद्वानोंको ही संतुष्ट और प्रसन्न करनेके लिये आतुर रहता था। अभिज्ञानशाकुन्तलकी प्रस्तावनामें नटीसे सूत्रधार कहता है—

आर्ये ! कथयामि ते भूतार्थम्—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

[आर्ये ! सच्ची बात तो यह है कि जबतक विद्वान् लोग अच्छा न बता दें तबतक मैं नाटकको सफल नहीं समझता क्योंकि पात्रोंको चाहे जितने अच्छे ढंगसे भी क्यों न सिखाया जाय फिर भी उनके मनमें भरोसा नहीं होता।]

किन्तु आजकल मनोरञ्जनके साधनोंपर न तो राज्यका ही शासन है और न विद्वानोंका ही। अमेरिका और रूस आदि विदेशोंमें विशिष्ट और कुशल व्यक्ति पहलेसे परखकर यह निर्णय कर देते हैं कि अमुक नाटक या चित्र, स्त्रियों या बालकोंको नहीं दिखाना चाहिए। ऐसे नाटकों खेलनेके दिन नाटकघरके आगे मोटे मोटे प्रकाशाक्षरोंमें यह अंकित करा दिया जाता है—स्त्रियोंके लिये नहीं या बालकोंके लिये नहीं। किन्तु हमारे देशमें ऐसा भी कोई नियम नहीं है। यद्यपि सरकाकी ओरसे चित्रोंपर भी नियन्ता नियुक्त किए गए हैं किन्तु जिस प्रकारके चित्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं उन्हें देखकर हम यही कह सकते हैं कि नियन्ता लोग केवल यही भर देखते हैं कि चित्रमें कहीं वर्ग-द्रोह, राज-द्रोह या जातीय विद्रोहकी गंध तो नहीं है। इसके अतिरिक्त उनके लिये सब ग्राह्य है। शील, सभ्यता और सुरुचिकी इतनी उपेक्षाकी ओर ध्यान दिलानेपर भी और पत्रोंमें आन्दोलन करनेपर भी नियन्ताओंने या राज्याधिकारियोंने कभी इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

हमारे देशमें चित्र और नाटक प्रस्तुत करनेवाले धनियोंकी दृष्टि कलापर उतनी नहीं है जितनी धन-संग्रहपर उनकी यह धारणा है कि प्रत्येक नाटक या बोलपटमें नृत्य होना ही चाहिए और गीत ऐसे हों जिन्हें लोग गलियोंमें अलापते चलें। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इन व्यवसायियोंके हाथमें पड़े हुए नाटककारोंकी लेखनी स्वामि-योंकी रुचिके इंगितपर ही नाचने लगी। इसके विरोधमें जो प्रतिक्रिया हुई वह उससे भी अधिक अव्यवस्थित हुई क्योंकि जिन सुरुचि-सम्पन्न नये विद्वान् नाटककारोंने लेखनी उठाई उन्हें न रंगमंचका ज्ञान था, न अभिनयका अनुभव, न नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करके साधनोंका ज्ञान था, न लोकरुचिकी पहचान। ये लोग केवल भाषा सुधारनेके पीछे पड़ गए और एक नये प्रकारके नाटक लिखे जाने लगे जिन्हें 'साहित्यिक नाटक' कहा जाने लगा। नाटकके रूपकत्वकी उपेक्षा हो गई। लाक्षणिक, संस्कृतमयी, दुरूह भाषासे ओत-प्रोत, लंबे-लंबे पांडित्यपूर्ण संवादोंसे लदे हुए नाटक, विद्यालयोंकी कक्षाओंमें जाकर बैठ गए, रङ्गमञ्च पर न चढ़ पाए और जब जब उन्हें रङ्गमञ्च पर चढ़ानेका आयोजन किया गया तब तब वे बुरे ढंगसे लड़खड़ाकर गिरे और ऐसे गिरे कि फिर ऊपर न चढ़ पाए। वे जनतासे इतनी दूर चले गए कि बलपूर्वक पाठ्य ग्रन्थके रूपमें अनिवार्य रूपसे ही जब वे पढ़ाए जाने लगे तभी उनका अध्ययन हुआ, अन्यथा वे ज्योंके त्यों पड़े

रह गए। साहित्यिक नेताओंने भी न तो उनके लिये रङ्गमंचकी ही व्यवस्था की न लोकरुचिको उन्नत करनेका कोई साधन ही निकाला। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि नाटक वह साहित्यिक कृति समझा जाने लगा जिसमें ऐसे कठिन अंश अवश्य हों जिन्हें पढ़ाने और समझानेमें अध्यापकको कष्ट हो और जो परीक्षामें पूछे जा सकें। फलतः नाटकका मुख्य अभिप्राय 'क्रीडनीयकत्व' तीव्रतासे लुप्त होने लगा। नाटक अपने पदसे अपदस्थ कर दिया गया और वह भी उनके हाथोंसे किया गया जो अपनेको साहित्यके ठेकेदार मानते हैं—लेखक, नाटककार, साहित्यिक नेता, और साहित्यिक संस्थाएँ।

जब नाटककारोंकी यह दशा हुई तो नाटकके आलोचक भी वैसे ही बन गए। नाटककी कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, संवाद, उद्देश्य आदिकी खोज करना ही उन्होंने नाटककी आलोचनाका परम साध्य समझ लिया। क्योंकि उनके आगे आदर्श था योरोपका। हमारी शिक्षाका तत्त्व ही यह हो गया है कि हम अँगरेजोंकी आँखोंसे ही संसारको तथा संसारकी समस्त चेष्टाओंको समझनेका प्रयत्न करें। हम लोगोंने कभी यह सोचनेका प्रयत्न नहीं किया कि हम जिसे आलोचना कह रहे हैं वह आलोचना नहीं वरन् विश्लेषण मात्र है। फिर, हम लोग लेखकोंके व्यक्तित्व, उनके प्रचार या उनके नामके आतंक और प्रभावसे इतने त्रस्त हो गए हैं कि हममें सत्य कहनेका नैतिक साहस भी नहीं रह गया। हम बहुमत देखते हैं और लोकमतसे भयभीत हमारा हृदय, सत्यकी हत्या करके असत्यकी प्रतिष्ठा करनेमें ही अपना संपूर्ण कौशल लगा देता है। यही कारण है कि आज ऐसे ऐसे लोग प्रसिद्ध, सुप्रसिद्ध और महानाटककार बन गए हैं जिन्होंने नाटकके मर्मकी गंध भी नहीं पाई है, जो उसका छोर भी नहीं छू सके हैं।

इस प्रकारके विदेशी प्रभाव तथा गतानुगतिकतासे केवल हमारे नाटककार और नाट्यालोचक ही नहीं वरन् अभिनेता, रङ्ग-संचालक, नर्त्तक, गायक, नाट्य-प्रयोक्ता तथा दर्शक सभी पीड़ित हुए बैठे हैं। इसीलिये उन्हें उचित मार्ग-प्रदर्शन करनेके लिये तथा अनधिकारियोंको शासित करनके लिये इस अभिनव-नाट्यशास्त्रकी रचना की जा रही है। इस ग्रन्थसे उन सब लोगोंको विश्वस्त सामग्री प्राप्त होगी, जो नाट्य-प्रयोक्ता, रङ्ग-संचालक, अभिनेता, संगीत-कार, नेपथ्य-विधायक, आलोचक तथा दर्शकके रूपमें नाट्यकलासे संबद्ध हैं अर्थात् नाटक लिखने, उसका प्रयोग करने तथा उसका आनन्द लेनेकी संपूर्ण विधियोंका इस ग्रंथमें विस्तारसे विवेचन किया गया है।

ग्रन्थकी परिधि—

? विश्वनाट्योत्पत्ति-विकास-सिद्धान्त-रचना-प्रयोग-विधानात्मकमभिनवनाट्यशास्त्रम् ॥ ७ ॥

[विश्व-नाट्यका जन्म, विवर्धन, उसके सब सिद्धान्त।
रचना और प्रयोग-ज्ञानका इसमें वर्णन कान्त ॥]

इस ग्रन्थमें नाट्यकी उत्पत्ति, विकास, सिद्धान्त, नाटक-रचना, दृश्य-विधान, नेपथ्य-विधान, संगीत, प्रकाश, रङ्ग-व्यवस्था, नाट्यालोचन आदि नाटक लिखने, सिखलाने, खेलने, देखने या उसकी आलोचनाके सम्बन्धमें जितनी बातें विश्व साहित्यमें कही गई हैं, प्रयोगमें लाई गई हैं या लाई जा रही हैं उनके विवेचनके साथ साथ यह भी विचार किया गया है कि उपर्युक्त सब बातोंका कितना अंश भारतीय संस्कृति, समाज, आचार, विचार, विश्वास तथा प्रवृत्तिके अनुकूल ग्राह्य या त्याज्य है। क्योंकि नाटक, नाट्यशाला तथा अभिनयके जितने विभिन्न रूप विश्वमें प्रकट होते चले जा रहे हैं और विज्ञानकी सहायतासे इनकी जो नवीनता लोकरुचिको प्रभावित करती चली जा रही है उसका परिचय जहाँ अत्यन्त वाञ्छनीय और आवश्यक है है वहाँ यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि हम उन्हें ज्योंका त्यों ग्रहण न करके उनकी प्रकृतिका परीक्षण करके अपनी संस्कृति, रुचि, प्रवृत्ति और प्रकृतिके अनुरूप उनका यथावश्यक अंश ग्रहण कर लें और जो हमारी सामाजिक भावना और प्रकृतिके विपरीत हो उसे छोड़ दें।

ग्रन्थका नामकरण—

? प्रत्नतूननाट्यसमन्वयादभिनवनाट्यशास्त्रम् ॥ ८ ॥

[नया पुराना नाट्य समन्वित अभिनवनाट्यशास्त्र कहलाया।]

संसारके विभिन्न देशोंमें आजतक नाटकके न जाने कितने रूप विकसित हुए, रङ्गशाला तथा रङ्गपीठके निर्माण, प्रकाश, व्यवस्था, अलंकरण और नेपथ्य-विधानके सम्बन्धमें न जाने कितने प्रयोग हुए, उन सबकी उपेक्षा करके और उस ज्ञानसे लोकको वंचित करके केवल अपने देशके नाटकीय विज्ञानतक ही परिमित रहना उचित नहीं है, क्योंकि वैज्ञानिक साधनोंने, समय और दूरीकी सब सीमाएँ

को संकुचित करके विश्वके सब राष्ट्रोंको इतने समीप ला दिया है और विश्वके सभी राष्ट्रोंकी साहित्यिक चेतनाओं, प्रगतियों और प्रवृत्तियोंको इतने वेगसे मिला-जुला दिया है कि हम अपने विचारों, भावों, साहित्यिक चेतनाओं और प्रवृत्तियोंको उनसे अलग नहीं रख सकते। हाँ, यह आवश्यक है कि हम इनमेंसे अपने समाज, धर्म, ज्ञान, परम्परा, रीति, प्रवृत्ति और परिस्थितिके अनुसार जो ग्राह्य हो उसे ले लें, अग्राह्यको छोड़ दें, केवल विदेशोंका अन्धानुकरण न करें। इसीलिये हमने अपनी जिज्ञासा भरतके नाट्यशास्त्रतक परिमित न करके अपनी विवेचनाकी परिधिमें विश्व-नाट्यशास्त्रको भी अपना लिया है और प्राचीन तथा नवीन नाट्यशास्त्रका भारतीय दृष्टिसे समन्वय करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिये इस ग्रन्थका नाम केवल नाट्यशास्त्र न रखकर अभिनव-नाट्यशास्त्र रक्खा गया है।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखण्डे प्रस्तावनाप्रकरणं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥

—:*****:—

नाट्यकी उत्पत्ति

अपने देशमें नाट्यकी उत्पत्ति—

१ वेदेतिहाससंयोगाद्ब्रह्मणा नाट्यमाविष्कृतमिति भरतः ॥ ६ ॥

[वेद और इतिहास मिलाकर ब्रह्माजीने नाट्य रचा है।]

जैसे यह कहना संभव नहीं है कि अकस्मात् हिरण्यगर्भसे यह नामरूपात्मक जगत् कब और कैसे फूटकर फैलता चला गया, वैसे ही यह भी निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि सभी विद्याओं और ललित कलाओंसे पूर्ण तथा लोकरञ्जनकी अद्भुत शक्तिसे ओत-प्रोत नाट्य, कब और कैसे विश्व-वाङ्मयके गर्भसे आविर्भूत हो गया। यूनान और रोमकी प्राचीन नाट्यशालाओंके खँडहर आज भी उन देशोंकी नाट्य प्रवृत्तियोंका इतिहास थोड़ी बहुत मात्रामें बता सकनेमें समर्थ हैं किन्तु इस प्रकारके मूर्त्त प्रमाणोंके अत्यन्त अभावमें हमें केवल अनुमान और आप्त प्रमाणोंपर ही अवलम्बित होनेके लिये विवश होना पड़ रहा है। यदि हमारे देशमें भी स्तूपों, स्तम्भों, मूर्त्तियों और विहारोंके समान प्राचीन नाट्य-शालाओंके खँडहर मिले होते और उनके कक्षोंमें भी अजन्ताके लेखोंके समान कुछ लेख मिले होते तो हमें प्रमाणके लिये अँधेरेमें न भटकना पड़ता। मध्य भारतके रीवाँ राज्यान्तर्गत सरगूजा नामक उपराज्यकी दो पहाड़ियोंमें से एक की सीतबेंगरा नामक गुहामें कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ किसी समय प्रेक्षागृह रहा होगा जिसका समय विक्रमाब्दसे कमसे कम दो सौ वर्ष पहलेका बताया जाता है। उसमें जो चित्रकारी है उसके विषयमें कुछ विद्वान् यह बताते हैं कि भरत मुनिने नाट्यशालामें जिस प्रकारकी चित्रकारी करनेका विधान किया है वैसी ही चित्रकारी इसमें मिलती है। किन्तु यह मत नितान्त भ्रामक है। उसमेंकी चित्रकारी अत्यन्त अनियमित, मिटी हुई और भावशून्य है। नाट्यशास्त्रमें वर्णित चित्रकारीसे उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। उसके पासवाली गुहामें जो अशोककालीन ब्राह्मीमें खुदा हुआ शिलालेख है उससे केवल इतना पता चल जाता है कि सुतनुका नामकी किसी देवदासीने नर्त्तकियोंके लिये यह गुहा बनवाई थी। अतः उसे नाट्यशाला न कहकर नृत्यशाला कहना अधिक उपयुक्त होगा। उसे यूनानी ढंगका प्रेक्षागृह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रङ्गाग्र (प्रोसीनियम) तथा वाद्यस्थान (औरकेस्ट्रा) के लिये जो व्यवस्था यूनानी नाटकघरोंमें हुआ करती थी वह भी इसमें नहीं है। उनकी अवस्थिति और रचनाको देखकर यही जान पड़ता है कि ये किसी विलासी राजाके उसी प्रकारके विलासघर थे जिनका संकेत कालिदासने मेघदूतमें किया है—

नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र विश्रामहेतो—
त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा—
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥

—पूर्वमेघ, २७

[वहाँ पहुँचकर तुम 'नीच' नामकी पहाड़ीपर थकावट मिटानेके लिये उतर जाना। वहाँपर फूले हुए कदम्बके वृक्षोंको देखकर ऐसा जान पड़ेगा मानो तुमसे भेंट करनेके कारण उनके रोम रोम फ़रफ़रा उठे हों। उसी पहाड़ीकी गुफाओंमें से उन सुगंधित पदार्थोंकी गन्ध निकल रही होगी जो वहाँके छैले, वेश्याओंके साथ रति करनेके समय काममें लाते हैं। इससे तुम्हें यह पता चल जायगा कि वहाँके नागरिक कितनी खुल्लमखुल्ला जवानीका रस लेते हैं।]

मूर्त्त प्रमाणके न रहनेपर भी कुछ ऐसे प्रत्यक्षाभास प्रमाण मिलते हैं जिनसे हमें अपना इतिहास सिद्ध करनेमें पूर्ण सहायता मिलती है। इन प्रमाणोंको हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं :—

१—जिनमें नाट्यकी उत्पत्तिका इतिहास मिलता है।
२—जिनमें नाटकोंके प्रयोगका, नटोंका तथा नाट्यसे सम्बद्ध विषयोंका उल्लेख मिलता है।
३—जिनमें नाटकका या नाटकके किन्हीं अंशोंका सादृश्य मिलता है।

इस क्रमसे पहले हमें उन प्रमाणोंपर विचार करना चाहिए जिनमें नाट्यकी उत्पत्तिका व्यवस्थित इतिहास मिलता है।

यह तो सभीने माना है कि नाट्यशास्त्र ही नाट्य तथा अलङ्कार-ग्रंथोंका अग्रणी है। किन्तु प्रायः सभी विद्वान् नाट्यशास्त्रको ईसाकी पहली शताब्दीसे छठी या आठवीं शताब्दीके बीचका मानते हैं। योरोपीय विद्वानोंकी यह प्रवृत्ति रही है कि वे पूर्वीय देशोंके ज्ञान-विज्ञानकी प्राचीनताका विरोध करनेमें अपनी सारी बुद्धिका अपव्यय कर डालते हैं। ये पल्लवग्राही विद्वान् कहीं से एक शब्द या वाक्य लेकर उसपर एक नये सिद्धान्तका ऐसा आडम्बरपूर्ण प्रासाद खड़ा कर देते हैं कि हमारे देशवाले परमुखापेक्षी विद्वान् भी इन्हींके स्वरोंमें स्वर मिलाकर गाने लगते हैं, इन्हींके विचारोंसे विचार करते हैं और इन्हींकी देनपर अपना उत्सव मनाते हैं। किन्तु अब कुछ विद्वानोंने मौलिक ढङ्गसे विचार करना प्रारंभ कर दिया है जिससे बहुतसी ऐतिहासिक गुत्थियाँ धीरे-धीरे सुलझती जा रही हैं। नाट्यशास्त्रके सम्बन्धमें भी यही बात है। अतः पहले हम भरतके नाट्यशास्त्रकी ही प्राचीनतापर विचार करना चाहते हैं।

संस्कृत नाटकोंकी प्रस्तावनाओंसे यह ज्ञात होता है कि उस समय राजाओंके सम्मान या मनोरञ्जनके लिये विशेष पर्वों और उत्सवोंपर नाटक हुआ करते थे। अतः इस आधारपर तो निश्चयपूर्वक यह कहा ही जा सकता है कि हमारे देशमें बहुत पहलेसे नाटक लिखे और खेले जाते थे। यदि हम भासको ही सबसे प्राचीन नाटककार मान लें तो यह कह सकते हैं कि विक्रमसे चौथी शताब्दी पूर्वतक नाटक अपनी प्रौढ़ताको पहुँच गया था। भासने कौटिल्यसे पहले अपने नाटक लिखे थे, क्योंकि भासके प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटकका यह श्लोक किसी अन्यके नामसे अर्थशास्त्रमें उद्धृत किया हुआ मिलता है—

नवं शरावं सलिलैस्सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य माभून्नरकञ्च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्यकृते न युद्धेत् ॥

—अर्थशास्त्र १०।३।३६

[जो व्यक्ति अपने स्वामीकी रक्षा करनेके लिये युद्ध करनेमें पीछे हटता है उसे जलभरी नई सराईमें कुशासे ढका हुआ जल न मिले और वह नरकमें पड़े।]

इसके अतिरिक्त भी भासने अपने नाटकोंमें जहाँ योगशास्त्र और अर्थशास्त्रका उल्लेख किया है वहाँ न तो पातञ्जल योगसूत्रको ही स्मरण किया न कौटिल्यके अर्थशास्त्रको, वरन् बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम् और माहेश्वरं योगशास्त्रम्की ही चर्चा की है। कौटिल्यने भी विद्यासमुद्देश्य प्रकरणमें—वार्तादण्डनीतिश्चेतिबार्हस्पत्याः। [बृहस्पतिके माननेवाले केवल वार्ता और दण्डनीति दो ही विद्याएँ मानते हैं।]—आचार्य बृहस्पतिका उल्लेख किया है, अतः भास कौटिल्यसे पूर्व अर्थात् ई० पू० चौथी शताब्दी या इससे पूर्व किन्तु वत्सराज उदयनके पीछे या उसके समयमें था। उदयनकी कथा इतनी लोकप्रिय थी कि विक्रम संवत्के प्रारंभ होनेके समय महाकवि कालिदास भी अपने मेघको उदयनकी कथा सुनवानेका लोभ न संवरण कर सके और उन्होंने कहा—

प्राप्यावन्तीमुदयन-कथा-कोविदग्रामवृद्धान्-
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।

—पूर्वमेघ, ३२

[अवन्ति देशमें पहुँचकर तुम धन-धान्यसे भरी हुई उस विशाला नगरीकी ओर चले जाना जिसकी चर्चा मैं पहले ही कर चुका हूँ और जहाँ गाँवके बड़े-बूढ़े लोग, महाराज उदयनकी कथा भली प्रकार जानते-बूझते हैं। वह नगरी ऐसी लगती है मानो स्वर्गमें अपने पुण्योंका फल भोगनेवाले पुण्यात्मा लोग पुण्य समाप्त होनेसे पहले ही, अपने बचे हुए पुण्यके बदले स्वर्गका एक चमकीला भाग लेकर उसे अपने साथ धरतीपर उतार लाए हों।]

भासके नाटकोंके सम्बन्धमें बाणभट्टने कहा है—

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशोलेभे भासो देवकुलैरिव ॥

[सूत्रधारसे आरम्भ होनेवाले, अनेक कथाओंवाले तथा अनेक पताकाओंसे सजे हुए कुलोंपर लिखकर नाटक भासने मानो देवताओंसे यश प लिया हो।] इससे यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने यों ही अनियमित रूपसे ही नाटक नहीं लिख दिए थे वरन् उनकी रचनापर किसी विधि-निषेधात्मक नाट्यशास्त्रका अंकुश रहा होगा जिसका उन्होंने सदा ध्यान रक्खा। यह भरतका नाट्यशास्त्र ही रहा होगा। अतः भरतका नाट्यशास्त्र इससे बहुत पहले अवश्य रहा होगा। यह प्रश्न दूसरा है कि जो नाट्यशास्त्र हमें मिला है वह किस भरतका बनाया हुआ है और क्या वही मौलिक ग्रन्थ है। इसपर जो विवाद हुआ है वह भी अनावश्यक ही है क्योंकि नाट्यशास्त्रके पहले अध्यायमें ही कहा गया है कि ऋषियोंने आकर भरत मुनिसे पूछा—

योऽयं भगवता सम्यक् ग्रथितो वेदसम्मितः ॥
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते ।

[हे ब्रह्मन्! आपने जो वेदसम्मित नाट्यवेद (सूत्रमें) गूँथा है वह क्यों और किसके लिये रचा है।]

यहाँ यह बात स्पष्ट कह दी गई है कि भरतने ग्रथित किया था। ग्रथित करनेका अर्थ ही है सूतमें या डोरीमें गूँथना या सूत्रोंमें रचना करना। अतः स्वयं नाट्यशास्त्र ही यह प्रमाणित करता है कि जिस नाट्यवेदकी सविस्तर कथा नाट्यशास्त्रमें कही गई है वह मूलतः सूत्र रूपमें रचा गया होगा, जैसी हमारे देशमें परिपाटी थी और फिर उसपर कारिका, वृत्ति आदि रची गई होंगी।

प्राचीनताके विचारसे अग्निपुराणमें ३३८ से ३४२ अध्याय तक नाटक, रस रीति, नृत्य तथा अभिनय आदिपर विचार किया गया है किन्तु यह उतना पूर्ण और साङ्गोपाङ्ग नहीं है जितना भरतका नाट्यशास्त्र। जो लोग अग्निपुराणके अन्तर्गत आए हुए विषयोंपर विचार करके उसे बहुत पीछेका मानते हैं उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि अग्निपुराण या कोई भी पुराण मौलिक रचना नहीं है, वह तो पुराने ज्ञान या इतिहास—जो श्रुत, स्मृत या ज्ञात होता है उसकी रक्षा करनेके लिये—लिखित संकलन मात्र है। इसके अतिरिक्त पुराण शब्द भी यह संकेत करता है कि उसमें वर्णित सामग्री पुरानी है और जैसे जैसे कोई ज्ञान, अनुभव, इतिहास पुराना होता चलता है वैसे वैसे वह पुराणमें जुड़ता चलता है। इसीलिये पुराणोंमें जो विक्रमके पीछेकी घटनाएँ मिलती हैं उनसे यही अर्थ निकलता है कि उस पुराणमें उस घटनाकेपीछेकी कथा नहीं जोड़ी गई, केवल उस समय और उससे पहलेकी घटनाएँ हैं। अतः उसमें दिया हुआ ज्ञान परम्परासे प्राप्त होता हुआ चला आ रहा है। पुराणका लक्षण भी कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितश्चैव पुराण पञ्च लक्षणम् ॥

[ईश्वरकी सृष्टि, मनुष्यकी सृष्टि, देव, राजा, ऋषि आदिक वंशोंका वर्णन, मन्वन्तरोंका वर्णन तथा अन्य राजकुलों तथा देवकुलोंका चरित जिसमें हो वह पुराण कहलाता है।]

इसी आधारपर हम यह भी कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र भी बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित रहा होगा जिसे भरतकी शिष्य-परंपरामेंसे किसी नाट्यप्रयोक्ता या नाट्याचार्यने लेखबद्ध कर डाला होगा। कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकमें हरदत्त और गणदास नामके दो नाट्याचार्य उपस्थित भी किए हैं।

हमारे सर्वप्रथम प्राप्त नाटककार भासके नाटकोंमें प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता और अविमारक तो ऐतिहासिक हैं, चारुदत्त सामाजिक है, प्रतिमा और अभिषेक रामायणके आधार पर हैं और पञ्चरात्र, बालचरित, मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरुभङ्ग महाभारतकी कथाओंपर आश्रित हैं। अतः रामायण और महाभारतमें भी नाट्यकी खोज कर लेनी चाहिए।

रामायणके रचयिता महर्षि वाल्मीकिका समय विक्रमसे तीन या चार सहस्र वर्ष पूर्व माना जाता है। उनके रामायणमें अयोध्याको वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ताम् [वेश्या और नाटक मंडलियोंसे युक्त] कहा गया है और रामके अभिषेकके समय यह वर्णन किया गया है—

नटनर्त्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
यतः कर्णसुखावाचः सुश्राव जनता ततः ॥

[नटों नर्त्तकों, और गायकोंके गानों और मनोहर वचनोंको जनता सुन रही थी।]

महाभारतके हरिवंश पर्वमें ९१ से ९७ अध्यायतक वज्रनाभके वध और प्रद्युम्नके विवाहके प्रकरणमें रामायण नाटक और कौबेररम्भाभिसार नामक नाटकका बड़ा अद्भुत प्रकरण मिलता है। कथा यह है—वज्रनाभ कहलानेवाले समितिञ्जय नामक महाराक्षसने तपस्या करके ब्रह्माजीसे यह वर माँगा कि देवता मुझे न मार सकें और मेरे पास सम्पूर्ण गुणों और वैभवोंसे भरा हुआ वज्रपुर नामक नगर हो। यह वरदान पाकर उसने इन्द्रको भी जा ललकारा। इन्द्रने द्वारिकामें जाकर कृष्णजीसे सहायता माँगी। कृष्णजीने कहा कि वसुदेवजीका अश्वमेध यज्ञ समाप्त हो जाय तो मैं उस राक्षसको मार डालूँ। उसी समय उस यज्ञमें भद्र नामक नटने अपने सुन्दर नाट्यसे महर्षियोंको प्रसन्न करके यह वर पाया कि सब ब्राह्मण लोग मेरे नाट्यसे सदा प्रसन्न रहें, मैं आकाशमें चल सकूँ, कोई मुझे न मार सके और जैसा चाहूँ वैसा रूप बना सकूँ। वह महानट श्रीकृष्णजीकी द्वारिकामें भी आया करता था। उन्हीं दिनों इन्द्रने देवलोकके धार्तराष्ट्र हंसों से कहा कि तुम लोग वज्रनाभ पुरमें जाकर उसकी कन्या प्रभावतीको ऐसी सीख दो कि वह प्रद्युम्नपर मोहित हो जाय, उधर यादव लोग भी महानटके साथ नटका वेश धरकर चले जायँगे और उसे मार डालेंगे। उन हंसोंमें की शुचिमुखी नामकी हंसीने प्रभावतीको ऐसा प्रभावित कर दिया कि वह प्रद्युम्नके लिये व्याकुल हो गई और उधर वज्रनाभसे उस हंसीने महानटका ऐसा वर्णन किया कि वह राक्षस उसे लानेके लिये व्याकुल हो गया। श्रीकृष्णजीने भी मायासे भद्र नाम का नट बनाया और उसके साथ भीमवंशी यादवोंको नट बना बनाकर भेजा। इनमें प्रद्युम्न नायक बने, साम्ब यादव विदूषक बने और गद पारिपार्श्वक बने और दूसरे यादव नटी बनबनकर उनकी सहायताके लिये गए। वे सब वज्रपुरके उपनगर सुपुरमें पहुँचे। वहाँ इनकी बड़ी आवभगत हुई और इन्होंने रामायणका नाटक किया। उसमें इन लोगोंने दशरथ, ऋषि शृंग, शान्ता, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सबको ठीक मूल रूपमें लाकर दिखला दिया। नटोंके वेश और इस वास्तविक अभिनयको देखकर वे दानव बड़े विस्मित हुए जिन्होंने रामावतारके समय वास्तविक राम, दशरथ आदिको देखा था। इस नाटकका इतना हल्ला हुआ कि वज्रनाभने इन्हें वज्रपुरमें नाटक करनेके लिये आमंत्रित किया। वहाँ इन लोगोंने घन, सुषिर, मुरज और तंत्री बजाकर देवगान्धार रागमें गंगावतरणकी कथाका अभिनय किया। फिर इन लोगोंने मंगल पद्य कहकर कौबेररम्भाभिसार नामका नाटक प्रारंभ किया जिसमें शूरने रावणका, मनोवतीने रम्भाका और साम्बने विदूषकका अभिनय किया। वह इतना सुन्दर हुआ कि दैत्यों और उनकी स्त्रियोंने अपने भूषण उतार उतारकर दे दिए। फिर इन लोगोंने वज्रनाभका वध किया और प्रद्युम्नका प्रभावतीसे विवाह कर दिया।

एक बात यह भी है कि हमारे देशमें प्रत्येक कार्यको विशेष नियमों और क्रियाओं में बाँधनेकी प्रथा बहुत पहलेसे चली आती थी, क्योंकि समाजका यह विश्वास था कि हमारी कोई भी क्रिया ऐसी न हो जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष-नामक चारों पुरुषार्थों की प्राप्तिमें बाधक हो। हमारी प्रत्येक वृत्ति और कृति ऐसी हो जो हमारे लिये इहलोक और परलोकमें सुख-समृद्धि संग्रह कर सके। इसीलिये हमारे समाजके नेता ऋषिगण प्रत्येक कार्य प्रारम्भ करनेसे पूर्व ऐसे विधिनिषेधात्मक शास्त्रकी रचना कर डालते थे जिसमें उस कार्यके रूपकी साङ्गोपाङ्ग व्यवस्था हो। जैसे अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, व्याकरणशास्त्र आदि शास्त्रोंकी व्यवस्था हुई वैसे ही समाजकी रुचिको परिष्कृत करने और उनका विनोद करनेके लिये नाट्यशास्त्रकी भी रचना की गई। यह भी हो सकता है कि शूद्रोंने समाजके नेताओं से यह प्रार्थना की हो कि यदि हमारे लिये वेद-वेदांगका मार्ग बन्द है तो हमें आचार, शील आदिकी शिक्षा देनेके लिये कोई ऐसी व्यवस्था की जाय कि जिससे हमारे दैनिक कार्यमें भी बाधा न हो और हमें अधिक बौद्धिक परिश्रम भी न करना पड़े। इसपर संभवतः समाजके

उदार और विचारशील नेता ब्राह्मणोंने उनके विनोद और शिक्षणके लिये नाट्यकी व्यवस्था कर दी हो।

यह भी संभव है कि किसी उदार सम्राटने ही अपनी प्रजाको सुसंस्कृत बनानेके लिये तथा उन्हें सरल रीतिसे विश्व भरका इतिहास और ज्ञान सिखानेके लिये विद्वानोंको यह आदेश दिया हो कि कोई ऐसा सरल साधन निकालो जिससे लोग शिक्षा भी प्राप्त करें और उनका विनोद भी हो। नाट्यशास्त्रमें नाट्यकी उत्पत्तिकी जो कथा दी गई है उसमें भी दो बातोंका संकेत मिलता है—एक तो यह कि महेन्द्र आदि देवताओंने ब्रह्माजीसे ऐसा वेद रचनेकी प्रार्थना की जिसमें सब वर्गके लोग भाग ले सकें। दूसरी बात यह है कि यह प्रार्थना उस समय की गई थी जब संसारके लोग बुरे-बुरे काम करने लगे थे और काम, लोभ ईर्ष्या, क्रोध आदिमें फँसे हुए लोग किसी-किसी प्रकार अपने दिन काटते थे। इन दो बातोंसे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि जब राज्यके बड़े अधिकारियों और नेताओंने यह देखा कि समाज अव्यवस्थित हो गया है, लोगोंकी वृत्तियाँ बिगड़ गई हैं, वेद या अन्य विद्याओंमें लोगोंकी रुचि नहीं रह गई है, तब उन्होंने किसी लोकविश्रुत सर्वविद् विद्वान्से यह कहा होगा कि कोई ऐसा साधन निकालो जिसकी ओर सब वर्गके तथा सब वृत्तियोंके लोगोंका स्वाभाविक आकर्षण हो और जिसका स्वरूप ऐसा हो कि उससे सब प्रकारकी और सब विषयोंकी शिक्षा दी जा सके। ब्रह्माजीने या उस विचक्षण विद्वान्ने संभवतः इसी कारण नाट्यकी रचना कर दी हो।

यद्यपि पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें शिलाली और कृशाश्वके नटसूत्रोंका उल्लेख मिलता है —

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। [पाणिनि ४।३।११०]; कर्म दकृशाश्वादिनिः। [पाणिनि ४।३।१११] —किन्तु उन सूत्रोंके लोप हो जानेसे यह नहीं कहा जा सकता कि नाट्यकी उत्पत्तिके विषयमें उनके क्या मत थे। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रके नागरकवृत्त प्रकरणमें घटा निबन्धन (मेला) पर इतना ही लिखा है—

—पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्या भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः॥ १५ ॥

[पखवाड़े या महीनेके निश्चित या प्रसिद्ध पर्वके दिनों में सरस्वतीके मन्दिरमें (या विद्यालयोंमें) राजाकी ओरसे नियुक्त नटोंके द्वारा नाटक या उत्सव हों।]

आगे चलकर धूपविलेपनघटा-प्रकरणमें कहा है।

—कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नियतं लभेरन्। ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चैषां परस्परस्यैककार्यता॥१६॥

[बाहरके आए हुए नटोंको चाहिए कि पहले दिन नागरोंको अपना नाटक दिखावें और जो कुछ ठहराव हुआ हो उसे दूसरे दिन ले लें। यदि फिर भी लोग देखना चाहें तो व्यवस्थाके साथ इनका खेल देखें, नहीं तो उन्हें विदा कर दें। वहाँके नियुक्त नटोंको चाहिए कि आगन्तुकोंके कष्ट और आनन्दमें सहायता दें। इन आगन्तुक नटोंको भी राज्यकी ओरसे नियुक्त नटोंके साथ यही व्यवहार करना चाहिए।]

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें भी अध्यक्ष-प्रचार अधिकरणके सत्ताइसवें अध्यायमें लिखा है—

एतेन नटनर्त्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः॥ ३८ ॥

[नट (अभिनय करनेवाले) नर्त्तक, गायक, वादक, वाग्जीवन (कथा करके जीविका करनेवाले), कुशीलव (मुख्यतया नृत्य आदि दिखाकर गानेवाले), प्लवक (रस्सीपर चढ़कर खेल दिखानेवाले), सौभिक (ऐन्द्रजालिक नट), चारण (भाँड़, मल्ल आदि) तथा और भी जो कोई स्त्रियोंके द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं, उनकी स्त्रियाँ और छिपकर व्यभिचार आदिसे जीविका कमानेवाली स्त्रियोंके सम्बन्धमें भी गणिकाओंके समान ही सब यथोचित नियम बरते जावें। अर्थात् नट आदिकी स्त्रियोंके विषयमें जो नियम जहाँ सम्भव हों उसके अनुसार ही इनके साथ बर्त्ताव किया जावे।]

तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्॥ ३९ ॥

[यदि नट आदिकी कोई मंडली किसी दूसरे देशसे नाटक या खेल दिखानेके लिये आवे, तो प्रत्येक खेल दिखानेका पाँच पण कर राजाको दे।]

गीतवाद्यपाठ्यनृत्तनाट्याक्षरचित्रवीणावेणुमृदंगपरचित्तज्ञान गन्धमाल्यसंयूहन संपादन संवाहन वैशिककलाज्ञानानि गणिका दासी रङ्गोपजीविनीश्च ग्राहयतो राजमण्डलादाजीवं कुर्यात्॥ ४१ ॥

[राजाको चाहिए कि गणिका, दासी (गणिकाओंसे अतिरिक्त और साधारण वेश्या) तथा रङ्गमंच पर अभिनय करके जीविका करनेवाली स्त्रियोंको गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा, वेणु, तथा मृदंगको विशेष रीतिसे बजाना, दूसरेके चित्तको पहचानना, गन्ध बनाना, माला गूँथना (गन्धसंयून माल्य-संपादनं), पैर आदि अंग दबाना (संवाहन), शरीरको सब प्रकारसे अलंकृत करना, और (चौंसठ) कलाएँ आदि सिखानेके लिये आचार्यका प्रबन्ध करे और उस पर राज-मण्डल (नगर या ग्रामोंसे आनेवाली आय) से व्यय करे ।]

[गणिकापुत्रान्रङ्गोपजीविनश्च मुख्यान्निष्पादयेयुः सर्व-तालावचाराणां च ॥ ४२ ॥]

[गणिकाओंके पुत्रों तथा मुख्य रङ्गोपजीवियों (रङ्गमंच पर अभिनय आदि करके जीविका कमानेवाले मुख्य नटों) को अन्य सब रङ्गोपजीवियोंका (सर्वतालावचारणां) प्रधान बनाया जाय । अर्थात् ये, सबके आचार्य होकर काम करें ।]

जैनियोंका रायपसेणीयसुत्त नामक एक आगम ग्रंथ है । इसमें यह कथा दी गई है कि एक बार भगवान महावीर घूमते-फिरते आमलकप्पा नगरीमें पहुँचे और अम्बसाल वनमें अशोक वृक्षके नीचे एक बड़ी सी काली शिलापर बैठ गए । उसी समय स्वर्गके सूर्याभदेव उनकी वन्दना करनेके लिये आए, किन्तु उनकी यह वन्दना साधारण नहीं थी । सूर्याभदेवने महावीरजीके पास आकर पहले गा-बजा और नाचकर वन्दना की और फिर अभिनयात्मक नाटक किया । इसी प्रसंगमें सूत्रकारने संगीतके स्वरूप और प्रकारके साथ साथ अनेक प्रकारके वाद्योंके नाम और उन्हें विभिन्न प्रकारसे बजानेकी रीति विस्तारसे वर्णन की है । इसके अतिरिक्त सूर्याभदेवने बत्तीस प्रकारके अभिनयात्मक नाटक करके दिखाए थे जिनमें कुछ प्रकृति-सम्बन्धी थे जैसे—सागरकी तरंगका, चन्द्रोदयका, सूर्योदयका और हाथीकी गतिका अभिनय इत्यादि । इसके पश्चात् उन्होंने लिपिका अभिनय प्रारम्भ किया और उसमें वर्णमालाके कचटतप वर्गोंका अभिनय किया । इन बत्तीस प्रकारके अभिनयोंमेंसे कुछ तो ऐसे हैं जो भरतके नाट्यशास्त्रमें भी मिलते हैं किन्तु शेष नितान्त नये हैं । इससे भी यह सिद्ध होता है कि जैनियोंमें भी महापुरुषोंके आदरके लिये अभिनय करनेकी परंपरा थी । महावीर स्वामीके लगभग दो या सवा दो सौ वर्ष पीछे भद्रबाहु स्वामीने भी कल्पसूत्रमें जड़वृत्ति साधुओंका उल्लेख करते हुए यह कथा दी है—

एक बार एक साधु जब बहुत देरसे आश्रममें लौटा तो गुरुजीने देरसे लौटनेका कारण पूछा । उसने कहा—मार्गमें नटोंका नाटक देखनेके लिये मैं रुक गया था । इसपर गुरुजीने यह आदेश दिया कि नटोंका नाटक साधुओंको नहीं देखना चाहिए । थोड़े दिन पीछे वह फिर विलंबसे आया और पूछे जानेपर कहा कि मैं नटियोंका नाटक देखने लगा था । तब गुरुजीने कहा—तुम बड़े जड़बुद्धि हो । जब हमने नटोंका नाटक देखनेका निषेध किया उसका अर्थ ही यह था कि नटियोंका भी नाटक नहीं देखना चाहिए ।

बौद्धोंके धर्म ग्रन्थोंमें भी नाटकका स्पष्ट उल्लेख मिलता है । यहाँ तक कि एक बार बुद्धदेव जब राजगृहमें थे उस समय उनके शिष्य मौद्गलायन और उपतिष्यने सबके सामने अभिनय करके दिखाया था ।

किन्तु इन सबसे पहले शुक्ल यजुर्वेदकी वाजसनेय संहिताके तीसवें अध्यायमें पुरुषमेध (पुरुषरूप परमात्माके लिये यज्ञ) प्रकरणमें यह व्यवस्था दी है कि यज्ञके समय किस प्रकारके कार्यके लिये किसे नियुक्त किया जाय । उसी प्रसंगमें छठी कण्डिकामें यह मंत्र दिया गया है—

नृत्ताय सूतङ्गीताय शैलूषन्धर्म्माय सभाचरन्नरिष्ठायै भीमलन्नर्म्मायरेभ ँ हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषख-
म्प्रमदे कुमारीपुत्रम्मेधायै रथकारन्धैर्य्याय तक्षाणम् ॥

[नृत्त (ताल, लयके साथ नाचने) के लिये सूतको गीतके लिये शैलूष (नट) को, धर्मकी बातें बतानेके लिये सभा-चतुर व्यक्तिको, सबको ठीकसे बैठानेके लिये लम्बे-चौड़े जवानको, लोगोंके विनोदके लिये वाक्चतुरको, शृङ्गारकी बातोंके लिये कलाकारको, आनन्दके लिये नपुंसकोंको, समय बितानेके लिये कुमारीपुत्रको, चतुराईके कामोंके लिये रथ-कारको और धीरजसे काम करनेके लिये बढ़ईको नियुक्त करना चाहिए ।]

इससे यह सिद्ध होता है कि आजसे सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक कालमें भी नाटक पूर्ण रूपमें हमारे देशमें विद्यमान

था। किन्तु नाटककी उत्पत्ति कैसे हुई इसका सर्वप्रथम विवरण भरतके नाट्यशास्त्रमें ही मिलता है। अतः हम उसीसे प्रारम्भ करते हैं।

भरतके नाट्यशास्त्रमें पहले ही अध्यायमें नाट्योत्पत्तिकी कथा इस प्रकार दी गई है—

समाप्तजप्यं व्रतिनं स्वसुतैः परिवारितम्।
अनध्याये कदाचित् तं भरतं नाट्यकोविदम्॥
मुनयः पर्युपास्यैनमात्रेयप्रमुखाः पुरा।
पप्रच्छुस्ते महात्मानो नियतेन्द्रियबुद्धयः॥
योऽयं भगवता सम्यक् ग्रथितोवेदसम्मितः।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते॥
कत्यङ्गः किंप्रमाणञ्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः।
सर्वमेतद्यथा तत्त्वं भगवन् वक्तुमर्हसि॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति॥
भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथाऽवहितमानसैः।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः॥
पूर्वं कृतयुगे विप्राः वृत्ते स्वायम्भुवेऽन्तरे।
त्रेतायुगेऽथ सम्प्राप्ते मनोर्वैवस्वतस्य च॥
ग्राम्यधर्मप्रवृत्ते तु कामलोभवशं गते।
ईर्ष्याक्रोधादिसंमूढे लोके सुखितदुःखिते॥
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
जम्बूद्वीपे समाक्रान्ते लोकपालप्रतिष्ठिते॥
महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्॥
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च।
सस्मार चतुरो वेदान् योगमास्थाय तत्त्ववित्॥
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रदर्शकम्।
नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥
एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम्॥

[एक दिन नाट्यका मर्म जाननेवाले भरतजी अपना पूजा-पाठ समाप्त करके अपने पुत्र-पौत्रों से घिरे हुए छुट्टी मना रहे थे। उसी दिन आत्रेय आदि तपस्वी और बुद्धिमान मुनि लोग उनके पास आए और पूछने लगे—हे ब्रह्मन्! आपने जो वेदसम्मित नाट्यवेदका संपादन किया है वह क्यों और जिसके लिये रचा गया था, उसके कितने अङ्ग हैं, क्या प्रमाण है और उसका प्रयोग किस प्रकार किया जाता है, ये सब बातें आप हमें पूरी पूरी बतानेकी कृपा कीजिए। उन मुनियोंकी बातें सुनकर भरत मुनिने नाट्यवेदके उत्पन्न होनेकी कथा इस प्रकार चलाई—ब्रह्माजीने जिस नाट्यवेदको बनाया है उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई वह आप महात्मा लोग ध्यानपूर्वक सुनें। स्वायम्भुव मनुवाला कलियुग बीतने और वैवस्वत मनुके त्रेतायुग प्रारंभ होनेके समय संसारमें ऐसी अव्यवस्था हो गई कि सभी लोग बुरे काम करने लगे और काम, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध आदिमें फँसे हुए किसी किसी प्रकार सुख-दुःखमें जीवन बिताने लगे। इसी बीच लोकपालोंसे भली प्रकार पाले जानेवाले इस जम्बूद्वीप पर देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष और महोरगोंने धावा बोल दिया और वे यहाँ आकर जम गए। उन्हीं दिनों इन्द्र आदि देवताओंने ब्रह्माजीसे आकर कहा कि हम कोई ऐसा खेल चाहते हैं जो सुना भी जा सके और देखा भी जा सके। अतः आप एक ऐसा पाँचवाँ वेद बनाइए जिसमें सब वर्णके लोग उसका आनन्द ले सकें, क्योंकि जितने वैदिक उत्सव हैं उनका आनन्द शूद्र नहीं ले पाते। यह प्रस्ताव स्वीकार करके और इन्द्रको विदा देकर तत्त्व जाननेवाले ब्रह्माजीने समाधि लगाकर चारों वेदोंका स्मरण किया। स्मरण करके उन्होंने संकल्प किया कि कि मैं इतिहाससे युक्त ऐसा नाट्य नामका वेद बनाता हूँ जिससे धर्म, अर्थ, और यश मिलेगा, जिसमें सुन्दर उपदेश भरे होंगे, जिसके द्वारा आगे होनेवाले संसारके सब कार्यों का अनुकरण दिखाया जा सकेगा, जिसमें सभी शास्त्रोंके तत्त्व भरे होंगे और जिसमें संसारके सब शिल्पोंका प्रदर्शन हो सकेगा। ऐसे संकल्पके साथ सब वेदोंका स्मरण करते हुए ब्रह्माजीने चारों वेदोंके अङ्गोंसे उत्पन्न होनेवाला नाट्यवेद बनाया। उन्होंने ऋग्वेदसे

पढ़ने या बोलनेका अंश लिया, सामवेदसे गीत लिया, यजुर्वेदसे अभिनय लिए और अथर्ववेदसे शृङ्गार आदि रस लिए। इस प्रकार ब्रह्माजीने वेद और उपवेदोंसे संबंध रखनेवाला सभी सुन्दरताओंसे भरा हुआ यह नाट्यवेद बनाया।]

भरतके अतिरिक्त अभिनयदर्पणकार श्रीनन्दिकेश्वरने ग्रन्थके प्रारम्भमें नाट्यकी उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—

ऋग्यजुःसामवेदेभ्यो वेदाच्चाथर्वणः क्रमात् ॥७॥
पाठ्यं चाभिनयं गीतं रसान् संगृह्य पद्मजः।
व्यरीरचच्छास्त्रमिदं धर्मकामार्थमोक्षदम् ॥८॥
नाट्यवेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः ॥२॥

[ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य, यजुर्वेदसे अभिनय, सामवेदसे गीत और अथर्ववेदसे रसोंको लेकर धर्म, काम, अर्थ और मोक्ष देनेवाला यह शास्त्र बनाया। सबसे पहले यह नाट्यवेद ब्रह्माजीने भरतको दिया।]

श्रीधनञ्जयने अपने दशरूपकके प्रारम्भमें ही इसी कथाका समर्थन करते हुए यह भी संकेत किया है कि नाट्यवेदको पूर्ण करनेमें और किस किसका हाथ रहा है—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि।

[संपूर्ण वेदोंका तत्त्व निकालकर ब्रह्माजीने जिस नाट्यवेदकी रचना की, भरतजीने जिसका प्रयोग या अभिनय कराया, जिसमें ताण्डव या उद्धत नृत्त महादेवजीने और लास्य या कोमल नृत्त पार्वतीजीने जोड़ा, उस पूरे नाट्यवेदके सब लक्षण भला कौन कह सकता है, फिर भी कुछ विशेष गुणवाले नाट्यों या रूपकोंके लक्षण संक्षेपमें कहता हूँ।]

लगभग ग्यारहवीं शताब्दीमें भावप्रकाशनम्के रचयिता शारदातनयने अपने गुरु नाट्यशालाधिपति दिवाकरजीसे जितने प्रकारके नाट्यशास्त्र सीखे थे उनका कृतज्ञतापूर्ण उल्लेख करते हुए वे ग्रन्थके प्रारम्भमें ही कहते हैं—

प्रीतस्सोऽपि सदाशिवस्य शिवयोर्गौर्या मतं वासुके—
र्वाग्देव्या अपि नारदस्य च मुनेः कुम्भोद्भवव्यासयोः।
शिष्याणां भरतस्य यानि च मतान्यध्याप्य तान्यञ्जना—
सूनोरप्यथ नाट्यवेदमखिलं सम्यक्तमध्यापयत् ॥

[सदाशिवजीके, शिव-पार्वतीजीके, गौरीजीके, वासुकिके, सरस्वतीजीके, नारदमुनिके, अगस्त्यजीके, व्यासजीके, हनुमान्जीके, तथा भरतजी और उनके शिष्योंके जितने नाट्य-सम्बन्धी मत थे उन सबके साथ पूरा नाट्यवेद उन दिवाकरजीने प्रसन्न होकर बड़े अच्छे ढंगसे उन्हें (शारदातनयको) सिखाया।]

आगे सङ्गीतकी उत्पत्तिकी कथा देते हुए वे भावप्रकाशनम्के दशम अधिकारमें कहते हैं—

पुरा मनुर्महीपालः सप्तद्वीपवतीं भुवम्।
पालयन्दुर्भरेणास्या भारेण श्रान्तचेतनः ॥
केनास्य भूमिभारस्य विश्रान्तिसुखमाप्नुयाम्।
इति सञ्चिन्त्य पितरं सवितारमुदैक्षत ॥
तदैवाभ्यागमत्तत्र भास्करः पुत्रवत्सलः।
मनुर्न्यवेदयत्तस्मै भूभारक्लेशमात्मनः ॥
स मनोर्भारखिन्नस्य विश्रामोपायमब्रवीत्।
पुरा दुग्धाब्धिनाथस्य नाभीकमलसम्भवः ॥
ब्रह्माऽसृजदिमान् लोकान् जङ्गमस्थावरात्मकान्।
एतेषां पालनायासव्यापारपरिखेदितः ॥
विश्रान्तिसुखमन्विच्छन्नुपागच्छच्छ्रियः पतिम्।
प्रजापालनखेदस्य विश्रामाय व्यजिज्ञिपत् ॥
अचिन्तयद्देवदेवः श्रान्तं वीक्ष्यात्मसम्भवम्।
केनैवास्य विनोदेन विश्रामः सम्भवेदिति ॥
विचिन्त्य भावं स्वक्षेत्रभाविनं विधिमब्रवीत्।
गच्छ ब्रह्मन् पुरारातिमम्बिकापतिमीश्वरम् ॥
स ते विश्रान्तिसुखदमुपायमुपदेक्ष्यति।
इत्थमाज्ञापितो ब्रह्मा देवदेवमुमापतिम् ॥
अभिष्ट्यात्मनः खेदं सर्वं तस्मै व्यजिज्ञिपत्।
विज्ञाय शम्भुस्तत्खेदं नन्दिकेश्वरमभ्यधात् ॥
मत्सकाशादधीतं त्वं नाट्यवेदमशेषतः।
अध्यापयैनं ब्रह्माणं सप्रयोगं सविस्तरम् ॥
स तथेत्यब्जजन्मानमध्यापयदशेषतः।
अध्याप्यावोचदेतस्य वेदस्यैव प्रयोगतः ॥
जगतां पालनायासविश्रान्तिसुखमाप्नुहि।
इत्थं स नन्दिनाऽऽज्ञप्तः समागम्य स्वमन्दिरम् ॥
नाट्यवेदप्रयोक्तारं भारतीसहितोऽस्मरत्।
स्मृतमात्रो मुनिः कश्चिच्छिष्यैः पञ्चभिरन्वितः ॥

पुरोऽवतस्थे भारत्या सहितस्याब्जजन्मनः ।
तानब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः ॥
तेऽधीत्य नाट्यवेदं तत्प्रयोगांश्च पृथग्विधान् ।
पुरावृत्तानि देवानां प्रबन्धैरुपदिश्य ते ॥
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च पृथग्विधैः ।
नाट्यवेदोदितैः सम्यक्पद्मयोनिमतूतुषन् ॥
तुष्टस्तेभ्यो वरं प्रादादभीष्टं पद्मविष्टरः ।
नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयेरितम् ॥
तस्माद्भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये ।
नाट्यवेदोऽपि भवतां नाम्ना ख्यातिं गमिष्यति ॥
इत्यादिश्य ततो ब्रह्मा तैरेव भरतैः सह ।
विनोदयति लोकानां रक्षाव्यसनजं श्रमम् ॥
त्वमप्याराध्य तं देवं मनो ब्रह्माणमच्युतम् ।
विज्ञाप्य वसुधाभारक्लेशविश्रामहेतवे ॥
तेन प्रणीतैर्भरतप्रयोगैर्भुवि कल्पितैः ।
आत्मानो भूभरश्रान्तिविनोदाय यथासुखम् ॥
इत्थमादिश्य च मनुं दिनेशस्त्रिदिवं ययौ ।
मनुर्ब्रह्मसदोऽभ्येत्य प्रणिपत्य पितामहम् ॥
आत्मनो भूभरश्रान्तिं व्यजिज्ञिपदशेषतः ।
चतुर्मुखोऽपि विज्ञाय मनोर्भूभिभरक्लमम् ॥
आहूय भरतान् सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
यात यूयं महीं विप्रा मनुना त्रिदिवादितः ॥
भारतं वर्षमाश्रित्य वर्तध्वं मनुना सह ।
इति सञ्चोदितास्तेन भरताः पद्मयोनिना ॥
अयोध्यां मानवेन्द्रेण मनुना सार्धमाययुः ।
तत्र राजर्षिचरितं पुरा कल्पान्तरे कृतम् ॥
प्रबन्धैरुपदिश्यैतत्तन्नेतृपरिच्छदम् ।
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च विचित्रितैः ॥
नाट्यवेदोपदिष्टेन सदा सङ्गीतवर्त्मना ।
भूभारवहनश्रान्तिं मनोः सम्यगपानुदन् ॥
परिगृह्य ततः शिष्यान्भरतान्कांश्चन द्विजान् ।
देशे देशे नरेन्द्राणां विनोदं तैरचीकरत् ॥
तत्र प्रयुक्तनर्तनं देशरीतिपरिष्कृतम् ।
प्रयोगाणां च वैचित्र्याद्देशीत्याख्यामुपागमत् ॥
नाट्यवेदस्य भरताः सारमुद्धृत्य सर्वतः ।
ग्रन्थद्वं मुनयोगाढं मनुना प्रार्थिता व्यधुः ॥
एकं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः ॥
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः ।
यदिदं भारते वर्षे मनुना सुप्रकाशितम् ॥

[अत्यन्त प्राचीन कालमें मानवीय जगत्के स्वामी स्वायम्भुव मनुने अपने पिता सूर्यसे कहा कि आप कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे राज्यकी चिन्ताओंमें पड़ा हुआ हमारा मन बहले । इसपर सूर्यने उनसे कहा—सृष्टि कर चुकनेपर ब्रह्माजी भी यही प्रार्थना लेकर महाविष्णुके पास गए थे । महाविष्णुजीने उन्हें शिवजीके पास भेज दिया । शिवजीने अपने गण नन्दीको बुलाया जिसने पहले ही शिवजीसे गन्धर्व-विद्या सीख ली थी । शिवजीने उसे आज्ञा दी कि गन्धर्व-वेदके सब तत्त्व ब्रह्माजीको बता दो । ब्रह्माजी जब सब कुछ सीखकर लौटे तो उन्होंने एक नटकी कल्पना की । तत्काल पाँच शिष्योंके साथ एक मुनि वहाँ आकर प्रकट हो गए । सरस्वतीजी वहाँ बैठी हुई थीं । ब्रह्माजीने मुनि और उनके शिष्योंसे कहा कि आप लोग यह नाट्यवेद ग्रहण कर लीजिए । उन्होंने साङ्गोपाङ्ग नाट्यवेद सीखकर गीत और रसोंसे भरे हुए अनेक नाटक दिखाकर ब्रह्माजीको प्रसन्न कर दिया । नाट्यवेदके प्रति उनकी रुचि और भक्ति देखकर ब्रह्माजीने उन्हें वरदान दिया कि अब आप लोग तीनों लोकोंमें भरत कहलायँगे और यह नाट्यवेद भी तुम्हारे ही नामपर 'भारत' कहलायगा ।

अपने पिता सूर्यसे यह कथा सुनकर स्वायम्भुव मनुने ब्रह्माजीसे नाट्यवेदके लिये प्रार्थना की । ब्रह्माजीने उन भरतोंको आज्ञा दी कि तुम लोग मनुके साथ भारतवर्षमें चले जाओ । भारतवर्षमें जाकर उन लोगोंने अयोध्यामें डेरा डाला । देवताओंकी रङ्गशालामें जिन देवर्षियोंकी कथाओंके नाटक खेले जाते थे वे सब उन्होंने अयोध्यामें खेले । इन्हीं भरतोंके शिष्योंने धीरे धीरे भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें नाट्यशास्त्रका प्रचार किया । तब मनुके कहनेसे इन भरतोंने नाट्यवेदका सारांश दो ग्रन्थोंमें एकत्र करके रक्खा । इनमेंसे एक है द्वादशसाहस्री, दूसरा है षट्साहस्री । इन दो नों ग्रंथोंमेंसे षट्साहस्री वही है जो भरतका नाट्यशास्त्र कहलाता है ।]

इन सब विवरणोंसे इतनी बातें सिद्ध होती हैं—

(१) नाट्यका जन्म संसारकी चिन्ताओंको भुला

देनेके उद्देश्यसे हुआ।

(२) ब्रह्माजी इसके आदि-स्रष्टा या आदि प्रचारक हैं।

(३) वेदोंके तत्त्व मिलाकर ही नाट्यकी सृष्टि की गई है।

(४) आदि नाट्यमें पाठ्य, गीत, अभिनय और रस चारों होते थे।

(५) नाट्यका द्वार सबके लिये खुला था।

नाट्यवेदकी रचना करनेवाले ब्रह्माजी कौन हैं इस पर इस युगमें दूसरी दृष्टिसे भी विचार कर लेना चाहिए। हमारी परम्पराके अनुसार परमेश्वरकी सृष्टि-शक्तिके अधिष्ठाता ब्रह्माजी ही सारी सृष्टिके रचयिता हैं। अतः यदि वे नाट्यवेदके भी स्रष्टा बताए जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। इसीको हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जैसे मंत्र-द्रष्टा ऋषियोंने वेदका साक्षात्कार किया था वैसे ही नाट्यवेद भी उनके दिव्य नेत्रोंके आगे ज्योंका त्यों प्रकट हो गया था। यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि वैदिक साहित्यके युगमें ऋषियों और मुनियोंने ही वैदिक ज्ञानसे लोकोपयोगी अंश निकालकर उससे लोकरंजक तथा उपदेशजनक नाट्यका आविष्कार कर लिया हो और पीछेसे समय-समयपर अनेक आचार्योंने अपने अपने मतोंसे नई नई कलाओं तथा प्रयोगोंका इसमें सन्निवेश किया हो। बुद्धिवादियोंका समाधान करनेके लिये यह भी कहा जा सकता है कि जिसने पहले पहल चारों वेदोंका अध्ययन करके और प्रत्येकमेंसे लोकरञ्जनके तत्त्व निकालकर और मिलाकर, सबकी समझमें आनेवाला, सब विद्याओंसे भरा हुआ तथा सबको अच्छा लगनेवाला नाट्यवेद बनाया, उसीको लोग ब्रह्मा, विधाता, स्रष्टा या रचयिता कहने लगे। जो भी हो, किन्तु जिस ब्रह्माने नाट्यवेदकी रचना की है वह अलौकिक-ज्ञान-सम्पन्न अवश्य रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अब हमें नाट्यकी उत्पत्तिके उन दूसरे प्रकारके प्रमाणोंकी परीक्षा भी करनी चाहिए जिनमें नाट्यसम्बन्धी विषयोंका किसी न किसी प्रसङ्गमें निर्देश मिलता है। इनमेंसे यजुर्वेद, रामायण, महाभारत तथा बौद्ध और जैनियोंके धर्म-ग्रन्थोंका कुछ विवरण हम ऊपर दे आए हैं। वैदिक साहित्यमें गीत और नृत्यका बहुत उल्लेख मिलता है। ऊपर हम यजुर्वेदका प्रमाण दे आए हैं कि यज्ञके समय ['गीताय शैलूषं'] गीतके लिये शैलूष (नट) नियुक्त किए जाते थे। कौषीतकि ब्राह्मणोंमें भी संगीतको यज्ञ-क्रियाका एक अंग माना गया है, यद्यपि पारस्कर गृह्यसूत्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये उसका प्रयोग निषिद्ध बतलाया गया है।

इसी प्रकार महाव्रत-स्तोममें भी यह विधान है कि उस अवसरपर जो कुमारियाँ अग्निकी परिक्रमा करती हुई नाचती गाती हैं वे चिर सौभाग्यवती होकर सन्तान पाती हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलिने अपने महाभाष्यमें कंसवध और बलि-बन्ध नाटकोंके होनेका संकेत देकर यह सिद्ध कर दिया है कि महाभाष्यकारके समय नाटक अपनी प्रौढ़तामें विद्यमान था—

इह तु कथं वर्त्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभनिका (सौभिका) नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।

[जो कंस इतने समय पहले मारा जा चुका है और जो बलि इतने समय पहले बाँधे जा चुके हैं उनके लिये यह वर्त्तमान कालमें क्यों कहा जाता है कि वह कंसको मारता है या वह बलिको बाँधता है। पर यह ठीक है क्योंकि नट लोग हमारी आखोंके आगे ही नाटकमें कंसको मारते हैं और बलिको बाँधते हैं।]

बौद्धोंने भी नाटकको अपने धर्म-प्रचारका साधन माना था। इसका प्रमाण अश्वघोषका सारिपुत्रप्रकरण नामक नौ अंकोंका नाटक है जिसमें बुद्धके द्वारा मौद्गलायन और सारिपुत्रके बौद्ध होनेकी कथा दी है। ललितविस्तर, अवदान-जातक, सद्धर्म-पुण्डरीक और महावंश आदि ग्रन्थोंमें भी विशेष पर्वोपर नाटकोंके अभिनय होनेका उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें तो राज्यकी ओरसे नट नियुक्त किए जाते थे जिनका प्रयोग राजनीतिक कार्योंके लिये किया जाता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रके षाड्गुण्य नामक सप्तम अधिकरणमें, विश्वासके लिये शत्रुके पास रक्खे हुए राजपुत्रको छुड़ा लेनेके उपायोंका निर्देश करते हुए कहा गया है—

नटनर्त्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिका वा पूर्वं प्रणिहिताः परमुपतिष्ठेरन् ॥ ४३ ॥ ते कुमारं परम्परयोपतिष्ठेरन् ॥ ४४ ॥ [१७ वाँ अध्याय]

[नट, नाचनेवाले, गानेवाले, बजानेवाले, कथा कहनेवाले, अभिनेता, रस्सीपर चढ़कर खेल दिखानेवाले और ऐन्द्रजालिकके वेषोंमें गुप्तचर लोग शत्रुके देशमें जाकर पहले शत्रु राजातक अपनी पहुँच करें, फिर धीरे धीरे वहाँ रहते हुए कुमार या राजपुत्र तक पहुँच जायँ।]

इसी प्रकार पाँचवें योगवृत्त अधिकरणके तीसरे अध्यायमें भृत्योंके भरण-पोषणकी व्यवस्था करते हुए लिखा है—

कुशीलवास्त्वर्धतृतीयशताः ॥ १६ द्विगुणवेतनाश्चैषां तूर्यकराः ॥ २७ ॥

[कुशीलव (नट) आदिको ३५० पण वार्षिक वेतन दिया जाय और उनमें जो बढ़िया बाजे भी बजाना जानते हों उन्हें ७०० पण वार्षिक वेतन दिया जाय।]

इसका तात्पर्य यह है कि कौटिल्यके समयतक नाट्य एक अच्छा व्यवसाय हो गया था और राज्यने भी उसे आश्रय देकर उसपर नियन्त्रण कर लिया था, क्योंकि अर्थशास्त्रके अध्यक्ष—प्रचार अधिकरणके प्रथम अध्यायमें कहा गया है—

न च तत्रारामविहारार्थाः शालाः स्युः ॥ ४१ ॥ नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवककुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः ॥ ४२ ॥

[वहाँ (जनपद अर्थात् गाँवोंके बीचमें) आमोद-प्रमोदके लिये भवन या नाट्यशालाएँ न बनाई जायँ जिससे नट, नाचने-गाने-बजानेवाले, कथा कहनेवाले और अभिनेता लोग वहाँ अपने खेल दिखा-दिखाकर लोगोंके काममें विघ्न न डालने पावें।]

अब तीसरे प्रकारके उन प्रमाणोंपर भी विचार करना आवश्यक है जिनमें नाट्य या नाट्यके किसी अंशका सादृश्य मिलता है। जिन सादृश्योंको लेकर नाट्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक मत मिलते हैं उन सबकी भी हम अलग अलग मीमांसा करेंगे।

नाट्योत्पत्तिका आख्यान या संवाद-सिद्धान्त

ऋक्संवादा एवादिनाट्यरूपमित्येके ॥ १० ॥

[एक पक्ष है, आदि नाट्य हैं ऋग्वेदी संवाद।]

ऋग्वेदमें सरमा और पणिस, यम और यमी तथा पुरूरवा और उर्वशीके संवाद-सूक्तोंको देखकर आचार्य मुग्धानलने (मैकडोनलने) अपने हिस्ट्री औफ़ संस्कृत लिटरेचरमें कहा है कि ये संवाद ही भारतीय नाट्य-साहित्यके आदि रूप हैं, जिनमेंसे पुरूरवा और उर्वशीके कथानकको लेकर भारतके अद्वितीय नाटककार महाकवि कालिदासने इस वैदिक आख्यानके एक सहस्र या इससे अधिक वर्षों पीछे 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटककी रचना की। आचार्य ए० बी० कीथने सं० १९६८ (सन् १९११) में 'जर्नल औफ़ दि रौयल् एशियाटिक सोसाइटी' के ९७९ संख्यक पृष्ठपर 'दि वैदिक आख्यान ऐंड दि इंडियन ड्रामा' शीर्षक लेखमें इन संवादोंको आख्यान कहा है। इन आख्यानों या संवादोंके बलपर दो प्रसिद्ध मत स्थापित किए गए हैं। पहला तो है आचार्य विंडिश और ओल्डेनबर्गका आख्यान-मत, जिसका समर्थन आचार्य पिशेल और गेल्डेनरने भी किया था। गेल्डेनर तो इन्हें आख्यान कहनेके बदले इतिहास कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं। इन लोगोंका यह मत है कि मूलतः ये संवाद गद्य-पद्यात्मक कथाके रूपमें रहे होंगे जिनमें परस्पर बातचीतके अवसरपर कथाने संवादका रूप ले लिया होगा। अन्तमें आचार्य ओल्डेनबर्गने इन सूक्तोंमें गद्यका अत्यन्त अभाव देखकर यह मत निर्धारित किया कि पद्यभाग तो एक कंठसे दूसरे कंठमें परम्परासे चले आनेके कारण बचा रहा किन्तु गद्यभाग नष्ट हो गया।

आख्यान या संवाद-सिद्धान्तका खण्डन

नेत्यभिनवभरतः ॥ ११ ॥

[अभिनवभरत नहीं सहमत हैं।]

विदेशी पंडितोंने जैसे भारतीय इतिहास तथा साहित्यके विभिन्न अज्ञात रहस्योंके उद्‌घाटनके लिये अनेक अटकलोंसे काम लिया है वैसे ही नाट्यकी उत्पत्तिके विषयमें भी उन्होंने अनेक बेढंगी निराधार अटकलें लगाई हैं। अतः उनका निराकरण अत्यन्त अपेक्षित है।

यह तो सत्य है कि ऋग्वेदमें ऐसे बहुतसे सूक्त हैं जिनमें

दो या दोसे अधिक व्यक्तियोंकी परस्पर बातचीत होती है, जैसे अगस्त्य-लोपामुद्राशिष्य-संवाद (१, १७९), विश्वामित्र-नदी-संवाद (३,३३), इन्द्रादिति-वामदेव-संवाद (४,१८), सपुत्रवसिष्ठेन्द्र संवाद (७, ३३), इन्द्रवसुक्र संवाद (१०, २८), यमयमी संवाद (१०, १०), इन्द्रेन्द्राणी-वृषाकपि संवाद (१०, ८६), तथा पुरूरवा-उर्वशी संवाद (१०,९५)। ये सभी संवाद आख्यानोंके साथ आए हुए हैं, अतः यह नितान्त स्वाभाविक है कि कथाओंके बीचमें जहाँ दो या दोसे अधिक व्यक्तियोंकी बातचीतका प्रकरण हो वहाँ कवि, दर्शकका रूप छोड़कर उन दोनोंको उपस्थित करके उनकी बातचीत उन्हींके मुखसे सुनावे। ऐसा करनेसे स्वाभाविकता भी आती है और काव्यमें शक्ति भी आती है। संसार भरके विभिन्न साहित्योंमें जहाँ जहाँ कथाएँ आई हैं, वहाँ सभी कवियोंने स्वाभाविकता लानेके लिये इसी प्रकारके संवादोंका प्रयोग किया है। किन्तु कथान्तर्गत संवादों और नाटकीय संवादोंमें मौलिक अन्तर यह है कि जहाँ नाटकीय संवादोंमें वाचिक या आङ्गिक अभिनयके द्वारा कथोपकथनको भावपूर्ण बनाकर रस उत्पन्न करनेका उपक्रम किया जाता है वहाँ कथाके संवादोंमें केवल किसी प्रसंगमें मिले हुए दो व्यक्तियोंके मनकी व्यंजनाके रूपमें ही बातचीत चलाई जाती है जिसमें विशेषतः तर्ककी प्रधानता होती है, पाठक या श्रोताको रसमग्न करनेका कुल काम लेखक या कथाकार अपनी भाषा-शैलीसे ही कर लेता है। उपर्युक्त वैदिक संवादोंमें भी इसी प्रकार सीधे सादे रूपसे या तो गुरु शिष्यके प्रश्नोत्तरके समान शंका-समाधान किया गया है, या अज्ञात विषयपर प्रश्न करके जिज्ञासाकी तृप्ति की गई है, या प्रणय-अनुरोधपर प्रेमी और प्रेयसीकी केवल तर्कपूर्ण बातचीत होती है। इनमें न तो नाटकीय संवादवाला जोड़-तोड़का उत्तर होता है, न भावोंको उत्तेजित करनेवाली भाषा-शैली ही होती है। अगस्त्यलोपामुद्रा संवाद, यमयमी संवाद और पुरूरवाउर्वशी संवाद आदि सभीमें तर्ककी प्रधानता है, भावकी नहीं। अतः भावका अभाव होनेसे इन संवादोंमें नाटकीयताका स्पर्श भी नहीं है। इसलिये योरोपीय विद्वानोंका यह कहना नितान्त भ्रामक है कि ये संवाद ही भारतीय नाटकके आदिम रूप हैं।

दूसरी बात यह है कि नाटकमें किसी सत्य या कल्पित घटनाका अनुकरण दिखाया जाता है। सब प्रकारके काव्योंको अनुकरण माननेवाले यूनानी आचार्य अरस्तूके मतसे भी यद्यपि काव्य स्वयं अनुकरण होता है, किन्तु उन्होंने भी अभिनय-व्यापारसे पूर्ण त्रासदको प्रबन्ध काव्यसे भिन्न माना है। पर इन वैदिक सूक्तोंमें अभिनेयता है ही कहाँ? यह उल्लेख कहाँ मिलता है कि वैदिक ऋषि लोग देवताओं या ऋषियोंकी सभामें जाकर इन संवादोंका अभिनय करते थे या पृथक् पृथक् एक एक व्यक्तिके पाठका विभाजन करके उसका वाचन करते थे? फिर ऋग्वेदमें तो सब ऐसे सूक्त हैं जो अत्यन्त सुन्दर ढंगसे विभिन्न देवताओं, दैवी विभूतियों या परमात्माकी स्तुतिमें कहे गए हैं, उनमें अभिनयशीलताका लेश भी नहीं है। इसीलिये नाट्यशास्त्रमें कहा गया है—जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् [ऋग्वेदसे पाठ्य लिया है]। इसका यही अर्थ है कि नाटकमें बोलने योग्य अंश—सुन्दर भाषा, अलंकार, छन्द आदिके नियम, कथा, संवाद आदि भाषा या भाषा-शैलीसे संबंध रखनेवाले अंश तथा आचार-विचार, रहन-सहन-सम्बन्धी सामाजिक व्यवहारका विवरण आदि—सब ऋग्वेदसे लिया गया है। ऋग्वेदमें पाठ्यके ये संपूर्ण तत्त्व प्रचुरतासे मिलते भी हैं इसमें सन्देह नहीं है। स्वयं भरत मुनिने भी जामदग्न्य-विजय (व्यायोग), कुसुमशेखर-विजय (ईहामृग), और नहुषके इन्द्रपद पा लेने पर खेलवाया हुआ शर्मिष्ठा-ययाति (अंक) नामक नाटक लिखा था। इन सभीके आख्यान ऋग्वेदमें मिलते हैं। स्वयं ब्रह्माजीने इन्द्रध्वज-महोत्सवपर खेले जानेके लिये जो समुद्रमन्थन (समवकार) रचा था या हिमालयके उत्तरी ढालपर परमेश्वरके आगे खेला हुआ त्रिपुरदाह (डिम) रचा था या सरस्वतीजीका रचा हुआ जो लक्ष्मीस्वयंवर नामक नाटक भरत मुनिने अप्सराओंसे इन्द्रकी रङ्गशालामें खेलवाया था, उन सबके संविधानक ऋग्वेदसे ही लिए गए थे। अतः यह कहना नितांत भ्रामक है कि ये संवाद नाटकके आदि रूप हैं। हाँ! यह अवश्य कह सकते हैं कि इन संवादोंने तथा ऋग्वेदमें आई हुई अनेक कथाओंने नाटकोंके संविधानकोंकी रचनाके लिये प्रचुर सामग्री उदारताके साथ प्रदान की थी।

नाट्यकी उत्पत्तिका वैदिक कर्मकाण्ड-सिद्धान्त

वैदिककर्मकाण्डान्नाट्योत्पत्तिरित्यपरे ॥ १२ ॥

[कोई कहते, कर्मकाण्डसे हुआ नाट्यका जन्म।]

ऋग्वेदके मरुत सूक्तके एक मंत्रकी व्याख्या करते हुए

जर्मन विद्वान् मोक्षमूलर भट्ट (मैक्समूलर) ने संवत् १९२६ (सन् १७६९) में यह मत प्रतिपादित किया कि नाट्यकी उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्डसे हुई है। फ्रांसीसी विद्वान् श्री सिल्वन लेवीने भी इस मतका समर्थन करते हुए कहा था कि वैदिक साहित्यमें बहुतसे ऐसे संवाद हैं जिन्हें भारतीय नाटकका मूल स्रोत समझना चाहिए। उनका यह भी मत था कि ये संवाद केवल कवियों या ऋषियोंकी कल्पना मात्र नहीं हैं वरन् उन्होंने वैदिक यज्ञोंमें इन संवादोंको प्रत्यक्ष नाटकीय रूपमें कहे जाते हुए देखा होगा। इसी सिद्धान्तका समर्थन जर्मन विद्वान् श्री लियोपोल्ड फ़ौन श्रौएडेर् और श्री योहान्स हर्टेलने भी किया था। श्रौएडेर् महोदयने ऋग्वेदके सातवें मण्डलके १०२ संख्यक मंडूक सूक्तको नाटकीय बताते हुए कहा था कि बहुत से ब्राह्मण मिलकर किसी मेंढकोंसे भरे हुए जलाशयमें खड़े होकर उस सूक्तको गाया करते रहे होंगे। इसी आधारपर उन्होंने इस सूक्तकी तुलना यूनानी प्रहसनकार अरिस्तोफनेस्‌के 'मेंढक' तथा 'चतुष्पद' नामक यूनानी प्रहसनोंसे कर डाली है।

प्राध्यापक श्री फ़ौन् श्रौएडेर्ने ऋग्वेदके उस सूक्त [९।११२] को भी नाटक माना है जिसमें सोमरस निकालता हुआ एक ब्राह्मण उसी प्रकार अपना संरक्षक प्राप्त करना चाहता है जैसे दूसरे जीवधारी अपनी इच्छा-पूर्तिके लिये संरक्षक ढूँढते हैं। उस उत्सवमें वनस्पति जगत्के देवी देवता छिपकर गाते और नाचते हैं। उनका यह भी कहना है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें नृत्य, गीत और वाद्य साथ-साथ चलते थे। उसीसे प्रभावित होकर ऋग्वेदके ऋषियोंने वैदिक मंत्रोंके संवादोंको गायन और नर्तनके साथ अभिनय करना आरम्भ कर दिया था। अन्तर इतना ही था कि यूनान और मेक्सिकोके गीतोंके समान इनमें बीभत्स प्रकार नहीं थे और अभिनय केवल यज्ञसे संबद्ध होते थे, जिनका व्यावहारिक भाग आजकल ([illegible]) यात्राके रूपमें बचा रह गया और कर्मकांड वाला एकदम लुप्त हो गया।

श्री हर्टेल महोदयने यहाँ कहा है कि ये वैदिक संवादात्मक सूक्त गाए भी जाते थे। संवादोंका गान एक ही [illegible] होना असम्भव था क्योंकि ऐसा करनेसे संवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंका भेद प्रतीत नहीं हो सकता था। अतः वैदिक संवादोंमें नाट्यका बीज अवश्य है और ऋग्वेदके सुपर्णाध्यायमें इस बीजका विकास है जिसका अनुकरण आजकल यात्राओंमें मिलता है।

कर्मकाण्ड सिद्धान्तका खण्डन

नेत्याचार्याः ॥ १३ ॥

[इससे नहीं सुधी सहमत हैं।]

आचार्य ए० बी० कीथने इस मतका खंडन करते हुए कहा है कि इन संवादोंको नाटकीय संवाद समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञोंमें जो कर्मकांडीय संवाद होते थे वे नाटकीय नहीं वरन् वैसे ही पौरोहित्य-कर्म मात्र होते थे जैसे ईसाई गिर्जाघरोंमें प्रायः हुआ करते हैं जहाँ पादरी कहते हैं—अपने हृदय ऊपर उठाओ। और एकत्रित जन-समुदाय उत्तर देता है—हम अपने हृदय भगवान् तक उठाते हैं। अनुकरणकी भावनाका अभाव होनेसे ये संवाद नाटकीय नहीं हैं क्योंकि नाटकका तात्त्विक आधार अनुकरण है। फ़ौन् श्रौएडेर्ने कर्मकांड और नाटकके इस मौलिक अन्तरको न समझकर ही ऋग्वेदके मंडूक सूक्तको नाटकीय बताया है।

श्री श्रौएडेर् और श्री हर्टेलका यह कथन भी ठीक नहीं है कि ऋग्वेदके संवाद गाए जाते थे क्योंकि गानके लिये तो सामवेदके मंत्र रचे ही गए थे। सामगान करनेवाले इन ऋषियोंका नाम भी अलग उद्गातृ रक्खा गया था। ऋग्वेदके मन्त्रोंका तो केवल शंसन होता था। और फिर ऋग्वेदके संवाद-सूक्त भी तो अनेक प्रकारके हैं। कहीं तो इन संवादोंमें तात्त्विक विचार किए गए हैं, कहीं ऐतिहासिक गाथाएँ कही गई हैं, कहीं प्रेतयात्राके कृत्य दिए गए हैं, और कहीं जुएका कुफल प्रदर्शित किया गया है। ये सब अत्यन्त व्यावहारिक हैं और अधिकसे अधिक इतना कहा जा सकता है कि इनमें नाट्यका बीज उपस्थित है। यह कहना भी असत्य है कि धार्मिक संवादोंका अनुकरण पीछे लुप्त हो गया क्योंकि आरण्यक और सूत्र ग्रन्थोंमें महाव्रत और अश्वमेध यज्ञोंके प्रसंगमें धार्मिक संवादोंका उल्लेख स्पष्ट मिलता है।

श्री विंटरनित्सने भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए इतना संशोधन किया है कि इस प्रकारके सूक्तोंको हम नाटकका स्थानापन्न तो नहीं पर नाट्यका एक दूसरा रूप मान सकते हैं।

कर्मकाण्ड-सिद्धान्तकी निरर्थकता

अभिनवभरतस्याप्यसहमतिः ॥ १४ ॥

[अभिनवभरत भी हैं असहमत ।]

आचार्य कीथने उपर्युक्त सिद्धान्तका खंडन करते हुए जो मत दिया है उसके अतिरिक्त सर्वाधिक विचारणीय बात यह है कि नाट्य तो स्वतः एक यज्ञ बताया गया है। महाकवि कालिदासने अपने मालविकाग्निमित्र नाटकके प्रथम अंकमें नाट्याचार्य गणदाससे नाट्यकी प्रशंसा कराते हुए कहलाया है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकरव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

[मुनि लोगोंका कहना है कि यह नाट्य तो देवताओंकी आँखोंको सुहानेवाला एक यज्ञ है। स्वयं महादेवजीने ही उमासे विवाह करके अपने शरीरमें उसके दो भाग कर दिए, एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज, और तम तीनों गुण भी दिखलाई पड़ते हैं और अनेक रसोंमें लोगोंके चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसीलिये अलग-अलग रुचिवाले लोगोंके लिये प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सबको एक-सा आनन्द मिलता है।]

इस प्रकारका स्वयं ब्रह्माजीका रचा हुआ समुद्रमन्थन नामका चाक्षुष यज्ञ महेन्द्रध्वजोत्सवपर हुआ था और इसी चाक्षुष यज्ञमें इतना बड़ा उपद्रव हुआ कि महेन्द्रको जर्जरकी स्थापना करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त त्रिपुरदाह और लक्ष्मीस्वयंवर नामके दो और चाक्षुष यज्ञ हुए, जिनमें देवता लोग स्वयं उपस्थित थे।

नाट्यशास्त्रके अन्तमें इस चाक्षुष यज्ञका फल भी बतलाया गया है—

य इदं शृणुयात्प्रोक्तं नाट्यमेतत्स्वयंभुवा ।
प्रयोगं यश्च कुर्वीत प्रेक्षते चावधानवान् ॥
या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञयाजिनः ।
या गतिर्दानशीलानां तां गतिं प्राप्नुयान्नरः ॥
न तथा गन्धमाल्येन देवास्तुष्यन्ति पूजिताः ।
यथा नाट्यप्रयोगज्ञैः स्तुयन्ति स्तुतिमङ्गलैः ॥
गान्धर्वञ्चैव नाट्यञ्च यः सम्यगनुपश्यति ।
लभते सद्गतिं पुण्यां सम ब्रह्मर्षिभिर्नरः ॥

[ब्रह्माजीने जिस नाट्यका वर्णन किया है उसे जो ध्यानसे सुनता है, जो उसका प्रयोग करता है और जो सावधान होकर देखता है उस मनुष्यको वही सद्गति मिलती है जो वेदके विद्वानोंको, यज्ञ करनेवालोंको और दान देनेवालोंको मिलती है। देवता लोग सुगन्धित द्रव्य और मालाओंसे पूजित होकर उतने संतुष्ट नहीं होते जितने नाट्यका प्रयोग जाननेवालोंकी स्तुति-प्रार्थनासे होते हैं। गन्धर्ववेद और नाट्यवेदको जो मनुष्य भली प्रकार समझ लेता है उसे ब्रह्मर्षियोंकी पवित्र सद्गति प्राप्त होती है।]

जिस यज्ञका फल स्वतः ब्रह्मर्षियोंको प्राप्य गति दिला सकता है वह पूर्ण यज्ञ किसी यज्ञका एक अंग कैसे हो सकता है। क्योंकि यह तो एक सार्वभौम तथ्य है कि अंगी कभी अंग नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि नाट्यको नृत्य या नाच-गानेके साथ मिलानेकी भूल नहीं करनी चाहिए। श्रौएडेर्, हर्टेल आदि सभीने यह बड़ी भारी भूल की है कि उन्होंने या तो नाचको या केवल संवादको ही नाट्य समझ लिया और जहाँ इनमेंसे किसीका उल्लेख मिला वहीं उन्होंने नाट्यका स्रोत खोजना प्रारम्भ कर दिया। नाट्य तो अभिनयात्मक होता है जिसमें सात्त्विक, आङ्गिक, वाचिक और आहार्य चारों अभिनयोंके प्रयोगसे रसकी सृष्टि होती है। वैदिक संवाद-सूक्तों या व्रतोत्सव स्तोम आदिके अवसरपर होनेवाले नृत्योंमें अभिनयका कहीं संकेत नहीं है, इसलिये उन शुद्ध व्रतोत्सवोंके धार्मिक कर्मकांड या रूढ़ कर्मको नाटक या नाटकका स्रोत कहना नितान्त भ्रामक है क्योंकि उसमें ऋत्विजोंको यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वे अभिनेताके समान किसी भावको अपनी स्वेच्छासे प्रदर्शित कर सकें। उनकी वाणी, उनकी क्रिया सब इतने कठोर नियमोंमें बँधी रहती हैं कि वे तनिक भी उसमें हेर-फेर नहीं कर सकते। वे भली भाँति जानते हैं—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्

[कोई शब्द यदि स्वर या वर्णके अशुद्ध प्रयोगसे बिगड़ा तो वह यज्ञ करनेवालेको उसी प्रकार मार डालता है जैसे इन्द्रशत्रु शब्दमें केवल स्वर बदलने भरसे इन्द्रका शत्रु वृत्रासुर मारा गया था।]

तीसरी बात यह है कि योरोपवाले अपने विकासवादका सिद्धान्त सब स्थानोंपर लागू कर देते हैं। वे इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते कि कोई वस्तु पूर्ण होकर भी उत्पन्न हो सकती है। हम यदि आँखें खोलकर अत्यन्त ध्यान पूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि हमारे यहाँ धर्म-शास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद, व्याकरण, छन्दःशास्त्र तथा सङ्गीतशास्त्र अपने प्रौढ़तम रूपमें ही पाए गए हैं और उनकी उत्पत्तिकी सम्पूर्ण कथाओंके पीछे कोई न कोई दैवी प्रेरणा अवश्य जुड़ी हुई है। उनमें यदि मानव-निर्मितिका तनिक भी योग होता तो बालकी खाल खींचने वाले पौराणिक व्यास उसके विकासक्रमकी कथाका दुंदुभि-घोष करनेमें कभी सङ्कोच न करते, क्योंकि जहाँ उन्होंने सृष्टिके विकासक्रमका बड़ा विस्तृत और जटिल विवरण दिया है वहाँ वे अन्य शास्त्रोंके विकासका विवरण देनेमें उदासीनता न दिखाते। इन शास्त्रों में भी जहाँ जहाँ बीचमें नई शक्तियाँ या क्रियाओंका समावेश हुआ है वहाँ वहाँ आचार्योंने उसे स्पष्ट स्वीकार भी किया है। नाट्यशास्त्रके ही प्रथम अध्याय में यह वर्णन मिलता है कि भरत जी ने पहले नाट्यमें भारती (जिसमें केवल पुरुषोंका प्रायः संस्कृत भाषामें ही सम्वाद हो), सात्वती (जिसमें सात्त्विक भावोंके प्रदर्शनका विधान हो) और आरभटी (जिसमें मारकाट, युद्ध आदिका विधान हो) वृत्तियोंका ही प्रयोग किया था। इसपर सुरगुरुने कहा कि इसमें कैशिकी वृत्ति भी जोड़ दीजिए तो आनन्द आ जाय। इसपर भरतजीने कहा कि कोमल अङ्गहारोंके विधानवाली, रस और भाव उत्पन्न करनेवाली, क्रियाओं वाली, सुन्दर, नेपथ्यालङ्कार और सजावटकी व्यवस्थावाली और शृंगार रसको उत्पन्न करनेवाली कैशिकी वृत्तिका प्रयोग केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, यह पुरुषोंके बसका काम है ही नहीं। इसपर ब्रह्माजीने अप्सराओंकी मानससृष्टि की और कैशिकी वृत्ति भी नाट्यमें जोड़ दी गई। यहाँ स्पष्ट रूपसे इस बातका उल्लेख कर दिया गया है कि चारों वृत्तियाँ एक साथ नहीं आईं। अतः यदि इसी क्रमसे [illegible] आगे पीछे जोड़े गए होते या किसी एक क्रमसे उनका विकास हुआ होता तो ऋषि लोग उसका उल्लेख करनेसे चूकते नहीं।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक [illegible] प्रयोग करनेवालोंकी अलग [illegible] विभिन्न [illegible] मानता भी परिचय प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेदका सूक्त कहनेवालेको होता (हवन करनेवाला), यजुर्वेदके अनुसार यज्ञ-क्रिया करनेवालेको अध्वर्यु (यज्ञकी क्रिया करनेवाला), सामवेदके अनुकूल यज्ञ-क्रियाओं में भाग लेनेवालेको उद्गाता (गानेवाला) और अथर्ववेदके अनुसार यज्ञक्रिया चलानेवाले ब्रह्मा (सब यज्ञकी क्रियाके सञ्चालनका आदेश देनेवाला) कहा गया है किन्तु नाट्यवेदका प्रयोग करनेवालेको प्रयोक्ता अर्थात् नाटक कराकर दिखानेवाला बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्यका प्रयोजन ही यह है कि वह प्रयोग करके या खेलकर दिखलाया जाय। यह लक्षण अन्य किसी वेदके लिये नहीं बताया गया। इसलिये उनमें नाट्यका बीज या नाट्यका स्वरूप खोजना अत्यन्त असंगत और अनपेक्षित है।

नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त

नृत्तनाट्यपूर्वरूप मित्यपरे ॥ १५ ॥

[नाचही है नाट्यका पहला स्वरूप]

श्री मुग्धानल (मैकडोनेल) का मत है कि अभिनेता और रूपकके लिये प्रयुक्त होनेवाले नट और नाटक शब्द नट धातुसे निकले हैं जो संस्कृतकी नृत् (नाचना) का प्राकृति या देशी रूप है और जिसका वर्त्तमान रूप 'नाच' अंग्रेजोंके कानोंको भी भली भाँति परिचित है। यही नाच संभवतः भारतीय नाटकके प्रारम्भका द्योतक है जिसमें पहले पहल मोटे रूपसे नाच या शरीर-सञ्चालनके साथ साथ हाथ तथा मुखके भावों और चेष्टाओं द्वारा मूक अनुकरण होता रहा होगा और फिर शीघ्र ही गीत भी जुड़ गए होंगे। इसी प्रकार नाटकके पौराणिक आविष्कर्ताका नाम भी 'भरत' पड़ गया होगा जिसका अर्थ संस्कृतमें नट ही है और कई देशी भाषाओंमें जिसका अर्थ गानेवाला है जैसे गुजरातीमें उसे 'भरोत' कहते भी हैं। यूनानमें जैसे संवाद बहुत पीछे जोड़ा गया था वैसे ही भारतमें भी संवाद बहुत पीछे जोड़ा गया होगा। इस प्राचीन नाट्यका रूप बंगालकी यात्राओं और गीतगोविन्दमें मिलता है जो पुराने नाटकों और गीत-सम्वादसे भरे संस्कृत नाटकोंके बीचकी कड़ी बनी हुई है।

दशरूपककी अवलोक नामकी टीकाके रचयिता श्रीधनिक ने भावाश्रय नृत्यकी टीका करते हुए लिखा है—

नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाङ्गिकबाहुल्यात्तत्कारिषु च नर्तक-व्यपदेशाल्लोकेऽपि चात्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारान्नाटकादेरन्यन्नृत्यम्। * * * नाट्यमिति च नट अवस्पन्दने इति नटेः किंचिच्चलनार्थत्वात्सात्त्विकबाहुल्यम्। अतएव तत्कारिषु नट व्यपदेशः।

[नृत् धातुका अर्थ गात्रविक्षेप अर्थात् शरीर चलाना है, अर्थात् इसमें अङ्ग-सञ्चालनकी ही अधिकता होती है इसलिये बहुत हाथपैर मटकाकर नृत्य करनेवालेको लोग नर्त्तक (नचनिया) कहते हैं और उसके प्रदर्शनको प्रेक्षणीयक कहते हैं। इस दृष्टिसे नृत्य नाटकसे भिन्न वस्तु है। * * * नट् धातुका अर्थ है ऐसी सूक्ष्म क्रियाएँ करना जिनमें सात्त्विक भावोंकी बहुतायत होती। इसीलिये सात्त्विक भावोंका प्रदर्शन करनेवालोंको नट कहा जाता है।

दूसरी बात जो उन्होंने कही कि गायकको भारतकी देशी भाषाओंमें भरत कहते हैं यह भी असत्य है। गुजरातीमें गायकको भले ही 'भरोत' कहते हों किन्तु और किसी देशी भाषामें गायकको भरत नहीं कहते।

संस्कृतमें नट्, नृत् और णट् तीन धातुएँ हैं जिनसे क्रमशः नाट्य, नृत्य और नृत्त शब्द बनते हैं और इन तीनों शब्दोंका अर्थ भी पृथक् पृथक् कहा गया है। 'वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं नाट्यम्'—पूरे वाक्यके अर्थको अभिनय-द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करनेको नाट्य कहते हैं। और 'पदार्थाभिनयं भावाश्रयं नृत्यम्'—केवल एक शब्दके अर्थका अभिनय करके उसका भाव प्रदर्शित करनेको नृत्य कहते हैं। 'नृत्तं ताललयाश्रयम्'—ताल और लयके साथ हाथपैर चलानेको नृत्त कहते हैं। इनका विशेष विवेचन प्रसंगानुसार आगे किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि नाट्य, नृत्य और नृत्तको एक दूसरेका पर्याय नहीं समझना चाहिए।

अतः मुग्धानलजीका यह मत अत्यन्त भ्रामक है कि नाचसे नाट्यकी उत्पत्ति हुई।

पुतली-नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका सिद्धान्त

§ पुत्तलिकानृत्यमेव नाट्योत्पत्तिकारणमिति केचित्।१६

[कोई पुतली-नाच बताते नाट्यसृष्टिका कारण।]

आर्नाल्ड पिशेल्‌ने कहा है—

"हिन्दू नाटकोंकी उत्पत्ति कठपुतलियोंके नाचसे हुई है। किन्तु यह पहले ही बता देना उचित होगा कि यूनानमें पुत्तलिका-नृत्यका सर्वप्राचीन निर्देश जो हमें मिल सका है वह ईसासे केवल चौथी शताब्दी पूर्वका है और इस बातका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि थैस्पिस, फ्रूनिखस और ऐस्कुलसके त्रासद अथवा क्रातिनस तथा अरिस्तोफ़नेस्‌के प्रहसनकी उत्पत्तिके मूलमें पुत्तलिका-नृत्यका तनिक भी अंश था क्योंकि उस युगमें यंत्र-चालित गुड़ियोंका भी विवरण नहीं मिलता यद्यपि मिस्र देशमें ऐसी गुड़ियोंकी चलन निश्चयपूर्वक बहुत पहलेसे हो गई थी। हेरदतस्‌ने ओसिरिस (मिस्रके देवता) की पूजाके विधानका उल्लेख करते हुए कहा है कि वह यूनानकी दिअनुसस्‌की पूजाके समान ही होती थी, अन्तर केवल इतना ही था कि जहाँ यूनानमें लोग उस उत्सवपर पुरुषक लिंग लेकर उत्सव-यात्रामें चलते थे वहाँ मिस्रमें मिस्री स्त्रियाँ ओसिरिसकी अश्लील मूर्तियाँ लेकर खेतोंकी उपज बढ़ानेकी कामना सफल करनेके लिये खेतोंके चारों ओर घूमती थीं। ये मूर्तियाँ डोरे बाँधकर चलाई जाती थीं। हेरदतसके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे साधन यूनानमें अज्ञात थे और यदि ज्ञात हों भी तो वे पुत्तलिका-नृत्यसे अत्यन्त भिन्न होंगे। अतः उपर्युक्त प्रसिद्ध नाटककारोंसे पहले या उनके समयमें पुत्तलिका-नृत्योंके अस्तित्वका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिये यह कहना अधिक तर्कसम्मत जान पड़ता है कि पुत्तलिका-नृत्य यूनानके ह्रासकालमें प्रचलित हुआ और वह भी पहले तो सम्भवतः देहातियोंके लिये अथेन्स तथा अन्य यूनानी नगरोंमें होनेवाले प्रसिद्ध नाटकोंके सस्ते प्रदर्शनके रूपमें आया और पीछेसे अथेन्सके नगरवासियोंका मन बहलानेके लिये भी प्रयुक्त होने लगा। नाटकोंके स्वर्णयुगके पश्चात् कुछ समय तक पुत्तलिका-नृत्योंको केवल देहाती ही नहीं वरन् नागरिक भी अपनाने लगे थे क्योंकि अथेनएअसने लिखा है कि अथेन्सवासियोंने प्रसिद्ध पुत्तलिका नचानेवाले पोथीनसको "वह रङ्गमञ्च दे दिया जिसपर किसी समय इउरीपाइदेस्‌के अभिनेता अपने समाजिकोंको रसमग्न किया करते थे"। इसके अतिरिक्त संस्कृतमें भी पुत्तलिकाके लिये पुत्रिका, दुहित्रिका, पुत्तली और पुत्तलिकाका प्रयोग किया है जिनका अर्थ है नन्हीं बेटी और कहीं कहीं पंचालिका शब्दका भी प्रयोग हुआ है। इनमेंसे पुत्तलि और पुत्तलिका शब्द

प्राकृत या लोकभाषामें पहुँचे होंगे और ये शब्द लोकभाषामें अबतक प्रचलित हैं। पुत्तलिकाको नन्हीं बेटी या छोटी कन्या कहनेकी चलन केवल भारतमें ही नहीं है वरन् यूनानी भाषामें भी है और उसके लिये लातिनमें प्यूपा और प्युपुलाका प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है छोटी कन्या।

"प्राचीन भारतमें ये पुत्तलिकाएँ ऊन (ऊर्ण-पंचालिका), लकड़ी, भैंसके सींग और हाथीदाँत (दन्तपंचालिका) की बनी होती थी और वे भारतकी कन्याओंको उतनी ही प्यारी थीं जितनी हमारे देश (जर्मनी) की कन्याओंको हैं।

"महाभारतमें राजकुमारी उत्तरा और उसकी सखियोंने अर्जुनसे प्रार्थना की थी कि कौरवोंपर आक्रमण करके जब लौटो तो हमारी गुड़ियोंके लिये महीन अच्छे रङ्गवाले चिकने और कोमल परिधान लेते आना।

"ये पुतलियाँ कभी-कभी देवी-देवताओंकी प्रतिद्वन्द्विनी भी बन जाती थीं" एक कथा है कि पार्वतीजीने अपने हाथसे एक गुड़िया बनाई। वह इतनी सुन्दर बनी कि उन्होंने उस गुड़ियाको शिवजीसे इसलिये छिपाना ठीक समझा कि कहीं वे उसे देखकर उसपर मुग्ध न हो जायँ। इसलिये वे उसे मलय पर्वतपर जाकर रख आई और नित्य उसका शृङ्गार करनेके लिये वहाँ जाया करतीं। पार्वतीजीको इस प्रकार नित्य देरतक अनुपस्थित होते देखकर शिवजीके मनमें यह जाननेका कुतूहल हुआ कि पार्वतीजी जाती कहाँ हैं। एक दिन उन्होंने पार्वतीजीका पीछा किया और वहाँ उस गुड़ियाको देखते ही मुग्ध होकर उसमें प्राण डाल दिए।

"यन्त्रचालित पुतलियोंका और भी एक पुराना विवरण मिलता है। प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित सोमदेवके कथा सरित्सागरमें वर्णन है कि प्रसिद्ध शिल्पी मयदानवकी कन्या सोमप्रभाने अपनी सखी राजकुमारी कलिंगसेनाके लिये अपने पिताके हाथकी बनी हुई यन्त्रचालित पुतलियोंसे भरी एक पेटी भेंटमें लाकर दी थी। इन सब पुतलियोंमें एक-एक [illegible] लगी हुई थी। उनमेंसे एककी खूँटी छूते ही वह हवामें उड़कर एक माला लेकर लौट आती थी, दूसरी पानी लाकर देती थी, तीसरी नाचने लगती थी, चौथी [illegible] करने लगती थी। कलिंगसेना इनसे इतनी [illegible] दिन रात [illegible] रहती थी। [illegible] [illegible] बृहत्कथा (वड्डकहा) का संस्कृत रूपान्तर है जो भारतीय लोककथाओंका सबसे प्राचीन संग्रह है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन पैशाचिक प्राकृतमें लिखा गया था और दुर्भाग्यवश अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इन बोलनेवाली गुड़ियोंको केवल कथकड़ोंके मस्तिष्ककी उपज मात्र नहीं समझनी चाहिए।

"पुतलीका नाच सर्वसाधारणको बहुत रुचता है क्योंकि" उसकी उत्पत्ति भी तो उन्हीं लोगोंके (बढ़इयों या शिल्पियोंके) हाथोंसे हुई है और इन पुतलियोंके नाचोंमें प्रायः प्राचीन कथाएँ ही दिखाई जाती हैं। डाक्टर फ़ाउस्टका पुत्तलिका नाटक इसका प्रमाण है।

"कामसूत्रमें भी जहाँ सामाजिक विनोदका उल्लेख है वहाँ" पांचालानुयानम् अर्थात् पुत्तलिकाओंके अनुकरणका भी एक खेल दिया गया है जो व्याकरणके अनुसार इस प्रकार खेला जाता था कि लोग पुत्तलिकाकी ध्वनि और क्रियाओंका अनुकरण करते थे। पूर्वीय भारतमें विदेहकी राजधानी मिथिलामें इसका सबसे अधिक प्रचार है।

"बोलनेवाली पुत्तलिकाएँ भी रङ्गमंचपर लाई जाती थीं" किन्तु नियम यह था कि वे स्वयं यंत्रसे नहीं चलती थीं वरन् उसे पुतली नचानेवाला डोरे (सूत्र) के सहारे चलाता था। बालरामायणके पंचम अंकमें दसवीं शताब्दीके राजशेखरने मय असुरके सर्वश्रेष्ठ शिष्य विशारद नामक शिल्पीके हाथसे बनाई हुई दो इकट्ठी पुतलियाँ उपस्थित की हैं। उनमेंसे एक सीता हैं जिन्हें रावण हर ले गया था और दूसरी हैं सीताकी पालिता बहिन सिन्धुरिका। सीता बनी हुई पुतलीके मुँहमें एक ऐसी चिड़िया बैठा दी गई थी जो गद्य और पद्यमें धाराप्रवाह संस्कृत बोलती थी और स्वयं पुतली नचानेवाला जो राक्षस बना था, अन्य पुतलियोंकी ओरसे संस्कृत और प्राकृत बोलता था। राजशेखरके नाटकमें चिड़िया अपने पाठका निर्वाह बड़ी सुन्दरतासे करती है। वे दोनों चिड़ियाँ वास्तविक सीता और सिन्धुरिकाका इतना अच्छा नाट्य करती थीं कि रावणने पुतलियोंको सच्ची सीता और सिन्धुरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल तभी प्रतीत हुई जब उसने उस सीता बनी हुई पुतलीको गलेसे लगाया और कहा 'इसका स्पर्श स्त्रीके समान नहीं है'। इसके पश्चात् उसने अपने मनबहलावके लिये सब पुतलियाँ अपने राजदरबारमें मँगवा लीं। यद्यपि यह घटना असम्भव सी है किन्तु हमें राजशेखरका कृतज्ञ होना चाहिए

क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यमें राजशेखरका बालरामायण एक मात्र ऐसा प्रमाण है जहाँ संस्कृत नाटकमें पुतलियाँ रंगमंचपर आती हैं और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उससे हमें दसवीं शताब्दीमें पुतली नचानेवालेकी सत्ताका भी परिचय मिलता है। वह सूत्रधार अर्थात् डोरा पकड़ने वाला कहा गया है और यह महाभारतमें वर्णित सूत्रप्रोत (डोरेमें बंधी हुई) पुतलियोंसे भी मेल खाता है और आजकल भी भारतमें पुतली नचानेवालोंको सूत्रधार कहते हैं।

"यह सूत्रधार शब्द ही इस बातका प्रमाण है कि पुत्तलिका नृत्यसे ही नाटक प्रारम्भ हुआ था। संस्कृत और प्राकृतके अत्यन्त कलापूर्ण नाटकोंमें नाटकके प्रारम्भमें नाट्य-प्रयोक्ता आकर नान्दी कहता है और नाटककी प्रस्तावना करता है। यह नाट्य-प्रयोक्ता पुत्तलिका नृत्यके संचालकके समान सूत्रधार सूत्र पकड़नेवाला कहलाता है। सन् १८७९ में उच्च योरोपीय शिक्षा प्राप्त विद्वान् श्रीशंकर पांडुरंग पण्डित ने जो अत्यन्त युक्ति युक्त परिणाम निकाला था कि मनुष्योंसे पहले इन पुतलियों और कागजकी मूर्तियोंके ही नाटकीय प्रदर्शन हुआ करते थे यह अत्यन्त मान्य है। नहीं तो यह कल्पना ही असम्भव है कि जब नाट्य-प्रयोक्ता को सूत या डोरेका काम ही नहीं पड़ता तो प्रयोग ही कैसे हुआ। भारतीय नाटककारोंसे हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समयमें सूत्रधार नाटकके प्रारम्भमें आया करता था और एक छोटी सी प्रस्तावनाकी आयोजना किया करता था जिसमें नृत्य, गीत और वाद्य, या गीत और वाद्य अथवा इन दोनोंमें से किसी एक का प्रयोग होता था। प्रारंभमें यह प्रस्तावना बहुत बड़ी हुआ करती थी किन्तु धीरे-धीरे यह छोटी होते-होते लुप्त हो गई। इस प्रस्तावना-के पश्चात् सूत्रधार चला जाता था और प्राचीन समयमें रंगमंचपर सूत्रधारसे मिलता-जुलता तथा नाटकीय विषयके अनुरूप वेशभूषा धारण किए हुए एक व्यक्ति आता था जो कविका नाम और नाटकीय विषयका परिचय दिया करता था। पर पीछे यह प्रथा भी उठ गई, यहाँतक कि आजकल जो नाटक मिलते हैं उनमें इनका कहीं पता भी नहीं मिलता। उसके बदले सब काम सूत्रधार ही कर लेता है जैसा रीतिग्रंथकारोंने भली प्रकार निर्धारित भी कर दिया है। उपर्युक्त दूसरा नाट्यप्रयोक्ता स्थापक स्थापित करनेवाला कहलाता था किन्तु अभी तक इस शब्द की ठीक-ठीक व्याख्या हो नहीं पाई है। इसके अतिरिक्त यह स्थापक शब्द देव-विग्रहोंकी प्रतिष्ठा करनेवाले पुरोहित के लिये भी प्रयुक्त होता था और रंगमंचपर भी प्रारम्भ-में पुतलियोंको लाकर खड़े करनेवालोंको स्थापक ही कहते थे। अतः नाटकोंका प्रारम्भ इन्हीं पुतलियोंके नाच-से हुआ है।"

भ्रमात्मकं हि तन्मतमित्याचार्याः ॥ १७ ॥

[यह भी मत भ्रमपूर्ण बताया।]

अपने 'ड्रामाज़ ऐण्ड ड्रैमेटिक डान्सेज़ ऑफ़ दि नोन यूरोपियन रेसेज़' नामक पोथीमें पुतलीके नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका खण्डन करते हुए श्री रिजवे महोदय लिखते हैं—

"पिशेलके मतानुसार भी यूनानमें पुत्तलिका नृत्य, नाटकोंके पश्चात् ही आरम्भ हुए और उनका प्रचार ईसा-से चार सौ वर्ष पूर्व यूनानके ह्रासके समय हुआ। अतः कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण इस बातका साक्षी नहीं है कि पुत्तलिका नृत्य अथवा यंत्र-संचालित गुड़ियाँ यूनानी नाटकोंके पहलेकी थीं। अतः यह निर्विवाद है कि उनकी चलन बहुत पीछे ही हुई।

"राजशेखरके बालरामायणमें जो पुत्तलिकाका उल्लेख है उसे ऐसा पुत्तलिका-नाटक नहीं कहा जा सकता जिसमें पूरा अभिनय पुतली नचानेवालेके द्वारा ही कराया जाय और जो दृश्यके पीछेसे अपनी पुतलियोंके अनुसार बोलनेके अतिरिक्त स्वयं नाटकके अभिनयमें कोई प्रमुख भाग लेता हो। बालरामायणके दृश्यमें सीता और उनकी पालिता बहिन सिन्धुरिका तो पुतलीके रूपमें थीं किन्तु पुतली नचानेवाला स्वयं रावण बना था। अतः यद्यपि पुतलियाँ रंगमंच पर आती हैं किन्तु वे तो राक्षस-राजको धोखा देनेके लिये लाई जाती हैं, पूर्ण पुत्तलिका-नाटकके आवश्यक साधनका अंश बनकर नहीं। दूसरे शब्दोंमें सीता और सिन्धुरिका बननेवाली पुत्तलिकाओंको चतुर मिस्त्रीके हाथके खिलौने मात्र समझने चाहिएं। स्वयं पिशेलने भी कथाकोपमें आए हुए पुत्तलिका-नाटककी यह बात मानी है। पुत्तलिका नाटक राजा सुन्दरके आगे उस पुत्रके अमरचन्दके विवाहके उपलक्ष्यमें खेला

प्राकृत या लोकभाषामें पहुँचे होंगे और ये शब्द लोकभाषामें अबतक प्रचलित हैं। पुत्तलिकाको नन्हीं बेटी या छोटी कन्या कहनेकी चलन केवल भारतमें ही नहीं है वरन् यूनानी भाषामें भी है और उसके लिये लातिनमें प्यूपा और प्युपुला का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ होता है छोटी कन्या।

"प्राचीन भारतमें ये पुत्तलिकाएँ ऊन (ऊर्ण-पंचालिका), लकड़ी, भैंसके सींग और हाथीदाँत (दन्तपंचालिका) की बनी होती थीं और वे भारतकी कन्याओंको उतनी ही प्यारी थीं जितनी हमारे देश (जर्मनी) की कन्याओंको हैं।

"महाभारतमें राजकुमारी उत्तरा और उसकी सखियोंने अर्जुनसे प्रार्थना की थी कि कौरवोंपर आक्रमण करके जब लौटो तो हमारी गुड़ियोंके लिये महीन अच्छे रङ्गवाले चिकने और कोमल परिधान लेते आना।

"ये पुतलियाँ कभी कभी देवी-देवताओंकी प्रतिद्वन्द्विनी भी बन जाती थीं" एक कथा है कि पार्वतीजीने अपने हाथसे एक गुड़िया बनाई। वह इतनी सुन्दर बनी कि उन्होंने उस गुड़ियाको शिवजीसे इसलिये छिपाना ठीक समझा कि कहीं वे उसे देखकर उसपर मुग्ध न हो जायँ। इसलिये वे उसे मलय पर्वतपर जाकर रख आईं और नित्य उसका शृङ्गार करनेके लिये वहाँ जाया करतीं। पार्वतीजीको इस प्रकार नित्य देरतक अनुपस्थित होते देखकर शिवजीके मनमें यह जाननेका कुतूहल हुआ कि पार्वतीजी जाती कहाँ हैं। एक दिन उन्होंने पार्वतीजीका पीछा किया और वहाँ उस गुड़ियाको देखते ही मुग्ध होकर उसमें प्राण डाल दिए।

"इन प्राचीन पुतलियोंका और भी एक पुराना विवरण मिलता है। प्रसिद्ध काश्मीरी पण्डित सोमदेवके कथा सरित्सागरमें वर्णन है कि प्रसिद्ध शिल्पी मयदानवकी कन्या सोमप्रभाने अपनी सखी राजकुमारी कलिंगसेनाके लिये अपने [illegible] बनी हुई लकड़ीकी पुतलियोंसे भरी एक [illegible] भेंट की थी। इन सब पुतलियोंमें एक-एक [illegible] लगी हुई थी। उनमेंसे एककी खूँटी छूते [illegible] लौट आती थी, [illegible] थी, तीसरी नाचने लगती थी, चौथी [illegible] करने लगती थी। कलिंगसेना इनसे इतनी [illegible] बृहत्कथा (बड्डकहा) का संस्कृत रूपान्तर है जो भारतीय लोक-कथाओंका सबसे प्राचीन संग्रह है। यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन पैशाचिक प्राकृतमें लिखा गया था और दुर्भाग्यवश अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है। इन बोलनेवाली गुड़ियोंको केवल कथकड़ोंके मस्तिष्ककी उपज मात्र नहीं समझनी चाहिए।

"पुतलीका नाच सर्वसाधारणको बहुत रुचता है क्योंकि" उसकी उत्पत्ति भी तो उन्हीं लोगोंके (बढ़इयों या शिल्पियोंके) हाथोंसे हुई है और इन पुतलियोंके नाचोंमें प्रायः प्राचीन कथाएँ ही दिखाई जाती हैं। डाक्टर फ़ाउस्टका पुत्तलिका नाटक इसका प्रमाण है।

"कामसूत्रमें भी जहाँ सामाजिक विनोदका उल्लेख है वहाँ" पांचालयानम् अर्थात् पुत्तलिकाओंके अनुकरणका भी एक खेल दिया गया है जो व्याकरणके अनुसार इस प्रकार खेला जाता था कि लोग पुत्तलिकाकी ध्वनि और क्रियाओंका अनुकरण करते थे। पूर्वीय भारतमें विदेहकी राजधानी मिथिलामें इसका सबसे अधिक प्रचार है।

"बोलनेवाली पुत्तलिकाएँ भी रङ्गमंचपर लाई जाती थीं" किन्तु नियम यह था कि वे स्वयं यन्त्रसे नहीं चलती थीं वरन् उसे पुतली नचानेवाला डोरे (सूत्र) के सहारे चलाता था। बालरामायणके पंचम अंकमें दसवीं शताब्दीके राजशेखरने मय असुरके सर्वश्रेष्ठ शिष्य विशारद नामक शिल्पीके हाथसे बनाई हुई दो लकड़ी पुतलियाँ उपस्थित की हैं। उनमेंसे एक सीता है जिन्हें रावण हर ले गया था और दूसरी है सीताकी पालिता बहिन सिन्धुरिका। सीता बनी हुई पुतलीके मुँहमें एक ऐसी चिड़िया बैठा दी गई थी जो गद्य और पद्यमें धाराप्रवाह संस्कृत बोलती थी और स्वयं पुतली नचानेवाला जो राक्षस बना था, अन्य पुतलियोंकी ओरसे संस्कृत और प्राकृत बोलता था। राजशेखरके नाटकमें चिड़िया अपने पाठका निर्वाह बड़ी सुन्दरतासे करती है। ये दोनों चिड़ियाँ वास्तविक सीता और सिन्धुरिकाका इतना अच्छा नाट्य करती थीं कि रावणने पुतलियोंको सच्ची सीता और सिन्धुरिका समझ लिया था। उसे अपनी भूल तभी प्रतीत हुई जब उसने उस सीता बनी हुई पुतलीको गलेसे लगाया और कहा 'इसका स्पर्श स्त्रीके समान नहीं है'। इसके पश्चात् उसने अपने मनबहलावके लिये सब पुतलियाँ अपने राजभवनमें मँगवा लीं। यद्यपि यह घटना असम्भव सी है किन्तु हमें राजशेखरका कृतज्ञ होना चाहिए

क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय साहित्यमें राजशेखरका बालरामायण एक मात्र ऐसा प्रमाण है जहाँ संस्कृत नाटकमें पुतलियाँ रंगमंचपर आती हैं और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उससे हमें दसवीं शताब्दीमें पुतली नचानेवालेकी सत्ताका भी परिचय मिलता है। वह सूत्रधार अर्थात् डोरा पकड़नेवाला कहा गया है और यह महाभारतमें वर्णित सूत्रप्रोत (डोरेमें बँधी हुई) पुतलियोंसे भी मेल खाता है और आजकल भी भारतमें पुतली नचानेवालोंको सूत्रधार कहते हैं।

"यह सूत्रधार शब्द ही इस बातका प्रमाण है कि पुत्तलिका नृत्यसे ही नाटक प्रारम्भ हुआ था। संस्कृत और प्राकृतके अत्यन्त कलापूर्ण नाटकोंमें नाटकके प्रारम्भमें नाट्य-प्रयोक्ता आकर नान्दी कहता है और नाटककी प्रस्तावना करता है। यह नाट्य प्रयोक्ता पुत्तलिका नृत्यके संचालकके समान सूत्रधार सूत्र पकड़नेवाला कहलाता है। सन् १८७९ में उच्च योरोपीय शिक्षा प्राप्त विद्वान् श्रीशंकर पांडुरंग पण्डित ने जो अत्यन्त युक्ति युक्त परिणाम निकाला था कि मनुष्योंसे पहले इन पुतलियों और कागजकी मूर्तियोंके ही नाटकीय प्रदर्शन हुआ करते थे यह अत्यन्त मान्य है। नहीं तो यह कल्पना ही असम्भव है कि जब नाट्य-प्रयोक्ताको सूत या डोरेका काम ही नहीं पड़ता तो प्रयोग ही कैसे हुआ। भारतीय नाटककारोंसे हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन समयमें सूत्रधार नाटकके प्रारम्भमें आया करता था और एक छोटी सी प्रस्तावनाकी आयोजना किया करता था जिसमें नृत्य, गीत और वाद्य, या गीत और वाद्य अथवा इन दोनोंमें से किसी एक का प्रयोग होता था। प्रारंभमें यह प्रस्तावना बहुत बड़ी हुआ करती थी किन्तु धीरे-धीरे यह छोटी होते-होते लुप्त हो गई। इस प्रस्तावनाके पश्चात् सूत्रधार चला जाता था और प्राचीन समयमें रंगमंचपर सूत्रधारसे मिलता-जुलता तथा नाटकीय विषयके अनुरूप वेशभूषा धारण किए हुए एक व्यक्ति आता था जो कविका नाम और नाटकीय विषयका परिचय दिया करता था। पर पीछे यह प्रथा भी उठ गई, यहाँतक कि आजकल जो नाटक मिलते हैं उनमें इनका कहीं पता भी नहीं मिलता। उसके बदले सब काम सूत्रधार ही कर लेता है जैसा रीतिग्रंथकारोंने भली प्रकार निर्धारित भी कर दिया है। उपर्युक्त दूसरा नाट्यप्रयोक्ता स्थापक कहलाता था किन्तु अभी तक इस शब्दकी ठीक-ठीक व्याख्या हो नहीं पाई है। इसके अतिरिक्त यह स्थापक शब्द देव-विग्रहोंकी प्रतिष्ठा करनेवाले पुरोहितके लिये भी प्रयुक्त होता था और रंगमंचपर भी प्रारम्भमें पुतलियोंको लाकर खड़े करनेवालोंको स्थापक ही कहते थे। अतः नाटकोंका प्रारम्भ इन्हीं पुतलियोंके नाचसे हुआ है।"

भ्रमात्मकं हि तन्मतमित्याचार्याः ॥ १७ ॥

[यह भी मत भ्रमपूर्ण बताया।]

अपने 'ड्रामाज़ ऐण्ड ड्रैमेटिक डान्सेज़ ऑफ़ दि नोन यूरोपियन रेसेज़' नामक पोथीमें पुतलीके नाचसे नाट्यकी उत्पत्तिका खण्डन करते हुए श्री रिजवे महोदय लिखते हैं—

"पिशेलके मतानुसार भी यूनानमें पुत्तलिका नृत्य, नाटकोंके पश्चात् ही आरम्भ हुए और उनका प्रचार ईसासे चार सौ वर्ष पूर्व यूनानके ह्रासके समय हुआ। अतः कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण इस बातका साक्षी नहीं है कि पुत्तलिका नृत्य अथवा यंत्र-सञ्चालित गुड़ियाँ यूनानी नाटकोंके पहलेकी थीं। अतः यह निर्विवाद है कि उनकी चलन बहुत पीछे ही हुई।

"राजशेखरके बालरामायणमें जो पुत्तलिकाका उल्लेख है उसे ऐसा पुत्तलिका-नाटक नहीं कहा जा सकता जिसमें पूरा अभिनय पुतली नचानेवालेके द्वारा ही कराया जाय और जो दृश्यके पीछेसे अपनी पुतलियोंके अनुसार बोलनेके अतिरिक्त स्वयं नाटकके अभिनयमें कोई प्रमुख भाग लेता हो। बालरामायणके दृश्यमें सीता और उनकी पालिता बहिन सिन्धुरिका तो पुतलीके रूपमें थीं किन्तु पुतली नचानेवाला स्वयं रावण बना था। अतः यद्यपि पुतलियाँ रंगमंच पर आती हैं किन्तु वे तो राक्षसराजको धोखा देनेके लिये लाई जाती हैं, पूर्ण पुत्तलिका-नाटकके आवश्यक साधनका अंश बनकर नहीं। दूसरे शब्दोंमें सीता और सिन्धुरिका बननेवाली पुत्तलिकाओंको चतुर मिस्त्रीके हाथके खिलौने मात्र समझने चाहिएं। स्वयं पिशेलने भी कथाकोषमें आए हुए पुत्तलिका-नाटककी यह बात मानी है। पुत्तलिका नाटक राजा सुन्दरके आगे उस पुत्रके अमरचन्दके विवाहके उपलक्ष्यमें खेला

गया था। उसमें पुत्रिका शब्दका प्रयोग पुतलीके लिये और एक पीछेके उल्लेखमें 'दारु' शब्द चार पुतलियोंके लिये आया है जहाँ ये पुतलियाँ कथासरित्सागरकी पुतलियोंके समान (कीलिकाः) कीलसे चलाई जाती थीं। इनके सजानेवाले सेवक वेशकार कहलाते थे। पुतली-नाटकका स्वामी 'नर्तक' कहलाता था और यह नर्तक शब्द वाक्यमें प्रयुक्त हुए अन्य शब्दोंकी भाँति पुत्तलिका नाटकसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। डा० पिशेलने ठीक ही कहा है कि इस उद्धरणका पुतलियोंके अभिनयसे सम्बन्ध नहीं है वरन् यह तो पुतलियोंके नृत्यमात्रका प्रदर्शन है अथवा यों कह सकते हैं कि यह यन्त्र चालित खिलौनोंकी प्रदर्शिनी मात्र है।

"नाटकके सूत्रधार शब्दका सम्बन्ध पुतली नचानेवालेसे जोड़कर श्री शङ्कर पाण्डुरङ्ग पंडितने जो अनोखा मत प्रतिपादित किया है और जिसे पिशेल महोदयने स्वीकार कर लिया है वह भी अत्यन्त अप्रमाणिक है। पहली बात तो यह है कि पुत्तलिका नचानेवालेके लिये सूत्रधार शब्दका प्रयोग किसकी नवीं शताब्दीके नाटककारने किया है और यह काल संस्कृत नाटकोंके स्वर्णयुगके बहुत पीछेका है। यह कोई कारण नहीं है कि पुत्तलिका-नाटकसे पहले नाट्यप्रयोक्ताके लिये सूत्रधार शब्दके प्रयोगकी सम्भावना न हो क्योंकि इस समयसे बहुत पहले यन्त्र-चालित पुतलियोंका प्रयोग हो चुका था और जैसे उन यन्त्र चालित पुतलियोंको कोई व्यक्ति डोरे खींचकर या [illegible] संचालित कर सकता था उसी प्रकार [illegible] अभिनेताओंको संचालित करनेवालेका नाम भी सूत्रधार पड़ सकता है। [illegible] रूपमें वर्णित पुत्तलिका-नाटकमें संस्कृत शब्द नर्तक (नाचनेवाला) पुत्तलिका-नाटकके संचालकके लिये आया है। इससे स्पष्ट है कि पुतली नचानेवालेके लिये पुराना शब्द [illegible] था और नाट्यप्रयोक्ताके लिये सूत्रधार शब्द-का प्रयोग [illegible] हुआ।

[illegible] नाटकीय रूपमें पूर्वरंग प्रस्तावना [illegible] भारतीय नाटकोंके [illegible] नाटकोंसे निकला हुआ बतलाता है कि [illegible] और नाटककी प्रस्तावना [illegible] और यह स्थापक शब्द केवल उन पुरोहितोंके लिये प्रयुक्त होता है जो देव-विग्रहोंकी स्थापना करते हैं। यदि हम यह भी मान लें तब भी यह निर्विवाद है कि पुरोहितोंके हाथसे देवताओं या वीरोंकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करनेका व्यवहार पुत्तलिका नाटक या पुतलियोंके खेलसे बहुत पहलेकी बात है और स्थापक शब्दसे यही तर्क पुष्ट हो सकता है कि गम्भीर नाटक देवताओं और वीरोंकी मूर्तियोंकी पूजासे ही उत्पन्न हुए थे। यह सम्भव है कि सूत्रधार शब्द पूर्वरंग प्रस्तावना (कर्टेन रेज़र) के व्यवस्थापकके लिये प्रयुक्त होता हो। क्योंकि आजकल भी चीनमें नाटक होनेसे पहले पुतलीका खेल दिखलानेकी चलन है। किन्तु ब्रह्मा और चीनके नाटकोंका उद्भव भी इन पुत्तलिका-नाटकोंसे नहीं हुआ वरन् पुत्तलिका नाटक और छाया-नाटक शुद्ध या वास्तविक नाटकके सस्ते प्रदर्शन मात्र हैं।"

नेदमित्यभिनवभरतोऽपि ॥ १८ ॥

[हम भी यह मत नहीं मानते।]

पुतलियोंसे नाटकके उत्पन्न होनेकी बात स्वतः अस्वाभाविक है। मनुष्यने पहले अपनी वाणी, अपनी कथा, अपनी आङ्गिक चेष्टाएँ और अपना व्यवहार स्थिर किया होगा क्योंकि पुतलीके नृत्यके लिये भी तो संविधानक या कथावस्तु आवश्यक होती है और कथावस्तुकी रचना-के साथ यह भी निर्णय करना होता है कि पुतलियाँ क्या क्या कहेंगी और क्या क्या करेंगी। यह कहने और करने-का सम्पूर्ण रूपक पहले किसी मनुष्यके मस्तिष्कमें आता है और यह तभी सम्भव है जब उसे लोकमें उस प्रकारका प्रत्यक्ष संस्कार मिलता हो। अतः पुतलियोंके नाच को नाटक का पूर्ववर्ती माना ही नहीं जा सकता।

दूसरी बात यह है कि मनुष्यके सम्पूर्ण क्रीड़ा-साधन वास्तविक प्रकृतिसे छोटे, समान या बड़े प्रतिरूप होते हैं। बालकोंके लिये हाथी, घोड़े, ऊँट, गाड़ी आदि खिलौने तभी बनते हैं जब कुम्हारने हाथी घोड़े देखे हों या उनका वर्णन सुना या पढ़ा हो। जैसे यह सम्भव नहीं है कि खिलौनोंके बन जानेपर ही वास्तविक हाथी घोड़े उत्पन्न हुए वैसे ही यह कहना भी असंगत है कि पुतलियोंके नाच-को देखकर मनुष्यके मनमें स्वतः नाचने या नाटक करने-की भावना आई हो। वास्तविक बात यही है कि नटोंको

एकत्र करने और उनका संरक्षण करनेमें अधिक व्यय देखकर किसी निर्धन नाट्य-प्रेमीने लोगोंको नाट्यका सस्ता प्रतिरूप दिखानेके लिये पुतलियोंके नाचकी व्यवस्था की होगी। यदि पुतलियोंका नाच प्राचीन होता तो प्रत्येक वस्तुका सूक्ष्म वर्गीकरण और विश्लेषण करनेवाले ऋषियोंने पुत्तलिका नृत्यके भी अनेक भेद-उपभेद गिना दिए होते।

सूत्रधारको पुतली नचानेवाला कहनेसे पूर्व डा० पिशेल-को संस्कृतके सत्र अर्थ और उनके प्रयोगोंपर भी विचार कर लेना चाहिए। सूत्र और सूत्रधार शब्द हमारे साहित्यके विशेष शब्द हैं। प्रत्येक शास्त्रकार अपने सिद्धान्तोंको संक्षिप्त करके सूत्र रूपमें लिखता था और यह भी निश्चय है कि वह शास्त्रके सूत्र बनानेमें सूतके डोरेका प्रयोग नहीं करता था। केवल विद्वानोंकी सुविधाके लिये इसलिये संक्षेपमें कह देता था कि वे सरलतासे स्मृतिमें सुरक्षित किए जा सकें।

सूत्र धातुका अर्थ ही है बाँधना। जैसे फैली हुई वस्तुओंको एकत्र करके हम लोग एक रस्सीमें या गठरीमें बाँध देते हैं वैसे ही ऋषि लोग बहुत लम्बे चौड़े वक्तव्योंको एक छोटेसे सूत्रमें बाँध देते थे। इसीलिये कहा भी गया है—

तथा च सूत्र्यते हि भगवता पिङ्गलेन, जैमिनिना इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत्। [भगवान् पिङ्गलने इस प्रकार सूत्रमें कहा है, जैमिनिने यह भी धर्मका लक्षण सूत्रमें कह दिया है।] इसी सूत्र धातुका अर्थ होता है व्याख्या करना, क्रमसे लगाना, योजना बनाना जैसे मालतीमाधव नाटकके प्रथम अङ्कमें कहा गया है—

तन्निपुणं मया विसृष्टार्थं दूतीकल्पः सूत्रयितव्यः।

[दूती बनकर काम करनेका जो भार मुझे सौंपा गया है उसे पूरा करनेकी ठीक योजना मुझे बना लेनी चाहिए।]

सूत्रकी व्याख्या भी यह की गई है—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

[जिसमें थोड़े और निश्चित अक्षर हों। किसी सार्वभौम सिद्धान्तका तत्त्व हो, अर्थमें किसी प्रकारकी बाधा न हो और निर्दोष हो उस कथनको सूत्रकार लोगोंने सूत्र कहा है।]

अतः सूत्रधार शब्दके बलपर पुतलियोंसे नाटककी उत्पत्तिका सिद्धान्त निकालना भी अत्यन्त अप्रामाणिक है। शारदातनयने अपने भावप्रकाशनम्के नाट्य-प्रयोग-भेद-प्रकार-विशेष-निर्णय नामक दशम अधिकारमें सूत्रधार शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है—

सूत्रयन्काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथा—रसान्।
नान्दीश्लोकेन नाट्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः॥

[जो व्यक्ति काव्य (नाटक) में आई हुई कथावस्तु, नाटकके नायक, तथा नाटकके रसोंका वर्णन सूत्र रूपमें, संक्षेपमें कहता है उसे सूत्रधार कहते हैं]। भरत मुनिने भी अपने नाट्यशास्त्रके 'भूमिका-पात्र-विकल्प' नामक ३५ वें अध्यायमें सूत्रधारका वर्णन करते हुए लिखा है कि—

आशीर्वादनयुक्तैर्मधुरैर्वाक्यैश्च स्वमङ्गलाचारैः।
सर्वस्तौति हि लोकं यस्मात्तस्माद्भवेद् नान्दी॥७४॥
नान्द्यो बहुधास्मिन्नृणां वदति यतो नाट्ययोगे तु।
प्राकृतसंस्कृतवाद्यैर्नान्दी नामैष विज्ञेयः॥७५॥
गानस्य च वाद्यस्य पाठ्यस्यापि एकभावविहितस्य।
शास्त्रोपदेशयोगात् सूत्रज्ञः सूत्रधारस्तु॥७६॥

[आशीर्वादसे युक्त, मधुर वाक्यों और मङ्गलाचारके साथ सब लोगोंकी स्तुति जिसमें होती है उसे नान्दी कहते हैं। इसमें बहुत कुछ नहीं कहा जाता क्योंकि प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओंके कवि नाट्यके इस प्रसंगको नान्दी ही कहते हैं। गीत वाद्य और पाठ्य सबको समान रूपसे जाननेवालेको तथा शास्त्रके अनुसार उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्तिको सूत्रधार कहते हैं।]

सूत्रधारका गुण बताते हुए भी भरत मुनिने लिखा है—

तत्र सूत्रधारगुणान् वक्ष्यामः। पुण्याभिधानमेव तल्लक्षणं अभिमत वाक् संस्काराः तालविधानज्ञता स्वरवादित्रतत्त्व-वेदनञ्च।

चतुरातोद्यकुशलः शास्त्रकर्म-सुशिक्षितः।
नानापाषण्डकार्यज्ञो नीतिशास्त्रार्थ-तत्त्ववित्॥४५॥
वेश्योपचार—निपुणः कामशास्त्र-विचक्षणः
नाना गतिप्रचारज्ञो रसभाव-विशारदः॥४६॥

नाट्यप्रयोगकुशलो नानाशिल्प-समन्वितः
पाठ्यच्छन्दोविधानज्ञः सर्वशास्त्र-विचक्षणः ॥४७॥
ग्रहनक्षत्रतत्त्वज्ञो देहव्यापारपण्डितः ।
पृथिवीद्वीपवर्षाणां पर्वतानां जनस्य च ॥४८॥
प्रमाणचरितज्ञश्च राजवंश-प्रसूतिवान् ।
श्रोता शास्त्रार्थकाराणां श्रुत्वा चैवावधारकः ॥४९॥
अवधार्य प्रवक्ता च शक्तश्चैवोपदर्शने ।
एवं गुणस्तथाचार्यः सूत्रधारो विधीयते ॥५०॥
स्वाभाविकान् गुणाँश्चैव गदतो मे निबोधत ।
स्मृतिमान् मतिमान् धीरो उदारः स्थिरवाक् कविः ॥५१॥
अरोगो मधुरः क्षान्तो दान्तश्चैव प्रियंवदः ।
मन्युदोषविनिर्मुक्तः सत्यवाक् दक्षिणः शुचिः ॥५२॥

[आगे सूत्रधारके लक्षण बतलाते हैं । उसका लक्षण यह है कि प्रारम्भमें मंगलाचरण करे, इच्छित वाणीका संस्कार हो, ताल, स्वर, बाजे इत्यादिका पूरा ज्ञान हो । चारों प्रकारके बाजे बजानेमें चतुर हो, शास्त्रका व्यवहार भली भाँति जानता हो, अनेक प्रकारका ढोंग कर सकता हो, नीति और शास्त्रका मर्म जाननेवाला हो, वेश्याओंका आदर करनेमें निपुण हो, कामशास्त्र भली भाँति जानता हो, अनेक प्रकारके [illegible] जानता हो तथा रस और भावको भली भाँति समझता हो, नाटक खेलनेकी सब क्रियाएँ भली भाँति जानता हो, अनेक प्रकारके शिल्प जानता हो, छन्द और उनके नियम जानता हो, सब शास्त्रोंका पण्डित हो, ग्रह और नक्षत्रोंकी चाल समझता हो, शरीरकी सब क्रियाएँ जानता हो, पृथ्वी, द्वीप, वर्ष पर्वत, जनता तथा राजकुलके लोगोंके प्रामाणिक जीवनचरित जानता हो, शास्त्र बनानेवालोंकी बात भली भाँति सुनता हो, सुनकर [illegible] उसका प्रवचन करता हो और उसका [illegible] कर सके, ये सब गुण जिसमें हों वह सूत्रधार हो [illegible] । आगे मैं सूत्रधारके स्वाभाविक गुण बतलाता [illegible] [illegible]

रचनाको जो सूत्र रूपमें वर्णन करे और रंगमंचकी सजावट-करनेमें चतुर हो वह सूत्रधार कहलाता है—

आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इतीरितः ॥

यदि ये परिभाषाएँ पिशेल महोदयको ज्ञात होतीं तो वे कभी न सोचते कि सूत्रधार शब्द केवल पुतलीकी डोरी पकड़कर नचानेवालेको कहते हैं ।

छायानाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति

० छाया नाटकान्नाट्योत्पत्तिरित्यपरे ।

[नाट्य हुआ छाया नाटकसे यह भी है मत एक ।]

डा० पिशेलने एक और मत भी प्रतिपादित किया था जिसको आचार्य ल्यूडरसनने नाटकोंके विकासमें आवश्यक कारण माना है और जिसका समर्थन डौक्टर कोनोने भी किया है । इस मतके अनुसार छाया-नाटकोंसे ही नाटकोंकी उत्पत्ति हुई । इनका कहना है कि मलाया, कम्बोदिया, स्याम, चीन, ब्रह्मा, जापान, अरब, लघु एशिया और उत्तरी अफ्रीकामें छाया-नाटकका बड़ा प्रचार है ।

यद्यपि संस्कृतके नाट्य लक्षण-ग्रन्थोंमें छाया नाटकोंका उल्लेख नहीं है फिर भी संस्कृतमें सात नाटकोंका विवरण मिलता है जिनमें सर्वप्राचीन तथा प्रकाशित दूताङ्गद नाटक है जिसकी कथा रामायणसे ली गई है । श्री सेसिल बेंडलने यह सिद्ध किया है कि यह नाटक गुजरातके शासक अन्हिलवाड़ या अन्हिलपुर वंशके चालुक्य राजा कुमारपालदेवके अभिनन्दनार्थ एक उत्सवमें सन् ११४३ और सन् ११७२के बीचमें खेला गया था । यह उत्सव काठियावाड़के सोमनाथ या देवपट्टनके शिवमन्दिरके जीर्णोद्धारके समय खेला गया था और यह धूलि-उत्सवके दिन ७ मार्च सन् १२४३ की घटना है । दूताङ्गदके दो पाठ मिलते हैं । एक तो ऐसा है जिसमें नाटक तथा प्रबन्धात्मक कविताकी विचित्र खिचड़ी है और दूसरा छोटा पाठ तीन दृश्योंमें विभक्त है जिनमें रामायणकी अंगद-रावणवाली घटनाके तीन चार दिनोंका वर्णन है । छाया-नाटकका अर्थ बहुत दिनोंसे स्पष्ट नहीं था । श्री विल्सनने अपने 'सेलेक्ट स्पेसिमेन्स ऑफ़ दि थियेटर ऑफ़ दि हिन्दूज़'के द्वितीय भागमें यह कल्पना की है कि छाया-नाटक "नाटकके ढाँचे

या रूपरेखा" को कहते होंगे और दूताङ्गद नाटकको सम्भवतः किसी उत्सव-यात्राके दृश्यकी प्रस्तावनाके लिये रचा गया होगा। नहीं तो इतना छोटा-सा नाटक रचा ही क्यों जाता।

प्रोफ़ेसर लेवीने भी अपने 'थियेत्रे इन्द्रिएन' में बहुत संकोचके साथ यही बात मानी है। श्रीपिशेलने भी अपने 'गौट्टिंगिश गलेहर्टे औनजौरगेन' में कहा है कि छाया-नाटकका अर्थ संभवतः अर्द्धनाटक होगा। किन्तु एक बहुत सुन्दर छोटेसे लेख 'डस अल्टिन् डिशेशाटेन्रा-पौपेल' में यह दिखलाया है कि छाया-नाटकका शुद्ध और केवल अर्थ छाया द्वारा नाटक दिखाना है। नीलकण्ठने महाभारतकी टीकामें रूपोपजीवनसूत्री व्याख्या करते हुए इस प्रकारके नाटकीय प्रयोगोंका उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि रूपोपजीवनको दाक्षिणात्य लोग जलमण्डपिका कहते हैं जहाँ बीचमें एक महीन कपड़ा टाँगकर चमड़ेकी मूर्तियों द्वारा राजाओं, मन्त्रियों आदिका अभिनय दिखलाया जाता है।

रूपोपजीवनं जालमण्डपिकेति दाक्षिणात्येषु प्रसिद्धम् यत्र सूक्ष्म वस्त्रं व्यवधाय चर्ममयैराकारैः राजामात्यादीनां चर्या प्रदर्श्यते ॥

दीपककी सहायतासे दिखलाए जानेवाले सर्वप्राचीन रूपका दूताङ्गद ही कमसे कम न्यायतः उत्तराधिकारी है और इस प्रकारका सर्वप्राचीन भारतीय उदाहरण है, चाहे उसमें पुतलियोंकी मूर्तियोंकी छाया दिखलाई जाती हो या वास्तविक अभिनेताओंकी।

प्रमाणाभावाच्छायानाटकप्राधान्यमग्राह्यम् ॥१६॥

[छाया-नाटककी प्रधानता नहीं प्रमाणित हो पाई।]

छाया-नाटकसे नाट्यकी उत्पत्ति माननेवालोंने केवल आकाश-कुसुम लानेका प्रयत्न किया है क्योंकि एक तो दूताङ्गद बहुत दिन पीछेका है और फिर यदि छाया-नाटक जैसा नाटकका कोई भेद होता तो नाटकके ग्रन्थोंमें कहीं न कहीं उसका उल्लेख होता। दसवीं शताब्दीके पीछे शारदातनयने केवल भरतके ही नहीं वरन् अनेक आचार्योंका मत संग्रह करके 'भावप्रकाशनम्' नामक महानाट्य ग्रन्थ लिखा है किन्तु उसमें भी छाया-नाटककी कहीं छाया नहीं मिलती। छाया-नाटकका अर्थ यही हो सकता है कि या तो वे उसी नामके किसी बड़े नाटकके लिखे हुए छोटे नाटक हों या किसीके काव्यका कोई नाटकीय अंश इस प्रकार ले लिया गया हो कि भाव उसके हों, केवल भाषा नाटककारकी हो क्योंकि छायाका अर्थ केवल प्रकाश पड़नेसे वस्तुके पीछे पड़नेवाली आकार कालिमा से ही नहीं है वरन् छायाका अर्थ प्रतिरूप और समानता भी तो है। अतः प्रमाणके अभावमें ही यह मत असंत हो जाता है।

वीर पुरुषोंका आदर ही नाट्योत्पत्तिका कारण—

वीरसमादर एव नाट्योत्पत्तिकारणमित्येके।

[वीरोंकी पूजासे ही है हुआ नाट्यका जन्म, एक मत।]

डौक्टर रिजवेने अपनी "ड्रामाज़ ऐण्ड ड्रैमेटिक डान्सेज़ औफ़ नौन योरोपियन रेसेज़" नामक पुस्तकमें नाट्यकी उत्पत्तिके सब सिद्धान्तोंका खण्डन करके और संस्कृत नाटक, रामलीला, रासलीला और यात्राके उत्सवोंका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण विवेचन करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है।

(१) राम और सीताकी कथा भारतके सब विभागोंमें तथा जावा, ब्रह्मा मलेशिया, कम्बोदिया और श्याममें अत्यन्त लोकप्रिय है।

(२) महाभारतकी कथा तथा श्रीकृष्णचरितके आधारपर मथुरा आदि स्थानोंमें नाटक या नाट्योत्सव किए जाते हैं।

(३) राम और कृष्णके अतिरिक्त विष्णुके चरित्रपर भी नाटक खेले जाते हैं जैसे भक्त प्रह्लाद, हिरण्य-कशिपुका वध आदि।

(४) इन पौराणिक वीरोंके अतिरिक्त ऐतिहासिक वीरोंके चरित्र भी नाटकके द्वारा दिखलाए जाते हैं जैसे तेलुगु प्रदेशमें रामदास और नन्दके चरित्र, पंजाबमें गोपीचन्द, पूरन भगत, हकीकतके अथवा राजपूतानेमें ढोलामारू, दन्दुल, हीर राँझा, राणाप्रताप, शिवाजी आदिके।

(५) वीर पुरुषोंके जीवनको निरन्तर स्मरण कराते रहनेकी प्रथा प्रारम्भसे अबतक हिन्दू नाटककी मूल प्रेरणा

रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ग्यारहवीं शताब्दीमें तंजौरके चोल राजा राजराज प्रथमने एक सुन्दर शिवमन्दिर बनवाकर उसमें एक नाट्यमण्डली स्थापित कर दी थी जिसका कर्तव्य ही यह था कि वह प्रतिवर्ष नियमित रूपसे राजराज नाटक खेला करे, जिसमें संभवतः राजराजके पराक्रमका ही वर्णन होता होगा। इन सब बातोंसे यह निश्चय होता है कि नृत्य, प्रशस्ति-स्तम्भ और मूर्ति आदि साधनोंके साथ-साथ किसी व्यक्तिके कार्यों या पराक्रमोंका नाटक खेलना भी उस विशिष्ट व्यक्तिके प्रति आदर दिखानेका एक प्रमुख साधन माना जाता था।

(२) हिन्दू नाटकोंने अब भी अपना धार्मिक स्वरूप नहीं छोड़ा है और ये नाटक प्रारम्भमें भी ऐसे ही रहे होंगे जिन्होंने अपने जीवनकालमें अपने भाव और प्रभावसे अपने समयके समाजको प्रभावित किया।

(३) अतः यह निश्चय है कि इन कथाओंको नाटकीय स्वरूप देनेका प्रधान तत्त्व यही है कि वीरोंके पराक्रमों और कार्योंकी स्मृति समाजमें बनी रहने दी जाय।

उपर्युक्त मतकी अमान्यता

नेत्यभिनवभरतः ॥ २० ॥

[अभिनव भरत अमान्य समझते।]

प्रोफेसर रिजवेने उपर्युक्त मतका प्रतिपादन यूनानी नाटकोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें किया था पर पीछे उन्होंने इसी मतको भारतीय नाटककी उत्पत्तिके लिये भी मान्य कर दिया। अपने मतका समर्थन करते हुए उन्होंने भारतीय नाट्यसाहित्य, काव्यसाहित्य, रामलीला, कृष्णलीला तथा यात्रा आदिका अत्यन्त विस्तृत विवेचन करते हुए यह दिखलाया है कि इन सब नाटकीय प्रवृत्तियोंके पीछे मृत वीर पुरुषोंके प्रति आदर दिखलानेकी ही भावना है। किन्तु यह मत सर्वथा भ्रामक न होते हुए भी अंशतः भ्रामक है।

[illegible] तुलसीदासजीने काशीमें रामलीलाका प्रचार इसलिये किया कि इस रूपमें लोग भगवान रामकी [illegible] कर सकें और रामका चरित लोक- [illegible] हो सके। इसी भावनासे भगवान् श्री [illegible] पीछे मृत वीर पुरुषोंके प्रति आदर दिखानेकी भावना नहीं थी। उनका उद्देश्य था कि भगवान्‌के चरितका कीर्तन, स्मरण और श्रवण करके मनुष्यको सुख शान्ति और मुक्ति मिले क्योंकि नौ प्रकारकी भक्तिमें कीर्तन, श्रवण और स्मरण भी है और इसमें नाटकका भी समावेश हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्ति इस प्रकार बताई गई है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥७।५।२३

[विष्णुका गुण सुनना, बार-बार कहना, स्मरण करना, उनके चरणोंकी सेवा करना, उनकी पूजा करना, उन्हें प्रणाम करना, उनके दास बने रहना, उनसे मित्रताका नाता जोड़ना और अपनेको उन्हें सौंप देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति होती है।]

इस नौ प्रकारकी भक्तिमें श्रवण, कीर्तन और स्मरणके भीतर राम, कृष्ण, परशुराम, नृसिंह आदिकी कथाओंका भी समावेश हो जाता है। जिन्होंने रामलीलाका संचालन किया होगा वे जानते होंगे कि रामलीला या कृष्णलीलामें पाठ करनेवाले राम या कृष्णके स्वरूपोंकी पहले पूजा की जाती है और उनमें देवत्व भावनाकी प्रतिष्ठा की जाती है। यहाँतक कि हनुमान या सुग्रीव बननेवाले अभिनेता-गणकी भी व्यवस्थित रूपसे पूजा की जाती है और जबतक वे उस विशिष्ट वेशमें रहते हैं तबतक लोग उनमें तद्वत् देव-भावना रखते हैं। अतः इन लीलाओंको नाटकीय न समझकर इन्हें भक्ति सम्प्रदाय द्वारा स्वीकृत ईश्वर-प्राप्तिकी साधनाका एक अंग समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त संस्कृतके प्रायः शृंगार-परक नाटकों और प्रहसनोंमें वीरता या पराक्रमका प्रत्यक्षतः अभाव ही होता है और यदि वहाँ वीरताका उल्लेख भी है तो वह केवल नायिकाके लिये नायककी योग्यता सिद्ध भर करनेके लिये है। उनके चरित भी ऐसे नहीं हैं जिन्हें लोकके लिये आदर्श माना जा सके। भासका प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण या स्वप्नवासवदत्ता या कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तल या विक्रमोर्वशीयमें कौन-सी ऐसी वीरताका वर्णन है, कौन-सा ऐसा पराक्रम प्रदर्शित किया गया है जिसकी कीर्ति बनाए रखनेके लिये भास या कालिदासने अपनी

लोक-विश्रुत प्रतिभाका प्रयोग करके अपने नाटकोंकी रचना की हो।

मालविकाग्निमित्र या रत्नावली नाटिकामें ही राजाओंके प्रेम-व्यवहारके अतिरिक्त और क्या है? इसी प्रकार शूद्रकके मृच्छकटिकमें भी वह कौन-सा असाधारण पराक्रम या गौरव है जिसे समाजमें आदर्श रूपसे प्रतिष्ठित करनेके लिये नाटकका प्रणयन किया गया हो। भवभूतिके उत्तररामचरितमें रामके मुँहसे—

स्नेहं दयां तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

[यदि मुझे प्रजाकी सेवा करनेमें स्नेह, दया, सुख अथवा जानकी भी छोड़नी पड़े तो मुझे दुःख नहीं होगा।] कहलाकर जो रामको रुलाया है उससे भी बहुतसे विद्वान् सतुष्ट नहीं हैं क्योंकि रामकी इस प्रतिज्ञाका सम्पूर्ण महत्त्व उनके विलापमें धुल जाता है और—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि
लोकोत्तराणां चेतांसि को न विज्ञातुमर्हति।

[संसारमें निराले जो महापुरुष होते हैं उनके वज्रसे भी कठोर और फूलसे भी कोमल हृदयोंको कौन पहचान सकता है।] कहलाकर जो दोष-परिहार करनेकी चेष्टा की गई है वह भी नितान्त थोथी है। अतः नाटक लिखनेकी प्रवृत्तिके मूलमें और चाहे कुछ भी रहा हो किन्तु मृत वीरोंके प्रति आदर दिखानेकी ओर नाटककारोंकी प्रवृत्ति कभी नहीं थी। यदि यह बात होती, तो रामलीला रामनवमीसे हुआ करती और कृष्णलीला कृष्णाष्टमीसे, किन्तु काशीकी प्रसिद्ध रामनगरकी लीला भाद्रपद शुक्ला अनन्त चतुर्दशीसे प्रारम्भ होकर आश्विन शुक्ला विजयादशमीतक चलती है और कहीं-कहीं थोड़ा और पीछेसे प्रारम्भ होकर कार्तिकतक चलती रहती है और रासलीला या कृष्णलीला तो चाहे जब होती रहती है। काशीमें अस्सी-घाटपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी स्थापित की हुई कृष्ण-लीला भी कार्तिकमें होती है।

संस्कृत नाटकोंके प्रारम्भमें जहाँ रचना और रचयिताका परिचय दिया जाता है वहाँ अवसरका भी परिचय दिया जाता है किन्तु किसी भी नाटककी प्रस्तावनामें यह नहीं कहा गया है कि भगवान रामकी स्मृतिको चिरस्थायी करनेके लिये या कृष्णजीका आदर करनेके लिये नाटककी रचना हो रही है। उन सबमें यही कहा गया है कि अमुक राजाको अपनी नाट्यकलासे प्रसन्न करनेके लिये या सभासदोंको प्रसन्न करनेके लिये ही नाटकोंकी रचना हुई है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि नाट्यकी उत्पत्ति मनोविनोदके लिये हुई थी, किसी मृतका आदर करनेके लिये नहीं।

क्या प्रकृति-परिवर्त्तनका प्रतीकात्मक रूप नाट्य है?

प्रकृतिभावात्मकं नाट्यमित्यपरे ॥ २२ ॥

[प्रकृतिके परिवर्त्तनोंका भाव होता नाट्यमें।]

रिजवे महोदयके उपर्युक्त मतका खण्डन करते हुए श्री कीथने एक अनोखा ही मत सुझाया है। वे कहते हैं कि प्रकृतिमें जो अनेक प्रकारके परिवर्तन होते हैं जैसे जाड़ा, गर्मी, वर्षा आदि, उन्हींको भावात्मक रूपमें दिखानेकी भावनासे ही भारतीय नाटकोंकी रचना की गई है। महाभाष्यमें दिए हुए कंसवध नाटकके उल्लेखका निर्देश करते हुए श्री कीथने लिखा है कि उस नाटकमें कंस और उसके अनुयायी काले कपड़े पहने हुए थे और कृष्ण तथा उनके अनुयायी लाल कपड़े पहने हुए थे। इस वर्णन-द्वारा कविने कंसरूपी हेमन्तपर कृष्णरूपी ग्रीष्मकी विजय दिखलाई है और यह विजय उद्भिज प्रकृतिके वासन्तिक जागरणका भावात्मक या रूपकात्मक प्रदर्शन है।

स्वयममतीकृम् ॥ २३ ॥

[स्वयं उन्होंने अमत किया है।]

स्वयं कीथने ही अपने पीछेके ग्रन्थोंमें अपने इस मतको अमान्य मान लिया है अतः इसपर विचार करना ही अनावश्यक है।

इन्द्रध्वजोत्सवसे नाट्यकी उत्पत्ति—

इन्द्रध्वजोत्सवान्नाट्योत्पत्तिरिति कश्चित् ॥२४॥

[कोई कहते इन्द्रध्वज-उत्सवसे नाट्य प्रभूत।]

बहुतसे विद्वानोंने यूनानी नाटककी उत्पत्तिका विवेचन करते हुए यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि मई मासकी पहली तिथिको योरोपमें जो मई दिवसोत्सव मनानेके लिये किसी युवतीको पुष्पालंकृत करके उसे मईकी रानी बनाकर एक (मे पोल) मईका बाँस गाड़कर उसके चारों

और लोग नाच-गाना करते और मे पोल उत्सव मनाते हैं उसीसे नाटककी उत्पत्ति हुई है। इसी आधारपर एक विदेशी विद्वानने नेपाल राज्यका इन्द्रध्वज-महोत्सव देखकर यह कह डाला कि जैसे मेपोल नृत्यसे यूनानी नाटककी उत्पत्ति हुई वैसे ही इन्द्रध्वज उत्सवसे भारतीय नाटककी उत्पत्ति हुई।

उक्त मतका खण्डन

भ्रांतिपूर्णमिदं मतम् ॥ २५ ॥

[भ्रान्तिपूर्ण है उनका यह मत।]

मेपोल उत्सव और इन्द्रध्वज उत्सवमें न उद्देश्यका, न भावका, न क्रियाका, न रूढ़िका, न और ही किसी प्रकारका सम्बन्ध है। यदि उक्त विद्वानने इन्द्रध्वज महोत्सवकी उत्पत्ति उद्देश्य समझनेका कष्ट किया होता तो उन्हें इतना भ्रम न होता। भाद्रपद शुक्ला द्वादशीके दिन इन्द्रको सन्तुष्ट करनेके लिये ध्वज-दानका विधान भारतीय परंपरामें है। रीति यह है कि प्रजाके मङ्गलके निमित्त राजा लोग ध्वज बना-बनाकर इन्द्रके निमित्त द्वारपर गाड़ते हैं और इष्टदेवकी पूजा करते हैं और यह विश्वास है कि ऐसा करनेसे प्रचुर वर्षा होती है और खेतोंमें भरपूर धान्य होता है। बृहत्संहितामें लिखा है कि एक बार जब असुरोंने देवताओंको बहुत सताया तो देवता लोग ब्रह्माजीके पास उसका उपाय पूछने गए। तब ब्रह्माजीने उन्हें समझाया कि आप लोग क्षीरसागर पहुँचकर नारायणकी स्तुति करें। वे आप लोगोंको एक केतु (झंडा) देंगे जिसे देखते ही शत्रुगण भाग खड़े होंगे। देवताओंने वही किया और विष्णु भगवानने प्रसन्न होकर इन्द्रको एक ध्वज दिया जिससे इन्द्रने असुरोंको मार भगाया। एक बार चेदिराज शिशुपालने भी [illegible] गाड़कर वहाँ विधिसे इन्द्रध्वज स्थापित करके पूजा की थी जिससे प्रसन्न होकर इन्द्रने कहा था— '[illegible] इसी प्रकार इन्द्रध्वजकी पूजा करेगा उसके राज्यमें [illegible], धनधान्य बढ़ेगा और कोई रोग न होगा।' पोल, मेपोल और [illegible] क्योंकि [illegible] ये सब उत्सव [illegible] और [illegible] और [illegible] नहीं है। यहीं एक बात और [illegible] है कि [illegible] यहाँ [illegible] का [illegible] है। [illegible] झंडियाँ [illegible] चढ़ाते हैं किन्तु देवीके मन्दिरोंपर विशेषतः शाकम्भरी देवीके मेलेपर तो असंख्य झंडियाँ प्रतिवर्ष चढ़ाई जाती हैं। अतः यह ध्वजदान तो केवल भौतिक सुखके लिये इष्टको प्रसन्न करनेके एक साधनके रूपमें प्रचलित है। हम ऊपर ही कह आए हैं कि नाट्यशास्त्रमें वर्णित कथाके अनुसार सबसे पहला नाटक महेन्द्र-ध्वजोत्सवके अवसरपर खेला गया था जब ब्रह्माजीने भरतसे कहा था—

महानयं प्रयोगस्य समयः समुपस्थितः ॥ ५४ ॥
अयं ध्वजमहः श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।
अथेदानीमयं वेदः नाट्यसंज्ञः प्रयुज्यताम् ॥ ५५ ॥

[नाट्यवेदके प्रयोगका यह बड़ा अच्छा अवसर आ गया है। श्रीमान् महेन्द्रके ध्वजका दिन है। इसीके उपलक्ष्यमें आप नाट्यवेद प्रयोग करके दिखलाइए।]

यदि मान लिया जाय कि नेपालका इन्द्रध्वज उत्सव इसी भारतके महेन्द्रध्वजोत्सवका अवशिष्ट रूप है तो इतना ही कहा जा सकता है कि जब यह उत्सव प्रारंभ हुआ था उस समय इस अवसरपर नाटक भी खेले जाते होंगे। इससे अधिक इन्द्रध्वज और नाटकका कोई संबंध नहीं है।

अभिनयदर्पणकार नन्दिकेश्वरने जहाँ नाटकके लिये उपयुक्त अवसरोंकी चर्चा की है वहाँ कहा है—

'द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः ॥ १२ ॥

[नाट्य और नृत्य विशेष रूपसे पर्व या उत्सवके समय ही दिखलाने चाहिएँ।] अतः यदि महेन्द्रध्वजोत्सवपर प्रारंभमें नाटक किया गया हो या आजकल भी इन्द्रध्वज-उत्सव पर नाटक होता हो या नृत्य आदि दिखाये जाते हों तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि नाटकका जन्म ही उस उत्सवसे हुआ था। जहाँ नाट्य और नृत्यके लिये अवसरका विधान है वहाँ नृत्त (नाच) के लिये भी अवसर निर्धारित कर दिया गया है।

नृत्त तथा नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसङ्गमे ॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं माङ्गल्यं सर्वकर्मसु ॥

—अभिनयदर्पण १३।१४।

[राजाओंके अभिषेकके अवसरपर, यात्रामें, देवयात्रामें, विवाहमें, अपने प्रियसे मिलनेके समय, नगरप्रवेश या गृह-

प्रवेशके समय, पुत्रजन्मके अवसरपर तथा ऐसे ही सब कार्योंमें शुभ चाहनेवाले व्यक्तियोंको कल्याणकारी नृत्य कराने चाहिएँ ।]

इसका तात्पर्य यह है कि उत्सवोंपर, शुभकार्योंमें तथा हर्षके अवसरोंपर नाटक या नृत्य कराये जायँ । इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि इन अवसरोंसे नाटकोंकी उत्पत्ति हुई । अतः यह मत नितान्त भ्रमपूर्ण है ।

यूनानी नाट्यसे भारतीय नाट्यकी उत्पत्ति

यवन नाट्यानुकृतिरेव भारतीय नाट्यमित्यपरे॥२६॥

[यूनानी नाटककी ही है अनुकृति भारत-नाट्य ।]

श्री वेबर महोदयने भारतीय नाट्यकी उत्पत्तिका एक नया ही मत प्रतिपादित किया था जो योरोपियोंकी उस संकुचित प्रवृत्तिका परिचायक है जिसके धुँधले पक्षपातपूर्ण विनेत्रसे उन्हें पूर्वके देशोंका उत्कर्ष और वैभव छोटा दिखाई देने लगता है । उसी प्रवृत्तिके अनुरूप श्री वेबरने यवनी, यवनिका और शकारि शब्दोंके आधारपर यह सिद्ध करनेका विफल प्रयत्न किया कि जिस समय भारतवासियोंका यूनानियोंसे सम्पर्क स्थापित हुआ उसी समय हिन्दुओंने नाट्य-कला भी सीखी ।

श्री विण्डिश महोदयने भी बहुत सी युक्तियोंके साथ इस मतका समर्थन किया है और श्री सिल्वन लेवी तथा डौक्टर कीथने इस मतको न मानते हुए भी इतना कहा है कि बाह्य प्रभावके बिना नाटकमें ऐसे विकासके लिये पर्याप्त सामग्री नहीं मिल सकती थी । डेनिश विद्वान श्री ई० ब्रान्देने इस सिद्धान्तको मानकर भारतके प्राचीन नाटकों और मिलिन्द (मिनेण्डर)-कालीन-यूनानी प्रहसनोंका सामञ्जस्य दिखाया है जिनका इतालवी रूप प्लाउतस् और तेरेन्समें मिलता है ।

उक्त मतका खण्डन

तन्मतममतम् ॥ २७ ॥

[यह मत भी है अमत बताया ।]

डौक्टर कीथने कहा है—"यवनिका या उसका प्राकृत रूप जवनिका उस पर्देको कहते थे जो रंगपीठ और नेपथ्यके बीचमें टँगा रहता था । यह विशेषण-बोधक शब्द है और इसका अर्थ है 'यूनानी' (आयोनियन), क्योंकि भारतवासी सर्व प्रथम इन्हींके सम्पर्कमें आए थे । किन्तु यह शब्द केवल यूनानियोंका ही बोधक नहीं है । इसके अन्तर्गत यूनान, फ़ारस, मिस्र, सीरिया और बैक्ट्रियाके देश भी सम्मिलित थे । इस शब्दका प्रयोग विदेशी वस्त्रके अर्थमें किया जाता था और जैसा श्री सिल्वन लेवीने कहा है, उसका तात्पर्य फ़ारसके उन सुन्दर वस्त्रोंसे था जो उन दिनों भारतमें बराबर मँगाए जाते थे । इस शब्दका कोई भी संबंध यूनानी रंगमंचसे नहीं था क्योंकि यूनानी नाटकोंमें पर्देकी कहीं चर्चा ही नहीं है । विण्डिश महोदय तो इस यवनिकाको इसीलिये यूनानी कहते हैं कि जैसे यूनानी रंगशालामें पीछेकी ओर चित्रित दृश्य होता था वैसे ही यहाँ पर्दा लगा दिया जाता था ।

"यही बात यवनीके लिये भी है । संस्कृत नाटकोंमें प्रायः राजा लोग यवनियोंको अपनी परिचारिकाके रूपमें रखते थे । अभिज्ञानशाकुन्तलके दुष्यन्तको भी माढव्यने इसी रूपमें देखा है—

'एष बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिर्वनपुष्पमालाधारिणीभिः परिवृत इत एवागच्छति प्रियवयस्यः ।

[अरे मित्र तो इधर ही चले आ रहे हैं जिनके साथ हाथमें धनुष लिए और गलेमें जङ्गली फूलोंकी माला पहने हुए बहुत सी यवनी सेविकाएँ भी चली आ रही हैं ।]

'इससे केवल यही सिद्ध होता है कि यूनानी व्यापारी अपने यहाँकी कुमारियोंको यहाँ ले आते होंगे और राजाओंके हाथ बेंच देते होंगे । क्योंकि उन दिनों यूनानमें जो युद्धमें विजयी होते थे वे विजित देशकी स्त्रियाँ और पुरुषोंको बन्दी बनाकर लाते थे और दास बनाकर बेंच देते थे । सम्भवतः वे ही यूनानी वन्दिनियाँ भारतीय नरेशोंके अन्तःपुरकी प्रहरी तथा राजाओंकी शरीर-रक्षिकाएँ होती होंगी ।"

डौक्टर कीथके मतके अतिरिक्त भी अनेक ऐसे प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध है कि यूनानी नाटकोंका भारतीय नाटकोंपर किसी प्रकारका प्रभाव नहीं पड़ा ।

पहली बात तो यह है कि यूनानी नाटकोंमें कोरस या समवेत गानका प्राधान्य था । दूसरे, अभिनेताओंका क्रम भी धीरे-धीरे एकसे बढ़कर अनेकतक पहुँचा था । तीसरे, अभिनेतागण मुखपर मुखौटा और पैरोंमें ऊँचे खड़ाऊँ बाँधकर मंचपर आते थे । चौथे, उनकी रङ्ग-

गल्लामें पीछे भित्ति होती थी। पाँचवें, उनकी रंगशाला वेदी पाठकोंकी अभिरुचि या उत्सवमें गोल हलुआ मोर्दादार भरी होती थी। छठे, उनके नाटक या तो भय और करुणा उत्पन्न करनेवाले त्रासात्मक होते थे या फूहड़ गीतों या व्यङ्गोंसे भरे हुए परिहासात्मक होते थे और सातवीं बात यह थी कि निश्चित उत्सवपर ही उनके यहाँ नाटक होते थे और वे दो दो तीन-तीन दिन चलते रहते थे। इनमेंसे एक भी बात भारतीय रंगशाला या नाटकसे मेल नहीं खाती। भारतीय रंगशालाओंके जो तीन प्रकार हैं त्र्यस्र, चतुरस्र और विकृष्ट, इन तीनोंका रूप-विस्तार यूनानी रंगशालामें नहीं मिलता। फिर हमारे यहाँ अष्टरसाश्रय नाटक होते थे, यूनानमें केवल करुण, भयानक और हास्य इन्हींका ही प्रयोग होता था।

इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ विभिन्न प्रकारके पात्रोंके लिये विभिन्न प्रकारकी भाषाका भी विधान था जिसका यूनानी नाटकोंमें सर्वथा अभाव है। फिर मुँहपर अनेक प्रकारके वर्णादि प्रयोग करनेका विधान भी यूनानियोंको ज्ञात नहीं था और उनके नृत्य गीतका भी वह रूप नहीं था जिसका भारतीय नाट्यशास्त्रियोंने विधान किया है। पूर्वरंग, नान्दी तथा प्रस्तावनाका जो स्वरूप हमारे नाटकोंमें पाया जाता है उसका भी प्रयोग यूनानी नाटकोंमें नहीं होता था। हाँ 'प्रोलोग'के रूपमें प्रस्तावनाका जो विधान वहाँ मिलता है वह नाटकीय वस्तुकी भूमिका मात्र है।

नाट्यशास्त्रके पाँचवें अध्यायमें पूर्वरंगका वर्णन करते हुए भरतने कहा है—

> एतानि तु बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः ।
> प्रयोक्तृभिः प्रयोक्तव्यानि तन्त्रीभाण्डकृतानि तु ॥
> ततः सर्वैः तु कुतपैः संयुक्तानि तु कारयेत् ।
> विघाट्य वै यवनिकां नृत्तपाठ्यकृतानि च ॥

[illegible] नान्दी तथा [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible]

[illegible]

सामनेवाले घेरेमें होता था जिसे 'ऑरकेस्ट्रा' कहते थे किन्तु हमारे यहाँ प्रदर्शनसे सम्बन्ध रखनेवाला सब व्यापार रंगमंचपर ही होता था चाहे वह नाट्य हो या अभिनय हो। दूसरी बात यह है कि यह यवनिका बीचमेंसे फटी रहती थी जिससे उसके दोनों पल्ले ऊपर उठाए जा सकें। 'विघाट्य वै यवनिकां' में जिस विघटन या विलगानेका सङ्केत है उसका अर्थ ही है अलग-अलग करना।

इस प्रकारकी यूनान या रोमकी नाट्यशालाओंमें कहीं भी यवनिकाके प्रयोगका प्रमाण नहीं मिलता है। वहाँ तो मंचके पीछेकी चित्रित दीवारके दोनों ओर पात्रोंके आने जानेके द्वार बने होते थे। अतः यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि भारतने अपनी नाट्यकला यूनानसे सीखी है या यूनानका अनुकरण किया है।

यूनानी नाटककी उत्पत्ति

धर्मोत्सवाद्यवननाट्योत्पत्तिः ॥२८॥

[यूनानी नाटक निकले हैं धर्मोत्सवसे प्रायः।]

यद्यपि भारतीय नाटककी उत्पत्तिके समान ही यूनानी नाट्यकी उत्पत्तिपर भी बहुत शास्त्रार्थ हुआ है किन्तु वह सब एक प्रकारका निरर्थक शब्दाडम्बर और कल्पना मात्र है। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें यूनानी नाटकोंकी उत्पत्तिके विषयमें कुछ उसका विवरण देते हुए कहा है कि त्रासद और प्रहसन दोनों पहले पहल अभिव्यक्ति मात्र थे। पहला तो स्तोत्र-रचनाओंके साथ उत्पन्न हुआ और दूसरा उन फूहड़ गीतोंके साथ प्रादुर्भूत हुआ जो अब तक बहुतसे नगरोंमें गाए जाते हैं। अरस्तूने जिन स्तोत्रोंका सम्बन्ध त्रासदीसे बतलाया है वे यूनानके 'दिअनुसस् या बाकस' देवताकी उपासनामें गाए जाते थे। अत्तिकामें दिअनुसीय उत्सवोंमें सुराके देवता बाकसके उपासक अपना आधा शरीर बकरेके चमड़ेसे ढककर उग्र स्तोत्र गाया करते थे। ये ही गीत 'त्रेगोदिया' (अजगीत) कहे जाने लगे और इन्हीं गीतोंमें पीछेसे नाटककारोंने अभिनेताओंका समावेश करके जो नाटक लिखे उन्हें त्रेगोदी या त्रासद कहने लगे।

यही बात यूनानी प्रहसनोंके विषयमें भी है। उनमें बहुत पीछेतक यह प्रथा रही है कि उनके अभिनेता लोग इन्द्रिय पुरुष-जननेन्द्रिय लगाकर अभिनय करते थे। यद्यपि

यह बात साधारण शिष्टाचारके विपरीत थी किन्तु उसका सम्बन्ध धार्मिक उत्सवसे होनेके कारण पीछे इस जननेन्द्रिय-को ढकनेकी भी व्यवस्था की गई किन्तु जिन प्रहसनोंके समवेत गीतोंमें पक्षियों या पशुओंका वर्णन होता था उनमें वे ज्योंके त्यों बने रहे। इस प्रथाका समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि प्रारम्भमें एक प्रजननोत्सव हुआ करता था जिसमें कृषिके उत्पादनके लिये लोग मानव-प्रजननके प्रतीक जननेन्द्रियका कृत्रिम रूप बनाकर खेतमें चारों ओर घुमाते थे और तत्संबन्धी फूहड़ गीत गाया करते थे। किन्तु, पीछे उसका फूहड़पन कुछ कुछ दूर कर दिया गया और वह प्रधानतः व्यंग्यात्मक हो गया। यहाँ तक कि मिलिन्द (मीनेंडर) के समय तक जननेन्द्रियका प्रदर्शन पूर्णतः बन्द हो गया था।

इस प्रकार देखनेसे ज्ञात होता है कि यूनानी नाटकोंका प्रारम्भ धार्मिक उत्सवोंसे हुआ और वहाँके सबसे बड़े और श्रेष्ठ नाटक 'दिअनुसस्' के उत्सवके अवसरपर ही होते रहे।

रोमके नाटकोंकी उत्पत्ति

ग्रामनाट्याद्रोमनाट्योत्पत्तिः ॥ २९ ॥

[देशी नाटकसे हुआ रोम नाट्यका जन्म।]

रूमी नाटकोंकी उत्पत्तिकी कथा और भी विचित्र है। यह कहा जाता है कि ३६४ ई० पूर्व रोममें महामारीका बड़ा प्रकोप हुआ और उन लोगोंने इत्रूरिया (राइन नदीके उत्तरमें प्राचीन इतालवी राज्य) के लूदियोंको निमन्त्रण दिया कि वे आकर नृत्य और अभिनयके द्वारा महामारीकी विपत्ति दूर करें। बहुतसे विद्वानोंने इस कथाकी सत्यता अस्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार किया है कि रोमके नाटकोंपर इत्रूरियावालोंका पूर्ण प्रभाव था। रोमका सम्बन्ध इतालवी यूनानियोंसे चौथी शताब्दीके मध्यसे बहुत पहले हो चुका था और यह बहुत सम्भव है कि वहाँकी नाटकीय कृतियाँ 'फैसेनाइन' पर्वोंसे ही प्रादुर्भूत हुई हों। एक बात और भी है कि जैसे बिहारमें बिदेसिया नाटक होता है वैसे ही अतेलाके ओस्कन नामक नगरमें सम्भवतः यूनानी प्रभावसे ही एक ऊटपटाँग सा देशी नाटक प्रचलित था जो पीछे रोममें 'फैबुला अतेलाना' के नामसे एक विशिष्ट रूप लेकर विकसित हुआ। लिवीके कथनानुसार इत्रूरियावालोंके लूदियों तथा बेढंगे विनोदसे भरे हुए फैसेनाइन पर्वोंके मेलसे सतूरा नामका एक नाटकीय रूप विकसित हुआ जिसमें वंशीके साथ बाँचका भी सहयोग था और जिसमें अभिनयकी भी उचित शैलीका प्रयोग था। किन्तु वास्तविक बात यह है कि इस नाटकीय विकासका विस्तृत विवरण अभी अन्धकारमें ही है। यहाँ तक कि इस सतूरा नाटकका अस्तित्व भी अभि संदेहास्पद ही है।

चीनी नाटकोंकी उत्पत्ति

नृत्यगीतसंयोगाच्चीननाट्योत्पत्तिः ॥ ३० ॥

[नृत्यगीत-सयोगसे चीन नाट्यका जन्म।]

किम्वदन्ती तो यह है कि चीनी नाटक ईसासे १८ शताब्दी पूर्व ही प्रयुक्त होते थे। कुछका यह कहना है कि ५८० ई० में वान् ते नामक चीनी सम्राटने नाटकका आविष्कार किया। किन्तु अधिकांश विद्वान् इसका श्रेय ७२० ई० के सम्राट युवेनत्सुंगको देते हैं। त आंग परिवारके (७२०—९०७ ई० तक) सम्राटोंने 'त्साव बेनखि' नामके वीर नाटक लिखवाए थे। इसके पश्चात् सुंग परिवारवालोंने ही 'खिव' नामके नाटक लिखवाए थे। चीनी नाटकों की उत्पत्ति नृत्य और गीतके संयोगसे मानी जाती है। आठवीं शताब्दी ईस्वीमें चीनमें 'फ आंग' परिवारके एक सम्राटने 'नाशपाती-उद्यान' नामकी एक संगीत-परिषद स्थापित की थी जिसमें पीछे नाटककी भी चर्चा होने लगी किन्तु वास्तविक नाट्यकला वहाँ बहुत पीछे फैली। चीनी नाटकोंका निश्चित उद्देश्य यह है कि वे सद्गुणोंका प्रचार करें और उच्च आदर्शोंकी प्रशंसा करें इसीलिये वहाँके प्रायः सभी नाटक रूढ़ि-पोषक हैं।

चीनी नाटकोंकी एक और भी बड़ी विशेषता है कि प्रत्येक नाटकका नायक या मुख्य पात्र जहाँ अपने चरित्रका प्रतिनिधित्व करता है वहाँ वह नाटककारका भी प्रतिनिधित्व करता है।

जापानी नाटक

लोकविनोदहिताभ्याञ्जापाननाट्यारंभः ॥ ३१ ॥

[लोक विनोद और हित के मिस जापानी नाटक आए।]

जापानी नाटकोंका प्रादुर्भाव धार्मिक और समाजिक कारणोंसे हुआ। प्राचीन विषयोंके लेख 'कोजिके' में (७१२ ई०) एक 'कगूरा' नामके दैवी सङ्गीतका वर्णन दिया हुआ है। यह कगूरा सम्भवतः परस्पर देवताओंके बीचमें या उनके सम्मुख गाया जानेवाला गीत रहा होगा। अब भी शिन्तो मूर्तियों के सम्मुख इसके गीतोंके साथ नृत्य होता है या वे

गाए जाते हैं। जापानी नाटक प्रायः निम्न श्रेणीके लोगोंको ही आकृष्ट करते थे। उसमें काव्य-शक्तिका प्रायः अभाव ही था। यों तो जापानी नाटककी कथाएँ, पौराणिक गाथाएँ और मूक क्रियाएँ भले ही जापानी रही हों किन्तु उसका वास्तविक रूप चीनसे ही आया था। कहा जाता है कि छठी शताब्दीके अन्तमें 'हादा कावत्सू' नामके एक चीनीको यह कहा गया था कि देशके विनोद और हितके लिये कुछ विनोदात्मक उत्सव तैयार करो। उसने ३३ नाटक लिखे। इस प्रकार जापानी नाटकका प्रारम्भ हुआ। किन्तु जापानियोंका यह कहना है कि सन् ८०५ ई० में ज्वालामुखीके फटनेसे जो पृथ्वी धँसने लगी उसकी रक्षाके लिये 'संबासो' नामका जो नृत्य प्रचलित किया गया वही जापानी नाटकका मूल है। सन् ११०८ में 'इसोनो .जेनजी' नामकी एक स्त्री ने भी नाटकका एक रूप चलाया जिसके कारण जापानी लोग उसे जापानी नाटककी माँ कहते हैं। उसके प्रदर्शनकी विशेषता यह थी कि वह 'ओके कोमाई' अर्थात् पुरुष वस्त्र धारण करके नृत्य या अभिनय करती थी। किन्तु वास्तवमें सर्व सम्मतिसे जापानी नाटकके प्रयोगका श्रेय 'सरु वाका कौंग तुरो' को दिया जाता है जिन्होंने सन् १६२४ ई० में येदोमें पहली रङ्गशाला स्थापित की थी।

अन्ये भारतभाविताः ॥ ३२ ॥

[अन्य भारतसे प्रभावित।]

मलाया जावा और सुमात्रामें जो नाटक या नाटकीय [illegible] मिलते हैं उन सबका आधार भारतीय कथा-साहित्य है। [illegible] लिये जो काव्य रूप उपस्थित किए [illegible] है। एक तो है 'पन्टुन' जो उपमाओंसे [illegible] होती है और दूसरा होता है [illegible] और गीत भी। कहते हैं कि [illegible] उन नाटकोंकी उत्पत्ति हुई है जिनमें [illegible] वर्णन मिलता है।

[illegible] नाट्याभावः ॥ ३३ ॥

[[illegible]]

[illegible] और [illegible] [illegible] नहीं मिलता किन्तु [illegible] — एक तो धार्मिक [illegible]। [illegible] [illegible] कुछ

गीत और सम्वाद कहे और गाए जाते हैं जिनको ताज़िया कहते हैं। ये नाटकीय रूप भी धनी मुसलमोनों या राजदरबारोंमें प्रस्तुत किए जाते हैं और प्रायः इस्फहानी लोग ही लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये या दैवी वरदान प्राप्त करनेके लिये मसजिदके आँगनों और राजभवनों या सरायोंमें इन्हें खेलते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ तक ये ताज़िये (रुदन गीत) शहीदोंके सम्मानमें केवल गीत या मर्सिएके रूपमें ही थे। किन्तु पीछे हसन और हुसेनके रहस्यमय नाटकके रूपमें वे नाटकीय दृश्यों या दृश्यावलीके रूपमें उपास्थित होने लग गए। इस नाटकके प्रारम्भमें एक रौजे खाँ न मके अर्द्ध-मौलवी जैसे एक सज्जन आते हैं जो अपनेको मुहम्मद साहबका वंशज बतलाते हैं और नाटककी प्रस्तावना कहते हुए गद्य और पद्यमें अत्यन्त भावुक और कारुणिक रूपसे वीरोंके गुणगान करते हुए जनताको उत्तेजित करते हैं और कथाका विषय बतलाते हैं। दूसरे प्रकारका फ़ारसी नाटक तमाशा कहलाता है जो प्रहसन या भँड़ैतीके प्रकारका होता है और जिसे तग़लीद (छद्मवेश) कहते हैं और जिसे खानाबदोश (भ्रमणशील) नट अभिनय करते फिरते हैं। फ़ारसका एक बड़ा प्रसिद्ध नाटकीय प्रदर्शन क़ख़ुग़ुएज़ या पुतली नृत्य भी है जिसका नायक 'केछिल' पहलवान जंगवीर कहलाता है। वर्तमान फ़ारसी नाटकपर पश्चिमी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है जैसे फ़ारसके प्रसिद्ध प्रहसन 'कचहरीके वकील' में। नाटकीय तत्त्व हिब्रू के दो धर्म ग्रन्थों— रथकी पोथी और जौबकी पोथीमें दिखाई पड़ जाता है जिसका जर्मन कवि गेटेने अपने फ़ाउस्टमें प्रयोग किया है।

मिस्रकी सभ्यता सबसे पुरानी मानी जाती है। दार्शनिक तत्त्वों, धार्मिक रूढियों तथा अन्य संस्कारोंका जैसा प्रभुत्व मिस्रमें था वैसा भारतको छोड़कर और कहीं प्राप्त नहीं होता फिर भी नाटककी भावना मिस्रमें सर्वथा लुप्त रही है। वहाँपर जितना कुछ रहस्यात्मक विचार हुआ है उन सबका आधार मिस्रके प्रधान देवता ओसिरिस हैं जिन्हें हेरोदतस ने यूनानी देवता दिअनुससका ही दूसरा रूप बताया है। मिस्रकी देहाती जनता भी इसी देवताके सम्मानमें यात्राएँ निकाला करती थी और इन यात्राओंमें कुछ तो ऐसी थीं जिनमें स्त्रियाँ पुरुषोंकी जननेन्द्रियके कृत्रिम रूप बनाकर हाथमें ले लेकर खेतोंमें घूमा करती थीं।

अमेरिकाके आदिम निवासियोंमें पौलीनिशिया तथा अन्य जातियोंके नृत्योंमें नाटकके कुछ छिटफुट तत्त्व मिल जाते हैं। सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध अन्वेषक कैप्टन कुकने बताया था कि दक्षिण समुद्रके द्वीपोंमें कुछ उत्सव और प्रदर्शन होते हैं जिनमें नृत्य-गीतके साथ संवादका भी समावेश होता है।

पीरूवियावालोंका जो 'इन्का' नाटक नामका एक अकेला अवशेष मिलता है वह है 'अपूआलेन्ते' जिसे पीरूकी विजयके पश्चात् स्पेनी पादरियोंने वहाँकी 'क्विचुआ' भाषामें लिखा था और जिसका अनुवाद अभी स्पिल्सबरीने अंग्रेजीमें किया है। इसीके साथ उस भयंकर अज़तेक नाटकीय नृत्यकी भी तुलना की जा सकती है जिसका नाम है 'रविनाल-अची' जिसमें संग्रामकी भयंकरताका वर्णन अधिक है, नाटकीय चरित्र-चित्रणकी भावना कम। फ्रांस, जर्मनी, इँगलैंड, स्पेन, रूस आदि योरोपके अन्य देशोंके नाटक बहुत इधरके हैं और उन सबका मूल यूनान और रोम ही है अतः उनपर विचार करना अनावश्यक है।

लोकचिन्तानाशार्थं संगीतकथाभिनयसंयोगान्नाट्योत्पत्तिः ॥ ३४ ॥

[संगीत-कथा-अभिनय मिलकर जग-चिन्ता हरने नाट्य हुआ।]

विभिन्न देशोंमें नाट्यकी उत्पत्ति जिन परिस्थितियोंमें हुई है उनकी मीमांसा कर चुकनेपर सिद्ध होता है कि विभिन्न देशवासियोंने अपने देशके रक्षक इष्टदेवों या महापुरुषोंके आदरार्थ होनेवाले उत्सवोंके अवसरोंपर नाट्य-प्रयोगका विधान किया है और उस नाट्यप्रयोगमें एकत्रित जनसमूहको प्रसन्न करनेके लिये नृत्य गीत आदिका भी प्रयोग किया गया है। कहीं-कहींपर जनताको उपदेश देनेके लिये नाट्यका आधार लिया गया है जैसे चीनमें या पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दीमें योरपमें नैतिक नाटकों या आश्चर्यजनक नाटकों द्वारा किया जाता था। किन्तु, मूल बात यह है कि जो उत्सव किए जाते थे वे चाहे धार्मिक उत्सव हों या सामाजिक मेले हों या समाजके रूपमें मनाए जाते हों किन्तु उनका उद्देश्य यही था कि उसके द्वारा जनसमूहका मनोरंजन हो।

मनोरंजन केवल उसी वस्तुके द्वारा हो सकता है जिसके प्रति लोगोंका स्वाभाविक आकर्षण हो और वह आकर्षण इस प्रकार उपस्थित किया जाय कि उपस्थित जनसमूह उसको देखकर अपनी चित्तवृत्ति एकाग्र करके तन्मय हो जाय और उतने समय तक उसमें पूर्ण रूपसे लीन रहे। यह तभी सम्भव है जब विनोदकी सामग्री विभिन्न रुचिके लोगोंको समान रूपसे अनुरंजन करनेवाली हो। धार्मिक कथाओंमें कुछ कम आकर्षण नहीं होता, किन्तु वह आकर्षण केवल सत्त्ववृत्ति प्रधान लोगोंके लिये होता है। इसी प्रकार यदि केवल गीत होता रहे तो वह गीतप्रिय अर्थात् रजोगुणी जनताको ही प्रिय लग सकता है। इसी प्रकार मारपीट, शस्त्रपरीक्षा, मल्लयुद्ध, भैंसों या अन्य जीवोंका युद्ध और आखेट आदि रजोवृत्ति और तमोवृत्तिवालोंके लिये ही अधिक प्रिय हो सकते हैं। इसलिये धार्मिक उत्सवोंपर अधिकसे अधिक लोगोंको समान रूपसे अनुरंजन करनेवाला साधन मानव-समाजने स्वयं लोकवृत्तिका परीक्षण करके ढूँढ निकाला और वह था नाटक—जिसमें सब वृत्तियोंके, सब अवस्थाओंके, सब व्यवसायोंके और सब प्रवृत्तियोंके लोगोंका समान रूपसे मनोरंजन हो सके और मनोरंजनके साथ-साथ सबको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार शिक्षा मिल सके तथा विभिन्न प्रकारके लोगोंको सुपन्थपर जाने, कुपन्थसे हटने और विभिन्न परिस्थितियोंमें विशेष प्रकारका आचरण करनेका ज्ञान मिल सके। इसीलिये महाकवि कालिदासने लिखा है—

'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[विभिन्न प्रकारकी रुचि रखनेवाले लोगोंको समान रूपसे प्रसन्न करनेका साधन नाट्य ही है।]

अब प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य मनोविनोद चाहता क्यों है और यदि चाहता है तो कौनसे ऐसे सार्वभौम मनोविनोदके तत्त्व हैं जो देशकालाद्यनवच्छिन्न होकर मानव-रुचिका समाराधन करनेके लिये प्रस्तुत किए जा सकते हैं। मनोविनोदका अर्थ यह है कि उसकी ओर मनको विशेष प्रकारसे प्रवृत्त किया जा सके। हम लोग दिनभर अपना-अपना व्यवसाय करते हैं। पूर्ण मनोयोगके साथ उसमें सफलता प्राप्त करनेका कार्य करते रहनेसे मन ऊब जाता है और इस एकरसतासे मनुष्यको विरक्ति होने लगती है। जी यह चाहता है कि किसी प्रकार उस परिधिसे बाहर निकलें। राजा लोग राज्य-व्यवस्थाकी थकावट मिटानेके लिये मृगया करते हैं या नृत्यगीतका आनन्द लेते हैं। साधारण

समाज भी अपने दैनिक जीविकोपार्जनके व्यवसायसे हटकर मन बहलानेके लिये कहीं वनमें, उपवनमें या नदी-तटपर अथवा मन्दिरमें घूम आनेका उपक्रम करता है किन्तु बार-बार वही मूरत, वही संगीत, वही गवैये, वही वन-उपवन और वही नदीतट देखते-देखते मनुष्यकी उसमें रुचि नहीं रह जाती। वह नवीन वस्तु खोजता है वह कहाँसे प्राप्त हो ? दूसरी बात यह है, कि मनोविनोदको आकर्षक बनानेके लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें अद्भुतका समावेश हो। यह अद्भुत जितना ही अधिक अलौकिक और विलक्षण होगा उतना ही अधिक मनोविनोद और तन्मयता उत्पन्न कर सकेगा और उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी होगा।

यदि सामूहिक लोकका मनोविश्लेषण किया जाय तो उसकी वृत्तियाँ मोटे रूपसे दो प्रकारकी होंगी—एक लोक-मंगलात्मक और दूसरी लोकविनाशात्मक। लोकमंगली वृत्ति-वाले लोग सबका कल्याण चाहते हैं और सबके साथ अपना कल्याण चाहते हैं और आनन्द लेना चाहते हैं। इन दोनों भेदोंको अधिक स्पष्ट करनेके लिये हम कह सकते हैं कि संसारमें कुछ लोग स्वार्थी होते हैं, कुछ परमार्थी होते हैं। स्वार्थी लोग अपने सुख और हितके लिये दूसरेको कष्ट देने या दूसरेका अहित करनेमें संकोच नहीं करते। किन्तु जो परमार्थी होते हैं, वे स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरोंको सुख देते हैं या दूसरोंका हित करते हैं। इन्हीं वृत्तियोंके अनुसार इनके मनोविनोद भी भिन्न होते हैं। लोकमंगली [illegible] मनोविनोद [illegible] गीत-प्रदर्शन, [illegible] होता है और लोकविना-शात्मक [illegible] मनोविनोद [illegible] पतन [illegible] पदनेपर [illegible] इन्हीं [illegible] लिये हुआ और [illegible]

[illegible]

ऐसे सार्वभौम तत्त्व हैं जिनसे सामूहिक रूपसे लोगोंका मनोरंजन होता है और उसका भी कारण यही है कि उसमें सर्वसामान्यता नहीं होती, कुछ अलौकिकता या अद्भुत तत्त्व अवश्य होता है। वे तत्त्व हैं—गीत, वाद्य, नृत्य, अनुकरणात्मक अभिनय तथा वेशभूषा। संगीतके विषयमें कहा गया है—

'संगीतं कं न मोहयेत्।

[संगीत किसको मोहित नहीं करता।]

सुन्दर स्वरोंमें बँधा हुआ तन्त्रीका नाद जब रंजक राग बनकर प्रादुर्भूत होता है उस समय पशु पक्षीतक भी उसपर मोहित हो जाते हैं। भागवतमें तो यहाँतक कहा गया है कि जब भगवान श्रीकृष्ण मुरली बजाते थे तो यमुनाका जल भी एक बार रुक जाता था।

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिंगनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेः गृह्णन्ति पादयुगलं कमलो-पहाराः।१०, पूर्वार्द्ध २२।१५।

[भगवान श्रीकृष्णकी वंशीका स्वर सुनकर अचेतन नदियाँ भी भँवरके रूपमें अपना कामोच्छ्वास प्रकट कर रही हैं। इसलिये उनका वेग रुक गया है और वे आलिंगनके लिये उठी हुई तरंगरूपी भुजाओंमें कमलके उपहार लेकर भगवान्‌के चरण छू रही हैं।]

इसमें चाहे केवल काव्य-कल्पनाका ही प्रयोग क्यों न हो किन्तु यह देखा जाता है कि हरिण, सर्प आदि जीव संगीत सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। प्रयागमें नैनीकी पशु-शालामें यह प्रयोग किया गया था कि गायोंका दूध दूहते समय गीतयन्त्र बजाया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि गायोंने मंत्रमुग्ध होकर दुहाना प्रारम्भ किया और उनके दूधमें भी वृद्धि हुई। वनस्पति—विज्ञानके आचार्य सर जगदीशचन्द्र वसुने अपनी प्रयोगशालामें ऐसे यंत्र बनाए हैं जिनसे यह भली भाँति परीक्षा की जा सकती है कि संगीत सुनकर वृक्ष भी प्रसन्न होते हैं। संगीतकी पुस्तकोंमें यह कहा गया है कि संगीतके द्वारा अनेक रोग अच्छे किए जा सकते हैं। यहाँके एक सज्जनने संगीत-चिकित्सा नामका एक ग्रंथ भी लिखा है और स्वयं उसके अनुसार चिकित्सा भी करते हैं। संगीतके विषयमें [illegible] गया है।

[illegible]

[गीत, वाद्य और नृत्य इन तीनोंके समन्वयको संगीत कहते हैं ।]

अतः संगीत एक ऐसा तत्त्व है जो सबको समान रूपसे मुग्ध करता है और इसके अंतर्गत गीत और नृत्य दोनोंका समावेश होता है । किन्तु गीतके लिये यह आवश्यक है कि गायक सुकंठ हो तभी उसका गीत मुग्धकर हो सकता है ।

अब रही अनुकरणात्मक अभिनय तथा वेशभूषाकी बात । हमारी संपूर्ण शिक्षा और हमारे सम्पूर्ण संस्कारोंका आधार ही अनुकरण है और इस अनुकरणमें दो प्रकारके अनुकरण स्पष्ट रूपसे देखे जाते हैं । जब कोई किसी महापुरुषके आचरणके अनुसार अनुकरण करता है तब हम उसके आचरणसे प्रभावित होकर उसकी श्रेष्ठताका सम्मान करते हैं और उसके महत्त्वसे हमारे मनमें एक विशिष्ट श्रद्धा और आदरका भाव उत्पन्न होता है । इसी प्रकार कभी-कभी लोग किसी अंगविहीन या विकलाङ्ग मनुष्यका अनुकरण करते हैं उससे हास्य उत्पन्न होता है । यह अनुकरण हाव, भाव, वाणी, गति तथा वेशभूषा सभी प्रकारसे हो सकता है और यही कारण है कि जब कभी ऐसे प्रदर्शन होते हैं तब-तब असंख्य जनसमुदाय उसे देखनेको उत्सुक रहता है ।

तीसरा एक और तत्त्व है, वह है कथा । बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक सभी कथा सुनना चाहते हैं । यहाँ-तक कि बहुतसे राजा लोग अपनी राजसभामें कहानी कहनेवालोंको सेवक रखते थे जो कथा कह-कहकर उनका मनोविनोद करते थे । इन कहानियोंकी भी यह विशेषता होती थी कि उनमें अद्भुत या अलौकिक पराक्रम और घटनाओंका सन्निवेश होता था ।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक व्यवसायसे और घर-बाहरकी चिन्ताओंसे मुक्ति पाकर कुछ समयके लिये इस प्रकारका वायुमण्डल चाहता है जिसमें वह इतना तन्मय हो जाय कि उसे अपने व्यवसायकी और घर-बाहरकी तनिक भी चिन्ता न रह जाय । इस उद्योगमें सफलता प्राप्त करनेके लिये उसने संगीत, अभिनय और कथा इन तीन सार्वजनिक मनोविनोदोंकी सृष्टि की और किसी समय किसी आचार्यने इन तीनों तत्त्वोंको एकमें मिलाकर नाट्यकी सृष्टि कर दी ।

यदि हम इस सृष्टिके क्रमका निरूपण करें तो यह जान पड़ेगा कि मनुष्यने अपनी आदि अवस्थामें जो विनोदका साधन निकाला होगा वह केवल सात्त्विक अनुकरण होगा अर्थात् किसीकी हँसीका अनुकरण करना, किसीके रोनेका नाट्य करना आदि । इसके पश्चात् आंगिक अनुकरण आया होगा अर्थात् दूसरोंको देखकर उनके अनुसार उठना-बैठना, चलना-फिरना, आँख-भौं मटकाना, सिर हिलाना आदि । फिर वाणीका अनुकरण हुआ होगा और इसके पश्चात् या इनके साथ-साथ ही वेशका अनुकरण भी चल पड़ा होगा । यह अनुकरण अभीतक हम लोग इसी प्रकार करते चले आए हैं । हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनमें भी यही क्रम चलता है । अंग्रेजोंके आनेके साथ हमने इसी क्रमसे अंग्रेजीपन सीखा और उनके हँसने-बोलने, चलने-फिरने, बातचीत करने, खाने-पीने और पहनने-ओढ़नेके ढंगको पूर्णतः अपना लिया क्योंकि वह सब हमारे लिये नया था, अद्भुत था और अपरिचित था ।

धीरे-धीरे इन्हीं आंगिक अनुकरणोंको नियमित रूपसे दुहरानेसे नृत्तकी उत्पत्ति हुई और हमारी तालमें बँधी हुई गति और चेष्टाओंने नृत्तका रूप धारण कर लिया । दूसरोंकी भावभंगीके अनुसार अनुकरण करनेसे अर्थात् आँख-मुँह चलाने आदिसे नृत्यकी सृष्टि हुई । इसके पश्चात् अनेक प्रकारके जीवोंकी ध्वनि सुनकर और उनकी ध्वनियोंका मेल बैठाकर सप्तस्वरोंकी सृष्टि हुई और फिर उन्हींके मेलसे अनेक प्रकारके राग और रागिनियोंकी उत्पत्ति हुई होगी । संगीतके ग्रंथोंमें कहा गया है—

मयूरचातकच्छागक्रौञ्चकोकिलदर्दुराः ।
गजश्च सप्तषड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी ।

[मोर षड्जमें बोलता है, चातक ऋषभमें, बकरा गंधारमें, क्रौञ्च (सारस) मध्यममें, कोयल पंचममें, मेंढक धैवतमें और हाथी निषादमें ।]

जब इन जीवोंकी ध्वनियोंको आरोहक्रमसे पहचाना गया और उनका अनुकरण अपने कंठसे किया गया तब सप्तस्वरका ग्राम बना और उन्हींके उलट-फेरसे तथा आरोह-अवरोहसे अनेक राग बने होंगे । इसी प्रकार शङ्ख, सींग, घड़ा, ताँत, तार तथा वंशी आदिसे निकली हुई ध्वनिको और भी अधिक व्यवस्थित करके वाद्योंकी

सृष्टि हुई और फिर कण्ठसे निकले हुए स्वरों, वाद्योंसे निकली हुई ध्वनियों और शारीरिक चेष्टाओं-द्वारा की हुई भावभंगियोंको मिलाकर संगीत बन गया। उसीमें कथातत्त्व जोड़कर गीतके साथ वाद्य और नृत्यका प्रयोग हुआ। फिर कथाके पात्रोंके द्वारा अलग-अलग पात्रानुकूल गीत कहलाए गए। फिर उसको अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये उसमें संवाद भी जोड़ दिए गए और उसमें अद्भुतका समावेश करनेके लिये वेष-विन्यासका भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार जो मनोविनोदका साधन उपस्थित किया गया उसीका नाम रूपक या नाटक पड़ा। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, इन साधनोंसे केवल मनोविनोद होता रहा होगा और इस मनोविनोदके द्वारा जहाँ उदात्त वृत्तिके लोगोंको तृप्त करनेके साधन होंगे वहीं निम्न कोटिकी वृत्तिको तुष्ट करनेका भी प्रयास अवश्य हुआ होगा अर्थात् महाकुरुचिपूर्ण, अश्लील और वीभत्स प्रदर्शन भी होते होंगे जैसे अब भी भाँड़ोंकी भड़ैतीमें होते हैं। इसलिये नैतिक शासकोंने पीछे उसमें यह पक्ष भी जोड़ दिया होगा कि नाटकके द्वारा उपदेश भी मिलना चाहिए और विनोद भी।

अतः हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि लोगोंको चिन्तामुक्त करनेके लिये, संगीत, कथा और अभिनयके संयोगसे मनोविनोद और उपदेशके उद्देश्यसे विशेष पर्वों और उत्सवोंपर प्रयोग करनेके लिये नाट्यकी उत्पत्ति हुई।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे नाट्योत्पत्तिप्रकरणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥



परिभाषा

नाटककी परिभाषा

नाट्य किसे कहते हैं ?

त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनमिति नाट्यशास्त्रे
[शास्त्र बताता कुल त्रिलोकके भावोंका अनुकीर्त्तन नाट्य।]

नाट्यशास्त्रमें नाट्यकी परिभाषा और उसके स्वरूपकी व्याख्या कई प्रकारसे की गई है। देवताओंने ब्रह्माजीके पास जाकर यह कहा कि आप हमारे लिये कोई ऐसा खेल निकालिए जो देखा भी जाय और सुना भी जाय। इसलिये आप एक ऐसा पाँचवाँ वेद बना दीजिए जिसका आनन्द सब वर्णवाले ले सकें क्योंकि आपने जो चार वेद बनाए हैं वे शूद्रोंको नहीं सुनाए जा सकते। यह सुनकर ब्रह्माजीने ऋग्वेदसे पाठ्य, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रस लिए और वेदों तथा उपवेदोंसे मिलता-जुलता ऐसा नाट्यवेद बनाया जिसके साथ इतिहास भी जुड़ा हुआ था—

नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥ नाट्यशास्त्र १,१५॥

[यह नाट्य नामका वेद ऐसा बनाता हूँ कि इतिहास भी इसके साथ मिला रहेगा।] इससे पूर्व इतिहास और वेद अलग-अलग थे। इतिहासकी परिभाषा यह बताई गई है—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितं ।
> पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥

[धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके उपदेशोंसे युक्त भूत-कालकी घटनाओंके वर्णनकी कथाओंके संग्रहको इतिहास कहते हैं।] अतः वेदने अपने अपौरुषेयत्वके कारण जो

सम्मान प्राप्त किया था वह पौरुषेय इतिहासको न मिल सका। किन्तु स्वयं ब्रह्माजीने चारों वेदोंके तत्त्वके साथ इतिहासको मिलाकर पाँचवें नाट्यवेदकी सृष्टि की। वेदोंके साथ इतिहासके इस ग्रन्थिबंधनकी गाथा साहित्यके इतिहासकी बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि इस संयोगसे काव्यमें एक नये युगकी सृष्टि हुई जिसने काव्यको दृश्यत्व प्रदान करके उसे सजीव भी कर दिया और नाट्यमें कथातत्त्वकी महत्ता भी प्रतिष्ठित कर दी। नाट्यवेदकी सृष्टि करके ब्रह्माजीने भरत मुनिसे कहा कि आप इसका प्रयोग कीजिए। भरतने महेन्द्र-विजयोत्सवके अवसरपर पहले पहल 'दैत्य-दानव-नाशनम्' नामका नाटक खेला। उसे देखनेके लिये जो दैत्य और दानव आए थे उन्हें यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने कुछ ऐसी माया रची कि नटोंकी बोली बन्द हो गई, उनके हाथ-पैर रुक गए, वे पाठ भूल गए और नाचनेके लिये उनके पैर ही न उठे। इन्द्रको जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इन सब दैत्योंको पीट-पीटकर उनके पलंजर ढीले कर दिए और नाट्यशालाके निर्माण और उसकी रक्षाकी पूरी व्यवस्था कर दी। तब देवताओंने ब्रह्माजीसे कहा कि पहले आप शान्तिसे इन दैत्योंको समझा दें। फिर भी ये न मानें तो दाम, भेद और दण्डकी नीति काममें लाई जाय। उस समय दैत्योंको समझाते हुए ब्रह्माजीने नाट्यकी और नाट्यके उद्देश्यकी विस्तृत व्याख्या की है। नाट्यकी परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा—

भवतां दैवतानां च शुभाशुभविकल्पकः ॥ १।१०२ ॥
कार्यभावान्वयापेक्षो नाट्यवेदो मया कृतः।
नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चात्र भावनम् ॥ १।१०३ ॥
त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् ॥ १,१०४ ॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ १,१०८ ॥
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम् ॥ १,१०९ ॥
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ॥१,११३॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च ॥१,११४॥
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥१,११५॥
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्ये ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥१,११६॥
देवतानामृषीणां च राज्ञामथ कुटुम्बिनाम्। —
कृतानुकरणं लोके नाट्यमित्यभिधीयते ॥१,११८॥

[इस नाट्यवेदमें दैत्य तथा देवता दोनोंके भले-बुरे कार्यों, भावों और चेष्टाओंका समावेश है, अकेले तुम दैत्योंका या अकेले देवताओंका ही नहीं। यह नाट्य तो पूरे तीनों लोकोंके भावोंका अनुकरण है। यह मैंने ऐसा बनाया है कि इसके द्वारा अनेक प्रकारके भाव तथा अनेक प्रकारकी अवस्थावाले संसारकी दशाका अनुकरण किया जा सकेगा। इसके द्वारा उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्रकारके लोगोंका चरित्र दिखाया जा सकेगा। सातों द्वीपोंके निवासियों, देवताओं, ऋषियों, राजाओं और कुटुम्बियोंके किए हुए कार्योंका अनुकरण जिसके द्वारा होगा वही नाट्य कहलायगा।]

इसके अतिरिक्त वहीं नाट्यशास्त्रमें नाट्यकी व्याख्या करते हुए यह भी कहा गया है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।'

[किसी भी अवस्थाके अनुकरणको नाट्य कहते हैं।] इसका यह अर्थ हुआ कि इस अगणित लोकमय विश्वके किसी भाग या अंगकी जो अवस्था कभी रही हो या हो अर्थात् इस विश्वमें जो घटनाएँ पहले हो चुकी हों या हो रही हों उन्हें ज्योंका त्यों करके दिखाना ही नाट्य कहलाता है। इसके अंतर्गत पाँच बातोंका समावेश होता है, १—जिस स्थानपर या जिस कालमें घटना हुई हो वह स्थान या काल प्रदर्शित करना, २—उस स्थान या कालमें होनेवाली घटनाओंमें भाग लेनेवाले व्यक्तियों या जीवोंके अनुरूप वेश धारण करना, ३—उनके अनुरूप बोलना, ४—उनके समान आंगिक चेष्टाएँ करना, और ५—उनके अनुसार मानसिक भाव प्रकट करना। भारतीय नाट्यशास्त्रमें स्थानके प्रदर्शनका विवरण नहीं मिलता है अतः स्थानानुकरणके अतिरिक्त शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दोंमें अन्य चारों बातोंके अनुकरणको अलग-अलग आहार्य, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय कहा गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि नाटकमें प्रधानतः दो कार्य होते हैं, एक तो पिछली घटनाके अनुरूप लोग रूप धारण करते हैं और दूसरे उन रूपोंके अनुसार चेष्टा या अभिनय करते हैं। इसीलिये साहित्य-दर्पणकारने काव्यके दृश्य और श्रव्य दो भेद बताते हुए दृश्यका यही लक्षण बताया है—

दृश्यं तत्राभिनेयं, तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥

[दृश्य काव्य अभिनयके लिये लिखा जाता है और उसमें नट लोग राम आदिका स्वरूप धारण करते हैं और

उन्हें नाटकके समय राम आदि माना जाता है इसलिये उस रचनाको रूपक भी कहते हैं ।]

आगे चलकर साहित्यदर्पणकारने अवस्थाओंके अनुकरणके अभिनयको चार प्रकारका बताया है—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः ।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥

[किसी भी अवस्थाका अभिनय चार प्रकारसे किया जाता है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इन्हीं के समन्वयसे नाट्य या दृश्य-काव्यकी सार्थकता होती है ।]

इन सब व्याख्याओंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भरतके अनुसार तीनों कालोंमें जो व्यक्ति, घटना, वस्तु, विद्या, कला थी या है या होती सुनी गई है या होती कही गई है उन्हींका अनुकरण नाट्यके अन्तर्गत आता है ।

अभिनयदर्पणमें भी नाट्यकी व्याख्या है—

नाट्यं तन्नाटकञ्चैव पूज्यं पूर्वकथायुतम् ॥

[जिस नाट्य या नाटकमें कोई पुरानी कथा होती है वही पूज्य होता है ।] 'सेतिहास' शब्द भी यही सिद्ध करता है कि इसमें भूत कालका वर्णन होता है ।

आक्षेप

कल्पितकथात्यागात्क्षेपः ॥

[कल्पित कथा उपेक्षित होती यह इसपर आक्षेप ।]

तो क्या इसका तात्पर्य यह है कि भूत, वर्तमान या भविष्यकी किसी कल्पित घटनाके अधारपर नाट्य नहीं हो सकता ? पर यह भरतका उद्देश्य नहीं । क्योंकि स्वयं भरतने ही रूपकों और उपरूपकोंके जो भेद बताए हैं उनमें प्रकरण, भाण, प्रहसन, वीथी, नाटिका, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, काव्य, प्रेंखण, संलापक, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश तथा भाणिकाकी कथा कवि-कल्पित है । तब यह—

'कृतानुकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ।'

[जो किया जा चुका है उसका अनुकरण नाट्य कहलायेगा ।] कहाँ तक ठीक होगा ।

आक्षेपका समाधान

प्रसिद्धकल्पितकृतानुकरणं नाट्यम् ॥

[सत्य और कल्पना जगतकी अनुकृति ही है नाट्य ।]

कृत शब्दका सीधा अर्थ तो है 'जो किया जा चुका है, अर्थात् भूत कालकी घटना । किन्तु कृतियाँ कई प्रकारकी हैं। एक तो यह सम्पूर्ण सृष्टि ही है जो ईश्वरकी कृति है । दूसरे, हमारा समाज, नगर, ग्राम, प्रासाद, घर इत्यादि सब मानवीय कृतियाँ हैं । इससे भी ऊपर एक हमारा मानसिक जगत् है जिसमें हम नित्य न जाने कितने प्रकारकी मानसी सृष्टि करते और नष्ट करते रहते हैं। उस कृतिकी हम लोग उपेक्षा नहीं कर सकते । यह मानस या कल्पना-जगत् दृश्यमान जगत्से भी अधिक प्रभावशाली और व्यापक होता है क्योंकि इस सृष्टिका आधार भी मानस-व्यापार या कल्पना ही है । एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय— [मैं एक हूँ, मैं बहुत रूपोंवाला हो जाऊँ ।] यह ब्रह्मकी कल्पना हुई और नामरूपात्मक सृष्टि बन गई । इसी प्रकार ईसाइयोंकी भी कल्पना है कि ईश्वरने कहा—'प्रकाश हो जाय' और प्रकाश हो गया । मनुष्यकी भी सम्पूर्ण रचनाका आधार कल्पना ही है । पहले हम मनमें कल्पना करते हैं फिर उसके लिये साधन जुटाते हैं और साधन जुटानेपर कार्य पूरा करते हैं। यदि साधन नहीं जुट पाते तो कार्य नहीं हो पाता किन्तु उस कार्यका संकल्प तो हो ही जाता है, उसकी मानसिक रूपरेखा तो बन ही चुकती है, अतः वह भी कृत या किया हुआ ही समझना चाहिए । जब कोई नाटक लिखता है, तब उसके मानव-चक्षुके समक्ष प्रत्येक दृश्य और प्रत्येक पात्र अपना वेश, वाणी और अभिनय लेकर साकार हो जाता है और उसी दृष्टिके सहारे वह नाटक लिख डालता है। नाटक लिखनेके पूर्व नाटकका काव्यबद्ध विषय कल्पना-द्वारा कृत हो चुकता है । इसलिये केवल पूर्वसंभूत वृत्त ही 'कृत' नहीं होते, कल्पनाकृत वृत्त भी कृत ही होते हैं । इसी प्रकार भविष्यकी बात भी जब कवि-कल्पित हो जाती है तो वह भी कृत ही होती है । कभी-कभी तो किसी सिद्ध त्रिकालचक्षु महापुरुषको ऐसी दिव्य दृष्टि मिल जाती है कि वह भविष्यको प्रत्यक्ष रूपसे भूतमें ही देख लेता है जैसे आदिकवि वाल्मीकिने रामायणकी कथा पहलेसे ही देख ली थी । वह भी पूर्वदृष्ट होनेके कारण कृत ही हो जाती है । अतः दिव्य दृष्टिसे देखी हुई और कही हुई भविष्यकी बातें भी कृत ही हो जाती हैं। तो भूत या वर्तमानकी घटनाएँ अथवा भूत, भविष्य, वर्तमानका कोई कविकल्पित वृत्त भी नाट्यका आधार हो सकता है ।

नाट्यशास्त्रमें स्वयं ब्रह्माजीने भी नाट्यकी परिधिको स्पष्ट करते हुए कहा है—

भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।

[भविष्यमें आनेवाले लोकके सब कर्मोंका अनुकरण भी नाट्यमें दिखाया जायगा]

इसका परिणाम यह निकला कि वास्तविक घटनाओंके अतिरिक्त भूत, भविष्य, वर्तमानके सम्बन्धकी कल्पनाके आधारपर रची हुई उन कथाओंका भी नाट्यमें समावेश हो सकता है जो कभी न हुई हों किन्तु जो हो सकती हों या कविके मतसे होनी चाहिएँ। इसका यह अर्थ हुआ कि नाट्यमें चार प्रकारकी अवस्थाओंके अनुकरणकी सम्भावना है। (१) जो हो चुकी हों, (२) जो हो रही हों, (३) जो हो सकती हों और (४) जो होनी चाहिएँ। अर्थात्, नाट्यकी कथा प्रसिद्ध या ऐतिहासिक भी हो सकती है और कल्पित भी।

यह भी प्रश्न है कि जब नाट्य सब अवस्थाओंका अनुकरण है तो उसमें ठीक वही व्यवहार होना चाहिए जैसा अनुकरणीय अवस्थामें हुआ था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बातचीत, वेश-विन्यास और आंगिक चेष्टाएँ ठीक वैसी ही होनी चाहिएँ जैसी अनुकरणीय अवस्थामें हुई थीं। किन्तु जब नाट्यकार रचना करने लगता है उस समय वह केवल कथा जानता है और उस कथाके आधारपर वह दृश्यों तथा पात्रोंकी बातचीतकी कल्पना करता है। उस बातचीतकी कल्पनामें वह इस बातका ध्यान रखता है कि बातचीतसे लोगोंका विनोद हो, कथाका विस्तार और स्पष्टीकरण हो, कथाके रूपके अनुसार पात्रोंका चरित्र स्पष्ट होता चले और पात्रोंकी चेष्टाओं तथा घटनाओंके क्रमसे उद्दिष्ट परिणाम उत्पन्न हो। अतः नाट्यकारको कुछ ऐसे साधन जुटाने पड़ते हैं जिनसे सब प्रकारके लोगोंका विनोद हो, कथाका स्पष्टीकरण हो और जो प्रभाव कवि उत्पन्न करना चाहता है वह प्रभाव भी उत्पन्न हो। लोक-विनोदके लिये, और संगीत तथा कथाका उचित सन्निवेश करनेके लिये वह गद्यपद्यमयी काव्यभाषाका भी प्रयोग करता है।

ब्रह्माजीने नाट्यकी सृष्टि करते समय कहा था— 'हमने ऋग्वेदसे पाठ्य लिया है।' ऋग्वेद तो स्वयं काव्यमय है, अतः पद्यका प्रयोग नाट्यमें प्रारंभसे ही होने लगा था। उन्होंने नाट्यके चार अंग पहलेसे ही स्थिर कर लिए थे कि नाट्यमें पाठ्य, गीत, अभिनय और रस होने ही चाहिए और उसका उद्देश्य होना चाहिए विनोद और हितोपदेश। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यमें गद्य-पद्यमय संवादके आधारपर अभिनय हो और साथमें उचित अवसरोंपर संगीतका भी प्रयोग हो।

जहाँ ब्रह्माजीने यह कहा है कि तीनों लोकोंके भावोंका अनुकरण ही नाट्य है वहाँ उद्देश्य यही है कि नाट्यमें केवल मनुष्योंके भावोंका ही अनुकरण नहीं है जैसा अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें माना है वरन् अन्य जीव-जन्तु भी उसमें आ जाते हैं। हमारे देशके नाटककारोंने इसी आधार पर मृग और कोकिलको भी पाल लिया है। अभिज्ञान-शाकुन्तलके चतुर्थ अंकमें जब शकुन्तला बिदा होने लगती है तो उसका पाला हुआ दीर्घापांग मृग पीछेसे आकर उसका वल्कल पकड़ लेता है और शकुन्तला कहती है—[गतिभङ्गं रूपयित्वा] को णु क्खु एसो णिवसणे मे सज्जइ। [(चलनेमें रुकावटका अभिनय करती हुई) ओः! यह कौन मेरा आँचल पकड़कर खींच रहा है। (पीछे घूमकर वह देखती है।)] इसपर कण्व कहते हैं— वत्से! कुशाके काँटेसे छिदे हुए जिसके मुखको अच्छा करनेके लिये तुम उसपर हिंगोटका तेल लगाया करती थी वही तेरे हाथके दिए हुए मुट्ठी भर साँवँके दानोंसे पला हुआ तेरे पुत्रके समान प्यारा हरिण तेरा मार्ग रोके खड़ा है।

हरिण बोल नहीं सकता अतः उसके मनके भाव दिखानेके लिये कविने उसके मुँहमें शकुन्तलाका आँचलभर पकड़ा दिया।

उसी दृश्यमें जब कण्व वनदेवताओंसे भरे हुए तपोवनके वृक्षोंको सम्बोधित करके उनसे शकुन्तलाको विदा करनेकी आज्ञा देनेके लिये कहते हैं उसी समय कोयलकी कूक सुनाई पड़ती है और कण्व कहते हैं—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥

[शकुन्तलाके वनके साथी वृक्षोंने कोयलके शब्दोंमें उसे जानेकी आज्ञा दे दी है।]

यह सभी जानते हैं कि वृक्ष बोल नहीं सकते किन्तु नाटककारको यह दिखलाना अभीष्ट था कि जिन लता-वृक्षोंको शकुन्तलाने भाई-बहनके समान पाला था उनके हृदयमें भी शकुन्तलाके प्रति आत्मीयता थी। उस आत्मीयताको प्रकट करनेका एक मात्र साधन यही था कि यदि वृक्ष

स्वयं नहीं बोल सकते तो अपने क्रोड़में रहनेवाले पक्षियों-के द्वारा ही अपने भाव व्यक्त कर दें। उनके इस भावको कण्व तत्काल समझ गए क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। उनके विषय-में स्वयं मारीच कश्यपने सप्तम अंकमें कहा था—

तपः प्रभावात् प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः।

[अर्थात् तपके प्रभावसे कण्व ऋषि सब कुछ जानते हैं।] किन्तु डौक्टर वेलवेलकरने अखिल भारतीय विक्रम परिषद् द्वारा प्रकाशित 'कालिदास ग्रन्थावलीके तृतीय खण्ड-में 'निसर्गकन्या शकुन्तला' शीर्षक लेखमें यहाँतक लिखा है कि कण्वके आश्रमके लतावृक्षोंने केवल कोयलके द्वारा ही बिदाकी स्वीकृति नहीं दी वरन् आदिसे लेकर अन्ततक शकुन्तलाकी सुख-वृद्धिमें भी वे साधक रहे। शकुन्तलाकी बिदाईके समय उसके शृंगारके लिये सब सामग्री इन्हीं वृक्षोंने दी थी।

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-
र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः॥

[किसी वृक्षने शुभ्र मांगलिक वस्त्र दिए, किसीने पैरमें लगानेकी महावर दी और वनदेवियोंने तो कोंपलों-से होड़ करनेवाले अपने हाथ कलाईतक उठाकर बहुतसे आभूषण दे डाले हैं।]

जिस समय शकुन्तला बिदा होती है उस समय जहाँ हरिण दूब चरना छोड़ देते हैं वहीं लताएँ पीले पत्तोंके रूपमें आँसू बरसाती हैं।

उग्गलिअदब्भकवला मिआ परिच्चत्तणच्चणा मोरा।
ओसरिअ पण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सू विअ लदाओ॥

वेलंवलकरजीने यह कल्पना की है कि भौंरेको उड़ाकर वनज्योत्स्ना लताने ही शकुन्तला और दुष्यन्तको मिलाने-की परिस्थिति उत्पन्न की थी। वे कहते हैं कि छिपे हुए राजाको वनज्योत्स्नाने देख लिया था और उसीने भौंरेको उकसानेका काम किया।

अपने तर्कको दृढ़ करते हुए वे लिखते हैं—'उस दिन प्रातःकाल शकुन्तलाने न जाने कितने वृक्षों और लताओंको सींचा था तो केवल वनज्योत्स्नाके थाँवलेसे ही भ्रमरको क्यों निकलना चाहिए था।' इन सब बातोंसे यह निश्चय है कि नाट्यशास्त्रके 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्'का ठीक ठीक अर्थ भारतीय नाटककार ही समझे। उनमें भी सबसे प्रमुख थे महाकवि कालिदास।

रत्नावली नाटिकाके रचयिता महाकवि श्रीहर्षने सारिकाको एक पात्र बनाया है और वह कोयलके समान केवल कूककर नहीं रह जाती, वह मनुष्यकी वाणीमें बोलती भी है। सागरिकाने जो-जो बातें राजाके प्रति अकेलेमें कहीं वे केवल सारिकाने सुनी ही नहीं, उन्हें वह सारिका कहती भी जाती थी और उसीके कहनेसे सागरिकाके प्रति राजाको प्रेम उत्पन्न हुआ। भवभूतिने तो 'अपि ग्रावारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' [पत्थर भी रोते हैं और वज्रका हृदय फोड़े दे रहे हैं] कहा है। अतः यह निश्चय है कि नाट्यशास्त्रमें नाटकीय व्यापारके कर्ता केवल मनुष्य ही नहीं हैं, प्रकृतिके अन्य अङ्ग भी हैं।

बहुतसे लोगोंका यह कहना है कि भारतीय नाटकमें केवल उदात्त पुरुषोंका या राजाओंका ही चरित वर्णित होता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और समाजकी स्थिरता-के लिये यह आवश्यक है कि इसके सब कार्य लोकमंगल-कारी हों। लोकमंगल-कारिताके आदर्श प्रत्येक समाजके रूढ़िगत संस्कारों, भावनाओं तथा उस समाजमें उत्पन्न हुए महापुरुषोंके चरितोंपर अवलम्बित होते हैं। 'महाजनो येन गतः स पन्था' तथा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते॥

—वाला सिद्धान्त केवल भारतमें ही नहीं संसारके सब देशोंमें समान रूपसे पाया जाता है। यहाँतक कि जो प्रतिक्रियावादी होते हैं और रूढ़ि तोड़ना चाहते हैं वे भी कोई न कोई आदर्श लेकर चलते हैं और जब उनके भी कुछ अनुयायी हो जाते हैं तो उनका आदर्श भी रूढ़ि-गत हो जाता है। रूढ़ होनेके लिये कई पीढ़ियोंकी परंपरा अपेक्षित नहीं है। यदि किसी एक व्यक्तिके अनुसार दूसरा व्यक्ति आचरण करता है तो वह रूढ़िका ही पालन करता है। अतः आदर्शसे कोई बचकर नहीं रह सकता। और यह बात विशेष रूपसे आजकलके थोड़े पढ़े हुए विदेशी संस्कृतिसे प्रभावित कुछ प्रगतिवादी कहलाने वाले अल्पज्ञ लोग ही करते हैं। किन्तु, भारतीय नाट्यशास्त्रमें ऐसा कहीं कहा ही नहीं गया। उसमें तो अनेक भावोंवाले

तथा अनेक अवस्थाओंमें काम करनेवाले सब प्रकारके लोगोंके कामोंके अनुकरणका विधान है जिसमें उत्तम, मध्यम और अधम तीनों प्रकारके मनुष्योंका, देवताओंका, राजाओंका, ऋषियोंका तथा कुटुम्बियोंका यहाँतक कि राक्षसोंका भी अनुकरण किया जा सकता है। अतः भारतीय नाट्यशास्त्रको केवल उच्चवर्गवादी नहीं समझना चाहिए। हाँ, उनका यह उद्देश्य अवश्य रहा है कि उसमें चरित्र तो सबका वर्णन किया जाय किन्तु उससे सबका विनोद हो और सबको अच्छा उपदेश मिले। वह किसीके जीको दुखाने वाला, कष्ट देनेवाला, अमंगलकारी अथवा लोक-विनाशकारी शिक्षा देनेवाला न हो। इसका यह अर्थ हुआ कि यद्यपि उसमें सभीका अनुकरण हो किन्तु उससे मनोविनोद, उपदेश और विश्रान्ति मिले और यह तभी सम्भव है जब दर्शकोंको उसके प्रदर्शनमें रस मिले, वे देखते-देखते तन्मय हो जायँ और तन्मयता तभी हो सकती है जब अभिनय अत्यन्त स्वाभाविक हो। भवभूतिके उत्तर-रामचरितमें वर्णन आया है कि जब वाल्मीकिने रामके सम्मुख नाटक दिखलाया था तो राम इतने व्याकुल हो गए थे कि लक्ष्मणको उन्हें सावधान करते हुए कहना पड़ा कि 'आर्य! नाटकमिदम्। आर्य! आश्वस्य दृश्यताम्। प्रबन्धस्त्वार्षः" [आर्य! यह नाटक है। सावधान होकर देखिए, यह ऋषिद्वारा कल्पित (नाटक) है]। इस प्रसंगमें राम उस नाटकको सत्य समझ बैठे थे, रस ले रहे थे, तन्मय हो गए थे। किन्तु काव्य-शास्त्रियोंके अनुसार यह अवस्था सहृदयोंकी ही होती है। तो क्या लक्ष्मण सहृदय नहीं थे? अवश्य सहृदय थे, किन्तु नित्य पादाभिवंदनके कारण नूपुर पहचाननेवाले जिस लक्ष्मणने सीताजीका केयूर और कुण्डल तक सिर उठाकर नहीं देखा, सेवक भाव से ही रामको देखा, उन्होंने जब रामको व्याकुल होते देखा तभी सावधान कर दिया। अन्तमें जब सीताजी, वसुन्धरा और भागीरथीके साथ चली गई उस समय लक्ष्मण भी बोल उठे थे—भगवन्वाल्मीके! परित्रायस्व। एप ते काव्यार्थः। [बचाइए बचाइए भगवन् वाल्मीकि! बस बहुत हो चुका नाटक।] इससे बड़ी नाटककी सफलता क्या हो सकती थी कि राम जैसे धीर भी उसमें तन्मय हो जायँ।

अतः नाटकमें इस प्रकार अभिनय होना चाहिए कि दर्शक तन्मय होकर रस लेने लगें। दर्शकोंको तन्मय करने और रसमग्न करनेके लिये यह आवश्यक है कि अनुकरण-कर्ता या अभिनेता अनुकरणकी कलामें प्रवीण हों और उन्हें उचित शिक्षा दी गई हो क्योंकि जबतक उचित शिक्षा न दी जाय तबतक तन्मय कर सकनेकी क्षमता अभिनेताओं या नटोंमें नहीं हो सकती और शिक्षा मिलनेपर भी उनमें पूर्ण आत्मविश्वास तबतक नहीं होता जबतक विद्वान् लोग उसकी प्रशंसा नहीं करते। अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रारम्भमें कहा भी गया है—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

[नाटककी सफलता तबतक पूरी नहीं समझनी चाहिए जबतक विद्वान लोग न संतुष्ट हों। क्योंकि अभिनेताओंको चाहे जितना सिखा-पढ़ाकर पक्का करो फिर भी उनको अपने ऊपर भरोसा नहीं होता।] इसलिये नाटकको पूर्णतः सफल और प्रभावोत्पादक बनानेके लिये यह भी उचित है कि नटोंको किसी कुशल नाट्य-प्रयोक्ताके द्वारा भली प्रकार शिक्षा दिलाई जाय।

नटोंको शिक्षा देनेका आधार वह गद्य-पद्य-गीतमय नाटक है जिसमें नाटककार, संवादके अतिरिक्त स्थान, दृश्य, रंग-संचालन, व्यापार, भावप्रदर्शन तथा अन्य समस्त क्रियाओंका निर्देश करता चलता है। अतः नाटकका आधार वह काव्य है जो नाटककारने अभिनयके उद्देश्य-से लिखा हो।

अतः नाट्य उस काव्य रचनाको कहते हैं जिसमें वास्तविक या कल्पित तीनों लोकोंकी सब प्रकारकी अवस्थाओं का अनुकरण हो सके और यह अनुकरण नटों-द्वारा चारों प्रकारके अभिनयोंके साथ दर्शकोंके सम्मुख रंगपीठपर किया जाय। विनोदजनक बनानेके लिये उसमें संगीतका प्रयोग हो तथा हितोपदेशजनक और विश्रान्तिजनक बनानेके लिये उसका पाठ्य अर्थात् सम्वाद इतना भावपूर्ण हो कि जब अभिनेतागण उसका ठीक-ठीक अभिनय करें तो दर्शक अपनी चिन्ताओं तथा मानसिक व्याधियोंको भूलकर नाटकमें जो कुछ हो रहा हो उसीके साथ एकचित्त या समरस हो जायँ। इसके अनुसार नाटककी परिभाषा यह होगी—

नाट्यकारकृत-प्रसिद्धकल्पित-कथाधार-ग्रथित-रचनानुसारतः रंगपीठे प्रयोक्तृशिक्षित-नटाभिनय संवाद-संगीतादि-जन्यरसद्वारा प्रेक्षकाणां विनोद-विश्रान्त्युपदेशजनकं कार्यं नाटकं रूपकं वा॥

[किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथाके आधारपर नाट्यकार-द्वारा रचित रचनाके अनुसार नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाए हुए नट जब अभिनय तथा संगीतादिके द्वारा रस उत्पन्न करके प्रेक्षकोंका विनोद करते हैं, तथा उन्हें उपदेश और मनः शान्ति प्रदान करते हैं तब उस प्रयोगको नाटक या रूपक कहते हैं ।]

इसमें साध्य है रस, साधन हैं अभिनय, संवाद तथा संगीतादि, निमित्त हैं नट, साधक हैं दर्शक, आधार है कथा और इन सबका संयोग करनेवाले हैं नाट्यकार और नाट्य-प्रयोक्ता । इनमेंसे नाट्यकारतो संविधानक (कथावस्तु), संवाद और गीत रचना करके अभिनय संबंधी रंग-निर्देश करता है और नाट्यप्रयोक्ता उस रचनाके आधारपर रंग-पीठकी व्यवस्था करके नटोंको शिक्षा देकर, उन्हें अभिनय, संवाद और सँगीत सिखाकर दर्शकोंके सम्मुख प्रयोग करता है ।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचना खण्डे परिभाषा प्रकरणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥



सिद्धान्त

आदर्शवाद और यथार्थवाद

यथार्थस्यासाधरणत्वमादर्शः ॥

[है यथार्थका असामान्य ही रूप बना आदर्श ।]

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शकोंका मनोविनोद करना, उन्हें उपदेश देना तथा उनके मनको विश्रांन्ति देना ही नाटक उद्देश्य है । इसलिये नाटकके विभिन्न अंगोंका विवेचन करनेसे पूर्व नाटक–रचनाके सिद्धान्तोंका विवेचन कर लेना अत्यन्त आवश्यक है । बहुतसे आचार्योंका मत है, कि नाटक आदर्शवादी होना चाहिए, अर्थात् उसमें किसी विशिष्ट पुरुषके गुणोंका इस प्रकार अभिव्यञ्जन किया जाना चाहिए कि जीवनकी अनेक विषमताओंमेंको होता हुआ सब परिस्थितियोंमें उसका व्यवहार असाधारण हो, किन्तु इस असाधारणतामें परहित, आत्मत्याग तथा लोक मंगलकी ही भावना निहित होनी चाहिए ।

वास्तवमें जो कुछ यथार्थ हम देखते हैं । उसीमें जब कोई असाधारण घटना हो जाती है और उस असाधारण घटनाका नायक अपने स्वार्थको छोड़कर परहितके लिये कोई अलौकिक कार्य कर बैठता है और मानव-समाज उस कार्यके कारण उस घटनाके नायकको प्रेम आदर श्रद्धा और भक्तिकी भावनासे देखने लगता है तो वह व्यक्ति आदर्श पुरुष हो जाता है, उसके कार्य आदर्श कार्य हो जाते हैं और उस व्यक्ति तथा उसके कार्यके आधारपर जो साहित्यिक रचना की जाती है वह आदर्श काव्य या आदर्शवादी कहलाने लगता है । अतः जिसे हम आदर्श या आदर्शवादी कहते हैं वह भी होता तो यथार्थ ही है किन्तु वह असाधारण, अलौकिक, असामान्य यथार्थ होता है

प्रत्येक रचनामें कवि चार परिस्थतियोंका वर्णन करता है १—क्या हो चुका है, २—क्या हो रहा है, ३—क्या हो सकता है, और ४—क्या होना चाहिए । इनमेंसे प्रथम और द्वितीय वास्तिकमें यथार्थवादी हैं, जो केवल भूत और वर्त्तमान घटनाओं या व्यापारोंका लेखा उपस्थित करती हैं, किन्तु यह भूत और वर्त्तमानका लेखा काव्यका नहीं, इतिहासक विषय है । जो हुआ या हो रहा है वह हमारे पूर्वजोंके समाजका या हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है, उसमें कविको विचार करनेका, निर्णय करनेका या संदेश

देनेका अवकाश ही कहाँ है, और फिर जो वस्तु सबकी प्रत्यक्ष अनुभूत हो उसे लोकके सम्मुख उपस्थित करनेमें कुतूहल ही क्या है। यह साधारण अनुभवकी बात है कि कोई भी व्यक्ति किसी विशिष्ट पुरुष, स्त्री, वस्तु या स्थानको देखकर तभी आकृष्ट होता है जब वह कुतूहल-जनक हो। कुतूहल-जनक होनेके लिये कोई विलक्षणता, अलौकिकता, विशेषता, असामान्यता, असाधारणता होनी चाहिए। अतः जब साधारण लोकव्यवहारमें ही हमारे सम्पूर्ण आकर्षणका केन्द्र असाधारण होता है, तब विभिन्न रुचिके लोगोंका सामूहिक मनोविनोद करनेवाले नाट्यमें उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

मनोविज्ञानके आचार्योंने यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि किसी भी वस्तुमें तन्मयता प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति मनकी एकाग्रता आवश्यक है, मनकी एकाग्रताके लिये उस वस्तुमें रुचि अपेक्षित है, रुचिके लिये उस वस्तुमें कुछ कुतूहल होना चाहिए और कुतूहल केवल उसीमें हो सकता है जो अलौकिक या असाधारण हो। जबतक यह तन्मयता नहीं होगी तबतक उस वस्तुका वास्तविक आनन्द या रस नहीं मिल सकता, अतः रस या आनन्दका मूल असाधारणता ही है। इसी असाधारणताका दूसरा नाम आदर्श है, इस दृष्टिसे आदर्श वीर भी हो सकता है और आदर्श कायर भी हो सकता है, आदर्श विद्वान् भी हो सकता है, आदर्श मूर्ख भी हो सकता है। वीर या विद्वान्के प्रति हमारे हृदयका रति-भाव जागकर स्नेह, आदर, श्रद्धा या भक्ति बनकर प्रकट होता है, और कायर तथा मूर्ख हमारे हास्यके भावको उद्दीप्त करते हैं। रसानुभूतिके लिये दोनोंकी आवश्यकता है, किन्तु दोनों ही आदर्श होने चाहिएँ। जितना ही अधिक आदर्श वीर होगा, उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी आत्मीयता होगी, उतना ही अधिक हम उसके दुःखसुखमें सहानुभूति प्रकट कर सकेंगे, जितना ही आदर्श मूर्ख होगा उतना ही अधिक वह हमारे हास्यको शक्ति प्रदान करेगा। तात्पर्य यह हुआ कि लोकको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये काव्यमें असाधारणकी प्रतिष्ठा करनी ही पड़ेगी।

यथार्थवादकी व्याख्या

याथातथ्यंयथार्थम् ॥

[जैसा हो वैसा कह देना है यथार्थका अर्थ।]

यथार्थवादियोंका एक यह मिथ्या आरोप है कि प्राचीन ग्रन्थकारोंने केवल राजा-रानियों या सामन्तोंके ही गीत गाए हैं, जनसाधारणके प्रति उन्होंने उदासीनता दिखाई है, उनके जीवन और आचरणकी उन्होंने सदा उपेक्षा की है, उनकी व्यथा और पीड़ाको उन्होंने स्पर्श नहीं किया, उनकी रुचि, वृत्ति, प्रवृत्ति और आकांक्षाका उन्होंने आदर नहीं किया। यथार्थवादका जो आन्दोलन फ्रांसमें रूसो, वौल्तेअ और दिदरोने प्रारम्भ किया उसमें मूल प्रवृत्ति यही थी कि जितना कुछ रूढ़ है, परम्परागत है, वह सब थोथा, निरर्थक, हानिकारक और समाजकी उन्नतिमें घातक है, उसका पालन करनेका अर्थ है केवल कुछ थोड़ेसे गिने-चुने लोगोंके हाथमें विशाल जन-समूहका भाग्य सौंपना अतः उसका विरोध होना चाहिए। समानताके आधारपर नई सृष्टि होनी चाहिए, नई शिक्षा होनी चाहिए, नया समाज बनना चाहिए जिसपर केवल एक विशिष्ट स्वार्थी वर्गका प्रभुत्व न हो, जिसमें सभी लोगोंका समान अधिकार और समान प्रतिनिधित्व हो। इन लोगोंने जहाँ समाजको, धनीवर्गको और सत्ताधिकारियोंको चपेटा वहाँ इन्होंने धर्म-गुरुओंकी भी भरपेट भर्त्सना की और अन्धविश्वास तथा रूढ़िके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया। इन्हींके पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दीमें फ्रांसीसी उपन्यासकारोंको तथ्यवादी या निसर्गवादी दल उत्पन्न हुआ जिनमें गौनकोर बन्धु, एमील ज़ोला, गाइदे मोपासाँ, एल्फौंज़े दौदे और जोरी कार्ल हिल्माका नाम उल्लेखनीय है। ये अपनेको प्रसिद्ध निसर्गवादी स्तैन्धौल, बालज़क और फ्लौवेका शिष्य बताते थे। इन सबका कहना है कि हमें अपने काव्योंमें जीवनकी वास्तविकताओंका उसी शुद्धता और सटीकतासे चित्रण करना चाहिए जिस शुद्धता और सटीकतासे रूपकार अपने चित्रक यन्त्रसे रूप खींचता है और कलात्मक चित्रणका पूर्ण बहिष्कार करना चाहिए। इस निसर्गवादकी झोंकमें इन लोगोंने ऐसी विचित्र शैली और पदावलीमें रचना प्रारंभ कर दी कि इनकी समाप्तिके पश्चात् एक लब्ध-प्रतिष्ठ फ्रांसीसी विद्वान्ने केवल इनकी पदावलीका अर्थ समझानेके लिये एक नये कोशका निर्माण किया।

इन लोगोंने यथार्थ, तथ्य और सत्यका पल्ला थामकर जो निसर्गवाद या स्पष्टवाद खड़ा किया वह अधिक दिनोंतक नहीं टिक सका। थोड़े दिनोंमें इन लोगोंकी कृतियोंसे

यही परिणाम निकाल जाने लगा कि जो असुन्दर, अभव्य, विद्रोहात्मक, उच्छृङ्खलतापूर्ण, अरुचिकर और ध्वंसकारी हो वही निसर्गवाद या यथार्थवाद है। इन लोगोंकी प्रारंभिक सत्यवादिता और स्पष्टवादिताने अन्तमें चलकर व्यक्ति तथा समाजका कटु, अशिष्ट तथा अश्लील आलोचन या आरोपका स्वरूप धारण कर लिया।

किसी प्राचीन सूक्तिकारने कहा है—

परनिन्दा परपिशुनं परधनहरणं पराकरणं च।
कृत्यान्यतिनीचानां भूतल-विदितानि तान्यवद्यानि॥

[दूसरेकी निन्दा, दूसरेकी चुगली, दूसरेका अपकार करना, ये चार बुरे काम अत्यन्त नीच लोग करते हैं, सारा संसार इस बातको जानता है।]

संसार इस बातको भले ही जानता हो किन्तु फिर भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जिन्हें दूसरोंकी खिल्ली उड़ानेमें आनंद आता है, पगड़ी उछालनेमें रस मिलता है, गाली देनेमें स्वाद आता है। ऐसे लोग केवल वे ही होते हैं जो स्वय गुणहीन, अध्यवसायहीन, आचारहीन और अकर्मण्य होते हैं। ये लोग दूसरेके उत्कर्षको सहन न कर सकनेके कारण उनके गुणमें अवगुण ढूँढते, सद्वृत्तिमें दुर्वृत्ति खोजते हैं, अपनी असमर्थता और त्रुटियोंको दूसरोंमें देखनेके लिये वे घोर प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे ही दुर्वृत्त लोग जब साहित्यमें प्रवेश करते हैं तो उनकी लेखनीके संयमका बाँध टूट जाता है, उनके मनका कलुष लेखनीकी जीभसे हलाहल बनकर वह निकलता है।

मनुष्य समाजिक प्राणी है। उसके मनमें लोकेषणावृत्ति बड़ी प्रबल होती है। वह चाहता है कि दस लोग मेरी बात सुनें, मेरी प्रशंसा करें, मेरा गुण गावें, मेरा नाम लें। अपनी लोकेषणाकी तृप्ति करनेके लिये वह अपनी प्रतिभा और शारीरिक शक्ति दोनोंको सक्रिय करके लोकहितके लिये झोंक देता है। अपनी योग्यता, समर्थता, अध्यवसाय, सद्व्यवहार, लोकसेवा तथा पाण्डित्यके बलपर वह लोक-सम्मान पाता है और यशस्वी बनता है। जिसमें योग्यता नहीं होती, पण्डित्य नहीं होता, कर्मण्यताका अभाव होता है किन्तु प्रतिभा होती है वह वामाचार प्रारम्भ कर देता है। वह दूसरोंके दोष निकालनेमें, बुराई करनेमें, किए हुएको उलटनेमें, गाली देनेमें अपनी प्रतिभा लगा देते हैं और जब दस कुटिल जन उसकी पीठ ठोंक देते हैं—वाह, तुमने बड़ा अच्छा कहा, बड़ा अच्छा लिखा है, तो उसे प्रोत्साहन मिल जाता है और उसे स्वयं यह विश्वास होने लगता है कि मैं नैतिक साहसका प्रदर्शन कर रहा हूँ, मैं स्पष्टवादी हूँ।

स्पष्टवाद दैवी गुण है। यह सत्यका, ऋतका पर्यायवाची है और इसीलिये यह कभी अमंगलकारक नहीं होता। सत्य या स्पष्टवादितामें स्वयं कष्ट उठाकर दूसरेका कल्याण करनेकी भावना होती है। जो स्पष्टवादिता अमंगलकारी होती है उसमें कहनेवाले या लिखनेवालेकी वृत्ति किसीका सुधार या हित करनेकी नहीं होती, उसकी वृत्ति दूसरेका अपयश या अपमान करनेकी, हानि पहुँचानेकी, और अमंगल करनेकी होती है। कभी कभी इस दुर्वृत्तिका प्रयोग भी किया जाता है कि दूसरेको क्षेत्रसे बाहर करके स्वयं क्षेत्रपति बन बैठा जाय। किन्तु इस दुर्वृत्तिसे जो कुछ कहा या लिखा जाता है उसका शुद्ध अर्थ यही होता है कि स्वयं गुणहीन, सामर्थ्यहीन और कर्महीन होनेके कारण लेखक ईर्ष्यावश निन्दा करनेपर उतारू हो गया है और चाहता है कि मेरी झोंपड़ी जले तो जले पर दूसरेकी मड़ैया अवश्य राख हो जाय। ऐसे लोगोंकी स्पष्टवादिता शुद्ध ढोंग, स्वार्थपूर्ण और मिथ्याभिमानसे ओतप्रोत होती है, उससे न समाजका कल्पाण होता है न व्यक्तिका, उलटे उससे अकल्याण होता है उन निरीह श्रोताओं और पाठकोंका जिनकी विवेचना-शक्ति अपक्व या अर्द्धपक्व होती है, जो किसी भी वक्तव्यको उदारतापूर्वक स्वीकार कर लेनेमें विवेकका प्रयोग नहीं करते।

आजकल लोग जिसे स्पष्टवादिता कहते हैं और जिसका पल्ला थामकर अपनेको नैतिक कहनेका दम्भ करते हैं, वह उद्दण्डता या गुण्डई है। किसी कानेको काना कहना स्पष्ट भले ही हो किन्तु सज्जतता नहीं है। इतना ही नहीं, यह स्पष्ट दुर्जनता और नीचता है। यदि कोई देश-सेवक सन् १९४२ के आन्दोलनमें आपके संरक्षणमें छिपाया गया हो और वृटिश सरकारके पूछनेपर आपने कह दिया हो—हाँ, मैं जानता हूँ पर बताऊँगा नहीं, तो यह स्पष्टवादिता है। इसके लिये हियाव चाहिए, पौरुष चाहिए। आजकल बहुतसे लोग कांग्रेसकी नीतिसे असहमत हैं परन्तु इस भयसे

कुछ नहीं बोलते कि कहीं सरकार पकड़ न ले। यदि इन्हीं-मेंसे कोई लोकहितकी कामनासे सरकारसे भयभीत न होते हुए स्पष्ट रूपसे शीलपूर्ण भाषामें विरोध करे तो उसे स्पष्ट-वादी अवश्य कहा जायगा। किन्तु यदि हम किसी दुर्बलकी दुर्बलता और सज्जनकी सज्जनताका अनुचित लाभ उठाकर उसे अपशब्द कहें, उसे अपमानित करें तो यह शुद्ध नीचता है और इस प्रकारकी नीचता अक्षम्य अपराध है। यह न सत्य है, न तथ्य है न यथार्थ है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो सत्य होगा वह सदा शिव और मंगलकारी होगा, अनिष्टकारी नहीं हो सकता।

हम यह मानते हैं कि योरोपीय साहित्यमें जितना उदात्त काव्य मिलता है और हमारे देशमें भी जितना कुछ सुन्दर और श्रेष्ठ काव्य मिलता है उनमें प्रायः सभी नायक विशाल कुल-संपन्न है, राजा-महाराजा हैं। किन्तु इसके साथ यह भी देखना चाहिए कि वर्णन करनेवालेने, काव्य लिखनेवालेने क्या किसी प्रकारके भयसे, लोभसे, या अन्य किसी स्वार्थसे तो काव्यकी रचना नहीं की है। बहुतसे मित्रोंने कहा है कि बाणने जो हर्षचरित लिखा है वह राजाश्रित होनेके कारण लिखा है। किन्तु उसने तो अपने चचेरे भाईके कहनेसे हर्षचरित लिखा था। यदि यह मान भी लें कि राजाश्रित होनेके कारण उसने हर्षचरित लिखा तो कादम्बरी किस राजश्रयसे लिखी? वास्तवमें कोई भी कवि या लेखक किसीके व्यक्तित्व, कार्य या विचारसे प्रभावित होकर उसका वर्णन करने लगता है। महाकवि कालिदासने इस बातका बड़ा अच्छा उत्तर दिया है। रघुवंशके प्रारम्भमें ग्रन्थ लिखनेका कारण बताते हुए वे कहते हैं—

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥

[वाणीका वैभव थोड़ा होते हुए भी मैं रघुओंका वर्णन कर रहा हूँ क्योंकि उनके गुणोंने मेरे कानोंमें पहुँचकर मुझे यह ढिठाई करनेको उकसाया है।] प्रायः ऐसा होता है कि ऐसे अद्भुत कार्य वे ही लोग कर सकते हैं जिन्हें उचित अवसर प्राप्त हों और अवसर भी उन्हींको प्राप्त हो सकते हैं जिनके पास साधन हों और साधन उन्हींके पास होते हैं जो शक्तिशाली, या सत्ताधारी होते हैं। इसलिये प्रायः सभी देशोंके कवियोंने राजकुलोंसे ही अपने काव्य-विषय लिए हैं।

किन्तु कभी-कभी साधारण धनहीन कुलवाले गुणी लोगोंके चरित्र भी काव्यके विषय बने हैं—मृच्छकटिक और दरिद्र चारुदत्तका चारुदत्त सीधा-सादा, सात्विक, गुणज्ञ ब्राह्मण ही तो है। आजकल भी महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे सात्त्विक महर्षिकल्प महापुरुषका जन्म साधारण वित्तहीन कुलमें ही तो हुआ। उनका चरित भी काव्यका विषय हो सकता है। इसके अतिरिक्त भरतने तो रूपकके विभिन्न भेदोंमें ऐसे अनेक रूपक और उपरूपक बताए हैं, जिनके नायक निम्न या साधारण श्रेणीके हैं। अतः यह कहना नितान्त भ्रामक है कि हमारे पूर्वज काव्य-कारोंने साधारण मानवसमाजकी उपेक्षा की है। इसके अतिरिक्त सबसे महत्त्वकी बात यह है कि काव्योंके नायक भले ही उदात्त पुरुष रहे हों किन्तु काव्यके अन्तर्गत पात्रोंमें कवियोंने साधारण श्रेणीके लोगोंमेंसे श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर पुरुषों और महिलाओंका चरित्र अंकित करनेमें कोई संकोच नहीं किया। रामायणमें निषाद और वानर, कादम्बरीमें पत्रलेखा आदि इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि केवल निम्न श्रेणीके गुण-हीन व्यक्तिकी कल्पित विपत्ति, व्यथा और निर्धनताका चित्रण हमारे यहाँ नहीं किया गया, क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि काव्यका विषय वही बन सकता है जिसके चरितसे लोकविनोद हो, उपदेश मिले, मनको शान्ति मिले। अतः जो यथार्थवाद निरुद्देश्य है, केवल चित्रण-मात्रके लिये किसी उपेक्षित वर्ग या श्रेणीका चित्रण करता है वह तबतक निरर्थक है जबतक वह हमारे भावोंको उद्वे-लित करके हमारी श्रद्धाको नहीं उकसाता और यह तभी हो सकता है जब उसमें कोई गुण हो, कोई विशेषता हो क्योंकि हमारी सहानुभूति उसीकी ओर होती है जो गुणी होते हुए भी कष्टमें पड़ा हो और जब वह गुणी है तो वह हमारे आदर्शवादके भीतर समा गया है। अतः आदर्श-वादका अर्थ यही है कि उसमें लोकमंगलकारी असाधारण यथार्थका चित्रण होता है।

यथार्थवादियोंने यह कहा है कि काव्यमें इस प्रकार शुद्धता और सटीकतासे वर्णन होना चाहिए जैसे रूपकार अपने चित्रकसे रूप खींच लेता है। किन्तु यह रूपक बड़ा

भ्रामक है, क्योंकि चित्रका ठीक उतरना चित्रकारके कौशल और चित्रकके नेत्रकी शक्तिपर अवलंबित है। यदि रूपकार कुशल न हो, या यन्त्रमें दोष हो अथवा जिसका चित्र उतारा जाता हो वही हिल जाय या ठीक कोणसे न समवस्थित हो तो चित्र भी धुँधला, दोषपूर्ण और भद्दा उतर सकता है। यथार्थ चित्रणमें इन सभी दोषोंकी आशंका बनी रहती है किन्तु जहाँ बना-बनाया चित्र सामने रक्खा रहता है वहाँ उसके आधारपर चित्र बनानेमें रेखा, अनुपात, रंग और छाया सभीका रूप सामने उपस्थित रहता है और चित्रकार सदा तुलना-द्वारा अपने चित्रित चित्रका परीक्षण करके उसका सुधार करता रह सकता है। ऊपर हम बता भी चुके हैं कि किस प्रकार निसर्गवादियों या यथार्थवादियोंका दल यथार्थ चित्रण करता-करता व्यक्ति-विद्वेष और व्यक्तिगत आलोचना तक उतर गया था। इसलिये ऐसा यथार्थवाद केवल अनावश्यक ही नहीं, अवाञ्छनीय भी है।

नाटक सुखान्त हो या दुःखान्त

सुखान्तमिष्टम् ॥

[चाहिए नाटक सुखान्त ।]

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—

'सुश्लिष्ट' सन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।

मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ॥११,१२०॥

[कविको ऐसा नाटक रचना चाहिए कि उसकी सब संधियोंका जोड़ ठीक बैठा हो, उसे खेलनेमें सुविधा हो, उसमें सुखकी बात हो, और कोमल शब्दवाला उसका नाम हो ।]

रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा प्रणीत नाट्यदर्पणके नाटक-निर्णय नामक प्रथम विवेकमें लिखा है—

उदात्ता रञ्जका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥१७॥

[श्रेष्ठ तथा मनोरंजक भाव पद-पदपर नाटकमें रखने चाहिएँ ।] इसका तात्पर्य यही है कि नाटकमें सुखाश्रित भाव हों। इसीलिये हमारे देशके कवियोंने अमंगल तथा अनिष्टकारी भावों और वर्णनोंका सदा बहिष्करण किया है। मधुरेण समापयेत् [अन्त मधुर हो] की भावना इतनी प्रबल होकर हमारे संस्कारमें पड़ गई थी कि अमंगलकारी परिणामकी ओर कविगण प्रवृत्त ही नहीं हुए।

यथार्थवादियोंकी एक यह भी बड़ी आपत्ति है कि साधारण जीवनमें प्रायः प्रत्येक मनुष्यका जीवन दुःखमय ही दिखाई देता है अतः सत्यनिष्ठ लेखकको सत्यकी रक्षा करनेके लिये ही दुःखमय जीवनका वास्तविक रूप उपस्थित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्वयं भरतने भी कहा है कि नाटकमें सभी अवस्थाओंका अनुकरण दिखाया जायगा। यह कहकर भी सुखाश्रयकी बात भरतने क्यों कही है और यह व्यवस्था क्यों दी है—

न वधः तस्य स्यात् यत्र तु नायकः ख्यातः ॥

[प्रसिद्ध नायकका वध नाटकमें नहीं कराना चाहिए ।]

इस प्रश्नपर दूसरी दृष्टिसे विचार करना चाहिए। नाटकका उद्देश्य है जन-मन-रंजन। जन-मन-रंजन उसी कार्यसे होगा जिसमें चाहे जितनी पीड़ा, बाधा, विपत्ति आदिका वर्णन हो किन्तु उसका अन्त हर्षमय हो। हम लोग साधारण जीवनमें तो अनेक प्रकारके दुःखमय अनुभव करते ही हैं और उस दुःख-समुदायसे छुटकारा पानेके लिये, कुछ क्षण उस नरकसे निवृत्त होकर अपना मन किसी दूसरी ओर लगानेके लिये, जी बहलानेके लिये हम रंगशालामें जाते हैं। वहाँ जाकर भी यदि हमारे भाग्यमें वही सब देखनेको मिले तो हमारा जीवन बृहत्तर नरक बन जाय। इसलिये दुःखात्मक अन्त हमारे कवियोंने ग्राह्य नहीं किया।

किन्तु हमारे समाजमें कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका मनोविनोद हत्या, मारपीट, युद्ध और कलहसे ही होता है। ऐसे लोग समाजमें भी वैसा ही व्यवहार करते रहते हैं और यदि मनोविनोदके साधनोंमें भी उन्हें उसी प्रकारकी सामग्री मिलती रहे तो उन्हें पाप करनेका उत्साह बढ़ता रहेगा और वे अपने पाप-कर्मके लिये नये-नये साधन भी निकालने लगेंगे। आजकल चलचित्रकी कृपासे न जाने कितने युवक चोरी, हत्या, डाका और दुराचारके अभिनव, अद्भुत तथा वैज्ञानिक उपायोंका सहारा लेकर समाजके लिये अभिशाप बनते चले जा रहे हैं। कहाँ तो भरतने नाटकको उपदेश तथा विश्रान्तिका साधन बताया है कहाँ वह कुमार्ग और लोकसंहारका पाठ पढ़ाने लग गया है। अतः लोकहितकी दृष्टिसे भी दुःखान्त नाटक त्याज्य हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग ऐसी कोमल प्रकृतिके होते हैं कि वे भयानक दृश्य नहीं सह सकते। किसीकी हत्या या किसीकी विपत्ति देखकर उनके धैर्यका बाँध टूट

जाता है और वे अधीर होकर या तो रोने लगते हैं या मूर्च्छित हो जाते हैं या प्रतिनायकपर आक्रमण कर बैठते हैं। हमारा स्वयं यह अनुभव है कि भयानक नाटक देखकर कुछ सज्जन मूर्च्छित होने लगते हैं। एक अत्यन्त करुणाजनक नाटकमें एक महिला ऐसा चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगीं कि नाटकका रस ही नष्ट हो गया। एक और नाटकमें एक प्रेक्षक इतने आपेसे बाहर हो गए कि उन्होंने आव देखा न ताव, झट जूता खींचकर प्रतिनायकको मार ही तो दिया क्योंकि वह नाटकमें एक बालकको बेंतसे पीटनेका अभिनय कर रहा था और वह बालक भी मारकी चोटसे पीड़ित होकर चिल्लानेका बड़ा कुशल अभिनय कर रहा था। यद्यपि अब योरोपीय देशोंमें प्रायः ऐसे प्रत्येक नाटक और चित्रके साथ यह सूचना दे दी जाती है—'बच्चों और स्त्रियोंके लिये नहीं।' किन्तु ऐसे पुरुष भी कम नहीं हैं जो स्त्रियोंसे भी अधिक कोमल होते हैं। इसलिये दुःखान्त नाटक श्रेयस्कर नहीं हैं।

बहुतसे विद्वानोंने कहा है कि भासका उरुभंग नाटक त्रासद है, दुःखान्त है क्योंकि उसमें दुर्योधनका संहार दिखाया गया है। इसपर भी न्याय-दृष्टिसे विचार कर लेना चाहिए। इस कथाका नायक क्या दुर्योधन है और क्या उसके वधको देखकर लोगोंके मनमें दुःख होता है? इसका तो सीधा सा उत्तर है कि जो अन्याय, अनाचार, दुराचार या पापाचार करता है उसके उत्कर्षसे ही लोगोंको दुःख होता है, उसके विनाशसे लोग प्रसन्न होकर कहते हैं—अच्छा हुआ पाप दूर हुआ। जिस दुर्योधनने अपने बड़े-बूढ़ोंका कहना नहीं माना, पांडवोंसे छल करके उनका राज्य ले लिया, उन्हें लाक्षागृहमें जीवित जलानेका षडयन्त्र किया, उनकी पत्नी द्रौपदीको भरी सभामें लाकर अपमानित किया और उसको निर्वसन करनेकी ढिठाई भी की, उस दुर्योधनके साथ किस दर्शकको सहानुभूति हो सकती है? अतः उसका संहार लोकमंगलकारी और प्रेक्षकोंको शान्ति देनेवाला ही है। उसे हम दुःखान्त नहीं सुखान्त ही कहेंगे। दूसरा नाटक वेणीसंहार भी इसी जातिका है और उसका समाधान भी इसी प्रकार किया जा सकता है। सीताकी भू-समाधिके लोमहर्षण कांडको भवभूतिने प्रबन्ध-स्वार्थः, वाल्मीकि-द्वारा प्रयुक्त नाटक मात्र बनाकर उसके सुखान्तत्वकी रक्षा कर ही ली और हम कल्पना कर सकते हैं कि रामायणकी कथा जाननेवाले जिन दर्शकोंने नाटककारका यह 'नाटकेनाटकः' वाला कौशल देखा होगा वे अवश्य उत्साह और हर्षसे उछल पड़े होंगे और उन्होंने बड़े सन्तोष और तृप्तिकी साँस ली होगी।

यह स्मरण रखना चाहिए कि दुःखान्त नाटकका सबसे बड़ा दोष यह होता है कि उसमें नायककी हत्या हो जाती है और दुष्टोंकी विजय हो जाती है। यह विजय चाहे जितनी सम्भावित और स्वाभाविक हो किन्तु इसका सबसे बुरा प्रभाव और संस्कार दर्शकोंके मनपर यह पड़ता है कि दुष्टके हाथ सज्जन भी मारे जा सकते हैं, सत्यके आगे असत्यकी विजय होती है, अन्यायके आगे न्याय घुटने टेक देता है। ऐसे दृश्य देखकर लोकका आत्मविश्वास शिथिल हो जाता है, न्याय और सत्यमें श्रद्धा नहीं रहती, पशुबल और स्वेच्छाचारिताको ही वह वास्तविक शक्ति मान बैठता है और उसका परिणाम वही होता है जो योरोपमें हो रहा है कि अहिंसाको धर्म माननेवाली ईसाई जातियाँ आज विश्व-संहारके लिये कमर कसे बैठी हुई हैं। यह भी बड़ा नैतिक कारण है कि दुःखान्त नाटक नहीं लिखने या दिखाने चाहिएँ।

त्रासद या दुःखान्त नाटकका रूप बताते हुए आचार्य अरस्तूने कहा है—"त्रासदका विषय उस मनुष्यका दृश्य है जो पूर्णतः या विशेषतः श्रेष्ठ और बुद्धिमान् न हो और जो अपनी किसी भूल या दुर्बलताके कारण विपद्ग्रस्त हो गया हो। किसी हम जैसे साधारण मनुष्यपर अकस्मात् अनागमनीय विपत्ति ढहाकर और त्रास उत्पन्न करके त्रासदमें करुणा उत्पन्न करनी चाहिए।"

इस मतसे भी यह स्पष्ट है अरस्तू किसी विशिष्ट महापुरुषको विपद्ग्रस्त करके या उसकी हत्या कराकर त्रासदकी सिद्धि नहीं करना चाहता। त्रासदके लिये वह साधारण व्यक्ति चाहता है और उसकी विपत्ति भी वह उसकी किसी भूल या दुर्बलतासे उत्पन्न कराना चाहता है। साथ ही वह यह भी कहता है वह विपत्ति ऐसी हो जो उस प्रकारके व्यक्तिपर आनी नहीं चाहिए थी किन्तु उसीके कारण आ गई है और दर्शकके हृदयमें करुणा उत्पन्न कर रही है। इसका तात्पर्य यही है कि वह व्यक्ति साधारणतः भला होना चाहिए जो लोगोंकी सहानुभूतिका पात्र हो सके।

यहाँ पर अरस्तूके त्रासदका (त्रेगोदिया या ट्रैजेडीका)

स्वरूप भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए। अरस्तू कहता है—

"त्रासद उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है जो गंभीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलंकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकारके कलात्मक अलंकार नाटकके भिन्न-भिन्न भागोंमें पाए जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोंका उचित सुधार और परिष्कार कर सके।"

भयानक और करुणाजनक परिस्थितियोंका वर्णन करते हुए वह लिखता है—

"इस प्रभावको उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारोंमें होती है जो या तो परस्पर मित्र हों, या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है तो उससे वध-कार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमें ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात परस्पर उदासीन मनुष्योंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं—जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, माँ अपने पुत्रकी या पुत्र अपनी माँकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय—तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है।"

इन उपर्युक्त स्थितियोंको किस कौशलसे प्रयोग करना चाहिए इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तू कहता है—

"एक स्थिति यह है कि जान-बूझकर व्यक्तियोंका परस्पर ज्ञान होनेपर भी कोई (भयानक, त्रासात्मक) कार्य करा दिया जाय जैसे इउरीपिदसने जानकर मीद्रियाके द्वारा अपने बच्चोंका वध कराया।"

"दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य अज्ञानमें कर दिया जाय, संबंध या मित्रताका ज्ञान पीछे हो" जैसे सोहराबको घातक चोट पहुँचा देनेपर रुस्तमको ज्ञान हुआ कि यह मेरा पुत्र है।

"तीसरी स्थिति यह है कि व्यक्तियोंको जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जायँ।"

"चौथी अवस्था यह है जब कोई अपरिहार्य कार्य करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये ही संभव मार्ग हो सकते हैं क्योंकि व्यापार या तो हो या न हो और वह भी या तो जानकर हो या अनजानमें हो—किन्तु इन सब मार्गोंमें सबसे बुरा यह है कि व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उद्यत हो और फिर उसे न करे। इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे भी अच्छा यह है कि अज्ञानमें कार्य हो चुके और पीछे भेद खुले। किन्तु अन्तिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रेस्फोन्तेस्में ज्योंही मरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है त्योंही उसे पहचानकर वह छोड़ देती है। यूनानी इतिहासमें कुछ परिवार ऐसे हैं जिनमें त्रासदोंके विषय मिलते हैं। नाट्यकारोंको विवश होकर उन्हीं कुलोंकी शरण लेनी पड़ी जिनके कारण इतिहासमें इस प्रकारकी हृदयद्रावी घटनाएँ भरी हुई है।"

इस विवरणसे इतना स्पष्ट हो जाता है कि भयानक या त्रासजनक परिणाम देखनेके पक्षमें तो अरस्तू है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि नाटकमें नायककी या इष्ट पात्रकी हत्या कराई ही जाय। जिन चार प्रकारकी अवस्थाओंका वर्णन ऊपर किया गया है, उसमें इनमेंसे चौथी अवस्थाको ही श्रेष्ठतम बतलाया है, जिसमें अभिज्ञान या पहिचान हो जानेके कारण भयानक परिणाम होते-होते रुक जाता है। इसका अर्थ यही होता है कि अरस्तू त्रासजनक तथा भयानक परिणामोंकी स्थिति उत्पन्न करनेके पक्षमें तो है किन्तु सदा दुःखान्त करनेके पक्षमें नहीं है। अतः यह कहना अत्यन्त भ्रामक है कि अरस्तूने नाटकको दुःखान्त करनेका समर्थन किया है। जिस एक स्थितिमें अरस्तूने अज्ञानमें होनेवाले कार्यको और पीछे उसका भेद खोलनेका समर्थन किया है, वह इसीलिये कि पीड़ित व्यक्तिके साथ दर्शकों या सामाजिकोंकी बहुत गहरी सहानुभूति हो। इसका भी कारण यही है कि जिन काव्योंसे ऐसे नाटकोंकी कथाएँ ली गई थीं वे सब यूनानियोंके संस्कारमें भरी थीं। उनके प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक था, किन्तु जिस आर्यजातिने अपनी संस्कृति और सभ्यताके उपःकालसे ही "यतो धर्मस्ततो जयः" का पाठ सीखा है उन्होंने संभव होते हुए भी, अस्तित्व होते हुए भी ऐसी कथाओंको अपने काव्यका आधार नहीं बनाया जिनमें दैवसंयोग या अन्य किसी कारणसे इष्ट नायकका वध हो जाय, क्योंकि उन्हें भय था कि ऐसा करनेसे सहानुभूति भले ही उमड़े किन्तु

लोग भाग्यवादी बन जायँगे, पौरुष करना छोड़ देंगे।

अतः हमारे यहाँ भाग्यवादिताको विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया गया है, उलटे यह बताया गया है कि तपस्या और योगके द्वारा भाग्यका फल भी मिटाया जा सकता है। जहाँ तक त्रासात्मक तथा भयानक घटनाओंका सन्निवेश है उसमें तो हमारे नाटक भी पीछे नहीं है और वे भी अरस्तू के त्रासदकी विभिन्न स्थितियोंमेंसे किसी न-किसीमें आ ही जाते हैं जैसे मालतीमाधव नाटकमें कापालिक मालतीका वध करनेको तैयार हो गया है या मृच्छकटिकमें चारुदत्त-के लिये शूलीका विधान होता है। ये अवस्थाएँ कम त्रासजनक या भयानक नहीं है। इनके अतिरिक्त रूपकों और उपरूपकोंमें कई ऐसे हैं जिनमें आरभटी वृत्तिका अर्थात् जिनमें मारकाट और युद्धका ही वर्णन होता है जैसे व्यायोग या डिममें भयानक कृत्य, अभिचार, मन्त्र-तन्त्र, युद्ध आदिका वर्णन होता है, किन्तु इतना सब होनेपर भी इनका अन्त सुखाश्रित ही होता है।

इन सब विवेचनोंसे यही सिद्ध होता है कि अरस्तू भी हमारे समान सुखका समर्थक था। किन्तु जहाँ अरस्तू चौथी प्रकारकी स्थितिको अर्थात् भयानक काण्ड होते होते सहसा पहचानके द्वारा नाटक सुखान्त करनेको सर्वश्रेष्ठ समझता है कि वहाँ वह यूनानी साहित्यके संस्कारसे प्रभावित होनेके कारण तथा इतिहासकी रक्षाका पक्षपाती होनेके कारण बलपूर्वक, अस्वाभाविक रीतिसे सुखमें समाप्ति करनेके पक्षमें नहीं था। उसका कहना है कि "प्रायः दर्शकोंकी दुर्बलताका पक्षपात करके कवि अपने नाटकोंका अन्त सुख-मय करते हैं। किन्तु यह बड़ा भारी दोष है और ऐसे अन्त केवल प्रहसनोंके लिये ही उपयुक्त होते हैं।" उन्होंने इउरीपाईदेसको सर्वोत्कृष्ट त्रासदकार कहकर उसकी प्रशंसा की है क्योंकि उसके सभी नाटकोंका अन्त दुःखमय ही हुआ है यद्यपि अन्य दृष्टियोंसे उनमें त्रुटियाँ रह गई हैं।

यद्यपि दुःखान्त नाटक उपर कहे हुए कारणोंकी दृष्टिसे लिखे या खेले नहीं जाने चाहिएँ किन्तु हमारे संसारका बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसमें रहनेवाले लोग इतने कठोर होगए हैं कि यदि उनके सामने भयानकसे भयानक दृश्य रख दिए जायँ तो भी वे विचलित नहीं होते। अतः उनके लिये दुःखान्त नाटक रसप्रद और प्रिय हो सकते हैं। किन्तु इस प्रकारके नाटकोंने मनुष्यकी वृत्तिको अत्यन्त क्रूर और भयानक बना दिया है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि योरोपीय समाज सब रक्तपिपासु और अनाचारी बन चला है। यदि नाटकका राष्ट्रीकरण हो तो उसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकके प्रभावसे किसी भी प्रकार मनुष्यकी पैशाचिक प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन या निदर्शन न प्राप्त हो सके, उससे केवल गुणोंका ही विकास हो। अतः सब नाटक या नाटकीय प्रदर्शन सुखान्त होने ही चाहिएँ।

यद्यपि यह देखनेमें आता है कि बहुतसे नाटक यदि दुःखान्त कर दिए जायँ तो उनका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ सकता है। किन्तु केवल भावातिरेक या आवेश ही नाटक-कारका साध्य नहीं हो सकता, वह तो एक विशिष्ट उद्देश्यकी सिद्धि करना चाहता है। यदि उस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उसे नायकका वध ही कराना पड़े तो वह संकोच नहीं करेगा क्योंकि उसका फलागम उसी कार्यपर अवलम्बित है। कलावादी लोगोंका कहना है कि कलाकी हत्या करके आदर्शकी रक्षा करना उचित भी नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। उनका कहना है कि श्मशानका, जर्जर रोगीका, गिद्धोंसे नोंचे जाते हुए किसी पशु-शवका या किसी हिंसक जन्तु-द्वारा किसी मनुष्यके वधका चित्र आह्लादकारी हो सकता है, क्योंकि हमारे आह्लादका कारण इन अवस्थाओंमें चित्रकारकी सूक्ष्म व्यञ्जनाशक्ति, रेखाओंका उपयुक्त प्रदर्शन, अंगोंका अनुपात तथा रंगोंका उचित विलास दर्शकका मन मुग्ध करता है। इसी प्रकार दुःखान्त नाटकमें भी सुन्दर ओजमयी भाषा, जोड़तोड़के उत्तर, घटनाओंका कलात्मक गुम्फन यदि उचित और कलात्मक हो तो वह भी दर्शकको आह्लादित करनेको पर्याप्त है। वीर अभिमन्यु नाटकमें यद्यपि अभिमन्युकी मृत्यु हो जाती है किन्तु उसके तेजस्वी संवाद, उसका पराक्रम, उसकी वीरता तथा उसके अद्भुत कौशलसे दर्शक इतने प्रभावित हो जाते हैं कि कौरवोंकी नीचताका पूरा परिचय मिल जानेसे उनके प्रति घृणा और अभिमन्युके प्रति वह आदर बढ़ जाता है जो अभिमन्युके जीवित रहनेसे कभी संभव न होता।

यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि कला आदर्शके लिये है या आदर्श कलाके लिये है। हम पहले ही स्थिर चुके हैं कि सभी देशोंमें नाटककी उत्पत्ति लोकरंजन और उपदेशके लिये हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कलाको इस उद्देश्यका अनुगमन करना चाहिए। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कलाके उपादान चाहे जितने आह्लादकारी हों

किन्तु नाट्यवस्तुकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, इसकी सरल परीक्षा यही है कि बहुतसे ऐसे चित्र खोलकर रख दिए जायँ जिनमें चतुर चित्रकारोंद्वारा चित्रित कुछ तो बीभत्स चित्र हों और कुछ चित्र प्राकृतिक दृश्यों, दर्शनीय महापुरुषों और सुन्दरियोंके हों और लोगोंसे कहा जाय कि आपको जो अच्छे लगें उन्हें उठा ले जाइए तो यह निश्चय है कि इन दूसरे प्रकारके ही चित्रोंकी ही लोग सराहने करेंगे और उठा ले जायँगे। अतः वर्णनीय विषयका सुखद होना अत्यन्त आवश्यक है। इस दृष्टिसे भी नाटक सुखान्त होना ही चाहिए।

समय, स्थान और व्यापारका एकत्व

कालोद्देशव्यापारैकत्वममान्यम् ॥

[समय-स्थान-व्यापार-एकता नहीं कभी है मान्य।]

योरोपके अनेक आचार्योंका मत है कि नाटकका वृत्त एक ही स्थानका हो, एक ही कालका हो, और केवल एक ही व्यापार या घटनासे सम्बद्ध हो, अर्थात् किसी नाटकमें एकसे अधिक स्थानोंका प्रदर्शन न हो, एकसे अधिक कालका विवरण न हो, और उसमें एकसे अधिक व्यापार या इतिवृत्त न हो। इन नाटकीय एकत्वोंको फ्रांसवालोंने बहुत महत्ता प्रदान की थी। उनका यह अनुमान है कि अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें इसका निश्चित विधान किया है, किन्तु अरस्तूने वास्तवमें समय और स्थानके बाह्य एकत्वको तनिक भी महत्त्व नहीं दिया है। त्रासद और वीर रसके काव्योंके भेद गिनाते हुए उन्होंने कहा है, कि "त्रासद अपने व्यापारको साधारणतः सूर्यकी केवल एक परिक्रमातक ही (अर्थात चौबीस घण्टे तक) परिमित रखनेका प्रयत्न करता है उससे अधिक नहीं, किन्तु महाकाव्यमें समयका कोई बन्धन नहीं।" यूनानी नाटकके प्रयोगकी दृष्टिसे यह आवश्यक ही था क्योंकि समवेतगान निरन्तर होते चलते थे और परदा कभी गिरता ही नहीं था। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्यकी एक परिक्रमातक परिमित रखनेका तात्पर्य यह है कि समवेत गानका ध्यान रखते हुए नाटक इतना बड़ा हो कि वह अधिकसे अधिक चौबीस घण्टेमें समाप्त हो सके। यूनानी रंगशालाओंमें कई कई दिन तक लगातार नाटक होते रहते थे, और दर्शक भी अपने खाने-पीनेकी सामग्री लिए हुए वहीं बैठे रहते थे, इसलिये यदि चौबीस घण्टेमें नाटक समाप्त होनेका विधान किया गया हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है किन्तु यह मान लेना अत्यन्त भ्रामक है कि अरस्तूने ऐसे नाटक लिखनेकी व्यवस्था दी जिसमें केवल चौबीस घण्टेके कार्योंका ही विवरण हो। अरस्तूने अपने काव्यशास्त्रमें जिन नाटकोंका उल्लेख किया है, उन सबमें कई कई दिन और मास तकके विवरण सन्निहित है।

नाटकमें सब घटना एक ही स्थानमें हो ऐसी व्यवस्था अरस्तूने कहीं नहीं दी। न जाने फ्रांसीसी आलोचकोंको यह भ्रम कहाँ से उपस्थित हो गया। जहाँतक इतिवृत्त या व्यापारकी बात हैं, उसके विषयमें अरस्तूने स्पष्ट कह दिया है कि नाटकमें इतिवृत्त एक ही होना चाहिए। इसकी व्याख्या करते हुए अरस्तूने कहा है—"किसी इतिवृत्तमें एक नायकका वर्णन होनेसे ही कोई इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्यके जीवनमें अनन्त भिन्न भिन्न घटनाएँ होती हैं जिनको संकलित करके एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्यके द्वारा बहुतसे चरित (कार्य) हो सकते हैं जिनको संकलित करके एक संगत कार्य नहीं बन सकता।

"अतः जैसे अनुकरणात्मक कलाओंमें एक ही अनुकरणीय वस्तुके एक होनेपर भी अनुकरण एक ही होता है, वैसे ही इतिवृत्त भी एक ही व्यापारका अनुकरण होनेके कारण, एक होना चाहिए। उसके अंग परस्पर ऐसे गुँथे हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असंगत हो जाय, क्योंकि जिस वस्तुके रहने या न रहनेसे कोई प्रत्यक्ष अंतर नहीं होता वह संपूर्ण पदार्थका आवयविक अंग हो नहीं सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि नाटकमें एक नायकके पूरे जीवनकी कथा न होकर ऐसा एक व्यापार या कार्य होना चाहिए जो अपनेमें पूर्ण हो, जैसे यदि रामायणपर नाटक लिखना हो तो नाटकीय व्यापारकी दृष्टिसे उसमें सात कार्य हैं—रामका जन्म, रामका विवाह, रामवनवास, सीताहरण, सीताकी खोज या लंकादहन, रावणका वध और भरतमिलाप या राज्याभिषेक। इस प्रकार रामायणके एक ही काव्यपर सात नाटक लिखे जा सकते हैं। यह है भी अत्यन्त उचित सिद्धान्त। संसारके सभी नाट्यकारोंने यह सिद्धान्त स्वीकार किया है यही इसको औचित्यका सबसे बड़ा प्रमाण है।

जहाँतक समय और स्थान एक होनेकी बात है, वह अत्यन्त अव्यावहारिक तथा अस्वाभाविक है क्योंकि एक व्यापार या कार्य न जाने कितने दिनों और कितने विभिन्न स्थानोंमें पूर्ण होता है। इसे एक दिनमें, एक स्थानमें कैसे बाँधा जा सकता है। यदि हम रामविवाहपर ही नाटक लिखें तो इसमें स्वभावतः अयोध्या, विश्वामित्रका आश्रम और मिथिलापुरीका वर्णन अपरिहार्य रूपसे करना ही पड़ेगा, और यह भी असंभव है कि अयोध्यासे जाने, विश्वामित्रके आश्रममें ताड़का-सुबाहुको मारने और मिथिलापुरीमें धनुष तोड़ने आदिका कुल काम एक दिनमें समाप्त कर दिया जाय। इसीलिये किसी नाटककारने एक ही समयमें सब कार्य पूरा करनेका प्रतिबन्ध नहीं माना है। आजकल एक ही स्थानपर नाटकीय व्यापार दिखानेकी प्रणाली भी चल पड़ी है। स्वयं अभिनवभरतने अपने वाल्मीकि और देवता नाटकोंमें इसी सिद्धान्तका अनुगमन किया है। अतः यह संभव हो सकता है कि कोई नाटक एक ही स्थानमें पूरा कर दिया जा सके, किन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि एकांकी नाटकोंमें समय और स्थान एक हो सकता है और कुछ नाटकोंमें एक ही स्थानपर कई अंकोंका व्यापार हो सकता है।

कुछ आचार्योंने अँग्रेजीके ड्रामेटिक यूनीटीजका अनुवाद 'नाटकीय संकलन' कर डाला है जिसका वास्तवमें अनुवाद होना चाहिए 'नाटकीय एकत्व'। संकलनका अर्थ है इकट्ठा करना, समेटना या जोड़ना। नाटकीय एकत्वोंसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें यह भ्रम अंग्रेजीके 'यूनिटीज़' शब्दने उत्पन्न किया है जिसका अर्थ है मेल, मिलकर एक होना, संगठन तथा इकाई या केवल एकका अस्तित्व। 'ड्रामेटिक यूनीटीज़' शब्दका प्रयोग पिछले ही अर्थमें हुआ है और उसका तात्पर्य यही है कि नाटकमें एक ही स्थानपर घटनाएँ हों, एक ही कालमें हों और उसमें एक ही इतिवृत्त या व्यापार हो। अतः इसे नाटकीय संकलन न कहकर नाटकीय एकत्व कहना ठीक होगा।

नाट्य रूढ़ियाँ

अनुकूलाः नाट्यरूढ़यः ॥

[अनुकूल हैं नाट्य रूढ़ियाँ]

संस्कृतके प्राचीन नाटकोंका पर्यवेक्षण करनेसे यह प्रतीत होता है कि सभी नाटककारोंने कुछ निश्चित रूढ़ियोंका नियमित रूपसे पालन किया है। नान्दी, पूर्वरंग प्रस्तावना, नाटक-वस्तु और नाटककारका परिचय, कुछ गिने चुने कार्योंका निषेध, सूत्रधार और नटी, भरतवाक्य आदि ऐसी बातें हैं जो समान रूपसे हमारे सभी नाटकोंमें पाई जाती हैं। जिस प्रकार हमारे यहाँ पूर्वरंग प्रस्तावना और भरतवाक्यका विधान है उसी प्रकार यूनानी नाटकोंमें पूर्वकथन (प्रोलोग) और उपसंहार (एपीलोग) का विधान था। किन्तु वहाँके उपसंहारमें वैसी लोकमंगलकी कामना नहीं रहती थी जैसी हमारे यहाँ भरतवाक्यमें। उसमें तो केवल क्षमायाचनाकी भावना निहित रहती थी और वह भी बड़ी लच्छेदार भाषामें जनताकी चाटुकारी भर रहती थी जिसका तात्पर्य यह था कि जो कुछ अच्छा-बुरा है वह हमने कर दिखाया है, आप लोग बड़े रसिक हैं, गुणज्ञ हैं, आप हमारे दोष क्षमा कीजिएगा। इस क्षमा-याचनाका तात्पर्य यही था, कि रंगशालासे बाहर जाकर जनता कुछ कहे नहीं, बुराई न करे।

हमारे नाट्याचार्योंने नान्दी और पूर्वरंग प्रस्तावनाको बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और उसे नाट्यका प्रमुख अंग माना है। नाट्याचार्य भरतने पूर्वरंगकी प्रशंसा करते हुए पंचम अध्याय कहा है—

पूर्वरंगे मया ख्यातं तथा चांगविकल्पनम् ॥
देवस्तुष्यति यो येन यस्य यन्मनसः प्रियम्।
तत्तथा पूर्वरंगंतु मया प्रोक्तं द्विजोत्तमाः ॥
सर्वदैवतपूजार्हं सर्वदैवतपूजनम्।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं पूर्वरंगप्रवर्तनम् ॥

[पूर्वरंगमें क्या करना चाहिए और उसके अंग किस प्रकार सजाने चाहिए उसे मैंने इस प्रकार वर्णन किया है। जो देवता जिस बातसे प्रसन्न होता है और जिसे जो अच्छी लगती है उस सबका मैंने उसी प्रकार वर्णन किया है। सब देवताओंकी पूजाके योग्य पूर्वरंगकी क्रिया करके सब देवताओंकी पूजा करनेसे धर्म, यश और आयुकी वृद्धि होती है।]

शारदातनयने अपने भाव-प्रकाशनके सप्तम अधिकारमें लिखा है—

एवं यः पूर्वरंगं तु विधिना संप्रयोजयेत्।
नाशुभं प्राप्नुयादत्र पश्चात् स्वर्गं च गच्छति ॥

[जो इस पूर्वरंगकी क्रिया विधिसे करता है उसका इस लोकमें कभी अमंगल नहीं होता और मृत्युके पश्चात् वह स्वर्ग चला जाता है।]

इसी प्रकारकी धार्मिक क्रिया यूनानमें भी हुआ करती थी क्योंकि वहाँके नाटक दिअनुससके सम्मानमें ही खेले जाते थे और नाटक प्रारंभ करनेसे पूर्व उस देवताकी भली प्रकारसे पूजा की जाती थी और वलि चढ़ाई ही जाती थी, विशेषतः सुराके देवता बाखसके लिये तो वलि चढ़ाई ही जाती थी। इसी प्रकार प्रस्तावनामें नाटककारका परिचय देना भी बड़ी प्राचीन रूढ़ि थी। प्रायः हमारे सभी नाटकोंमें नाटककारोंने तीन बातोंका परिचय दिया है—अपना, नाटककी वस्तुका और नाटक खेलनेके अवसरका। कभी-कभी इस परिचयमें नाटककारने अपने कुल और गोत्रका भी परिचय दे दिया है और अवसरकी चर्चा करते हुए उन्होंने यह भी निर्देश किया है किस व्यक्ति या समाजकी आज्ञा से नाटक खेला गया है। इस प्रकार प्रस्तावनासे बहुत सी जिज्ञासाओंकी परितुष्टि हो जाती है और नाटकका विवेचन तथा परीक्षण करनेवालोंको बड़ी सुविधा मिल जाती है।

प्रश्न यह है कि यह काम सूत्रधार-नटीसे कराया जाय या किसी भी प्ररोता या स्थापकके द्वारा कहला दिया जाय। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि नाटकके प्रत्येक पात्रको रँगपीठपर उपस्थित होकर अपनी कला दिखानेका अवकाश मिलता है किन्तु जो सूत्रधार पात्रोंको शिक्षा देता है, विभिन्न प्रकारके अभिनय सिखाता है, उसकी कला देखनेका अवसर जनताको प्राप्त नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सूत्रधार नाटकके अंग-प्रत्यंग और सूक्ष्म भेदोंसे परिचित रहता है, वही वास्तवमें नाटकका सच्चा पारखी होता है क्योंकि नाटककी अभिनेयताके सब गुण वह परख चुकता है इसलिये उसे अधिकार भी है कि वह नाटक और नाटककारके विषयमें अपनी सम्मति दे। तीसरी बात यह है कि नाटक खेलते समय सभी लोग अपने अपने कार्यमें व्यस्त हो जाते हैं, किसीको इतना अवसर नहीं रहता कि वह रंगपीठपर आकर प्रस्तावना करे और फिर अपनी भूमिका भी सँभाले। अतः सूत्रधार ही एक ऐसा पात्र है जिसे इसके लिये अवकाश रहता है। चौथी बात यह है कि प्रत्येक नाटकके प्रयोगसे पहले अभिनेताओंको तैयार होनेमें प्रायः विलम्ब हो जाया करता है। ऐसी परिस्थितिमें कोई एक ऐसा व्यक्ति अवश्य चाहिए जो जनताका मनोरञ्जन कर सके और समय काट सके। इसीलिये नटीका भी विधान है कि वह उतने समयमें आकर कुछ ऋतु-संबंधी गीत गाकर या नाचकर जनताको रिझा सके और अभिनेताओंको तैयार होनेका अवसर दे सके। पाँचवीं मुख्य बात यह है कि नाटक देखनेवाली जनता इतनी विज्ञ नहीं होती कि वह चटसे किसी कथाका सूत्र पकड़ सके। इसलिये ऐसी प्रस्तावना होनी ही चाहिए जिससे नाटककी कथा समझते चलनेमें सुविधा हो।

मनोवैज्ञानिकोंने यह कहा है कि कोई भी ज्ञान तबतक पक्का समझमें नहीं आ सकता जबतक उसका सम्बन्ध पात्र या शिक्षार्थीके पूर्वसंचित ज्ञानसे सम्बद्ध न कर दिया जाय। इसी सम्बद्ध कर देनेकी क्रियाको हम प्रस्तावना कह सकते हैं। जहाँतक पूर्वरंग या दैवत-पूजनका विधान है, वह तो प्रत्येक देशकी अपनी-अपनी रूढ़ि और अपने-अपने विश्वासकी बात है। पारसी रंगशालाओंमें भी नाटक प्रारम्भ होनेसे पहले रंगपूजा करनेकी और ईश्वर-विषयक स्तुतिसे नाटक प्रारम्भ करनेकी चलन है। चीन और जापानमें भी इस प्रकारकी पूर्वरंग क्रियाओंकी प्रथा है किन्तु योरोपीय नाटकोंमें इन क्रियाओंका पूर्ण बहिष्कार किया गया है। वहाँ सहसा नाटक प्रारम्भ हो जाते हैं और यह समझ लिया जाता है कि जनता नाटकको अवश्य ही ठीक ठीक समझती चलेगी।

यह प्रथा ग्राह्य है या त्याज्य, इस विषयमें कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता क्योंकि इसका सम्बन्ध देश-विदेशकी संस्कृति और परंपरासे है किन्तु जहाँतक प्रस्तावनाकी बात है वह सभी दृष्टियोंसे ग्राह्य है क्योंकि नाटक इसीलिये खेला जाता है कि जनता उसमें रस ले और रस तभी प्राप्त हो सकता है जब जनता उसकी कथा भली प्रकार समझ सके। इसलिये नाटकोंमें प्रस्तावना अवश्य होनी ही चाहिए और यह प्रस्तावना नाट्य-प्रयोक्ता या सूत्रधारके द्वारा ही होनी चाहिए। इसमें भी दो मत नहीं हो सकते क्योंकि नाट्यकार और नाटकके गुण-दोष भली प्रकार समझनेके कारण वही प्रस्तावना करनेका अधिकारी भी है और उसको करनेका अवकाश भी होता है। संस्कृत नाटकोंमें जिस नाटकीय ढंगसे प्रस्तावना समाप्त करके

नाटक प्रारंभ किया जाता है वह भी कम नाटकीय और कुतूहलजनक नहीं होता। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें प्रस्तावना-के अन्तमें सूत्रधार कहता है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥

[तेरे गीतके रागसे मैं उसी प्रकार आकृष्ट हो गया हूँ जैसे इस अत्यन्त वेगसे भागनेवाले हरिणके कारण राजा दुष्यन्त खिंचे चले आए हैं।]

किन्तु इस विषयमें भी हठ करना आवश्यक नहीं है। यदि नाटककी कथा इतनी सरल और सुबोध हो कि वह विना किसी प्रस्तावनाके समझमें आ सके तब प्रस्तावना की इतनी आवश्यकता नहीं है और यह देखा भी गया है कि कभी कभी विना प्रस्तावनावाले नाट्योंकी कथा समझनेमें दर्शकोंको कोई असुविधा नहीं हुई किन्तु यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि प्रस्तावनामें नाटककार या नाट्यवस्तुकी ही चर्चा हो, कथा या परिणाम आदि ऐसी बातें न बताई जायँ जिससे दर्शकोंकी कुतूहल वृत्ति पहलेसे ही तृप्त हो जाय, अर्थात् यह न बताया जाय कि नाटककी कथा किस प्रकार चलाई गई है, उसमें क्या-क्या घटनाएँ हुई हैं और उनका क्या परिणाम हुआ है।

इसी प्रकारकी रूढ़ियोंमें कुछ नाट्य-निषिद्ध बातें भी आ जाती हैं। नाट्य-शास्त्रके बीसवें अध्यायमें भरत कहते हैं—

क्रोधप्रमादशोकाः शापोत्सर्गोथ विद्रवोद्वाहौ
अद्भुतसश्रयदर्शनमेकप्रत्यक्षजानि स्युः॥२०॥
युद्धं राज्यभ्रंशो मरण नगररोधनं चैव।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयानि॥

[क्रोध, पागलपन, शोक, शाप, परित्याग, भगदड़ या खलबली, विवाह, अद्भुत रससे सम्बन्ध रखनेवाली बातें तो प्रत्यक्ष दिखलाई जायँ किन्तु युद्ध, राज्यविप्लव, मरण, नगरका घेरा आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखलाकर उनकी सूचना दे देनी चाहिए।]

साहित्यदर्पणके छठे परिच्छेदमें नाट्य-निषिद्ध क्रियाओंको गिनाते हुए कहा गया है—

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा॥१६॥
दंतच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीड़ाकरञ्च यत्।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्॥
स्नानानुलेपने चेभिरर्वजितो नातिविस्तरः।

[दूरसे पुकारना, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, मृत्यु, मैथुन, दंत-च्छेद, नखच्छेद, शयन, चुम्बन, नगर आदिका घेरा, स्नान और अनुलेपन इत्यादि काम नाटकमें नहीं करने चाहिए।]

इन दोनोंमें सबसे बड़ा अन्तर यह प्रतीत होता है कि साहित्य-दर्पणकारने दूरसे पुकारना, विवाह, भोजन, शाप, परित्याग, स्नान और अनुलेपन भी त्याज्य समझ लिया है। इन सब विवरणोंसे इतना स्पष्ट है कि तीन प्रकारके कार्य निषिद्ध बतलाए गए हैं। एक तो वे जो साधारण लोकमें भी सबके सामने नहीं किए जाते, दूसरे वे कार्य जो भयकर, बीभत्स और लोम-हर्षक होते हैं जैसे मृत्यु, तीसरे प्रकारके वे कार्य हैं जिन्हें रंगमंचपर दिखाना संभव नहीं है, जैसे युद्ध राज्यविप्लव या देश-विप्लव। इन सब निषिद्ध वस्तुओंमें यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि दूराह्वान अर्थात् दूरसे पुकारनेकी बात सभी नाटकोंमें होती है। विक्रमोर्वशीय नाटकमें अप्सराएँ पुकारती हैं—'परित्रायताम्! परित्रायताम्!!" अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रारंभमें आश्रमके ऋषि पुकारते हैं "आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यः"। इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। अतः भावप्रकाशनकार और दश रूपककारने जो इसके बदले दूराध्वानम् शब्द दिया है वह अधिक ठीक जान पड़ता है क्योंकि रंगमंचपर दूर तकका मार्ग दिखाना संभव नहीं है इसलिये दूराध्वानम् या दूरका मार्ग दिखानेका निषेध किया गया है।

जहाँतक लोकशील और लोक-मर्यादाकी बात है उसके अनुसार सभी देशोंमें यह यह बात मान्य है कि स्नान, मैथुन, परित्याग (मलत्याग) आदि नहीं दिखाने चाहिए किन्तु योरोपके बहुतसे देश ऐसे हैं जहाँ भोजनका दृश्य दिखाना या रंगपीठपर चुम्बन करना अनुचित नहीं समझा जाता। उसका कारण यही है कि उनके देशमें भोजन सार्वजनिक रूपसे होता है और चुम्बन सामाजिक शिष्टाचार समझा जाता है। किन्तु हमारे देशमें चुम्बन तो सार्वजनिक होता ही नहीं है वरन् भोजन भी ऐसे एकांत-में करनेका विधान है जहाँ किसीकी छाया न पड़े। क्योंकि

लोगोंका विश्वास है कि भोजनको भी डीठ लगती है और भोजन करनेवालेका अहित हो सकता है। महर्षि पराशरजीने कहा है—

आसनाच्छयनाद् यानाद् भाषणात्सहभोजनात्।
संक्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥

[जैसे तेलकी बूँद जलमें गिरते ही फैल जाती है वैसे ही किसीके साथ बैठने, सोने, पास जाने, बातचीत करने तथा साथ भोजन करनेसे एककी पापवृत्तियाँ दूसरेमें पहुँच जाती हैं।] व्यासजीने भी कहा है—

अप्येकपंक्तौ नाश्नीयात् संभृतः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं महत्॥
भस्मस्तम्भजलद्वारमार्गैः पंक्तिं च भेदयेत्॥

[अपने बन्धु-बांधवके साथ भी एक पाँतमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि न जाने किसके शरीरमें कौन-सा पाप (रोग) छिपा हुआ है। इसलिये पाप या रोगसे मुक्त रहनेके लिये भस्म, तृण अथवा जलसे घेरकर पंक्तिभेद कर लेना चाहिए, तब भोजन करना चाहिए।]

किन्तु अब यह नियम भी नहीं चलाया जा सकता। क्योंकि सहभोज तथा सर्वसाधारण भोजनालयों और जलपान-गृहोंमें तथा अधजूठे बर्तनोंमें खाने-पीनेकी प्रथा नागरिकोंमें चल पड़ी है पर जहाँतक हो सके इसे दूर ही रखना चाहिए। नाटक प्रस्तुत करनेकी दृष्टिसे भी यह उचित नहीं है क्योंकि इसी कार्यके लिये रंग-व्यवस्थापकको बड़ा प्रबन्ध करना पड़ता है। नाटककारको यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि जिन व्ययसाध्य कार्योंको वह सूचनाके द्वारा कहला सके उन्हें रंगमंचपर दिखलानेका निर्देश न करे।

युद्ध और राज्य-विप्लव तथा नगरावरोधके दृश्योंके लिये इतनी अधिक तैयारी करनी पड़ती है कि उन्हें रंगपीठ पर उपस्थित करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। पूरा नगर रँग-पीठपर लाना, लाखों नागरिक उपस्थित करना और सभीकी चेष्टाएँ दिखाना असंभव कार्य है। इसी प्रकार युद्धका दृश्य दिखाना भी रंग-व्यवस्थापककी शक्तिसे बाहरका कार्य है। आजकल बहुतसे नाट्य-प्रयोक्ताओंने चल-चित्र और नाटकका सुन्दर समन्वय करके ऐसी व्यवस्था की है कि नगरावरोध और युद्धके दृश्य भी रंगपीठपर दिखा दिए जाते हैं। यदि ऐसी व्यवस्था हो सके तब तो आपत्तिकी कोई बात नहीं है किन्तु उसमें वध और मृत्यु आदि ऐसे बीभत्स कांड हो सकते हैं जिन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे और लोक-मंगल की दृष्टिसे दिखाना उचित नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि देश, समाज और कालके अनुकूल जो चेष्टा घृणित, लज्जाजनक, अश्लील और बीभत्स हो, जिन दृश्योंको रंगमंचपर दिखलाना संभव न हो और जिनसे लोक-हितके बदले लोकका अहित होता हो उन्हे रंगपीठ पर नहीं दिखाना चाहिए। दशरूपककार-ने अपने तृतीय प्रकाशमें इन निषिद्ध कार्यों की गणना कराते हुए लिखा है—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्॥३५॥
नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च॥

[दूरका मार्ग, वध, युद्ध, राज्य या देश आदिका विप्लव, नगरका घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, वस्त्र उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष न दिखाए जायँ और प्रधान नायकका वध न दिखाया जाय। किन्तु आवश्यक कार्यका त्याग भी नहीं करना चाहिए।]

शारदातनयने अपने भावप्रकाशनके अष्टम अधिकारमें लिखा है

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्।
नाधिकारिवधः क्वापि कर्त्तव्यः कविभिस्तथा॥
आवश्यकं तु यत्कार्यं न त्याज्यं तत्कदाचन।
अधिकारि वधस्यापि कश्चित्स्यात्कल्पनं मतम्॥
अर्वाक्प्रहारात्स पुनः प्रत्युज्जीविष्यते यदि।

[दूरका मार्ग, वध, युद्ध, राज्य देशादि-विप्लव, नगरका घेरा, भोजन, स्नान, मैथुन, अनुलेपन, वस्त्र उतारना आदि कार्य प्रत्यक्ष नहीं दिखलाना चाहिए। नाट्यकारको प्रधान नायकका वध नहीं कराना चाहिए किन्तु जो आव-श्यक हो उसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। किसी प्रकारसे नायक पीछे जिलाया जा सके तो उसका वध कराया जा सकता है।]

अब रह गई है वध और मृत्युकी बात। इसके विषयमें दुःखान्त नाटकोंके प्रसंगमें हम बहुत कुछ कह आए हैं किन्तु वर्तमान यूरोपीय समीक्षकोंकी दृष्टिसे उसका विवेचन

कर लेना अनुचित न होगा क्योंकि स्वयं हमारे देशमें बहुतसे आधुनिक नाटककार ऐसे हैं जो अपने नाटकोंमें धुँआधार, वध और मृत्युके सभी साधनोंके साथ नाटक प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। बंगालके प्रसिद्ध नाट्यकार श्री द्विजेन्द्रलालराय दुःखान्त नाटकके पक्षपाती थे। सुःखान्त नाटकका विरोध करते हुए वे कहते हैं—

"मैं इस नियमकी अनुमोदन नहीं करता क्योंकि वास्तविक जीवनमें प्रायः अधर्मकी ही जय अधिक देखी जाती है। अगर ऐसा न होता तो क्षुद्रता, स्वार्थ, एवं प्रतारणासे यह पृथ्वी छा न जाती। अन्तमें यदि धर्मकी जय अवश्य होती तो उन सब उदाहरणोंको देखकर अधिकांश मनुष्य धार्मिक हो जाते और जो ऐसा होता तो धार्मिक होनेके लिये कोई प्रशस का पात्र न होता। मनुष्य जीवनमें प्रायः देखा जाता है कि अनेक समय धर्मको मृत्युपर्यन्त सिर झुकाकर चलना पड़ता है और अधर्म शेष पर्यन्त सिर उठाए चला जाता है। ईसामसीह और सुकरातके जीवन इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

"साहित्यमें अगर अधर्मकी पराजय और धर्मकी जय दिखलाई जाय तो क्या इसके द्वारा दुर्नीतिकी शिक्षा नहीं दी जाती है यह कहा जा सकता है। कभी नहीं। धर्म तभी धर्म है जब वह आर्थिक लाभ-हानिकी ओर लक्ष्य नहीं करता, जब वह अपने दुःख-दारिद्र्यकी दशामें भी एक गौरवका अनुभव करता है, जब दुःख ही धर्म-पालनका पुरस्कार गिना जाता है।

"महाराणा प्रतापसिंहने जिस बलसे मृत्युपर्यन्त दुःख भोग किया था उसकी गरिमा केवल दर्शकों और पाठकोंको मुग्ध नहीं करती, स्वयं आत्मत्याग करनेवाला आदमी भी उस गौरव और सुखका अनुभव करता है।

"स्वर्गलाभ होगा यह समझकर धार्मिक होना, भविष्यमें सम्पत्तिशाली होंगे यह सोचकर सत् होना और प्रत्युपकार पानेकी आशासे उपकार करना धर्म नहीं है। यह स्वार्थ-सेवा है। जो शिक्षा सत्यको खण्डित या क्षुण्ण करती है, वह सत्यके हाथ टक्कर खाकर चूर्ण हो जाती है। उच्चनीति-शिक्षा वही है जो सत्यसे डरती नहीं बल्कि गले लगाती है। नीति शिक्षा देनी हो तो कहना होगा—'देखो धर्मका पुरस्कार कोरा दुःख ही होता है किन्तु उस दुःखका जो सुख है, उसके आगे सब तरहकी सम्पत्ति और सुख फीके पड़ जाते हैं"। जो सच्चा धार्मिक है वह धर्मका कुछ भी कोई भी पुरस्कार नहीं चाहता है। वह जो धर्मको प्यार करता है सो धर्मकी पदवीको देखकर नहीं, धर्मके सौन्दर्य को देखकर।

"सत्यका अपलाप करके धर्म बलवान नहीं होता। जिस मनुष्यने धर्मका सौन्दर्य देख लिया है वह साहित्यमें धर्मकी पार्थिव अधोगति देखकर कभी धर्मसे विमुख नहीं होगा। धर्मसे वही व्यक्ति विमुख हो सकता है, जिसने धर्मको बेचने या मोल लेनेकी सामग्री समझ रक्खी है, जो धर्मके बदलेमें कुछ चाहता है।"

जिन तर्कोंके आधारपर द्विजेन्द्रलालरायने अपने पक्षका समर्थन किया है, वे स्वयं अशक्त हैं। भारतवर्षके धर्म-भीरु समाजका यदि उन्हें भली प्रकार अनुभव होता तो वे ऐसी बात कभी नहीं कहते। हमारे समाजमें दोषियों और पापियोंकी कमी नहीं है, किन्तु उनके केन्द्र वे नगर हैं जिनमें योरोपीय जीवन और विलायती संस्कृति पूर्ण रूप-से व्याप्त है, जहाँ शेक्सपियरके दुःखान्त नाटक अनुवादोंके द्वारा हमारे नागरिक समाजको विषाक्त कर चुके हैं और जहाँ दुःखान्त कथानकके योरोपीय चित्र हमारे नागरिकोंका मनोरँजन करते हैं। किन्तु हमारे जन समाजकी नब्बे प्रतिशत जनताका प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्रामनिवासियोंमें रामायण और भागवतके नायकोंने ऐसी धर्मभीरुता भर दी है कि वे उतनी शीघ्रता और तत्परतासे पापकी ओर प्रवृत्त नहीं होते जितने नगरवासी होते हैं। जिस क्षुद्रता, स्वार्थ एवं प्रतारणाकी चर्चा द्विजेन्द्रलालरायने की है वह भारतके लिये ग्राह्य नहीं हो सकती है। ईसामसीह और सुकरात जो दुष्टोंके आखेट बने उसका भी कारण वहाँकी संस्कृति हैं। हमारे यहाँ जितने भी काव्यनायक हुए हैं उन सबमें ऐसे विशिष्ट गुणोंका आरोप किया गया है कि उनके लिये दुःखात्मक अन्तका प्रश्न हो ही नहीं सकता। जिन महाकाव्योंसे हमारे नाटकोंकी सामग्री ली गई है उन सभीमें व्यापक रूपसे यही देखा जाता है कि नायकको अनेक प्रकारके कष्ट तो उठाने पड़ते हैं किन्तु अन्तमें उसकी विजय होती ही है। धर्मकी जो व्याख्या द्विजेन्द्रलालरायने की है वह अत्यन्त उदात्त है किन्तु उसका आधार इतना ऊँचा है कि वहाँतक सबकी गति नहीं हो सकती है। व्यासजीने धर्मका स्वरूप पूछनेपर यही कहा था—

प्रभवार्थाय लोकानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति मे मतः॥

[लोक-कल्याण और अहिंसासे युक्त आचरणको ही धर्म कहते हैं]। महापुरुषों या महाकाव्यके नायकोंने सदा यही काम किया। ये लोग इतने उदात्त चरित्रके होते थे कि उनके लिये दुःखद अन्त सम्भव ही नहीं हो सकता है। अरस्तूने भी जहाँ दुःखान्त नाटकोंकी योजना की है वहाँ स्पष्ट रूपसे साधारण सज्जनकी किसी त्रुटि या भूलसे ही दुःखद अन्त प्राप्त करनेकी बात सुझाई है, किन्तु हमारे नायक तो असाधारण हैं इसलिये वे योरोपीय परिभाषाके अनुसार भी त्रासद या दुःखान्त नाटकके भीतर नहीं आते। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि नाटक देखनेवाली साधारण जनता पाप और पुण्यके बीच बहुत विवेक नहीं कर सकती है, इसलिये उसके सम्मुख बहुत सोच-विचारकर सामग्री उपस्थित करनी चाहिए। शेक्सपियरके नाटकोंमें नृशंस हत्या-के जो बीभत्स दृश्य मिलते हैं, वे कभी जनताकी रुचि परिष्कृत नहीं कर सकते। उन्हें पढ़कर और देखकर हृदय थर्रा उठता है, काँप जाता है, बुद्धि भी उसका समर्थन नहीं कर पाती। शेक्सपियरके अथेलो नाटकमें जिस निर्दयताके साथ साध्वी डैस्डीमोनाकी हत्या की जाती है, वह कम लोम-हर्षक नहीं है. उससे भयानक रस नहीं उत्पन्न होता है उसपर क्रोध उत्पन्न होता है, खीझ होती है—

डैस्डीमोना—मुझे मारिए मत मेरे नाथ! मुझे घरसे निकाल दीजिए।

अथेलो—चुप हो दुष्टे।

डैस्डीमोना—अच्छा कल मार डालिएगा, बस रात भर जीने दीजिए।

अथेलो—नहीं नहीं, कुछ करेगी तो बस—
डैस्डीमोना—अच्छा आध घण्टा।
अथेलो—नहीं, एक क्षण भी नहीं।
डैस्डीमोना—मैं प्रार्थना तो कर लूँ।
अथेलो—बस बहुत देर हो गई
(गला घोंटकर मार डालता है)

ऐसी अन्यायपूर्ण बीभत्स हत्या रंगमंचपर दिखाकर उन निर्मम, नीच, पशुप्राय मनुष्योंको प्रोत्साहन नहीं दिया जा सकता जो छोटी छोटी भूलोंपर अपनी सती साध्वी पत्नियोंको यातना देखकर मारते-पीटते हैं और उनका जीवन नरकमय किए रहते हैं। चाहिए तो यह था कि जिस समय अथेलो अपनी पत्नीका गला घोटनेको तैयार होता है, उस समय किसी नाट्य-कौशल द्वारा डैस्डीमोनाके सतीत्वका प्रमाण मिल जाता और अथेलो पश्चात्तापसे पागल होकर द्वार-द्वार घूमकर अपनी मूर्खताका उद्घोष करता। किन्तु इस हत्याका शुद्ध उद्देश्य यही है कि सतीत्वका कोई महत्त्व नहीं, अन्यायका कोई प्रतिकार नहीं, सत्य और नीतिका मानो कोई समर्थक नहीं।

यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकारके दुःखान्त नाटकोंका सबने समर्थन ही किया है। समर्थ अंग्रेज समीक्षक एडीसनने कहा है—

"करुणा और भय उत्पन्न करनेके सब साधनोंमें इतना असंगत और पाशविक कोई साधन नहीं है जितना अंग्रेजी रंगपीठपर पारस्परिक हत्या है और जिसके कारण हमारे पड़ोसी हमसे घृणा करते और हमारा उपहास करते हैं।

"मनुष्योंको छुरेसे आहत होते, विषपान करते और कारागारकी यातना सहन करते देखकर प्रसन्न होना वास्तवमें हमारे निर्दयी स्वभावका परिचायक है। ब्रिटिश रंगपीठोंपर प्रायः ऐसे नाटक देखकर फ्रांसीसी समालोचकोंने इसे हमारी विशेषता समझकर हमें रक्तपिपासु सिद्ध किया है। यह सचमुच कितनी भद्दी बात है कि हमारे दुःखान्त नाटकोंके अन्तिम दृश्य शवोंसे भरे मिलते हैं और नेपथ्यशालामें बहुतसे छुरे, कटार, चक्र, विषपात्र आदि अनेक मृत्युके साधन दिखाई पड़ते हैं।"

अतः लोकरंजन, लोकहित, लोकमंगल और लोक-विश्रान्तिके दृष्टिसे ऐसे ही नाटक लिखना चाहिए जिसमें वध और मृत्युके दृश्य न दिखाए गए हों।

नाटकमें पद्य

● पद्यमग्राह्यम् सर्वत्र॥
[पद्यप्रयोग सर्वदा अनुचित।]

बहुतसे आचार्योंका यह विचार है कि नाटकमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग होना चाहिए। संस्कृत नाटक-

कारोंने भी अपने संवादोंमें गद्य और पद्य दोनोंका प्रयोग किया है, उनमें जहाँ वर्णन, भाव या रसकी अभिव्यक्ति करनी हुई है वहाँ-वहाँ पद्यका प्रयोग खुलकर किया गया है। केवल नमस्कार, आशीर्वाद, शिष्टाचार-वाक्य, आदेश, प्रस्ताव या वक्तव्य आदि गद्यमें कहे गए हैं। इस पद्यका रोग किसी-किसी नाटकमें यहाँ तक बढ़ गया है कि कहीं-कहीं "अपि च, तथा हि" आदि लगाकर निरर्थक पद्योंकी संख्या बढ़ाई गई है जिससे कभी-कभी नाटकमें नीरसता आ जाती है। पारसी रंगमंचपर जो नाटक लाए गए उनकी भी यही विशेषता थी कि उनमें बात-बातपर पद्य कहे जाते थे, यहाँतक कि इन्दर-सभा नामका नाटक तो केवल पद्यमें ही लिखा हुआ है, उसके सब संवाद पद्यमें ही होते हैं।

पद्यका प्रयोग किस नियमसे करना चाहिए इसका तो विधान नाट्य-शास्त्रमें किया नहीं गया। उसके पंचदश अध्यायके ११८ और ११९ श्लोकोंमें कहा गया है—

इति छन्दांसि जातानि मयोक्तानि द्विजोत्तमाः।
ध्रुवान्येतेपु नाट्येऽस्मिन् प्रयोज्यानि निबोधत।

[हे द्विजश्रेष्ठ! ऊपर मैंने जो छंद बताए हैं इन्हें निश्चित रूपसे नाट्यमें प्रयोग करने चाहिए यह समझ लो।]

किन्तु किस क्रमसे और कहाँ-कहाँ छंदोंका प्रयोग करना चाहिए इस विषयमें कुछ नहीं कहा गया है। सप्तदश अध्यायके अन्तमें यही कहा है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं।
बुधजन सुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम्॥

[जिसमें कोमल, ललित पद और अर्थ हों गूढ़ शब्दार्थ न हो, विद्वानोंको सुखदेने योग्य हो, बुद्धिमान् उसे खेल सकें, बहुतसे रसोंके लिये जिसमें अवकाशहो, सब नाट्य-सन्धियाँ ठीकसे बँधी हुई हों—इस प्रकारका जो नाटक होता है वह प्रेक्षकोंके लिये संसारमें श्रेष्ठ नाटक समझा जाता है।]

इसमें भी यह नहीं बताया गया है कि कितना और कौनसा अंश पद्यमय हो और कितना गद्यमय हो। यह सब नाट्याचार्योंने नाट्यकारपर छोड़ दिया है।

गद्य और पद्यके प्रयोगका हमें दो दृष्टियोंसे परीक्षण करना चाहिए। एक तो प्रभावकी दृष्टिसे और दूसरे स्वाभाविकताकी दृष्टिसे। जहाँतक प्रभावका प्रश्न है—यह देखा गया है कि पद्यमें कहे हुए वक्तव्य अधिक प्रभावशाली होते हैं, जनता पद्यके बन्धन या रचनासे इतनी प्रभावित होती है कि वह तत्काल पद्यको सुनकर वाह कर उठती है और पद्यमें होनेसे कोई वक्तव्य जनताकी स्मृतिमें भी चिरस्थायी हो जाता है। यह शक्ति गद्यमें नहीं है। पीछे हम उपदेश और विश्रान्तिको भी नाट्यका उद्देश्य मान आए हैं। उस दृष्टिसे यह आवश्यक है कि नाट्यमें जितनी बातें कही जाँय वे इस कौशल और रीतिसे कही जायँ कि उन्हें लोग स्मरण रखकर विशेष अवसरपर उनका प्रयोग करके अपना और दूसरोंका कल्याण कर सकें। आज भी संस्कृत नाटकोंके न जाने कितने पद्य संस्कृतके पण्डितोंमें इतने प्रचलित हैं कि पद पदपर उनका प्रयोग किया जाता है।

जहाँतक स्वाभाविकताकी बात है, पद्यका प्रयोग होना ही नहीं चाहिए, क्योंकि यदि नाट्य अवस्थानुकृति है तो साधारण जीवनमें कहीं भी बातचीत या व्यवहारमें पद्यका प्रयोग नहीं होता। केवल कभी कभी प्रसंगानुकूल उदाहरण देते हुए या कोई बात समझाते हुए किसी प्राचीन सूक्तिकार या कविकी कोई सूक्ति कह दी जाती है। अतः इस प्रकार यदि पद्यका प्रयोग हो तो वह श्लाघ्य, उचित और स्वाभाविक कहा जा सकता है किन्तु उसकी भी सीमा होनी चाहिए। हम बात-बातमें तुलसीकी चौपाई, सूरके पद या रहीमके दोहे नहीं कहते फिरते। कभी-कभी विशेष प्रसंग आ पड़नेपर बहुतसे गद्यात्मक वाक्योंके बीचमें एकाध पद्य कह दिया जा सकता है। अतः स्वाभाविकताकी दृष्टिसे पद्यका प्रयोग नितांत अयुक्त है।

पद्य या गद्यके प्रयोगके संबन्धमें लोकरुचिका भी ध्यान रखना चाहिए। संस्कृत नाटकोंमें पद्यकी बहुलता देखकर यह कल्पना की जाती है कि लोगोंको श्लोक बड़े प्रिय थे। यूनान और रोमके नाटकोंमें भी पद्यका ही बोलबाला था क्योंकि उनके यहाँ पूरा नाटक प्रायः गाकर ही खेला जाता था। किन्तु यह गद्य-युग है, स्वाभाविकताका युग है। आजकल लोग पद्यको अनुचित, असंगत, अस्वाभाविक और निरर्थक समझते हैं। इसके लिये वर्तमान

स्वाभाविक अभिनय-कला भी उत्तरदायी है। पद्यमय संवादोंके अभिनेताको अतिनाट्य या अपनाट्यका आश्रय लेना ही पड़ता था किन्तु स्वाभाविक नाट्यमें पद्यके अंश ठीक-ठीक बैठते ही नहीं। अतः नाट्यकारके लिये सुमार्ग यही है कि सब संवाद गद्यमें ही रक्खे और पद्यका प्रयोग केवल वहीं करे जहाँ कोई सिद्धान्त या कोई उपदेश कहने की आवश्यकता पड़े और वह भी इस प्रकारसे कहा जाय कि अस्वाभाविक न जान पड़े।

गीतोंका प्रयोग

● अतिगीतमविधेयम्॥

[बहुत गीत भी उचित नहीं है।]

आजकलके नाटककार जहाँ एक ओर स्वाभाविकताकी दुहाई देते हैं वहाँ दूसरी ओर लोकरंजनका बहाना लेकर गीतोंकी भरमार किए रहते हैं। इनमें भी कई प्रकारके गीत होते हैं। कुछ तो एक व्यक्ति द्वारा गाए जाते हैं कुछको दो व्यक्ति संवादके रूपमें गाते हैं, कुछ गीतोंको समवेत रूपसे मिलकर गाते हैं, कुछ ऐसे हैं जिन्हें एक व्यक्ति बोलता चलता है दूसरे उसके पीछे आवृत्ति करते चलते हैं। इनमेंसे संवादके रूपमें गाए जानेवाले गीत अत्यन्त अस्वाभाविक होते हैं यद्यपि अधिकांश जनता उन्हींको श्रेष्ठतर समझती है।

इन सब गीतोंके सम्बन्धमें दो सिद्धांत निश्चित रूपसे समझ लेने चाहिएँ—एक तो 'अतिसर्वत्रवर्जयेत्'। किसी भी वस्तुकी बहुलता उसका सौन्दर्य नष्ट कर देती है। प्रत्येक वस्तु अपने अपने स्थान और अवसरपर सुन्दर लगती है। दूसरे यह देखना चाहिए कि जिस स्थान पर गीत अधिक सार्थक, स्वाभाविक और उपयुक्त हो—वहीं उसका विधान करना चाहिए। नायकके वियोगमें नायिकाका और नायिकाके वियोगमें नायकका बैठे राग अलापना, परस्पर मिलनेपर दोनोंका संगीतमय वार्तालाप करना, किसी इष्टके निधनपर गीत गाकर रोना आदि ऐसे अनुपयुक्त और अस्वाभाविक प्रसंग हैं जहाँ गीतका प्रयोग करनेसे जनताका मनोरंजन भले ही होता हो किन्तु गीति और नाट्यरसकी हत्या हो जाती है और ठीक प्रकारसे रसानुभूति होनेमें भी बड़ी बाधा पड़ती है। अतः नाटककारको केवल वहीं गीतका विधान करना चाहिए जहाँ वह नाट्य-वस्तुकी आवश्यकताके अनुकूल हो जैसे महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्रमें किया है क्योंकि वहाँ मालविकाका गीत और नृत्य नाटकीय वस्तुमें सहायता देनेवाला है।

संवाद सर्वश्राव्य हो

● सर्वश्राव्याश्चसंवादाः।

[सर्वश्राव्य संवाद सदा हो।]

प्राचीन नाट्याचार्योंने संवाद तीन प्रकारके बताए हैं—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य और अश्राव्य। इनमेंसे जो सबके सुननेके लिए हो अर्थात् रंगमंचपर उपस्थित पात्रोंके भी सुननेके लिये हो उसे सर्वश्राव्य या प्रकाशवचन कहते हैं और जो सबके लिये अश्राव्य हो उसे स्वगत कहते हैं।

सर्वश्राव्यं प्रकाशंस्यादश्राव्यं स्वगतं मतम्।

[दशरूपक१—६४]

इनके अतिरिक्त नियतश्राव्य दो प्रकारके कहे गए हैं—एक जनान्तिक और दूसरा अपवारित। जनान्तिक उसे कहते हैं जब त्रिपताकाकरकी मुद्रासे रंगमंचपर उपस्थित अन्य लोगोंकी ओट करके दो व्यक्ति परस्पर बातचीत करते हैं और अपवारित उसे कहते हैं जब उपस्थित व्यक्तिकी ओरसे घूमकर उसका कोई रहस्य कहा जाता हो। इनके अतिरिक्त एक आकाशभाषित भी होता है जहाँ बिना दूसरे पात्रके ही एक पात्र आकाशकी ओर देखकर इस प्रकार प्रश्न और उत्तर करता है मानो वह किसीसे बात-चीत कर रहा हो जैसे भाण रूपकमें होता है।

आजकलके नाटककार इनको अस्वाभाविक मानते हैं। जनान्तिक, अपवारित और आकाशभाषित तो प्रत्यक्ष रूपसे अस्वाभाविक हैं ही। रंगमंचपर उपस्थित लोगोंके सम्मुख कोई बात कही जाय उसे सारी जनता सुने और रंगमंचवाले लोग न सुन पावें—यह सर्वथा असंगत बात है। प्राचीन-युगमें प्रतीकात्मक अभिनय होता था। उस समय त्रिपताकाकरकी मुद्रा साध लेनेपर जनता यह समझ जाती थी कि अब जो बात कही जायगी वह केवल हमारे लिये है, रंगपीठपर उपस्थित अन्य लोगोंके लि

नहीं है। किन्तु आजकल जब उस त्रिपताकाकरका विधान ही नहीं है तब जनान्तिक और अपवारितकी कोई उपादेयता और आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यही बात स्वगतकथनके विषयमें कही जा सकती है। ये स्वगत-कथन योरोपीय रंगशालामें बड़े महत्त्वके समझे जाते थे और उनमेंसे बहुतसे स्वगत-कथन तो विश्व-साहित्यकी अमर-विभूति हैं किन्तु स्वाभाविकताकी कसौटीपर वे भी खरे नहीं उतरते। मनुष्य कभी अपनी सोची हुई बात चिल्लाकर या हल्ला मचाकर नहीं कहता। वह जो चिन्तन करता है उसकी क्रिया मौन होती है। यह मानसिक क्रिया भी जनताके सम्मुख उपस्थित करनी चाहिए जिससे उसका चरित्र जनताके समझमें आ सके। इसी विचारसे स्वगत-कथनकी सृष्टि की गई थी, किन्तु स्वगतकथन या मानसिक क्रियाकी अभिव्यक्ति उसके कार्यके द्वारा प्रदर्शित करनी चाहिए, शब्दोंके द्वारा नहीं। जबतक यह मानसिक क्रिया अभिव्यक्त नहीं होगी तभीतक कुतूहलका निर्वाह होता रहेगा। अतः कलाकी दृष्टिसे भी कुतूहलकी रक्षा करनेके लिये स्वगतकथनका बहिष्कार करना चाहिए। वर्त्तमान युगके सभी विदेशी नाकटकारोंने यही नीति अपनाई है और इस प्रकारसे नाटक लिखने प्रारंभ किए हैं कि सर्वश्राव्य संवादों और सर्वदृश्य क्रियाओंके द्वारा ही नाट्य-वस्तुका प्रसार करें। अतः संवादमें स्वगतकथन, जनान्तिक, अपवारित और आकाशभाषितका प्रयोग नहीं करना चाहिए। जो कुछ वर्णनीय हो वह सर्वश्राव्य संवादों और व्यापारोंके द्वारा ही अभिव्यक्त कर देना चाहिए।

नाटकका परिमाण

दशघटिकाप्रयोगावधियुक्तं नाट्यम्‌ ॥

[दस घड़ियोंमें पूर्ण हो सके वह नाटक है श्रेष्ठ।]

वर्त्तमान नाटककारके सम्मुख एक यह भी बड़ा प्रश्न है कि नाटक कितना बड़ा हो। वह युग गया जब लोग रात-रात भर बैठकर आनन्दसे नाटक देख सकते थे। आजकल जीवन अधिक व्यस्त हो गया है, मानवीय संबन्ध इतने अधिक और इतने प्रकारके हो गए हैं कि मनुष्य मनोरंजनके लिये उतना समय नहीं दे सकता। चलचित्र और बोलपटके आ जानेसे इतने सस्तेमें और थोड़े समयमें लोगोंका मनोरंजन हो जाता है कि अधिक व्ययसाध्य और अधिक समयसाध्य मनोरंजनकी ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। घर-घरमें नभोवाग्यंत्र (रेडियो) लग जानेसे घरपर ही लोगोंका मनोरंजन होने लगा है क्योंकि उससे केवल व्याख्यान या समाचार ही नहीं मिलते प्रत्युत गीत, नृत्य, काव्य, संवाद और श्रव्य नाटकोंका भी रस मिलता है। अतः हमारे लिये उचित है कि नाटकको भी सस्ता और अल्पसमयसाध्य बनाया जाय। इसके तीन उपाय हैं—नाटक अधिकसे अधिक चार घण्टेमें समाप्त कर दिया जाय और ठीक अवधि तो यह है कि ढाई घण्टेमें नाटक समाप्त हो जाय। दूसरी बात यह है कि नाटकमें पात्र कम हों जिससे उनकी वेश-भूषा, नेपथ्य-कर्म तथा शिक्षामें कम सामग्री और समय लगे। तीसरी बात यह है कि नाटकमें बहुत कम दृश्य हों जिससे कि दृश्य-विधानमें बहुत द्रव्य न लगे। ये तीन बातें होंगी तो नाटक खेलनेवालोंको सुविधा होगी, पात्र छाँटना सरल होगा, थोड़े पात्रोंको अधिक मनोयोगसे शिक्षा दी जा सकेगी, बहुधंधी लोग भी थोड़े समयवाले नाटकको अधिक संख्यामें देख सकेंगे और उसकी व्यवस्था करनेमें भी कठिनाई नहीं होगी। विशेष बात तो यह है कि चल-चित्रके समान एक दिनमें दो-दो तीन-तीन खेल भी दिखाए जा सकेंगे। अतः यह निष्कर्ष निकला—

अल्पकालिकाल्पपात्रदृश्यमयं नाट्यं श्लाघ्यम्‌॥

[अल्प कालका, अल्प-पात्रका, अल्प दृश्यका नाटक श्लाध्य।]

योरोपमें विशेषतः जैकोस्लोवाकियामें जो लघु नाटक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था अब वह आन्दोलन योरोप भरमें फैल गया है। इनका उद्देश्य यह है कि छोटे उठौआ रंगपीठ हों जिन्हें इधरसे उधर लाया ले जाया जा सके, उनपर खेले जानेवाले नाटक छोटे हों, उनमें पात्र कम और दृश्य-विधान अत्यन्त सरल हों। जबतक हमारे देशमें भी इस प्रकारसे नाटक सरल नहीं किए जायँगे तबतक नाट्य-कलाका उद्धार नहीं किया जा सकता। किन्तु बड़े नगरोंमें जहाँ बहुव्ययसाध्य नाट्यशालाएँ बन सकती हैं या बनी हुई हैं वहाँके लिये उसके अनुरूप भी नाटक लिखे जा सकते हैं किन्तु समय, पात्र और दृश्यकी अल्पताका ध्यान रखना ही होगा।

इन सब सिद्धान्तोंकी विवेचना करनेके पश्चात् हम इस

निष्कर्षपर पहुँचे कि नाटकमें अभिनेयता होनी ही चाहिए अर्थात् वह खेलनेके योग्य हो केवल पढ़ने की वस्तु नहीं। उसमें एक ही प्रधान कथा या इतिवृत्त होना चाहिए। उसका अन्त सुखमय होना चाहिए, उसमें ऐसे दृश्य नहीं होने चाहिएँ जो अश्लील या विनाशात्मक हों, उसमें संवाद गद्यात्मक हों, गीत केवल उपयुक्त स्थलपर नियोजित हों, उसे दिखाना रंग-व्यवस्थापककी शक्तिके बाहर न हो, उसमें पात्रों और दृश्योंकी संख्या कम हो, संवाद केवल सर्वश्राव्य हों, वह थोड़े समयमें दिखाया जा सके, उसमें आदिसे अंततक कुतूहल व्याप्त हो और उसकी निवृत्ति सुखान्त ही हो। इन सब बातोंका ध्यान रखकर जो नाटक लिखे या खेले जायँगे उनसे राष्ट्रका हित होगा और नाट्यकलाकी रक्षा होगी।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचिताभिनव- नाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे सिद्धान्तप्रकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

—:※※※:—

नाट्यकार

नाट्य-रचनाके सिद्धान्तोंका वर्णन करनेके पश्चात् नाटकके विधाता नाट्यकारका वर्णन सबसे पहले करना सर्वथा उचित है। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके भूमिका-पात्र विकल्प नामक पैंतीसवें अध्यायमें कहा है—

> यस्मात्पूर्वोपदिष्टान् तांश्च-भावांश्च सत्त्वसंयुक्तान्।
> भूमिविकल्पो नयति च नाट्यकारसंज्ञितस्तस्मात् ॥७७॥

[जो व्यक्ति पहले बताए हुए सात्त्विक भावोंको पात्रोंमें प्रतिष्ठित करता है वह नाट्यकार कहलाता है]

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीनों लोकोंकी सभी अवस्थाओंका अनुकरण नाट्यमें होता है अर्थात् संसारमें जो कुछ सुख-दुख हैं उन सबको व्यवस्थित रूपमें प्रकट करना ही नाट्य कहलाता है। ये सभी सुख और दुःख प्राणिमात्रके सात्त्विक-भाव हैं। इन्हीं सात्त्विक भावोंको जो पात्रोंमें डालता है या आरोप करता है वही नाट्यकार कहलाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकारको मनुष्यके सब भावोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिए अर्थात् नाट्यकारको यह ज्ञान होना चाहिए कि किस प्रकारका कौन सा व्यक्ति [illegible] या असाधारण परिस्थितिमें किस प्रकार आचरण या व्यवहार करता था, करता है, कर सकता है या उसे करना चाहिए। इस दृष्टिसे प्रत्येक नाटककारको भूत और वर्तमान समाजोंका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसे पुराण, इतिहास, वर्तमान [illegible] सामाजिक आचारोंका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञानके अन्तर्गत वे सब शास्त्र, शिल्प और क्रियाएँ [illegible] समाजोंमें प्रचलित हों। अतः नाट्य-[illegible], समाज और मानव शास्त्रका पूर्ण पण्डित [illegible]।

किन्तु नाट्यकारकी योग्यता यहीं समाप्त नहीं हो जाती, उसे भूमि-विकल्प करना पड़ता है अर्थात् नाटकीय पात्रोंमें सात्त्विक भावोंका आरोप करना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यकार अपने चरित्रोंमें इस प्रकारसे सात्त्विक भाव भरे कि उससे नाटकके उद्देश्य और रसका निर्वाह हो सके। यह तभी संभव है जब नाटककार रंगपीठ-की संपूर्ण गति-विधि और लोक-मानस अर्थात् लोगोंकी मनोवृत्ति भली भाँति पहचानता हो, जब वह समझता हो कि कौन सी घटना किस प्रकारके पात्रोंके द्वारा किस ढंगसे रंगपीठपर दिखाई जाय कि जनता उस ओर आकृष्ट हो। अतः नाट्यकारको रंगपीठके सब आचारोंका और विधानोंका पूरा ज्ञान होना चाहिए, साथ ही लोक वृत्ति और लोक-रुचिका भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। रंगपीठके आचार और विधानके अंतर्गत दृश्य विधान, अभिनय और संगीत आदि सभी व्यापार आ जाते हैं। जबतक नाटककारको इन सब बातोंका ज्ञान नहीं होता तब तक वह सात्त्विक भावोंका आरोपण अपने पात्रोंमें कैसे कर सकता है? अतः नाटककारका लक्षण यह हुआ—

> **● लोकेतिहासभाषासंगीताभिनय-रंग-**
> **व्यापारलोकवृत्तिज्ञः नाट्यकारः ॥**

[इतिहास और संगीत-कला भाषा अभिनयका जो ज्ञाता।
लोक-वृत्तिका मर्म-ग्राही नाट्यकार वह बन पाता ॥]

कवि नाटक क्यों लिखता है।

यों तो अपने मनके भावोंको व्यक्त करनेके लिये कवियोंने अनेक भाव शैलियोंका काव्यमें निर्माण किया है किन्तु नाटकको ही कुछ लोग अपने विचारों और उद्देश्यों

की अभिव्यक्तिका साधन क्यों बनाते हैं? उसके अनेक कारण हैं। पहली बात तो यह है कि नाटकमें सभी कलाओं का संयोग होता है अतः उसकी ओर जनताकी स्वाभाविक रुचि होती है। उसके द्वारा जो कुछ दिखलाया जाता है उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान लोगोंको होता है। दूसरी बात यह है कि अधिक से अधिक लोगोंतक अपना उद्देश्य और आदर्श पहुँचानेका सरलतम साधन नाटक है। बहुतसे लोगोंके पास इतना समय नहीं है कि वे पुस्तक पढ़ सकें, बहुतसे लोगोंको इतना ज्ञान भी नहीं है कि वे पुस्तक समझ सकें, बहुत से लोगोंको इतनी समझ भी नहीं है कि पुस्तक पढ़कर उसका भाव ग्रहण कर सकें। ऐसी स्थितिमें नाटक ही एक मात्र ऐसा साधन रह जाता है जिसकी ओर अधिकसे अधिक लोग प्रवृत्त किए जा सकते हैं, जिसमें अधिकांश लोग समान रूपसे रस लेते हैं और जिसकी ओर सबकी स्वाभाविक रुचि होती है। प्रत्येक लेखक यह चाहता है कि अधिकसे अधिक लोग मेरी बात सुनें। उसकी यह लोकेषणा नाट्यके द्वारा सरलतासे तृप्त हो जाती है। इसीलिये विश्वके बड़े-बड़े साहित्यकारोंने नाटकका आश्रय लिया है।

कभी-कभी नाटक देखनेसे भी नाटक लिखनेकी प्रेरणा होती है। नाटक लिखनेके समय नाट्यकार अपने नाटकका कल्पित प्रयोग अपने मानस-रंगपीठ पर करता चलता है और उसका आनन्द लेता चलता है। यह आनन्द भी उसे नाटक लिखनेकी प्रेरणा दे देता है। कभी-कभी मनुष्यकी स्वतःवृत्तियाँ किसीमें अधिक श्रद्धाके कारण या किसीके प्रति अधिक अश्रद्धा या घृणाके कारण उन्हें लोक-वंदित या लोक-निंदित होते देखनेके लिये व्याकुल रहती हैं। यही वृत्ति प्रतिभाशील साहित्यकारको नाटक लिखनेके लिये प्रवृत्त करती है और जब उस साहित्यकारके श्रद्धेय या अश्रद्धेय-पात्र रंगपीठपर पहुँचकर लोक वंदनीय या लोक-निन्दनीय बनते हैं तब नाट्यकारको आत्म-तुष्टि प्राप्त होती है। कभी-कभी अपने मानसिक-भावोंके परिष्कारके लिये भी कवि नाटककी रचना करता है। वह जो प्रिय या अप्रिय अनुभव करता है उसे दूसरोंमें आरोपित करने भरसे उसके मानसिक भावका परिष्कार हो जाता है और उसे बड़ा संतोष मिलता है। यदि किसीके प्रति किसी समाज या वर्ग या व्यक्तिने अन्याय किया हो और हम उस अन्यायका प्रतिकार न कर सकें तो हम नाटकके द्वारा वैसे पात्रोंकी सृष्टि करके नाटकमें अन्यायीको दण्ड दिलाकर मूल अन्यायीके अन्यायका प्रतिकार न कर सकनेके दोषका परिहार या प्रायश्चित कर लेते हैं।

मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है, और मनुष्य क्या, सभी प्राणी अनुकरणशील होते हैं किन्तु अनुकरणशील होते हुए भी सामाजिक शील और शिष्टाचारसे इतने आबद्ध होते हैं कि साधारणतः हम दूसरोंका अनुकरण करनेमें संकोच करते हैं, शिष्टताके विरुद्ध समझते हैं। इसलिये एक ऐसा सामाजिक विनोद हमने ढूँढ़ निकाला जिसमें सज्जनसे सज्जन, बुरेसे बुरे और हास्यास्पदसे हास्यास्पद व्यक्तिका अनुकरण करने और देखनेमें कोई संकोच या बाधा नहीं होती। इसलिये भी जिन्हें समाजके विशिष्ट लोगोंका अनुकरण प्रिय हुआ उन्होंने भी नाटककी ही शरण ली। बहुतसे नाटककार तो नाट्यशालाओं या नाटक-मडंलियोंसे सम्बद्ध रखनेके कारण ही नाटक लिखने लगे और ऐसे नाटककार अधिक सफल और लोकप्रय हुए हैं क्योंकि वे लोग नाट्यके सब मर्मोंसे परिचित रहते हैं और लोकरुचिको प्रभावित करनेके हथकंडों और कौशलोंको माँजे रहते हैं।

बहुतसे नाटककार परिस्थितिवश नाटककार हुए हैं। इनमें वे सभी हैं जो द्रव्यके लोभसे, अथवा किसी विशेष घटनाके कारण कोई दूसरा व्यापार न होनेसे इधर झुक गए हैं। कभी-कभी तो अपने धार्मिक या राजनीतिक भावोंको स्पष्ट प्रकट करनेमें भय खानेवाले व्यक्ति भी नाटककार बन गए हैं और ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जब नाटककारने केवल अपने सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये ही नाटककी सृष्टि की है। ये सब लोग परिस्थितिवश नाटककार बने हैं और इस प्रकारके नाटक लिखनेवाले निम्न श्रेणीके नाटककार समझे जाते हैं।

तीसरे प्रकारके वे भी नाटककार हैं जो किसी आश्रयदाता राजाकी प्रेरणासे, किसी व्यक्तिकी प्रेरणासे या किसी संस्थाकी प्रेरणासे नाटक लिखते हैं। इस प्रकारके नाटककार निकृष्ट कोटिके होते हैं क्योंकि उसमें आत्म व्यक्तित्वका या व्यक्तिगत रुचिका अभाव होता है।

ये नाटककार सिद्धान्तः चार प्रकारके होते हैं—आदर्शवादी, संभावनावादी, वस्तुवादी और भाग्यवादी।

सिद्धान्ततः चार प्रकारके नाटककार

● आदर्शसंभावनावस्तुभाग्यवादिनः नाट्यकाराः ॥

[आदर्श संभावना वस्तु भाग्यवादी चार प्रकारके नाट्यकार।]

आदर्शवादी नाटककार

आदर्शवादी नाटककार वे हैं जो अपने प्रधान पात्रमें केवल गुण ढूँढ़ते हैं। ये भी चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जो अपने देशकी प्राचीन संस्कृतिके अनुरूप आदर्श नायक और आदर्श परिणाम ढूँढ़ते हैं और दूसरे वे हैं जो जो समय और युगधर्मके अनुसार आदर्श पात्रोंकी सृष्टि करते हैं। तीसरे वे हैं जो आदर्शवादमें केवल उपयोगिता ढूँढ़ते हैं अर्थात् जो किसी एक व्यक्तिके सामूहिक पूर्ण चरित्रकी उपेक्षा करके केवल उन गुणोंतक अपना संबंध रखना चाहते हैं जो अपने समाजके लिये उपयोगी हों। चौथे वे हैं जो ऐसे आदर्श पात्रोंकी कल्पना करते हैं जो लोकसुख या प्राणिमात्रके कल्याणकी भावना रखते हैं। इनमें से चौथी प्रकारके आदर्शवादी अत्यादर्शवादी होते हैं जिनके लिये विश्वसाहित्यमें नायक ढूँढ़ना कठिन ही नहीं असंभव भी होता है, क्योंकि जो लोग लोकसुख या विश्व-कल्याणवादी होते हैं वे [illegible], बुद्ध और [illegible] विश्व बंधुत्वका राग अलापते हों किन्तु सार्वभौमिक कल्याण उनके द्वारा संभव नहीं हो सका क्योंकि यह सृष्टि गुण दोष मय है। इसमें बड़ेसे बड़ा [illegible] भी कभी दोषका समर्थन नहीं कर सकता। इसका [illegible] यह हुआ कि वह दोषीका भी समर्थन नहीं कर सका और दोषीका समर्थन न करनेका अर्थ है दोषियोंसे [illegible] लेना। यद्यपि ईसाने और बुद्धने जान-बूझकर [illegible] नहीं किया किन्तु फिर भी उनके विरोधियोंकी [illegible] थी। अतः ऐसा नायक ढूँढ़ना असंभव है जो [illegible] और [illegible] समान करता हो। [illegible] सार्वभौमिक हित [illegible] प्रचार करते हैं [illegible] हैं, एक तो [illegible] और दूसरे [illegible]। ये [illegible] हैं।

प्राचीन संस्कृतिके अनुसार आदर्श ढूँढ़नेवाले नाटककार भी तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो केवल किसीके विशिष्ट गुण देखकर उसपर रीझ जाते हैं और केवल उस विशिष्ट गुणकी प्रतिष्ठा करनेके लिये ही नाटक या काव्यकी रचना करते हैं। दूसरे वे हैं जो अपने इष्ट नायकके गुणकी तो प्रशंसा करते ही हैं, उसके दोषोंका भी तर्कपूर्ण समर्थन करते हैं। तीसरे वे कट्टर रूढ़िवादी हैं जिन्हें प्राचीन संस्कृति और युगकी प्रत्येक बातमें गुण, तथा नवीन संस्कृति और युगकी प्रत्येक बातमें अवगुण दिखाई देते हैं। ऐसे ऐकान्तिक आदर्शवादी नाटककी दृष्टिसे उपयुक्त नहीं होते क्योंकि नाटककारका धर्म यह है कि वह नायकको अनेक सम-विषम परिस्थितियोंमेंको ले जाता हुआ उद्दिष्ट परिणाम तक पहुँचा दे।

नवीन आदर्शोंके पक्षपाती नाटककार भी रूढ़िवादियोंके समान हठवादी होते हैं। उन्हें सब प्राचीन बातें अनुपयुक्त, असंगत, अव्यवहार्य, अनुचित, अवैज्ञानिक, असत्य और असंभव लगती हैं। वे प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं, युगकी आवश्यकता पूर्ण करना ही अपना ध्येय समझते हैं, मनुष्यकी शक्तिको ही वे परम शक्ति मानते हैं। ये भी तीन प्रकारके होते हैं, एक तो वे जो अपनी प्राचीन संस्कृति, विद्या तथा कलासे पूर्ण अपरिचिति होनेके कारण नवीनको ग्रहण करते हैं और प्राचीनका विरोध करते हैं। दूसरे वे हैं जो परिवर्त्तनको ही प्रकृतिका नियम मानते हैं और जिनका विश्वास है कि प्रत्येक स्थितिका परिवर्त्तन होना ही उसका विकास है किन्तु संभवतः वे यह नहीं जानते कि जैसे लयसे उत्पत्तिकी ओर जाना विकास है वैसे ही उत्पत्तिसे लयकी ओर जाना भी विकास है। इनमें से पहला श्रेय है और दूसरा हेय है। परिवर्त्तनवादी इस हेय-श्रेयके अन्तरको समझनेका प्रयत्न नहीं करते। वे परिवर्त्तन मात्रको श्रेय मानते हैं, भले ही वह विनाशकी ओर ही क्यों न ले जाता हो। तीसरे नवीनतावादी वे नाटककार हैं जिन्होंने केवल नवीन युगका ही अध्ययन किया है, नवीनके ही आदर्शोंमें जिनका पालन-पोषण हुआ है और नवीनकी विशेषताओंको जिन्होंने अधिक कल्याणप्रद समझा है। वे एकपक्षीय होते हुए भी पहले दोनों प्रकारके नाटककारोंसे अच्छे होते हैं क्योंकि पहले दोनों विद्वेष और हठसे प्रेरित होकर आदर्शकी स्थापना

करते हैं किन्तु नवीन आदर्शोंकी गोदमें पला हुआ नाटककार नवीनमें सात्त्विक श्रद्धा रखता है। वह जिस पक्षका समर्थन करता है वह उसका अनुभूत पक्ष है।

उपयोगितावादी आदर्शकी सृष्टि करने वाले नाटककार अपनेको अधिक मनोवैज्ञानिक बताते हैं। वे कहते हैं कि आत्म-कल्याण भी संसारका बहुत बड़ा आदर्श है। यह स्वार्थवाद उस प्रकारका नहीं हैं जिसमें दूसरोंका अकल्याण करके अपना हित साधनेकी प्रवृत्ति हो। इसके रूपमें आत्मोन्नति, महात्वाकांक्षाकी तृप्ति, यशोलिप्सा, अद्भुत और अलौकिक काम करनेका संकल्प, दूसरोंसे आगे बढ़नेकी सात्विक चेष्टा आदि भाव सन्निहित हैं। लोक-कल्याणकी दृष्टिसे 'आत्मानं सततं रक्षेत्' और आत्मोन्नति भी बहुत बड़े आदर्श माने गए हैं। दूसरेका अकल्याण किए बिना यदि कोई पैसा, धन या कीर्ति अर्जित करता है तो वह भी लोकके समक्ष उदात्त ही आदर्श उपस्थित करता है। यदि उस आदर्शके अनुसार सब लोग आत्मकल्याणमें जुट जायँ तो समाज समृद्ध, समुन्नत तथा सदाचारी हो सकता है। इन्हीं में वे लोग भी आते हैं जो अपने स्वको बढ़ाकर उसमें अपने परिवार, इष्ट-मित्र तथा संबंधियोंको भी घेर लेते हैं। इनका आत्म-कल्याण थोड़ा और विस्तृत हो जाता है। किन्तु ये दोनों ही समाजके लिये उतने हितकर नहीं हो सकते जितने वे नायक जो दूसरोंके सुखमें अपना कल्याण समझते हैं, दूसरों की उन्नतिमें अपनी उन्नति समझते हैं, दूसरोंकी समृद्धिमें अपनी समृद्धि समझते हैं। उपयोगिताको आदर्श माननेवाले नाटककार अधिकांश इस तीसरे प्रकारके नायकको अधिक महत्त्व देते हैं और इस प्रकारके नायक नवीन और प्राचीन दोनों आदर्शों की एक साथ पूर्ति भी करते हैं।

लोकसुखवादको आदर्श माननेवाले नाटककारोंके विषयमें हम पहले ही लिख आए हैं कि उनके लिये पहले तो नायक ही नहीं मिलते और यदि बलपूर्वक उसकी कल्पना भी की जाय तो वह अस्वाभाविक और अव्यवहार्य होगा। उसका चरित्र देखकर लोग आश्चर्यसे उसका आदर भले ही करें, उसपर मुग्ध भले ही हों किन्तु उसका अनुगमन नहीं कर सकते और जिसका अनुगमन कर सकते वह समाजके लिये व्यर्थ है।

संभावनावादी नाटककार

संभावनावादी नाटककारोंका यह सिद्धान्त है कि संसारमें कोई वस्तु असंभव नहीं है। साधारणतः सामाजिक नियम, राजदण्ड, लोकशील, शारीरिक निर्बलता तथा अक्षमता आदिके कारण मनुष्य बहुतसे इच्छित कार्य नहीं कर पाता। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि वह कुछ करना भी नहीं चाहता। अतः मनोवैज्ञानिकोंको यह कभी नहीं कहना चाहिए कि अमुक व्यक्ति अमुक अवस्थामें अमुक ही कार्य करेगा। साधारणतः एक माताकी संतति होनेके कारण दो भाइयोंमें प्रेम होना चाहिए और अधिकांश होता भी है किन्तु धन-सम्पतिका बँटवारा, एक भाईका दुर्व्यसनी होना, दोनोंका एक ही प्रेयसीसे प्रेम करना, दुःसंग, कलह-प्रिय पत्नियाँ, कानका कच्चा होना, किसी एकका अधिक उत्कर्ष आदि बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनके कारण अत्यंत प्रिय बन्धुओंमें अनबन हो सकती है, लड़ाई हो सकती है, यहाँतक कि मारपीट और हत्या भी हो सकती है। यह बात संसारके सभी संबन्धोंके विषयमें समान रूपसे आरोपित की जा सकती है। कभी-कभी अत्यन्त कायर और सुस्त व्यक्ति कोई अलौकिक और दूरूह कार्य कर बैठा है और बड़ेसे बड़ा बलवान उसी अवस्थामें चुप्पी साधकर बैठा रहा है। ऐसी अवस्थामें हम किसी कार्यका कोई स्वरूप नहीं निर्धारित कर सकते और जब स्वरूप निर्धारित नहीं कर सकते तब आदर्शकी कल्पना करना अनुपयुक्त और अव्यवहार्य है। उनके कथनानुसार राम ही एक पुरुष ऐसे हुए हैं जिन्होंने लोकापवादके भयसे सीताका परित्याग कर दिया। यह संभावनाके अन्तर्गत आता है, आदर्शवादके अन्तर्गत नहीं। क्योंकि आदर्श उन्हीं कार्यों को कहते हैं जो सबके लिये समान रूपसे ग्राह्य हों और सदा सब मनुष्य सब कालमें करके समाजकी रक्षामें योग देते हों। जैसे पिता की आज्ञा पालन करना एक आदर्श कार्य है जो सबको करना चाहिए और जिसके न करनेसे सामाजिक व्यवस्था विशृंखल हो सकती है किन्तु लोकापवादके भयसे पत्नीको निकाल देना असाधारण कार्य तो है किन्तु आदर्श नहीं है। यदि सभी व्यक्ति लोकपवादके भयसे अपनी पत्नियोंको निकालने लगें तो दुष्ट लोग किसीकी पत्नीपर आँख गड़ा कर उसे निकलवानेके लिये लोकापवादकी सृष्टि कर सकते हैं। इस प्रकारका आदर्श तो दुष्टोंके हाथमें ऐसा शस्त्र पकड़ा

देता है जिससे सारा समाज थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो सकता है और स्त्रियोंकी दशा तो अत्यन्त दयनीय हो सकती है। अतः रामका यह कार्य संभावनाके ही अंतर्गत आता है जहाँ एक विशिष्ट पुरुष राजधर्मके निर्वाहके लिये अपनी पत्नीके सतीत्वपर पूर्ण विश्वास रखते हुए भी केवल लोक-रंजनकी भावनासे अपनी पत्नीका परित्याग कर देता है।

संभावनावादियोंका यह भी कहना है कि नाटकीयता उत्पन्न करनेके लिये संभावना ही एक मात्र सिद्ध मार्ग है। फाँसीपर लटकाए जानेवाले किसी व्यक्तिको अकस्मात् कोई व्यक्ति आकर छुड़ा ले जाता है, नदीमें कूदते हुए किसी व्यक्तिको सहसा कोई पीछेसे पकड़ लेता है, जलते हुए मकानमें से सहसा कोई निकाल ले जाता है—ये सब कार्य स्वभावतः, साधारणतः नहीं होते। इनका समर्थन स्वाभाविकताके अनुसार नहीं किया जा सकता। किन्तु संभावना प्रत्येक बातकी हो सकती है और वही संभावना इन परिस्थितियोंमें आ कर नाट्यीय वस्तुमें कुतूहल उत्पन्न कर देती है और उसे सरस बना देती है।

ये संभावनावादी, नाटकमें एक ही तत्त्व मानते हैं और वह यह कि नाटकमें ऐसे अलौकिक-दृश्य ही दिखलाने चाहिएँ जो असाधारण होते हुए भी स्वाभाविक जान पड़ें। ये लोग परिस्थितिको प्रधान मानते हैं। इनका कहना है कि संसारमें समान परिस्थितियोंका सदा समान परिणाम नहीं होता। दीवाला निकल जानेपर एक व्यापारी खाट उलटकर बैठ जाता है, दूसरा नगर छोड़कर चला जाता है और तीसरा विषपान कर लेता है। अतः परिस्थिति ऐसी उत्पन्न करनी चाहिए कि उसमें पड़नेवाला कोई भी व्यक्ति चाहे किस प्रकारका भी हो वह विवश होकर उसी मार्गका अवलम्बन करे जो नाटककारको अभीष्ट हो और जिसे देखकर [illegible] भी यही कहे कि यदि मैं भी इस स्थानमें होता तो मैं भी यही करता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको किसी निश्चित उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिये या कोई निश्चित परिणाम निकालनेके लिये इस प्रकारसे परिस्थितियोंका [illegible] करना चाहिए कि उसमें पड़े हुए पात्र [illegible] अनुसरण करते हुए निर्दिष्ट परिणाम [illegible]।

[illegible] नाटककार दैवयोगमें भी विश्वास करते हैं। दैवयोगका [illegible] यही है कि जहाँ किस बात-की आशंका भी न हो वहाँ वह बात हो जाय। बरसोंसे बिछुड़े हुए भाईका सहसा मिल जाना, भली प्रकार सुरक्षित दुर्गके प्रकोष्ठमें शत्रुसे सहसा साक्षात्कार हो जाना, जहाँ गोलियाँ बरस रहीं हों वहाँसे अनाहत बचकर निकल जाना ये सब दैवयोगके उदाहरण हैं—ऐसे-ऐसे अनेक परिणाम देखनेको नित्य मिलते हैं। संभावनावादी नाटककार ऐसे ही उदाहरण एकत्र करते हैं। उनका विश्वास है कि जो सर्वत्र होता आया है और हो रहा है उसे लोकके सन्मुख उपस्थित करने से उनके मनमें यही भावना होगी कि जो कुछ हम संसारमें देखते हैं वही सत्य है। उन्हें धर्मसे विरक्ति हो जाती है, सत्यमें उनका विश्वास नहीं होता किन्तु संभावनाके अनुसार सिद्ध की जानेवाली घटनाएँ ऐसी हैं जिनसे यह विश्वास होता है जहाँ कोई सहायक नहीं वहाँ भी सहायता पहुँच सकती है, जहाँ कोई रक्षक नहीं वहाँ भी रक्षा हो सकती है और जबतक यह विश्वास लोगोंके मनमें नहीं बैठाया जायगा तबतक सत्कार्यके लिये आत्म-त्याग करने और कष्ट उठानेका कोई साहस नहीं करेगा।

वस्तुवादी नाटककार

वस्तुवादी नाटककार सब प्रत्यक्षवादी हैं। इनका विश्वास है कि संसारमें सुख नामकी कोई वस्तु नहीं है, संसारमें चारों ओर पाप और दुःख छाया हुआ है और लोग उसमें इतने रँग गए हैं कि वे इस दुःखको दुःख और पापको पाप नहीं समझते। अतः यदि वे दुःखको दुःखके रूपमें और पापको पापके रूपमें देखेंगे तो उन्हें दुःख और पापकी अनुभूति होगी और उससे वे विरक्त होनेकी चेष्टा करेंगे। ये वस्तुवादी नाटककार पापका प्रदर्शन करके पापसे उद्धारकी कल्पना करते हैं। ये लोग असाधारणमें विश्वास नहीं करते। इनका कहना है कि असाधारण पुरुष और असाधारण परिस्थिति दोनों संभव हैं किन्तु वह हमारे किस कामकी? इतनी शताब्दियोंमें और इतने बड़े संसारमें राम केवल एक हुए और वे भी ऐसे हुए कि वहाँतक सबकी पहुँच नहीं है अतः जो वस्तु अप्राप्य है, उसके लिये व्यर्थ प्रयत्न क्यों किया जाय। जो वस्तु है और प्रत्यक्ष दिखाई देती है उसीमें संशोधन करके उसे क्यों न ऐसा बना दिया जाय कि सर्वसाधारणकी उसमें गति हो सके ये वस्तुवादी नाटककार भाग्यमें कम विश्वास करते हैं,

पौरुषमें अधिक। ये कर्मफलको मानते ही नहीं। इनका विश्वास है कि मनुष्य-जातिके कुछ वर्गोंने छल तथा अन्यायके साथ अपने वर्गके लिये कुछ विशेष सुविधाएँ सुरक्षित कर कर ली हैं और दूसरे लोगोंको दुःख भोगनेके लिए छोड़ दिया है। यदि समाजका विधान बदल दिया जाय तो वे सब दुःख तो दूर हो सकते हैं जिन्हें लोग ईश्वरप्रदत्त या भाग्य-प्रदत्त समझते हैं। वस्तुवादी नाटककार केवल उन्हीं तथ्यों और वस्तुओंको ग्रहण करनेके पक्षमें है जिनका समर्थन तर्क और बुद्धिके द्वारा हो सके। जो बात विज्ञान-से सिद्ध न हो, विवेकके द्वारा जिसका समर्थन न हो सके उसे वे अग्राह्य समझते हैं। उनका तर्क यह है कि दर्शक या प्रेक्षक अपने सम्मुख होनेवाली जिन घटनाओं-को देखता है वह उनमेंसे उन्हींको ग्रहण करता है जिनका वह अपनी बुद्धिद्वारा समर्थन प्राप्त करता है, अद्भुत, तथा अलौकिक घटना या वस्तुका समर्थन वह नहीं करता यद्यपि वे मानते हैं कि अद्भुत, असाधारण और अलौकिक बातें भी विश्वमें होती हैं। अतः वस्तुवादी नाटककार अपनेको अस्तिकी सीमाके पार नहीं ले जाना चाहता और वह अस्ति भी अत्यंत परिमित और संकुचित तथा साधारण लोकानुभूति तक ही परिमित है।

भाग्यवादी नाट्यकार

भाग्यवादी नाटककार वे हैं जो समझते हैं कि मनुष्य तथा संसारके प्राणी सब परवश हैं। कोई अलौकिक सत्ता विशेष अवधितकके लिये सबको संसारमें भेजती है। प्रयोजन तथा अवधि बीत जानेपर उसका संहरण हो जाता है और इसी क्रमसे सारी सृष्टि चलती है। ये लोग कर्मफलमें विश्वास करते हैं। 'जो जस करइ तो तस फल चाखा' ही इनका विश्वास है, इनमें भी दो मत हैं। एक तो वे हैं जो इस जन्मके जीवनको पिछले जन्म और कर्मके संस्कारका फल मानते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो कहते हैं कि हमारे जीवनमें जितनी क्रियाएँ होती है उतनी ही प्रतिक्रियाएँ भी होती चलती हैं। यह सब क्रिया और प्रतिक्रिया दैवाधीन होती है। कोई मनुष्य स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, कोई दैवशक्ति क्रिया कराती है और उसकी प्रतिक्रिया मनुष्यको भोगनी पड़ती है। एक बार नारदने रावणसे पूछा था कि तुम इतने बड़े पण्डित, शूर और गुणी होकर भी स्त्री-हरण जैसे निन्दितकर्म क्यों करते हो? उसने यही उत्तर दिया था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि।

[मैं धर्मको भली भाँति जानता हूँ किन्तु उस ओर मेरा मन ही नहीं जाता, मैं अधर्मको भी जानता हूँ किन्तु उधरसे मेरा मन नहीं हटता। मेरे हृदयमें कोई ऐसा देवता बैठा हुआ है जो जैसा कराता चलता है वैसा मैं करता चलता हूँ।]

संसारमें अधिकांश व्यक्ति ऐसे ही हैं जो भाग्यवादी है, जो समझते हैं कि हमारे हाथमें कुछ नहीं है। जो कुछ करने-धरनेवाला है सब ईश्वर है। जो लोग प्रायः जीवनमें असफल होते आए हैं वे धीरे-धीरे भाग्यवादी हो ही जाते हैं और ऐसे ही लोगोंकी संख्या संसारमें अधिक है जिन्हें सफलता कम और असफलता अधिक मिली होती है।

इन दोनों प्रकारके भाग्यवादियोंके अतिरिक्त एक दल ऐसा भी है जो भाग्य और पौरुष दोनोंका समन्वय करता है किन्तु मूलतः वह भी भाग्यको पुरुषार्थसे अधिक प्रबल मानता है।

इन सब प्रकारके नाटककारोंमें श्रेष्ठ नाटककार वे हैं जो किसी वादका पल्ला थामकर नहीं चलते, जिनके सम्मुख लोकविनोद, लोक-विश्रान्ति और लोकोपदेश मात्र उद्देश्य होता है। जब नाटकमें सभी अवस्थाओंकी अनुकृति मान्य है तब उसे विशेष आदर्श, सिद्धान्त, भाव या वादके फेरमें नहीं डाला जा सकता। नाटकके नायककी प्रकृति, प्रवृत्ति, चेष्टा, शील और गुणके अनुसार जैसी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे हों उसके अनुरूप घटनाओंका गुंफन करना ही नाटककारका धर्म है, बलपूर्वक अपनी इच्छा या अपने संस्कार नाटकके चरित्रोंपर लादकर जनताको उसीके अनुकूल प्रवृत्त करना काव्य या कलाके क्षेत्रकी नहीं, राजनीतिके क्षेत्रकी बात हो जाती है। कलाकार सत्यकी प्रतिष्ठा करता है, सत्यका पोषण करता है और निष्पक्ष होकर केवल लोक-मंगलकी दृष्टिसे उस सत्यका प्रचार करता है। इस लोक-मंगलकी भावनाको पुष्ट और तुष्ट करनेके लिये उसे उन सत्योंकी

भी उपेक्षा करनी पड़ती है जो लोक-हितमें बाधा डालते हैं। पुत्रके द्वारा माताकी हत्या संभव हो सकती है किन्तु तर्क और युक्तिसे इस सत्यका समर्थन करके नाटकका लोकमें प्रचार नहीं किया जा सकता। यद्यपि अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें इस प्रकारकी कथाओंका समर्थन किया है किन्तु उसका कारण यही है कि होमरके जिन महाकाव्योंसे यूनानी नाटककारोंने अपनी कथाएँ लीं उन सभीमें इस प्रकारकी घटनाएँ थीं जिनमें अनेक बार नैतिक दृष्टिसे सत्य और धर्मकी पराजय हुई है। उसका भी कारण यह है कि होमरके काव्योंके सभी वीर देवताओंकी संतति हैं और जब उनमें परस्पर युद्ध होता है तो देवता भी उनका पक्ष लेने लगते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो ट्रायके युद्धमें अखिल्लेस् (ऐकीलीज़) के हाथों हैक्टरकी इतनी करुण और बीभत्स मृत्यु न होती। होमरीय काव्योंकी इन्हीं दुर्धर्ष घटनाओंने वहाँकी काव्य परंपराकी भावजनक घटनाओंको जो विभूति प्रदान की है उसीने यूनानीय नाटककारोंको अमंगल सत्य प्रतिपादन करनेकी प्रेरणा दी है।

स्वभावके अनुसार नाटककार दो प्रकारके होते हैं। एक तो गंभीर और दूसरे अगंभीर। गंभीर नाटककार समाजके गंभीर महापुरुषों, गंभीर घटनाओं और गंभीर प्रवृत्तियोंसे अपने नाटककी सामग्री प्राप्त करते हैं अर्थात् जब कोई असाधारण महत्त्वकी बात करता है तभी वह उस नाटककारके कथाका नायक बन सकता है। क्योंकि अंतरकी गंभीरता मनुष्यमें मनन और चिंतनकी शक्ति प्रदान करती है। इस मनन और चिन्तनसे विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे बुद्धिमें स्थिरता आती है। बुद्धिमें स्थिरता आनेसे मनुष्य उदात्तकी ओर प्रवृत्त होता है और उदात्त कर्म ही महापुरुषके लक्षण होते हैं। ऐसे ही नाटककार गंभीर और सुन्दरतम नाटक लिखते हैं [illegible] लोक-प्रिय, लोक-नायक होते हैं। [illegible] स्वभावके होते हैं, जिनमें [illegible] होती है, [illegible] दुर्बलताओंकी [illegible] मनुष्यकी दुर्बल- [illegible] ही प्रसंग करते हैं, ऐसे ही [illegible] और विदूषक पात्रोंकी

सृष्टि करते हैं। अरस्तूने गंभीर और हास्यजनक काव्यके दो भेद करते हुए कहा है—

"लेखकोंके व्यक्तिगत स्वभावके अनुसार काव्य दो दिशाओंकी ओरको चल पड़ा। गंभीर प्रकृतिवाले लेखकोंने श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्योंके आचरणका अनुकरण काव्यके रूपमें उपस्थित किया तथा अधिक सामान्य श्रेणीके लेखकोंने निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका अनुकरण काव्यके रूपमें प्रस्तुत किया। इन रचयिताओंने तो व्यंग्य काव्य रचे और गंभीर लेखकोंने देवताओंकी स्तुतियाँ बनाई तथा प्रसिद्ध पुरुषोंकी प्रशंसामें काव्य रचे।"

किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि सभी प्रहसनकार छिछले होते हैं। क्योंकि कभी कभी यह भी देखा गया है कि जिन नाटककारोंने उदात्त-चरित्रों-वाले नाटकोंकी रचनाकी है उन्होंने ही प्रहसनोंकी भी रचना की है और एक बात तो व्यापक रूपसे देखी जा सकती है कि गंभीर नाटकोंमें भी नाटककारोंने कुछ ऐसे दृश्य दिखलाए हैं जिनमें दुर्बल चरित्रवालेकी दुर्बलताका भली प्रकार उपहास किया गया है। कृपणकी कृपणता, भोजन-भट्टकी भोजन-भट्टता, मूर्खका बुद्धिमानोंके समान आचरण आदि ऐसे बहुतसे विषय ऐसे हैं कि जिनका गंभीर नाटक-कारोंने खुलकर प्रयोग किया है। अतः वास्तविक नाटक-कार वही है जिसने मानव-जीवनके सभी पक्षों और अंगोंका भली प्रकार अनुभव प्राप्त कर लिया हो क्योंकि तभी वह अपने नाटकोंमें उपयुक्त स्थलोंपर उनका उचित समावेश कर सकता है।

केवल मनुष्यके स्वभावका या मानव-समाजका अध्ययन करना ही नाटककारके लिये पर्याप्त नहीं है। उसे जनताकी मनोवृत्तिका भी ज्ञान होना चाहिए अर्थात् उसे यह भली प्रकार ज्ञात होना चाहिए कि किस प्रकारके संवादसे जनता एकाग्र होकर नाटक देख सकती है, किस स्थलपर संगीत और नृत्यका विधान होना चाहिए, किस प्रकारके दृश्यों और घटनाओंसे जनताका कुतूहल जाग सकता है और किन-किन साधनोंसे जनताको रस-मग्न किया जा सकता है। नाटककारको नाटक लिखते समय अपने कल्पना-रंगपीठपर नाटकके प्रत्येक दृश्य, पात्र, नेपथ्य-कर्म, संगीत और अभिनयका कल्पित दर्शन तो करना ही चाहिए किन्तु साथ ही उसे कल्पना प्रेक्षागृहमें बैठे हुए प्रत्येक प्रेक्षककी रुचि और भाव-भंगीका भी सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना

चाहिए, प्रत्येक वाक्यके लिखने साथ उसे यह सोचते चलना चाहिए कि आंगिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय-के साथ जब यह वाक्य दर्शकोंके कानोंमें पहुँचेगा तब उसकी कौनसी प्रतिक्रिया दर्शकोंके मुखपर व्यक्त होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको रंगशालाकी संपूर्ण क्रियाका, संपूर्ण साधनोंका और संपूर्ण व्यवस्थाका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, साथ ही उसे जनताकी रुचिका पूरा परिचय रहना चाहिए। अधिकांश नाटककार इसीलिये असफल होते हैं कि उन्हें रंगमंचका तनिक भी ज्ञान नहीं होता। वे नाटक न लिखकर गद्य-काव्य लिखते हैं और संवाद लिखकर ही समझ लेते हैं कि उन्होंने नाटक-की रचना कर डाली है। इसी दोषके कारण बहुतसे नाटक-कारोंकी रचनाएँ केवल पाठ्य-मात्र रह गई हैं, अभिनेय नहीं हो सकीं। हिन्दीके एक प्रसिद्ध नाटककारकी रचनामें अनभिनेयताका दोष आ जानेके कारण उनके नाटकोंको लोगोंने नाटकीय उपन्यासात्मक गद्य-काव्य तक कह दिया है। चौथी शताब्दी ई०पू०में खैरमौन नामका एक यूनानी नाटककार था जिसे लोगोंने पाठ्य त्रासदकार (रीडिंग ट्रैजीडियन) का दुर्नाम दे दिया था। उसने ऐसे नाटक लिखे थे जिनमें अभिनयका अंश कम था, साहित्य और काव्यत्वका अधिक। इस प्रकारके नाटककार अपने नाटकोंमें अभिनय-व्यापार-युक्त संवादके स्थानपर भावपूर्ण, रहस्यमय, लाक्षणिक भाषा-में दार्शनिक संवाद रखते हैं। बहुतसे लोगोंने भूलसे ऐसे नाटकोंको साहित्यिक नाटक कहकर उनकी एक अलग श्रेणी बना दी है किन्तु नाटकका नाटकत्व उसकी अभिनेयतापर अवलम्बित है उसकी भाषापर नहीं। नाटककी परीक्षा उसकी भाषा देखकर नहीं निश्चित की जाती। उसमें यही विचार किया जाता है कि चारों प्रकारके अभिनयके द्वारा इससे रसकी सृष्टि होती है या नहीं। आजकल कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गए हैं जिनमें संवाद नाम मात्रका है किन्तु अभिनयके द्वारा उनका प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। नाट्य-शास्त्रके इक्कीसवें अध्यायमें कहा गया है—

यस्मात्स्वभावं संहृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद् वै नाटकं स्मृतम् ॥

[क्योंकि इसमें सब अंग, उपांगों और गतियोंके क्रमसे व्यवस्थित करके उसका अभिनय किया जाता है और यह भाव (दर्शकोंतक) पहुँचाया जाता है, इसीलिये यह 'नाटक' कहलाता है]

इसका अर्थ यह हुआ कि नाटककारको अपने नाटककी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि उसका अभिनय किया जा सके और उसका भाव जनतातक पहुँचाया जा सके। जबतक नाटकमें यह गुण नहीं होगा तबतक उसका रचयिता नाटककार नहीं कहलाया जा सकता और उस रचनाका नाम 'नाटक' नहीं हो सकता।

जहाँ मानव-स्वभाव या मानव-चरित्रके अध्ययनकी बात आती है वहाँ स्वभावतः जनताकी भाषाका परिचय भी अंतर्निहित है। किसी भी देशमें दो प्रकारकी भाषाएँ मुख्य होती हैं। एक तो वह जो सभ्य, सुसंस्कृत और उच्च वर्गके लोग राजकीय व्यवहार या साहित्य रचनामें प्रयोग करते हैं और दूसरी वह जो साधारण जनता विकृत करके बोलती है। यह दूसरे प्रकारकी प्राकृत, विकृत या अपभ्रंश भाषा देश-भेदके अनुसार बदलती चलती है। उसमें अनेक प्रकारके उच्चारण-दोष, उच्चारण-वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाते हैं। साधारण शिष्टाचारका एक वाक्य 'आप कहाँसे आ रहे हैं?' बदलकर विकृत भाषामें 'तुम किद्रसे आता है?' बन जाता है। देश-विभेदके अनुसार भाषाओंका ज्ञान नाटककारको होना चाहिए जिससे वह आवश्यकतानुसार अपने पात्रोंके द्वारा उनका प्रयोग करा सके। भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें इसका बड़ा लम्बा-चौड़ा विवरण दिया है। भाषाओंके प्रयोगके प्रसंगमें उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशोंकी गणना कराते हुए यह भी निर्देश किया है कि किस प्रकारके पात्रसे कैसी भाषा कहलानी चाहिए। अपने नाट्य-शास्त्रके अठारहवें अध्यायमें संस्कृतके पाठका विवरण दे चुकनेपर उन्होंने प्राकृतके पाठ्यका विवरण दिया है जिसमें यह बताया है कि किस देशवाले लोग अपनी भाषामें किस अक्षरका अधिक प्रयोग करते हैं और अंतमें कह दिया है—

अथ नोक्तं मया यच्च लोकात् ग्राह्यं बुधैस्तु तत्।

[मैंने सब भाषाकी विशेषताएँ नहीं बताई हैं, विद्वानों-का काम है कि सब प्रदेशोंके लोगोंकी भाषाकी परीक्षा करके उनका प्रयोग करें।]

संस्कृत नाटककारोंने इन नियमोंका बड़े मनोयोगसे प्रयोग किया है किन्तु अब ये नियम अधिक व्यवहारमें

नहीं लाए जा सकते। उसका कारण यह है कि स्वयं हमारे देशमें जितनी भाषाएँ बनी हैं उनकी प्रकृति इतनी भिन्न हो गई है कि उनके प्रयोगके लिये ऐसे नियम नहीं बनाए जा सकते जैसे भरतने बनाए थे। दूसरा विशेष कारण यह है कि हमारा संपर्क केवल अपने देशके विभिन्न प्रान्तोंसे नहीं वरन् बाहरके देशोंसे भी घनिष्ठ हो चला है, यहाँतक कि आचार-विचार, रहन-सहन, वेशभूषा, और खान-पान तथा परस्पर विवाहका ऐसा विनिमय हो चला है कि संसारके इतने विभिन्न देशोंकी संस्कृतियों और भाषाओंकी अलग अलग विशेषता प्रदर्शित करनेवाले नियमोंमें नाटककारको नहीं बाँधा जा सकता। इसलिये व्यापक रूपसे भाषाके संबंधमें चार नियम बनाए जा सकते हैं—

१—प्रत्येक देशके सभ्य शिष्ट पात्र उस देशकी साहित्यिक भाषामें बातचीत करें। अंतर इतना ही हो कि निम्न कोटिके लोगोंसे बातचीत करते समय भाषा सरल हो जाय।

२—उसी देशके निम्न कोटिके पात्र सरल साहित्य-व्यवहृत भाषासे मिलती जुलती ऐसी भाषाका व्यवहार करें जो व्यापक रूपसे उस देशके सभी प्रान्तोंके लिये सुबोध हो।

३—विदेशी पात्र उस भाषाको इस प्रकार विकृत करके बोलें जो दर्शकोंकी समझमें भी आ सके किन्तु जिससे उस देशके उच्चारणकी विशेषता भी प्रतीत हो जाय। जैसे 'तुम क्या करते हो?' वाक्यको अंगरेज कहेगा 'टुम क्या करटा है?' इसके समझनेमें भी कठिनाई न होगी और अंग्रेजी उच्चारणकी विशेषता भी स्पष्ट हो जायगी।

४. सब पात्रोंकी भाषा, उनकी विद्या, उनके पद और जिससे बात करते हों उसकी योग्यताके अनुकूल होनी चाहिए। अर्थात् दो विद्वान् परस्पर बात-चीत करते हों तो उनकी भाषा अधिक व्यवस्थित, अलंकारयुक्त और भावपूर्ण हो सकती है। यदि उन्हींमेंसे एक विद्वान् अपने सेवकको पुकारकर कुछ आदेश देना चाहता हो तो उसे तत्काल अपनी भाषा उस सेवकके भाषा-ज्ञानके स्तरतक उतार देनी चाहिए।

आजकल योरोपके नाटककार अपने नाटकोंमें अधिकतः साधारण लोक भाषाका इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि कभी कभी वह अत्यन्त दुरूह और दुर्बोध हो जाती है। यह भी अवांछनीय है। भाषा ऐसी होनी चाहिए जो पात्रकी स्वाभाविक वाणी बनी हुई भी लोगोंकी समझमें सरलतासे आ सके।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको केवल रंगपीठकी क्रिया, समाजके आचार-विचार और मनोभाव तथा इतिहास और लोक-वृत्तिका ज्ञान ही अपेक्षित नहीं है उसे भाषापर भी ऐसा पूर्ण अधिकार चाहिए कि वह अपने नाटकमें पदके उपयुक्त प्रयोग होनेवाली भाषाका व्यवहार कर सके अर्थात् रंग क्रिया-कुशल, लोक वृत्तिज्ञ, इतिहासज्ञ तथा भाषाका पण्डित ही नाटककार हो सकता है।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचिताभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे नाट्यकारप्रकरणं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

—:※※※:—

रूपक-रचनाके तत्त्व

नट किसी नाटककार द्वारा रचित रचनाके आधारपर अभिनय करते हैं। उसी रचनाको 'रूपक' कहते हैं क्योंकि उस रचनामें आए हुए पात्रोंका आरोप नटोंमें करके उसका प्रदर्शन किया जाता है। साहित्य-दर्पणकारने इस प्रकारके काव्यको रूप या रूपक कहा है—

दृश्यं तत्राभिनेयं स्याद्रूपारोपात्तु रूपकम्

[इसका अभिनय करके दिखलाया जाता है, इसलिये इसे दृश्य कहते हैं और इसके अनुसार नटोंमें रामादि-चरित्रोंका आरोप होता है, इसलिये इसे रूपक कहते हैं।]

पीछे हम बता आए हैं कि यह रूपक या नाट्य क्या है। इसमें तीनों लोकोंके भावोंका अनुकीर्त्तन होता है, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्योंके कर्म दिखलाए जाते हैं, अनेक प्रकारके भावोंसे युक्त होता है, संसार भरके लोगोंका अनुकरण होता है, सभी अवस्थाओंका प्रदर्शन होता है, सब घटनाओंका, कथाओंका अनुकरण करके दिखलाया जाता है, देवता, ऋषि, राजा तथा गृहस्थ सबके कृत्योंका अनुकरण नाटकमें हो सकता है। यह भी कहा जा चुका है कि संसारका कोई ऐसा विषय नहीं है जो नाट्यमें न आ सकता हो। ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग, कर्म, शास्त्र, वेद, इतिहास, आख्यान, स्मृति, सदाचार आदि सभी विषयोंका समावेश नाट्यमें हो सकता है। यह कहा जा चुका है कि यह क्रीडनीयक है अर्थात् खेला जाता है, सार्ववर्णिक है, सब वर्णोंके लोगोंको इसमें भाग लेनेका अर्थात् इसका आनन्द लेनेका, इसे देखने-सुननेका अधिकार है और यही एक मात्र ऐसा साधन है जिसमें विभिन्न रुचि-वाले लोग समान आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। यह भी बताया जा चुका है कि यह संसारको उपदेश देनेवाला, सबका मनोरंजन करनेवाला, दुखी, श्रमार्त्त, शोकार्त्त और तपस्वीको विश्रान्ति देनेवाला तथा धर्म, यश, आयु और बुद्धि बढ़ानेवाला है। इसका यह अर्थ हुआ कि रूपकको खेलनेके योग्य बनाया जाय, उसमें सब विषयोंका समावेश हो और इस प्रकार उसका ग्रथन हो कि लोग विनोदके साथ-साथ उससे विश्रान्ति और उपदेश ग्रहण करें और यह तभी संभव है जब लोग तन्मय होकर उसमें रस लें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसमें कोई कथा होनी चाहिए जिसमें कुछ नायकों अर्थात् चरित्रोंकी आंगिक, वाचिक, सात्त्विक क्रियाएँ हों, जिनके आधारपर अभिनेता-गण उन-उन चरित्रोंके अनुसार आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय करें, वह लोगोंके सम्मुख किसी रंगपीठपर खेलकर दिखलाया जा सके। इसका तात्पर्य यह है कि वाचिक अभिनयके लिये संवाद हों और आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनयके लिये तथा दृश्यविधानके लिये रंगनिर्देश हो। इस दृष्टिसे नाटकके तीन तत्त्व हुए, जिनके बिना नाटकका अस्तित्व संभव नहीं है।

१. कथा—जिसके अंतर्गत एक नायकके जीवनके किसी एक इतिवृत्तके संबंधकी घटनाओंका वर्णन हो।

२. संवाद—जिसके अंतर्गत कथामें आए हुए विभिन्न पात्रोंका परस्पर वार्त्तालाप हो और यह वार्तालाप पात्रोंके चरित्र और कथाके प्रसारमें योग देता हो।

३. रंग-निर्देश—जिसके अंतर्गत रंग-व्यवस्थापक तथा अभिनेताओंके लिये दिए हुए निर्देश हों।

बहुतसे विद्वानोंने कथा—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, देश-काल और उद्देश्य—ये छः तत्त्व माने हैं। कुछने इनमें पात्रके स्थानपर चरित्र-चित्रण और देश काल निकालकर कुतूहल, घात-प्रतिघात अर्थात् द्वन्द्व और अभिनयशीलता—ये तीन तत्त्व और बढ़ा दिए हैं। किन्तु ये सब तत्त्व नहीं है। तत्त्व शब्दकी बड़ी छीछा-लेदरकी गई है। किसी वस्तुके तत्त्व कहनेका यह अभिप्राय है कि यदि उनमें से एक तत्त्व भी निकल जाय तो वह वस्तु निरर्थक हो जाय। तत्त्वोंसे किसी वस्तुके अस्तित्वका बोध होता है। यदि हम किसी रूपकको देखें तो रचनाकी दृष्टिसे उसमें तीन ही तत्त्व मिलेंगे। एक तो कथा, जिसमें किसी एक विशेष घटना-क्रममें कुछ व्यक्तियोंके चरित्र और चेष्टाओंकी स्थिति दिखलाई गई हो। घटना और पात्र ही उस कथाके आधार भूत अंग है। वास्तविक तत्त्व कथा ही है। रचनाकी दृष्टिसे दूसरा तत्त्व है संवाद और तीसरा तत्त्व है रंग निर्देश, क्योंकि नाटकमें दो ही प्रकारसे कथाका विकास किया जाता है, एक तो संवादसे दूसरे क्रियाओंसे। ये क्रियाएँ रंग-निर्देशके द्वारा ही बताई जा सकती हैं क्योंकि नाटककार यदि निर्देश न करे तो यही न पता चले कि किसको कब आना या जाना है, क्या करना है, क्या भाव प्रदर्शित करना है, क्या चेष्टाएँ करनी हैं, एक दूसरेके प्रति क्या व्यवहार करना है। ये रंग-निर्देश उतने ही महत्त्वके हैं जितने संवाद। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि रंग-निर्देशके विषयमें सभी देशोंके नाट्याचार्य अत्यन्त मौन रहे हैं।

यहाँपर उन बातोंकी भी विवेचना कर लेनी चाहिए जिन्हें कुछ आचार्योंने भूलसे तत्त्व मान लिया है। वस्तु

और पात्र दोनों कथाके अंग हैं, या यह कहा जा सकता है कि कथा-तत्त्वके दो अवयव हैं—वस्तु और पात्र। इन्हीं दो पर आरूढ़ होकर कथा चलती है। घटनाओंके गुंफनको वस्तु कहते हैं और पात्र वे हैं जो उन घटना और क्रियाओंमें व्यापक होते हैं। अर्थात् कथाके दो कारण होते हैं—घटना और पात्र। कथा कार्य है, घटना और पात्र कारण हैं। इसलिये कथा ही मूल तत्त्व है। देश-काल कोई तत्त्व ही नहीं है। वह तो कथा वस्तु और पात्र दोनोंमें निहित है। कोई भी घटना या पात्र किसी विशेष देश या कालसे ही सम्बद्ध होंगे, कथा स्वयं उनका विवरण देगी। देश और काल वस्तुके ही अंग हैं, वे कोई अलग तत्त्व नहीं। शैली भी कोई तत्त्व नहीं है, वह तो संवादका साधन है। शैली और संवादको अलग तत्त्व मानना ही बड़ा भारी भ्रम है, और उद्देश्य तो साध्य है, वह तत्त्व कैसे हो सकता है?

'तत्त्व' शब्दकी व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है—तनोति सर्वं इति तत्। तस्य भावः तत्त्वम्। सबमें व्याप्त होनेके भावको तत्त्व कहते हैं। रूपक रचनामें आदिसे अन्ततक तीन ही चीजें व्याप्त रहती हैं—कथा, संवाद और रंग-निर्देश। इनमेंसे एक भी तत्त्व निकल जाय तो नाटक या रूपक व्यर्थ हो जाय। इसपर एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि आजकल कुछ नाटक ऐसे होते हैं जिनमें केवल अभिनय मात्र होता है, संवाद नहीं होते। इन मूकाभिनयों (डंबशो) में दो ही तत्त्व रह जाते हैं। किन्तु वे विशेष प्रकारके दृश्य विनोद हैं जो नाटकीय होते हुए भी नाटक या रूपककी परिभाषामें नहीं आते। उनकी व्याख्या हम आगे चलकर करेंगे।

[illegible] रचनाकी [illegible] सर्वप्रथम उस कथाकी [illegible] आवश्यक [illegible] करनी पड़ती है। [illegible] और जो [illegible] करते हैं और नाटक- [illegible] क्योंकि [illegible] कथा या [illegible] होता कि [illegible] और इनमें [illegible] कब, किस प्रकारके, कौन-कौनसे पात्र, किस ढंगसे उपस्थित किए जायँ कि दर्शकोंका मनोरंजन हो और वे तन्मय होकर नाटकका रस ले सकें। इसी कौशलको नाट्याचार्य रचना-कौशल कहते हैं।

वस्तु-रचना करते समय नाटककारको यह देखना पड़ता है कि कथाकी घटनाओंको कितने भागों या अंकोंमें बाँटा जाय, कितनी बातें सूच्य हों, कितनी श्राव्य हों और कितनी दृश्य अर्थात् आंगिक चेष्टाओंके द्वारा दिखलाई जाँय। इसका अर्थ यह हुआ कि श्राव्य और सूच्य जितनी बातें हैं वे सब संवादके द्वारा ही दिखलाई जा सकती हैं और जितना दृश्य अंश है अर्थात् जो कुछ आंगिक, सात्विक, आहार्य तथा दृश्य अभिनयके द्वारा दिखलाना है, उसके लिये रंग-निर्देश करना होगा। अतः रूपक रचनाके दो और तत्त्व हुए एक संवाद और दूसरे रंग-निर्देश। नाटककार केवल इन तीन तत्त्वोंके सहारे अर्थात् कथा, संवाद और रंग-निर्देशका आश्रय लेकर रूपक काव्यकी रचना करता है। अतः यह सिद्धान्त निकला—

कथासंवादरंगनिर्देशात्मकं रूपककाव्यम्॥

[कथा और संवाद रंग-निर्देश-तत्त्वमय रूपक काव्य।]

अरस्तूने अपने काव्य-शास्त्रमें त्रासदकी परिभाषा देकर उसके तत्त्वोंका भी विवेचन किया है। वह कहता है—

"त्रासद उस व्यापार-विशेषका अनुकरण है जो गम्भीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाणका हो, प्रत्येक प्रकारके कलात्मक अलंकारोंसे सजी हुई भाषासे युक्त हो और ये सब प्रकार नाटकके भिन्न भिन्न भागोंमें पाए जाते हों, जो वर्णनात्मक न होकर दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भयका प्रदर्शन करके इन मनोविकारोंका उचित सुधार और परिष्कार कर सके। सुसज्जित भाषासे मेरा तात्पर्य उस भाषासे है जिसमें ताल, राग और छंदका समावेश हो। भिन्न-भिन्न भागोंमें ये सब प्रकार पाए जाते हों,' कहनेसे मेरा तात्पर्य यह है कि उसका कुछ भाग केवल छंदोमय हो और अन्य भाग गीताश्रित हों।

"क्योंकि त्रासदमें अभिनयके द्वारा अनुकरण किया जाता है, अतः पहले तो यह आवश्यक है कि दृश्यात्मक अंग त्रासदका एक अंग हो। दूसरा स्थान गीत और वर्णन-विन्यास होना चाहिए, क्योंकि ये दोनों ही अनुकरणके

साधन हैं। 'वर्णनशैली' से मेरा तात्पर्य केवल शब्दोंकी छंदोमय सजावटसे ही है। रहा 'गीत', यह एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ प्रत्येक व्यक्ति समझता है।

"त्रासद किसीके कार्यका अनुकरण है, और कार्य वे ही मनुष्य करते हैं जिनमें आचार और विचारकी कुछ विशेषताएँ अवश्य ही होती हैं। क्योंकि इन्हीं दोनों बातोंसे ही अच्छाई और बुराई भी निर्धारित होती है और ये विचार और आचार ही दो प्राकृतिक कारण हैं जिनसे कार्यकी उत्पत्ति होती है और कार्योंपर ही सारी सफलता और असफलता अवलंबित है। अतः किसी कार्यका अनुकरण ही इतिवृत्त है, क्योंकि यहाँ इतिवृत्तसे मेरा अभिप्राय घटनाओंके क्रमिक गुंफनसे है। मेरे मतसे आचार वह है जिसके कारण उसके कर्त्तामें कुछ विशेषताओंका आरोप किया जाता हो। विचारसे मेरा तात्पर्य उनके उस भाषणसे अथवा उनकी उन बातोंसे है जिनके द्वारा वे किसी बातको सिद्ध करते अथवा कोई सार्वभौम सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हों। अतः प्रत्येक त्रासदके छः अंग होने चाहिएँ:—१, इतिवृत्त, २, आचार, ३, वर्णनशैली, ४, विचार, ५, दृश्य, और ६, गीत। इनमेंसे प्रथम दो अंग तो अनुकरणके साधन हैं, तीसरा अनुकरणका ढंग है और शेष तीन अनुकरणके आधार हैं। और इनसे हमारी सूची पूर्ण हो जाती है। या हम यों कह सकते हैं कि कवियोंने इन तत्त्वोंका मनुष्यमें आरोप किया है। वास्तवमें दृश्यात्मक तत्व भी रहते हैं तथा आचार, इतिवृत्त, वर्णनशैली, गीत और विचार—ये तत्त्व भी रहते हैं।

"किन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात घटनाओंका गुंफन है। त्रासद वास्तवमें व्यक्तियोंका ही नहीं वरन् कार्य और जीवनका, सुख और दुःखका ही अनुकरण होता है। संपूर्ण मानवीय सुख और दुःख कार्यका स्वरूप धारण करते हैं। जिस अंतके लिये हम जीवन धारण किए हुए हैं वह एक विशेष प्रकारकी कार्यशीलता ही है, कोई गुण नहीं। यद्यपि आचारसे मनुष्योंके गुण निर्धारित किए जाते हैं किन्तु वे अपने कार्योंसे ही सुखी या दुखी होते हैं। अतः नाटकीय कार्य आचारका प्रदर्शन करनेकी दृष्टिसे नहीं आता वरन् आचार ही कार्योंका सहायक बनकर आता है। अतः कार्य (घटनाएँ) और इतिवृत्त ही त्रासदके अंत या परिणाम हैं और अंत या परिणाम ही सब बातोंमें मुख्य माना जाता है।

"चाहे बिना आचारके त्रासद बन जाय किन्तु बिना कार्यके त्रासद हो नहीं सकता। हमारे अधिकतर वर्तमान कवियोंके त्रासद, आचारके प्रदर्शनमें असफल रहे हैं और साधारणतः कवियोंके विषयमें तो यह बात प्रायः सत्य ही है।

"फिर यदि हम वर्णनशैली और विचारसे सुसज्जित आचार-व्यंजक वाक्य-समूहको एकत्र गूँथ दें तो भी हम प्रायः उतना अच्छा त्रासात्मक भाव नहीं उत्पन्न कर सकते जितना उस नाटकसे कर सकते हैं जिसमें इतिवृत्त हो और कलात्मक रीतिसे घटनाएँ गुँथी हों।

"इसके अतिरिक्त त्रासदमें भावात्मक आनन्द देनेके अतिरिक्त अत्यंत आकर्षक बनाने वाले तत्त्व—परिवर्त्तन तथा अभिज्ञानके दृश्य—भी इतिवृत्तके ही अंग है।

"अतः इतिवृत्त ही त्रासदका सर्वप्रथम अंग है अर्थात् उसका आत्मा है। आचारका स्थान दूसरा है। इस प्रकार त्रासद किसी कार्यका तथा कार्यकी दृष्टिसे कर्त्ताओंका अनुकरण है।

"इस क्रमसे तीसरा स्थान विचारका है, अर्थात् उपस्थित परिस्थितियोंमें क्या संभव और संगत है यह कहनेकी योग्यता। संवादोंके विषयमें तो यह है कि इसका संबन्ध राजनीति-कला और भाषण-कलासे है क्योंकि प्राचीन कवियोंने अपने पात्रोंके मुखसे राजनीतिक और नागरिक जीवनकी भाषा कहलाई है किन्तु हमारे समयके कवि आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग करते हैं।

"आचार वह है जो वक्ताका नैतिक उद्देश्य प्रकट करे अर्थात् यह दिखलावे कि किस प्रकारकी बातें मनुष्य अच्छी समझता या परित्याग करता है। अतः जिन वाक्योंसे यह नहीं प्रकट होता कि वक्ता किसे अच्छा समझता और किसका परित्याग करता है वे वाक्य आचार-व्यंजक नहीं होते। दूसरी बात यह है कि विचार वहाँ पाया जाता है जहाँ किसी बातका होना या न होना प्रमाणित किया जाता हो अथवा कोई सार्वभौम सत्य सिद्धान्त निर्धारित किया जाता हो इत्यादि।

"ऊपर गिनाए हुए तत्त्वों में चौथा स्थान वर्णनशैलीका है। इससे मेरा तात्पर्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शब्दों-द्वारा भावोंकी अभिव्यक्ति है और उसका प्रयोग पद्य और गद्य दोनोंके लिये एक सा ही है।

"शेष दो तत्वोंमें से गीतको ही त्रासदकी सब सौन्दर्य-वर्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

"वास्तवमें दृश्यमें स्वतः ही एक भावात्मक आकर्षण होता है, किन्तु त्रासदके सब अंगोंमें यह सबसे कम कलात्मक है, काव्य-कलासे सबसे कम संबन्ध रखता है। क्योंकि यह मानी हुई बात है कि अभिनय और नटोंके बिना भी त्रासदके प्रभावका अनुभव हो सकता है। इसके अतिरिक्त दृश्यात्मक प्रभावका उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रंग-संचालकपर अधिक अवलंबित है।"

अरस्तू के बताए हुए तत्वोंमें इतिवृत्त तो वही है जिसे हमने कथा-तत्त्व कहा है। विचार और आचारका संबन्ध पात्रोंके चरित्र और व्यापारसे है। अतः वह भी कथाका ही अंग है। वर्णनशैली संवादके अन्तर्गत आ ही जाती है। दृश्यके विषयमें स्वयं अरस्तूने कहा है कि दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करना कविकी अपेक्षा रंग-संचालकपर अधिक अवलंबित है, फिर भी अरस्तूने उसे नाटकका तत्त्व मान लिया यह आश्चर्यकी ही बात है क्योंकि जिस बातका संबन्ध कविकी कृतिसे नहीं है उसे उसकी कृतिका तत्त्व मान लेना उसका स्वतः विरोध है। इसके अतिरिक्त दृश्य-विधानका निर्देश तो कविको करना ही पड़ता है। अतः यदि हम उसे तत्त्व मान भी लें तब भी वह हमारे रंग-निर्देशके भीतर ही आ जाता है। रही गीतकी बात, वह यूनानी रंगशालाकी अपनी विशेषता थी, इसीलिये अरस्तूने उसे "त्रासदकी सब सौन्दर्य-वर्धक वस्तुओंमें सर्वोच्च स्थान" दिया है क्योंकि यूनानी नाटकोंका आधार ही गीत था। वहाँ सम्पूर्ण अभिनय गीतके आधारपर ही चलता था और नाटक भी गीतमय ही होते थे किन्तु यह प्रथा यूनान और रोमके नाटकोंके साथ समाप्त हो गई। आजकल केवल गीतिनाट्य (ऑपेरा, [illegible]) में ही यह प्रथा है कि एक संगीत-मंडली [illegible] रहती है और [illegible] उसीके अनुकूल [illegible] करते हैं जैसे अभिनवभरतके 'भगवान बुद्ध' नाटकमें है। किन्तु इस [illegible] कोई [illegible] नहीं [illegible] ऐसे भी नाटक हो सकते हैं जिनमें गीतका सर्वथा अभाव हो, जैसे अभिनवभरतके 'अपराधी' तथा 'देवता' नाटकमें। हाँ, जहाँ प्रसंगानुकूल गीतका प्रयोग वांछनीय हो वहाँ अवश्य ग्राह्य है किन्तु वह तो संवादके अन्तर्गत ही समा जाता है, उसका कोई अलग अस्तित्व नहीं रह जाता।

अतः अरस्तूके बताए हुए तत्वोंका विवेचन करनेपर तीन ही प्रधान तत्त्व रह जाते हैं। १. कथा (इतिवृत्त, आचार और विचार), २. संवाद (वर्णन-शैली और गीत), ३. और रंग-निर्देश (दृश्य)।

बहुतसे आचार्योंने दशरूपकके—

वस्तुनेतारसस्तेषां भेदको

[वस्तु, नेता अर्थात् नायक और रसके कारण उनके (रूपकों, उपरूपकोंके) भेद किए गए हैं।]

इस आधारपर वस्तु, नेता और रसको भूलसे नाटकका तत्त्व मान लिया है। वास्तवमें रूपकों और उपरूपकोंके भेद इसी आधारपर हैं कि उनमें या तो किसी प्रकारकी विशेष वस्तु है या कोई विशेष प्रकारका नायक है या किसी विशेष प्रकारका रस है। जैसे 'प्रकरण'का नायक धीर-शान्त होता है, 'नाटक'की कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और 'अंकमें' करुण रसकी प्रधानता होती है। अतः वस्तु, नेता और रसको रूपकोंका तत्त्व माननेकी भूल नहीं करनी चाहिए। रूपक-रचनाका जहाँतक संबंध है वहाँ उसके सम्मुख केवल तीन ही बातें रहती हैं—एक कथा, जिसके अंतर्गत घटनाओं और पात्रोंका समावेश होता है। दूसरे संवाद, जिसके अंतर्गत नाटकका सब श्राव्य अंश आ जाता है और तीसरे रंग-निर्देश, जिसके भीतर वे सब आदेश और निर्देश आ जाते हैं जो अभिनेताओंके आंगिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयके लिये तथा रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, नेपथ्य विधायक तथा संगीत-व्यवस्थापककी क्रियाओंके लिये आवश्यक होते हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यकारको और किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं। अतः रूपक-काव्यकी रचनाका हम इन्हीं दृष्टियोंसे विवेचन करेंगे।

॥ इति [illegible] अभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाप्रकरणे रूपककाव्यतत्त्वप्रकरणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

कथावस्तु

कथावस्तुकी रचना

दशरूपककारने प्रथम अध्यायमें लिखा है—

वस्तु च द्विधा ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥११॥
अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापी वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥
प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।
सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१३॥
प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुतोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥१४॥
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्व भेदात्त्रेधापि तत्त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ॥१५॥
मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ।
कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥१६॥
स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।
अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१७॥
बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥१८॥
अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः ॥१९॥
औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।
प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥२०॥
उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः ।
अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥२१॥
समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः ॥२२॥
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसंधयः ।
अन्तरैकार्थसंबन्धः संधिरेकान्वये सति ॥२३॥
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।
मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थ रससंभवा ॥२४॥
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।
उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥२५॥
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥२६॥
बीजन्यास उपक्षेपः तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।
तन्निष्पत्तिः परिन्यासो गुणाख्यानं विलोभनम् ॥२७॥
संप्रधारणमर्थानां युक्तिः प्राप्तिः सुखागमः ।
बीजागमः समाधानं विधानं सुखदुःखकृत् ॥२८॥
परिभावोऽद्भुतावेशः उद्भेदो गूढभेदनम् ।
करणं प्रकृतारम्भो भेदः प्रोत्साहना मता ॥२९॥
लक्ष्या लक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥३०॥
विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥३१॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।
रत्यर्थेहा विलासः स्याद्दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥३२॥
परिसर्पो विधूतं स्यादरतिस्तच्छमः शमः ।
परिहासवचो नर्म धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥३३॥
उत्तरा वाक्प्रगमनं हितरोधो निरोधनम् ।
पर्युपास्तिरनुनयः पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥३४॥
उपन्यासस्तु सोपायं वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम् ।
चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते ॥३५॥
गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसंभवः ॥३६॥
अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥३७॥
उद्वेगसंभ्रमापेक्षा लक्षणं च प्रणीयते ।
अभूताहरणं छद्म मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥३८॥
रूपं वितर्कवद्वाक्यं सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।
क्रमः संचिन्त्य मानाप्तिर्भावज्ञानमथापरे ॥३९॥
संग्रहः सामदानोक्तिरभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।
अधिबलमभिसंधिः संरब्धं तोटकं वचः ॥४०॥
तोटकस्यान्यथा भावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः ।
संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥४१॥
उद्वेगोऽरिकृता भीतिः शङ्कात्रासौ च सम्भ्रमः ।
गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥४२॥
क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥४३॥
तत्रापवादसंफेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥४४॥

प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश।
दोषः प्रख्यापवादः स्यात् संफेटो रोषभाषणम्।
विद्रवो वधबन्धादि द्र्वो गुरु-तिरस्कृतिः ॥४५॥
विरोधशमनं शक्तिस्तर्जनोद्वेजने द्युतिः
गुरुकीर्तनं प्रसङ्गश्छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥
व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः संरब्धानां विरोधनम्।
सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ४७ ॥
विकत्थना विचलनमादानं कार्यसंग्रहः
बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्।
सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥
सन्धिर्बीजोपगमनं विबोधः कार्यमार्गणम्।
ग्रथनं तदुपक्षेपोऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥
परिभाषा मिथो जल्पः प्रसादः पर्युपासनम्।
आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥
कृतिर्लब्धार्थशमनं मानाद्याप्तिश्च भाषणम्।
कार्यदृष्ट्यद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥ ५३ ॥
वराप्तिः काव्यसंहारः प्रशस्तिः शुभशंसनम्।
उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ॥ ५४ ॥
इष्टार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥ ५५ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ५६ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ५७ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ५८ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ५९ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ६० ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ६१ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ६२ ॥

[वस्तु दो प्रकारकी होती है—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक । मूल कथा-वस्तुको आधिकारिक और गौण कथा-वस्तुको प्रासंगिक कहते हैं । प्रासंगिक कथावस्तुका उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तुकी सौंदर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापारके विकासमें सहायता देना है। रूपकके प्रधान फलका स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्तिकी योग्यता "अधिकार" कहलाती है। उस फलका स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला अधिकारी कहलाता है । उस अधिकारीकी कथाको आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस प्रधान वस्तुके साधक इतिवृत्तको प्रासंगिक वस्तु कहते हैं, जैसे रामायणमें रामचन्द्रका चरित्र आधिकारिक वस्तु और सुग्रीवका चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासंगिक वस्तुमें दूसरेकी अर्थ-सिद्धि होती है और प्रसंगके मूल-नायकका स्वार्थ भी सिद्ध होता है । प्रासंगिक कथा-वस्तुके दो भेद हैं—पताका और प्रकरी । जब कथावस्तु सानुबंध होती है अर्थात् बराबर चलती रहती है तब उसे पताका कहते हैं और जब वह थोड़े कालतक चलकर रुक जाती है या समाप्त हो जाती है तब उसे "प्रकरी" कहते हैं, जैसे शकुन्तला नाटकके छठे अंकमें दास और दासीकी बातचीत है। प्रासंगिक वस्तुमें चमत्कार-पूर्ण धारावाहिकता लानेके लिये "पताका-स्थानक"का प्रयोग किया जाता है।

पताका-स्थानक

जहाँ प्रयोग करनेवाला पात्र कुछ और ही कार्य करना चाहता हो, परंतु उसके मिलनेवाले अथवा एक जैसे गुणवाले किसी अन्य पदार्थ या भावके कारण कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव कुछ हो किन्तु सहसा कोई नया भाव प्रकट होकर कुछ और ही कार्य करा जाय, वहाँ "पताका-स्थानक" होता है । संक्षेपमें इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परंतु अकस्मात् किसी कारणसे आ जानेसे और ही कुछ करना पड़े, वहाँ उसको पताका-स्थानक कहते हैं। साहित्यदर्पणकारके अनुसार यह चार प्रकारका है—

[illegible] ।
[illegible] प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥
[illegible] ।
[illegible] द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥
द्वयर्थोवचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

(१) जहाँ किसी प्रेमयुक्त व्यवहारसे सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय । जैसे, रत्नावली नाटिकामें वासवदत्ताका रूप धारण करके सागरिका संकेत-स्थानको गई थी । पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वासवदत्ता यह जान गई, तब वह फाँसी लगाकर अपने प्राण देनेको उद्यत हुई । उसी समय राजा वहाँ पहुँच गया और उस छद्मवेषधारिणी सागरिकाको वास्तविक वासवदत्ता समझकर उसकी फाँसी छुड़ाने लगा । उसी समय उसकी बोली पहचानकर वह बोल उठा 'अरे, क्या यह मेरी प्रिया सागरिका है !' यहाँ राजा चला था वासवदत्ताको बचाने परन्तु उसने वास्तवमें बचाया सागरिकाको 'जो उसे बहुत प्यारी थी । यह पहले प्रकारका पताका-स्थानक है ।

(२) जहाँ अनेक चतुर वचनोंसे गुंफित और अतिशय श्लिष्ट, दुहरे अर्थवाले वाक्य हों, वहाँ दूसरे प्रकारका पताका-स्थानक होता है । जैसे वेणीसंहार नाटकमें सूत्रधार कहता है—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।

[जिन्होंने भूमिको अनुरक्त और विजित कर लिया है और जिनका विग्रह (झगड़ा) क्षत (नष्ट) हो गया है, वे कौरव अपने भृत्योंके साथ स्वस्थ हों । श्लिष्ट अर्थ यह भी होता है कि जिन्होंने (अपने) रक्तसे पृथ्वीको प्रसाधित (रंजित) कर दिया है—रंग दिया है—और जिनके विग्रह (शरीर) क्षत हो गए हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हों ।] यहाँ श्लेषके बीजभूत अर्थ (कौरवोंके नाश) का प्रतिपादन होकर नायकका मंगल सूचित हुआ ।

(३) जो किसी दूसरे अर्थको सूचित करनेवाला, अप्रत्यक्ष अर्थवाला तथा विशेष निश्चययुक्त वचन हो और जिसमें उत्तर भी श्लेषयुक्त हो, वह तीसरा पताका-स्थानक है । जैसे वेणीसंहार नाटकमें—

(प्रविश्य संभ्रान्तः)

राजा—लोलांशुकस्य पवनाकुलितांशुकान्तम्
त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य ।
अध्यासितं च सुचिरं जघनस्थलस्य
पर्याप्तमेव करभोरु ! ममोरुयुग्मम् ॥

(घबराहटके साथ आकर)

[हे मोटी जंघाओंवाली ! वायुसे हटेहुए वस्त्रोंसे सुन्दर तथा तुम्हारी दृष्टिको मधुर लगनेवाले ये मेरे दोनों जंघे मेरी आखोंको रोक रखनेवाले, वायुसे वस्त्रहीन तुम्हारे जंघोंके बैठनेके लिये बहुत ही सुन्दर स्थल है ।]

कंचुकी—देव, भग्नम् भग्नम् । (देव ! टूट गया, टूट गया)

राजा—केन ? (किसके द्वारा)

कंचुकी—भीमेन । (भीमसे)

राजा—कस्य ? (किसका)

कंचुकी—भवतः । (आपका)

राजा—आः किं प्रलपसि !——(अरे क्या बकता है !)

इसमें दुर्योधनके 'ममोरुयुग्मम्' अर्थात् मेरी युगल जंघा कहनेके साथ ही कंचुकीका 'देव, भग्नम् भग्नम्' अर्थात् 'देव, टूट गई, टूट गई' कहनेसे दुर्योधनके ऊरुभंग-का अर्थ सूचित होता है ।

(४) जहाँ सुंदर श्लेषयुक्त या दो अर्थवाले वचनोंका प्रयोग हो और जिसमें प्रधान फलकी सूचना होती हो, वहाँ चौथा पताकास्थानक होता है । जैसे रत्नावली नाटिकामें राजाका यह कहना कि 'आज मैं इस लताको अन्य कामिनी-के समान देखता हुआ देवीके मुखको क्रोधसे लाल बनाऊँगा ।' यहाँ श्लेषयुक्त वाक्यों द्वारा आगे होनेवाली बातकी सूचना दी गई है, अर्थात् यह सूचित किया गया है कि राजाका सागरिकापर प्रेम होगा और क्रोधसे वासवदत्ताका मुख लाल हो जायगा ।

ये चारों पताकास्थानक किसी संधिमें मंगलार्थक और किसीमें अमंगलार्थक होते हैं, किंतु होते सब संधियोंमें

है। इस ऊपरके विवरणसे स्पष्ट है कि पताका-स्थानकमें अवस्थाका विपर्यय ही इसे उपस्थित करता है, परन्तु शेष तीनोंमें वचनोंका श्लेष इसका मूल कारण है।

आधिकारिक, पताका और प्रकरी नामके तीनों प्रकारके इतिवृत्तोंके तीन तीन भेद होते हैं–प्रख्यात आधिकारिक उत्पाद्य आधिकारिक, मिश्र आधिकारिक, प्रख्यात पताका, उत्पाद्य पताका, मिश्र पताका, प्रख्यात प्रकरी, उत्पाद्य प्रकरी, मिश्र प्रकरी। ये इतिवृत्त भी या तो दिव्य अर्थात् देव-संबंधी होते हैं या मर्त्यलोक-संबंधी।

अर्थ-प्रकृति—कथावस्तुको प्रधान फलकी प्राप्तिकी ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कार युक्त अंशोंको 'अर्थ-प्रकृति कहते हैं। साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकारकी अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु-कथानकके तत्त्व हैं।

वस्तुकी अर्थ-प्रकृति

मानव-जीवनका उद्देश्य अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति है। नाटकके अर्थमें प्रदर्शित इन उद्देश्योंकी प्राप्तिके लिये जो उपाय किए जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति हैं। इनके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) बीज—मुख्य फलका हेतु वह कथाभाग, 'बीज' कहलाता है जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म कथन किया जाता है, परन्तु ज्यों-ज्यों व्यापार-शृंखला आगे बढ़ती जाती है त्यों त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है।

(२) बिंदु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होनेवाली अवांतर कथाको आगे बढ़ाती है और प्रधान कथाको अविच्छिन्न रखती है, वह 'बिंदु' कहलाती है। जैसे रत्नावली नाटिकामें अनंगपूजाके अनंतर राजाकी पूजा हो चुकनेपर कथा समाप्त होनेको थी, पर सागरिकासे विदूषकके ये वचन—

अस्ताचलको सूर्य सिधारे।
साँझ समयके सभाभवनमें, नृपगण आए सारे।
शशि-सम उदय हो उठे उदयन सब आँखोंके तारे।
चाह रहा कमलोंको द्युतिहर, सेवे चरण तुम्हारे॥"

–सदर्प सुनकर और राजाकी ओर चावसे देखकर कहती है—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिताने मुझे भेजा था? (लम्बी साँस लेकर) पराधीनतासे क्षीण होनेपर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूलसा खिल गया।" इस प्रकार उसके ये वचन कथाको आगे बढ़ाते हैं।

(३) पताका—इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है, जैसे रामायणमें सुग्रीवकी, वेणीसंहारमें भीमसेनकी और शकुंतलामें विदूषककी कथा। पताका नामक कथांशके नायकका अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। प्रधान नायकके फलको सिद्ध करनेके लिये ही उसकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। गर्भ या विमर्श-संधिमें उसका निर्वाह कर दिया जाता है, जैसे सुग्रीवकी राज्य-प्राप्ति।

(४) प्रकरी—इसका वर्णन पहले हो चुका है। प्रसंगागत तथा एकदेशीय अर्थात् छोटे छोटे वृत्त प्रकरी कहलाते हैं, जैसे रामायणमें रावण और जटायुका संवाद। प्रकरी-नायकका भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होता।

(५) कार्य—जिसके लिये सब उपायोंका आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धिके लिये सब सामग्री इकठी की गई हो, वह कार्य है, जैसे रामायणमें रावणका वध, अथवा रत्नावली नाटिकामें उदयन और रत्नावलीका विवाह।

अवस्था—प्रत्येक रूपकमें कार्य या व्यापार-शृंखलाकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं, अर्थात् (१) 'आरंभ'—जिसमें किसी फलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है। (२) 'प्रयत्न'—जिसमें उस फलकी प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग किया जाता है। (३) 'प्राप्त्याशा' अथवा 'प्राप्ति-संभव'—जिसमें सफलताकी संभावना जान पड़ती है, यद्यपि साथ ही विफलताकी आशंका भी बनी रहती है। (४) 'नियताप्ति—जिसमें सफलताका निश्चय हो जाता है। (५) 'फलागम'—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्यकी सिद्धिके साथ ही अन्य समस्त वांछित फलोंकी प्राप्ति हो जाती है। उदाहरणके लिये रत्नावली नाटिकामें कुमारी रत्नावलीको अंतःपुरमें रखनेके लिये मंत्री यौगंधरायणकी उत्कंठा अथवा अभिज्ञान-शाकुंतलमें राजा दुष्यंतकी शकुंतलाको देखनेकी उत्कंठा, जो कार्यके आरंभकी अवस्था है। रत्नावलीमें दर्शनका कोई दूसरा उपाय न देखकर रत्नावली द्वारा वत्सराज उदयनका चित्र-लेखन और शाकुन्तल

में पुनः मिलनेका उपाय निकालनेके लिये राजा दुष्यंतकी उत्सुकता 'प्रयत्न' अवस्थाके अन्तर्गत है। रत्नावलीमें सागरिकाका छद्म वेश-धारण और अभिसरण सफलता प्राप्त करनेके उपाय हैं, पर साथ ही भेद खुल जानेकी आशंका भी वर्त्तमान है। इसी प्रकार शाकुंतलमें दुर्वासाके शापकी कथा तथा उनका प्रसन्न होकर उसकी शान्तिकी अवधि बताना 'प्राप्त्याशा' अवस्था है। रत्नावलीमें राजाका यह समझ लेना कि बिना वासवदत्ताको प्रसन्न किए मैं सफल-मनोरथ नहीं हो सकता तथा शाकुंतलमें धीवरसे राजाका मुँदरी पाना 'नियताप्ति' है। अन्तमें उदयनका रत्नावलीको प्राप्त करना और दुष्यंतका शकुन्तलासे मिलन हो जाना 'फलागम' है।

ये तो कार्यकी पाँच अवस्थाएँ हुईं जिनका रूपकोंमें होना आवश्यक है। प्रायः इस बातपर भी विचार किया जाता है कि कार्यकी किस अवस्थामें रूपकका कितना अंश काममें लाया गया है। साधारणतः सुव्यवस्थित वस्तुवाले रूपक वे ही समझे जाते हैं जिनमें प्राप्त्याशा अवस्था लगभग मध्यमें आती है। पहलेका आधा अंश आरंभ तथा प्रयत्नमें और पिछला आधा अंश नियताप्ति तथा फलागममें प्रयुक्त किया जाता है।

नाटक-रचनाकी संधियाँ

संधि—ऊपर पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाँच अवस्थाओंका वर्णन हो चुका है। कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओंके योगसे अर्थ-प्रकृतियोंके रूपमें विस्तारी कथानकके पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजनके साधक उन कथाओंके मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजनके साथ संबंध होनेको 'संधि' कहते हैं। अतः ये पाँच प्रकारकी होती हैं—

(क) मुख-संधि—प्रारंभ नामक अवस्थाके साथ संयोग होनेसे जहाँ अनेक अर्थों और रसोंके व्यंजक 'बीज' (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति हो वह 'मुख-संधि' है। पहले कहा जा चुका है कि व्यापार-शृंखलामें 'प्रारंभ' उस अवस्थाका नाम है जिसमें फलकी प्राप्तिके लिये औत्सुक्य होता है, और 'बीज' उस अर्थ-प्रकृतिको कहते हैं जिसमें संकेत रूपसे स्वार्थ-निर्दिष्ट कथाभाग मुख्य प्रयोजनकी सिद्धिके लिये क्रमशः विस्तृत होता है। इसी प्रकार 'मुख-संधि' में ये दोनों बातें अर्थात् प्रारंभ, अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृतिका संयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यंजित होते हैं। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखलाकी भिन्न-भिन्न स्थितियोंकी द्योतक हैं, अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तुके तत्त्वोंकी सूचक हैं, और संधियाँ नाटक-रचनाके विभागोंका निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थकी सिद्धि करती हैं, पर तीनोंके नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियोंसे किए गए हैं—एकमें कार्यका, दूसरेमें वस्तुका और तीसरेमें नाटक-रचनाका ध्यान रक्खा गया है। रत्नावली नाटिकामें 'प्रारंभ' अवस्था कुमारी रत्नावलीको अन्तःपुरमें रखनेके लिये यौगंधरायणकी उत्कंठा, 'बीज' अर्थ-प्रकृति यौगंधरायणका व्यापार और 'मुख-संधि' नाटकके आरंभसे लेकर दूसरे अंकके उस स्थानतक होती है जहाँ कुमारी रत्नावली राजाका चित्र अंकित करनेका निश्चय करती है। इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुंतलमें प्रथम अंकसे आरंभ होकर दूसरे अंकके उस स्थानतक, जहाँ सेनापति चला जाता है, 'मुख संधि' है। मुख-संधिके नीचे लिखे १२ अंग माने गए हैं—

(१) उपक्षेप—बीजका न्यास अर्थात् बीजके समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्तकी सूचनाका संक्षेपमें निर्देश, जैसे, रत्नावलीमें नेपथ्यसे यह कथन:—

"द्वीप सिन्धुके मध्यसे औ दिगंतसे लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, क्षणमें देत मिलाय॥"

(२) परिकर—बीजकी वृद्धि अर्थात् प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्तका विषय-विस्तार, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका कथन।

(३) परिन्यास—बीजकी निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषयका निश्चयके रूपमें प्रकट करना, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका यह वचन—

"यद्यपि स्वामीके हित-कारण मैंने सब यह काम किया है। आदि

(४) विलोभन—गुण-कथन, जैसे, रत्नावलीमें वैतालिकका सागरिकाके विलोभनके लिये उदयनके गुणोंका वर्णन, यथा—

"अस्ताचलको सूर्य सिधारे।

(५) युक्ति—प्रयोजनोंका सम्यक् निर्णय, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका कहना—

"मैंने भी उस कन्याको बड़े गौरवसे रानीको सौंपा है। यह बात अच्छी हुई। अब सुननेमें आया है कि हमारे स्वामीका कंचुकी बाभ्रव्य और सिंहलेश्वरका मंत्री वसुभूति भी, जो राजकन्याके साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान्से, जो कोशलपुरी जीतने गया था, मिलके यहाँ आ पहुँचे हैं।"

(६) प्राप्ति—सुखका मिलना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका यह वाक्य—

"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिताने मुझे भेजा था ? पराधीनतासे क्षीण होनेपर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल सा खिल गया।"

(७) समाधान—बीजको ऐसे रूपमें पुनः प्रदर्शित करना जिससे वह नायक अथवा नायिकाको अभिमत प्रतीत हो, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ता और सागरिकाकी बातचीतका प्रसंग—

"वासवदत्ता—यही तो है वह लाल अशोक। तब मेरी पूजाकी सामग्री लाओ।

सागरिका—लीजिए, रानीजी, यह सामग्री।

वासवदत्ता—(स्वगत) दासियोंने बड़ी भूल की है। जिसकी आँखोंसे बचाए रखनेका बहुत उद्योग किया है, सागरिका आज उसीकी दृष्टिमें पड़ा चाहती है। अच्छा, तो अब यही कहूँ। (प्रकाश्य) अरी सागरिका, आज सब सखियाँ तो मदन-महोत्सवमें लगी हुई हैं। तू सारिकाको छोड़कर यहाँ क्यों आ गई ? जल्दी वहीं जा और पूजाकी सामग्री कांचनमालाको दे जा।

सागरिका—बहुत अच्छा रानीजी ! (कुछ चलकर मन ही मन) सारिका तो सुसंगताको सौंप ही दी है। अब देखना चाहिए, कामदेवकी पूजा यहाँ भी कैसी होती है। अच्छा छिपकर देखूँ।"

(८) विधान—सुख-दुःखके कारण, जैसे, मालती-माधवमें माधवका यह कथन—

"जाते समय उसने अपनी सुन्दर ग्रीवा घुमाकर मेरी ओर जो देखा तो उसका मुख सूर्यमुखीके समान अत्यन्त सुन्दर दिखाई दिया। फिर उसने अपने दोनों नेत्र गड़ाकर मेरी ओर जो देखा तो ऐसा जान पड़ा मानों कटाक्षकी कोरको सुधाके विषमें बुझाकर मेरा हृदय घायल कर दिया हो।'

(९) परिभव या परिभावना—किसी आश्चर्य-जनक दृश्यको देखकर कुतूहल-युक्त बातोंका कथन, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके ये वचन—

"यह क्या ! यह तो अपूर्व कामदेव है। बापके घर तो इनका चित्र ही देखा था, यहाँ तो साक्षात् कामदेव उपस्थित हैं। अच्छा यहींसे इनको पुष्पांजलि दूँ।"

(१०) उद्भेद—बीजके रूपमें छिपी हुई बातको खोलना, जैसे, रत्नावलीमें वैतालिकके नेपथ्य-कथनसे सागरिकाको यह ज्ञात होना कि कामदेवके रूपमें छिपे हुए ये ही राजा उदयन हैं।

(११) करण—प्रस्तुत अर्थका आरंभ, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका कथन—

"भगवान् कंदर्पको मेरा प्रणाम। आपका दर्शन शुभदायक हो। जो देखने योग्य था, वह मैंने देखा। यह मेरे लिये अमोघ हो। (प्रणाम करके) बड़ा आश्चर्य है कि कामदेवका दर्शन करनेपर भी फिर दर्शनकी इच्छा होती है। अच्छा जबतक कोई न देखे, मैं चली जाऊँ।"

(१२) भेद—प्रोत्साहन, जैसे, वेणीसंहारमें—

"द्रौपदी—नाथ ! मेरे अपमानसे अति क्रुद्ध होकर बिना अपने शरीरका ध्यान रक्खे पराक्रम न कीजिएगा, क्योंकि ऐसा कहा है कि शत्रुओंकी सेनामें बड़ी सावधानीसे जाना चाहिए।

"भीम—संग्राम-रूपी ऐसे समुद्रके जलके अन्दर विचरण करनेमें पांडुपुत्र बड़े निपुण हैं, जिनमें एक दूसरेसे टक्कर खाकर हाथियोंके फटे सिरोंसे निकले हुए रुधिर और मज्जामें मिले हुए उनके मस्तकोंके भेजे—रूपी कीचमें डूबे हुए रथोंके ऊपर पैर रखकर सेना चल रही हो, जिसमें रक्तपान किए हुए सियार अमंगल वाणीसे बाजे बजा रहे हों, तथा कबंध नाच रहे हों।"

ये बारहों अंग हमारे आचार्योंकी सूक्ष्म भागोपभाग करनेकी रुचिके सूचक मात्र हैं। सब अंगोंका किसी नाटकमें निर्वाह होना कठिन है। इसलिये यह भी कह दिया गया कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, समाधान और उद्भेद—इन छः अंगोंका होना तो आवश्यक है। शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है। नहीं तो इन्हींसे मुखसंधिका उद्देश्य सिद्ध हो जायगा।

(ख) प्रतिमुख-संधि—मुख-संधिमें दिखलाए हुए बीजका जिसमें कुछ लक्ष्य और-कुछ अलक्ष्य रीतिसे उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फलका साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, उसे 'प्रतिमुख-संधि' कहते हैं। जैसे रत्नावलीमें वत्सराज और सागरिकाके समागमके हेतु इन दोनोंके पारस्परिक प्रेमको, जो प्रथम अंकमें सूचित कर देया गया था, सुसंगता और विदूषकने जान लिया। यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ। फिर वासवदत्ताने चित्रवाली घटनासे उसका अनुमान मात्र किया, इससे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं। प्रतिमुख-संधि 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिंदु' अर्थ-प्रकृतिके समान कार्य-शृंखलाको अग्रसर करती है। प्रयत्न अवस्थामें फल-प्राप्तिके लिये शीघ्रतासे उद्योग होता है, बिंदु अर्थ-प्रकृतिमें कथा अविच्छिन्न रहकर आगे बढ़ती है, तथा प्रतिमुख-संधिमें, मुख-संधिमें दिए हुए प्रधान फलका किंचिन्मात्र विकास होता है। जैसे रत्नावली नाटिका-में सागरिकाका चित्र-लेखन और राजासे साक्षात्कार होना प्रयत्न और अनंग-पूजाके अवसरपर सागरिकाका उदयन को देखकर कामदेव समझना तथा फिर उसे पहचानना बीज है। इसी प्रकार प्रतिमुख संधि सागरिकाके चित्र-लेखन से आरंभ होकर दूसरे अंकके अंततक, जहाँ वासवदत्ता राजाको सागरिकाका चित्र देखते हुए पकड़ती और उसपर अपना कोप प्रकट करती है; समाप्त होती है। इस संधिके १३ अंग माने गए हैं—

(१) विलास—आनंद देनेवाले पदार्थकी कामना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका यह कथन—

"मन धीरज धर। जिसका पाना सहज नहीं है, उसके पानेके लिये इतना आग्रह क्यों करता है?——यद्यपि भय-से मेरा हाथ काँपता है, तो भी उनका जैसे तैसे चित्र बनाकर देखूँ, क्योंकि इसके सिवा देखनेका और उपाय नहीं है।"

(२) परिसर्प—पहले विद्यमान, पीछे खोई या इष्ट-नष्ट वस्तुकी खोज, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके वचन सुनकर बीज नष्टसा हो गया था, पर चित्रके मिल जानेपर राजाका यह वचन कि "मित्र, वह कहाँ है, उसे दिखाओ, दिखाओ" उसका पुनरागमन कर देता है।

(३) विधूत—अरति अर्थात् सुखप्रद वस्तुओंका तिरस्कार, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका वचन—

"हे सखी! हटाओ इन पद्मपत्रों और मृणाल-मालाओं को। इनसे क्या होगा? व्यर्थ क्यों कष्ट उठाती हो? मैं कहती जो हूँ—

मन दुर्लभ जनसे फँसा, तनमें लाज अपार।
ऐसे करके प्रेम गुरु, मरना ही है सार॥"

(४) शम—अरतिका लोप, जैसे, रत्नावलीमें अपना चित्र देखकर राजाका विदूषकसे कहना—

"हे मित्र! इस कामिनीने मेरा चित्र बनाया है। इसी से मेरे जीमें अपने स्वरूपका अधिक आदर हुआ है। अब भला अपने चित्रको क्यों न देखूँगा? देखो—

लिखनेमें इस चित्र पै, पड़े भापकण आय।
वे प्यारे करतल परस, रहे स्वेदसे छाय॥"

इसपर छिपी हुई सागरिका स्वगत कहती है—

"मन, धीरज धर, चंचल मत हो। तेरा मनोरथ भी यहाँतक न पहुँचा था।"

साहित्य-दर्पणकारने इस अंगके स्थानपर "तापन" अंग का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ उपायका अदर्शन या अभाव है। इसका उदाहरण भी वही, दिया गया है, जो ऊपर 'विधूत' अंगमें दिया है।

(५) नर्म—परिहास-वचन, जैसे, रत्नावलीमें सुसंगता और सागरिकाकी यह बातचीत—

"सुसंगता—सखी, जिसके लिये तुम आई हो, वह सामने है।

सागरिका—(असूयासे) मैं किसके लिये आई हूँ!

सुसंगता—(हँसकर) वाह क्या समझ गई! और काहेके लिये? चित्रपटके लिये। लेती क्यों नहीं उसे?"

(६) द्युति या नर्मद्युति—परिहाससे उत्पन्न आनंद अथवा दोष छिपानेवाला परिहास—जैसे, रत्नावलीमें सुसंगताके यह कहनेपर कि "प्यारी सखी, तू बड़ी

निठुर है। महाराज तेरा इतनी आदर करते हैं, तो भी तू प्रसन्न नहीं होती।" सागरिका भौं चढ़ाकर कहती है—

"अब भी तू चुप नहीं रहती, सुसंगता।"

(७) प्रगमन—उत्तर-प्रत्युत्तरके उत्कृष्ट वचन, जैसे, रत्नावलीमें चित्र मिलनेपर राजा और विदूषककी यह बात-चीत—

"विदूषक—हे मित्र, तुम बड़े भाग्यशाली हो।

राजा—मित्र, यह क्या!

विदूषक—वही है जिसकी अभी बात चल रही थी। चित्रपटमें आपका ही चित्र है। नहीं तो कामदेवके बहाने और किसका चित्र खिंच सकता था।

राजा—(हर्षसे हाथ बढ़ाकर) मित्र, दिखाओ।

विदूषक—तुम्हें न दिखाऊँगा, क्योंकि वह कामिनी भी इसमें चित्रित है। बिना पुरस्कारके ऐसा कन्यारत्न दिखाया नहीं जा सकता।

राजा—(हार उतारकर देता है और चित्रपट देखता है। फिर विस्मयसे)

कमल कँपाती खेलसे, हित चित अधिक जनाय।
चित्रलिखी सी हंसिनी, मनमें धँसती धाय॥

(सुसंगता और सागरिकाका प्रवेश)

सुसंगता—मैना तो हाथ न आई, अब बस कदलीकुंजसे चित्रपट उड़ा लाती हूँ।

सागरिका—सखी, ऐसा ही कर।

विदूषक—हे मित्र! इस कन्यारत्नको अवनत-मुख करके क्यों चित्रित किया है?

सुसंगता—(सुनकर) सखी! वसंतक बात करता है, इससे महाराज भी निश्चय यहीं हैं। अच्छा कदलीकुंजसे छिपकर सुनती हूँ। देखें क्या बातें करते हैं।

राजा—मित्र, देखो।
कमल कँपाती खेलसे, हित चित अधिक जनाय।
चित्रलिखी सी हंसिनी, मनमें धँसती धाय॥

सुसंगता—सखी बड़ी भाग्यवती हो। देखो तुम्हारा प्यारा तुम्हारा वर्णन करता है।

सागरिका—(लज्जासे) सखी, क्यों हँसी उड़ाती हो। इस तरह मेरी हँसी न करो।

विदूषक—(राजाको उँगली लगाकर) सुनते हो, इस कन्यारत्नका मुँह चित्रमें अवनत क्यों है?

राजा—मैना ही तो सब सुना गई है।

सुसंगता—सखी! मैना आपका सब परिचय दे गई।

विदूषक—इससे आपकी आँखोंको सुख होता है या नहीं?

सागरिका—न जाने इसके मुखसे क्या निकले। सत्य, सत्य, इस समय में मृत्यु और जीवन दोनोंके बीचमें हूँ।

राजा—मित्र, सुख होता है, यह खूब पूछा। देखो—

अति कष्टसे इसकी जांघोंको छोड़ पड़ी मेरी दृष्टि नितंब पै जाई।

हट उससे निहारके क्षीण कटी त्रिवलीकी तरंगोंमें जा समाई॥

फिर धीरेही धीरेही लाँघके जो कुच तुंग पै उसके की है चढ़ाई।

अब प्यासी सी हो जल-बिन्दु भरी आँखोंसे है जाकर आँख लगाई॥"

(८) निरोध—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट। साहित्यदर्पणमें इसके स्थानमें विरोध (=दुःख प्राप्ति) है। जैसे, रत्नावलीमें विदूषकके यह कहनेपर कि "यह दूसरी वासवदत्ता है।" राजा भ्रममें पड़कर सागरिका का हाथ छोड़देता है और कहता है—

"दुर पगली! भाग्यवश रत्नावली सी कांतिवाली वह मिली थी। अभी उसे कंठमें डालना ही चाहता था कि इतनेमें वह हाथसे छूट गई।"

साहित्यदर्पणमें 'विरोध'का उदाहरण चंडकौशिकके अन्तर्गत राजाका यह वचन है—

"अंधेकी तरह मैंने बिना विचारे धधकती हुई आगपर पैर रख दिया।"

(९) पर्युपासन—क्रुद्धका अनुनय, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ताके कुपित होनेपर राजा उदयन कहता है—

"देवी प्रसन्न हो। कोप न करो। मेरा कुछ दोष नहीं है। तुमको मिथ्या आशंका हुई है। तुम्हारे कोपसे मैं घबरा गया हूँ, उत्तर नहीं सूझता है।"

(१०) पुष्प—विशेषता-पूर्ण वचन अर्थात् विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन, जैसे, रत्नावलीमें सागरिका-के हाथोंका स्पर्श-सुख पाकर राजा कहता है—

"यह साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली पारिजातके नवदल हैं, नहीं तो पसीनेके बहाने इनमेंसे अमृत कहाँसे टपकता?"

(११) उपन्यास—युक्ति-पूर्ण वचन, जैसे रत्नावलीमें सुसंगताका राजाके प्रति यह वचन—

"महाराज मुझपर प्रसन्न हैं, यही बहुत है। महाराज किसी तरहकी शंका न करें। मैंने ही यह खेल किया है। आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी सागरिका मुझपर यह कहकर अप्रसन्न हो गई कि तूने मेरा चित्र इस चित्रपटपर क्यों बनाया। आप चलकर उसे मना दीजिए। इतना करनेसे ही मैं समझ लूँगी कि महाराज मुझपर बहुत प्रसन्न हैं।"

(१२) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ता चित्रपटकी ओर निर्देश करके कहती है।

"आर्यपुत्र, यह दूसरी मूर्ति क्या वसंतकजीकी विद्याका फल है?" फिर वह कहती है—"आर्यपुत्र! इस चित्रको देखकर मेरे सिरमें पीड़ा उत्पन्न हो गई है। अच्छा आप प्रसन्न रहें, मैं जाती हूँ।"

(१३) वर्णसंहार—चारों वर्णोंका सम्मेलन, जैसे महावीरचरितके तीसरे अंकका यह वाक्य—

"यह ऋषियोंकी सभा है, ये वीर युधाजित हैं, ये मंत्रियों सहित राजा रोमपाद हैं और ये सदा यज्ञ करनेवाले महाराज जनक हैं।"

अभिनवगुप्ताचार्यका मत है कि 'वर्णसंहार'के 'वर्ण' शब्दसे नाटकके पात्र लक्षित होते हैं। अतः पात्रोंके सम्मेलन को 'वर्णसंहार' कहना चाहिए, न कि भिन्न-भिन्न जातिके लोगोंका समागम। रत्नावलीके दूसरे अंकमें राजा, विदूषक, सागरिका, सुसंगता, वासवदत्ता और कांचनमालाका समागम 'वर्णसंहार' है।

(ग) गर्भ-संधि—इसमें प्रतिमुख-संधिमें किंचित् प्रकाशित हुए बीजका बारबार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस संधिमें प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति रहती है। प्राप्त्याशा अवस्थामें सफलता-की संभावनाके साथ ही साथ विफलताकी आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थ-प्रकृतिमें प्रधान फलका सिद्ध करनेवाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। यदि इस संधिमें पताका अर्थ-प्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। रत्नावलीमें गर्भ-संधि तीसरे अंकमें होती है। इस अंककी कथा जान लेनेसे इस संधिका अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। कथा इस प्रकार है—

राजा उदयन सागरिकाके विरहमें अत्यंत दुखी होता है। विदूषक यह उपाय करता है कि सागरिका वासवदत्ता-के वेशमें राजासे मिले। वासवदत्ताको इस बातका पता चल जाता है और वह सागरिकापर पहरा बैठा देती है और और आप ही उसके स्थानपर आ उपस्थित होती है। विदूषक उसे सागरिका समझकर राजाके पास ले जाता है और राजा भी उसे सागरिका समझकर बड़े प्रेमसे उसका स्वागत करता और प्रेमपूर्ण बातें कहता है। वासवदत्ता इन वचनोंको सुनकर मारे क्रोधके अपनेको सँभाल नहीं सकती और प्रकट होकर राजापर क्रोध प्रदर्शित करती है तथा उसी दशामें वहाँसे चली जाती है। उधर सागरिका किसी प्रकार पहरेदारोंकी आँख बचाकर निकल भागती है और वासवदत्ताका वेश धारण किए हुए अशोक वृक्षकी ओर जाती है। उसे यह जानकर बड़ी ग्लानि होती है कि वास-वदत्तापर मेरा सब भेद खुल गया। अतएव वह फाँसी लगाकर अपने प्राण दे देना चाहती है। रानी वासवदत्ताके चले जानेपर राजा उदयनको यह आशंका होती है कि कहीं दुखी और क्रुद्ध होकर रानी अपने प्राण न दे दे। राजा इस आशंकासे विचलित होकर रानीको शांत करनेके लिये जाता है। मार्गमें वासवदत्ताका रूप धरे हुए सागरिकाको फाँसी लगानेका प्रयत्न करते देखकर उसे बचानेको दौड़ता है, और ज्यों ही बचाकर उससे बात करता है, उसे विदित हो जाता है कि यह वासवदत्ता नहीं, सागरिका है। उसके आनंदका ठिकाना नहीं रहता। वह उससे प्रेमालाप करता है इसी बीचमें रानी वासवदत्ताको पश्चात्ताप होता है कि

मैंने व्यर्थ राजाको कटु वचन कहे। अतएव वह राज को शांत करनेके लिये आती है, पर सागरिकासे बात करते हुए देखकर क्रोध पुनः भड़क उठता है। वह सागरिकाको लताओं से बाँधकर ले जाती है। राजा रानीको समझाने और शांत करनेका उद्योग करता है, पर उसकी एक नहीं चलती और वह शोक-सागरकी तरंगोंमें डूबता-उतराता अपने शयनागार-की ओर जाता है।

अब यदि प्राप्त्याशा, अवस्था, पताका अर्थ-प्रकृति और गर्भ-संधिके लक्षणोंको लेकर इस कथापर विचार किया जाय तो सब बातें स्पष्ट हो जायँगी। यह बात ध्यानमें रख-कर इसपर विवेचन करना चाहिए कि रत्नावली नाटिकामें इस संधिके साथ पताका अर्थ-प्रकृति नहीं आती, केवल पताका-स्थानकका आविर्भाव होता है।

गर्भ-संधिके १३ अंग माने गए हैं—

(१) अभूताहरण—कपट वचन, जैसे, रत्नावली नाटिका के तीसरे अंकमें कांचनमालाकी वसतकके प्रति उक्ति—

"तुम संधि-विग्रहके कार्योंमें अमात्यसे भी बढ़ गए !"

(२) मार्ग—सची बात कहना, जैसे, रत्नावलीमें राजा और विदूषककी यह बातचीत—

"विदूषक—प्यारे मित्र ! आपकी जय हो। आप बड़े भाग्यवान् हो। आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—(हर्षसे) मित्र ! प्यारी सागरिका अच्छी तो है ?

विदूषक—(गर्वसे) आप स्वय देख लेंगे कि अच्छी है या नहीं।

राजा—(आनंदसे) क्या प्यारीका दर्शन-लाभ भी होगा ?

विदूषक—(अहंकारसे) जो अपनी बुद्धिसे बृहस्पति को भी हराता है, वही वसंतक जब आपका मंत्री है तो दर्शन-लाभ क्यों न होगा।

राजा—(हँसकर) आश्चर्य क्या है ? आप सब कर सकते हैं। अब विस्तारसे कहिए, सुननेकी इच्छा है।

(विदूषक राजाके कानमें सुसंगताकी कही हुई सब बातें सुनाता है)

(३) रूप—वितर्क-युक्त वाक्य, जैसे, रत्नावलीमें राजाका यह कथन—

"जो अपनी स्त्रीके समागमका अनादर करते हैं, नई नायिकाओंपर उन कामियोंका कैसा पक्षपात होता है।

देखे तिरछी चकित सी, नैन छिपाए लेत।
कंठ लगाई किन्तु वह, कुचरस लेन न देत॥
'जाऊँ जाऊँ' ही कहे, किए प्रयत्न अनेक।
फिर भी प्यारी लग रही, वाह कामकी टेक॥

वसंतकने क्यों देर कर दी ! कहीं रानी वासवदत्ता तो इस भेदको नहीं जान गईं !"

(४) उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्ष-युक्त वचन, जैसे, रत्नावलीमें विदूषकका यह कथन—

"(हर्षसे) आज मेरी बात सुनकर प्रिय मित्रको जैसा हर्ष होगा, वैसा तो कौशांबीका राज्य पानेसे भी न हुआ होगा। अच्छा अब चलकर यह शुभ संवाद सुनाऊँ।"

(५) क्रम—जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसीके भावका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, जैसे, रत्नावलीमें सागरिका की प्रतीक्षामें बैठा हुआ राजा कहता है—

"(उत्कंठासे स्वगत) प्यारीके मिलनेका समय बहुत निकट आ गया है। न जाने तब भी क्यों चित्त अधिक उत्कंठित होता है।"

मिलने समय गए वहाँ, मदन-ताप अति तात।
जैसे बरखाके दिवस, धूप बहुत बढ़ जात॥

विदूषक—(सुनकर) अजी सागरिका ! देखो महाराज उत्कंठित होकर तुम्हारे ही लिये धीरे धीरे कुछ कह रहे हैं। तुम ठहरो, मैं आगे जाकर महाराजको तुम्हारा संवाद सुनाता हूँ।"

(६) संग्रह—साम दाम-युक्त उक्ति, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाके ले आने पर, राजाका विदूषकको साधुवाद कह-कर पारितोषिक देना।

(७) अनुमान—किसी चिह्न विशेषसे किसी बात का अनुमान करना, जैसे, रत्नावलीमें राजाकी उक्ति—

"राजा—ला मूर्ख। व्यर्थ क्यों हँसी उड़ाता है ? तू ही इस अनर्थका कारण है। प्यारीका मैंने दिन दिन आदर किया है, परंतु आज यह दोष बन पड़ा जो पहले कभी नहीं हुआ था। उच्च प्रेमका पतन असह्य होता है। इससे निश्चय है, वह प्राण दे देगी।

विदूषक--हे मित्र ! रानीजी क्रोधमें आकर क्या करेंगी। तो मैं ऐसा समझता हूँ कि सागरिकाका जीना दुष्कर है।"

(८) अधिबल--धोखा, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका वासवदत्ता और सुसंगताका कांचनमाला वेश धारण करके आती हैं, और विदूषक धोखेमें पड़कर उन्हें राजाके पास ले जाना चाहता है, तब उसके पूर्व कांचनमाला कहती है--

"रानीजी ! यही चित्रशाला है। आप ठहरिए, मैं वसंतकसे संकेत करती हूँ।"

(६) तोटक--क्रोधीका वचन, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ता कहती है--

"उठो उठो आर्यपुत्र। अब भी बनावटी चाटुताका दुःख क्यों भोग रहे हो ? कांचनमाले ! इसे लतासे बाँधकर ले चल और इस दुर्विनीत छोकरीको भी आगे कर ले।"

(१०) उद्वेग--शत्रुका डर, जैसे, रत्नावलीमें सागरिकाका वचन--

"हा ! मुझ पापिनीको इच्छा-मृत्यु भी न मिली।"

(११) संभ्रम--शंका और त्रास। जैसे रत्नावलीमें वसंतकका वचन--

"यह कौन है ? रानी वासवदत्ता ! (पुकारकर) मित्र ! बचाओ, बचाओ, देवी वासवदत्ता फाँसी लगाकर मर रही हैं।"

(१२) आक्षेप--गर्भ-स्थित बीजका स्पष्ट होना, जैसे, रत्नावलीमें राजाका कहना--

"मित्र ! देवीकी कृपाके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता। उसीसे हमारी आशा पूर्ण होगी। अतएव यहाँ ठहरनेसे क्या प्रयोजन निकलेगा ? चलकर देवीको प्रसन्न करूँ।"

साहित्यदर्पणमें गर्भ-सन्धिके १३ अंग माने गए हैं। उसमें 'आक्षेप' अंग नहीं है। 'संभ्रम' के लिये 'विद्रव' शब्दका प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अंग अधिक हैं। प्रार्थनासे रति, हर्ष और उत्सवोंके लिये अभ्यर्थनाका भाव है तथा क्षिप्तिसे रहस्यका भेद खुलनेका भाव है। जो लोग निर्वहण-संधिमें प्रशस्ति नामक अंग नहीं मानते, वे गर्भ-संधिमें १३ अंग मानते हैं।

(घ) अवमर्श या विमर्श-संधि--गर्भ-संधिकी अपेक्षा बीजका अधिक विस्तार होनेपर उसके फलोन्मुख होनेमें जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभनके कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श-संधि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थप्रकृति होती है। रत्नावली नाटिकाके चौथे अंकमें, जहाँ अग्निके कारण गड़बड़ मचती है वहाँतक यह संधि है। इसके १३ अंग माने गए हैं--

(१) अपवाद--दोषका फैलना, जैसे, सुसंगताका कहना--

"सुसंगता--'देवी उसे उज्जयिनी ले गई' यह बात फैलाकर आधी रातके समय न जाने वह बेचारी कहाँ हटा दी गई।

विदूषक--(उद्वेगसहित) देवीने बड़ा क्रूर काम किया। मित्र ! अन्यथा मत सोचना, निश्चय ही देवीने उसे उज्जयिनी भेजा है।

राजा--देवी मुझपर अप्रसन्न हैं।"

(२) संफेट--दोष-भरे वचन (खिसियानी बातें), जैसे, वेणी-संहारमें दुर्योधनका वचन--

"अरे भीम ! वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने तू क्या अपने निन्दनीय कार्यकी प्रशंसा करता है। अरे मूर्ख ! सुन। बीच सभामें राजाओंके सामने मुझ भुवनेश्वरकी आज्ञासे तुझ पशुकी और तेरे भाई इस पशु (अर्जुन) की और राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल, सहदेव) की भार्या (द्रौपदी) के केश खींचे गए। उस वैरमें भला बता तो सही, उन बेचारे राजाओंने क्या बिगाड़ा था जिन्हें तूने मारा है। मुझको बिना जीते ही इतना घमंड करता है ?"

(३) विद्रव--वध, बंधन आदि जैसे, रत्नावलीमें बाभ्रव्यका वचन--

"राजभवनमें आग लगी है अति ही भारी।
शिखा जा रही है इसकी अब हेम-कलसके पारी।
भरी धुएँ से आज प्रमद-कानन-तरुराजी।
सजल जलद श्यामलसे अड़कर लगा रही है बाजी।
भयसे कातर हुई पुकारें अब सब नारी।
हाहाकार मचा है महलोंमें अति भारी॥"

(वद्र)—गुरुजनोंका अपमान, जैसे, उत्तररामचरितमें लवका वचन—

"सुंदकी स्त्रीके दमन करनेपर भी जिनका यश अखंडित है, खरसे लड़नेमें भी जो तीन पग पीछे न हटे, डटे ही रह गए, इन्द्र-पुत्र बालिके वधमें भी जिन्होंने कौशल दिखाया, जानते हो, वे बड़े हैं, वृद्ध हैं, उनके विषयमें कुछ न कहना ही ठीक है।"

(५) शक्ति—विरोधका शमन, जैसे, रत्नावलीमें राजाका वचन—

"छलसे शपथ खाई, मधुर बनाई बात,
इसपर भी प्यारी नहीं तनिक नरमाई है।
पाँव भी पलोटे उसके बहुत बार दौड़ दौड़
और सखियोंने बहु भाँति समझाई है॥
इसीका अचंभा मुझे आता है बार बार,
इसपर भी तनिक नहीं प्यारी पतियाई है।
पीछे निज आँखोंके आँसुओं से आप धो,
मनकी सब ग्लानी प्यारी आप ही बहाई है।"

[६] द्युति—तर्जन और उद्वेजन (डाटना-फटकारना) जैसे, वेणीसंहारमें दुर्योधनके प्रति भीमकी उक्ति—

"अरे नरपशु ! तू अपना जन्म चंद्रवंशमें बताता है और अब भी गदा धारण करता है। दुःशासनकी रुधिर-मदिराके पानसे मत्त मुझको अपना शत्रु कहता है, अभिमान-से अंधा होकर भगवान् विष्णुके प्रति भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे डरके मारे लड़ाईसे भागकर यहाँ कीचमें छिपा पड़ा है।"

[७] प्रसंग—गुरुजनोंका कीर्तन, जैसे रत्नावलीमें वसुमतिका वचन—

"महामान्य सिंहलपतिने महाराजको जो रत्नावली नामकी कन्या दी उसके विषयमें एक सिद्ध पुरुषने कहा था कि जो इस कन्याका वर होगा वही चक्रवर्ती राजा होगा। सिंहलनरेशने अपनी रत्नावली आपको देनेके लिये हमारे साथ कर दी थी।"

[८] छलन—अपमान, जैसे रत्नावलीमें राजाका वचन—

"हाय ! देवीने मेरी बात तनिक भी न मानी।"

[९] व्यवसाय—अपनी शक्तिका कथन, जैसे रत्नावलीमें ऐन्द्रजालिककी उक्ति—

"चंद्र खैंच धरतीपर लाऊँ। उठा अचल आकाश चढ़ाऊँ॥
कहिए जलमें आग लगाऊँ। दिनमें आधी रात दिखाऊँ।
बात अधिक क्या भला बढ़ाऊँ। गुरु-प्रतापसे सभी दिखाऊँ"

[१०] विरोधन—कार्यमें विघ्नका ज्ञापन जैसे वेणी-संहारमें युधिष्ठिरकी यह उक्ति—

"हम लोगोंने भीष्मरूपी महासागर पार कर लिया, द्रोणरूपी भयानक अग्नि जैसे-तैसे शांत कर दी, कर्णरूपी विषधर भी मार डाला, शल्य भी स्वर्ग चला गया। अब विजय थोड़ी ही शेष रही थी कि साहसी भीमने अपनी बातसे हम सबोंके प्राण संशयमें डाल दिए।"

[११] प्ररोचना—भावी अर्थ-सिद्धिकी सूचना अर्थात् सफलताके लक्षण देखकर भविष्यका अनुमान, जैसे वेणी-संहारमें—

"अब संदेहके लिये स्थान ही कहाँ है। हे युधिष्ठिर। आपके राज्याभिषेकके लिये रत्न-कलश भरे जायँ, द्रौपदी बहुत दिनोंसे छोड़े हुए अपने केश-गुंफनका उत्सव करे, क्षत्रियोंके उच्छेदक परशुराम और क्रोधांध भीमके रणमें पहुँचनेपर फिर विजयमें संदेह ही क्या है?"

[१२] विचलन—बहकना या सीटना जैसे रत्नावली-में यौगंधरायणकी यह उक्ति—

"(स्वगत) रानीके मरनेकी झूठी खबर उड़ाई और रत्नावली प्राप्त की। रानी राजाको अन्य स्त्रीमें आसक्त देखकर दुःखित हुई। यद्यपि यह सब स्वामीके हितके लिये किया तथापि लज्जासे सिर नहीं उठा सकता।"

[१३] आदान—कार्यका संग्रह अर्थात् अपने अर्थका साधन जैसे रत्नावलीमें सागरिकाकी यह उक्ति—

"मेरे भाग्यसे चारों ओर आग भड़क उठी है। इसीसे आज सब दुःख दूर हो जायगा।"

(ङ) निर्वहण संधि—इसमें प्रधान प्रयोजनकी सिद्धिके लिये समाहार हो जाता है। पूर्व-कथित चारों संधियोंमें यथास्थान वर्णित अर्थोंका और मुख्य फलकी प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति आती है। रत्नावली नाटिकामें विमर्श-संधिके अंतसे लेकर चौथे अंककी समाप्तितक यह संधि होती है। इसके १४ अंग माने गए हैं—

(१) संधि—बीजका आगमन (उद्भावन) अर्थात् छेड़ना, जैसे, रत्नावलीमें वसुभूतिका यह कहना—

"बाभ्रव्य ! यह तो राजपुत्रीसी लगती है।"

"बाभ्रव्य—मुझे भी ऐसी ही जान पड़ती है।"

(२) विबोध—कार्यका अनुसंधान या जाँच, जैसे, रत्नावलीमें—

"वसुभूति—यह कन्या कहाँसे आई ?

राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्य्यपुत्र ! यौगंधरायणने यह कहकर कि यह सागरसे प्राप्त हुई है, मुझे इसे सौंपा था। इसीलिये इसे सागरिका कहकर पुकारा गया है।

राजा—(स्वगत) यौगंधरायणने सौंपा था। मुझसे बिना कहे हुए उसने ऐसा क्यों किया !"

(३) ग्रथन—कार्यका उपक्षेप, चर्चा या वार्त्ता। रत्नावलीमें यौगंधरायणकी उक्ति—

"देव ! मैंने जो यह काम आपसे बिना कहे हुए किया, इसे आप क्षमा करें।"

(४) निर्णय—अनुभव-कथन, जैसे, रत्नावलीमें यौगंधरायणका कथन—

"(हाथ जोड़कर) देव ! सुनिए। सिंहलेश्वरकी कन्या इस रत्नावलीके विषयमें एक सिद्ध पुरुषने कहा था कि जो इसे ब्याहेगा, वह चक्रवर्ती राजा होगा। उस विश्वासपर मैंने यह कन्या आपके लिये माँगी। रानी वासवदत्ताके मनमें दुःख होनेके विचारसे सिंहलेश्वरने कन्या देना अस्वीकार किया। तब मैंने सिंहलेश्वरके पास बाभ्रव्यको भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आगमें जल गई हैं।"

(५) परिभाषण—एक दूसरेको कह सुनाना, जैसे, रत्नावलीमें—

"रत्नावली—(स्वगत) मैंने महारानीका अपराध किया है। अब मुँह दिखानेको जी नहीं चाहता।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आ, अरी निष्ठुर ! अब तो बंधुस्नेह दिखा। (राजासे) आर्य्यपुत्र ! मुझे अपनी निष्ठुरतापर बड़ी लज्जा आती है। आप जल्दी इसका बन्धन खोल दें।

राजा—(प्रसन्न होकर) जैसी देवीकी आज्ञा।

वासवदत्ता—(वसुभूतिसे) मंत्री ! यौगंधरायणके कारण ही मैं इतने दिनोंतक रत्नावलीके लिये बुरी बनी रही हूँ। उन्होंने जान बूझकर भी कोई समाचार मुझसे नहीं कहा।"

(६) प्रसाद—पर्युपासना अर्थात् कुछ कह या करके प्रसन्न करना, जैसे रत्नावलीमें यौगंधरायणका वचन—

"महाराज ! आपसे न कहकर मैंने जो किया है, उसके लिये मुझे क्षमा करें।"

(७) आनंद—वांछितासि या अभिलषित अर्थकी प्राप्ति, जैसे, रत्नावलीमें वासवदत्ताके प्रति राजाका वचन—

"देवी, आपके अनुग्रहका कौन न आदर करे। (रत्नावलीको ग्रहण करता है।)"

(८) समय—दुःखका निर्णय या दूर होना, जैसे रत्नावलीमें वासवदत्ताका वचन—

"बहन ! धीरज धर, चेत कर।"

(९) कृति—लब्धार्थका निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थके द्वारा शोक आदिका शमन अथवा शोकादिसे उत्पन्न अस्थिरताका निवारण, जैसे रत्नावलीमें राजाका यह कहना—

"देवी ! आपके अनुग्रहका कौन न आदर करेगा !

वासवदत्ता—आर्यपुत्र ! रत्नावलीके माता-पिता, बंधु-बांधव सब दूर देशमें हैं। आप ऐसा करें जिसमें यह उन्हें स्मरण करके उदास न हो।"

(१०) भाषण—प्रतिष्ठा, मान, यश आदिकी प्राप्ति अथवा साम-दाम आदि, जैसे, रत्नावलीमें राजाकी उक्ति—

"विक्रम बाहुसे पाया सगा, भूसारकी सागरिका मैं पाई।
भूमि ससागर पाई, मिली महरानी सहोदरसे हरषाई॥
जीता है कोसल देश, फिरी चहुँ ओरको आज हमारी दुहाई।
आपसे जोग मिली पुनि आज रही कहो कैसी सनेह कचाई॥"

(११-१२) पूर्व भाव और उपगूहन—कार्यका दर्शन और अद्भुत वस्तुकी प्राप्ति या अनुभव, जैसे, रत्नावलीमें—

"यौगंधरायण—(हँसकर) रानीजी, आपने अपनी छोटी बहनको पहचान लिया। अब जैसा उचित समझें करें।"

"वासवदत्ता—(मुस्कराकर) मंत्रीजी, स्पष्ट ही कह दो न कि रत्नावली महाराजको दे दो।",

(१३) काव्यसंहार—वरदान-प्राप्ति, जैसे, शकुंतला नाटकमें कश्यपका वचन—

"भर्त्ता तेरा इन्द्र सम, सुत जयंत उपमान।
और भला वर क्या तुझे, तू हो शची समान।"

[१४] प्रशस्ति—आशीर्वाद, जैसे, रत्नावलीमें—

"देवोंका पति इन्द्र करै बरखा मनभाई ॥
भूमि रहे सुन्दर धानोंसे निशि-दिन छाई ॥
विप्र करें जप होम तोष हो सब देवोंका ।
रहे प्रलय-पर्यंत सदा संगम सज्जनका ॥
वज्रलेप सम खलोंके दुर्जय औ दुःसह वचन ।
लोभ पाप मिट जायँ सब शेषपूर्ण उनका शमन ।"

संध्यंतर

कुछ शास्त्रकारोंका मत है कि संधियोंके अंतर्गत उपसंधियाँ, अंतर्संधियाँ या संध्यंतर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखलाकी शिथिलताको दूर रखकर उसे अग्रसर करना और चमत्कार लाना होता है। ये अंतःसंधियाँ २१ बतलाई गई हैं। यथा—[१] साम—अपनी अनुवृत्तिको प्रकाशित करनेवाला प्रिय वाक्य। (२) दान—अपने प्रतिनिधि स्वरूप भूषणादिका समर्पण। [३] भेद—कपट वचनों द्वारा सुहृदोंमें भेद डालना। [४] दंड—अविनयको सुन या देखकर डाटना। [५] प्रत्युत्पन्नमति । [६] वध—दुष्टका दमन। (७) गोत्रस्खलित—नामका व्यतिक्रम । [८] ओज—स्वशक्तिके सूचक वचन । [९] धी—इष्टके सिद्ध न हो जानेतक चिंता। [१०] क्रोध। [११] साहस। [१३] माया। [१४] संवृत्ति—अपने कथनको छिपाना [१५] भ्रांति। [१६] दौत्य। [१७] हेत्ववधारण—किसी हेतुसे कोई निश्चय। [१८] स्वप्न। [१९] लेख। [२०] मद। [२१] चित्र। इनमेंसे स्वप्न, लेख और चित्र आदिका उपयोग प्रायः देखनेमें आता है।

संध्यंगों और संध्यंतरोंका उद्देश्य

इस प्रकार पाँच संधियोंके ६४ अंग और २१ संध्यंतर हुए। इनका प्रयोग ६ निमित्तोंसे होता है—(१) इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करनेके लिये, (२) गोप्य-गोपन—जिस बातको गुप्त रखना हो, उसे छिपानेके लिये, (३) प्रकाशन—जिस बातको प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करनेके लिये, (४) राग—भावोंका संचार करनेके लिये, (५) आश्चर्य-प्रयोग—चमत्कार लानेके लिये, और (६) वृत्तान्त-अनुपक्ष—कथाको ऐसा विस्तार देनेके लिये जिससे उसमें लोगोंकी रुचि बनी रहे। इन्हीं छः बातोंको लानेके लिये इन ६४ संध्यंगोंका आवश्यकताके अनुसार प्रयोग होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दृश्य-काव्य-रचनामें संधियाँ और उनके अंग इस प्रकार रक्खे जायँ जिससे इन छः उद्देश्योंकी सिद्धि हो।

साहित्य-दर्पणकारका कहना है कि जैसे अंगहीन मनुष्य कोई काम करनेके अयोग्य होता है, वैसे ही अंगहीन काव्य भी प्रयोगके योग्य नहीं होता। संधिके अंगोंका संपादन नायक या प्रतिनायकको करना चाहिए। उनके अभावमें पताका-नायक इसे करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। संधिके अंग प्रायः प्रधान पुरुषोंके द्वारा प्रयोग करनेके योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अंगों (मुख-संधि) में बीजभूत अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उनका प्रयोग अप्रधान पुरुषोंके द्वारा हो सकता है। इन अंगोंका प्रयोग रसाभिव्यक्तिके निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्र-पद्धतिका अनुसरण करनेके लिये नहीं। जो वृत्तांत इतिहास-प्रसिद्ध होनेपर भी रसाभिव्यक्तिमें अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों, उन्हें पूर्णतः छोड़ देना या बदल देना चाहिए। मुख्य बात इतनी ही है कि प्रतिभावान् कवि रसाभिव्यक्तिके लिये अंगोंका प्रयोग करे, केवल शास्त्रके नियमोंका पालन करने अथवा इतिहासानुमोदित बातोंको कहनेके लिये न करे।

ऊपर अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियोंका वर्णन हो चुका। यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न भिन्न विचारोंसे किया जाता है, तथापि तीनोंके पाँच-पाँच भेद होते हैं और वे एक दूसरेके सहायक या अनुकूल होते हैं। वस्तुके तत्त्वोंसे अर्थ-प्रकृतियाँ, कार्य-व्यापारसे अवस्थाएँ और रूपक-रचनाके विभागोंसे संधियाँ संबंध रखती हैं। इन बातोंका स्पष्टीकरण नीचे लिखी सारिणीसे हो जायगा—

वस्तु तत्त्व या अर्थ-प्रकृति	कार्य व्यापारकी अवस्था	संधि
(१) बीज	(१) आरंभ	(१) मुख
(२) बिंदु	(२) प्रयत्न	(२) प्रतिमुख
(३) पताका	(३) प्राप्त्याशा	(३) गर्भ
(४) प्रकरी	(४) नियताप्ति	(४) विमर्श
(५) कार्य	(५) फलागम	(५) निर्वहण

अंक

ऐसी बातें, जो दृश्य वस्तुके अंतर्गत आ सकती हैं, अंकोंमें दिखानी चाहिएँ, पर इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसमें एक दिनसे अधिककी घटनाओंका समावेश न हो। यदि यह न हो सकता हो, तो उन्हें इस प्रकारसे संक्षिप्त करना चाहिए कि वे काव्यके सौष्ठवको नष्ट न कर सकें। साथ ही अंकोंको असंबद्ध न होने देना चाहिए। रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि एक घटना दूसरी घटनासे साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकोंमें वस्तु-विन्यास सम्यक् रीतिसे होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अंकमें किसी कार्यकी समाप्ति अथवा किसी फलकी प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापारको अग्रसर करे। परंतु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखनेमें ही आता है कि एक अंकके अनन्तर दूसरा अंक आ जाय और दोनोंमें जिन घटनाओंका वर्णन हो उनके बीचके समयकी घटनाओंका उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकोंके बीचमें एक वर्ष तकका समय अंतर्हित रहता है। यदि इससे अधिकका समय इतिहासानुमोदित हो तो नाटककारको उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम-का कर देना चाहिए। सामाजिकोंको इस अंतरकी सूचना देनेके लिये शास्त्रकारोंने पाँच प्रकारके दृश्योंका विधान किया है—जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं।

अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपकके द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य वस्तुओंमें गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

(१) विष्कंभक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो उसकी इसमें मध्यम पात्रोंके द्वारा सूचना दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकारका होता है–शुद्ध और संकर। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते हैं तब शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रोंके द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह संकर कहा जाता है। शुद्ध विष्कंभकमें मध्यम पात्रोंका भाषण या वार्तालाप संस्कृतमें और संकीर्ण विष्कंभकमें मध्यम तथा नीच पात्रोंका प्राकृतमें होता है। शुद्धका उदाहरण मालती-माधवके पंचम अंकमें कपाल-कुंडला कृत प्रयोग और संकीर्णका रामाभिनन्दमें क्षपणक और कापालिक-कृत प्रयोग है। नाटकमें केवल इसी अर्थोपक्षेपकका प्रयोग हो सकता है।

(२) प्रवेशक—इसमें भी बीती हुई या आगे होनेवाली बातोंकी सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकोंके बीचमें आता है, अतएव पहले अंकमें नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं, उन्हींकी सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रोंकी भाषा उत्कृष्ट नहीं होती। जैसे वेणी संहारके चौथे अंकमें दो राक्षसोंकी बातचीत है। शकुंतला नाटकमें विष्कंभक और प्रवेशक दोनोंके उदाहरण हैं। तीसरे अंकके आरंभमें विष्कंभक-द्वारा कण्व ऋषिका एक शिष्य अपने आश्रम-में राजा दुष्यंतके ठहरनेकी सूचना संस्कृतमें देता है और चौथे अंकके प्रवेशकमें मछुए और सिपाहियोंकी बातचीत है।

(३) चूलिका—नेपथ्यसे किसी रहस्यकी सूचना देना चूलिका है। जैसे महावीरचरितमें यह सूचना दी जाती है कि रामने परशुरामको जीत लिया। रसार्णव-सुधा-करमें 'खंड-चूलिका' का भी उल्लेख है, जिसमें एक अंकका रंगमंचपर स्थित एक पात्र नेपथ्यमें स्थित दूसरे पात्रसे आरंभमें बात करता है, जैसे, बाल-रामायणके सातवें अंकमें।

(४) अंकास्य—इसमें एक अंकके अंतमें उसके आगे-के अंकमें होनेवाली बातोंके आरंभकी सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। जैसे महावीरचरितके दूसरे अंकके अंतमें वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुरामके आनेकी सूचना सुमंत्र देता है और तीसरे अंकका आरंभ इन्हीं तीनों पात्रोंके प्रवेशसे होता है।

(५) अंकावतार—इसमें एक अंककी कथा दूसरे अंक-में बराबर चलती रहती है, केवल अंकके अंतमें पात्र बाहर जाकर अगले अंकके आरंभमें पुनः आ जाते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्रके पहले अंकके अंत और दूसरे अंकके आरंभमें इसका प्रयोग देख पड़ता है।

अंकास्य और अंकावतारमें इतना ही भेद है कि अंकास्यमें तो आगेके अंककी बातोंकी सूचना मात्र दी जाती है और अंकावतारमें पूर्व अंकके पात्र अगले अंकमें पुनः आकर उसी कार्य-व्यापारको अग्रसर करते हैं। साहित्य-

दर्पणकारने अंकावतारका ऐसा लक्षण लिखा है जो अंकास्य-के लक्षणसे बहुत कुछ मिलता है। अतः उनको इन दोनोंमें भ्रम हो जानेकी आशंका हुई। इसीसे उन्होंने अंकास्यके स्थानपर अंकमुख नामका एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाखिला।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्॥

[जहाँ एक ही अंकमें सब अंकोंकी अविकल सूचना दी जाय और जो बीजभूत अर्थका सूचक हो उसे अंकमुख कहते हैं।] जैसे मालतीमाधवके पहले अंकके आरंभमें कामंदकी और अवलोकिताने भविष्यकी सब बातोंकी सूचना दे दी है। इससे स्पष्ट है कि अंकास्य और अंकमुखमें इतना ही भेद है कि अंकास्यमें केवल आगेके अंककी कथा सूचित की जाती है और अंकमुखमें संपूर्ण नाटककी।

इस प्रकार इन पाँचों अर्थोपक्षेपकों-द्वारा सूच्य विषयोंकी सूचना दी जाती है।"]

सभी नाट्यशास्त्रके आचार्योंने कथानक या वस्तुके विन्यासका विवरण इसी प्रकार दिया है। किन्तु वस्तुको आधिकारिक और प्रासंगिक दो प्रकारका बतलाकर उन लोगोंने मौलिक भूल की है। वास्तवमें कथावस्तु या इतिवृत्त एक ही होता है। उन्होंने आधिकारिक और प्रासङ्गिक (पताका और प्रकरी)के नामसे जो भेद किए हैं वे वास्तवमें इतिवृत्तके अङ्ग हैं, प्रकार नहीं। प्रत्येक कथानकमें कुछ मूल कथा होती है और कुछ ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस कथाको पुष्ट करनेमें योग देती हैं। ये सब कथाको पुष्ट करनेवाले प्रसंग या तो नाट्य-नायकके चरित्रविकासमें योग देते हैं या कथाके प्रसारमें सहायता पहुँचाते हैं, किन्तु उन्हें इतिवृत्त या कथावस्तुका प्रकार नहीं माना जा सकता। इसी प्रकारकी भूल वहाँ भी की गई है जहाँ संवादके भेदोंको अर्थात् श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्यको भी नाटकीय वस्तुका भेद मान लिया गया—

"नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते।
सर्वेषां नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च॥

श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्यके विषयमें हम पीछे भी कह चुके हैं और आगे संवादके प्रसंगमें भी विस्तारसे स्पष्ट करेंगे।

भारतीय नाट्याचार्योंने अर्थप्रकृति, अवस्था और संधिकी व्यवस्था करके अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनाके साथ नाट्य-वस्तुकी रचनाका ढंग विस्तारसे बताया है और यह भी आदेश दिया है कि किस क्रमसे और किस कौशलसे और किस प्रकारके वाक्यप्रयोगके द्वारा वस्तुका विन्यास करना चाहिए और नाट्य-कथाकी रचना करनी चाहिए। इतनेसे ही संतुष्ट न होकर उन्होंने संध्यंगो और संध्यन्तरोंकी विस्तृत योजना बताई है जिसके अनुसार कोई भी नाटककार अपनी नाट्य कथाको सुन्दर और सुडौल बना सकता है।

अरस्तूने इतिवृत्तकी रचनामें यह विधान किया है—

"अब हम इतिवृत्तकी उचित बनावट अर्थात् गठनपर विचार करेंगे क्योंकि त्रासदका यही प्रथम तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंग है।

अब हमारी परिभाषाके अनुसार त्रासद उस कार्यका अनुकरण है जो पूर्ण हो तथा एक निश्चित परिमाणका हो क्योंकि सर्वांगपूर्ण कार्य ऐसा भी हो सकता है जिसका कुछ भी विस्तार न हो।

"सर्वाङ्गपूर्ण उसे कहते हैं जिसमें प्रारंभ हो, मध्य हो और अंत हो। प्रारंभ उसे कहते हैं जो स्वतः किसी आवश्यक रूपसे किसी वस्तुका अनुगमन न करे वरन् जिसके पीछे स्वभावतः ही। कोई घटना होती हो। अंत उसको कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटनाका अनुगमन करे चाहे वह आवश्यकताके कारण हो या नियमतः हो और उसके पीछे कुछ शेष न हो मध्य उसे कहते हैं जो स्वभावतः किसी घटनाके पीछे आता हो और जिसके पीछे भी कोई घटना हो। अतः अच्छी प्रकारसे बना हुआ इतिवृत्त रचयिताकी स्वेच्छा मात्रसे ही न तो अचानक आरंभ होना चाहिए और न समाप्त ही, वरन् उसे इन उपर्युक्त सिद्धान्तोंका अनुकरण करना चाहिए।

"फिर एक सुन्दर पदार्थमें चाहे वह जीवधारी हो अथवा कई भागोंकी बनी हुई सर्वाङ्गसुन्दर वस्तु हो, यही आवश्यक नहीं है कि उसके विभिन्न भागोंकी एक क्रमिक सजावट हो, वरन् उसका एक निश्चित परिमाण भी होना चाहिए क्योंकि सुन्दरता भी परिमाण और क्रमपर अवलंबित है। अतः एक अत्यन्त सूक्ष्म जानवरका शरीर सुन्दर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका स्वरूप अस्पष्ट

होता है और वह इतना शीघ्र दिखाई पड़ जाता है कि विभिन्न अंगोंका समीक्षण नहीं किया जा सकता। फिर एक अत्यन्त बड़े आकारका पदार्थ भी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि नेत्र उसे पूर्ण रूपसे एक साथ नहीं देख सकते और दर्शनके लिए पूर्णता और सर्वाङ्गताका भाव नष्ट हो जाता है जैसे किसी मीलों लम्बे जानवरको देखा हो। अतः जैसे जानवरों और अन्य वस्तुओंके लिये एक ऐसे निश्चित परिणामकी आवश्यकता है जो आँखोंके द्वारा पूर्ण रूपसे ग्राह्य हो सके वैसे ही वस्तुमें भी एक ऐसा निश्चित परिमाण अपेक्षित है जो कि सरलतासे स्मरण रक्खा जा सके। नाटकीय प्रतियोगिता और दर्शकोंकी दृष्टिसे परिमाणकी क्या सीमा हो इसका काव्यकलासे कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यदि सौ त्रासदोंकी एक साथ प्रतियोगिता करनेका विधान हो तो इस प्रयोगका नियंत्रण जल-घड़ीसे ही किया जाता है, जैसा कि हमें पता लगा है, पहले हुआ करता था। किन्तु स्वतः नाटककी प्रकृतिके ही अनुसार यदि हम निश्चित करें तो परिमाणकी दृष्टिसे वही इतिवृत्त अधिक सुन्दर होगा जो पूराका पूरा भली प्रकार समझमें आ सके। मोटे तौरसे यदि इस विषयको समझावें तो हम कह सकते हैं कि उचित परिमाण वहींतक परिमित है जहाँतक सम्भावना और आवश्यकताके नियमके अनुसार घटनाओंके क्रममें दुर्भाग्यका सौभाग्यमें अथवा सौभाग्यका दुर्भाग्यमें परिवर्तन आ जाय।

किसी इतिवृत्तमें एक नायकका वर्णन होनेसे कोई इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कुछ लोगोंका विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्यके जीवनमें अनन्त विभिन्न घटनाएँ होती हैं जिनको संकलित करके एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्यके द्वारा बहुतसे चरित हो सकते हैं जिनको संकलित करके एक संगत कार्य नहीं बन सकता। इसीलिये प्रत्यक्षतः जिन कवियोंने हेराक्लेइद्, थेसेइद्, अथवा उसी प्रकारके काव्य बनाए हैं उन्होंने भूल की है क्योंकि हेराक्लेस एकही मनुष्य था अतः उन्होंने अनुमान कर लिया कि हेराक्लेसकी जीवन-कथा भी एक ही वस्तु होगी। किन्तु जान पड़ता है कि सर्वश्रेष्ठ गुणी हमेरस् (होमर) ने चाहे कलाके कारण अथवा प्राकृतिक प्रतिभासे इस बातको समझ लिया था। अदूसियाकी रचना करनेमें उसने वीर अदस्सूसके जीवनकी सभी घटनाओंको सम्मिलित नहीं किया जैसे पर्नेससपर उसका चोट खाना तथा यूनानी सेनाको एकत्र देखकर उसका बनावटी पागलपन इत्यादि, क्योंकि इन घटनाओंमें परस्पर आवश्यक या संभव कोई संबंध नहीं था। किन्तु उसने अदूसिया तथा इलिआस् दोनोंको केवल एक-ही कार्यके चारों ओर केंद्रित रक्खा और ऐसी ही घटनाओंका समावेश किया है जो एक ही कार्यसे संबद्ध हो।

अतः जैसे अन्य अनुकरणात्मक कलाओंमें एक ही अनुकरणीय वस्तुओंके एक ही होनेपर अनुकरण भी एक ही होता है। वैसे ही इतिवृत्त भी एक व्यापारका अनुकरण होनेके कारण एक ही पूर्ण कार्यका अनुकरण होना चाहिए। उसके अंग परस्पर ऐसे गुँथे हों कि यदि उनमेंसे एक भी स्थानच्युत हो जाय या निकाल दिया जाय तो वह पूराका पूरा असम्बद्ध और असंगत हो जाय क्योंकि जिस वस्तुके रहने या न रहनेसे कोई प्रत्यक्ष अन्तर नहीं होता वह संपूर्ण पदार्थका आवयविक अंग हो ही नहीं सकता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि कविका यह काम नहीं है कि वह वास्तविक घटनाओंका वर्णन करे जो संभवतः हुई होतीं अर्थात् संभावना और आवश्यकताके नियमके अनुसार जो संभाव्य हों।

किन्तु त्रासदकार तो अभीतक वास्तविक नाम ही रखते हैं वह इसलिए कि जो कुछ संभव है वह विश्वसनीय भी है। जो कुछ अबतक नहीं हुआ उसके लिये हमें एकदम निश्चय नहीं होता कि यह संभव है किन्तु जो कुछ हो चुका है वह तो प्रत्यक्ष संभव है नहीं तो वह हो नहीं सकता था। फिर भी अबतक कुछ ऐसे त्रासद हैं जिनमें कुल एक या दो तो प्रसिद्ध नाम हैं, शेष सब कल्पित हैं। कुछ में तो एक भी प्रसिद्ध नाम नहीं है—जैसे अगथोनके अंथेअस् नामक त्रासदमें जहाँ घटनाएँ और नाम सभी कल्पित हैं फिर भी उनमें कुछ कम आनन्द नहीं मिलता। अतः कविको त्रासदके ज्ञात तथा निश्चित विषयोंतक ही सदा परिमित नहीं रहना चाहिए। सच पूछा जाय तो ऐसा बंधन हास्यास्पद होगा क्योंकि जो विषय ज्ञात भी हैं उन्हें यद्यपि बहुत ही कम लोग जानते हैं फिर भी उनसे सब लोगोंको समान आनंद मिलता है।

साधारण इतिवृत्तों और व्यापारोंमें प्रासंगिक इतिवृत्त सबसे बुरे होते हैं। प्रासंगिक इतिवृत्त, मैं उसे कहता हूँ

जिसमें संभावना और आवश्यकताके क्रमके विना ही कथानक और व्यापार एक दूसरेके पीछे आते हों। इस दोष के कारण ओछे कवियोंकी पोल खुल जाती है। क्योंकि उनमें कुशलताका अभाव रहता है और श्रेष्ठ कवि नटोंको प्रसन्न करनेके लिये ही ऐसी रचनाएँ करते हैं, क्योंकि जब वे प्रतियोगिताओंके लिये अभिनयात्मक नाटक लिखते हैं तो वे इतिवृत्तको उसकी परिधिके बाहर खींच ले जाते हैं और उन्हें विवश होकर प्रायः स्वाभाविक क्रमको तोड़ देना पड़ता है।

"पर त्रासदकेवल पूर्ण व्यापारका अनुकरण ही नहीं है। वह ऐसी घटनाओंका भी अनुकरण है जो भय और करुणा का सञ्चार करें। ऐसा प्रभाव सर्वश्रेष्ठ रीतिसे तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब हमारे सम्मुख ऐसी घटनाएँ हों जो केवल आकस्मिक ही नहीं वरन् एक दूसरेके अतर्कित परिणाम स्वरूप हों। इस प्रकार उनमें स्वतः तथा दैवयोग से उत्पन्न घटनाओंकी अपेक्षा बहुत अधिक त्रासात्मक आश्चर्य होगा, क्योंकि घटना संयोग तभी आकर्षक होता है जब उनमें किसी विलक्षणताका समावेश हो। हम यहाँ आरगोस नगरमें स्थापित मितुसकी मूर्तिका उदाहरण दे सकते हैं जो अपने हत्यारेके ऊपर उस समय गिरी और उसे मार डाला जब वह एक उत्सव देख रहा था। ऐसी घटनाएँ केवल दैवयोगके कारण होती नहीं जान पड़ती। अतः इन सिद्धान्तोंके आधारपर रचे हुए इतिवृत्त अवश्य ही श्रेष्ठ होते हैं।

"इतिवृत्त दो प्रकारके होते हैं—साधारण और गूढ़। क्योंकि इतिवृत्त द्वारा जिन व्यापारोंका अनुकरण किया जाता है उनमें भी प्रत्यक्षः ये ही दो भेद दिखाई पड़ते हैं। जो व्यापार पूर्व-कथित सिद्धान्तके अनुकूल पूर्ण एक और संबद्ध हो वह उस समय साधारण कहलाता है जब उसमें परिवर्तन और अभिज्ञानके विना ही निर्वहण (फल-लाभ) हो जाता हो।

गूढ़ व्यापार वह है जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके संयोगसे निर्वहण होता हो। परिवर्तन और अभिज्ञान अथवा दोनों ही इतिवृत्तके भीतरी ढाँचेसे इस प्रकार उत्पन्न हों कि जो कुछ आगे आने वाला है वह पीछे हुए व्यापारका आवश्यक अथवा सम्भाव्य परिणाम हो। क्योंकि इसमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है कि कोई घटना अमुक घटनाके फलस्वरूप हुई है अथवा केवल उसके पीछे हुई है।

व्यापारकी परिस्थितियोंसे जिस परिणामकी आशाकी जाती हो उससे उपर्युक्त संभावना तथा आवश्यकताके नियमके अनुसार यदि व्यापार नितान्त विपरीत दिशामें चलने लगे तो उस दशाको 'स्थितिपरिवर्तन' (पेरिपेताया) कहते हैं। उदाहरणार्थ ऐदीपउस, में ऐदीपउसको प्रसन्न करनेके लिये तथा उसकी माताके विषयमें उसकी शंका दूर करने दूत आता है, किन्तु जब वह उसकी उत्पत्तिका रहस्य प्रकट करता है तो उसका प्रभाव उसकी इच्छाके बिल्कुल विपरीत पड़ता है। 'लुंकउस,' त्रासदमें लुंकउस वधके लिये ले जाया जाता है और दनउस उसका वध करनेके लिये उसके साथ जाता है किन्तु घटनाओंका ऐसा विचित्र परिणाम होता है कि दनउस् मारा जाता है और लुंकउस् बच जाता है।

'अभिज्ञान' जैसा कि शब्दसे ही स्पष्ट है अज्ञातसे ज्ञात में परिवर्तित होनेको कहते हैं और वह उन पुरुषोंके बीच प्रेम या घृणा उत्पन्न करता है जिनको कवि अच्छे या बुरे भाग्यवाले बनाना चाहता है। सर्वोत्कृष्ट अभिज्ञान स्थिति परिवर्तनके साथ ही घटित होता है जैसा कि ऐदीपउसमें है। इसके और भी बहुतसे रूप होते हैं। अत्यन्त निम्न श्रेणीकी निर्जीव वस्तुएँ भी इस प्रकारसे अभिज्ञानका आधार हो सकती हैं। फिर हम यह बात पहचान या खोलकर निकाल सकते हैं कि अमुक मनुष्यने वह कार्य किया है या नहीं, किन्तु जिस अभिज्ञानका इतिवृत्त और कार्यसे अत्यन्त निकट संबंध है, वह जैसा कि हम कह चुके हैं- मनुष्योंका ही अभिज्ञान होता है। यह अभिज्ञान प्रतिकूलतासे मिलकर या तो करुणा उत्पन्न करेगा या भय, और हमारी परिभाषाके अनुसार ऐसा प्रभाव उत्पन्न करने वाले कार्योंको ही त्रासद प्रदर्शित करता है। बात यह है कि ऐसी स्थितियोंपर ही अच्छे बुरे भाग्यके फल अवलंबित रहते हैं। क्योंकि अभिज्ञान पुरुषोंके बीच होता है अतः यह हो सकता है कि केवल एक ही व्यक्ति दूसरेके द्वारा पहचाना जावे जब कि दूसरा पहलेसे ज्ञात व्यक्ति हो— अथवा यही आवश्यक हो कि पहचान दोनों ओरसे हो। इसी प्रकार इफीगेनियाने पत्र भेजकर ही ओरस्तेसको अपना परिचय दिया किन्तु ओरस्तेसको इफीगेनियासे

परिचित करानेके लिये एक दूसरे व्यापारकी आवश्यकता रह जाती है।

"तो इतिवृत्तके दो अंग स्थिति-परिवर्तन और अभिज्ञान आकस्मिकतापर अवलंबित हैं। एक तीसरा भाग है, दुःखात्मक दृश्य। विनाशकारी अथवा दुःख-जनक कार्य ही दुखात्मक दृश्य है, जैसे रंगमंचपर हत्या, शारीरिक पीड़ा, चोट लगना तथा अन्य ऐसी ही बात।

"हम देख चुके हैं कि निर्दोष त्रासदकी रचना साधारण ढगपर न होकर गूढ़ होनी चाहिए। उसमें ऐसे कार्योंका अनुकरण होना चाहिए जिनसे करुणा और भयका संचार हो, क्योंकि यही त्रासात्मक अनुकरणका एक विशिष्ट लक्षण है। इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि प्रथम तो जो भाग्य-परिवर्तन प्रदर्शित किया गया हो वह कोई ऐसा दृश्य न हो जिसमें किसी भले मनुष्यको सुखकी अवस्थासे दुःखकी अवस्थामें ला दिया गया हो, क्योंकि इससे न करुणा ही उत्पन्न होती है और न भय ही। इससे तो हमारे हृदयमें केवल एक धक्का-सा लग जाता है। ऐसा भी दृश्य नहीं दिखाना चाहिए जिसमें किसी बुरे मनुष्यका दुःखकी अवस्थासे सुखकी अवस्थामें पहुँचना दिखाया जाय, क्योंकि इससे बढ़कर त्रासदके स्वरूपके विरुद्ध और हो ही क्या सकता है, क्योंकि इसमें एक भी त्रासात्मक गुण नहीं है। इससे न तो नैतिक भावनाकी तुष्टि ही होती है और न करुणा और भयकी उत्पत्ति ही। फिर अत्यंत दुष्ट मनुष्यका पतन भी नहीं दिखलाना चाहिए। इस प्रकारके इतिवृत्तसे नैतिक भावनाकी तुष्टि तो अवश्य होगी, किन्तु इससे न तो करुणाका संचार होगा न भयका ही, क्योंकि करुणा वहाँ उत्पन्न होती है जहाँ किसी ऐसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय जिसपर नहीं आनी चाहिए। भय वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी हमारे जैसे मनुष्यपर विपत्ति आ जाय। इसलिये ऐसी घटना न तो करुणाजनक होगी और न भयावह ही। तो इन दोनों छोरोंका मध्यवर्ती चरित्र ही शेष रह जाता है और वह ऐसे आदमीका जो कोई विशिष्ट और विवेकी न हो और उसपर दुर्व्यसन अथवा चरित्रहीनताके कारण विपत्ति न आई हो वरन् किसी भूल या दुर्बलताके कारण आई हो। वह ऐसा होना चाहिए जो अत्यंत प्रसिद्ध और सुखी हो,—अर्थात् ऐदिपउस, थुएस्तेस् अथवा अन्य ऐसी ही श्रेणियोंके प्रसिद्ध मनुष्य हों।

"अतः एक सुनिर्मित इतिवृत्तका फल इकहरा होना चाहिए, दुहरा नहीं, जैसा कि कुछ लोगोंका मत है। भाग्य-परिवर्तन बुरेसे अच्छेमें न होकर उल्टा अच्छेसे बुरेमें होना चाहिए। वह दुर्व्यसन (दुर्गुण) का परिणाम न होकर किसी भूल अथवा मानसिक दुर्बलताका परिणाम होकर प्रकट होना चाहिए और उसी प्रकारके चरित्रमें हो जिस प्रकारका हम वर्णन कर चुके हैं अथवा बुरेकी अपेक्षा अच्छे मनुष्यमें हो। रंग-मंचके प्रयोग हमारे मतका समर्थन करते हैं। पहले तो कवि लोग, जो कहानी सम्मुख आई, उसीका वर्णन कर डालते थे। परन्तु अब सर्वश्रेष्ठ त्रासद कुछ गिनी चुनी कथाओंके आधारपर ही बनते हैं जैसे अल्कमैअन, ऐदिपउस, ओरेस्तेस्, मेलिआगेर, थुएस्तेस्, तेलीफउस—जिन्होंने कुछ भयानक कार्य किए हों या अधिक कष्ट झेले हों। तो कलाके नियमोंके अनुसार त्रासदकी बनावट ऐसी होनी ही चाहिए। अतः वे लोग भूल करते हैं जो इउरीपाइदेस्‌को इसलिये बुरा कहते हैं कि उसने इस सिद्धान्तका अपने दुःखांतक नाटकोंमें अनुसरण किया है। जैसा कि हम कह आए हैं, यही उचित अंत है। इसका सबसे बढ़कर प्रमाण तो यह है कि रंगमंचपर और नाट्य-प्रतियोगितामें यदि ये नाटक भली प्रकार खेले जायँ तो इनका प्रभाव सबसे अधिक त्रासात्मक होगा। इउरिपिदेस्‌ने चाहे अपने विषयके साधारण प्रतिपादनमें भले ही भूल की हो पर सब कवियोंमें वही अधिक त्रासात्मक समझा जाता है।

"दूसरी श्रेणीमें उस प्रकारके त्रासद आते हैं जिनमें अदूसियाके समान इतिवृत्तका दुहरा धागा चलता है और उनमें अच्छे-बुरे दोनोंके लिये उल्टा ही अंत होता है। ऐसे नाटकोंको लोग सर्व-प्रथम स्थान देते हैं। यह दर्शकोंकी दुर्बलताके कारण ही सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। क्योंकि कवि जो कुछ लिखता है उसमें दर्शकोंकी रुचिका ध्यान रखता है। उससे जो आनंद प्राप्त होता है वह वास्तविक त्रासात्मक आनंद नहीं होता। वह तो प्रहसनमें

ही अच्छा लगता है, जहाँ नाटकमें ओरेस्तेस् और एगिस्थउसके समान परस्पर परम शत्रु अंतमें मित्र होकर रंगमंचसे विदा होते हैं, जहाँ न तो कोई मरता है और न मारा ही जाता है।

"दृश्यात्मक साधनोंसे भय और करुणाकी उत्पत्ति की जा सकती है, किंतु वे नाटककी आंतरिक रचनासे भी उत्पन्न हो सकते हैं, और यही अच्छा विधान भी है। इस प्रकारकी रचनासे यह स्पष्ट व्यक्त हो जाता है कि इसका रचयिता कोई उत्कृष्ट कवि है। इतिवृत्तकी रचना ऐसी होनी चाहिए कि बिना आँखकी सहायताके वर्णित घटना सुनते ही हृदय भयसे काँप उठे, अथवा करुणासे द्रवित हो जाय। ऐदिपउसकी कथा सुनकर हमारे मनमें यही भाव आ जाना चाहिए। किन्तु केवल दृश्यके द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करनेकी रीति कम कलात्मक है और बाह्य सहायतापर अवलम्बित है। जो लोग दृश्यात्मक साधनोंके द्वारा भयावह भावकी अपेक्षा अद्भुतका भाव उत्पन्न करते हैं वे त्रास-नाटकका अभिप्राय नहीं जानते। क्योंकि हमें त्रास-नाटकसे हर प्रकारके आनंदकी नहीं वरन् तदनुकूल आनंदकी ही आशा रखनी चाहिए। क्योंकि कवि-प्रदत्त आनन्द तो कवि-अनुकरणजन्य करुणा और भयसे उत्पन्न होता है। अतः यह स्पष्ट है कि घटनाओंपर इस गुणकी छाप डालना अत्यावश्यक है।

"अब हमें निश्चय करना है कि ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जो हमें भयानक या करुणाजनक जान पड़ती हैं।

"इस प्रभावको उत्पन्न करनेकी क्षमता उन लोगोंके व्यापारोंमें होती है जो या तो परस्पर मित्र हों, या परस्पर शत्रु हों या एक दूसरेकी ओरसे उदासीन हों। यदि एक शत्रु दूसरेका वध कर डालता है, तो उससे वध-कार्यके अतिरिक्त न तो कार्यमें ही कोई करुणोत्पादक बात होती है और न उद्देश्यमें ही। यही बात एक दूसरेके प्रति उदासीन मनुष्योंके विषयमें भी है। किन्तु जब त्रासात्मक घटना उन लोगोंके बीच घटित होती है जो एक दूसरेके अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं—जैसे यदि एक भाई दूसरे भाईकी, माँ अपने पुत्रकी, पुत्र अपनी माँकी हत्याका विचार करे अथवा इसी प्रकारका कोई दूसरा कार्य किया जाय—तो ये ही स्थितियाँ ऐसी हैं जिनपर कविको विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। उसे चाहिए कि वह प्रस्तुत कथाके ढाँचेको नष्ट न करे जैसे, क्लुटैम्नेस्त्राकी हत्या ओरेस्तेस्के हाथों और एरीफुलेकी अल्कमैअनके हाथों हुई—किन्तु उसे कुछ अपनी नवीनता भी दिखानी चाहिए और रूढ़ सामग्रीका चतुराईसे उपयोग करना चाहिए। चतुराईसे उपयोग करनेके अर्थकी हम स्पष्ट व्याख्या कर देते हैं।

"प्राचीनतर कवियोंकी प्रणालीके अनुसार कोई कार्य जान-बूझकर तथा व्यक्तियोंका ज्ञान होनेपर भी किया जा सकता है जैसे एउरीपाइदेसने मीद्रियाके द्वारा अपने बच्चोंका वध कराया। दूसरी स्थिति यह है कि भयानक कार्य अज्ञानमें किया जाय और सम्बन्ध या मित्रताका ज्ञान पीछे हो। सफक्लेस्का ऐदिपउस इसका उदाहरण है। यहाँ वस्तुतः यह घटना वास्तविक नाटकके बाहर है, किन्तु ऐसे भी अवसर पड़ते हैं जहाँ कि यह नाटकके कार्यके भीतर आ जाती है। एस्तुदमस का अल्कमैअन या 'आहत ऊलुसेस्' में तेलीगोनुस इसके उदाहरण दिए जा सकते हैं। फिर एक तीसरी अवस्था भी है कि व्यक्तियोंको जानकर कोई कार्य करने तो चलें किन्तु रुक जायँ। चौथी अवस्था वह है जब अज्ञानवश कोई अपरिहार्य कार्य करनेसे पहले ही किसीको उसका ज्ञान हो जाय। ये संभव मार्ग हो सकते हैं। क्योंकि व्यापार या तो करना चाहिए या नहीं करना चाहिए,—और वह जानकर हो अथवा अज्ञानमें हो। किन्तु इन सब मार्गोंमें व्यक्तियोंको जानकर कार्य करनेको उद्यत होना और फिर न करना सबसे बुरा है। यह बिना त्रासात्मक हुए ही हृदयको धक्का पहुँचाता है क्योंकि इसके परिणाममें कोई दुर्घटना नहीं होती। अतः काव्यमें यह या तो होती ही नहीं या बहुत कम पाई जाती है। फिर भी अंतिगोनीमें एक उदाहरण है जहाँ ह्रीओनको हैमोन मारनेकी धमकी देता है। इसके बाद इससे अच्छा मार्ग वह है जहाँ कार्य हो जाय। इससे अच्छा यह है कि कार्य अज्ञानमें हो और बादमें भेद जाना जाय। तब हमारे हृदयको धक्का देनेवाली कोई बात नहीं रह जाती वरन् प्रकट होनेसे चामत्कारिक प्रभाव उत्पन्न होता है। अंतिम मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, जैसे क्रेस्फोन्तेसमें ज्यों ही मरोपी अपने पुत्रकी हत्या करनेको तैयार होती है, त्योंही उसे पहचानकर उसे छोड़ देती है। इसी प्रकार इफगेनियामें बहन अपने भाईको ठीक समयपर पहचान जाती है। फिर हेलीमें भी पुत्र अपनी माताका परित्याग करनेके ठीक समयपर ही

पहचान जाता है। यही कारण है कि कुछ ही परिवार ऐसे हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, जिनमें त्रासदोंके विषय मिलते हैं। यह कलाके कारण नहीं वरन् संयोगसे ही ऐसे विषयोंकी खोज करनेमें प्रवृत्त हुए। अतः उन्हें विवश होकर उन्हीं कुलोंकी शरण लेनी पड़ी जिनके इतिहासमें इस प्रकारकी हृदयद्रावी घटनाएँ भरी हुई हैं।"

दशरूपककार तथा साहित्यदर्पणकारने वस्तुके दो भेद करके अर्थप्रकृति, सन्धि, अवस्था आदि अनेक विस्तृत विधानोंकी योजना की और इन सबके बहुतसे भेद करके साधारण नाट्यकारके लिये बड़ी समस्या खड़ी कर दी। नाटकके इन सब अंगोंके विषयमें जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब विभिन्न नाटकोंसे फुटकर लिए गए हैं। यह विवरण किसी आचार्यने नहीं दिया है कि संस्कृतके किसी नाटककारने प्रत्येक सधिके विभिन्न भेदोंको नियमित रूपसे अपने नाटकमें प्रयोग किया है। जहाँतक पाँच अर्थ-प्रकृतियोंकी बात है, वे तो बहुत मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक प्रतीत होती हैं, क्योंकि प्रत्येक नाटकमें बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य पाँचों तत्त्व नाटकके प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये उपस्थित होंगे ही। इसी प्रकार आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम भी नाटकमें होने ही चाहिए। किन्तु इन नाट्याचार्योंका यह आदेश सर्वमान्य नहीं हो सकता कि सब अर्थ-प्रकृतियाँ अलग अलग अंकोंमें प्रकट होकर विस्तार पावें। यही बात अवस्थाओंके विषयमें भी हैं। प्रत्येक नाटकमें आरम्भ तो होगा ही, किन्तु उसके पश्चात् केवल प्रयत्न सबके लिये स्वीकृत हो सकता है बहुतसे कुशल नाटककार प्राप्त्याशा और नियताप्तिको नाटकीय कुतूहलके लिये बाधक समझते हैं और उनका यह विश्वास है कि नाटकीय वस्तु इस ढंगसे चलनी चाहिए कि अंततक नियताप्ति और प्राप्त्याशाका संकेत भी न मिले। स्वयं कालिदासने अपने अभिज्ञानशाकुन्तलमें इस कौशलका प्रयोग किया है। वहाँ अँगूठी मिलनेपर जिस प्राप्त्याशाका आभास मिलता है वह शकुन्तलाके अन्तर्धान होनेका स्मरण होते ही लुप्त हो जाता है और व्यवस्थित नियताप्तिके बिना ही अचानक भगवान मारीच कश्यपके आश्रममें सहसा फलागम हो जाता है। इसी नाटकीय कौशलने कालिदासके इस नाटकको संसारके सब नाटकोंपर मूर्धाभिषिक्त किया है। यदि नाटककार किसी भी क्रमके बन्धनमें बँध जाता है तब उसकी कलाके विकासके लिये पर्याप्त अवसर नहीं मिलता। वह केवल बँधे बँधाए ढाँचोंमें सामग्री मात्र भर देता है। इस प्रकारके रूढ़िपालक नाटककारोंने वह यश नहीं पाया जो स्वाभाविक गतिसे कथावस्तुका विस्तार करनेवाले नाटकारोंने पाया है। यही बात विभिन्न संधियोंके विषयमें है। मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण संधियोंमें नाटकको बाँधना केवल एक नियमित रूढ़िका पालन मात्र करना है। कोई भी ऐसा नाटककार नहीं है जिसने नियमित रूपसे प्रत्येक सन्धिके सभी अंगोंका अवश्य ही प्रयोग किया हो यहाँतक कि बहुतसे रूपकों और उपरूपकोंमें बहुत सी संधियोंका विधान ही नहीं है। केवल नाटक ही एक ऐसा रूपक है जिसमें संधियों और पाँचों अर्थ-प्रकृतियोंके प्रयोगकी व्यवस्था है। 'भाण' में केवल मुख और निर्वहण केवल दो ही संधियाँ होती हैं। डिममें भी विमर्श संधि होती ही नहीं। वीथीमें भी केवल मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। इस प्रकार व्यापक रूपसे संधियोंका नियम बहुत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। उसके दो कारण हैं—पहला कारण तो यह है कि कथावस्तुकी प्रकृति स्वयं अपने विस्तारका मार्ग अपने आप बनाती है। उसे किसी भी नियममें बाँध देना कलाकी दृष्टिसे उचित नहीं। दूसरी बात यह है कि नाटककारको यह स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए कि वह किस रीतिसे निश्चित परिणामतक कथावस्तुको पहुँचावे।

अरस्तूने अपने काव्य शास्त्रमें यह सब झमेला न रखकर कुछ मोटी मोटी बातें रख दी हैं जिसका सार यह है कि नाटकमें एक पूर्ण इतिवृत्त होना चाहिए और वह निश्चित परिमाणकी होना चाहिए। दूसरी बात उसने यह कही है कि उन्हीं वास्तविक घटनाओंका वर्णन होना चाहिए जो सम्भाव्य हों और आवश्यक हों। उसने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—साधारण और गूढ़। जिस कार्यमें स्थितिपरिवर्तन और अभिज्ञानके बिना ही फलागम हो जाता हो उसे वह साधारण मानता है और जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके समागमसे फलागम होता हो उसे वह गूढ़ मानता है। इतिवृत्तके

ये दोनों अंग—स्थिति-परिवर्त्तन और अभिज्ञान—आकस्मिकतापर अवलम्बित हैं अर्थात् किसी अद्भुत कारणसे इनकी सृष्टि होनी चाहिए।

भरतने अपने नाट्य-शास्त्रमें कहा है—

सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम्।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भुतस्तज्ज्ञैः॥

[अनेक प्रकारके रस, भाव और युक्तियोंसे संयुत सब काव्योंके अन्तमें काव्यज्ञोंका काम है कि अद्भुत रसका प्रयोग करें।]

इससे भी यह सिद्ध होता है कि नाटककारको नाटकीय कौतूहल उत्पन्न करके अद्भुत ढंगसे फलागम कराना चाहिए। भरतने भी यद्यपि अपने नाट्यशास्त्रके सध्यङ्ग विकल्प नामक इक्कीसवें अध्यायमें अवस्था, संधि और अर्थप्रकृतियोंका वैसा ही लम्बा-चौड़ा विवरण दिया है जैसा ऊपर हम दशरूपककारके शब्दोंमें दे आए हैं किन्तु दशरूप विधानमें उन्होंने नाटक-रचनाके सम्बन्धमें यही कहा है कि नाटककी कथा अङ्कोंमें बाँट देनी चाहिए। अंककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

'अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैः प्ररोहयत्यर्थान्।
नानाविधान-युक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः॥१४॥

[अङ्क रूढ़ शब्द है। इसका अर्थ यह है कि भावों और रसोंके द्वारा जो काव्यार्थोंको ऊपर चढ़ाता हो और अनेक प्रकारके विधानोंसे युक्त हो उसे अङ्क कहते हैं।]

जहाँतक अङ्कोंमें बाँटनेकी बात है वहाँतक यह प्रथा प्रायः सभी देशके नाटककारोंने स्वीकार की है। क्योंकि एक ही कथा बहुत दिनों, महीनों या वर्षों तक चल सकती है अतः एक-एक समयकी कथा एक-एक अंकमें रक्खी जानी चाहिए। इस विषयमें भरतने कहा है—

[illegible] दिवसांशान् क्षणयाममुहूर्तलक्षणोपेतान्।
विभजेत्सर्वानेतान् पृथक्पृथक् काव्यमङ्के तु॥२७॥
दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम्।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद् विधातव्यम्॥
अङ्कच्छेदे कुर्यान्मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्॥

[[illegible] कार्योंके अंग, प्रक[illegible]
[illegible] दिनोंके अनुसार सब कार्योंको भली भाँति अलग-अलग अंकोंमें बाँट देना चाहिए। दिन समाप्त होनेतकका पूरा काम यदि अंकमें न आ सकता हो तो अंक समाप्त करके शेष काम प्रवेशकके द्वारा कहला देना चाहिए। एक महीने या एक वर्षके कामपर अंक तोड़ना चाहिए और वह सब काम एक-एक अंकमें समाप्त कर देना चाहिए। किन्तु एक वर्षसे ऊपरका काम कभी नहीं भरना चाहिए।]

नाटक-लक्षण-रत्नकोशकारने लिखा है—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्कः सप्रयोगमधिकृत्य।

आख्याने यद्वस्तु वक्तव्यं तदेकदिवसमालम्ब्याङ्के कर्तव्यम्। अन्य तु वासरार्द्धकृतोह्यङ्क इति। अपरश्च एकरात्रिकृतमेकवासरकृतमङ्के वक्तव्यम्। यत्र तु कार्यवशात् कालभूयस्त्वं तदस्मिन्नङ्के प्रवेशकेन वक्तव्यम्। न तु वर्षादतिक्रान्तम्। यदुच्यते—वर्षादूर्ध्वन्न कदाचिदिति।

तदेतद्बहुकालप्रणेयम् नाङ्के विधेयमिति।"

[एक दिनका काम ही एक अंकमें दिखाना चाहिए। कथामें जो बातें दिखानी हैं उनमेंसे एक-एक दिनकी कथा एक-एक अंकमें दिखानी चाहिए। एक आचार्य कहते हैं कि अङ्कमें आधे दिनकी कथा दिखानी चाहिए। दूसरे आचार्यका कहना है कि एक रात-दिनकी घटना एक अंकमें कही जा सकती है। जहाँ आवश्यकतावश अधिक कालकी कहलानी हो तो प्रवेशकके द्वारा कहलानी चाहिए। किन्तु एक वर्षसे ऊपरकी घटना नहीं होनी चाहिए। अर्थात् बहुत दिनोंकी बात अंकमें नहीं आनी चाहिए।]

अंकोंके निर्माणका यह सिद्धान्त इस युगमें स्वीकार्य नहीं हो सकता। भवभूतिने अपने महावीरचरितके पाँचवें अंकमें शबरी-प्रसंग, दनुकी मुक्ति, बालिवध इत्यादि अनेक घटनाएँ एक साथ दिखाई हैं यद्यपि इन घटनाओंके होनेमें बहुत दिन लगे हैं। दूसरी बात यह है कि संस्कृतके नाटकोंमें 'परिक्रामति' या 'सर्वे परिक्रामन्ति' का निर्देश देकर नाटककार काल-परिवर्तन और स्थान-परिवर्तनका निर्देश एक साथ कर देता था। योरोपके नाटककारोंने अंकोंका निर्माण इस सिद्धान्तपर किया है कि किसी भी कथावस्तुमें कुछ निश्चित गति होनी

है। वह गति जहाँतक एक धारामें चलती है वहाँतकका अंश एक अंकमें मान लिया जाता है और जहाँसे वह बदलती है वहाँसे दूसरा अंक मान लिया जाता है। संस्कृत नाटकोंमें जहाँ एक अंकमें कई दृश्योंका विधान कर देते हैं वहाँ योरोपीय नाट्यकार अंकगत स्थानके अनुसार एक-एक अंकके उतने ही दृश्य बना लेते हैं। इस दृश्य विधानसे बड़ी सुविधा होती है। और यह सुविधा, दर्शक और रंगव्यवस्थापक दोनोंको होती है क्योंकि दृश्योंके अलग-अलग होनेसे उनका आधार और उनकी कथा समझनेमें सुविधा होती है। संस्कृत नाटकोंमें दृश्योंका विधान इसलिये नहीं था कि वहाँ बीचसे फटी हुई एक यवनिका टँगी रहती थी उसीको हटाकर पात्र प्रवेश करते थे। पात्रोंका प्रवेश भी बड़े अद्भुत ढंगसे होता था:— "ततः प्रविशति आसनस्थो राजा विदूषकश्च"। इसका यह अर्थ नहीं है कि यवनिका हटी और राजा तथा विदूषक आसनपर बैठे दिखाई दिए वरन् जैसा आजकल रामलीलामें होता है, विमानपर राजा और विदूषकको बिठाकर रंग-पीठपर लाया जाता था और उसे स्थापित कर देनेके पश्चात् संवाद प्रारम्भ होता था। दूसरी बात यह थी कि सम्पूर्ण अभिनय प्रतीकात्मक होता था। प्रत्येक भाव, वस्तु, दृश्य सभीको अभिनयके द्वारा व्यक्त किया जाता था। भरतने अपने नाट्यशास्त्रके चित्राभिनय प्रकरणमें उसका विस्तृत विवरण दिया है।

अंकमें क्या हो

● एककालानवरतकथात्मकोऽङ्कः॥

[एक कालकी कथा निरन्तर एक अंकमें ग्राह्य।]

आजकल हमारा अभिनय प्रतीकात्मक न होकर स्वाभाविक और वास्तविक हो गया है। प्रत्येक वस्तु और दृश्य रंगपीठपर उपस्थित किया जाता है इसलिये अंकोंके विधानमें भी यह परिवर्तन होना चाहिए कि एक एक अंकमें नाटकीय कार्यकी एक पूरी गति हो और वह गति जितनी बैठकों या स्थितियोंमें पूर्ण हुई हो उतने ही दृश्योंमें दिखाई जाय। प्रयोगकी सुविधाके अनुसार दृश्योंका क्रम ऐसा हो कि रंग-व्यवस्थापक उनकी व्यवस्था कर सके अर्थात् यदि एक दृश्य गहरा हो जिसमें बहुत सजावट हो, पात्र आकर बैठते, लेटते या सोते हों अथवा उसमें दृश्यात्मक वस्तुएँ ऐसी लगी हों जिनके हटाए बिना अगला दृश्य पूरा न बन सकता हो तो ऐसे दृश्योंके पश्चात् नियमतः ऐसा संकीर्ण दृश्य रखना चाहिए जिसमें खड़े खड़े नाटकीय व्यापार हो जाय या पात्र भूमिपर बैठकर अभिनय करें अथवा पात्र बैठने आदिके आसन साथ ले आवें और साथ स्वयं ले जावें। यद्यपि जापानके 'चक्रिल रंगमंच' (रिवौल्विंग स्टेज) और योरोपके ससर्पी रंगपीठ (शिफ्टिङ्ग या ग्लाइडिंग स्टेज) पर लगातार गहरे दृश्य भी दिखाए जा सकते हैं किन्तु साधारण नाटककारको किसी विशेष रंगपीठके अनुकूल नाटक नहीं लिखने चाहिए। अतः अंकमें दृश्योंकी योजना इस प्रकार होनी चाहिए कि एक गहरे दृश्यके पश्चात् एक संकीर्ण दृश्य अवश्य ही हो और यह संकीर्ण दृश्य इतनी देरतक चलना चाहिए कि रंग-व्यवस्थापक अगले गहरे दृश्यकी पूरी सजावट और व्यवस्था कर सके। कभी-कभी नाटककारोंकी इस भूलसे नाटक खेलनेवालोंको बलपूर्वक बाहरसे कोई प्रहसन या गीत लाकर रखना पड़ता है और कथाके प्रवाहमें बाधा पड़ जाती है।

दृश्यका परिमाण

● अर्द्धघटिकाप्रमाणं दृश्यम्।

[एक दृश्य हो आध घड़ीका।]

एक दृश्य कितना बड़ा हो इसके विषयमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता किन्तु कुछ नाटकीय सिद्धान्त उसका परिमाण निश्चय करनेमें सहायक हो सकते हैं। एक ही दृश्यको बहुत देरतक देखते रहनेसे दर्शक ऊब जाते हैं अतः दृश्यको थोड़े थोड़े समयमें बदलते रहना चाहिए जिसकी अवधि आधी घड़ी या १२ मिनटसे अधिक नहीं होनी चाहिए। इस आधी घड़ीके दृश्यमें भी किन्हीं दो पात्रोंकी ही बातें न भरी हों। उसमें भी मिनट-मिनटपर भाव, कार्य, घटना इत्यादिका परिवर्तन होता रहना चाहिए, जैसे पात्रोंका उठना, चलना, क्रोध करना, किसीका किसीको भेजना कुछ वस्तुओंको उठाना या रखना आदि। बंगाली, मराठी और तामिल रंगमंचोंपर यह नई प्रथा निकली है कि पात्र अकारण ही पीठासनोंके रहते हुए भी चलते-फिरते रहते हैं। किन्तु यह अत्यन्त अस्वाभाविक और अनुचित है। पात्रोंकी

जितनी भी गति हो सब स्वाभाविक और आवश्यक हो। अतः नाटककारका यह धर्म है कि वह वाचिक अभिनयके साथ-साथ आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये बीच-बीचमें अवसर देता रहे। जहाँतक सम्भव हो एक अंकमें तीन या चार दृश्यसे अधिक न हों। अभिनवभरतने अपने अजन्ता, वाल्मीकि, मंगल-प्रभात, दंतमुद्रा, पुष्यमित्र, अंगुलिमाल तथा बसंत नाटकोंमें इसी नियमका पालन किया है और प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि इस प्रकारके दृश्य-विभाजनसे रंग-व्यवस्थापकको भी सुविधा होती है और दृश्य व्यवस्थापकको भी।

नाटककारको दृश्य-विभाजन करते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि गहरे दृश्यमें जिन वस्तुओंकी सजावटका विधान किया गया हो वे अदल बदलकर अगले गहरे दृश्यमें काम आ सकें। जैसे यदि एक दृश्यमें दो चौकियाँ, दो पीठासन लगे हुए हैं तो तीसरा गहरा दृश्य इस प्रकारका हो कि दोनों पीठासनोंको जोड़कर शिलापट्ट बनाया जा सके और चौकियोंको शिलातल्प या शैयाके रूपमें परिवर्तित किया जा सके। उसे यह सोच लेना चाहिए कि बीचमें जो संकीर्ण दृश्य लिया गया है उसमें जो समय लगता है उससे कम समयमें पीछेके दृश्यकी वस्तुओंको हटाने और नये दृश्यकी वस्तुओंके लगाने और उसके पात्रोंको बैठानेका पर्याप्त अवसर मिले। इस प्रकारके दृश्य-विभाजनसे संयुक्त नाटक, खेलनेवालोंके लिये अधिक सुविधाजनक होते हैं। प्रायः अधिक वस्तुओंसे सजाए जानेवाले दृश्य नाटकके प्रारम्भमें या अंकोंके प्रारम्भमें रक्खे जाने चाहिए क्योंकि नाटकके प्रारम्भमें तथा अंकोंके बीचमें रंग-व्यवस्थापकको पर्याप्त समय मिल जाता है।

अंकोंकी संख्या

● कथाविभागसंख्यका अङ्काः ॥

[जितने कथाविभाग हों, उतने ही हों अङ्क।]

नाटकमें कितने अंक होने चाहिएँ—इस विषयमें भी हमसे पहलेके नाट्याचार्योंने सीमा बाँध दी है। नाटकमें पाँचसे दसतक, भाणमें एक, समवकारमें तीन, और ईहामृगमें चार अंकोंका विधान है आदि। किन्तु अंकोंकी संख्या निश्चित नहीं की जा सकती। क्योंकि सम्भव हो नाटककार अपनी कथाको तीन भागोंमें बाँटकर तीन अंकोंमें रख देना चाहिए क्योंकि बहुत बार अंकोंका व्यवधान तथा यवनिकाका गिरना दर्शकोंको बहुत खलता है। आजकल प्रायः नाटककार तीन अंकके नाटक लिख रहे हैं किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं अंकोंकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। जितने सुविधाजनक भागोंमें नाट्य-कथा विभाजित की जा सके उतने ही अंक होने चाहिएँ, किन्तु प्रयत्न यह करना चाहिए कि पाँचसे अधिक अंक न हों और कुल नाटक ढाईसे चार घंटे तकके भीतर समाप्त हो जाय।

इतिवृत्तके भेद—

● पुराणेतिहासानुश्रुतिकल्पनाप्रतीकप्रत्यक्षानुसारिण इतिवृत्ताः ॥

[हैं पुराण, इतिहास, अनुश्रुति, कवि-कल्पना, प्रतीक।
और ज्ञान प्रत्यक्ष जहाँतक वृत्त-धार अलीक।]

ऊपर हम भारतीय नाट्याचार्योंके बताए हुए भेदोंका विरोध करते हुए कह आए हैं कि उन्होंने जो इतिवृत्त या वस्तुके भेद बताए हैं वे वास्तवमें उसके भेद नहीं, अंग हैं। तब यह प्रश्न है कि इतिवृत्तके भेद किए किस प्रकार जायँ।

विषयके अनुसार रूपकके छः भेद किए जा सकते हैं (१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक (३) आनुश्रौतिक (४) कल्पित (५) प्रतीकात्मक और (६) वास्तविक।

पौराणिक इतिवृत्त वे हैं जो किसी देशके प्राचीन पौराणिक ग्रन्थोंमें दी हुई कथाओंके आधारपर बना लिए गए हों। इन कथाओंका कोई ऐतिहासिक या प्रामाणिक विवरण नहीं प्राप्त होता। इनके चरित्र प्रायः लोक-संस्कृतिके मान्य पुरुष होते हैं जैसे—रामायण, महाभारत, नलदमयन्ती, अभिज्ञानशाकुन्तल आदिमें।

ऐतिहासिक इतिवृत्त वे हैं जिनकी कथा प्रामाणिक घटनाओंपर आश्रित होती है और जिनके चरित-नायकोंके सम्बन्धमें, उनके आचार-विचारके सम्बन्धमें सब प्रकारके प्रमाण उपलब्ध होते हैं जैसे चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त अशोक, भगवान बुद्ध आदिमें।

आनुश्रौतिक वे हैं जिनकी कथाएँ अनुश्रुति द्वारा हमारे समाजमें चली आ रही हैं और जिनका वास्तविक प्रमाण उपलब्ध नहीं है जैसे शकारि विक्रमादित्यमें।

काल्पनिक इतिवृत्त वे हैं जिनकी कथा कवि स्वयं कल्पित करता है। प्रायः आजकलके अधिकांश नाटक कल्पित ही होते हैं।

प्रतीकात्मक इतिवृत्त वे होते हैं जिनमें भावात्मक जगत्के अनेक भावरूपोंको व्यक्तित्व प्रदान कर दिया जाता है जैसे प्रबोधचन्द्रोदयमें, अथवा संसारकी जड़ वस्तुओंको चेतनत्व प्रदान किया जाता है जैसे सुमित्रानन्दन पंतकी ज्योत्स्नामें। अतः वास्तविक नाटक वे हैं जिनमें कुछ व्यक्ति स्वयं अपने नामसे अपने ही चरित स्वयं अभिनय करके रंगमंचपर प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि इस प्रकारके नाटक कम हैं किन्तु ऐसे प्रयोग अमरीका, स्विटजरलैंड और नार्वेमें किए गए हैं। इस प्रकारका प्रयोग काशीमें महाराज भवालके द्वारा भी बँगलामें हुआ था। महाराज भवाल प्रसिद्ध भवाल सन्यासी अभियोगवाले थे।

कल्पित नाटकोंके अन्तर्गत वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक सभी प्रकारके नाटक आ सकते हैं।

इतिवृत्त और कथावस्तुमें भेद

कथावस्त्वितिवृत्तयोर्विभेदः ॥

[कथावस्तु इतिवृत्तमें, बहुत बड़ा है भेद।]

विषयोंके अनुसार इतिवृत्तका भेद कर देनेपर यह भी बता देना आवश्यक है कि कथा (इतिवृत्त) तथा कथावस्तुको एक नहीं समझना चाहिए। इतिवृत्त या कथा किसी नाटकके लिये आधार मात्र है, उसमें जितने पात्र होते हैं या जिस क्रमसे घटनाएँ होती हैं, उतने पात्र या उतनी घटनाएँ नाटकके लिये पर्याप्त नहीं होती। यदि हम अभिज्ञानशाकुन्तलके इतिवृत्तको लें तो वह केवल इतना ही होगा—

'राजा दुष्यन्त मृगया खेलते हुए कण्वके आश्रममें पहुँचे। वहाँ शकुन्तलाको देखकर उसपर मुग्ध होकर उससे गान्धर्व विवाह कर लिया। जब कण्वको यह ज्ञात हुआ कि शकुन्तलाका गान्धर्व विवाह हो चुका है तब शकुन्तला पतिके पास भेज दी गई। वहाँ लोक-निन्दाके भयसे दुष्यन्तने उसे स्वीकार नहीं किया। किन्तु फिर कुछ परिस्थितियोंके द्वारा उनका मिलन हो गया।'

इतना तो इतिवृत्त है। महाकवि कालिदासने इसकी कथावस्तु सात अंकोंमें इस प्रकार सजाई है—

प्रथम अंक—दुष्यन्त रथपर चढ़े आते हैं और आश्रमके हरिणपर बाण चलानेको सन्नद्ध होते हैं। तपस्वी लोग आकर रोकते हैं और कण्वके आश्रममें आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना करते हैं। वह रथको आश्रमके बाहर छोड़कर साधारण राजपुरुषके वेषमें आश्रममें प्रवेश करता है। लताओंके पीछेसे वह ऋषि कन्याओंकी रँगरेलियाँ देखता है और शकुन्तलापर मुग्ध हो जाता है। वनज्योत्स्नाकी जड़में पानी देते समय एक भौंरा उड़कर शकुन्तलाके मुँहपर मँडराने लगता है। वह रक्षाके लिये चिल्लाती है। अवसर पाकर दुष्यन्त आ पहुँचता है। आदर सत्कारकी तैयारी होने लगती है। शकुन्तलाका परिचय दिया जाता है। दुष्यन्तको संतोष होता है। अनुसूया और प्रियम्वदाके व्यङ्गसे व्याकुल होकर शकुन्तला जाने लगती है किन्तु डालीमें साड़ी उलझनेके बहाने क्षण भर रुक जाती है और इसी बीच तपोवनमें हल्ला होता है कि हाथी दौड़ा चला आ रहा है। दुष्यन्त एक ओर और तपस्वि-कन्याएँ दूसरी ओर चली जाती हैं।

दूसरे अंकमें राजा काम पीड़ासे व्याकुल हैं। मृगया बन्द हो चुकी है। विदूषकसे राजा अपने मनकी बात कहता है। इतनेमें राजधानीसे समाचार आता है कि माताजीने बुलाया है। राजा स्वयं जाना नहीं चाहता, विदूषकको भेज देता है और इस डरसे कि कहीं यह विदूषक सब भण्डा न फोड़ दे, चलते-चलते उसे समझा देता है कि मैंने जो कुछ तुमसे कहा वह परिहास मात्र था, उसे सच न समझ बैठना।

तीसरे अंकमें शकुन्तला व्याकुल है, उसकी सखियाँ उसकी परिचर्या कर रही हैं। इसी बीच दुष्यन्त भी वहाँ पहुँच जाता है। सखियाँ बहानेसे हट जाती हैं और शकुन्तला तथा दुष्यन्तका प्रेम मिलन होता है। इसी बीच उसकी पीड़ाकी बात सुनकर शान्तिजल लिए गौतमी आ पहुँचती है। दुष्यन्त छिप जाता है और शकुन्तला गौतमीके साथ चली जाती है।।

चतुर्थ अंकमें प्रियम्वदा और अनुसूया शकुन्तलाकी दशापर चिन्तित हैं कि दुष्यन्तने चलते समय तो अँगूठी पहनाई थी और कहा था कि अँगूठीके जितने अक्षर हैं मैं उतने दिनोंमें बुला लूँगा किन्तु वह सुध नहीं ले

रहा है। शकुन्तला बैठी चिन्ता ही कर रही थी कि दुर्वासा आ पहुँचे और उसे शाप दे बैठे। फिर भी उसे शापका ज्ञान न हुआ और सखियोंने भी दुर्वासाके पैर पड़कर उनसे यह कहला लिया कि कोई भी अभिज्ञान दिखानेपर राजा पहचान जायगा। सखियोंने यह समझकर शापकी कथा शकुन्तलासे न कही कि अँगूठी उसके पास है ही, अतः शापकी कथा बताना व्यर्थ है। बड़ी तैयारीके साथ अत्यन्त करुण परिस्थितिमें शकुन्तलाकी विदाई होती है।

पाँचवें अंकमें शकुन्तला दुष्यन्तकी राज सभामें पहुँचती है, दुष्यन्त उसे पहचानता ही नहीं है। शकुन्तला पुरानी घटना सुनाती है फिर भी दुष्यन्त चुप है। तब वह अँगूठी दिखानेको तैयार होती है किन्तु अँगूठीका पता नहीं। शकुन्तलाके साथी उसे छोड़कर चल देते हैं, वह भी उनके पीछे हो लेती है। द्वारतक जाते-जाते कोई ज्योति उसे उड़ा ले जाती है।

छठे अंकमें मछुएके हाथसे अँगूठी मिलती है। वह पकड़कर राजसभामें ले जाया जाता है। अँगूठी पहचानकर राजा शोकमग्न हो जाते हैं। सब उत्सव बन्द हो जाते हैं, चारों ओर शोक छा जाता है। इसी बीच इन्द्रका सारथि मातलि अदृश्य रूपसे आकर माढव्यका गला पकड़ लेता है। राजा शोक छोड़कर क्रोधमें बाण चढ़ाते हैं, मातलि प्रकट हो जाता है और दुर्जयके विरुद्ध लड़नेके लिये दुष्यन्तको इन्द्रका निमन्त्रण देकर उसे ले जाता है।

सातवें अंकमें दुष्यन्त जीतकर लौट रहे हैं और मारीच ऋषिके आश्रममें पहुँचते हैं। वहाँ सिंहके बच्चेके साथ खेलते हुए बालकको देखकर उन्हें उत्सुकता होती है। उसके विषयमें जो परिचय मिलता है वह दुष्यन्तका ही निकलता है और बड़े कुतूहलपूर्ण कौशलसे दुष्यन्त और शकुन्तलाका मिलन होता है।

इतिवृत्त और कथावस्तु

ऊपर इतिवृत्त या कथा भी दे दी गई है और उसके आधारपर कथावस्तुके निर्माणका विवरण भी दे दिया गया है अतः इतिवृत्त या कथा उस घटनाक्रमको कहते हैं जिसमें किसी नायकके जीवनका एक चरित पूर्ण आ जाय। किन्तु अंकों और दृश्योंके अनुसार घटनाओंकी-ऐसी सजावटको कथावस्तु कहते हैं जिसमें नाटकीय कुतूहल आदिसे अन्ततक बना रहे और साथ ही घटनाओंको आकर्षक, कुतूहलजनक तथा रसमय बनानेके लिये कल्पित घटनाओं और पात्रोंका समावेश किया जा सके। कथामें व्यक्ति, स्थान, घटना और परिणाम, चार बातें रहती हैं किन्तु कथावस्तुमें इन सब वस्तुओंके रहते हुए भी व्यक्ति अधिक या कम हो सकते हैं, स्थानमें परिवर्तन हो सकता है, घटनाएँ अधिक, कम या परिवर्तित हो सकती हैं और परिणाम भी बदला जा सकता है। कथामें यदि नायक स्त्रैण और कायर हो तो नाटककार इस कौशलसे कथावस्तुकी रचना कर सकता है कि उसकी स्त्रैणता पर श्रद्धा हो, उसकी कायरता आवश्यक और अनिवार्य प्रतीत हो। इसका यह अर्थ हुआ कि कथा-वस्तुकी रचना ही कौशलकी बात है। यह रचना-कौशल कई बातोंपर अवलम्बित है, नायक या नायिकाके प्रति विशेष भावना, कथाका विषय, प्रदर्शन करनेका ढंग, रंगपीठ, अवसर, नाटकका विस्तार, जनताकी रुचि और नाटककारके अपने सिद्धान्त—ये सब बातें मिलकर कथा-वस्तुका साँचा बनानेमें योग देती हैं। कथावस्तुके निर्माणके सम्बन्धमें अरस्तूका मत हम ऊपर दे आए हैं किन्तु उनसे हमारा काम नहीं चल सकता। वैज्ञानिक साधनोंने हमारे रंगपीठोंको अधिक सम्पन्न कर दिया है इसलिये नाटककारको भी अधिक सुविधाएँ मिल गई हैं। किन्तु इन सबके होते हुए भी हमें कथावस्तुके निर्माणमें कुछ विशेष रीतियोंका निर्वाह करना ही पड़ेगा:—

वस्तु रचनाकी रीतियाँ

● वस्तुरचना-रीतयः पञ्च ॥

[पाँच ही हैं वस्तु रचना-रीतियाँ।]

आजतक विश्वमें जितने भी नाटक निर्माण किए गये हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सबने पाँच रीतियोंमेंसे किसी न किसी रीतिसे नाटक बनाए हैं—

१—नायक-केन्द्र-रीति—जिसमें नायकको केन्द्र बनाकर सारी कथा उसीपर अवलम्बित की गई हो। इसमें हम अपनी

घटनाओंका गुम्फन किया जाता है कि प्रत्येक भावी घटना नायक या नायिकाके किसी कार्य, विचार या कथनके परिणाम स्वरूप प्रकट होती चलती है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नायक या नायिकाका महत्त्व उस घटनामें दर्शकोंको प्रतीत होता चलता है। इस प्रकारके नाटक प्रायः पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंको लेकर लिखे जाते हैं क्योंकि उन सबमें व्यापक रूपसे व्यक्तिका महत्त्व अधिक होता है घटनाका क्रम, व्यक्तिके चरित्रसे घटनाका विकास होताहै, घटना-चक्रसे व्यक्तिके चरित्रका विकास नहीं। उत्तर-रामचरित, उरुभंग, विक्रमोर्वशीय इसके उदाहरण हैं। इन सब नाटकोंकी कथावस्तु नायक केन्द्ररीतिसे ग्रथित की गई है।

२—घटना-चक्ररीति—इस रीतिमें घटनाओंका क्रम और घटनाओंके प्रकार इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि उन घटनाओंके चक्रमें पड़े हुए व्यक्ति घटना-प्रवाहसे उलझकर, उसमें बहकर, उसके विरुद्ध तैरकर अपने व्यक्तित्व और चरित्रकी अभिव्यक्ति करते हैं। ऐसे नाटक नाटकीय दृष्टिसे सबसे अच्छे समझे जाते हैं। यूनानी त्रासदकारोंने भी व्यापक रूपसे यह बात मानी है कि भाग्यके विरुद्ध किसीका कोई वश नहीं चलता। वह अच्छेसे-अच्छे व्यक्तिको विपत्तिमें डाल सकता है। किन्तु नीतिकार इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि यदि विपत्ति न आवे और कष्ट न हो, या मनुष्यको अपनी नैतिक सीमा लाँघनेका अवसर न मिले तो वह अपने चरित्रका विकास कैसे दिखा सकता है। कालिदासने कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

[विकारके कारणोंके होते हुए भी जिनके मनमें विकार नहीं होता वे ही धीर होते हैं।]

अतः घटना-चक्ररीतिसे बनी हुई कथावस्तुमें चरित्रोंकी तुलनात्मक अभिव्यक्तिके लिये भी अवसर रहता है और कुतूहलकी सृष्टि करनेके लिये भी पर्याप्त क्षेत्र मिल सकता है। अभिज्ञानशाकुन्तल इसी प्रणालीपर बना हुआ है। ऐसी कथावस्तुओंमें घटनाओंका क्रम इस प्रकार बाँधा जाता है कि चलती हुई धारामें ऐसी स्वाभाविक तथा अपरिहार्य बाधाएँ पड़ें जिनसे कथावस्तुका प्रवाह फिर जहाँका तहाँ पहुँच जाय और इस अद्भुत ढंगसे निर्वहण या फलागम हो कि उसकी कल्पना भी दर्शक न कर सकते हों। घटनाचक्र-रीतिसे वस्तु निर्माण करनेवाले नाटककार असम्भावित और कृत्रिम घटनाओंका समावेश अधिक करते हैं इसीलिये उनके नाटकोंकी पोल खुल जाती है और उनकी अस्वाभाविकता अमर्यादित तथा अभव्य होकर दर्शकोंको क्षुब्ध कर देती है। घटनाचक्र-रीतिसे कथावस्तु-रचनाके तीन उपाय हैं। एक तो यह कि घटनाओंमें विरोधी व्यक्तियों और विरोधी परिस्थितियोंका समावेश कर लिया जाय जैसे यदि कोई एक व्यक्ति कोई व्यवसाय करना चाहता है तो उसका साझी प्रसिद्ध ठग या धूर्त्त रख दिया जाय, उसके परिवारमें कोई ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्ति खड़े कर दिए जायँ जो आर्थिक बाधा उपस्थित करें तथा अन्य सह-व्यवसायियोंकी ओरसे भी विरोध उत्पन्न करा दिया जाय। इस प्रकारकी बाधाएँ स्वाभाविक बाधाएँ होती हैं। दूसरा यह प्रकार है कि घटनाओंमें दैवयोगका सम्मिश्रण कर दिया जाय, जैसे व्यवसायके लिये जाते हुए गाड़ी उलटना, पुल टूट जाना, आँधी-पानी आदि। तीसरा उपाय यह है कि नायकके स्वभावमें कुछ दोष आरोपित कर दिए जायँ जैसे वह सज्जन होते हुए भी अभिमानी हो, उदार होते हुए भी किसी विशेष वर्ग या दलसे ईर्ष्या करता हो।

३—तीसरी रीति है मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति-रीति। यह रीति केवल उन्हीं कथावस्तुओंके ग्रथनमें काम आती है जहाँ व्यक्तियोंकी मानसिक भावनाओंमें द्वन्द्व या घात-प्रतिघात हो। यह प्रायः उन व्यक्तियोंसे सम्बद्ध कथाओंमें प्रयुक्त की जाती है जिसके सब पात्र परस्पर निकट सम्बन्धी हों और फिर भी द्वन्द्व उपस्थित हो गया हो जैसे रामायणमें ही रामके वनवासकी कथा इसी प्रकारकी है। कैकेयीने मंथराके बहकानेसे भरतके लिये राज्य और रामके लिये वनवास माँगा था। दशरथ भी भरतको राज्य देनेमें सकोच नहीं करते थे किन्तु रामको वनवास देना उन्हें दुःसह प्रतीत हो रहा था। कौशल्याको अपने पुत्रके वियोग-का दुःख था किन्तु पिता और माताकी आज्ञाका उल्लंघन कराके वे उन्हें अयोध्यामें रखनेको तैयार न थीं। भरत भी जब लौटकर आए तब उनके मनमें भी इसी बातका दुःख था कि लोग यही समझते होंगे कि इसमें भरतका हाथ है।

ऐसी कथा-वस्तुओंकी रचनामें नाटककारको बहुत समझ बूझकर चलना चाहिए क्योंकि एक छोटा सा भी कार्य, छोटा सा भी वचन या विचार नायक या नायिकाके चरित्र-को समाप्त कर सकता है। इसी वनवासकी घटनामें यदि राम स्वाभाविकताके नाते कहीं यह कह बैठे कि क्यों वन जाऊँ, मैंने क्या अपराध किया है, या भरत लौटकर चुप होकर बैठ रहें अथवा दशरथके ही मुँहसे यह निकल जाय कि मैं रामको वनवास क्यों दूँ तो पूरी कथावस्तु एक क्षणमें बालूकी भीतके समान ढह जायगी। मनोवैज्ञानिक अभि-व्यक्तिकी रीतिपर रची जानेवाली कथावस्तुमें नाटककारको तीन बातोंका ध्यान रखना चाहिए। पहला तो यह कि प्रत्येक कार्य पात्रोंके गुण, शील, पद, मर्यादा और रूढ़िसे प्रतिकूल न हो। दूसरी बात यह है कि सबका व्यवहार और सम्वाद अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिके अनुकूल हो। तीसरी बात यह है कि प्रत्येक घटनाका पूर्वापर सम्बन्ध अत्यन्त क्रमिक, संगत और पूर्वज घटनाका स्वाभा-विक तथा अपरिहार्य परिणाम हो।

४—कुतूहल निर्वाह रीति—यह रीति प्रायः आजकलके सभी नाटककारोंने, विशेषतः चलचित्रवालोंने अपनाई है। सस्ता भावावेश उत्पन्न करनेके लिये इस प्रकारकी कथावस्तु बड़ी सफल होती है। इन कथावस्तुओंमें, सम्भव-असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओंका एक ढाँचा खड़ा करके इस प्रकारका क्रम बाँध दिया जाता है कि आदिसे अंततक कुतूहल बना रहता है। किन्तु यह प्रायः सभी अद्भुत होता है। एक नायिकाको कोई प्रतिनायक आकर नायकके करसे उठा ले जाता है, उसे मनमें करनेके अनेक प्रयत्न करता है, असफल होनेपर उसे यातनाएँ देता है। इसी बीच वह किसी कौशलसे निकल भागती है किन्तु फिर और दुष्टके हाथ पड़ जाती है। वहाँसे भी वनपथ निकलती है तो वन या मरुभूमिमें भिड़ जाती है, वहाँ भी वह प्रतिनायकके फन्देमें आ जाती है और फिर अचानक एक नदी पार करते हुए [illegible] भेंट होती है। नायक-प्रतिनायकका द्वन्द्व [illegible] और दोनों लड़ते-लड़ते नदीमें गिरते तथा [illegible]

मिलन होता है दर्शक संतोषकी साँस लेते हैं। ऐसी कथा-वस्तु दर्शकोंकी दृष्टिसे चाहे जितनी भी आकर्षक हो, कलाकी दृष्टिसे एकदम हेय है क्योंकि बहुतसी कष्टदायक, विषम और अवास्तविक परिस्थितियोंको नीचे ऊपर गाँजकर इकट्ठा करना एक बात है और स्वाभाविक गतिसे घटनाओंके क्रमका सुसंगत निर्वाह करना दूसरी बात है।

५—दृश्यानुकूल-रीति। इस रीतिमें नाटककार दृश्यके अनुसार घटनाओंका क्रम बाँधता है। यह रीति प्रायः ऐसी वस्तुओंकी रचनामें काम आती है जहाँ एक ही दृश्यपर पूरा नाटक दिखानेकी योजना हो। आजकल योरपमें तथा भारतमें ऐसे नाटक बहुतसे लिखे गए हैं जो समूचे एक ही दृश्यपर दिखाए जाते हैं। स्वयं अभिनव-भरतने वाल्मीकि और देवता नाटकोंकी कथा-वस्तु इसी रीतिपर रची है। इसमें नाटककारको इस कौशलसे कथावस्तु रचनी पड़ती है कि नाटककी विभिन्न घटनाएँ एक ही स्थानपर दिखाई जा सकें। यह रीति बहुत कठिन है और बहुत बड़े कुशल कलाकार ही इसे सँभाल सकते हैं, साधारण नाटककार तो इसे स्पर्शतक नहीं कर सकते। इस रीतिसे एकांकी नाटक लिखना तो सरल है किन्तु कई अंकोंवाली कथावस्तुको इस रीतिसे रचना दुःसाध्य है। सुश्री कमलिनी मेहताने 'उर्मिला' नामका नाटक इसी रीतिपर लिखा है। उसकी विशेषता यह है कि एक ही दृश्यपर पूरी रामायणकी कथा व्यक्त की जाती है और एक भी पुरुष-पात्र उसमें नहीं आता। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नाटक हैं जो दृश्य विधानके ही अनुकूल लिखे जाते हैं। उनमें विशेषता यही है कि नाटककारको सारी क्रिया उसी दृश्यपर दिखानेकी योजना करनी पड़ती है। इस प्रकारकी वस्तु-रचनामें दो बातोंका ध्यान रखना चाहिए—एक तो यह कि थोड़ी-थोड़ी देरके पश्चात् नाटकीय व्यापारमें परिवर्तन होता रहे, क्योंकि यदि व्यापार-परिवर्तन नहीं होगा तो दर्शक ऊब जायँगे और नाटक नीरस हो जायगा। दूसरी बात यह है कि कोई भी घटना असम्भव तथा अकस्मात् लाई हुई नहीं प्रतीत होनी चाहिए। इसी रीतिके अन्तर्गत वे सब नाटक भी आते हैं जो विशेष प्रकारके रंगमंचोंके अनुसार लिखे जाते हैं। अतः यह [illegible]

● घटनाचक्ररीतिर्ग्राह्या ॥

[उनमेँ घटनाचक्ररीति ही सबसे सुन्दर ग्राह्य ।]

नाट्य-स्वातन्त्र्य—

● मर्यादितं हि नाट्यकार-स्वातन्त्र्यम् ।

[है मर्यादित नाट्यकार स्वातन्त्र्य ।]

कवि या नाट्यकारको काल्पनिक कथा - वस्तुकी रचनामेँ तो पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है किन्तु ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओँमेँ उसे कुछ बन्धनके साथ चलना पड़ता है। बहुतसे नाटककारोँने इस विषयमेँ बड़ी उच्छृङ्खलता और स्वच्छन्दतासे काम लिया है । जहाँतक नाट्यकारकी स्वतन्त्रताका प्रश्न है, इतना ही अधिकार दिया जा सकता है कि वह नायकके चरित्रके विकासके लिये स्वतन्त्र तथा सम्भावित घटनाओँ और पात्रोँकी कल्पना करे अथवा इतिहासमेँ जिन बातोँका केवल सकेत है उनके लिये पात्रोँ और घटनाओँकी योजना कर ले । जैसे, शिवाजीने किसी मुसलिम महिलाको मुक्त करके उसके पतिके पास भेज दिया था । ऐसी स्थितिमें उस महिलाके वन्दिनी बननेकी परिस्थिति और मुक्त होनेकी बातचीत कल्पित की जा सकती है । किन्तु नाटककारको यह अधिकार नहीँ कि वह शिवाजीकी मनः स्थितिको तीव्रतम व्यक्त करनेके लिये यह दिखावे कि शिवाजी जब औरंगजेबके दरबारमेँ पहुँचे तो औरङ्गज़ेब डरके मारे झुककर उनके पैरोँ पड़ गया और थरथर काँपने लगा या शिवाजी जब मिठाईकी टोकरीमेँ छिपकर निकले तो औरङ्गज़ेबके पुत्रको भी पकड़ते लाए । तात्पर्य यह है कि नाटककारको यही अधिकार है कि ऐतिहासिक या पौराणिक नाटकोँके वृत्त और चरित्रका निर्वाह करते हुए उनके गुणोँका उत्कर्ष दिखलावे । लक्ष्मणको मेघनादके डरसे भागते हुए दिखाना, सीताके वियोगमेँ रामका डाढ मार कर रोने या पद्मिनीका आत्मसमर्पण करनेकी बात सोचना आदि दिखाना नाटककारके अधिकारके बाहरकी बात है। हाँ, यह सम्भव है कि यदि इतिहासकारने किसी घटना, चरित्र या व्यक्तिके सम्बन्धमेँ अशुद्ध या भ्रमात्मक निर्णय दिया हो तो उसे सप्रमाण उलटने और सत्यकी स्थापना करनेका नाटककारको पूर्ण अधिकार है, जैसा अभिनवभरतने अपने पुष्यमित्र और रजिया नाटकोँमेँ किया है ।

नाट्यवस्तुकी धाराएँ

● प्रवाहभेदेन कथावस्तुभेदाः ॥

[है प्रवाहके भेदसे कथावस्तुमेँ भेद ।]

कथावस्तुकी एक और दृष्टिसे मीमांसा की जा सकती है और वह है कथावस्तुके भीतर चलनेवाली कथाधाराओँकी दृष्टि से । कुछ नाटकोँमेँ एक ही नायक कुछ घटनाओँका केन्द्र बनकर नाटकके फलागमका केन्द्र होता है । ऐसे नाटक एकधारा नाटक कहलाते हैँ और उनकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तु होती है । कभी कभी एक ही फलकी प्राप्तिके लिये दो या दोसे अधिक व्यक्ति प्रयत्नशील रहते हैँ, दोनोँमेँ द्वन्द्व होता है और अन्तमेँ इष्ट नायकको सफलता प्राप्त होती है । ऐसे नाटकोँकी कथावस्तु एकधारा कथावस्तुके अन्तर्गत आती है ।

कभी-कभी एक ही नाटकके अन्तर्गत कई नायक अलग अलग प्रकारकी फल-प्राप्तिके लिये अलग अलग चेष्टा करते हैँ किन्तु उनके पारस्परिक सम्बन्धमेँ किसी प्रकारका व्याघात या विरोध नहीँ होता । ऐसी कथावस्तु अनेक-धारावस्तु कही जाती है । भवभूतिका मालतीमाधव नाटक इसी श्रेणीका है, जिसमेँ एक धारा उज्जैनके मंत्रीकी कन्या मालती और एक दूसरे राज्यके मंत्रीके पुत्र माधवके परस्पर प्रेम कथाकी चलती है, दूसरी धारा माधवके मित्र मकरन्द और राजाके प्रियपात्रकी बहिन मदयन्तिकाके बीच प्रेम-कथाकी चलती है और अन्तमेँ दोनोँ प्रेमियोँको अपनी अपनी प्रेमिकाएँ प्राप्त हो जाती हैँ । इसी प्रकार शेक्सपियरके 'ऐज़ यू लाइक इट,' (जो तुम चाहो) नाटकमेँ भी इसी प्रकारसे दो प्रेम-कहानियाँ चलती हैँ एक औलैण्डो और रोज़लिंडकी तथा दूसरी जेक्स और औड्री की । इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसी भी कथा वस्तुएँ हो सकती हैँ जिनमेँ प्राप्य फल कुछ और हो और प्राप्त कुछ और ही हो जाय । एक नाटकमेँ यही दिखाया गया है कि एक व्यक्ति प्रयत्न करता था कि अमुक कन्यासे मेरा विवाह हो । प्रयत्नके लिये जाते हुए सहसा वह एक नगरमेँ टिकनेको बाध्य हो जाता है और जिस

भवनमें वह टिकता है उसके स्वामीकी पुत्रीसे उसका प्रेम-व्यापार चलने लगता है। साथ ही कुछ राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती हैं कि वह नगर छोड़कर जा नहीं सकता और उसी कन्यासे विवाह कर लेता है। ठीक यही घटना उस दूसरी कन्याके साथ भी होती है। वह भी पहले तो कुछ दिनोंतक अपने पहले प्रेमीकी प्रतीक्षा करती है किन्तु सहसा अपनी माता और भाईकी मृत्यु हो जानेसे एक हितचिन्तक पड़ोसीसे विवाह कर लेती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु भी अनेक धारावस्तुके ही अन्तर्गत आती है।

एक और भी प्रकारकी कथावस्तु होती है जिसमें दो या दो से अधिक कथा-धाराएँ अलग अलग चलती हैं किन्तु अन्तमें सब आकर इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे बहुत-सी नदियाँ एक संगमपर मिलकर एक धारा हो जाती है। इस प्रकारका एक नाटक है 'लो फो सान', जिसमें पाँच देश प्रेमी अलग अलग अपने देशको आक्रमणकारियोंसे बचानेके लिये अलग अलग प्रयास करते हैं और एक दूसरेकी गतिविधि तथा चेष्टासे अपरचित रहते हैं किन्तु 'लो फो सान' पर्वतकी एक गुफामें वे सब हारकर छिपनेके लिये आते हैं किन्तु एक दूसरेसे परिचय प्राप्त करके शत्रु-पर सम्मिलित धावा करते हैं और उनकी विजय होती है। ऐसे नाटकोंकी कथावस्तु अनेक-धारा-संगम कथावस्तु कही जाती है। इसी प्रकारके अन्तर्गत वे सब नाटक भी हैं जिनमें किसी एक कार्यकी सिद्धिके लिये कई व्यक्ति प्रयत्न करते हैं, उनमें से कुछ तो ईर्ष्यावश कार्य सिद्धिमें बाधक होते हैं और कुछ साधक होते हैं, किन्तु बाधक लोग भी जब देखते हैं कि बाधा सफल नहीं हो सकती तब वे भी साधक बन जाते हैं। ऐसी सब कथावस्तुएँ अनेकधारा-संगमके अन्तर्गत आ जाती हैं जैसे किसी संगमपर नदियाँ भी मिलती हैं और नाले भी।

गम्भीर और हास्यात्मक कथा-वस्तु।

॥ अमान्यौ गंभीरहास्यभेदौ ॥

[हास्य और गंभीर अमान्य।]

अरस्तूने कथावस्तुके या काव्यके दो भेद किए हैं—गम्भीर और हास्यात्मक और उन्हीं दो भेदोंसे क्रमशः त्रासद और प्रहसनका विकास हुआ माना है। दोनोंमें विशेष अन्तर यही था कि गम्भीरमें श्रेष्ठ कार्यों तथा श्रेष्ठ मनुष्योंका वर्णन किया गया और हास्यजनकमें निम्नतर मनुष्योंके आचरणोंका प्रदर्शन कराया गया। कथावस्तुको इस प्रकारके भेदोंमें नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि गम्भीर कथावस्तुमें भी हास्य तथा व्यंग्यके प्रसंग अत्यन्त सुन्दरताके साथ लाए जा सकते हैं। इसी प्रकार हास्य तथा व्यंग्य कथावस्तुओंमें भी गम्भीर बातोंका समावेश किया जा सकता है। कथावस्तुमें कहाँ गम्भीरता लाई जाय और कहाँ हास्य उत्पन्न किया जाय यह सब नाटककारके कथा-निर्वाह पर अवलम्बित है। अतः ऐसा कोई भेद नहीं बनाया जा सकता।

विशिष्ट कथावस्तु

॥ वस्तु चित्रम् ॥

[कुछ विचित्र भी कथावस्तु हैं।]

बहुतसी कथावस्तुएँ ऐसी होती हैं जिसमें नाटकके प्रयोग का ध्यान रक्खा जाता है। जैसे गीति-नाट्यके लिये जो नाटक लिखा जायगा उसकी कथावस्तुमें संवादात्मक पद्य बहुत कम होंगे, गीतोंकी अधिकता होगी, अभिनयात्मक पद्य अधिक संख्यामें होंगे और नृत्यके लिये विशेष अवसरों का विधान होगा। इसी प्रकार छाया-नाटकों, मूकाभिनयों तथा श्रव्य-नाटकों (रेडियो-फीचर) आदिके लिये उनकी प्रकृतिके अनुसार कथावस्तुकी रचना करनी होगी। कुछ नाटकोंमें कोई विशेष प्रभाव दिखानेके लिये भी कथावस्तुकी रचना की जाती है। कभी ऐसी भी चित्र-कथा-वस्तुएँ हो सकती हैं जिनमेंसे किसीमें नायक या नायिका ही न हो, किसी में संवाद ही न हों और यदि हों भी तो अत्यन्त सूक्ष्म। कुछ ऐसी भी हो सकते हैं जिनमें कथाका आधार ही न हो जैसे एक नाटक है—'सड़कपर पन्द्रह मिनट'। इसमें एक सड़कपर पन्द्रह मिनट खड़े व्यक्तिने क्या क्या देखा—इसीका चित्रण है। इसमें न तो कोई उद्देश्य है, न नायक है, न नायिका है, न रस है न कुतूहल। किन्तु अवस्थानुकृतिर्नाट्यंके अनुसार वह नाट्य अवश्य है। कभी कभी ऐसी भी कथा-वस्तु हो सकती है जिसमें पूरी कथा तो दिखा दी गई हो किन्तु परिणाम दर्शकोंकी कल्पनापर छोड़ दिया गया है। यद्यपि इस प्रकारकी कथा-वस्तु दर्शकोंके मनमें खीझ उत्पन्न कर देती है परन्तु फिर

भी नाटककार इसीमें अपना कौशल समझता है। आज कलके बहुतसे समस्या नाटक इसी प्रकारकी कथावस्तुपर रचे जाते हैं जहाँ पारिवारिक तथा सामाजिक विषमताओंके कुछ चित्र नग्न रूपमें इस प्रकार उपस्थित कर देते हैं कि उनका समाधान करना नाटककार स्वयं समस्या समझता है और उसे इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि जनता उसका समाधान ठीक उसी प्रकार अपने मनमें करे जैसा नाटककार अपने मनमें चाहता है।

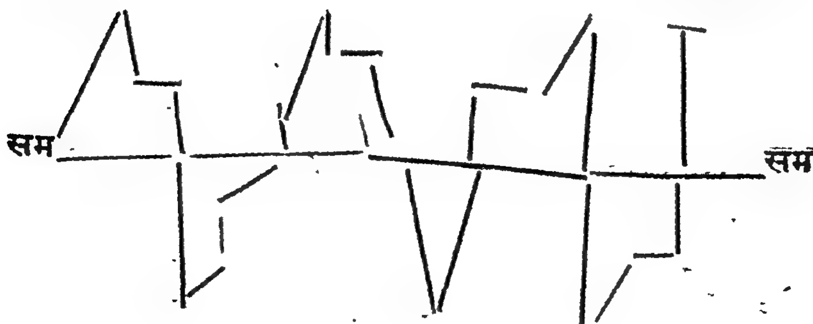
कथा-वस्तुकी गति।

ऊर्ध्वाधोसमगतयः॥

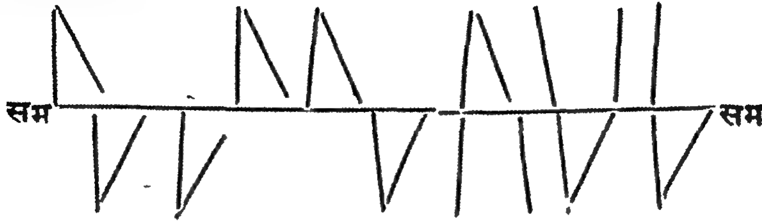
[ऊँच, नीच समगति बनी तीन वस्तुकी चाल।]

नायकके गुण-दोषके अनुसार कथावस्तु तीन गतिसे चलती है—ऊर्ध्वगति, अधोगति और समगति। जहाँ कथावस्तु नायकके गुणोंकी योजना करती है वहाँ कथावस्तु की ऊर्ध्व गति होती है। जहाँसे नायकके दोषोंकी योजना होने लगती है वहाँसे कथावस्तुकी अधोगति होने लगती है और जब नायक सर्वसाधारण मानवका सा व्यवहार करने लगता है वहाँ कथा-वस्तुकी गति सम होती है। अरस्तूने दो प्रकारके इतिवृत्त माने हैं—साधारण और गूढ़। जिसमें बिना किसी परिवर्तन या अभिज्ञानके ही निर्वहण या फललाभ हो वह साधारण है और जिसमें परिवर्तन या अभिज्ञान अथवा दोनोंके योगसे फललाभ होता हो उसे गूढ कहते हैं। इसे ही सरल भाषामें यह कहा जा सकता है कि जहाँ किसी नायक या किसी घटनाको बिना किसी बाधाके सीधे ऊपर उठाते हुए फल-लाभतक पहुँचा दिया हो या गिराते-गिराते असफलतातक पहुँचा दिया हो वे नाटक साधारणया निम्न कोटिके होते हैं। गूढ़ नाटक वे होते हैं जिनमें नायकके चरित्रका अर्थात् उसके गुण-दोषोंका उतार-चढ़ाव होता रहे और फिर गुणोंकी समष्टिसे उसका अभ्युत्थान हो अथवा घटनाओंका क्रम इस प्रकारसे गूँथा जाय कि अनेक सम-विषम परिस्थितियोंके बीच डूबते-उतराते, लड़ते-झगड़ते, सफल-असफल होते इष्ट परिणामकी प्राप्ति हो। इस क्रमसे कथावस्तु तीन प्रकारकी होगी—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम कथावस्तु वह है जिसमें सम-परिस्थिति से नायक या घटना-चक्रका सम-विषम-बाधित विकास हो और आद्यन्त कुतूहलका निर्वाह करते हुए अन्तमें सहसा किसी स्वाभाविक संयोगसे इष्ट परिणाम प्राप्त हो। मध्यम कथावस्तु वह है जिसमें कथावस्तुकी ऊर्ध्वगति हो, अधोगति हो और समपर आकर उसकी समाप्ति हो जाय। अधम कथावस्तु वह है जो केवल उर्ध्व गतिवाली हो या केवल अधोगतिवाली हो। इसे रेखा-चित्रके रूपमें इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

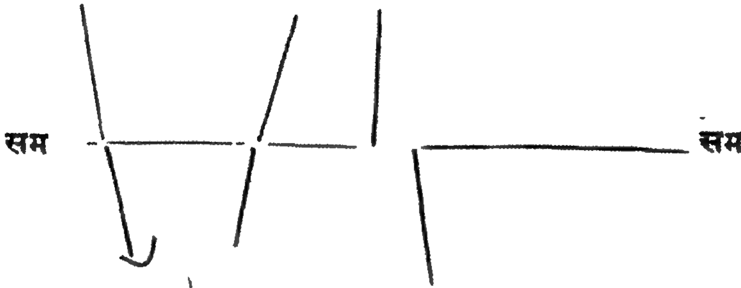
१—उत्तम



२—मध्यम



३—अधम



ऊपर दिए हुए कथावस्तुके विभिन्न प्रकारोंकी मीमांसा कर चुकनेपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि कथा-वस्तुका निर्माण करते समय नाटककारको घटनाओंकी समता और विषमताओंका इस प्रकार गुंफन करना चाहिए कि स्वाभाविकता नष्ट न होते हुए घटनाक्रम नितान्त अपरिहार्य और आवश्यक जान पड़े। इसके लिये तीन सिद्धान्त बताए गए हैं—एक तो यह कि उसमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनोंका समुचित समावेश हो अर्थात् नाटकीय पात्रोंकी मानसिक क्रियामें भी द्वन्द्व हो और घटना-क्रममें भी द्वन्द्व हो। दैवी और आसुरी सम्पत्तिका अनादि कालसे चला आता हुआ द्वन्द्व इस द्वन्द्वका आधार है। सद्वृत्ति और असद्वृत्ति, गुण और अवगुण दोनोंका सामान्य कलह इस द्वन्द्वका आधार हो सकता है—लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार, द्वेष आदि विकार मनुष्यके सत्त्व-गुणसे सदा युद्ध करते आए हैं और क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है इसलिये सात्त्विक पुरुषमें भी कभी-कभी रज और तमका आविर्भाव हो सकता है। इस रज और तमके आविर्भावसे अनेक क्लेश और दुःख उत्पन्न हो सकते हैं। इसी सिद्धान्तके आधारपर अनेक प्रकारके द्वन्द्वोंकी रचना की जा सकती है और नाटकीय वस्तुको गूढ़ और कुतूहलजनक बनाया जा सकता है।

इन सबसे ऊपर दूसरी बात यह है कि नाटककारको कथावस्तुकी रचना करनेके पूर्व यह भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि उसका नायक कैसा है, नायिका कैसी है, कथा-विषय किस प्रकारका है, उसको उपस्थित

करनेका नाटकीय-रूप क्या होगा (अर्थात् वह एकांकी नाटक है, गीत-नाट्य है, छाया-नाट्य है या अन्य प्रकारका नाटक है), किस प्रकारके रंगमंचपर उपस्थित करना है, किस अवसरपर नाटक खेलना है, उसका उद्देश्य क्या है और किस प्रकारकी जनताके सम्मुख खेलना है। तीसरे जो नाटककार विशेष रंगशाला, अवसर या किसी विशेष वर्गके लिये नाटक नहीं लिखते हैं उन्हें इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि विभिन्न रुचिकी जनता अमुक रुचिके अनुसार रचे हुए संविधानकमें रस लेगी या नहीं। इस रस लेनेके सम्बन्धमें एक बात हम ऊपर बता आए हैं कि नाटकमें अन्तर्द्वन्द्व और बाह्य द्वन्द्व दोनों होने चाहिए। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। जबतक उसमें अद्भुतके तत्त्वका सम्मिश्रण नहीं होगा, एक धारामें बहती हुई घटना सहसा किसी बाधाके उपस्थित होते हुए किसी दूसरी धारामें न मुड़ चलेगी तबतक लोक विनोद संभव नहीं हो सकता।

नाटकीय प्रभाव

आलोकवाद्यदृश्यप्रभावयोगः नव्यैः ॥

[दृश्य, प्रकाश वाद्यसे लाते नव-प्रभाव नवलोक]

आजकलके नाट्य-प्रयोक्ताओंने जनताको प्रभावित करनेके कुछ रंग-प्रभावोंका आयोजन किया है। ये रंग-प्रभाव तीन प्रकारके हैं—एक आलोक-प्रभाव, अर्थात् ऋतु, काल, प्रदेश, रस, भाव, तथा वेलाके अनुकूल रंगीन प्रकाश रंगपीठपर देना। कभी कभी अधिक प्रभावशाली बनानेके लिये एक ही दृश्यमें कई प्रकारके रंगीन प्रकाशका विधान किया जाता है। दूसरा वाद्य-प्रभाव या नेपथ्य-वाद्य है जिसमें परिस्थितिके अनुकूल पीछेसे ऐसे वाद्य बजाना जिससे उस नाट्य-परिस्थितिका प्रभाव और भी गाढ़तम हो जाय। तीसरा दृश्य प्रभाव, जिसमें ऐसा दृश्य विधान किया जाय कि उसमें नाटकीय व्यापार अधिक वास्तविक और कुतूहलपूर्ण हो जायँ। इनके अतिरिक्त दो और प्रकारके प्रभाव बताए गए हैं एक तो वेश-प्रभाव और दूसरा वर्ण-प्रभाव जिसे अंग्रेजीमें मेकअप कहते हैं किन्तु ये दोनों आहार्य अभिनयके अन्तर्गत आ जाते हैं। ऊपर बताए हुए अन्य तीन प्रभाव भी नाट्यकारकी सीमाके बाहर हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक और रंग-व्यवस्थापकसे है और यह नाट्य-प्रयोक्ताके ऊपर अवलम्बित है कि वह इन तीनों व्यवस्थापकोंसे प्रकाश, वाद्य और दृश्यकी योजना किस प्रकार करावे।

पताकास्थानकका प्रयोग

पताकास्थानकमयुक्तम् ।

[नहीं पताकास्थानक ठीक।]

नाटकीय वस्तुमें पताका-स्थानकके द्वारा नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना बहुत पुराना और बासी उपाय है जिसका प्रयोग संस्कृतके नाटककारोंने किया है। आजकल नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करनेके बहुतसे कौशल चल निकले हैं किन्तु वे सभी ऐसे हैं जिनमें कथाका चमत्कार बढ़ जाता है और कुतूहलमें बाधा भी नहीं होती किन्तु पताका-स्थानकसे तत्काल ज्ञात हो जाता है कि आगे क्या होनेवाला है। उत्तररामचरितमें जैसे ही राम कहते हैं—

"यदि परमसह्यस्तु विरहः—

१-३८

त्यों ही प्रतीहारी आकर कहता है—

देव ! उअट्ठिदो।

इस पताका-स्थानकसे तत्काल यह ध्वनि निकलती है कि राम और सीताका अभी वियोग होनेवाला है, सब कुतूहल निवृत्त हो जाता है और दर्शक आगे आनेवाली दुर्घटनाके लिये पहलेसे तैयार हो बैठते हैं। पताकास्थानक रसमें बाधक होता है साधक नहीं, अतः विभावन व्यापारकी दृष्टि और नाटकीय कुतूहल रक्षणकी दृष्टिसे पताका-स्थानकका प्रयोग अवाञ्छनीय है।

अर्थोपक्षेपक

भारतीय वस्तु-रचना-विधानमें एक और विधान है जिसपर विचार कर लेना चाहिए। हम ऊपर कह आए हैं कि भारतीय नाट्याचार्योंने यह कहा है कि जो वस्तु नीरस और अनुचित हो उसकी सूचना भर दे दी जाय और जो मधुर और उदात्त रस तथा भाव से निरन्तर भरी हुई वस्तु हो वही दिखाई जाय। जहाँतक नीरस और अनुचितको न दिखानेका विधान है उसमें तो किसीको आपत्ति हो ही नहीं सकती किन्तु पाँच अर्थोपक्षेपकोंके द्वारा कथा सूचित करनेका

जो विधान है वह विचारणीय है। नीच और मध्यम पात्रोंके द्वारा आगे पीछेकी कथा कहलानेके लिये रंगपीठ पर या रंगपीठके पीछेसे वस्तुकी सूचना देना वर्तमान नाट्याचारके अत्यन्त विरुद्ध और अस्वाभाविक है। आजकल सभी नाटकार सभी सूच्य बातें अपने नाटकोंके दृश्य भागोंमें नाटकके पात्रोंके द्वारा ही प्रसङ्गानुसार कहला देते हैं। इसलिये विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार और प्रवेशककी कोई आवश्यकता नहीं है अतः—

अप्राकृतत्वादर्थोपक्षेपकानां निषेधः ॥

[अर्थोपक्षेपक है मिथ्या, इसीलिये है किया निषेध।]

जहाँतक अर्थ-प्रकृति और अवस्थाका प्रश्न है वे स्वाभाविक और ग्राह्य होते हुए भी अपरिहार्य नहीं हैं जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं किन्तु संधियोंके अंगोंका बन्धन नाटककारकी प्रतिभा और कलाको बाधित करनेवाला कठोर बन्धन है। नाटककारको उससे मुक्ति मिलनी ही चाहिए और यह उसपर छोड़ देना चाहिए कि उसे क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य।

कथावस्तु-रचनाके उपाय

दृश्यव्यापारक्रमाभ्यां संविधानकग्रथनम् ॥

[दृश्यक्रम घटनाक्रमसे ही होती कथावस्तुकी रचना।]

कथावस्तु या संविधानक किस प्रकार बनाना चाहिए उसके लिये दो उपाय बताए गए हैं—एक है दृश्य-क्रम-संविधानक, दूसरा है घटना-क्रम संविधानक। दृश्य-क्रम-संविधानकमें जिन दृश्यों या स्थानों पर घटना दिखानी हो उन्हें क्रमसे लिख लिया जाय और फिर उन स्थानोंमें प्रस्तुत किए जानेवाले पाठ और घटनाएँ जिस क्रमसे लानी हों उस क्रमसे भर दी जायँ। दूसरेमें जितनी मुख्य घटनाएँ जिस क्रमसे लानी हों उन्हें क्रमसे अलग अलग लिख लिया जाय और फिर उन घटनाओंको अधिक शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक बनानेके लिये जिन पात्रोंकी कल्पना करनी हो या जो पात्र लाने हों उनका क्रमिक उल्लेख कर दिया जाय, जो नई घटनाएँ भरनी हों उनका विवरण दे दिया जाय और यदि किसी पात्रसे कोई विशेष बात कहलानी हो वह भी भर दी जाय। पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये घटना-क्रम-संविधानक बनाना चाहिए। अन्य सब प्रकारके नाटकोंके लिये दृश्य-क्रम-संविधानक ही ठीक है। दोनों प्रकारके संविधानकोंका निर्माण करते समय सब पात्रोंके आने और जाने तथा विशेष क्रिया करनेका विवरण होना चाहिए और कथाका कितना भाग किस एक अंक और दृश्यमें किस क्रमसे दिखाया जायगा इसका भी ब्यौरा होना चाहिए। संविधानककी रचनाके सम्बन्धमें इससे अधिक और कुछ ज्ञातव्य नहीं है। जितना कुछ ऊपर बताया जा चुका है उससे यह निष्कर्ष निकला कि संविधानकके तीन तत्त्व होते हैं—पात्र, स्थान, और व्यापार। अतः इसी क्रमसे हम संविधानकके इन तत्त्वोंकी मीमांसा करेंगे।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे संविधानकरचनाप्रकरणं नामाष्टमोऽध्यायः ॥



पात्र-योजना

पात्रकी व्याख्या

॥ नाट्यकारेणाभिनयार्थमायोजिताः पात्राः ॥

[नाट्यकार-द्वारा अभिनयके हित आयोजित पात्र कहाते।]

यह पीछे कहा जा चुका है कि नाट्यकार अपना काव्य इस प्रकार रचता है कि उसके आधारपर नाट्य-प्रयोक्ता अपने अभिनेताओंको वैसा वैसा रूप धारण कराकर उनसे वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय कराते हैं। नाटकमें वर्णित जिन चरित्रोंके रूप धारण करके या जिनकी भूमिका ग्रहण करके अभिनेता अभिनय करते हैं उन्हें पात्र कहते हैं। अतः पात्रके अन्तर्गत वे सब मनुष्य, पशु-पक्षी, मानवित भाव अथवा जड़ पदार्थ आ जाते हैं जो नाटकका व्यापार या कार्य करते हों।

भरतने अपने नाट्य-शास्त्रके चौबीसवें अध्यायमें प्रकृति-विचार करते हुए पुरुषों और स्त्रियोंके स्वभावकी मीमांसा की है किन्तु उन्होंने केवल देवों और मनुष्योंतक ही अपने पात्रोंको परिमित रक्खा है। नाटककी परिभाषाके प्रकरणमें हम यह बात कह आए हैं कि अभिनेता वे सब हैं जो नाटकीय अर्थको दर्शकोंतक पहुँचानेमें योग देते हैं। इसी प्रसंगमें हम यह भी बता चुके हैं कि बहुतसे नाटक-कारोंने अन्य जीवोंको, भावोंको तथा जड़ पदार्थोंको भी पात्रके रूपमें प्रकट किया है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें मृग भ्रमर, लता, वृक्ष, वनदेवता और कोकिल ठीक उसी प्रकार नाटकीय व्यापारमें योग देते हैं जैसे मानव पात्र। रत्नावली में सारिका और बालरामायणमें पुत्तलिकाएँ भी नाटकीय व्यापारमें अन्य पात्रोंके समान योग देती हैं। आजकल बहुतसे नाटकोंमें अफ्रीकी वानर (बैबून), बनमानुस, कुत्ता, शुक तथा अन्य पशु-पक्षी भी इस प्रकार शिक्षित किए जाते हैं कि वे नाटकके व्यापारमें समझदारीसे शिक्षित जैसा व्यापार करें और शुक तो सिखाए हुए शब्दतक बोलता है। अभी संतज्ञानेश्वर नामक चलचित्रके निर्माताओंने भैंसेसे वेदपाटतक कराया है। इसी प्रकार प्रबोधचन्द्रोदयमें विवेक, मति, संतोष, श्रद्धा, शान्ति, करुणा आदि भाव मानवीय स्वरूप लेकर आते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ वैज्ञानिक प्रयोगोंमें चित्र-कौशलके द्वारा कटे हुए सिर बोलते हैं, कटे हुए हाथ काम करते हैं, मनुष्यकी ठठरी चलती फिरती और प्रेमलीला करती है, यहाँतक कि मनुष्यकी खोपड़ी मनुष्यके स्वरमें बोलती भी है। यद्यपि इस प्रकारके व्यापार यन्त्रचालित ही होते हैं किन्तु अभिनयमें उनका योग तो होता ही है। फिर अभिनेताओंको भी तो शिक्षा दी ही जाती है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि मानव अभिनेता सात्त्विक अभिनय भी कर सकते हैं, पशु-पक्षी और जड़ पदार्थ सात्त्विक अभिनय नहीं कर सकते। अतः यह निष्कर्ष निकला कि पशु-पक्षी, मनुष्य, जड़-प्रकृति सभी अभिनय-व्यापारके लिये पात्र हो सकते हैं। साथ ही कभी कभी दिव्य या अलौकिक शक्तियोंका भी पात्र रूपमें प्रयोग होता है जैसे देवता, भूत, प्रेत, राक्षस, किन्नर, देवदूत आदि। इस दृष्टिसे हम अपने पात्रोंको पाँच श्रेणियोंमें विभाजित कर सकते हैं—एक अलौकिक, दूसरे मानव, तीसरे पशु पक्षी, चौथे जड़ पदार्थ, पाँचवें भाव। इनमेंसे आवश्यकताके अनुसार पशु-पक्षियोंको शिक्षा देकर तथा जड़ पदार्थोंको यन्त्र कौशलसे अभिनयके योग्य बनाया जा सकता है। अलौकिक चरित्रों तथा भावोंको मानव रूपमें अंकित किया जाता है, अतः उनका विवेचन मानवोंके साथ हो ही जायगा। तो प्रधान रूपसे मनुष्य ही ऐसे हैं जिनकी प्रकृतिका विवेचन करना आवश्यक है।

भरतके अनुसार तीन प्रकृतिके मनुष्य

॥ पुरुषाणामथस्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा-प्रकृतिरिति भरतः ॥

[उत्तम मध्यम अधम प्रकृतिके नर-नारी हैं, भरत बताते।]

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकृतीनां तु लक्षणम् ।
समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ॥१॥
पुरुषाणामथस्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा ।
जितेन्द्रिया ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा ॥२॥
दक्षिणाऽथ भगालक्षा दीनानां परिसान्त्विनी ।
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना गाम्भीर्योदार्यशालिनी ॥३॥
धैर्य-त्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा ।
लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविशारदा ॥४॥
विज्ञान-माधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
रूक्षा वचसि दुःशीलाः कुसत्त्वाः स्वल्पबुद्धिकाः ॥५॥
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्छिद्रघातकाः ।
पिशुना उद्धता वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ॥६॥
मान्या मानविशेषज्ञाः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः ।
सूचकाः पापकर्माणः परद्रव्यापहारिणः ॥७॥
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा भवन्ति ह्यधमा नराः ।
एवञ्च शीलतो नृणां प्रकृतिस्त्रिविधाः स्त्रियः ॥८॥
स्त्रीणां पुनस्तु प्रकृतिं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः ।
मृदुभावा त्वचपला स्मितभाविन्यनिष्ठुरा ॥९॥
गुणानां वचने दक्षा सलज्जा विनयान्विता ।
रूपाभिजनमाधुर्यां गुणैः स्वभाविकी स्मृता ॥१०॥
गाम्भीर्यधैर्यसम्पन्ना सा ज्ञेया प्रमदोत्तमा ।
नात्युत्कृष्टैरशिथिलैरेभिरेव वृता गुणैः ॥११॥
अल्पदोषानुविद्धा च मध्यमा प्रकृतिः स्मृता ।
अधमा प्रकृतिर्या तु पुरुषाणां प्रकीर्तिता ॥१२॥
विज्ञेया सैव नारीणां मध्यमानां समासतः ।
नपुंसकस्तु विज्ञेयः संकीर्णोऽधम एव च ॥१३॥
चेट्यादेरपि विज्ञेया संकीर्णा प्रकृतिर्द्विजाः ।
विदूषकः शकारश्च ये चान्येप्येवमादयः ।
संकीर्णा नाटके ज्ञेयास्ते तज्ज्ञैर्नाटके बुधैः ॥१४॥
एता ज्ञेयाः प्रकृतयः पुरुषस्त्रीनपुंसकाः ।
आसां तु सम्प्रवक्ष्यामि विधानं शीलसंश्रयम् ॥१५॥
तत्र चत्वार एव स्युर्नायकाः परिकीर्तिताः ।
मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ॥१६॥
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च ।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः ॥१७॥
देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः ।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ ॥१८॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा ।
एतेषां च पुनर्ज्ञेयाश्चत्वारश्च विदूषकाः ॥१९॥
लिङ्गी द्विजो राजजीवी शिष्यश्चेति यथाक्रमम् ।
देवक्षितिभृतामात्यब्राह्मणानां प्रयोजयेत् ॥२०॥
विप्रलम्भे सुहृद्दासी सङ्कथालापपेशला ।
व्यसने प्राप्तदुःखा वा युज्यते भूमिपेन सा ॥२१॥
तथा पुरुषबाहुल्यप्रधानो नायकः स्मृतः ।
तत्रानेकस्य भवतो व्यसनाभ्युदयौ पुनः ॥२२॥
प्रकृष्टौ यस्य तौ स्यातां स भवेत्तत्र नायकः ।
एते तु नायका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः ॥२३॥
धीरा च ललिता च स्यात् उदात्ता निभृता तथा ।
दिव्यानां जातयस्तैस्तैर्गुणैर्युक्ता भवन्ति हि ॥२४॥
उदात्तनिभृता चैव भवत्येव कुलाङ्गना ।
ललिता चाप्युदात्ता च गणिका शिल्पकारिका ॥२५॥
प्रकृतीनां तु सर्वासामुपचारो द्विधा स्मृतः ।
बाह्यश्चाभ्यन्तरश्चैव तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२६॥
तत्र राजोपचारस्तु यो भवत्यान्तरस्तु सः ।
ततो बाह्योपचारस्तु यः स बाह्यक उच्यते ॥२७॥
तत्र राजोपचारं तमन्तःपुरसमाश्रयम् ।
स्त्रीविभागं प्रवक्ष्यामि अन्तःपुर-समाश्रयम् ॥२८॥
महादेव्यस्तथा देव्यः स्वामिन्यः स्थापिता अपि ।
भोगिन्यः शिल्पकारिण्यो नाटकीयाश्च नर्तिकाः ॥२९॥
अनुचारिकाश्च विज्ञेयास्तथा च परिचारिकाः ।
तथा सञ्चारिकाश्चैव तथा प्रेषणचारिकाः ॥३०॥
महत्तर्यः प्रतीहार्यः कुमार्यः स्थविरा अपि ।
आयुक्तिकाश्च नृपतेरयमन्तःपुरो जनः ॥३१॥
तत्र मूर्धाभिषिक्ता या कुलशीलसमन्विता ।
गुणैर्युक्ता वयःस्था च मध्यस्थाऽक्रोधना तथा ॥३२॥
मुक्तेर्ष्या नृपशीलज्ञा सुखदुःखसहा समम् ।
शान्तिस्वस्त्ययने भर्तुः सततं मङ्गलैषिणी ॥३३॥
शान्ता पतियुता धीरा अन्तःपुरहिते रता ।
एभिर्गुणैस्तु सम्पृक्ता महादेव्य उदाहृताः ॥३४॥
एभिरेव गुणैर्युक्ता सत्संस्कारैस्तु वर्जिताः ।
गर्वितास्त्वपि सौभाग्यात् प्रीतिसम्भोगतत्पराः ॥३५॥
शुचिनित्योज्ज्वलाकाराः प्रतिपक्ष्याभ्यसूयिकाः ।
वयोरूपगुणाढ्यास्तु यास्ता देव्यः प्रकीर्तिताः ॥३६॥
सेनापतेरमात्यानां भृत्यानामथवा पुनः ।

भवेयुस्तनयास्तांस्तु प्रीतिसम्मानवर्धिताः ॥३७॥
शीलरूपगुणैर्यास्तु सम्पन्ना नृपवल्लभाः ।
स्वगुणैर्लब्धमाहात्म्याः स्वामिन्य इति ताः स्मृताः ॥३८॥
रूपयौवनशालिन्यः कर्कशा विभ्रमान्विताः ।
अतिसम्भोगकुशलाः प्रतिपक्ष्याभ्यसूयिकाः ॥३९॥
दक्षा भर्तुश्च चित्तज्ञा लेख्यालेख्यविचक्षणाः ।
शयनासनभोगज्ञा मधुराश्चतुरास्तथा ॥४०॥
दक्षाः सौम्याः स्फुटाः श्लक्ष्णा निभृताः शिल्पकारिकाः ।
स्वरतालयतिज्ञाश्च तथाऽऽचार्योपसेविकाः ॥४१॥
चतुरा नाट्यकुशलाश्चोहापोहविचक्षणाः ।
रूपयौवनसम्पन्ना नाटकीयाश्च नर्त्तिकाः ॥४२॥
हेलाभावविशेषज्ञाः सत्त्वेनाभिनयेन च ।
माधुर्येण च सम्पन्ना ह्यातोद्यकुशलास्तथा ॥४३॥
अङ्गप्रत्यङ्गसम्पन्नाश्चतुष्षष्टि – कलान्विताः ।
चतुराः प्रश्रयोपेतास्त्रिदोषैश्च विवर्जिताः ॥४४॥
समाः प्रागल्भ्ययुक्ताश्च त्यक्तालस्या जितश्रमाः ।
नानाशिल्पप्रयोगज्ञा नृत्तगीतविचक्षणा ॥४५॥
अर्धरूपगुणौदार्यसौभाग्यधैर्यवीर्यसम्पन्ना ।
पेशलमधुरा स्निग्धा न च विकला चित्रकर्म कुशला च ४६
समागतासु नारीषु रूपयौवनकान्तिभिः ।
न दृश्यते गुणैस्तुल्या यस्याः सा नर्तकी स्मृता ॥४७॥
सर्वावस्थोपचारेषु या न मुञ्चति पार्थिवम् ।
विज्ञेया दक्षिणा दक्षा शय्यापाली तथाच्युता ॥४८॥
रस-व्यञ्जनधारिणी संवाहिनी गंधयोक्त्री तथा ।
तथाभरणयोक्त्री च माला - सयोजिका तथा ॥४९॥
एवंविधा भवेयुर्यास्ता ज्ञेयाः परिचारिकाः ।
नानाकक्ष्याविचारिण्यस्तथोपवनसञ्चराः ॥५०॥
देवतायतनक्रीडाः प्रासादपरिचारिकाः ।
यामकिन्यस्तथा चैव याश्चैवं लक्षणाः स्त्रियः ॥५१॥
सञ्चारिकास्तु विज्ञेया नाट्यज्ञैर्भोगवारिताः ।
प्रेक्षणैः कामसंयुक्तैर्युक्ता गुह्यसमुत्थितैः ।
प्रेक्षणीया नृपैर्यास्तु ता ज्ञेयाः परिचारिकाः ॥५२॥
सर्वान्तःपुररक्षास्तु स्तुतिस्वस्त्ययने च याः ।
या वृद्धिमभिनन्दन्ति महत्तर्यस्तु ताः स्मृताः ॥५३॥
पूर्वरङ्गनयाभिज्ञाः पूर्वराज्ञाभिपूजिताः ।
सर्वानुचरितज्ञाश्च ता वृद्धा इति संज्ञिताः ॥५४॥
भाण्डागारेष्वधिकृताः सायुधा विकृतास्तथा ।
फलमूलौषधीनाञ्च तथा चैवान्नवीक्षणाः ॥५५॥
गन्धाभरणमाल्यानाम् वस्त्राणां चैव चिन्तकाः ।
बह्वाश्रयास्तथा युक्ता विज्ञेया युक्तिकाः स्मृताः ॥५६॥
इत्यन्तःपुरचारिण्यः स्त्रियः प्रोक्ता समासतः ।
विशेषणं विशेषेण तासां वक्ष्यामि वो द्विजाः ॥५७॥
या नियुक्ताः नियोगेषु प्रयोगेषु न चोद्भटाः ।
न चोद्भ्रान्ता न लुब्धा च नातिनिष्ठुरमानसाः ॥५८॥
शान्ताः क्षान्ताः प्रसन्नाश्च जितक्रोधाः जितेन्द्रियाः ।
अकामाश्चापि पूज्याश्च स्त्रीदोषैश्च विवर्जिताः ॥५९॥
अनुरक्ताश्च भक्ताश्च नानापार्श्वसमुत्थिताः ।
ता नियोगेषु योक्तव्या सर्वदोषविवर्जिताः ॥६०॥
या सा नपुंसका नाम तृतीया प्रकृतिः स्मृता ।
साप्यन्तःपुरसंचारे योज्या पार्थिववेश्मनि ॥६१॥
कारकाः कञ्चुकीयाश्च तथा वर्षवराः पुनः ।
औपस्थायिकनिर्मुण्डाः स्त्रीणां प्रेषणकर्मणि ॥६२॥
रक्षणे च कुमारीणां बालिकानाञ्च योजयेत् ।
अन्तःपुराधिकारो हि राजभार्यानुवर्तनम् ॥६३॥
सर्ववृत्तान्तयोगज्ञं नाट्यागारे निवेशयेत् ।
वनितास्वल्पसत्त्वा ये ये क्लीबा स्त्रीस्वभावकाः ॥६४॥
जात्या न भाषिणश्चैव ते वै वर्षवराः स्मृताः
ब्राह्मणाः कुशला वृद्धाः कलादोषविवर्जिताः ॥६५॥
प्रयोजनेषु देवीनां नियोक्तव्या नृपैः सदा ।
एतदष्टादशविधं प्रोक्तमन्तःपुरं मया ॥६६॥
अतः परं प्रवक्ष्यामि बाह्यपूरुषसञ्चरम् ।
राजा सेनापतिश्चैव पुरोधा मन्त्रिणस्तथा ॥६७॥
सचिवाः प्राड्विवाकास्तु कुमारभृतस्तथा ।
एते चान्ये च बहवो मान्या ज्ञेया नृपस्य तु ॥६८॥
विशेषमेव वक्ष्यामि लक्षणानि निबोधत ।
बलवान् बुद्धिसम्पन्नः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥६९॥
दक्षः प्रगल्भो मतिमान् विक्रान्तो मतिमान् शुचिः ।
दीर्घदर्शी महोत्साहः कृतज्ञः प्रियवाक् पटुः ॥७०॥
लोकपालव्रतधरः कर्ममार्गविशारदः ।
उत्थितश्चाप्रमत्तश्च वृद्धः स्मृत्यर्थशास्त्रवित् ॥७१॥
परदोषेऽङ्गिताभिज्ञः शूरः रक्षासमन्वितः ।
ऊहापोहविचारी च नानाशिल्पप्रवर्तकः ॥७२॥
नीतिशास्त्रे च कुशलो गुणैरेभिर्भवेन्नृपः ।
बुद्धिमान्नीतिसम्पन्नो विक्रान्तः स्यात् प्रियंवदः ॥७३॥

अर्थशास्त्रे च कुशलो ह्यनुरक्तः प्रजासु च ।
यो धार्मिकस्तथामात्याः कर्तव्या भूमिपैः सदा ॥७४॥
व्यवहारार्थतत्त्वज्ञा बुद्धिमन्तो बहुश्रुताः ।
मध्यस्था धार्मिकधियः कार्याकार्यविचक्षणाः ॥७५॥
क्षान्ता दान्ता जितक्रोधाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
ईदृशाः प्राड्विवाकाश्च स्थाप्या धर्मपरैर्नृपैः ॥७६॥
उत्थिताश्चाप्रमत्ताश्च त्यक्तालस्या जितश्रमाः ।
स्निग्धाः क्षान्ता विनीताश्च मध्यस्था निपुणास्तथा ॥७७॥
नयज्ञा विनयज्ञाश्च ऊहापोहविशारदाः ।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नाः कामाद्यविकृतास्तथा ॥७८॥
बृहस्पतिमतादेतान् गुणांश्चाप्यभिलक्षयेत् ।
विज्ञेय चावधार्यं च समासविस्तार-कल्पनम् ॥७९॥

[अब मैं मनुष्य-स्वभावका लक्षण बताता हूँ । संक्षेपमें पुरुषों और स्त्रियोंका स्वभाव उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारका कहा गया है । जो उत्तम प्रकृतिके पुरुष होते हैं वे जितेन्द्रिय अर्थात् सदाचारी, ज्ञानवान, अनेक शास्त्रोंमें कुशल, सबको प्रसन्न करनेवाले, भगलक्ष (ऐश्वर्यशील), दीनोंको ढाढ़स बँधानेवाले, अनेक शास्त्रोंका मर्म जाननेवाले, गम्भीर, उदार, धीर, और त्यागी होते हैं। मध्यम प्रकृतिवाले पुरुष लोक व्यवहारमें चतुर, शिल्पशास्त्रमें प्रवीण, विज्ञानयुक्त अर्थात् मनुष्य पहचानकर व्यवहार करने वाले और मधुर व्यवहार करनेवाले होते हैं। इनके अतिरिक्त सबसे रूखा बोलने वाले, दूसरोंसे बुरा व्यवहार करनेवाले, दुष्ट, मन्दबुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक कौशलोंसे प्राण लेनेवाले, चवाई (चुगली खानेवाले) घमंडी, उद्दंड, कृतघ्न, आलसी, मान्यका अपमान करनेमें प्रवीण, स्त्रियोंके पीछे फिरनेवाले, झगड़ालू, दूसरोंका दोष ढूँढ़नेवाले, पापी, तथा दूसरोंका धन हरनेवाले पुरुष अधम प्रकृतिके होते हैं। इस प्रकार आचरणकी दृष्टिसे पुरुषोंके समान ही स्त्रियोंकी भी प्रकृति तीन प्रकारकी होती है ।

अब हम स्त्रियोंके स्वभावकी मीमांसा करते हैं—मृदु व्यवहार करनेवाली, शान्त, सदा प्रसन्न रहनेवाली, कोमल स्वभावकी, सदा सबसे भली बात कहनेवाली, लज्जाशील, नम्रतासे भरी हुई, सबको प्रिय लगनेवाले रूप और माधुर्यवाली, स्वाभाविक गुणोंवाली, गम्भीर और धैर्यसे युक्त स्त्री उत्तम प्रकृतिकी कहलाती है। जिन स्त्रियोंमें बहुत अच्छे गुण न हों किन्तु अवगुण भी न हों और कोई छोटे-मोटे दोष भी हों वह मध्यम प्रकृतिवाली कहलाती है । अधम प्रकृतिवाली स्त्री वह है जिसमें अधम पुरुषोंके लक्षण पाए जायँ । जो मिश्र और अधम हो उसे नपुंसक समझना चाहिए। चेटी आदिको भी मिश्र स्वभावका ही समझना चाहिए अर्थात् जो कभी स्थिर हों, कभी अस्थिर हों । इसके अतिरिक्त द्विज, विदूषक और शकार आदि पात्रोंको मिश्र प्रकृतिवाला ही समझना चाहिए । इस प्रकार नाट्यमर्मज्ञ लोग नाटकके पात्रोंको समझते हैं। पुरुष, स्त्री और नपुंसकोंकी इतनी प्रकृति जाननी चाहिए। अब मैं इनका स्वभावपर अवलम्बित रूप बताऊँगा।

चार प्रकारके नायक बताए गए हैं जो मध्य और उत्तम प्रकृतिमें अनेक लक्षणोंसे युक्त होते हैं। ये नायक धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीर प्रशान्त कहे जाते हैं। देवता धीरोदात्त होते हैं। राजा धीरललित होते हैं । सेनापति और अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य धीर-प्रशान्त होते हैं। इन चारोंके चार प्रकारके विदूषक होते हैं। देवताओंके विदूषक लिङ्गी (सन्यासी या धर्मध्वजी), राजाओंके विदूषक ब्राह्मण, सेनापति और अमात्यके राजजीवी अर्थात् राजपुरुष और ब्राह्मण वैश्य नायकोंके विदूषक उनके शिष्य होते हैं।

वियोगमें राजा नायकके साथ कोई ऐसी प्रिय दासी रखनी चाहिए जो सुन्दर कथा और बातचीत करनेमें चतुर हो और राजाके साथ ऐसी दासी होनी चाहिए जो स्वयं विपत्ति पड़नेपर दुःख भोग चुकी हो अर्थात् ऐसी हो जो दुःखमें ढाढस बँधा सके । बहुतसे पुरुषोंका जो अग्रणी हो उसे नायक कहते हैं उनमें भी जो नायक विपत्ति और अभ्युदयमें सुखका अनुभव करता हो और दोनों अवस्थाओंमें जो अपनी श्रेष्ठता बनाए रखता हो वही नायक कहा जा सकता है। ये अनेक स्वभाव और लक्षणोंवाले नायक जानने चाहिएँ। स्त्रियोंकी जातियाँ धीर, ललित, उदात्त और निभृत होती हैं और इनमें अपनी अपनी जातिके गुण होते हैं। उदात्त और निभृत जातिवाली स्त्रियाँ कुलाङ्गना होती हैं और ललित तथा उदात्त प्रकृतिवाली गणिका तथा शिल्पकारिका होती हैं । इन सबकी प्रकृतिका प्रयोग दो प्रकारका होता है। इनमेंसे राजोपचारको अभ्यंतर

उपचार कहते हैं और बाहरी उपचारको बाह्यक कहते हैं। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाला राजोपचार कहलाता है इसलिये मैं रनिवासकी स्त्रियोंका विवरण देता हूँ।

राजाके अन्तःपुरमें निम्नलिखित प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं—महादेवी, देवी, स्वामिनी, आश्रिता, रखेली, शिल्पकारिणी, नाटकीया (नाटक करनेवाली), नाचनेवाली, अंगरक्षिका, सेविका, राजारानी अथवा प्रेमी-प्रेयसीके बीच सन्धि करानेवाली, सन्देशवाहिका, प्रधानसेविका, द्वाररक्षिका, कुमारी, वृद्धा और मन्त्रणा देनेवाली आयुक्तिका।

रानियोंमें सबसे प्रधान, बड़े कुल और शीलवाली, सब गुणोंसे युक्त, अवस्थामें सबसे बड़ी, राजा-रानियोंके बीचका झगड़ा निपटानेवाली, क्रोध न करनेवाली, ईर्ष्या-हीन, राजाके स्वभावको पहचाननेवाली, समृद्धिमें शान्त रहनेवाली, सदा अपने पतिका कल्याण चाहनेवाली, शान्त, सदा पतिके साथ रहनेवाली, धीर और रनिवासके हितमें लगी हुई पटरानीको महादेवी कहते हैं। इन गुणोंसे युक्त किन्तु अच्छे संस्कारोंसे हीन, अपने सौभाग्यपर इतरानेवाली, सदा प्रेम और सम्भोगमें लीन, नित्य बनी-ठनी रहनेवाली, अपनी सौतोंसे जलनेवाली, वय और रूपके गुणोंसे युक्त रानियाँ देवी कहलाती हैं।

सेनापति, अमात्य या अन्य राज्यसेवकोंकी जो कन्या बड़े प्रेम और सम्मानसे पाली जाती हैं, जो अपने शील-स्वभाव, रूप और गुणके कारण राजाकी प्रिया बन जाती हैं और अपने गुणोंसे ऊँचा पद प्राप्त कर लेती हैं वे स्वामिनी कहलाती हैं। रूप-यौवनसे भरी हुई, झगड़ालू, ऐंठमें रहनेवाली, सम्भोगमें अत्यन्त चतुर, सौतिया-डाह रखनेवाली, अपने पतिका चित्त भली भाँति समझनेवाली, पत्र लिखने और चित्र बनानेमें चतुर, शय्या आसन और भोजनके विषयमें सब कुछ जाननेवाली, मधुर, चतुर, सीधे स्वभावकी, मुँहफट, चिकनी-चुपड़ी बात बनानेवाली तथा अपने मनकी बात किसीको न बतानेवाली शिल्पकारिका होती है। स्वर, ताल और यतिको जाननेवाली, संगीताचार्यकी सेवा करनेवाली, नाट्यमें कुशल, भले-बुरेपर ठीक विचार करनेवाली और रूप यौवनसे सम्पन्न नर्तकियाँ ही नाटकीया कहलाती हैं। हाव-भावमें कुशल, माधुर्यभरे सात्त्विक अभिनयसे सम्पन्न, बाजा बजानेमें कुशल, संगीत-विद्याके अंग-प्रत्यंग जाननेवाली, चौसठों कलाओंमें निष्णात सबसे आदरका व्यवहार करनेवाली, वात-पित्त-कफके रोगोंसे हीन, सबसे समान व्यवहार करनेवाली, चटपटी बात करनेवाली, आलस्यहीन, थकावट न माननेवाली, अनेक प्रकारके शिल्पोंका प्रयोग जाननेवाली, नृत्त और गीतमें चतुर, रूप गुण, उदारता, सौभाग्य, धैर्य और साहसका आधा अंश रखनेवाली, सौन्दर्यके कारण मधुर दिखाई देनेवाली, कोमल, शान्त, चित्रकर्ममें चतुर, आई हुई अन्य नारियोंमें रूप यौवन और कान्तिमें जिसके समान कोई न हो वह नर्तकी कहलाती है। जो सब प्रकारकी अवस्थाओंमें राजाकी सेवा करती रहती हो, सदा सबको प्रसन्न करनेवाली हो, चतुर हो, शय्या ठीक रखती हो, कभी भूल न करती हो, खाने-पीनेकी वस्तुएँ लाकर रखती हो, पैर दबाती हो, सुगन्धित पदार्थ शरीरमें मलती हो, आभरण पहनाती हो, फूल-मालासे सजाती हो, तथा इस प्रकारकी सेवा करती हो उसे परिचारिका समझना चाहिए। राजभवनके अनेक कक्षोंमें तथा उपवनमें इधर-उधर जानेवाली, मन्दिर, खेल और भवनमें सेवा करनेवाली, समयकी सूचना देनेवाली, भोगके अधिकारसे हीन स्त्रियाँ संचारिका कहलाती हैं। कामसे पीडित होकर गुप्त प्रसंग छिड़ जानेपर राजा लोग सहायताके लिये जिन स्त्रियोंकी सहायता लेते हैं उन्हें परिचारिका कहते हैं। जो सारे अन्तःपुरकी रक्षा करती हैं, स्तुति और मंगलके कार्यमें जो योग देती हैं, जो सदा रनिवासकी वृद्धिकी कामना करती हैं वे महत्तरी कहलाती हैं। जो स्त्रियाँ पहलेसे सभाकी नीति जानती हैं, सबसे पहले राजा जिसकी पूजा करते हों, जो सबकी कथा जानती हो वह वृद्धा कही जाती है। भण्डारेकी सम्हाल करनेवाली, शस्त्र लेकर चलनेवाली, विकलांग, फल-मूल-औषधि और अन्नकी परीक्षा करनेवाली, गंध, आभरणमाला, वस्त्र इत्यादिकी सम्हाल करनेवाली तथा इस प्रकारके बहुतसे काम जिनपर हों वे आयुक्तिका कहलाती हैं। इस प्रकार संक्षेपमें मैंने अंतःपुरकी स्त्रियोंका वर्णन किया है।

अब मैं विस्तारसे इनकी विशेषताएँ बताता हूँ। अधिकार पदपर तथा किसी विशेष काममें उन्हीं स्त्रियोंको नियुक्त करना चाहिए जो उद्भट अर्थात् उदात्त चरित्रकी हों, उद्भ्रान्त अर्थात् घबराई हुई न हो, लोभी न हो निष्ठुर न हो, तथा शान्त, क्षमाशील, प्रसन्न, क्रोध-रहित, सदाचारिणी, इच्छारहित, पूज्य, स्त्रियोंके दोषोंसे

मुक्त, स्वामीमें अनुराग रखती हो, भक्त हो, अनेक प्रकारकी कुटिलताओंसे परे हो, ऐसी सर्वदोष-रहित स्त्रीको अधिकार-पद देना चाहिए। नपुंसक नामकी जो तीसरे प्रकारकी प्रकृति बताई गई है उससे राजाओंके अन्तःपुरका काम लेना चाहिए। कारका, कञ्चुकी (अन्तःपुरकी दासी), नपुंसक, औपस्थायिका तथा निर्मुण्डा स्त्रियोंको इधर-उधर संदेश भेजने तथा कुमारियों और बालिकाओंकी रक्षामें लगाना चाहिए। अन्तःपुरको सम्हालका काम, रानियोंकी टहल बजानेका काम और नाट्यागारका काम ऐसी स्त्रीको सौंपना चाहिए जो सब बातें ठीकसे जानती हो। जिनमें स्त्रियोंके अत्यन्त अल्प लक्षण हों और स्त्री स्वभाववाले नपुंसक हो, जन्मसे ही गूंगे हों उन्हें वर्षवर कहते हैं। देवियोंके कामके लिये राजाको चाहिए कि ऐसे ब्राह्मणोंको नियुक्त करें जो कुशल हों, वृद्ध हों और जिनमें कलाके दोष न हों। इस प्रकार अन्तःपुरके अठारह प्रकारके जनोंका मैंने वर्णन किया है। अब इसके पश्चात् मैं बाहरके पुरुषोंका वर्णन करता हूँ।

राजा, सेनापति, पुरोहित, मंत्री, सचिव, प्राड्विवाक (निर्णायक), कुमारभृत्-आदि ऐसे बहुतसे राजसेवक होते हैं जिनका राजा आदर करते हैं। इनके लक्षण बताता हूँ—

बलवान, बुद्धिमान्, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, चतुर, वाग्मी, समझदार, दूरकी बात सोचनेवाला, पराक्रमी, पवित्र, दूरदर्शी, उत्साही, कृतज्ञ, प्रियभाषी, कुशल, लोकपालनका व्रत लेनेवाला, प्रत्येक कामका उपाय जाननेवाला, जागरूक, सावधान, वृद्ध, स्मृति और अर्थशास्त्रमें निपुण, आकार मात्रसे ही दूसरोंका दोष पहचाननेवाला, वीर, रक्षाके साधन रखनेवाला, भले-बुरेका विचार करनेवाला, अनेक प्रकारके शिल्प चलानेवाला तथा नीतिशास्त्रमें कुशल पुरुष ही राजा होता है।

बुद्धिमान, नीति-सम्पन्न, पराक्रमी, प्रियभाषी, अर्थशास्त्रमें कुशल, प्रजाका हित चाहनेवाला और धार्मिक पुरुष ही अमात्य या मन्त्री बनाना चाहिए। व्यवहार और अर्थके अर्थात् लोकाचार और अर्थशास्त्रके सब तत्त्वोंको जाननेवाले, बुद्धिमान, बहुश्रुत, निष्पक्ष, धार्मिक बुद्धिवाले, कार्य और अकार्यका भेद जाननेवाले, क्षमाशील, जितेन्द्रिय, क्रोधहीन, सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले लोगोंको निर्णायकके पदपर रखना चाहिए। जागरूक, सावधान, निरालस, कभी न थकनेवाले, कोमल हृदयवाले, क्षमाशील, विनीत, निष्पक्ष, चतुर, नीति और विनय जाननेवाले, उचित-अनुचितका विचार करनेवाले, सब शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले, काम, क्रोध लोभ मोह, मत्सर आदि विकारोंसे हीन लोगोंको बृहस्पतिके मतसे सभामें नियुक्त करना चाहिए।]

इसमें भरतने उस प्रकार पात्रोंका विचार नहीं किया जैसे पीछेके आचार्योंने नायक-नायिका भेदके रूपमें विस्तारसे विवेचन किया है। भरतने तो विशेष रूपसे राजाओंके अन्तःपुर तथा सभामें काम आनेवाले व्यक्तियोंके गुणोंका लेखा भर दे दिया है और वह भी उतना स्पष्ट और विस्तृत नहीं है कि उससे त्रिलोकके पुरुषों और स्त्रियोंकी प्रकृतिका ज्ञान हो सके। भरतने जब "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्" कहा है तब उन्हें विस्तारसे विभिन्न मानव-समाजोंमें काम करनेवाले व्यक्तियोंका विवरण देना चाहिए था किन्तु भरत ऐसा न कर सके। पीछेके आचार्योंने इस कमीका अनुभव किया और विस्तारके साथ स्त्रियों और पुरुषोंके स्वभाव, वय और अवस्थाके अनुसार उनके अनेक भेद किए और नायक-नायिका भेद हमारे काव्यशास्त्रका एक मुख्य अंग बन गया। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें जितने प्रकारके पात्रोंका वर्णन किया है उनको विस्तारके साथ शारदातनयने अपने भावप्रकाशनके दशम अधिकारमें समझाया है इनमें से कुछ तो भरतने समझा दिए हैं कुछ की व्याख्या शारदातनयने इस प्रकार की है —

यह तो नायक और प्रेक्षक-परिवारका स्वभाव है

इयं तु नेतृप्रेक्षकपरिवारप्रकृतिरिति शारदातनयः ॥

[नेता-दर्शक-परिवारोंकी है यह प्रकृति शारदासुत मत।]

नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः।
भूमिकास्ताः प्रविश्यातः शैलूष इति कथ्यते ॥
भाषावर्णोपकरणैर्नाना प्रकृतिसम्भवम् ।
वेषं वयः कर्म चेष्टां बिभ्रद्भरत उच्यते ॥

अतीतं लोकवृत्तान्तं रसभावसमन्वितम् ।
स्वभाववन्नाटयति यतस्तस्मान्नटः स्मृतः ॥
सूत्रयन् काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान् ।
नान्दीश्लोकेन नान्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥
आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढः सूत्रधार इहोच्यते ॥
भरतेनाभिनीतं यद्भावं नानारसाश्रयम् ।
परिष्करोति पार्श्वस्थः स भवेत्पारिपार्श्विकः ॥
चतुरातोद्यविद्वाग्मी प्रियवाग्गीततालवित् ।
उपधाये प्रयोक्ता यः स सूत्रधृगितीरितः ॥
उज्ज्वला रूपवन्तश्च नृपोपकरणक्रियाः ।
मेधाविनो विधानज्ञा स्व स्व कर्मणि पण्डिताः ॥
सूत्रधारहिता दक्षा यथोद्देशप्रयोगिनः ।
एभिरेव गुणैर्युक्ता नटा नाट्ये भवन्ति हि ॥
भूमिकाभिरनेकाभिः कर्मवागङ्गचेष्टितैः ।
यथाप्रकृतिसन्धानकुशलास्ते कुशीलवाः ॥
चतुरातोद्यभेदज्ञास्तत्कलासु विशारदाः ।
करणाभिनयज्ञाश्च सर्वभाषाविचक्षणाः ॥
नटानुयोक्त्री कृत्येषु नटस्य गृहिणी नटी ।
विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेपूपयुज्यते ॥
विटश्च कामसाचिव्यकरणेनोपयुज्यते ।
तदात्वप्रतिमो नर्मचतुर्भेद प्रयोगवित् ॥
वेदविन्नर्मवेदी यो नेतुः स्यात्स विदूषकः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूकविभूषितः ॥
पिङ्गकेशो हरिश्मश्रुर्नर्त्तकश्च विदूषकः ।
वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ॥
प्रतिपत्तिपरो वाग्मी चतुरश्च विटो मतः ।
माल्यभूषोज्वलः कुप्यत्यनिमित्तं प्रसीदति ॥
विटः प्राकृतवादी च प्रायो बहुविकारवान् ।
एते नाट्यप्रयोक्तारो राज्ञां स्युः सुखभोगिनाम् ॥
प्रथमं तस्य राजानं प्रकृतिं च त्रिधा स्थिताम् ।
महिषीं च महादेवीं देवीं च सहभोगिनीम् ॥
आश्रितां नाटकीयाञ्च कामुकां शिल्पकारिकाम् ।
विज्ञाया चान्तःपुरिकाः पश्चाच्च परिचारिकाः ॥
शय्यापालीं छत्रपालीं तथा चामरधारिणीम् ।
संवाहिकां गन्धयोक्त्रीं माल्याभरणयोजिके ॥
एता विज्ञाय तत्पश्चाद्विद्याच्चदनुचारिकाः ।
नाना कक्ष्यामधिष्ठात्र्यः तथोपवनभूमिकाः ॥
देवतायजनक्रीडाहर्म्य-प्रासाद-मालिकाः ।
एता विज्ञाय भूपानां विद्यात्सञ्चारिका अपि ॥
वीटिकादायिनी वेत्रधारिणीरसिधारिणीः ।
आह्वायिकाः प्रेक्षणिकास्तथा यामिनिकीरपि ॥
एता सञ्चारिका राज्ञस्तथैता ह्यनुचारिकाः ।
अवियुक्ताश्चरन्त्येताः सर्वावस्थासु भूभृतः ॥
महत्तर्यः प्रतीहार्यो वृद्धा आयुक्तिका अपि ।
कञ्चुकीया वर्षवराः किराताः कुब्जवामनः ॥
औपस्थापिकनिर्मुण्डा अभ्यागाराश्च मूकिनः ।
एते ह्यन्तःपुरचरास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥
अभिगम्यगुणोपेतो नेता वा प्रेक्षकोऽपि वा ।
विजिगीषुर्महोदात्तः सम्यक्सङ्गीतवेदिता ॥
मूर्धाभिषिक्ता महिषी तुल्यशीलकुलान्विता ।
अनभिज्ञा सपत्नीनां सहधर्मचरी भवेत् ॥
अन्तःपुरहिता साध्वी शान्तिःस्वस्त्ययनैर्युता ।
अनीर्ष्या पतिशीलज्ञा महादेवी पतिव्रता ॥
एभिर्गुणैर्युता किञ्चित्सत्सत्कारवर्जिता ।
गर्विता रतिसम्भोगतत्परा च समत्सरा ॥
रूपयौवनसम्पन्ना राज्ञा देवीति कथ्यते ।
नित्यं प्रसाधनवती शीलरूपगुणान्विता ॥
स्वयं प्रवृत्तसुरता प्रवृत्ते भोगवर्त्मनि ।
सपत्नीनामसहना भोगिनीति निगद्यते ॥
भोगोपस्करसंस्कर्त्री नृपतेश्छन्दवर्तिनी ।
गतेर्ष्या भोगकुशला दयालुश्चाश्रिता भवेत् ॥
नृपतेर्गीतवस्तूनि गायिनी रतिमन्दिरे ।
स्वाभिश्शृङ्गारचेष्टाभिः पत्युर्मन्मथवर्धिनी ॥
मुखपाठेन नृत्यन्ती नाटकीयेति कथ्यते ।
निषीदन्तं निषीदन्ती गच्छन्तमनुयायिनी ॥
भुञ्जानमनुभुञ्जाना शयानमनुशायिनी ।
सा कामुकेति विज्ञेया देशकालानवेक्षिणी ॥
वासोङ्गरागाभरणमाल्यशिल्पविधायिनी ।
विचित्रसुरतक्रीडा पत्युर्वैचित्र्यदायिनी ॥
शयनासनशिल्पज्ञा सा भवेच्छिल्पकारिका ।
आसां स्वभावमालोच्य यथाभावं प्रयोजयेत् ॥
राज्ञो महिष्यास्सर्वत्र सर्वावस्थासु सर्वदा ।
स्वाधिकारैर्यथायोगं घटन्ते परिचारिकाः ॥

आसां शीलं स्वभावञ्च यथाभावं प्रयोजयेत् ।
सञ्चारिकाणां कर्माणि तत्र तत्र प्रयोजयेत् ॥
सञ्चारिका यथा योज्यास्तथा स्युरनुचारिकाः ।
कामोपभोग - सम्भोगगुह्यागुह्यसमर्थने ॥
या राज्ञा विनियुज्यन्ते ताः स्युः प्रेक्षणिकाः स्त्रियः ।
प्रीत्यान्तःपुरिका नित्यमाशीः स्वस्त्ययनादिभिः ॥
पृच्छन्त्यः कुशलं देवीस्ता महत्तर्य ईरिताः ।
ता नियोज्याः सदा राज्ञा सर्वान्तःपुररक्षणे ॥
याः पञ्चमाब्दादधिका दशमाब्दावरा स्त्रियः ।
कुमार्यस्ताः कुमारीणां प्रतीहार्य इति स्मृताः ॥
प्रत्यन्तःपुरिकं तास्तु सुखदुःखसमन्विताः ।
निवेदयन्ति वृत्तान्तं कुमार्यासह सर्वदा ॥
अजातरतिसम्भोगा निभृता लज्जयान्विताः ।
अन्तःपुरविहारिण्यः कुमार्यः कुलजाः स्मृताः ॥
ता लालनीया नृपतेरवरोधवधूजनैः ।
पूर्वराज-नयज्ञाश्च तैः क्रमेणैव मानिताः ॥
पूर्वराजोपचारज्ञा यास्ता वृद्धा इतीरिता ।
कथयन्त्यः कथाश्चित्रा वाक्यैः प्रहसनैरपि ॥
विनोदयन्ति ता राज्ञः स्त्रियोऽन्तःपुरवर्तिनीः ।
फलमूलौषधीमाल्यागन्धाभरणवाससाम् ॥
भाण्डायुधासनानां स्युरथायुक्तिकाः स्मृताः ।
ताश्चान्तःपुरचारिण्यो नियोज्यास्तेषु कर्मसु ॥
अकामा ब्राह्मणाश्चैव कञ्चुकोष्णीषवेत्रिणः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना कञ्चुकीयाः स्मृता बुधैः ॥
अल्पसत्त्वा स्त्रीस्वभावा क्लीवा निष्कामिनः स्वतः ।
जात्या वा कामनिर्मुक्तास्ते तु वर्षवराः स्मृताः ॥
वन्यमूलफलाहाराः पल्लीपर्वतवासिनः ।
चित्रम्नीकाः सुभाषाशाश्चिबुकाः कर्कशाङ्गकाः ॥
ते किराता बलाद्राज्ञा वारं वारं नियोजिताः ।
कञ्चुकीया नृपाभ्याशवर्तिनोऽन्तःपुराश्रयाः ।
भवनान्तरकृत्येषु नियोज्याः प्रेष्यकर्मणि ।
साहाय्ये कामचारस्य राज्ञः प्रच्छन्नकामिनः ॥
वाख्यत्यासकथने स्त्रीणां वर्षवराः स्मृताः ।
राजावरोधभोग्यानां भाण्डाभरणवाससाम् ॥
सर्वोऽन्तःपुरदण्डेषु किराता योजिता नृपैः ।
परिहासविनोदेषु स्त्रीणां स्युः कुब्जवामनाः ॥
सविदर्भाः दर्वीकश्च ह्रस्वो विकटदन्तकः ।

तुन्दिलोऽभ्यन्तरश्चर औपस्थापिक उच्यते ॥
अज्ञातकामा निष्कोशा निर्मुण्डा इति च स्मृताः ।
वधूपस्थापने राज्ञामौपस्थापिक उच्यते ॥
प्रस्थापने वधूनां स निर्मुण्डो योज्यते नृपैः ।
पुंस्त्री लिङ्गविलुप्ताङ्गाः स्वल्पश्मश्रुस्तनान्विताः ॥
अभ्यागारा इति ज्ञेया अभ्यागाराधिकारिणः ।
नियोगकारका राज्ञां सर्वावस्थासु सर्वदा ॥
मूकाः कुहकलीलाभिः सर्वत्र परिहासकाः ।
तेषां भावं परिज्ञाय तथैवाभिनयेन्नटः ॥
राजा सेनापतिश्चैव युवराजः पुरोहितः ।
प्राश्निका प्राड्विवाकास्त आयुक्ताः सचिवास्तथा ॥
एते सभासदः कार्या प्राश्निकाः प्रागुदाहृताः ।
नानाभावविशेषज्ञा नानाशिल्पविचक्षणाः ॥
शयने चासने वापि लेख्येऽलङ्कारयोजने ।
परिहासेङ्गितज्ञाने चतुरातोद्यवेदने ॥
नृत्ते गीते च कुशला नानाभावविचक्षणाः ।
मनस्विनो मानधना ऊहापोहविशारदाः ॥
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धाश्च सदस्याः कथिता बुधैः ।
वैतालिका वन्दिनश्च नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥
सूताश्च मागधाश्चैव सदस्याः स्युः कदाचन ।
तत्तत्प्रहरकयोग्यैरागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः ॥
सरभसमेव वितालं गायन् वैतालिको भवति ।
वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा नेपथ्ये गातुमर्हति ॥
वन्द्यमानेश्वरक्ष्माप - वंशवीर्यगुणस्तवैः ।
वन्द्यभूभृद्गुणोत्कर्षश्रावका वन्दिनः स्मृताः ॥
आशीःपुरस्कृतैर्वाक्यैर्मङ्गलार्थप्रकाशकैः ।
मङ्गलानि प्रशंसन्तो नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥
नन्दनीयानि वाक्यानि मङ्गलानि च भूभृताम् ।
पठन्ति भोगार्थानीति नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥
सुखस्वापविदो राज्ञां सुप्रभातप्रशंसकाः ।
सूताः सवनयोग्यानां कर्मणां बोधकाः स्मृताः ॥
राज्ञः पुरजनस्यापि मङ्गलाचारशंसिनः ।
मान्यैर्मागधिकागीतैर्मागधा इत्युदीरिताः ॥
एवं सपरिवारस्य नेतुश्च प्रेक्षकस्य च ॥
स्वभावमवगम्यैव नाट्ये नाभिनयेन्नटः ॥

[जो व्यक्ति अनेक स्वभाववाले संसारके भावोंको वैसा-वैसा रूप धारण करके प्रकाशित करते हैं, जो

लोग भाषा, वर्ण आदि सामग्रियोंसे अनेक प्रकारकी प्रकृतियोंके वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टा करके दिखाते हैं, उन्हें भरत कहते हैं। जो लोग रस और भावसे युक्त भूतकालकी कथा स्वाभाविक रूपसे अभिनीत करते हैं, वे नट कहलाते हैं। अर्थात् जो वर्त्तमान कालके लोगोंके जैसा रूपक बनाकर भाव प्रदर्शित करे वह शैलूष (नकल उतारनेवाला) कहलाता है। माघमें कहा भी है—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम्॥ १७.६८।

जो भूतकालके समाजका रङ्गमञ्चपर अभिनय करते हैं, वे भरत (बहुरूपिए) कहलाते हैं और प्राचीन कालके पात्रोंका अभिनय करनेवाला अभिनेता नट कहलाता है। तीनोंमें अन्तर यह है कि शैलूष तो बिना किसी प्रकारका वेष आदि धारण किए ही केवल दूसरोंके भावोंका अनुकरण करता है, भरत केवल दूसरोंके वेष, अवस्था, कर्म तथा चेष्टाओंका अनुकरण भाषा, वर्ण तथा अन्य सामग्रियोंके साथ करता है और नट किसी प्राचीन कथाके पात्रोंका रस-भावयुक्त अभिनय करता है।

सूत्रधारको इसलिये सूत्रधार कहते हैं कि वह नान्दी-पाठके पश्चात् काव्यमें प्रस्तुत वस्तु, नेताओंके चरित और रसोंको इकट्ठा करके एक डोरेमें पिरो देता है अर्थात् संक्षेपमें कह देता है। यहाँ सूत्रधार उसीको कहा गया है, जो रङ्गपीठकी सब कलाओंमें चतुर हो और नेता, कवि तथा वस्तुका संक्षेपमें परिचय दे सके। जो व्यक्ति भरतके द्वारा अभिनय किए हुए अनेक रसोंपर आश्रित भावोंका परिष्कार करता चलता है और सदा भरतके पास रहता है, वह पारिपार्श्विक कहलाता है। जो व्यक्ति चारों वाद्य बजानेमें कुशल हो, वक्ता हो, मधुरभाषी हो, गीत तथा ताल जानता हो और समझ-बूझकर सबका प्रयोग करता हो, उसे सूत्रधार कहते हैं। जो तेजस्वी, रूपवान्, राजाओंके लिये सब साधन जुटानेमें समर्थ, मेधावी, सब बातोंको ठीक-ठीक समझनेवाले, रङ्गशालाका सब विधान जाननेवाले, अपने-अपने काममें कुशल, सूत्रधारकी सहायता करनेवाले, चतुर, यथोचित कार्य करनेवाले लोग होते हैं, वे नाट्यमें नट या अभिनेता बन सकते हैं। अनेक प्रकारकी भूमिकाओंमें क्रिया, वाणी और आङ्गिक चेष्टाओंसे नाटकके पात्रकी ठीक-ठीक प्रकृतिका अभिनय करनेमें जो कुशल होते हैं, वे कुशीलव कहलाते हैं। चारों प्रकारके वाद्योंका भेद जाननेवाली और वाद्यकलामें प्रवीण, करण और अभिनय जाननेवाली, सब भाषाओंकी पण्डिता, सब कामोंमें नटकी आज्ञा माननेवाली, नटकी पत्नीको नटी कहते हैं। विदूषक भी सर्वत्र विनोदमें काम आता है और प्रेम-व्यापारमें मन्त्रणा देनेवाला व्यक्ति विट कहलाता है। अवसरके अनुकूल आचरण करनेकी प्रतिभावाला, चारों प्रकारके नर्म, (नर्म-रिफञ्ज, नर्म-स्फोट, नर्मगर्भ और नर्म अर्थात् मनोविनोदके भेद और प्रयोग) जाननेवाला, वेद जाननेवाला और नायकके मनोविनोदके साधन पहचाननेवाला ही विदूषक होता है। गञ्जा, पीली आँखोंवाला, हास्य स्वभाववाला, पीले बालवाला, भूरी दाढ़ीवाला और नाचनेवाला विदूषक होता है। वेश्यासे व्यवहार करनेमें कुशल, मधुरभाषी, सबको प्रसन्न रखनेवाला, सबका कहा माननेवाला, बात बनानेमें कुशल और चतुर व्यक्ति विट कहलाता है। जो माला और आभूषणसे सजा हुआ, अकारण क्रुद्ध और प्रसन्न होनेवाला, नटखट हो और प्राकृतमें बोलता हो, वह विट कहलाता है। ये सब नाट्य करनेवाले लोग राजाओंके सुख भोगनेमें सहायक होते हैं।

राजाओंकी प्रकृति तीन प्रकारकी जाननी चाहिए—एकमें तो महिषी (पटरानी) महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, अन्तःपुरिका, परिचारिका, शय्यापाली, छत्रपाली, चामर-धारिणी, संवाहिका (पैर दबानेवाली), गन्धयोक्त्री (सुगन्धित पदार्थ लाकर देनेवाली) माला और आभूषण सजानेवाली, अनुचारिका, अनेक कक्षाओं (विभागों) की रक्षिका, उपवन (रनिवासके बाग) की रक्षिका, मन्दिर, यज्ञ, क्रीडागार, रनिवास और भवनकी रक्षा करनेवाली सेविकाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त दूसरीमें बीड़ा देनेवाली (पान देनेवाली) चोबदारिन, असिधारिणी, आह्वायिका (लोगोंको बुला बुलाकर लानेवाली), प्रेक्षणिका (देखभाल करनेवाली), यामिनिकी (रातकी पहरेदारिन) ये सब राजाकी संचारिकाएँ और परिचारिकाएँ होती हैं। ये सदा राजाके साथ रहती हैं। इनके अतिरिक्त तीसरीमें महत्तरी, प्रतीहारी,

वृद्धा, आयुक्तिका काञ्चुकीया, वर्षवरा, किराता, कुब्जा वामना (बौनी), औपस्थापिकी, निर्मुण्डा, अभ्यागारा और मूकी (गूँगी) हैं जो अन्तःपुरमें रहती हैं। इनके लक्षण बताते हैं—

समान शील और कुलवाली, सौतोंको कुछ न समझनेवाली, राजाके साथ धर्माचरण करनेवाली रानी महिषी या पटरानी कहलाती है। रनिवासका हित चाहनेवाली, साध्वी, शान्त और मङ्गलकारक उपायोंसे सबका कुशल मनानेवाली, ईर्ष्या न करनेवाली, पतिका स्वभाव पहचाननेवाली पतिव्रता रानी महादेवी कहलाती है। जिन रानियोंमें कुछ-कुछ ये गुण भी हों ऐसी अच्छे संस्कारोंसे रहित, अभिमानी, विषय-भोगमें लीन, ईर्ष्यालु तथा रूप-यौवनसे सम्पन्न रानीको देवी कहते हैं। नित्य बन-ठनकर रहनेवाली अच्छे स्वभाव, रूप और गुणसे युक्त, भोगमें प्रवृत्त किए जानेपर स्वयं मैथुन करनेवाली और जिससे सौतें डाह करती हों, उसे भोगिनी कहते हैं। भोगकी सामग्री इकट्ठी करनेवाली, राजाकी इच्छाके अनुसार काम करनेवाली, ईर्ष्याहीना, भोगमें कुशल और दयालु रानी आश्रिता कहलाती है। राजाके रति-मन्दिर (रमण-मन्दिर) में गीत गानेवाली, अपनी सुन्दर शृङ्गार-चेष्टाओंसे पतिकी काम-वासनाओंको बढ़ानेवाली, स्वयं अपने गीतके साथ नाचनेवाली स्त्री नाटकीया कहलाती है। राजाके बैठनेपर बैठनेवाली, चलनेपर पीछे चलनेवाली, भोजन करनेपर भोजन करनेवाली, सोनेपर सोनेवाली और देश तथा कालका ध्यान रखनेवाली कामुका कहलाती है। गन्ध, अङ्गराग, आभूषण, माला तथा अनेक प्रकारकी कारीगरीकी वस्तु बनानेवाली, विचित्र प्रकारकी काम-केलियोंसे पतिको चकित करनेवाली, बिस्तर और पीढ़ेकी सजावटकी कला जाननेवाली शिल्पकारिका कहलाती है। इनका स्वभाव समझकर आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाय। राजाकी पटरानियाँ सब स्थानोंपर सब अवस्थाओंमें सदा अपने अधिकारसे जैसी आवश्यकता हो वैसी परिचारिकाएँ रख लेती हैं। इनके शील और स्वभावका यथाभाव प्रयोग करना चाहिए। संचारिकाओंके काम भी यथास्थान निर्दिष्ट कर देने चाहिए और जिस प्रकार संचारिकाओंको कामोंमें लगाया जाय, वैसे ही अनुचारिकाओंको भी काममें लगाना चाहिए। कामचेष्टा, वस्तुओंका भोग, संभोग तथा प्रकटनीय और अप्रकटनीय बातोंके समर्थनके लिये राजा लोग जिन स्त्रियोंको नियुक्त करते हैं, उन्हें प्रेक्षणिका कहते हैं। प्रसन्न मनसे अन्तःपुरमें रहनेवाली जो स्त्रियाँ आशीर्वाद और मङ्गलकामनाके द्वारा सबका कुशल-मङ्गल पूछती हैं, उन्हें महत्तरी कहते हैं। राजाको चाहिए कि अपने पूरे रनिवासकी रक्षाके लिये ऐसी स्त्रियोंको नियुक्त करें। जो पाँच वर्षसे बड़ी और दश वर्षसे कम कुमारियाँ राजकुमारियोंकी रक्षाके लिये नियुक्त की जाती हैं, वे प्रतीहारी कहलाती हैं। जो कुमारियाँ निरन्तर अन्तःपुरमें रहनेवाली और अन्तःपुरके सुख-दुःखमें समान भाग लेनेवाली, कुमारियोंको सब बात बतानेवाली, कुमारियोंके साथ रहनेवाली, रति और सम्भोगके अनुभवसे हीन, एकान्तमें रहनेवाली और अन्तःपुरमें रहनेवाली होती हैं वे कुलजा कहलाती हैं। रानियोंको चाहिए कि इनका ठीकसे लालन-पालन करें। जो पिछले राजाओंकी नीति जाननेवाली हों, जिनकी सब रानियाँ क्रमसे आदर करती हों, पिछले राजाके सब आचार-विचारको जाननेवाली हों वे देवियाँ वृद्धा कहलाती हैं। ये वृद्धाएँ अन्तःपुरमें रहकर अनेक प्रकारकी कथाओं और प्रहसनोंसे राजाओंका विनोद करती हैं। फल, मूल, औषधि, माला गन्ध, आभूषण, वस्त्र, वाद्ययन्त्र, शस्त्र और आसनोंका प्रबन्ध करनेवाली आयुक्तिका कहलाती हैं। इन अन्तःपुरमें रहनेवालियोंको यथायोग्य कामोंमें लगाना चाहिए। जो ब्राह्मण कामनाहीन हों, और ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न हों, कञ्चुक (अङ्गरखा), उष्णीष (पगड़ी) तथा बेंत हाथमें धारण करते हों वे कञ्चुकी कहलाते हैं। अल्पशक्तिवाला, स्त्री स्वभाववाला, नपुंसक, इच्छाहीन तथा जन्म और स्वभावसे कामवासनाहीन व्यक्ति वर्षवर कहलाता है। जङ्गली मूल-फल खानेवाले, गाँव-पहाड़में रहनेवाले, विचित्र स्त्रियोंवाले, भली प्रकार भाषा जाननेवाले, लम्बी ठोडीवाले लोग किरात कहलाते हैं और इनको राजा लोग बलपूर्वक बारबार नियुक्त करते हैं। कञ्चुकीय लोग अन्तःपुरमें राजाके पास रहते हैं। किसीको भेजने बुलानेके काम तथा भवनके भीतरी कामोंमें ये लगाए जाते हैं। गुप्त प्रेम करनेवाले राजाओंकी प्रेम लीलामें सहायता करनेवाले तथा रनिवासकी स्त्रियोंकी नित्य कथा बतानेवाले वर्षवर कहलाते हैं।

रानियोंके उपयोगमें आनेवाले पात्र, आभूषण, और वस्त्रोंकी रखवालीके लिये तथा अन्तःपुरके लोगोंको दण्ड देनेके लिये किरातोंको नियुक्त करना चाहिए। स्त्रियोंको हँसाने और उनका मन बहलानेके लिये कुबड़े और काने रखने चाहिए। बहरा, नपुंसक, बौना, बड़े दाँतोंवाला, मोटा व्यक्ति जो रनिवासमें काम करता हो वह औपस्थापिक कहलाता है। जिन्हें काम-क्रीडाका ज्ञान न हो, लिङ्ग हीन हों, वे निर्मुण्ड कहलाते हैं। राजाके पास रानियोंको लानेका काम औपस्थापिकका है और लौटाकर पहुँचानेका काम निर्मुण्डका। जिनके पुरुष या स्त्रीके चिह्न विलुप्त हों, छोटीसी दाढ़ी और छोटे-छोटे स्तन हों, वे अभ्यागार कहलाते हैं और भीतरी भवनकी देख भाल करते हैं। इन्हें राजा लोग सदा सब काममें ला सकते हैं। अनेक प्रकारके कौतुक दिखाकर सदा हँसानेवाले मूक या गूँगे कहलाते हैं। इनका भाव समझकर इनके समान ही नटोंको अभिनय करना चाहिए। राजा, सेनापति, युवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राड्विवाक, आयुक्त और सचिव इतने सभासद होने चाहिएँ। प्राश्निकोंका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। सभासद वे ही हो सकते हैं जो अनेक प्रकारके भावोंको जानते हों, अनेक शिल्पोंके ज्ञाता हों, शय्या, आसन, चित्र, और अलङ्कार सजानेकी कला जानते हों, परिहासका मर्म समझते हों, वाद्य बजानेमें चतुर हों, नृत्त और गीतमें कुशल हों, अनेक प्रकारके भाव पहचानते हों, मनस्वी हों, मानी हों, भले बुरेका विचार कर सकते हों तथा पैसे-रुपये और स्त्रियोंके विषयमें सच्चे और पवित्र हों। कभी-कभी वैतालिक, बन्दी, नान्दी-मङ्गल-पाठक, सूत और मागध भी सदस्य होते हैं। प्रहर प्रहरके अनुकूल रागोंमें तथा उस समयके वर्णनसे युक्त श्लोकोंमें ऊँचे स्वरसे ठीक तालमें गानेवाला वैतालिक कहलाता है और यह नेपथ्यमें ही स्वयं भी गाता है और दूसरोंसे भी गवाता है। जो वर्तमान वन्दनीय स्वामी और राजाके वंश, पराक्रम और गुणकी स्तुतियोंके साथ पुराने वन्दनीय राजाओंके गुणोंकी विशेषता सुनाता है, वह बन्दी कहलाता है। आशीर्वादसे युक्त तथा माङ्गलिक भावोंको प्रकाशित करनेवालों वाक्योंसे जो सब मङ्गलकारक देवों या वस्तुओंकी प्रशंसा करता है, वह नान्दी मङ्गल-पाठक कहलाता है। राजाओंको प्रसन्न करनेवाले और मङ्गलसे पूर्ण आनन्दार्थक वाक्य जो पढ़ता है, वह नान्दी-मङ्गल-पाठक कहलाता है। राजाओंके सुखकी नींदका ज्ञान रखनेवाले, सुप्रभातकी प्रशंसा करनेवाले और स्नानादि कर्मों की सूचना देनेवाले लोग सूत कहलाते हैं। सुन्दर मागधी गीतोंसे राजा और पुरजनका मङ्गलगान करनेवाले मागध कहलाते हैं। इस प्रकार नायक और प्रेक्षकके परिवारका स्वभाव समझकर ही नटको नाटकका अभिनय करना चाहिए।]

शारदातनयने भी उपर्युक्त विवरणमें शैलूष, भरत, नट, सूत्रधार, पारिपार्श्विक, कुशीलव, विदूषक, अन्तःपुरिका, परिचारिका, अनुचारिका, संचारिका, अन्तःपुरचरा, राजा, महिषी, महादेवी, देवी, भागिनी, आर्द्रश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, प्रेक्षणिका, महत्तरी, प्रतीहारी, कुमारी, वृद्धा, आयुक्तिका, काञ्चुकीय, वर्षवर, किरात, औपस्थापिक, निर्मुण्ड, अभ्यागार, मूक, सभासद, सदस्य, वैतालिक, बन्दी, नान्दिमङ्गल-पाठक, सूत तथा मागधकी विस्तारसे विवेचना की है। किन्तु उससे पूर्व उसने लिखा है--

"सङ्गीतशास्त्रं सर्वत्र राज्ञां विश्रान्ति-सौख्यदम्।
तस्मादिदं विनोदार्थं राज्ञामेव पुरा कृतम्॥
विश्रामाय महीभारविश्रान्तानां सुखप्रदम्।
अस्य सङ्गीतशास्त्रस्य प्रयोक्तृणां च लक्षणम्॥
स्वरूपं कर्म चैतेषां यथावत् प्रतिपाद्यते।"

[सङ्गीतशास्त्र सदा राजाओंको ही शान्ति और सुख देनेवाला होता है। इसलिये प्राचीनकालमें यह राजाओंके लिये बनाया गया था। राज्यके भारसे थके हुए, राजाओंको विश्राम और सुख देनेके लिये इस सङ्गीतशास्त्रके प्रयोक्ताओंके लक्षण और स्वरूप यथाविधि वर्णन किए जाते हैं।

इसके पश्चात् नटसे लेकर अन्तःपुरचरों तकका वर्णन देकर फिर शारदा-तनयने कहा है :—

"चतुर्णामपि वर्णानां राजा सङ्गीतमर्हति।
तस्य त्रिधा स्यात् प्रकृतिरुत्तमाधममध्यमा॥
स्त्रीणां तथा स्यादेतेषां शीलं भावान्विशेषतः।
ज्ञात्वा ततस्ताःप्रकृतिः सुखेनाभिनयेन्नटः॥

[चारों वर्णों में केवल राजाको ही सङ्गीत शोभा देता है और ये राजा तीन प्रकृतियोंके

(१) शृंगार-सहाय, (२) अर्थचिंता-सहाय, (३) धर्म-सहाय, (४) दंड-सहाय, (५) अंतःपुर-सहाय और (६) संवाद-सहाय अथवा दूत।

शृंगार-सहायमें (१) विट, (२) चेट, (३) विदूषक, (४) मालाकार (५) रजक, (६) तमोली और (७) गंधी आदि होते हैं।

विट अधिकारी नायकका निजी सेवक होता है। यह अपने स्वामीका बड़ा भक्त होता है और उसे प्रसन्न रखनेके लिये उपयोगी नृत्त, गीत, वाद्य आदि कलाओंका थोड़ा-बहुत ज्ञान रखता है। यह धूर्त होता है और संभोग विषयोंमें अजान समझा जाता है, पर वेशोपचारमें निपुण और वाचाल होता है। नागानन्दमें शेखरक विट है। चेट दासको कहते हैं।

विदूषक भी नायकका मित्र होता है। इसका काम लोगोंको हँसाना है। नायकके साथ हँसी-मजाककी इसे बहुत स्वतंत्रता होती है। इसकी वेश-भूषा, बोलचाल, आचार-व्यवहार सब ऐसा होता है जिसे देखते ही हँसी आ जाय। कहीं कहीं यह भी लिखा है कि इसे बौना, गंजा और लाल आँखों तथा लँबे दाँतोंवाला होना चाहिए। लालची और भुक्खड़ तो यह सदा ही दिखाया जाता है। झगड़ा लगानेमें भी यह चतुर होता है, परन्तु नायकका इसपर बड़ा विश्वास होता है और विट तथा चेटकी अपेक्षा उसके अधिक काम आता है। असलमें यह बुद्धिमान् ब्राह्मण होता है और मनोरंजनके लिये नियुक्त होनेके कारण इसे ये सब विकृत व्यापार करने पड़ते हैं। जैसे, रत्नावलीमें वसन्तक और शाकुन्तलमें माढव्य।

माली, धोबी, तमोली और गन्धी के व्यापार उनके नामसे ही प्रकट हैं।

अर्थचिन्ता-सहाय—नाटकोंके नायक विशेषतः राजा हुआ करते हैं, जिन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्थाके लिये मन्त्री और कोषाध्यक्षपर निर्भर रहना पड़ता है, परंतु धीर-ललित नायक अर्थसिद्धिके लिये उत्पादकोंपर अवलम्बित नहीं रहता और धीर-शान्त नायकको धनकी विशेष चिन्ता ही नहीं होती।

दण्ड-सहाय दुष्टोंके दमनमें सहायक होते हैं। ये सुहृद् (मित्र), कुमार, आटविक (सीमारक्षक), सामन्त और सैनिक आदि होते हैं।

दण्ड सहाय और अर्थचिन्ता-सहाय राज्य व्यवस्थाके लिये नियुक्त होते हैं।

ऋत्विग् (यज्ञ करनेवाले), पुरोहित (कुलगुरु), तपस्वी और ब्रह्मवादी (आत्मज्ञानी) लोग धर्म सहाय होते हैं।

अन्तःपुर-सहाय—वर्षवर (हिँजड़े), किरात (जंगली), मूक (गूँगे), बौने, म्लेच्छ, ग्वाले और शकार आदि होतेहैं। राजाकी उपपत्नीके भाईको शकार कहते हैं। यह मूर्ख, घमण्डी, ऐश्वर्यशाली और नीच कुलका होता है। मृच्छकटिक नाटकमें शकारका उपयोग हुआ है।

दूत किसी कार्यकी सिद्धिके लिये या सन्देश लेकर भेजे जाते हैं। साहित्यदर्पणकारने इनके तीन भेद बताए हैं—निःसृष्टार्थ, मितार्थ, सन्देशहारक।

> निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।
> कार्यप्रेष्यस्त्रिधादूतो दूत्यश्चापि तथाविधः॥
> उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
> सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निःसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥
> मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धिकारी मितार्थकः।
> यावद्भाषितसन्देशहारः संदेशहारकः॥

निःसृष्टार्थ उसे कहते हैं जो भेजनेवालेके और जिसके पास भेजा जाय उसके मनोभावोंको समझ जाय और आप ही उत्तरका प्रत्युत्तर दे सके तथा उत्तम प्रकारसे कार्यकी सिद्धि करे। मितार्थ थोड़ा ही बोलता है, पर कार्य-सिद्धि कर देता है। सदेशहारक उतनी ही बात कहता है, जितनी उससे कही जाती है। पीठमर्द और धर्मसहाय उत्तम, विट और विदूषक मध्यम और चेट, शकार आदि अधम सहायक समझे जाते हैं। दूत अपनी कार्य-कुशलताकी मात्राके अनुसार तीनोंमें आ सकता है। प्रतिनायक वह धीरोद्धत है जो लोभी, कठोर, पापी, व्यसनी और शत्रु होता है।

नायकके सात्त्विक गुण

नायकमें (१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य, (४) गाम्भीर्य, (५) स्थिरता, (६) तेज, (७) लालित्य और (८) औदार्य, ये आठ सात्त्विक और पौरुषेय गुण होते हैं।

(१) शोभामें दो बातें आती हैं—नीचके प्रति घृणा और अधिकके प्रति स्पर्धा।

नीचताके प्रति घृणा—शोभाका यह उपादान प्राचीन सदर्प रूढ़वंशताके भावोंका अवशेष है। यह घृणा केवल दूसरोंसे जुगुप्सा ही नहीं कराती, बल्कि दया भी दिखाती है। इस घृणा का आधार ही दया है। धनिकने दशरूपक-की अपनी टीकामें इसका यह उदाहरण दिया है—

उत्ताल ताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥

[भयंकर ताडकाका रूप देख कर जो डरा नहीं वह उसे स्त्री समझकर मारनेमें संकोच कर रहा है।]

—महावीर-चरित

परंतु यदि ध्यान देकर देखा जाय तो यह विचिकित्सा नीचके प्रति नहीं वरन् नीच कर्मके प्रति है। राम ताड़कासे घृणा नहीं करते बल्कि उसका प्रमथन करने, उसको मारने-से घृणा करते हैं, क्योंकि ताड़का स्त्री है और स्त्रीपर आयुध छोड़ना वीरोंके अयोग्य है। स्त्री अबला मानी जाती और 'उत्ताल' तथा 'उत्पात'-कारिणी होनेपर भी वह स्त्री ही है। परंतु संभवतः रूढ़वंशता निर्बलताको नीचतामें ही गिनती है। पर साधारण अर्थमें घृणा कभी शोभाका कारण नहीं हो सकती।

अधिकके प्रति स्पर्धा—बढ़े हुएसे बढ़नेकी इच्छा। इसी गुणके कारण महान् व्यक्तियोंसे बड़े बड़े काम होते हैं।

शोभा दो प्रकारकी होती है—शौर्यशोभा और दक्ष-शोभा। पहलीमें वीरताकी प्रधानता रहती है और दूसरीमें क्षिप्रकारिता तथा कौशलकी।

(२) विलास—यह गुण नायककी चाल ढालको शानदार बनाता है। गर्वीली धैर्य-युक्त चाल, और दृष्टि तथा हँसते हुए बातें करना—ये तीन बातें विलासमें आती हैं।

(३) माधुर्य वह गुण है जिसके द्वारा बड़े भारी विकारके लिये कारण होते हुए भी थोड़ा सा मधुर ही विकार होता है।

(४) गांभीर्यके कारण बड़ी उद्वेगजनक अवस्थामें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। माधुर्यमें थोड़ा सा मधुर विकार होता है, गांभीर्यमें विकार होता ही नहीं।

(५) स्थिरता—विघ्नोंके उपस्थित होनेपर भी अपने कार्यपर अचल डटे रहना स्थिरताका गुण है।

(६) तेज—प्राणोंकी भी उपेक्षा करके दूसरोंके अपमान-सूचक वचन या व्यापारको न सह सकना तेज कहलाता है।

(७) लालित्य—प्रेममें आकृति और चेष्टाकी स्वाभाविक मधुरताको लालित्य कहते हैं।

(८) औदार्य—प्रिय वचनके सहित प्राणोंतकका दान कर देने तथा गुणवानोंका उपकार करनेके लिये तत्पर रहना औदार्य गुण कहा जाता है।

नायिका

नायककी प्रिया या पत्नीको नायिका कहते हैं। आधुनिक (पाश्चात्य) नाट्यशास्त्रमें यह आवश्यक नहीं कि नायककी प्रिया या पत्नी ही नायिका हो। स्त्रियोंमेंसे जिसका नाटकीय कथा-प्रवाहमें प्रधान भाग हो वही पाश्चात्योंके अनुसार नायिका होती है, चाहे वह नायककी प्रिया हो या कोई और। परन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्रमें नायककी प्रिया ही नायिका कहलाती है। नायकके सामान्य गुण नायिकामें भी होने चाहिएँ। नाट्याचार्य भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें नायिकाओंके चार भेद गिनाए हैं—दिव्या, नृपतिनी, कुल-स्त्री और गणिका। परन्तु आगे चलकर ये भेद उतने मान्य नहीं हुए। अन्य शास्त्रकारोंने इस विषयका विवेचन और ही प्रकारसे किया है। सर्वमान्य विवेचन नायिकाके स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीन भेदोंसे आरम्भ होता है। धनंजयने भी अपने दशरूपकमें इसीका अनुसरण किया है। स्वकीया अपनी और परकीया पराई होती है, तथा सामान्या किसीकी स्त्री नहीं होती। सामान्याका दूसरा नाम गणिका या वेश्या भी है।

स्वकीया नायिकामें शील, आर्जव आदि गुण होते हैं। वह स्वकीया पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जावती तथा पतिकी सेवामें रत होती है।

स्वकीयाके भी तीन भेद होते हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा।

मुग्धा नायिका वह है जिसमें नई तरुणाई आ रही हो, अर्थात् जो अभी-अभी बाल्यावस्थासे यौवनावस्थामें

स्थानको चलनेसे पहले वह विरहोत्कंठिता होती है। विदूषक, दूती आदिके साथ संकेत-स्थानपर जानेसे वह अभिसारिका होती है और कदाचित् यदि उसका प्रिय संकेत स्थानपर न आया तो वह विप्रलब्धा हो जाती है। शेष पाँच अवस्थाएँ परकीयाकी नहीं हो सकतीं। मालविकाग्निमित्रमें रानीके सामने राजाकी परवशता देखकर मालविकाने कहा—

"देवीके सामने आपकी धीरता देख ली गई।"

इसपर राजाने उत्तर दिया—

"हे दाक्षिण्य कुलव्रत प्यारी ! नायकके प्रतिपालन योग्य।
इसीलिये ये प्राण हमारे बँधे तुम्हारी आशामें॥"

[मालविकाग्निमित्र]

यहाँ मालविका खंडिता नहीं है, क्योंकि राजाका रानीके प्रति पहलेके समान प्रेम और आदर उसके दाक्षिण्यका लक्षण है। रानीके प्रति अपना प्रेम स्वीकार करनेके साथसाथ वह मालविकासे अनुनय करता है, जिससे उसके 'विमानिता' होनेका अवसर नहीं रह जाता।

स्वकीयाके प्रति उसके पतिके प्रेमको परकीया खंडित करती है। वास्तवमें परकीयाके संबंधसे स्वकीया खंडिता होती है, स्वकीयाके संबंधसे परकीया नहीं। इसी प्रकार प्रियके विदेशमें होनेपर भी परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। मिलनके पूर्व देशका व्यवधान परकीया और नायकके बीच सदा रहता है। इस कारण वह मिलनके लिये उत्सुक विरहोत्कंठिता मात्र हो सकती है।

नायिकाकी दूतियाँ

दासी, सखी, धोबिन, घरका काम-काज करनेवाली, नौकरानियाँ, पड़ोसिन, भिक्षुणी, शिल्पिनी (चित्रादि बनानेवाली) नायिकाकी दूतियाँ होती हैं। कभी-कभी नायिका स्वयं भी अपनी दूती बन जाती है। ऐसी अवस्थामें वह स्वयंदूती कहलाती है। नायकके सहायकोंमें जो गुण होते हैं वे इनके लिये भी आवश्यक हैं। इनमें कला-कौशल, उत्साह, भक्ति, चित्तज्ञता (दूसरेका अभिप्राय समझनेकी शक्ति), तीव्र स्मरण शक्ति, मधुरभाषिता, नर्म-विज्ञान, वाग्मिता आदि गुण होने चाहिएँ।

नायिकाओंके अलंकार

सौन्दर्य बढ़ानेवाले स्वाभाविक उपादान अलंकार कहलाते हैं। अलंकारोंका अर्थ आभूषण नहीं है। वे प्राकृतिक हावभाव होते हैं। अलंकार स्त्री और पुरुष दोनोंमें हो सकते हैं। ऐसे अलंकार जो स्त्री-पुरुषोंमें समान होते हैं अंगज और अयत्नज कहलाते हैं। स्वभावज अलंकार स्त्रियोंकी ही विशिष्टता प्रकट करते हैं। भाव, हाव और हेला ये तीन अंगज, शोभा कांति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार होते हैं। विश्वनाथने साहित्य-दर्पणमें आठ स्वभावज अलंकार और बताए हैं। वे हैं—तपन, मुग्धता, विक्षेप, मद, कुतूहल, हसित, चकित और केलि।

..................................मदः ॥
तपनं मौग्ध्यंविक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिः...................॥

—३,९१-९२

अंगज अलंकार—(१) भाव—जन्मसे अविकारी चित्तमें विकारका उत्पन्न होना भाव कहलाता है।

(२) हाव उस तीव्र रति-विकारको कहते हैं, जो अपनी तीव्रताके कारण शरीरके बाहरी अंगोंकी विलक्षण विकृतिके द्वारा लक्षित होने लगता है, जिससे आँखोंमें, भौंहोंपर और चाल-ढालमें एक प्रकारका अनोखापन आ जाता है। साहित्य-दर्पणके अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है—भ्रुकुटी तथा नेत्रादिके विलक्षण व्यापारोंका अल्पप्रकाशक 'भाव' ही हाव कहलाता है, अर्थात् भाव ही तीव्रता पाकर हाव होता है।

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः ।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥

—३,९४

(३) हेला—काम-वासनाके अत्यंत स्पष्ट रूपसे लक्षित होनेको हेला कहते हैं। भाव ही बढ़कर हेला हो जाता है।

अयत्नज अलंकार—(१) शोभा—रूप, भोग (रति) और तरुणाईसे अंगका जो सौंदर्य खिल उठता है उसे शोभा कहते हैं,

(२) **कांति**--कामोन्मेषसे बढ़ी हुई शोभाको कांति कहते हैं।

(३) **दीप्ति**—अत्यंत विस्तार पानेपर कांति ही दीप्ति कहलाती है।

(४) **माधुर्य**—इस गुणमें उग्रता नहीं होती। इसके कारण नायिका, प्रत्येक अवस्थामें, रमणीय लगती है। विपरीत परिस्थितियोंमें भी उसकी रमणीयता कम नहीं होती। माधुर्यमें तीव्रता नहीं होती। तीव्र गुणोंका काम आकर्षण है। शोभा, कांति, दीप्ति आदिसे जो आकर्षण होता है उसमें प्रतिघात होकर अपकर्ष न आने देना माधुर्यका काम है।

(५) **प्रगल्भता**—मनके क्षोभसे उत्पन्न अंग संकोच का अथवा विकृतिके भावका अभाव होना प्रगल्भताका गुण है। रतिके समय नायिकाकी निर्भयताको भी प्रगल्भता कहते हैं।

(६) **औदार्य**—सब अवस्थाओंमें विनय युक्त व्यवहार करना औदार्य कहलाता है।

(७) **धैर्य**—आत्मश्लाघासे विहीन मनकी अचंचल वृत्तिको धैर्य्य कहते हैं।

स्वभावज अलंकार

(१) **लीला**--नायिकाके द्वारा प्रियके प्रेम-संभाषण वेश-भूषा तथा चेष्टाका अनुकरण इसके अंतर्गत है। अर्वाचीन आचार्य्योंने इसके तीन भेद बतलाए हैं—स्वगता, सखीगता और स्वप्रियगता लीला। लीलाकी जो परिभाषा दी गई है वही स्वगताकी है। जब नायिका सखीसे नायकका अनुकरण करावे तो सखीगता लीला होती है और जब वह नायकसे नायिकाका रूप धारण करावे और चेष्टा करावे तथा स्वयं नायकका रूप धारण करे और उसकी चेष्टाओंका अनुकरण करे तब स्वप्रियगता लीला होती है।

(२) **विलास**—प्रियके दर्शन-मात्रसे आकृति, नेत्रों तथा चेष्टाओंमें जो विशेषता आ जाती है अथवा जो परिवर्तन होता है उसे विलास कहते हैं।

(३) **विच्छित्ति**--यह अल्प वेश-रचना है जो कांतिको बढ़ावे।

(४) **विभ्रम**—किसी विशेष अवसरपर, उतावलीके कारण, भूषण आदिको औरकी और जगह पहन लेना तथा भ्रांतिपूर्ण आचरण करना।

(५) **किलकिंचित**—प्रियके संसर्ग आदिसे उत्पन्न वह अवस्था जिसमें मुस्कुराहट, हँसी, क्रोध, भय और श्रमका मिश्रण होता है।

(६) **मोट्टायित**—प्रेममें तन्मय होकर प्रियतम-संबंधी कथा-वार्त्ता सुनना। अर्वाचीन आचार्य्योंके अनुसार मोट्टायितमें कामिनी कान खुजलाने आदिकी चेष्टाएँ करती है जिससे लोगोंको पता न लगे कि वह उस (प्रिय-संबंधी) वार्त्ताका ध्यान-पूर्वक अनुसरण कर रही है।

(७) **कुट्टमित**—अधर, केश, स्तन आदिके छूनेसे आनन्द होनेपर भी रोकनेके लिये झूठमूठ ही हाथ हटाना या सिर हिलाना और क्रोध प्रकट करना।

(८) **विब्बोक**—गर्वके कारण प्रिय वस्तुके प्रति अनादर प्रकट करना। यह अनादर केवल दिखाने भरके लिये होता है, परन्तु अन्तःकरणसे कामिनी उसका सम्मान करती है।

(९) **ललित**—अपने कोमल अंगोंको सुकुमारताके साथ सजाना।

(१०) **विहृत**—अनुकूल और उचित अवसर पाने पर भी व्रीड़ाके कारण न कह सकना।

साहित्यदर्पणकारने आठ और गिना दिए हैं।

(११) **मद**—सौभाग्य, यौवन आदिके घमंडसे उत्पन्न मनोविकार।

(१२) **तपन**—प्रियतमके वियोगमें कामोद्वेगसे उत्पन्न चेष्टाएँ।

(१३) **मुग्धता**—जानी बूझी बातको भी प्रियतमसे अनजान होकर पूछना।

(१४) **विक्षेप**—वल्लभ (प्रिय) के समीप भूषणोंकी अपूर्ण रचना अथवा अकारण ही रहस्यमयी दृष्टिसे इधर-उधर देखना एवं प्रियसे धीरेसे कोई रहस्यकी बात कहना।

(१५) **कुतूहल**—रमणीय वस्तुको देखनेके लिये चंचल हो उठना।

(१६) **हसित**—यौवनोद्गमसे उत्पन्न वृथा हास ।

(१७) **चकित**—प्रियतमके सामने बिना कारण डरना या घबराना ।

(१८) **केलि**—विहारके समय कान्तके साथ काम-क्रीड़ा ।

अनुराग-चेष्टाएँ

साहित्य दर्पणकारने नायिकाओंकी अनुराग-चेष्टाओंका भी वर्णन किया है । मुग्धाकी अनुराग-चेष्टाएँ वे इस प्रकार बताते हैं—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति ।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥
बहुधा पृच्छ्यमापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किंचित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥

"पतिको देखकर लज्जा दिखलाती है । सम्मुख कभी नहीं देखती । छिपे हुए, अथवा दूर खड़े हुए प्रियको देखती है । बहुत बार पूछनेपर वह नीचे मुख करके गद्गद स्वरसे मन्द-मन्द कुछ प्रिय बातें बोलती है । अपने प्रियकी कथा दूसरोंसे कही जानेपर बड़े ध्यानसे सुनती है ।"

इसके अनन्तर प्रत्येक नायिकाकी अनुराग-चेष्टाओंको वे इस प्रकार बताते हैं—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलंकृता ॥
क्वापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत्स्फुटम् ॥
आच्छादयति वाक्याद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥
सखीमध्ये गुणान्ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥
यत्किंचिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरीमोक्षसंयमौ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ॥
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ।
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ॥
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ।
दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्गे मुहुरीक्षते ॥
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ।
मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥
विकारान्सविकानस्य संमुखी नाधिगच्छति ।
भाषते सूनृतं स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥
एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।
मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः ।
लेखा प्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः ॥

"वह प्रियके समीप रहनेकी इच्छा करनेवाली होती है तथा प्रियके सम्मुख बिना अलंकार धारण किए नहीं जाती । केश अथवा साड़ीको ठीक करनेके बहानेसे बाहुमूल, स्तन तथा नाभि दिखलाती है । मीठी वाणीसे प्रियके सेवकोंको वशमें रखती है । उसके (प्रियतमके) मित्रोंका विश्वास करती है और उनका मान करती है । उसकी सखियोंसे उसके गुणका वर्णन करती है तथा अपना धन आदि देती है । उसके सोनेके बाद सोती है । उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख समझती है । प्रियके दृष्टिपथमें खड़ी हुई उसे दूरसे देखती है और मदन-संतप्त होकर कुटुम्बियोंसे बातें करती है । कोई वस्तु देखकर हँसने लगती है, कान खुजलाने लगती है या केश खोलने - गूँधने लगती है, जँभाई लेती है, अँगड़ाती है, अपने बालकको हृदयसे लगाकर चुंबन करती है अथवा अपनी सखियोंके मस्तकपर तिलक लगाती है । पाँवके अँगूठेसे पृथ्वी खोदती है, कटाक्षसे देखती है, अपने अधर चबाती है तथा नीचे मुख करके मधुर भाषण करती है । जहाँसे नायक दिखलाई देता हो उस स्थानको नहीं छोड़ती और किसी न किसी कामके बहानेसे उसके घरपर पहुँच जाती है । अपने कांत की दी हुई वस्तुको शरीरपर धारण करके बारबार देखती

है और उस वस्तुके संयोगसे प्रसन्न होती है तथा उसके वियोगमें दुखी होती है। उसके शीलको बहुत मानती है और उसकी प्यारी वस्तुसे प्यार करती है। प्रियसे अल्प मूल्य (चुंबनादि) ही चाहती है और सोते समय प्रियकी ओर पीठ करके नहीं सोती। उसके सम्मुख स्तंभ, स्वेद, रोमांच आदि सात्त्विक विकारोंका अनुभव करती है। सत्य और मधुर भाषण करती है। इन इंगितों (चेष्टाओं) में नई स्त्रियाँ अधिक लज्जा करती हैं, मध्या कुछ कम लज्जा करती हैं तथा परकीया, प्रगल्भा और गणिका तनिक भी लज्जा नहीं करतीं।]

हरिऔधजीका रसकलस

धनंजय और साहित्यदर्पणकारके इस विवरणके अतिरिक्त लक्षण-ग्रन्थोंमें जहाँ नायक-नायिकाका विवरण आया है वह सब शृङ्गार रसके आलम्बन विभावके रूपमें आया है और वह सब प्रायः वैसा ही है जैसा धनंजयने ऊपर दिया है। इनमें अच्छे और बुरे सभी प्रकारके पुरुषों और अच्छी-बुरी सभी स्त्रियोंका उल्लेख किया गया है।

हरिऔधजीने अपने रसकलसमें पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी नामसे नायिकाओंके चार भेद किए हैं। प्रकृति-सम्बन्धी भेद करते हुए उत्तमाके उन्होंने आठ भेद बताए हैं—पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्म-भूमि-प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोक-सेविका और धर्मप्रेमिका। मध्यमाके भी उन्होंने दो भेद किए हैं—व्यङ्ग्यविदग्धा और मर्मपीडिता। शेष धर्म-सम्बन्धी और स्वभाव-सम्बन्धी भेद वे ही हैं जो अन्य आचार्योंने दिए हैं। इस बीसवीं शताब्दीमें भी उन्होंने सखाके भेदोंमें पीठमर्द, विट और चेटकी कल्पना की है। इस प्रकार कल्पनाशील आचार्योंको सदा यह स्वतन्त्रता रही है कि वे सर्वदा अपनी विवेचनाके अनुसार मनुष्योंके भेद करें।

अन्तर्मुख और बहिर्मुख

अन्तर्मुखबहिर्मुखभेदेन मानवद्विधेति यूंगः॥

[अन्तर्मुख और बहिर्मुख मानव दो प्रकार श्री यूंग कहें।]

यूंगने मनुष्योंकी उस आवेगात्मक लालसाके अनुसार दो भेद किए हैं जो मनुष्यको सब क्रियाओंमें प्रेरित करती हैं—अन्तर्मुख और बहिर्मुख। अन्तर्मुखी व्यक्ति किसी भी पदार्थको देखकर उसपर विचार करता है और मनमें यह सोचता रहता है कि मैं इसकी ओरसे अपनी प्रवृत्ति कैसे हटा लूँ। इसमें सब पदार्थोंकी आकर्षण-शक्ति निरन्तर असफल होती रहती है। जो बहिर्मुख होते हैं वे किसी भी पदार्थको देखकर उसकी ओर प्रवृत्त हुए रहते हैं। उससे कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं और निरन्तर उस पदार्थकी ओर प्रवृत्त होनेमें प्रयत्नशील होते हैं। बहिर्मुखी व्यक्ति अपने पास-पड़ोस तथा सम्पर्कमें आनेवाले व्यक्तियों और वस्तुओंसे समीपतम सम्बन्ध रखते हैं और अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने और वास्तविक जगतके बीच एक अन्तरपट डाले रहता है। इस दृष्टिसे हम बहिर्मुखको लोकानुरक्त कह सकते हैं और अन्तर्मुखको विरक्त या उदासीन। अन्तर्मुखी व्यक्तिको देखकर बहिर्मुखी यही समझता है कि यह विरक्त, उदासीन और स्वप्नातुर व्यक्ति व्यर्थ है, इसका जन्म निरर्थक है। यह धोबीका कुत्ता न घरका है न घाटका और अन्तर्मुखी व्यक्ति इस बहिर्मुखीको निरर्थक, नीरस और नासमझ व्यक्ति मानता है जो भौतिक बातोंके अतिरिक्त न कुछ जानता है न जान सकता है। यूंगने केवल इन्हीं दो भेदोंतक सीमा नहीं बाँधी है। वह कहता है कि ये दो वृत्तियाँ तो केवल मनुष्यकी चेतन प्रवृत्तियोंकी द्योतिका हैं। इनकी अचेतन प्रवृत्तियाँ इनकी चेतन वृत्तियोंकी ठीक विरोधिनी हैं। उसने फिर मनोवैज्ञानिक क्रियाओंके आधारपर अवलम्बित होनेवाले कुछ दूसरे भेद बताए हैं। ये मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ चार हैं—विचारात्मक, अनुभवात्मक आवेगात्मक और अन्तःप्रेरणात्मक। इस दृष्टिसे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी व्यक्तियोंकी चार-चार प्रकृतियाँ हुईं—बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, बहिर्मुखी आवेगात्मक प्रकृति और बहिर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृति, अन्तर्मुखी आवेगात्मक प्रकृति और अन्तर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृति।

इनमेंसे जो बहिर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिवाले

होते हैं वे नीतिवादी या आचारवादी होते हैं। वे नीति या सदाचरणसे कभी टससे मस नहीं होते।

बहिर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले यह मानते हैं कि जिससे हमें सुख मिले, शान्ति मिले, सहारा मिले वही ठीक है, वही अच्छा है, शेष सब बुरे और अग्राह्य हैं।

बहिर्मुखी आवेगात्मक प्रकृतिवाले 'परान्नं दुर्लभं लोके' 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' तथा 'खाओ पिओ आनन्द करो' का सिद्धान्त मानते हैं, भोग-विलासमें उनका मन लगता है, सुन्दर भोजन और सुन्दरीसे उनकी मनस्तृप्ति होती है।

बहिर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृतिवाले लोग भावी सम्भावनाओंके लिये अपनी अन्तःप्रेरणाओंका प्रयोग करते हैं। ये उस प्रकारके होते हैं जो कहा करते हैं—मेरा मन कह रहा है कि ऐसा होगा ही। यह प्रकृति स्त्रियोंमें विशेष रूपसे होती है और इसका प्रयोग वे इन बातोंका निर्णय करनेमें भी करती हैं कि किस व्यक्तिसे मिलना चाहिए, कैसे कपड़े पहननेसे अधिक प्रभाव पड़ेगा और कैसे व्यक्तिसे प्रेम करना चाहिए। पुरुषोंमें व्यापारी, ठेकेदार, सट्टेवाले और राजनीतिज्ञ इसी प्रवृत्तिके होते हैं।

जो अन्तर्मुखी विचारात्मक प्रकृतिके होते हैं वे अपने विचारोंसे प्रभावित होकर मन ही मन मनन करते रहते हैं। दार्शनिक पुरुष इसी प्रकृतिके होते हैं। ऐसे राजनीतिक व्यक्ति भी इसी श्रेणीमें आते हैं जो अपने किसी दार्शनिक सिद्धान्तके प्रयोगके लिये सारी जाति या देशको दाँवपर लगा देते हैं। इस प्रकृतिके लोग प्रायः बेढंगे कपड़े पहनते हैं, सदा चिन्तनशील रहते हैं, सदा कुछ न कुछ भूले रहते हैं और दूसरोंसे खुलकर नहीं मिलते।

अन्तर्मुखी अनुभवात्मक प्रकृतिवाले घुन्ने होते हैं अर्थात् अपने मनकी बात किसीको जानने नहीं देते। ये मौन रहते हैं, दूसरोंके साथ सहानुभूति दिखाते हैं, आत्मचिन्तनसे दूर रहते हैं और अपनी प्रकृतिको बहुत ही समन्वयात्मक रखते हैं। स्त्रियाँ प्रायः इसी प्रकृतिकी होती हैं। इनकी यह प्रवृत्ति होती है कि बाहर तो वे अपने मनोवेगोंको नहीं दिखातीं किन्तु भीतर ही भीतर इनके हृदयमें मनोवेगोंकी भीषण ज्वाला जलती रहती है, विशेषतः ईर्ष्या की।

अन्तर्मुखी आवेगात्मक प्रकृतिवाला व्यक्ति प्राप्य या इष्ट वस्तुके साथ अपने आवेगोंका ठीक अनुपात नहीं सँभाल पाता। वह उसके लिये ऐसी विचित्र-विचित्र पौराणिक कल्पना करता है जहाँ मनुष्य, पशु प्रकृति, नदी, पहाड़ सब ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनका कुछ अंश उदार देवताका हो और कुछ अंश अनुदार राक्षसका। ऐसे लोग प्रायः कलाकार होते हैं। कवि, चित्रकार मूर्तिकार, संगीतज्ञ आदि इसी श्रेणीमें आते हैं और अपने मनकी मस्तीके अनुसार बाहरी संसारसे अपना व्यवहार रखते हैं।

अन्तर्मुखी अन्तःप्रेरणात्मक प्रकृतिके लोग सदा आदर्शवादी विचारोंमें मग्न रहते हैं। भविष्यवक्ता, पैगम्बर तथा इस प्रकारकी रहस्यमयी आध्यात्मिक प्रकृतिवाले सभी इस श्रेणीके अन्दर आते हैं जो सदा रहस्यमय बातोंमें मग्न रहते हैं। ऐसे सनकी भी इसी श्रेणीमें आते हैं जो दिन-रात लम्बी-चौड़ी भूमिका बाँधा करते हैं और कल्पनाके पुल बनाते रहते हैं। वे कलाकार और कवि भी इसी श्रेणीके हैं जो ऐसे विचित्र रहस्यात्मक दृश्यों और काव्योंकी कल्पना करते हैं जो न तो कभी खींचे जा सकते और न लिखे जा सकते हैं। ऐसी प्रकृतिके अन्तर्गत ये लोग भी आते हैं—अनादृत प्रतिभाशील व्यक्ति, पथभ्रष्ट महापुरुष, सरल बुद्धिमान तथा वे लोक-हितकारी व्यक्ति जो सदा उपेक्षित विषयोंका पक्ष लेकर निरर्थक चिल्लाते रहते हैं।

योरोपीय आचार्यों के बताए हुए अन्य भेद

अन्येऽपि भेदाः।

[और भी हैं भेद ॥]

विलियम जेम्सने मनुष्योंकी दो प्रकृति बताई है कठोर और कोमल। शिल्लेरने कहा है कि मनुष्य दो प्रकारके होते हैं। एक आदर्शवादी दूसरे यथार्थवादी। अंग्रेज वैद्य फर्न्यो जौर्डनने दो प्रकारके व्यक्ति बताए हैं। एक अधिक आवेगात्मक और दूसरे कम आवेगात्मक। क्रेट्शमेरने चार प्रकारके मनुष्य बताए हैं, एक दुर्बल

प्रकृति, दूसरे सबल प्रकृति, तीसरे मस्त प्रकृति और चौथे निरर्थक प्रकृति। दुर्बल प्रकृतिके लोग दुबले पतले लम्बे तथा चोंचदार नाकवाले होते हैं। सबल प्रकृति वाले भरे मुखके, लम्बे-चौड़े और तगड़े होते हैं। मस्त प्रकृतिके लोग पंचकोणी मुखवाले सदा प्रसन्न-चित्त और सबसे मित्रताका भाव रखते हैं। निरर्थक व्यक्ति सदा किसी न किसी रोगसे ग्रस्त रहते हैं, न वे किसी अवस्थामें संतुष्ट रहते हैं न उनसे कोई संतुष्ट रहता है।

अरस्तूका मत

इस सम्बन्धमें सबसे विचित्र बात यह है कि योरोपीय नाट्य-शास्त्रके आचार्य अरस्तूने केवल मोटे रूपमें अच्छे और बुरे दो प्रकारके मनुष्य बताते हुए यह कह दिया है—

'क्योंकि अनुकरणके विषय मनुष्यके चरित्र ही हैं और ये मनुष्य या तो उच्च श्रेणीके होंगे या नीच श्रेणी के क्योंकि नैतिक चरित्रसे मुख्यतः इन्हीं दोनोंका ज्ञान होता है। अच्छाई और बुराई ही नैतिक भेद बतानेवाले विशिष्ट चिह्न हैं, अतः यह फल निकला कि या तो मनुष्योंका चित्रण हम उनके वास्तविक जीवनकी अपेक्षा कुछ अधिक अच्छा करें या कुछ अधिक बुरा या ठीक वैसा ही जैसे वे हैं।"

उच्च और अपराधी प्रकृति

वर्त्तमान नाट्याचार्योंने रंगशाला तथा चल-चित्र दोनोंकी दृष्टिसे दो प्रकृतिके मनुष्य बताए हैं—एक उच्च प्रकृतिके, जिनमें आत्म-त्यागी, वीर, साहसी, दानी, दयालु, सिद्धान्तवादी, मस्त, परोपकारी, लोक-सेवक, आशावादी, सदाचारी और धर्मभीरु या ईश्वर-भीरुकी गणना की गई है, दूसरे अपराधी प्रकृतिके, जिनमें अकारण दूसरोंको तंग करने या कष्ट देनेवाले, चुगली खानेवाले, अभिमानी, कामी, क्रोधी, अनुरक्त, उदासीन, कायर और हत्यारोंकी गणना की गई है। इन दो प्रकृतियोंका अलग-अलग वर्णन करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि बहुतसी ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य करनेको तत्पर हो जाता है। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित प्रकारकी हो सकती हैं।

१—असह्य हानि (धन, जन या प्रतिष्ठाकी)

२—क्रोध (अपनेपर या अपने इष्टपर संकट आने तथा कोई अप्रत्याशित घटना घटनेपर)।

योरोपीय जीवन का ध्यान करके ही उन्होंने इस प्रकारका वर्गीकरण किया है किन्तु उसे व्यापक रूपसे या सार्वभौम रूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। सृष्टि गुणावगुणमयी है। कोई भी व्यक्ति एकदम अच्छा या एकदम बुरा नहीं हो सकता। जैसा गोस्वामी तुलसीदासने कहा है—

सगुन छीर अवगुन जल ताता।
मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥

सारी सृष्टि ही गुण और अवगुणके मेलसे बनी है। संखिया विष है किन्तु परिमित मात्रामें स्वास्थ्यके लिये बड़ा गुणकारी है। इसी प्रकार मधु और घी दोनों शक्ति-वर्धक और लाभप्रद हैं किन्तु समान परिमाणमें मिला देनेपर विष हो जाते हैं। यही बात मनुष्यके विषयमें है। बहुतसे मनुष्य संस्कारतः मृदुभाषी और कोमल स्वभावके होते हैं किन्तु कभी-कभी वे अत्यधिक कठोर भी हो जाते हैं। कोई व्यक्ति किसी समय किसीसे अच्छा व्यवहार करता है और किसी दूसरे समय कठोर बन जाता है। अतः किसी व्यक्तिका मूल्य आकस्मिक प्रसंगमें उसके व्यवहारसे नहीं आँका जा सकता क्योंकि जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि साधारण मनुष्य परिस्थितियोंका दास होता है। ऐसे मनुष्य थोड़े हैं जो परिस्थितियोंका स्वामित्व करते हैं और अपने गुण, चरित्र, तथा स्वभावसे परिस्थितियोंको बदल देते हैं किन्तु ऐसे व्यक्ति लोकोत्तर होते हैं जिनके लिये भगवान श्रीकृष्णने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगन्तव्यं ममतेजोंऽशसम्भवः॥

[संसारमें जो भी विभूतिमान्, श्रीमान् और तेजयुक्त दिखाई पड़ें उन सबको मेरा अवतार समझना चाहिए।]

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रायः मानव चरित्रके आलोचक किसीका आचरण देखकर अपने-अपने सामाजिक मान-दण्डसे उसको नैतिकताकी परीक्षा करने लगते हैं। नीति और अनीति दोनों सापेक्ष हैं। एक ही कार्य एक स्थानपर नीति है और दूसरे स्थानपर अनीति। यदि हम किसीको सूई चुभो दें तो यह कार्य अनैतिक होगा किन्तु यदि कोई आधुनिक वैद्य किसी

के पूर्ण न होनेसे ही मनुष्य अपराध या अनीति करनेको बाध्य होता है और जब इच्छाएँ या वासनाएँ पूरी होती हैं तभी वह भला होता है क्योंकि उस समय अपराधकी आवश्यकता ही नहीं होती। बालक देवतुल्य है उसमें सब वासनाएँ सत् होती हैं यहाँतक कि जो कामवासना होती है वह भी सत् होती है। उसकी पूर्ति होनेसे भी मनुष्य संत बनता है, किन्तु यदि वह वासना तृप्त नहीं होती या दबा दी जाती है तो आगे चलकर दबी हुई भावनाएँ रोग या अनीतिका रूप ग्रहण कर लेती हैं और ऐसे लोग भयंकर नरपिशाच या भयंकर रोगी हो जाते हैं।

अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति

मनुष्यके चरित्र-विकासका क्रम बताते हुए मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि व्यक्ति जैसा बारबार करता है वह उसका अभ्यास हो जाता है, और जैसे जैसे अभ्यास बनते चलते हैं उसीके अनुसार मनुष्यका चरित्र भी बनता है। ये अभ्यास ही हमारे नैतिक जीवनके आधार हैं। अच्छे अभ्याससे अच्छा चरित्र बनता है और बुरे अभ्याससे बुरा। एक जैसी विभिन्न परिस्थितियोंमें मनुष्यकी मानसिक और आंगिक प्रतिक्रियाका नियमित रूप ही चरित्र कहलाता है। यह प्रतिक्रिया मनुष्यके अभ्यस्त विचारोंसे सम्बद्ध होती है। एक प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंमें जब मनुष्य एकसा ही आचरण करता है तब वह उसका चरित्र समझा जाता है। एक लेखकने इसे बहुत सुन्दरताके साथ समझाया है। वह कहता है कि प्रायः किसी भी सुन्दरीको देखकर प्रत्येक व्यक्तिका मन उसकी ओर आकृष्ट होता है और वह यह चाहता है कि यह मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु सामाजिक दण्ड, लोकनिन्दा, राजनियम आदिके भयसे वह स्वयं प्रयत्न-शील नहीं होता, किन्तु यदि वह स्त्री स्वयं प्रयत्नशील हो तो उसे ग्रहण करनेमें वह संकोच भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं होता। किन्तु जो मनुष्य एकान्तमें स्वयं आत्मसमर्पण करनेवाली सुन्दरीको भी माता या बहन कहकर सम्बोधित करता है, उस व्यक्तिमें चरित्र है। यह चरित्र उसकी इच्छा शक्तिकी साधनाका परिणाम है। अर्थात् जब मनुष्य अपने कार्योंकी सब गति स्वयं अपनी इच्छासे नियुक्त करता है, किसी भी प्रेरणा या दंडके भयसे गतिशील नहीं होता तो उसकी यही गतिकी निर्णायिका शक्ति ही इच्छा-शक्ति कहलाती है। यह इच्छाशक्ति जितनी प्रबल और दृढ़ होगी उतना ही चरित्र भी विशिष्ट होता चला जायगा और ऐसे व्यक्ति या तो परम दुष्ट ही होंगे या परम साधु ही। इसके विपरीत यह इच्छाशक्ति जितनी ही परावलम्बी और दुर्बल होगी, मनुष्यमें उतनी ही चारित्रिक हीनता होगी और वह सदा ढुलमुल, अव्यवस्थित, परमुखापेक्षी होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक विषयमें या एक प्रसंगमें किसी मनुष्यकी इच्छा-शक्तिकी दृढ़तासे चरित्र नहीं आँका जा सकता। अधिकसे अधिक परिस्थितियोंमें जो व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति स्वाधीन रखता है, उसीसे उसका चरित्र पहचाना जा सकता है। अतः मनुष्यके चरित्रकी पहचानका साधन हुई उसकी इच्छा शक्ति।

स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले

ट्रौटरने मनुष्योंको दो भागोंमें विभक्त किया है—स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले। उसका कहना है कि स्थिर चित्तवाले लोग जिस समाज या वर्गमें रहते हैं उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषयमें उनका स्थिर मत होता है। वह अपना मत झटसे नहीं बदल देता और न उनपर तर्क करना जानता है। अस्थिर चित्तवाले सदा मत बदलते रहते हैं और अनुभवके अनुसार अपनी मनोवृत्ति और प्रकृति भी बदलते रहते हैं।

कल्पनाशील और संस्कारशील

आस्टवाल्डने मानवताको दो भागोंमें विभक्त किया है—कल्पनाशील (रोमैन्टिक टाइप) और संस्कारशील (क्लैसिकल टाइप)। कल्पनाशील प्रकृतिवाले व्यक्तिके विचार बड़े वेगसे चलते हैं, वह बहुधन्वी होता है। संस्कारशील व्यक्ति धीरे धीरे सोचता है और एक ही कार्यमें प्रवृत्त रहता है। कल्पनाशील प्रकृतिके व्यक्तिका बहुत अधिक व्यक्तिगत प्रभाव पड़ता है और वह अपने श्रोताओं या शिष्योंको बड़ी शीघ्रतासे वशमें कर लेता है और निरन्तर लोकप्रियता साधनेमें लगा रहता है। संस्कारशील प्रकृतिका मनुष्य अधिक एकान्तप्रिय होता है और लोकप्रियताकी चिन्ता नहीं करता।

रोगीका पेट चीरकर शल्यकर्म करता है तो वह अनैतिक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति किसी बालक या स्त्रीको निर्दयतासे पीट रहा हो और उसपर क्रुद्ध होकर यदि हम उस व्यक्तिपर हाथ चला दें तो यह अनैतिक कार्य न होगा क्योंकि हमने अनीतिको रोकनेके लिये यह कार्य किया है। यद्यपि वृक्षमें मनुष्य फल नहीं लगाता ईश्वर ही लगाता है किन्तु यह बहाना लेकर हम किसीके उपवनसे फल तोड़कर नहीं खा सकते। अतः कोई भी कार्य स्वतः अच्छा या बुरा नहीं होता। प्रत्येक कार्यकी नैतिकता उसके कर्ताके उद्देश्यपर अवलम्बित होती है। जब कर्ताका उद्देश्य स्फुट या प्रत्यक्ष होता है तब उसके चरित्रका निर्धारण करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु जब कर्ता अपने उद्देश्यको गुप्त रक्खे रहता है तब उसकी नैतिकतामें भ्रम हो जाना अधिक सम्भव हो जाता है और ऐसी अनेक घटनाएँ होती हैं जहाँ कोई साधु पुरुष दूसरेका दोष अपने सिरपर ले लेता है और दूसरेकी रक्षाके लिये अपना सर्वस्व यहाँतक कि मान, यश, प्रतिष्ठा, धन और प्राणतक गवाँ बैठता है। लोग समझते हैं कि वह दुष्ट और ढोंगी था किन्तु अन्ततक किसीको यह ज्ञात नहीं होता कि वह परम उत्कृष्ट श्रेणीका महापुरुष था। इस प्रकारका चरित्र नाटकके लिये अत्यन्त अनुवादेय होता है और जिन लोगोंने ऐसे चरित्र अपने नाटकोंमें लिए हैं उन सबने किसी-न-किसी प्रकारसे भेद खोलकर उसका महत्त्व परमावधिपर स्थापित करनेकी चेष्टा भी की है। यदि वे ऐसा न करते तो दर्शक भी उस पात्रके प्रति घृणा लेकर जाते और वह काव्य या नाटक [illegible] हो जाता। किन्तु काव्य तो सत्यका प्रस्थापक होता है और [illegible] किसी-न-किसी प्रकार उस सत्यकी स्थापना [illegible] है। यही सत्य-स्थापन ही काव्य सत्य [illegible] है जिसपर विद्वानोंने बहुत शास्त्रार्थ किया है। इस [illegible] यह हुआ कि मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा [illegible] उद्देश्यपर अवलम्बित है। इसीलिये [illegible] मनुष्योंका [illegible] करते समय उनके आचरणोंका [illegible] उनके उद्देश्योंपर विचार करना चाहिए।

कुलपरंपरा और संगतिका संस्कार

[illegible] मनोविज्ञानियों और मनोविश्लेषणशास्त्रियोंने [illegible] स्वीकार किया है। मनो-[illegible] प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुलपरम्परासे कुछ संस्कार ग्रहण करता है। इनमेंसे कुछ शारीरिक संस्कार होते हैं कुछ मानसिक। पिता या माताके समान चलने, बैठने, हँसने या बात करनेका ढंग बहुतसे बालकोंमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। यह शारीरिक संस्कार है किन्तु इसके अतिरिक्त ईर्ष्या करना, दूसरेकी उन्नति देखकर कुढ़ना, चिन्तित रहना ये सब मानसिक संस्कार हैं। ये दोनों प्रकारके संस्कार बालकमें जन्मतः आ जाते हैं किन्तु कुछ संस्कार ऐसे हैं जो संगके द्वारा मनुष्य अपना लेता है। बात-चीतका शिष्टाचार, विनय आदि अच्छे गुण और बीड़ी सिगरेट पीना, चोरी करना, दूसरेको हानि पहुँचाना आदि अवगुण सब संगतिसे ही सीखे जाते हैं। इस संग या वातावरणके अनुसार बहुतसे कुलपरम्पराके संस्कार छूट भी सकते हैं और बढ़ भी सकते हैं। मनुष्यके चरित्रपर दोनोंका प्रभाव पर्याप्त रूपमें पड़ता है। इस विषयमें बहुतसे अपवाद भी होते हैं। अच्छे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे लोग समाजके शत्रु सिद्ध हुए हैं और बुरे कुलमें उत्पन्न होनेवाले बहुतसे महापुरुष भी हुए हैं। इसी प्रकार कुसंगमें रहनेपर भी बहुतसे लोग भले बने रह सके हैं जिनके लिये रहीमने कहा है—

> जो रहीम उत्तम प्रकृति का करि सकत कुसंग।
> चंदन विष व्यापत नहीं लपटे रहत भुजंग॥

किन्तु ऐसे भी कम उदाहरण नहीं है कि सज्जन पुरुष कुसंगमें पड़कर बिगड़ जाता है—

> काजरकी कोठरीमें कैसोहू सयानो जाय,
> एक रेख काजरकी लागिहै पै लागिहै।

और ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ सज्जनोंकी संगतिमें रहकर दुष्टोंने अपनी दुष्टता नहीं छोड़ी है। और कुछ नहीं तो इतना ही हुआ कि चोर चोरीसे गया किन्तु हेराफेरीसे नहीं गया। तात्पर्य यह हुआ कि वातावरण या संगतिका तथा कुल और संस्कृतिका प्रभाव अवश्य पड़ता है किन्तु कुछ ऐसे अपवाद अवश्य हो जाते हैं जिन्हें न कुल प्रभावित कर सकता है न संगति। फिर भी मनोविज्ञानियोंका यही कहना है कि मनुष्यका चरित्र कुल-संस्कारों और संगतिसे ही बनता है। मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंका यह कहना है कि बाल्यकालमें प्रत्येक मनुष्यकी कुछ इच्छाएँ होती हैं। उन इच्छाओंकी पूर्ति होती रही तो मनुष्य भला बन जाता है। क्योंकि इच्छा या वासना-

के पूर्ण न होनेसे ही मनुष्य अपराध या अनीति करनेको बाध्य होता है और जब इच्छाएँ या वासनाएँ पूरी होती हैं तभी वह भला होता है क्योंकि उस समय अपराधकी आवश्यकता ही नहीं होती। बालक देवतुल्य है उसमें सब वासनाएँ सत् होती हैं यहाँतक कि जो कामवासना होती है वह भी सत् होती है। उसकी पूर्ति होनेसे भी मनुष्य संत बनता है, किन्तु यदि वह वासना तृप्त नहीं होती या दबा दी जाती है तो आगे चलकर दबी हुई भावनाएँ रोग या अनीतिका रूप ग्रहण कर लेती हैं और ऐसे लोग भयंकर नरपिशाच या भयंकर रोगी हो जाते हैं।

अभ्यास, आचरण और इच्छाशक्ति

मनुष्यके चरित्र-विकासका क्रम बताते हुए मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि व्यक्ति जैसा बारबार करता है वह उसका अभ्यास हो जाता है, और जैसे जैसे अभ्यास बनते चलते हैं उसीके अनुसार मनुष्यका चरित्र भी बनता है। ये अभ्यास ही हमारे नैतिक जीवनके आधार हैं। अच्छे अभ्याससे अच्छा चरित्र बनता है और बुरे अभ्याससे बुरा। एक जैसी विभिन्न परिस्थितियोंमें मनुष्यकी मानसिक और आंगिक प्रतिक्रियाका नियमित रूप ही चरित्र कहलाता है। यह प्रतिक्रिया मनुष्यके अभ्यस्त विचारोंसे सम्बद्ध होती है। एक प्रकारकी विभिन्न परिस्थितियोंमें जब मनुष्य एकसा ही आचरण करता है तब वह उसका चरित्र समझा जाता है। एक लेखकने इसे बहुत सुन्दरताके साथ समझाया है। वह कहता है कि प्रायः किसी भी सुन्दरीको देखकर प्रत्येक व्यक्तिका मन उसकी ओर आकृष्ट होता है और वह यह चाहता है कि यह मुझे प्राप्त हो जाय, किन्तु सामाजिक दण्ड, लोकनिन्दा, राजनियम आदिके भयसे वह स्वयं प्रयत्न-शील नहीं होता, किन्तु यदि वह स्त्री स्वयं प्रयत्नशील हो तो उसे ग्रहण करनेमें वह सकोच भी नहीं करता। ऐसे व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं होता। किन्तु जो मनुष्य एकान्तमें स्वयं आत्मसमर्पण करनेवाली सुन्दरीको भी माता या बहन कहकर सम्बोधित करता है, उस व्यक्तिमें चरित्र है। यह चरित्र उसकी इच्छा शक्तिकी साधनाका परिणाम है। अर्थात् जब मनुष्य अपने कार्योंकी सब गति स्वयं अपनी इच्छासे नियुक्त करता है, किसी भी प्रेरणा या दंडके भयसे गतिशील नहीं होता तो उसकी यही गतिकी निर्णायिका शक्ति ही इच्छा-शक्ति कहलाती है। यह इच्छाशक्ति जितनी प्रबल और दृढ़ होगी उतना ही चरित्र भी विशिष्ट होता चला जायगा और ऐसे व्यक्ति या तो परम दुष्ट ही होंगे या परम साधु ही। इसके विपरीत यह इच्छाशक्ति जितनी ही परावलम्बी और दुर्बल होगी, मनुष्यमें उतनी ही चारित्रिक हीनता होगी और वह सदा ढुलमुल, अव्यवस्थित, परमुखापेक्षी होगा। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि एक विषयमें या एक प्रसंगमें किसी मनुष्यकी इच्छा-शक्तिकी दृढ़तासे चरित्र नहीं आँका जा सकता। अधिकसे अधिक परिस्थितियोंमें जो व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति स्वाधीन रखता है, उसीसे उसका चरित्र पहचाना जा सकता है। अतः मनुष्यके चरित्रकी पहचानका साधन हुई उसकी इच्छा शक्ति।

स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले

ट्रौटरने मनुष्योंको दो भागोंमें विभक्त किया है—स्थिर चित्तवाले और अस्थिर चित्तवाले। उसका कहना है कि स्थिर चित्तवाले लोग जिस समाज या वर्गमें रहते हैं उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषयमें उनका स्थिर मत होता है। वह अपना मत झटसे नहीं बदल देता और न उनपर तर्क करना जानता है। अस्थिर चित्तवाले सदा मत बदलते रहते हैं और अनुभवके अनुसार अपनी मनोवृत्ति और प्रकृति भी बदलते रहते हैं।

कल्पनाशील और संस्कारशील

आस्टवाल्डने मानवताको दो भागोंमें विभक्त किया है—कल्पनाशील (रोमैन्टिक टाइप) और संस्कारशील (क्लैसिकल टाइप)। कल्पनाशील प्रकृतिवाले व्यक्तिके विचार बड़े वेगसे चलते हैं, वह बहुधन्धी होता है। संस्कारशील व्यक्ति धीरे धीरे सोचता है और एक ही कार्यमें प्रवृत्त रहता है। कल्पनाशील प्रकृतिके व्यक्तिका बहुत अधिक व्यक्तिगत प्रभाव पड़ता है और वह अपने श्रोताओं या शिष्योंको बड़ी शीघ्रतासे वशमें कर लेता है और निरन्तर लोकप्रियता साधनेमें लगा रहता है। संस्कारशील प्रकृतिका मनुष्य अधिक एकान्तप्रिय होता है और लोकप्रियताकी चिन्ता नहीं करता।

सब मतोंके दोष

§ मतान्यमतानि ॥

[सभी अमत हैं ऊपरके मत ।]

ऊपर जितने प्रकारसे मानव-चरित्रके भेद किए गये हैं, ये प्रायः सभी भ्रामक हैं। नाट्य-शास्त्र, भावप्रकाशन, और दशरूपककारने मानव प्रकृतिमें या तो उनका विवरण दिया है जो संगीत और नाट्यमें सहायक होते हैं, जैसे नट, भरत, कुशीलव आदि या फिर नाटकमें प्रयुक्त होनेवाले राजकी नायकोंके परिजनोंका विस्तृत परिचय दिया है। भरतने ऊपर चौबीसवें अध्यायमें तीन प्रकारकी लोक-प्रकृति बताई है—उत्तम, मध्यम, अधम और उनके गुणों तथा अव गुणोंका जो विवरण दिया है वह भी ठीक ही है। किन्तु जब भावप्रकाशनसे उसके पीछेके अध्यायकी तुलना की जाती है तो जान पड़ता है कि ये संगीतके प्रयोक्ताओंसे तथा प्रेक्षकोंसे अधिक सम्बद्ध हैं। शारदातनयने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि राजा और राजपरिजनकी प्रकृति समझकर ही इन प्रयोक्ताओंको तदनुकूल संगीतकी योजना करनी चाहिए। नाट्य शास्त्रमें भी यह प्रसङ्ग वाद्य-प्रकरणके पश्चात् ही लाया गया है। इसलिये भी शारदातनयका ही विचार ठीक प्रतीत होता है। अन्य लक्षण-ग्रन्थोंमें जहाँ अनेक प्रकारके नायक-नायिकाओंका वर्णन है उन सबका सम्बन्ध शृङ्गार रससे है और वह इतना पुराना हो गया है कि उसके अनुसार अब नायक या नायिकाओंके भेद नहीं किए जा सकते। हम ऊपर ही विवेचन कर चुके हैं कि इस युगमें नायक और नायिकाओंकी बहुतसी समस्याएँ सुलझ गई हैं। रातको देरसे लौटे हुए या दूसरे दिन प्रातःकाल आए हुए आजकलके किसी नायकके ओठपर न तो किसी नायिकाके ओठका काजल ही मिलता है न उसके माथेपर [illegible] ही दिखाई पड़ती है। यह सब बातें [illegible] हो गई हैं इसलिये खण्डिता नायिका [illegible] ही नहीं पाई है। इसी प्रकार इस विज्ञानके युगमें [illegible] हो गई हैं। [illegible] भी अब नहीं रहे जिनके [illegible], [illegible], [illegible] और [illegible] हों। इस युगमें न तो उनकी आवश्यकता है न [illegible]। हाँ [illegible] नाटकोंके [illegible] लिये [illegible] हो सकता है।

योरोपीय मनोवैज्ञानिकोंने तो और भी अन्धाधुन्ध वर्गीकरण किया है। एक ओर वे कहते हैं कि मनुष्यकी इच्छाशक्ति ही उसके चरित्रकी द्योतिका है। दूसरी ओर वे कुल-संस्कार और संगतिका प्रभाव भी मानते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मनुष्य परिस्थितियोंका दास है। ये तीनों बातें परस्पर विरोधिनी हैं। यूंगने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रकृतिके नामसे जो दो भेद किए हैं वे और भी अधिक भ्रामक हैं। वे भेद केवल अपवाद-स्वरूप स्थिर प्रकृतिवालोंके लिये तो ग्राह्य हो सकते हैं किन्तु साधारण मानव-समाजके लिये उसका आरोप हम नहीं कर सकते। एक व्यक्ति न्यायाधीशके आसनपर बैठकर सदा अन्तर्मुखी रहता है किन्तु वही अपनी मित्र मंडलीमें बैठकर बहिर्मुखी हो जाता है। संस्कृतके गम्भीर कवि जयदेव बहुत बड़े तार्किक भी थे। उनसे किसी ऐसे ही व्यक्तिने पूछ दिया—

> कविता तर्कयोः कथं समवायः ।

[कविता और तर्क इन दोनोंका गठबन्धन कैसे हुआ।]

इसपर जयदेवने जो उत्तर दिया वह यूंगवादियोंके लिये सर्वश्रेष्ठ उत्तर है। उसने कहा—

> येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती ।
> तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ॥
> यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता—
> स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीयाः शराः ॥

[जिनकी कोमल काव्यकलासे सरस्वती लीलामयी बन जाती है, वे यदि कठोर तर्कके टेढ़े वचन कहें तो उनका बिगड़ता क्या है। जिन लोगोंने कान्ताके कुच-मण्डलपर आनन्दके साथ उँगलियाँ फेरी हैं उन्होंने क्या चोटीके मतवाले हाथियोंके मस्तकपर बाण नहीं चलाए हैं।]

इसकी ध्वनि यही है कि सभी प्रकार मनुष्योंमें सभी प्रकारकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, कुछ थोड़ी कुछ अधिक। इनमें कोई कोई अपवाद स्वरूप होते हैं जो या तो महापुरुष ही होते हैं या पराकाष्ठाको पहुँचे हुए नरपिशाच हो। अतः उपर्युक्त कोई भी भेद मान्य नहीं माने जा सकते।

हमारे यहाँ सामुद्रिक शास्त्रमें तथा काम-शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीके बहुतसे भेद किए गये हैं और लक्षण बताये गए हैं। स्वयं मनु भगवानने भी लिखा है—

द्विधा कृत्वात्मनोदेहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥

[विधाता ने अपनी देहके दो विभाग करके आधेसे पुरुषकी सृष्टि की और आधेसे स्त्रीकी सृष्टि की।] और इस प्रकार यह पुरुष स्त्रीमय सृष्टि आरम्भ हो गई।

शशमृगवृषाश्वभेदेन चतुर्धा कामतन्त्रे।

[शश, मृग वृष, हय कामशास्त्रमें चार भेद नरके बतलाए।]

कामशास्त्रियोंने पुरुषोंके चार भाग किए। रतिमंजरीमें बताया गया है कि पुरुष चार जातिके होते हैं— शश, मृग, वृष और अश्व। जो लोग कोमल वाणीवाले सुशील, कोमलाङ्ग, उत्तम केशवाले, सर्वगुण-सम्पन्न और सत्यवादी होते हैं वे शश जातिके होते हैं। जो लोग मधुर बोलनेवाले बड़ी-बड़ी आखोंवाले, अत्यन्त भीरु, चपल मतिवाले, सुदेह और शीघ्रगामी होते हैं वे मृगजातिके पुरुष होते हैं। जो लोग बहुगुण-सम्पन्न, अनेक बन्धु-बान्धवोंवाले, शीघ्रतासे काम करनेवाले, झुके हुए अंगोंवाले, सुन्दर देहवाले और सत्यवादी होते हैं वे वृष जातिके होते हैं। जो लोग पतली कमर और पतले उदरवाले होते हैं, जिनके गले और ओठ मोटे तथा दाँत, नाक, कान बड़े होते हैं, वे अश्व जातिके पुरुष होते हैं।

रसमञ्जरीमें पुरुषोंका लक्षण बताते हुए सच्चे पुरुषका लक्षण लिखा है—

पात्रे त्यागी गुणे रागी, भोगी परिजनैः सह।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पुरुषः पञ्चलक्षणम्॥

[जो सत्पात्रको दान देते हैं, गुणोंसे प्रेम करते हैं, परिजनोंके साथ मिलकर सुख भोग करते हैं, भली प्रकार शास्त्र जानते हैं और युद्धक्षेत्रमें पराक्रम दिखाते हैं, वे पुरुष कहलाते हैं।

सामुद्रिक शास्त्रमें विस्तारसे पुरुषके शुभ और अशुभ लक्षणोंका विवरण दिया है जिसमें यह बताया गया है कि किस प्रकारके अंगवाला व्यक्ति किस भाग्यका होता है। बृहत्संहिताके अड़सठवें अध्यायमें विस्तारसे अनेक प्रकारके पुरुषोंका वर्णन देकर उनका भाग्य निर्णय किया है। उसीमें परिमाणके अनुसार भी उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं। जो अपने हाथकी उँगलीसे १०८ अंगुल ऊँचा होता है वह उत्तम, ९६ अंगुलतक मध्यम और ८४ अंगुलतकका अधम माना जाता है। ये सब पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश देवता, नर, राक्षस, पिशाच और पशु-पक्षी स्वभावके होते हैं। सुन्दर पुष्पके समान गन्धयुक्त, सम्भोग-निपुण, सुन्दर, विश्वासयुक्त तथा स्थिर चित्तवाले पृथ्वी स्वभावके होते हैं। अत्यन्त जल पीनेवाले, स्त्री-लोलुप और रसभोगीका जल-स्वभाव होता है। अत्यन्त चंचल, तीक्ष्ण (बात बातमें तिन्ना जानेवाले), भयंकर, क्षुधातुर लोग तेज प्रकृतिके होते हैं। दुबले और क्रोधी वायु प्रकृतिके तथा निपुण, खुले मुखेवाले, दूसरेकी बोली पहचाननेवाले लोग आकाश प्रकृतिके होते हैं। त्यागी, मृदु क्रोध हीन और स्नेही लोग देव प्रकृतिके होते हैं। गीत प्रिय, आभूषण प्रिय तथा निरन्तर सद्वस्तुओंका विभाजन करनेमें चतुर लोग नर प्रकृतिके होते हैं। अत्यन्त क्रोधी, दुष्ट और पापात्मा राक्षस प्रकृतिके होते हैं। चपल, गन्दे, बहुत बकवादी और स्वार्थी लोग पिशाच प्रकृतिके होते हैं। जो पुरुष शार्दूल [गेंडा] हंस मतवाले हाथी, साँड़ या मोरकी तरह चलते हैं वे अच्छे पुरुष होते हैं। बृहत्संहितामें जो यह भेद दिया गया है वह अन्य भेदोंसे स्पष्ट और व्यापक नहीं पड़ता है। बृहत्संहिताकारने विभिन्न पदार्थोंके अनुसार मनुष्योंका स्वभाव विभाजन किया है। यह स्वभाव-विभाजन एक प्रकारसे पूर्ण और विस्तृत है तथा संसार भरके जितने मानव-स्वभाव सम्भव हो सकते है सब इसमें आ सकते हैं। फिर भी यह विभाजन इतना स्पष्ट नहीं है कि नाटकीय पात्रोंके शील निर्देशनके लिए इसे कसौटी मान ली जाय।

जिस प्रकारसे पुरुषोंका श्रेणीविभाजन किया गया है उसी प्रकार स्त्रियोंका भी श्रेणीविभाजन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें उत्तमा, मध्यमा और अधमा तीन प्रकारकी स्त्रियाँ बताई गई हैं। इन्हींको क्रमशः साध्वी, भोग्या और कुलटा भी कहते हैं। जो स्त्री प्राणान्त होनेपर भी परपुरुषके साथ संसर्ग नहीं करती, पतिके साथ ही देवता, द्विज और अतिथिकी पूजा करती है, व्रत, उपवासादि नियमोंका पालन करती है वह उत्तमा स्त्री कहलाती है। जो स्त्री बड़ोंके डरसे परपुरुष संसर्ग

सब मतोंके दोष

॥ मतान्यमतानि ॥

[सभी अमत हैं ऊपरके मत ।]

ऊपर जितने प्रकारसे मानव-चरित्रके भेद किए गये हैं, वे प्रायः सभी भ्रामक हैं। नाट्य-शास्त्र, भावप्रकाशन, और दशरूपककारने मानव प्रकृतिमें या तो उनका विवरण दिया है जो संगीत और नाट्यमें सहायक होते हैं, जैसे नट, भरत, कुशीलव आदि या फिर नाटकमें प्रयुक्त होनेवाले राजसी नायकोंके परिजनोंका विस्तृत परिचय दिया है। भरतने ऊपर चौंतीसवें अध्यायमें तीन प्रकारकी लोक-प्रकृति बताई है—उत्तम, मध्यम, अधम और उनके गुणों तथा अव गुणोंका जो विवरण दिया है वह भी ठीक ही है। किन्तु जब भावप्रकाशनमें उसके पीछेके अध्यायसे तुलना की जाती है तो जान पड़ता है कि ये संगीतके प्रयोक्ताओंसे तथा प्रेक्षकोंसे अधिक सम्बद्ध हैं। शारदातनयने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि राजा और राजपरिजनकी प्रकृति समझकर ही इन प्रयोक्ताओंको तदनुकूल संगीतकी योजना करनी चाहिए। नाट्यशास्त्रमें भी यह प्रसङ्ग वाद्य-प्रकरणके पश्चात् ही लाया गया है। इसलिये भी शारदातनयका ही विचार ठीक प्रतीत होता है। अन्य लक्षण-ग्रन्थोंमें जहाँ अनेक प्रकारके नायक-नायिकाओंका वर्णन है उन सबका सम्बन्ध शृङ्गार रससे है और वह इतना पुराना हो गया है कि उसके अनुसार अब नायक या नायिकाओंके भेद नहीं किए जा सकते। हम ऊपर ही विवेचन कर चुके हैं कि इस युगमें नायक और नायिकाओंकी बहुतसी समस्याएँ सुलझ गई हैं। रातको देरसे लौटे हुए या दूसरे दिन प्रातःकाल आए हुए आजकलके किसी नायकके ओठपर न तो किसी नायिकाकी ओठलाली का अञ्जन ही मिलता है न उसके शरीरपर इतने नख ही कहीं दिखाई पड़ते हैं। यह सब बातें [illegible] हो गई हैं इसलिये खण्डिता नायिका अब [illegible] ही नहीं पाई है। इसी प्रकार इस विज्ञानके युगमें इच्छा और कुरकुटिमितादिकी भी कल्पना हो गई है। ऐसे नायक भी अब नहीं रहे जिनके यहाँ सहस्रों रानियाँ, विदूषक, विट और चेट हों। इस युगमें न तो उनकी आवश्यकता है न उपयोग ही है। हाँ प्राचीन नाटकोंके अध्ययनके लिये

योरोपीय मनोवैज्ञानिकोंने तो और भी अन्धाधुन्ध वर्गीकरण किया है। एक ओर वे कहते हैं कि मनुष्यकी इच्छाशक्ति ही उसके चरित्रकी द्योतिका है। दूसरी ओर वे कुल-संस्कार और संगतिका प्रभाव भी मानते हैं। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मनुष्य परिस्थितियोंका दास है। ये तीनों बातें परस्पर विरोधिनी हैं। यूंगने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रकृतिके नामसे जो दो भेद किए हैं वे और भी अधिक भ्रामक हैं। वे भेद केवल अपवाद-स्वरूप स्थिर प्रकृतिवालोंके लिये तो ग्राह्य हो सकते हैं किन्तु साधारण मानव-समाजके लिये उसका आरोप हम नहीं कर सकते। एक व्यक्ति न्यायाधीशके आसनपर बैठकर सदा अन्तर्मुखी रहता है किन्तु वही अपनी मित्र मंडलीमें बैठकर बहिर्मुखी हो जाता है। संस्कृतके गद्य.वी कवि जयदेव बहुत बड़े तार्किक भी थे। उनसे किसी ऐसे ही व्यक्तिने पूछ दिया—

कविता तर्कयोः कथं समवायः ।

[कविता और तर्क इन दोनोंका गठबन्धन कैसे हुआ।]

इसपर जयदेवने जो उत्तर दिया वह यूंगवादियोंके लिये सर्वश्रेष्ठ उत्तर है। उसने कहा—

येषां कोमलकाव्यकौशलकलालीलावती भारती ।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते ॥
यैः कान्ताकुचमण्डले कररुहाः सानन्दमारोपिता—
स्तैः किं मत्तकरीन्द्रकुम्भशिखरे नारोपणीया शराः ॥

[जिनकी कोमल काव्यकलासे सरस्वती लीलामयी बन जाती है, वे यदि कठोर तर्कके टेढ़े वचन कहें तो उनका बिगड़ता क्या है। जिन लोगोंने कान्ताके कुच-मंडलपर आनन्दके साथ उँगलियाँ फेरी हैं उन्होंने क्या बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंके मस्तकपर बाण नहीं चलाए हैं।]

इसकी ध्वनि यही है कि सभी प्रकार मनुष्योंमें सभी प्रकारकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, कुछ थोड़ी कुछ अधिक। इनमें कोई कोई अपवाद स्वरूप होते हैं जो या तो महापुरुष ही होते हैं या पराकाष्ठातक पहुँचे हुए नरपिशाच ही। अतः उपर्युक्त कोई भी भेद मान्य नहीं माने जा सकते।

हमारे यहाँ सामुद्रिक शास्त्रमें तथा काम-शास्त्रमें पुरुष और स्त्रीके बहुतसे भेद किए गये हैं और लक्षण बताये गए हैं। स्वयं मनु भगवानने भी लिखा है—

॥ गौरकृष्णपाण्डुरक्तवर्णभेदेन चतुर्धा ॥

[चार रंगके मानव होते हैं गोरे, काले, पीले, लाल, ।]

मानव जातिके सब वर्गोंका अध्ययन करके हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि संसारमें चार रंगके मनुष्य हैं। गोरे, काले, पीले, और लाल। चीन, जापान, बर्मा, स्याम आदिके लोग पीले। दक्षिण भारत, अफरीका, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और अमेरिकाके आदिम निवासी काले। उत्तरी भारत (पंजाब, काश्मीर) फारस, काकेशिया और यूनानके लोग गोरे तथा योरपीय देशोंके लोग कुछ गोरे तथा कुछ लाल होते हैं किन्तु यह भेद नाटकीय प्रयोजन में अधिक साधक नहीं होता। इसका विचार वर्णविकल्पमें किया जायगा।

॥ कृशस्थूलनातिकृशस्थूलदेहभेदेन चतुर्धा ॥

[अति दुबले, अति मोटे कुछ हैं कुछ साधारण कृश मोटे हैं।]

हमारे चारों ओर जितने प्रकारके मनुष्य दिखाई पड़ते हैं सब शरीर भेदसे चार प्रकारके हैं पतले, मोटे, न बहुत पतले, न बहुत मोटे। साधारणतः नाटकीय पात्र वे ही हो सकते हैं और होते हैं जो न बहुत पतले हों न अधिक मोटे अर्थात् छरहरे और दुहरे शरीरके लोग ही नाटकीय पात्र कल्पित किए जाते हैं किन्तु कभी कभी विशेष पात्र या हास्य जनक नाटकोंके लिए पात्र चुननेमें अति स्थूल और अति कृशकी भी योजना कर ली जाती है।

॥ वामनदीर्घनातिवामनदीर्घभेदेन शरीरमानश्चतुर्धा ॥

[नाटे, लम्बे, साधारण दोनोंही इस प्रकार हैं चार ।]

इसीके साथ एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है और वह है बहुत लम्बे, बहुत नाटे, न बहुत लम्बे न बहुत नाटे। आज कलके नाटककार रंग निर्देशमें इसका भी विधान करते हैं कि अमुक व्यक्ति लम्बा है या नाटा है या अमुक परिणामका। क्योंकि कुछ देश ऐसे हैं जहाँ प्रायः लोग नाटे ही होते हैं जैसे ब्रह्मा देशवासी और कुछ ऐसे देश हैं जहाँके लोग लम्बे ही होते हैं जैसे पंजाब और हरियानेके लोग। इसलिए नाटककारको साधारण पात्रोंकी छोटाई बड़ाईका भी देश भेदके अनुसार निर्देशकर देना चाहिए। हाँ, जहाँ किसी विशेष आकार प्रकारका पात्र ही नाटककारको अभीष्ट हो वहाँकी बात ही दूसरी है।

॥ सुकुविरूपाकृतयश्च ॥

[सुन्दर विकृत कुरूप बताकर आकृतियाँ कुल तीन बनाई।]

इन मनुष्योंमें भी तीन प्रकारकी आकृतियोंके लोग पाये जाते हैं कुछ सुरूप कुछ कुरूप और कुछ विरूप। सुरूप आकृति उसकी कहलाती है जिसके अङ्ग सानुपात हों। कुरूप उसे कहते हैं जिसके कुछ या सब अङ्ग अननुपात हों। बड़े दाँत, मोटा ओठ, चिपटी नाक, लटकी भौंहें निकला हुआ पेट, बहुत उठी हुई नाक, ठोढ़ीका अभाव, दबे चपटे कान आदि जिसके हों वह कुरूप होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुरूपता और कुरूपता रङ्गपर अवतरित नहीं है। गौर वर्ण वाला व्यक्ति भी कुरूप हो सकता है और कृष्ण वर्ण वाला भी सुरूप हो सकता है। विरूप व्यक्ति उसे कहते हैं जो किसी रोगके कारण या जन्मसे ही विकलाङ्ग या हीनाङ्ग हो जैसे काना बूँचा, लँगड़ा, लूला, बावना, छागुर ये सब विरूप हैं। इनमेंसे सुरूप पात्र ही नाटकके नायक या उसके सखा बनाने चाहिए। कुरूपको प्रतिनायक या भयानक तथा वीभत्स रसका नायक बनाना चाहिए और विरूपका प्रयोग केवल हास्य रसमें होना चाहिए। कभी कभी विकलाङ्ग या हीनाङ्ग करुणा जनक नाटकोंमें करुणके आलम्बन बन सकते हैं किन्तु ऐसे व्यक्तियोंको देखकर जो दया या सहानुभूति होती है उसमें केवल भाव मात्र होता है उससे रस नहीं होता अतः इसी निमित्त इनका प्रयोग करना चाहिए। कुरूप या विरूप पात्रोंका प्रयोग करनेमें नाटककारको बहुत कौशलसे काम लेना चाहिए क्योंकि थोड़ी सी भी चूक होने पर, वाणी या क्रियाकी तनिक सी त्रुटि हो जानेपर रसभङ्गकी आशंका बनी रहती है उसका कारण यह है कि मूर्ख और विकलाङ्ग सदासे हास्यके आलम्बन रहे हैं। काने लँगड़े या लूलेको लोग काना लँगड़ा या लूला कहकर चिढ़ाते हैं। उनके साथ सहानुभूति नहीं करते अर्थात् उनकी कुरूपता या विरूपताके कारण कोई उनसे सहानुभूति नहीं करता। हाँ यदि वे विपत्ति ग्रस्त हों तो उनके साथ सहानुभूति हो सकती है। पर यह सहानुभूति तो सभी विपत्तिग्रस्तोंके साथ होती है चाहे वे विगलाङ्ग हों या पूर्णाङ्ग अतः नाटककारका यह कर्तव्य है कि कुरूपको यथासम्भव भयानक या

नहीं लाना चाहिए। बकरी, कुत्ते, बिल्ली वानर इत्यादि प्रायः रङ्गपीठपर लाए जाते हैं किन्तु रंगपीठपर आकर वे ऐसी चेष्टाएँ करने लगते हैं कि मनुष्यका अभिनय उनके सामने शून्य हो जाता है। परन्तु बहुत सी ऐसी कथाएँ हैं जिनमें इन जीवोंके बिना कथा ही चल नहीं सकती इसलिए उपर्युक्त नियमका यह अपवाद बनाया गया—

§ लघुपालितजीवानामपवादोऽल्पप्रयोगे ॥

[अल्पकालके छोटे पालित जीव सदा अपवाद।]

इसका अर्थ यह हुआ कि केवल वे ही जीव रङ्गपीठपर लाये जायँ जो छोटे हों, पालतू हों और उनका कार्य केवल थोड़े समयके लिये हो। वे भी केवल उतनी ही देरके लिये रङ्गपीठपर रखे जायँ जितनी देर उनका काम रहे. नाटककारका यह धर्म है कि वह रङ्गपीठपर लाये जानेवाले जीवोंके लिये अधिक देरतक ठहरनेका विधान न करे। क्योंकि जब भली प्रकार सिखाये गये मनुष्य अभिनेता भी रंगपीठपर आकर अनेक प्रकारकी भूलें कर सकते हैं तब पशु-पक्षियोंके लिए तो यह भूल अधिक स्वाभाविक है। इस सम्बन्धमें प्रत्येक नाटककारको यही समझ रखना चाहिए कि यथासम्भव रंगपीठपर किसी प्रकारके पशु पक्षी लानेका विधान ही न किया जाय और यदि उनका लाना अनिवार्य ही हो तो थोड़ी ही देरके लिये केवल ऐसे पालतू और छोटे पशु-पक्षी ही लाये जायँ जो इतने अच्छे ढंगसे शिक्षित हों कि रङ्गपीठपर आकर न तो भड़कें और न कोई कुचेष्टा ही करें।

बच्चोंके विषयमें कुछ विशेष कथनीय नहीं है वह तो नाटककारके कौशलपर निर्भर है। नाटककारको केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि वह बच्चोंकी ऐसी चेष्टाएँ न निर्धारित करे जो असम्भव हों या जिन्हें दिखाना दुष्कर या असम्भव हो। जैसे किसी [illegible] [illegible] अभिनयोंमें लिखा गया है। [illegible] [illegible] किन्तु यदि [illegible] तो उसका विधान भी किया जा सकता है।

[illegible]

§ लौकिकालौकिकमानसत्सृष्टि प्रतिनिधयः मानवपात्राः ॥

[मर्त्य अलौकिक भावजगतके प्रतिनिधि बनते मानव पात्र ॥]

इस अध्यायके प्रारम्भमें हम बता चुके हैं कि नाटकोंमें देवता, अप्सरा, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच राक्षस, भूत-प्रेत आदि अलौकिक चरित्रोंका, स्त्री-पुरुष नपुंसकात्मक मानव जातिके चरित्रोंका और करुणा, दया, अहंकार, क्षमा, शान्ति आदि मानसचरित्रोंका प्रयोग मनुष्योंके समान ही किया जाता है अतः इन सबकी विवेचना मानवचरित्रके अन्तर्गत ही की जायगी, क्योंकि नाटककारोंने इनकी क्रियाओं और मानसिक व्यापारोंका निरूपण मानवीय आचरणों और विचारोंके अनुसार ही किया है। जहाँतक अलौकिक चरित्रोंकी रूढ़िगत विशेषताओंके वर्णन हैं उसका ध्यान नाटककारको अवश्य रखना चाहिए जैसे देवताओंके विषयमें कहा गया है कि उनकी पलकें नहीं लगतीं, वे भूमिको नहीं छूते, उनकी छाया नहीं पड़ती आदि। इन रूढ़िगत विशेषताओंके अतिरिक्त शेष आचरण मानवतुल्य ही होता है। मानसी सृष्टिके करुणा, दया क्षमा, अहंकार, क्रोध आदि भाव तो मनुष्य रूपमें ही आते हैं अतः उनका सब कुछ विधान मनुष्यके समान ही करना चाहिए।

§ पुंस्त्रीनपुंसकभेदेन मानवस्त्रिधा ॥

[नारी पुरुष नपुंसक ये हैं तीन मानवभेद।]

सृष्टि भरके सब मनुष्योंकी छानबीन करनेपर लिङ्ग भेदसे मानव तीन प्रकारके प्राप्त होते हैं—पुरुष, स्त्री और नपुंसक। पुरुष और स्त्री अत्यन्त प्रत्यक्ष भेद हैं जिनके संयोगसे मानव सृष्टि उत्पन्न होती है। नपुंसक वे हैं जिनमें न तो पुंस्त्व है न तो स्त्रीत्व है। ये भी दो प्रकारके होते हैं पुंनपुंसक और स्त्रीनपुंसक। जिनके शरीरमें पुरुषत्वके अधिक लक्षण होते हुए भी पुरुषेन्द्रियकी हीनता होती है वे पुंनपुंसक और जिनके शरीरमें स्त्रीके अधिक लक्षण होते हुए भी स्त्रीत्व न हो वे स्त्रीनपुंसक कहलाते हैं। इन तीनोंके आचार, विचार और व्यवहार में अन्तर होता है। देवताओंमें नपुंसक नहीं होते और न अलौकिक रूपोंमें ही होते हैं—

गौरकृष्णपाण्डुरक्तवर्णभेदेन चतुर्धा ।

[चार रंगके मानव होते हैं गोरे, काले, पीले, लाल, ।]

मानव जातिके सब वर्गोंका अध्ययन करके हम इस परिणामपर पहुँचे हैं कि संसारमें चार रंगके मनुष्य हैं। गोरे, काले, पीले, और लाल। चीन, जापान, वर्मा, श्याम आदिके लोग पीले। दक्षिण भारत, अफरीका, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और अमेरिकाके आदिम निवासी काले। उत्तरी भारत (पंजाब, काश्मीर) फारस, काकेशिया और यूनानके लोग गोरे तथा योरपीय देशोंके लोग कुछ गोरे तथा कुछ लाल होते हैं किन्तु यह भेद नाटकीय प्रयोजन में अधिक साधक नहीं होता। इसका विचार वर्णविकल्पमें किया जायगा।

कृशस्थूलनातिकृशस्थूलदेहभेदेन चतुर्धा ॥

[अति दुबले, अति मोटे कुछ हैं कुछ साधारण कृश मोटे हैं।]

हमारे चारों ओर जितने प्रकारके मनुष्य दिखाई पड़ते हैं सब शरीर भेदसे चार प्रकारके हैं पतले, मोटे, न बहुत पतले, न बहुत मोटे। साधारणतः नाटकीय पात्र वे ही हो सकते हैं और होते हैं जो न बहुत पतले हों न अधिक मोटे अर्थात् छरहरे और दुहरे शरीरके लोग ही नाटकीय पात्र कल्पित किए जाते हैं किन्तु कभी कभी विशेष पात्र या हास्य जनक नाटकोंके लिए पात्र चुननेमें अति स्थूल और अति कृशकी भी योजना कर ली जाती है।

वामनदीर्घनातिवामनदीर्घभेदेन शरीरमानश्चतुर्धा ॥

[नाटे, लम्बे, साधारण दोनोंही इस प्रकार हैं चार ।]

इसीके साथ एक और भी भेद दृष्टिगोचर होता है और वह है बहुत लम्बे, बहुत नाटे, न बहुत लम्बे न बहुत नाटे। आज कलके नाटककार रंग निर्देशमें इसका भी विधान करते हैं कि अमुक व्यक्ति लम्बा है या नाटा है या अमुक परिणामका। क्योंकि कुछ देश ऐसे हैं जहाँ प्रायः लोग नाटे ही होते हैं जैसे ब्रह्मा देशवासी और कुछ ऐसे देश हैं जहाँके लोग लम्बे ही होते हैं जैसे पंजाब और हरियानेके लोग। इसलिए नाटककारको साधारण पात्रोंकी छोटाई बड़ाईका भी देश भेदके अनुसार निर्देशकर देना चाहिए। हाँ, जहाँ किसी विशेष आकार प्रकारका पात्र ही नाटककारको अभीष्ट हो वहाँकी बात ही दूसरी है।

सुकुविरूपाकृतयश्च

[सुन्दर विकृत कुरूप बताकर आकृतियाँ कुल तीन बनाई ।]

इन मनुष्योंमें भी तीन प्रकारकी आकृतियोंके लोग पाये जाते हैं कुछ सुरूप कुछ कुरूप और कुछ विरूप। सुरूप आकृति उसकी कहलाती है जिसके अङ्ग सानुपात हों। कुरूप उसे कहते हैं जिसके कुछ या सब अङ्ग अननुपात हों। बड़े दाँत, मोटा ओठ, चिपटी नाक, लटकी भौंहें निकला हुआ पेट, बहुत उठी हुई नाक, ठोढ़ीका अभाव, दबे चपटे कान आदि जिसके हों वह कुरूप होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सुरूपता और कुरूपता रङ्गपर अवतरित नहीं है। गौर वर्ण वाला व्यक्ति भी कुरूप हो सकता है और कृष्ण वर्ण वाला भी सुरूप हो सकता है। विरूप व्यक्ति उसे कहते हैं जो किसी रोगके कारण या जन्मसे ही विकलाङ्ग या हीनाङ्ग हो जैसे काना बूँचा, लँगड़ा, लूला, बावना, छागुर ये सब विरूप हैं। इनमेंसे सुरूप पात्र ही नाटकके नायक या उसके सखा बनाने चाहिए। कुरूपको प्रतिनायक या भयानक तथा वीभत्स रसका नायक बनाना चाहिए और विरूपका प्रयोग केवल हास्य रसमें होना चाहिए। कभी कभी विकलाङ्ग या हीनाङ्ग करुणा जनक नाटकोंमें करुणके आलम्बन बन सकते हैं किन्तु ऐसे व्यक्तियोंको देखकर जो दया या सहानुभूति होती है उसमें केवल भाव मात्र होता है उससे रस नहीं होता अतः इसी निमित्त इनका प्रयोग करना चाहिए। कुरूप या विरूप पात्रोंका प्रयोग करनेमें नाटककारको बहुत कौशलसे काम लेना चाहिए क्योंकि थोड़ी सी भी चूक होने पर, वाणी या क्रियाकी तनिक सी त्रुटि हो जानेपर रसभङ्गकी आशंका बनी रहती है उसका कारण यह है कि मूर्ख और विकलाङ्ग सदासे हास्यके आलम्बन रहे हैं। काने लँगड़े या लूलेको लोग काना लँगड़ा या लूला कहकर चिढ़ाते हैं। उनके साथ सहानुभूति नहीं करते अर्थात् उनकी कुरूपता या विरूपताके कारण कोई उनसे सहानुभूति नहीं करता। हाँ यदि वे विपत्ति ग्रस्त हों तो उनके साथ सहानुभूति हो सकती है। पर यह सहानुभूति तो सभी विपत्तिग्रस्तोंके साथ होती है चाहे वे विगलाङ्ग हों या पूर्णाङ्ग अतः नाटककार का यह कर्तव्य है कि कुरूपको यथासम्भव भयानक या

[illegible]में प्रयोग करे और विकलको जहाँतक सम्भव हो छोड़ दे और यदि हास्यके अतिरिक्त अन्य रसमें उनका प्रयोग करना ही हो तो ऐसे कौशलसे काम ले कि उन्हें देखकर दर्शक हँस न पड़ें। गूँगे, बहरे और मन्दबुद्धि भी हास्य रसके उचित पात्र बन सकते हैं।

सरोगनीरोगाश्च देहिनः ॥

[कभी लोग हैं विश्वमें रोगी या नीरोग।]

सब प्रकारके मनुष्योंकी दो और अवस्थाएँ होती हैं। वे हैं—सरोगिता और नीरोगिता। प्रत्येक मनुष्य "शरीरं व्याधिमन्दिरम्के" अनुसार कभी न कभी रुग्ण हो ही जाता है यह रोग भी दो प्रकारके होते हैं—एक तो शरीर दोषसे अर्थात् वात पित्त और कफके विकारसे या बाहरी आघातसे। यह आघात दैवी भी हो सकता है जैसे ठंड लगने, गर्मी लगने या बाधाके कारण अथवा ईंट पत्थर आदिसे चोट लगनेके कारण नये सिद्धान्तके अनुसार कहा गया है कि रोग तीन प्रकारसे होते हैं एक असंयमसे जो आहार विहारके व्यतिक्रम अथवा जल-वायुके विकारसे उत्पन्न होते हैं जैसे सर्दी, ज्वर, खाँसी, सिर पीड़ा, आँख आना, तथा राजरोगादि। दूसरे वे हैं जो कीटाणुओंसे उत्पन्न होते हैं जिनमें सब प्रकारकी [illegible] और तीसरे हैं [illegible] जो शरीरके [illegible] विकार उत्पन्न करते हैं। [illegible] [illegible] रोग भी [illegible] सदा बने रहते हैं [illegible] उत्पन्न होते हैं [illegible] [illegible]

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥
सत्वे सुखं संजयति रजः कर्माणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥
सत्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥

अ० १४

[हे अर्जुन सत्व रज और तम ए तीन गुण प्रकृति या मायासे उत्पन्न होते हैं या अविनाशी आत्माको बाँधते हैं। इन तीन गुणोंमेंसे सत्वगुण निर्मल प्रकाशक और दुःख रहित होता है इसलिये वह आत्माको सुख और ज्ञानसे बाँधता है। अप्राप्त वस्तुकी इच्छारूपी तृष्णा और प्राप्त वस्तुके संरक्षणकी इच्छारूपी संगसे रजोगुणकी उत्पत्ति होती है जो रागात्मक होता है। यह रजोगुण आत्माको कर्म-संगसे बाँधता है और तमोगुण अज्ञानसे उत्पन्न होता है यह सब जीवोंको मोहित करने वाला होता है यह आत्माको प्रमाद आलस्य और निद्रासे बाँधता है। सत्वगुण जीवात्माको सुखमें लगाता है, रजोगुण काममें लगाता है और तमोगुण ज्ञानको ढक कर प्रमादमें लगाता है। सत्वसे प्रकाशरूप स्पष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है रजोगुणसे अप्राप्त वस्तुकी इच्छा उत्पन्न होती है जिससे लोभ होता है और तमोगुणसे प्रमाद और मोह उत्पन्न होता है जिनसे इनका उत्पादक अज्ञान भी बढ़ता है।]

इस मतके अनुसार सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणी तीन प्रकारके होते हैं। जिनमें सत्व गुण अधिक होता है वह सत्व प्रकृतिके जिनमें रजोगुण अधिक होता है वे रजःप्रकृतिके और जिनमें तमोगुण अधिक होता है वह तमःप्रकृतिके होते हैं। यों तो सारी प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है किन्तु प्रत्येक प्राणीमें तीनों गुण विभिन्न परिमाणमें रहते हैं इनमेंसे जो अधिक सत्व गुणवाले होते हैं वे अधिक सज्जन और लोक हितकारी होते हैं जो सदा अपने [illegible] सुखकी मात्रा बढ़ाने और [illegible] लगे रहते हैं उनमें रजोगुण अधिक होता है और जो सबको पीड़ा देते हैं, सताते हैं और दूसरोंके अस्तित्वका भी विनाश करते हैं उनमें तमोगुण

अधिक होता है इन तीनों प्रकृतिवाले लोगोंकी पहचान बड़ी सरलतासे हो सकती है और नाट्य-शास्त्रमें जो उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारकी प्रकृति बताई गई है उनका आधार भी यही है।

स्वभाव कैसे बनता है

प्राग्जन्मसंस्कारात्स्वभावः ॥

[पिछले जन्म जन्य संस्कारोंसे बनता मानव स्वभाव है।]

संसारके सभी प्राणी पिछले जन्मके संस्कार लेकर उत्पन्न होते हैं। जिसने जिस प्रकारका कर्म पिछले जन्ममें किया है, उसका अच्छा या बुरा फल भोगने के लिए लेना ही पड़ता है। और उसी कर्मके फल भोगने में मनुष्य सुख भी भोगता है और दुःख भी। किन्तु सब प्राणियोंमें मनुष्य ही ऐसा है जो यदि चाहे तो ज्ञानाग्निसे अपने सब कर्म संस्कार जला सकता है। अर्थात् जब वह सुख दुःख निन्दा स्तुति, मानापमान, शुभाशुभ, शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्व भावोंसे ऊपर उठकर द्वन्द्वातीत होकर समबुद्धि या स्थितप्रज्ञ हो जाता है तभी वह कर्म बन्धनसे मुक्त हो जाता है। यह ज्ञानप्राप्ति गुरु कृपा और सत्संगति दोनोंसे होती है। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो सत्त्व प्रकृति होते हुए भी दैव संयोगसे कुसंगति में पड़ जाते है और दुर्जनोंके प्रभावमें आ जाते हैं वे धीरे धीरे दुर्जन हो जाते है। इससे परिणाम निकला—

संगत्या संस्कारमार्जनं परिष्कारे विकारे वा ॥

[संगति संस्कार बदलते, भले बुरे दोनों हो जाते।]

विदेशी दार्शनिकोंने कर्मवादको नहीं माना है। फिर भी वे कुल-परम्पराका प्रभाव मानते हैं और यह प्रभाव सांस्कारिक न मानकर प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक मानते हैं किन्तु यह सिद्धान्त भ्रमात्मक सिद्ध हो चुका है। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि महापुरुषोंके पुत्र प्रायः निकम्मे होते हैं। एक ही पिता के कई पुत्र विभिन्न स्वभाव प्रवृत्ति और चरित्रके होते हैं। रही बाहरी आचारकी बात, वह सामाजिक है व्यक्तिसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इस बाहरी आचारसे मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा नहीं की जा सकती। अतः यह निश्चय है कि एक ही माताके विभिन्न पुत्रोंका विभिन्न चरित्र वाला होना किसी दूसरी शक्तिका फल है। वह शक्ति प्रत्यक्षतः नहीं देखी सुनी जा सकती। अतः उसका कोई अमूर्त कारण है। और वह अमूर्त कारण तभी जाना जा सकता है जब हम कर्मवादके सिद्धान्तको स्वीकार करें। क्योंकि कर्मवादके ही द्वारा एक ही परिवार में विभिन्न प्रकारके प्रकृति वाले लोगोंके चरित्रको समझने में कोई कठिनाई न होगी। यदि हम पौराणिक महापुरुषों को छोड़ भी दें तो इस युगमें भी अनेक जातिस्मर बालक उत्पन्न हुए हैं और होते हैं जिन्हें अपने पिछले जन्म की बातें स्मरण होती हैं इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक विशिष्ट प्रतिभाशील लोग हुए हैं जिन्होंने अत्यन्त अल्प अवस्थामें अभूत पूर्व प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। यह पिछले जन्मका ही संस्कार हो सकता है इस जन्मका नहीं।

योरोपीय आचार्योंने स्वभावकी एक और कसौटी बताई है कि मनुष्य जैसी संगतिमें रहता है उसे वैसा ही समझना चाहिए। इस प्रकार हमारे संगति प्रभावके सिद्धान्तको उन्होंने भी स्वीकार किया है। इसलिए मनुष्य के स्वभावका विचार करते समय हमें दोनों बातोंका विचार करना होगा एक तो उसकी प्रकृति, जो सात्त्विकी राजसी या तामसी होगी दूसरी उसकी संगति, जो अच्छी या बुरी हो सकती है। सत्संगतिसे मनुष्यके भावोंका परिस्कार होता है उसकी बुद्धि विवेकशील हो जाती है उसका हृदय संवेदनशील हो जाता है और उसका मन सत्कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत कुसंगति से मनुष्यके भावोंमें विकार आता है, बुद्धि अविवेकवती हो जाती है हृदय कठोर हो जाता है और उसका मन दुष्कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होता है।

दो प्रकारके स्वभाव—

अच्छे और बुरे

सदसत्स्वभावौ ॥

[अच्छे बुरे स्वभाव हैं।]

मोटे रूपसे लोग मानव स्वभावको दो प्रकारका मानते हैं अच्छा या बुरा। अरस्तूने भी यही दो भेद स्वीकार किए हैं और साधारण लोकदृष्टिसे यह अच्छाई या बुराई सापेक्ष्य होती है। कोई एक व्यक्ति किसी एक विशेष कर्मसे किसी व्यक्ति या वर्गके लिए अच्छा हो सकता और उसी कर्मके कारण दूसरेके लिए बुरा हो सकता

है अतः अच्छे और बुरेका भेद मनुष्यके कर्मपर निर्भर है और वह भी परस्परसंयोगपर ही अवलम्बित है अतः यह आचरणपर अवलम्बित अच्छे या बुरेका भेद तो मान्य नहीं होना चाहिए किन्तु वास्तविक स्वभाव अर्थात् मानसिक प्रवृत्तिसे पुष्ट स्वभाव भी सत्त्व, रज और तम गुणके कारण तथा सत्संगति और कुसंगतिके कारण सार्वजनीन दृष्टिसे अर्थात् जिस वर्ग या समाजका व्यक्ति उस व्यक्ति या समाजके हित और अहितकी दृष्टिसे अच्छा या बुरा नहीं वरन् सार्वभौम दृष्टिसे उसकी अच्छाई या बुराई निर्धारित की जा सकती है। क्योंकि सृष्टि भरमें दो व्यापक नैतिक सिद्धान्त हैं जिनका विवेचन हम पीछे कर चुके हैं वे हैं (१) परहित करनेवाला अच्छा मनुष्य और (२) दूसरेका अहित करनेवाला बुरा मनुष्य। इसका निष्कर्ष यह निकला—

परहितकाः साधवः पराहितका असाधवश्च ॥

[परहित करनेवाला अच्छा, पर पीड़ा दाता है दुष्ट]

किन्तु इन अच्छे और बुरे साधु और असाधु, सत और असत् प्राणियोंमें भी उत्तम और अधम दो प्रकारके प्राणी होते हैं। ये दोनों कालानुवर्ती या वर्तमान परिस्थितिके अनुसार आचरणशील होते हैं, जो अवसर देख कर तदनुसार [illegible] और उससे अपना हित [illegible] [illegible] और जो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उनका [illegible] [illegible]। उनकी [illegible] [illegible] और न [illegible] [illegible] और दूसरोंकी [illegible] [illegible] [illegible] और

मनुष्यका वास्तविक स्वभाव उसकी परिपक्व अवस्था में बनता है अर्थात् बालकपनके संस्कार धीरे धीरे अभ्यस्त होते होते उसके स्वभावका रूप धारणकर लेते हैं। मनोवैज्ञानिकोंकी परिभाषाके अनुसार इसे यों कह सकते हैं कि जब एकही प्रकारकी क्रिया की सदा एक सी मानसिक स्नायविक प्रतिक्रिया होने लगती है और वे प्रतिक्रियाएँ अपना एक पथ निश्चित करलेती हैं तो वे ही मनुष्यके स्वभाव और आचरणको प्रभावित करके मनुष्यको बदल देती हैं वैसे ही मनुष्यकी अवस्थाके अनुसार भी उसके स्वभावमें परिवर्तन होते रहते हैं इस दृष्टिसे मनुष्यकी दश अवस्थायें होती हैं शिशु, बाल, कुमार, किशोर, युवा, अतियुवा, प्रौढ़, अतिप्रौढ़, वृद्ध और अतिवृद्ध। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थकारोंने अवस्था चतुष्टयमें बचपन, लड़कपन जवानी और बुढ़ापा—ये ही चार अवस्थायें मानी हैं किन्तु स्मृतियोंमें पाँच वर्ष तक कौमार, दश वर्षतक पौगंड, पन्द्रह वर्षतक कैशोर उसके बाद यौवन तथा सत्तरके पश्चात् वृद्धावस्था मानी है कुछ आचार्योंके मतसे सोलह वर्षतक बाल्यावस्था, सोलहसे सत्तरतक तरुणावस्था सत्तरसे नब्बे तक वृद्धावस्था उसके बाद वार्धक्य अवस्था मानी है। आयुर्वेदके मतसे पन्द्रहतक बाल्यावस्था पन्द्रहसे तीसतक कौमार अवस्था तीससे पचास तक युवावस्था और उसके पश्चात् वृद्धावस्था होती है किन्तु जिस दृष्टिसे हम अवस्थाके विभाजन कर रहे हैं अर्थात् स्वभाव और आचरण उसमें हमें दूसरे ही प्रकारसे अवस्था विभाजन करना ही पड़ेगा। साधारणतः तीनवर्षका बालक अबोध अवस्थामें रहता है उसका खाना-पीना सब दूसरोंपर अवलम्बित रहता है। उसकी अपनी कोई इच्छायें नहीं होतीं उसे जैसा सिखाया जाता है वह वैसाही करता है। [illegible], [illegible], आदि [illegible] वह वैसाही निश्चित आचरण करता है उसे यह ज्ञान नहीं होता कि [illegible] नहीं [illegible] चाहिए, क्यों [illegible] करना चाहिए। यह [illegible] शिशुअवस्था कहलाती है। तीनसे पाँच वर्षकी अवस्थामें मनुष्य शिशु रहते हैं, [illegible] [illegible] है और उसमें इच्छायें [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है।

पाँचसे आठवर्ष तक कुमारावस्था होती है जिसमें बालक अपनी बाल प्रवृत्तियोंको पिता, माता और परिवारके लोगोंके साथ सुधारता और सम्हालता चलता है। इस अवस्थामें वह माता-पिता गुरु तथा बड़े लोगोंका गुरुत्व समझने लगता है और भय, आदर, विरक्ति आदि भावोंको पुष्ट करता चलता है। उसकी पहचान बढ़ जाती है। वह समझने लगता है कि कब किस परिस्थितिमें पिता-माता या गुरुसे क्या कहना और लेना चाहिए। मेरा-तेराका भाव भी इसी अवस्थामें पनपता है और अपनी वस्तु दूसरेके पास न जाने देने और दूसरेकी लेलेनेकी भावना इसी अवस्थामें जागती है। इसीमें अहंकार भी बढ़ने लगता है। यह अवस्था कुमार अवस्था कहलाती है। आठसे पन्द्रह तककी अवस्था किशोर अवस्था कहलाती है इस अवस्थामें ही कुमारके सब अभ्यास बनते हैं, उसको रुचि, प्रवृत्ति और प्रकृति दृढ़ता ग्रहण करती है। इसीमें भावी प्रवृत्तियोंकी भी प्रेरणा होती है यह अवस्था संक्रान्तिकालकी होती है। इसमें जैसी शिक्षा या संगीत मिलती है मनुष्य वैसाही बन जाता है। इसी अवस्थाको मनोवैज्ञानिक लोग निर्माण अवस्था कहते हैं इसीमें मनुष्यका चरित्र निर्माण होता है। पन्द्रह वर्षसे तीसवर्षकी अवस्था तक युवावस्था होती है इस अवस्थामें मनुष्यकी दो वृत्तियाँ विशेष रूपसे व्यक्त होती हैं। एक तो आत्मशृङ्गार तथा आत्मप्रदर्शनकी और दूसरी किसीके प्रति आकृष्ट होकर उसे अपनानेकी यह दूसरी प्रवृत्ति दो प्रकारकी होती है। एक समाज भावनासे प्रेरित होकर मित्र या साथी बनानेकी और दूसरी काम भावनासे प्रेरित होकर अपना प्रेम-पात्र बनानेकी इन दोनों चेष्टाओंमें प्रायः युवक इतनी उच्छृङ्खलता और उत्कट वासनासे काम करते हैं कि कभी-कभी समाजके बन्धनोंको भी लाँघ जाते हैं—किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

"सुभासितेषु गीतेषु, युवतीनां च लीलया।
यस्य न द्रवितं चित्तं स योगी अथवा पशुः" ॥

[किसीकी सुन्दर, उक्ति तथा गीत पर और युवतियोंके हाव भाव पर जो रीझकर लट्टू न बना वह या तो योगी है या पशु]

इसीके स्वरमें स्वर मिलाकर विहारीने कहा है—

इक भीजे, चहलै परै बूड़ै बहै हजार
किते न अवगुन जग करत नै वै चढ़ती वार

(नदी और अवस्था, यह दोनों जब चढ़ती है तब कितने उपद्रव नहीं करती क्योंकि उनसे कोई तो भीग जाते हैं कोई रत्नदलमें फसते हैं और बहुत से तो डूब जाते या बह जाते हैं।)

एक उर्दू सूक्तिकार ने भी कहा है—

जवानी आदमी की मायये इल्ज़ाम होती है
निगाहें नेक भी इस उम्रमें बदनाम होती है।

(मनुष्यकी युवावस्थापर आरोप लगाये ही जाते हैं क्योंकि इसमें सीधा सादा व्यक्ति भी दुर्नाम पा जाता है)

यही अवस्था शृङ्गारपूर्ण नाटकोंके लिए सबसे अधिक प्रयोग में लई गई है। 'मनुष्य क्या नहीं कर सकता' इस उक्तिकी सिद्धि इसी अवस्थामें होती है—साहस, दुःसाहस आवेश, त्याग, लगन-दृढ़ता शूरता, संघर्ष आदि सब ओजमयी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ इसी अवस्थामें उद्बुद्ध और पोषित होती हैं और इसी अवस्थामें युवक अपनी लोकेषणा और वित्तेषणा भी पूर्ण करना चाहता है। वह चाहता कि मेरा यश हो और मेरे पास धन हो वह न मालूम कितने कल्पनाके प्रासाद उठाता है तल्लीन होकर चिन्तन करता है। साधनोंके सहारे उन कल्पनाओंको पूरा करनेकी चेष्टा करता है और यदि वह असफलता पाता है तो आवेशमें आकर आत्मघात तक कर लेता है। किन्तु इनमें जो साहसी होते हैं वे असफलतासे घबराते नहीं डरते नहीं आगे बढ़ते चलते और सफलता मिलने तक परिस्थितियों से संघर्ष करते चलते हैं

इसके पश्चात् आती है अतियुवावस्था जो तीससे पचासतक चलती है। इस अवस्थामें मनुष्य गम्भीर होने लगता है। सामाजिक पद गृहस्थीका उत्तरदायित्व आदि अनेक प्रकारके पारिवारिक और सामाजिक बन्धनोंमें फँसकर अपने दायित्वका चिन्तन करता है और न चाहते हुए भी उसे गम्भीरताका आडम्बर धारणकर लेना पड़ता है। इस अवस्थामें वह प्रायः यशोपार्जन और धनोपार्जनमें लगता है और इन दोनों प्रकारके उपार्जनोंमें वह इतना मग्न रहता है कि नीति अनीतिका भी प्रायः विचार नहीं करता। पचास वर्षके

पश्चात् प्रायः उसकी प्रायश्चित अवस्था प्रारम्भ हो जाती है जो पैंसठ वर्षतक चलती है । इसे प्रौढ़ावस्था कहते हैं । इस अवस्थामें मनुष्य कुछ अधिक धार्मिक हो जाता है उसमें उदारता सौहार्द आदि गुण बढ़ जाते हैं उसका स्वभाव कुछ कोमल और उपदेशप्रिय हो जाता है । अर्थात् वह सबको उपदेश देने लगता है । इसके पश्चात् पैंसठसे पचहत्तर तक अतिप्रौढ़ अवस्था होती है । इसमें मनुष्यका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है । उसे अपने चारों ओर अनीति और अनियम ही दिखाई देने लगता है । वह समझता है कि लोग मेरा आदर नहीं करते हैं और मेरी आवश्यकता नहीं समझते वह खीझने और कुढ़ने लगता है और इसीसे पचहत्तर वर्षके पश्चात् वह वृद्ध हो जाता है उसकी इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं यही उसकी वृद्धावस्था है । वृद्धावस्थामें मन्दगति तथा [illegible] [illegible] लोगोंसे संगति करनेकी विशेष [illegible] होती है । बालक और युवक उसकी वृद्धावस्था-[illegible] उसका आदर करें और उसके पास उठें-बैठें तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है । यह वृद्धावस्था [illegible] होती है उसके पश्चात् [illegible] [illegible] के समान [illegible] हो जाता है । दूसरे [illegible] हैं । उस समय वह [illegible] कामना करता है [illegible] पर खड़े होकर भी क्षणिक प्रतिष्ठाकी कामना करना । उसके पश्चात् न्याय मूर्ति गोल पेट वाला गम्भीर आँखें और एक निश्चित प्रकारकी दाढ़ी बढ़ाए अनेक प्रकारकी सूक्तियाँ और उदाहरण उपस्थित करनेवाला छठी अवस्था में दुबला पतला मनुष्य पतलूनमें प्रविष्ट होकर चप्पल पहनकर आँखोंपर उपनेत्र चढ़ाकर और अपने साथ एक झोला लटकाए और अपनी जवानीका मोजा भली प्रकार सुरक्षित करके ले चलता है और यह इतना ही संसार उस दुबले पतलेके लिए बहुत बड़ा जान पड़ने लगता है उसका पौरुष भरा स्वर फिर बच्चेके समान तुतलाने लगता है और उसके स्वरमें वंशी और सीटी बोलने लगती है और सबके अन्तमें वह दशा आ जाती है जब यह घटना भरा इतिहास समाप्त होने लगता है । दूसरा बचपन आने लगता है जीवन उपेक्षित होने लगता है और मनुष्य बिना दाँत बिना आँख बिना स्वाद और बिना वस्तुका हो जाता है ।

पुरुष और स्त्रीकी प्रकृतिमें भेद

पुन्नारिप्रकृतिभेदः ॥

[पुरुष नारिकी प्रकृति भिन्न है ।]

बहुतसे आचार्योंने पुरुष स्त्रीकी प्रकृतिमें विशेष भेद बताया है किन्तु ये सब भेद विभिन्न देशोंके सामाजिक नियमों और आचारोंपर अवलम्बित हैं मुसलिम देशोंमें स्त्री साधारण सामग्रीकी भाँति दी और ली जा सकती है । [illegible] महिलाएँ अधिक स्वतन्त्र और मनस्विनी होती हैं । चीन जापान आदि पूर्वीय देशोंमें स्त्रियोंपर [illegible] नियन्त्रण है और हमारे यहाँ तो उसके लिये नियम ही बना दिया गया है—

[illegible] रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ॥
[illegible] न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।

[[illegible] अवस्थामें पिता, युवावस्थामें पति और [illegible] [illegible] [illegible] ।]

[illegible] है इसलिए इन [illegible] [illegible] अनुसार [illegible] पुरुष [illegible] और [illegible] और उसके [illegible] अनेक पुरुष स्त्रियों [illegible] और अनेक स्त्रियाँ पुरुषोंके

भी कठोर होती हैं। परिस्थितियाँ और अवस्थाके अनुसार उनका चरित्राङ्कन करना चाहिए।

अवस्थाके अनुसार पुरुषोंके भेद

ऊपर अवस्थाओंके अनुसार जो पुरुषोंके भेद किए गए हैं। वह इसलिए कि विभिन्न अवस्थाओंमें मानसिक वृत्ति और अवस्थाओंमें बड़ा अन्तर पड़ता रहता है। मनोवैज्ञानिकोंने केवल पन्द्रह वर्षतकके बालकोंकी बुद्धि के अनुसार श्रेणियाँ बनाई हैं और वह भेद केवल उनकी योग्यता और बुद्धिके सम्बन्धमें ही है चरित्र या स्वभावके लिए नहीं। इसलिए अवस्थाके अनुसार हम पुरुष स्वभावका विवेचन कर देना आवश्यक समझते हैं।

शिशु अवस्थामें बालककी विशेष प्रकृति भोजनकी ओर होती है और इसके पश्चात् रंगीन वस्तु बाघ, खेल तमासे आदिकी ओर रुचि होने लगती है साथही माता पितासे स्नेह करते हुए वह उनके बताए हुए और शिखाए हुए शब्दों और आचरणोंका अनुकरण करता है। वह दादा, बाबा, मामा कहना सीखता है कहनेसे हाँथ जोड़ता है और हँसता, बोलता, नाचता, कूदता है। नाटकारके लिए यह अवस्था अत्यन्त अनावश्यक है। वह केवल दिखाने भरके लिए या किसी प्रसंङ्गमें बच्चेके उपस्थित करनेके लिए ही उसकी योजना करता है। अधिकांश नाट्य प्रयोगका ऐसे स्थानोंपर वास्तविक बच्चेके बदले गढापरचा या कपड़ेके बने हुए गुड्डोंसे काम चला लेते हैं क्योंकि वास्तविक बच्चेसे यह भय बना रहता है कि कहीं वह बीचमें रोकर सब रस नष्ट न करदे। इसलिए जहाँतक सम्भव है नाटककारको रंगपीठर शिशु उपस्थित करनेका आयोजन नहीं करना चाहिए।

बालक अवस्थामें बच्चेका मन खेलमें अनुकरण करनेमें अधिक लगता है। वह साथी ढूढ़ता है और स्वछन्द होकर अनेक प्रकारकी क्रीडाएँ करता है और उन क्रीड़ाओंमें अपने पिताके व्यवसायका अनुकरण भी करता है। जैसे किसी वैश्यका पुत्र मट्टीकी दुकान सजाकर बेंचने मोल लेनेका खेल करता है। इस अवस्थामें रुचि बढ़ने लगती है अपनेसे सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक वस्तुमें अच्छे और बुरेका ध्यान

होने लगता है। उसकी जिज्ञासा वृत्ति बढ़ने लगती है। किन्तु भोलापन भी बना रहता है। इस भोलेपनका विशेष चित्रण अभिनव भरतके वसन्त नाट्यमें प्राप्त होता है। जहाँ बालक अपने चचासे कहता है "ईस्वरने तुम्हारा भाग्य फोड़दिया है तुम ईस्वरको पकड़ लाओ मैं उसकी कुन्दी करूगाँ" ऐसे करुण स्थलोंमें इस प्रकारका भोलापन अत्यन्त प्रकारसे प्रभावशाली होता है। कभी कभी बालोचित कीड़ाका दृश्य दिखानेकेलिये भी इनबालकों की योजना की जा सकती है। इस अवस्थामें बालकोंको अपने पराये का ज्ञान होने लगता है और यद्यपि उसमें शारिरिक असमर्थता होती है किन्तु अपनी किसी वस्तु का अपने किसी सम्बन्धीके विरुद्ध होनेवाले आचरणपर उसका मानसिक विद्रोह अवश्य होने लगता है। जिसे वह कम से कम अपने साथियोंको व्यक्त करही देता है। यही बाल हठकी भी अवस्था है। अपनेमनकी वस्तु मगाँना अपने मनके अनुसार दूसरे काम कराना ही इस हठका उद्देश्य होता है और हठ पूरा न होने पर वह अनशन और रोने दोनों प्रयोग करता है। नाटककारको यथासम्भव करुण, भयानक, शृङ्गार, अद्भुत तथा वीभत्सरसोंके लिए बालक पात्रोंकी आयोजना नहीं करना चाहिए। वीरताके लिए यदि इनका प्रयोग किया जाय तो सर्वश्रेष्ठ हो और यदि हास्यके लिए प्रयुक्त हों तो अधिक उपयुक्त हो। कभी कभी राजनीतिक नाटकोंमें ऐसे बालकोंका प्रयोग किया गया है जिसमें बालकोंको यातनाएँ दी जाती हैं उन्हें पीटा जाता है और बाँधकर लटका दिया जाता है किन्तु ये सब प्रयोग अमानवीय हैं। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेवाले नाटककार सस्ती भावुकताको उत्तेजित करते हैं किन्तु उसमें कलाका अत्यन्त अभाव रहता है। फिर बालक अभिनेता एकत्र करने और शिक्षा देनेमें बड़ी असुविधा और कठिनाई होती है इसलिए जहाँतक सम्भव हो नाटकमें उनकी योजना नहीं करनी चाहिए।

बालक अवस्थाके पश्चात् आती है कुमार अवस्था जिसमें बालकका मन रचनात्मक अधिक हो जाता है वह नई-नई वस्तुओंको तोड़-फोड़कर अपने मनके अनुसार उन्हें सजाना चाहता है इसीलिए उसका मन प्रायः खेल-कूदमें अधिक लगता है पढ़ने-लिखनेमें कम। और पढ़ने-लिखनेमें भी वह किसी प्रकारका बन्धन नहीं चाहता जिस

विषयकी ओर उसकी रुचि होती उसी ओर वह प्रवृत्त होता है उसका मित्रमण्डल बढ़ने लगता है साथ मिलकर घूमने नटखटपन करने फूल-फल- चुराने पेड़ पहाड़पर चढ़ने तथा जानवरोंसे छेड़छाड़ करनेमें उसे विशेष आनन्द मिलता है इसी अवस्थामें निश्चिन्तता और भय दोनोंका प्रदर्शन होता चलता है। घरसे बाहर अपनी वृत्तिमें वह स्वतन्त्र और निश्चिन्त रहता है किन्तु अपनेसे बड़े अभिभावकोंकी डाँट-फटकार और दूसरा क्या कहेगा इस प्रकार सामाजिक भय उसके मनमें बढ़ने लगता है। इनमें जो दुर्ललित होते हैं वे प्रायः बड़ोंका अपमान करने और कहना न माननेमें भी संकोच नहीं करते हैं और यही दुर्ललित बालक आगे चलकर देश समाज परिवारके लिए बड़े भयानक हो जाते हैं। ऐसे दुर्ललित बालक असत्य बोलने चोरी करने और दूसरोंको तंग करनेमें विशेष दत्तचित्त होते हैं। उनके उर्वर मस्तिस्क सदा ऐसेही उत्पात सोचते रहते हैं जिनसे दूसरोंको कष्ट होते रहें उनसे उनकी मानसिक व्यथाका रस लें। इसी अवस्थामें अनेक प्रकारके व्यसन भी लग जाते हैं मिठाई, चाट, सिगरेट, चित्र, मेला आदिके व्यसन इसी अवस्थासे प्रारम्भ होने लगते हैं। इसी अवस्थामें जो बालक अधिक दब्बू होते हैं वे पिसुनी या चुगुलखोर हो जाते हैं और जिन्हें माता-पिता लाड़-प्यारसे शिरपर चढ़ा लेते हैं वे अभिमानी और उद्दण्ड हो जाते हैं। घरका वातावरण और बाहरकी संगति जैसी होती है वैसाही आचरण और स्वभाव बनने लगता है। नाटककारके लिए मनुष्यकी यही अवस्था पात्रयोजनाकी प्रारम्भिक अवस्था है। सभी प्रकारके रसोंमें इस प्रकारके पात्रोंकी योजना सफलतापूर्वक की जा सकती है।

किशोर अवस्थामें पहुँचकर बालकमें कुछ विचारशीलता और विवेक आजाता है वह अपना दायित्व समझने लगता है हित और अहित भला और बुरा कर्तव्य अकर्तव्य सबकी पहिचान उसे होने लगती है। जिन किशोर बालकोंपर कम नियन्त्रण रहता है या रहता ही नहीं वे व्यसनी लोभी चोर कलह करनेवाले अभिमानी उद्दण्ड हठी और कुटिल हो जाते हैं। किन्तु जिनपर भली प्रकार नियन्त्रण होता है और जिन्हें संगति भी अच्छी मिल जाती है वे समाजके नेता उपदेशक अध्यापक वास्तविक नेता तथा विभिन्न कार्योंके व्यवस्थापक बन जाते हैं। किशोर अवस्था वास्तवमें कुमार और यौवनके बीचकी अवस्था है इस संक्रमण कालमें दो लालसायें बड़ी प्रबल हो जाती हैं एक तो लोकमें प्रसिद्ध होनेकी और दूसरी कामवासना की। इनके लिए यदि पूरे संयमकी शिक्षा नहीं दी जाती और संगति भी कुटिल होती हैं तो वह व्यक्ति समाजके लिए भयानक हो जाता किन्तु उचित शिक्षा और उचित संगति मिलनेपर वही व्यक्ति सद्गृहस्थ और स्नेही पति हो जाता है। जो अत्यन्त पीड़ित रहते हैं जिनकी लालसायें कुचल दी जाती हैं जिनके उन्नति मार्गमें निरन्तर बाधाएँ आगे रहती हैं वे साहसहीन आलसी दब्बू सब बातोंमें दूसरोंके कथनानुसार चलनेवाले दैन्यपूर्ण और कायर होते हैं। न उनका कोई अपना मत होता है न इच्छा होती है ये सदा परावलम्बी होते हैं। यहाँतक कि कभी कभी स्वयं अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले साधारण कार्योंके लिए भी वे दूसरोंसे सम्मति लेनेका प्रयत्न करते हैं ऐसे ही लोग रूढ़िपालक अन्धविश्वासी सबको सदा प्रसन्न रखनेकी चेष्टा रखनेवाले और चाटुकार होते हैं। अपने साथियों और अपनेसे छोटोंको भी ये अपना विश्वास पात्र बनाकर उनसे सम्मति लेने और उनकी सम्मतिके अनुसार कार्य करनेमें अपना अहो भाग्य समझते हैं। ऐसे लोग प्रायः चिन्तित उदास और सुस्त रहते हैं जिन्हें देखकर यह प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण गृहस्थी और राज्यका भार इन्हींपर आपड़ा हो ये बहुत ही कल्पनाशील और चिन्तनशील होते हैं। इनके अतिरिक्त किशोर अवस्थामें ही बालक इतने अधिक-स्फूर्तिशाली गतिशील और प्रत्येक कार्यको बड़ी लगन और उत्साहसे करने वाले होते हैं। वे भी अत्यन्त मननशील और कल्पनाशील होते हैं किन्तु ये लोग अपनी कल्पनाको मूर्तिमान करनेके लिए आकाश पाताल एक कर देते हैं व्यक्ति और साधनका संग्रह करते हैं और अपने बलसे तथा साहससे ही अपनाकार्य पूर्ण करलेते हैं। ऐसे ही लोग आगे चलकर महापुरुष होते हैं। इसी अवस्थामें जिन्हे बनने संवरने और कपड़ा लत्ता पहनने तथा अलंकारका व्यसन हो जाता है वे आग चलकर छैले हो जाते हैं। इनमें से अधिकांश कलाप्रिय संगीतप्रिय और सौन्दर्यप्रिय होते हैं और जो धनी हो जाते हैं वे ही बिगड़े हुए रईस बन जाते हैं। नाटककार ऐसे पात्रोंके साथ कुल

संस्कार, संगति और परिस्थितिका सम्मिश्रण करके अद्भुत चरित्रोंका सर्जन कर सकता है।

बालक, कुमार, और किशोर तीनों अवस्थाओंमें यद्यपि अन्तर बहुत थोड़ा-थोड़ा है किन्तु इन्हीं थोड़ेसे वर्षोंमें वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ इतनी जटिल बहुमुखी और निश्चित हो जाती है कि आगेके सम्पूर्ण जीवनका अध्ययन उसी समय करलिया जा सकता है "होनहार विरवानके होत चीकने पात" की उक्ति इसी लिये हुई हैं। किन्तु कुछ ऐसी आकस्मिक परिस्थितियाँ आ जाती हैं कि मनुष्यको विवश होकर अपनी वृत्ति और प्रवृत्ति बदलनी ही पड़ती है। सहसा अपने मुख्य आश्रयदाताका अन्त हो जाना किसी कारणवश जैसे व्यापारनष्ट होने आग लगने चोरी या डकैती होने राजनीतिक उथलपुथल होने अथवा आजकल कोपमें (बैंक) दीवालिया हो जानेपर जब सहसा दरिद्रता आ जाती है उस समय बड़ेसे बड़े अकर्मण्य और आलसी लोगोंको भी कर्म होते देखा गया है। अतः नाटककारको अपने पात्रोंकी मानसिक स्थितिमें सहसा स्वतः परिवर्तन न दिखाकर किसी ऐसे कारणकी योजना करनी चाहिए जिसमें वह पात्रके स्वभावके विपरीत या अनुकूल न जान पड़े और न अस्वभाविक हो प्रतीत हो।

संसार भरके तरुण पुरुषोंमें तीन प्रकारके लोग दिखाई देते हैं। एक अनुरक्त जो संसारकी सम्पूर्ण मायामें मनसे या विवश होकर योग दे रहे हैं। दूसरे विरक्त जो संसारको माया समझकर उसके सम्पूर्ण सुख दुःखसे अलग हो गये हैं। तीसरे वे हैं जो उदासीन वृत्तिसे संसारमें रहते हैं। इनमें कुछ तो स्वभावतः और जानबूझकर उदासीन हैं और कुछ ऐसे हैं जो जड़बुद्धि, अकर्मण्य और आलसी होनेके कारण उदासीन बने रहते हैं। इन तीनों प्रकृतिवाले पुरुषोंमेंसे उदासीनका प्रयोग नाटकमें नहीं होता। कभी कभी जड़बुद्धि अकर्मण्य या आलसियोंका चरित्र हास्यके लिए निरूपितकर दिया जाता है। विरक्त भी दो प्रकारके होते हैं। एकतो वे हैं जो वास्तवमें शुद्धज्ञान प्राप्तकर लेनेके कारण मोह, मायासे ऊपर उठगये हैं। दूसरे वे हैं जो विरक्तिका ढोङ करते हैं और इस बहाने लोगोंकी श्रद्धा और भक्तिके भाजन बनते हैं। छल प्रपञ्चके नाटकोंमें इस प्रकारके पात्र बड़े उपयुक्त होते हैं। किन्तु अधिकांश नाटकोंकी सामग्री इन पात्रोंसे प्राप्त होती है जो विश्वकी मोह मायामें पूर्णतः मनसे अथवा विवश होकर अनुरक्त हुए हैं। ये अनुरक्त भी दो प्रकारके हैं। एक लोक संग्रही दूसरे स्वार्थी। स्वार्थियामें विषयी, लोभी, प्रतिस्पर्धी, ईर्ष्यालु अभिमानी, क्रोधी, मूढ और महत्वाकांक्षी होते हैं। लोक संग्रहीके अन्तर्गत साहसी परमार्थी, लोकसेवक आदि वे सब प्रकारके पुरुष आते हैं उसे अपने मित्रों, बन्धुओं, देशवासियोंके लिये अथवा सामूहिक रूपसे मित्र, बन्धु, जाति, राष्ट्र तथा धर्मके लिये सवरब त्याग करनेको तैयार हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं। एकतो वे हैं जो अपना हित करते हुए दूसरोंका हित करते हैं। दूसरे ऐसे हैं जो आपना अहित करके भी दूसरेका हित करते हैं और तीसरे ऐसे हैं जो केवल परहित ही करते हैं अपने हितका चिन्तन ही नहीं करते। ऐसे ही लोग समाजमें आदर्शकी प्रतिष्ठा करते हैं। सभी महापुरुष इसी श्रेणीके होते हैं। इनमेंसे जो अपना अहित करके भी दूसरेका हित करे वह सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसे एक अंग्रेजीनाटकमें एक महिलाके पुत्रको किसी दुष्टने अनजानमें गोलीमारदी और फिर वह पुलिसके हाथसे बचनेके लिए उसी महिलाके घरमें शरण लेने चला गया। उसे यह ज्ञात नहीं था कि यह मृतककी ही माता है। उस महिलाने उस हत्यारेको अपने घरमें छिपा लिया पुलिसवाले ढूढ़ते हुए वहां जा पहुँचे तो उसे ज्ञात हुआ कि मेरे ही पुत्रकी हत्या हुई है और मैंने ही उस हत्यारे को शरण दी है। किन्तु उसने अपने मनोवेगको रोककर अपनी व्यथा छिपाकर उस हत्यारेके प्राणोंकी रक्षा करली। यद्यपि नैतिकदृष्टिसे हत्यारेकी रक्षाकरना उचित नहीं है किन्तु यहाँपर उस महिलाने जानबूझकर स्वयं अपने पुत्रके हत्याकारीकी रक्षा की। अर्थात् उसने अपने पुत्रके निधनको भूलकर अपने अहित करनेवाले उस हत्यारेको करुणा वश बचा लिया। यही उसके चरित्रकी महत्ता है।

दूसरी श्रेणीके लोकसंग्रही वे हैं जो केवल दूसरोंका हित करते हैं। ऐसे लोग प्रायः वे होते हैं जिनके कोई आगे पीछे नहीं होता है। वे सभीको अपना बन्धु मान लेते हैं। और परहित ही उनकी वृत्ति हो जाती है। किन्तु अपना सबको बन्धु माननेके कारण इनका परहित भी एक प्रकारसे स्वहित या स्वबन्धुहित ही हो जाता है। तीसरी श्रेणीके लोकसंग्रही वे हैं जो अपना हित करते हुए दूसरे-का हित करते रहते हैं किन्तु जब अपने हितमें बाधा पड़ती

है तो वे पर हित छोड़ देते हैं और स्वहित चिन्तन करते हैं।

साहसी लोगभी दो प्रकारके होते हैं। एक सुसाहसी और दूसरे दुस्साहसी। सुसाहसी वे हैं जो दूसरेके हित के लिए अपने काम संकटमें डाल देते हैं और दुस्साहसी वे हैं जो अपनी प्रतिष्ठा, यश या स्वार्थ साधनके लिए अपने सामर्थ्यसे बाहरका दुःसाध्य कामकर बैठते हैं। हिमालयपर चढ़नेवाले, उत्तर दक्षिण ध्रुवकी खोजने वाले समुद्रतरुसे मोती बटोरने वाले- नये नये भयानक अन्वेषण करनेवाले, वेग या गतिका परिमाण स्थिर करनेवाले, विमान चालक या मोटर चालक सब- दुःसाहसी होते हैं और जलते हुए घरमेंसे बच्चोंको निकाल लाना, डूबते हुए को बचानेके लिए कूद पड़ना आदि सुसाहसके कार्य हैं।

इसके अनन्तर अनुरक्त स्वार्थियोंकी भी मीमांसा कर लेनी चाहिए। विषयी स्वार्थी दो प्रकारके होते हैं एक शान्त दूसरे प्रचण्ड। शान्त वे हैं जो विषयी तो होते हैं किन्तु उसके लिए प्रयत्नशील नहीं होते। उन्हें विलास की सामग्री मिल जाय तो उसे उपभोग करनेमें वे किसी प्रकारका संकोच नहीं करेंगे किन्तु यदि न मिले तो उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करेंगे। प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न-करके विलासकी सामग्री एकत्रित करते हैं और उनका उपभोग करते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विलासकी सामग्री केवल दूसरोंपर शान जमानेके लिये अपनी महत्ताकी धाक बैठानेके लिए अथवा केवल प्रदर्शन व प्रचारके लिये सामग्री एकत्र करते हैं। प्रशंसाके भूखे हैं और हृदयके बड़े धनी होते हैं। किसीके गुणपर रीझकर उसे बहुत कुछ देडालना केवल अपनी बात रखनेके लिए सर्वस्व लुटा डालना अपने मित्र या शरणागतके लिये सब कुछ करनेको उद्यत होना इनका स्वभाव होता है। ये लोग अत्यन्त उदार, निष्कपट बातके धनी और स्पष्टवादी होते हैं इनपर भरोसा किया जा सकता है और ऐसे लोग मित्रताका निर्वाह भी करते हैं। ये लोग केवल यश लोलुप होते हैं।

इनकी प्रशंसा करके कोई भी इनसे चाहे जो ले सकता है। दूसरी प्रकारके प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न करके विलास सामग्री एकत्र करते हैं किन्तु स्वयं अकेले उसका उपभोग करना चाहते हैं। दूसरेका वैभव देखकर इन्हें ईर्ष्या होती है। वे अत्यन्त अविवेकके साथ विषयोंमें लिप्त रहते हैं किसीका उपदेश नहीं सुनते और प्रायः इस वृत्तिके होते हैं कि मेरा धन है मैं उपभोग करता हूँ तुम बीचमें क्या बोलते हो। इन्हें चाटुकारिता अच्छी नहीं लगती। यश भी इनको प्रिय नहीं है। ये एकान्तमें अविज्ञात रूपसे वासनाकी साधना अच्छा समझते हैं। ऐसे लोग किसीके मित्र नहीं होते और यदि मित्र बने भी तो ये मित्रताका निर्वाह नहीं कर सकते। ये लोग बड़े अविश्वस्त होते हैं। किसी भी बातमें इनका विश्वास नहीं किया जा सकता, इनपर अवलम्बित नहीं रहा जा सकता। यह अपने स्वार्थके लिये बड़ेसे बड़ा पाप करने या करानेमें संकोच नहीं कर सकते। बड़ेसे बड़े सम्बन्धी और मित्रको मार्गसे हटानेके लिये क्षुद्रतम उपायों और साधनोंका आश्रय ले सकता है। अत्याचार करने वचन भंग करने और असत्य बोलनेमें उसे किसी प्रकारकी शंका नहीं होती और अपने भोगकी सामग्री, अपने गुरुजन, परिजनके यहाँसे प्राप्त करनेमें वह हिचकिचा नहीं सकता। यह समाजका सबसे बड़ा शत्रु होता है।

अनुरक्त लोभीका सबसे बड़ा दोष यही है कि वह धन प्राप्त करनेके किसी भी उपायको अवैध और अनैतिक नहीं मानता और इस द्रव्य प्राप्तिके लिए वह अपना घर कुटुम्ब छोड़कर विदेशमें रह सकता है, अपने कुटुम्बियोंका निधन देख सकता है, अपमान भी सह सकता है और किसी भी प्रकारके दुराचरणके लिये तैयार हो सकता है। यहाँतक कि अपनी पत्नी और कन्या भी उसको दे सकता है जिससे कुछ द्रव्य प्राप्तिकी सम्भावना हो। इसका सिद्धान्त है "चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।"

वह अपने ऊपर व्यय नहीं करता। उसे धनसंग्रहमें ही सुख मिलता है। द्रव्य देखकर और गिनकर उसे आनन्द मिलता है। ऐसे कृपण और लोभी पात्र या तो हास्य रसके आलम्बन हो सकते हैं अथवा प्रतिनायकके रूपमें नाटकमें लाए जा सकते हैं। उनके हृदयमें दया और करुणा नहीं होती ये भी समाजके लिए निरर्थक वस्तु हैं।

अनुरक्त प्रतिस्पर्धी वे हैं जो दूसरेकी उन्नति देखकर स्वयं भी उसी प्रकार उन्नति करनेकी चेष्टा करते हैं। यह

प्रतिस्पर्धा की भावना तबतक स्वस्थ कहलाती है जबतक उसमें दूसरेका अहित करनेकी भावना न हो। वे प्रतिस्पर्धी बड़े परिश्रमी प्रयत्नशील, विनम्र, अध्यवसायी और आज्ञाकारी होते हैं। अपनी प्रतिस्पर्धा पूरी करनेके लिये ये बड़ेसे बड़ा कष्ट उठानेको तैयार रहते हैं। और प्रतिस्पर्धा पूरी हो जानेपर बिना आत्म विज्ञापन किए आत्मसंतोषकी साँस लेते हैं। उनकी मानसिक तृप्ति तभी हो जाती है जब ये अपनेको अपने प्रतिस्पर्धीके समान समझ लेते हैं। प्रायः प्रतिस्पर्धाकी भावना विद्वानों, कलाकारों और शिल्पज्ञोंमें ही होती है। मैं अमुक पण्डितके समान शास्त्रार्थ करने लगूँ, अमुक चित्रकारके समान चित्र खींचने लगूँ, अमुक संगीतज्ञके समान गाने लगूँ और अमुक शिल्पीके समान हाथीदाँतकी मूर्तियाँ बनाने लगूँ। बस इतनी ही उनकी लालसा होती है और विचित्र बात तो यह है कि कभी कभी ये लोग अपने प्रतिस्पर्धीके पास पहुँचकर उससे गुणग्रहण करते हैं और अपनी प्रतिस्पर्धाकी भावना तृप्त करते हैं। इनकी वृत्ति शुद्ध सात्विक होती है। केवल स्पर्धाका थोड़ा सा रजोगुण उसे स्पर्श करता रहता है और उसीके कारण वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यह प्रतिस्पर्धाकी भावना प्रायः समान-कुल-शील-व्यसनवालोंमें होती है और आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होनेके कारण इसकी उत्पत्ति होती है। हम और ये एकही कुलके एक ही अवस्थाके हैं, एक ही सामर्थ्यके हैं फिर भी इसकी इतनी प्रशंसा होती है मैं भी ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरा भी इसीके समान यश या नाम हो। यही भावना प्रतिस्पर्धीको प्रोत्साहित करती रहती है।

अनुरक्त ईर्ष्यालु प्रतिस्पर्धीका ठीक उलटा होता है। वह दूसरेकी उन्नति देखकर कुढ़ता है और यह प्रयत्न करता है कि किसी प्रकार इसको नीचा दिखाया जाय और इसके लिए वह प्रयत्न करता रहता है। ईर्ष्यालु व्यक्तिमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है। उसे अपनी असमर्थताके कारण यह निश्चय हो जाता है कि मैं अपने प्रतिस्पर्धीके समान विद्या, धन, यश, लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता। तब वह अनेक अवैध व अनैतिक उपायोंसे अपने प्रतिस्पर्धीकी हानि पहुँचानेमें लग जाता है। वह प्रतिस्पर्धीकी निन्दा करता है और अनायास गुणोंको भी दोष रूपमें दिखानेका प्रयत्न करता है। ये ईर्ष्यालु तीन प्रकारके होते हैं। पर निन्दक, पिशुनी, मन ही मन जलनेवाला तथा अपनी हानि करके भी दूसरोंकी हानि करनेवाला होता है और ये सब भी दो-दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो किसी विशिष्ट व्यक्तिसे ही ईर्ष्या करते हैं और दूसरे वे जो समान रूपसे सभी उन्नत पुरुषोंसे जलते रहते हैं। व्यक्तिगत ईर्ष्या करनेवाले लोग अपने प्रतिस्पर्धीके चरित्रमें सर्वप्रथम दोष लगाते हैं। फिर उसके यशके कारणमें दोषका आरोप करते हैं। जैसे अमुक कविने अमुककी पुस्तक चुराकर प्रकाशित करा दी है उसको क्या आता जाता है। जिन क्षेत्रोंसे प्रतिस्पर्धीको यश मिलता है उन क्षेत्रोंमें अपनी ओरसे द्रव्य देकर या सहायता पहुँचाकर दूसरे प्रतिस्पर्धी खड़ेकर देते हैं। ये सब असद्रुचिवाले तथा नीच प्रकृतिके होते हैं। कुछ ऐसे हैं जो मन ही मन तो जलते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे न तो विरोध करते हैं न तो उनमें विरोध करनेका साहस ही होता है। किन्तु नीच प्रकृतिवाले ईर्ष्यालु अपने प्रतिस्पर्धीमें दोषका आरोप करनेके लिए वैसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। जैसी एक नाटकमें एक ईर्ष्यालु व्यक्तिने अपने विपक्षीको चरित्रहीन सिद्ध करनेके लिये एक वेश्याको पुरस्कार देकर उसके पास भेज दिया और फिर कुछ लोगोंको एकत्र करके यह लोकापवाद खड़ाकर देता है कि इसका वेश्यासे सम्बन्ध है। यह ईर्ष्या भी प्रायः समान कुलशीलव्यसनवालोंमें होती है। दायाद सम्बन्धवालोंमें इस प्रकारकी ईर्ष्या प्रायः दृष्टिगोचर होती है और जो सम्बन्ध या विशेष गुणयुक्त सम्बन्धी होते हैं वे अपने किसी न किसी आचरणसे उस ईर्ष्याको भड़काते रहते हैं। जैसे विवाह आदिमें बहुत धूमधाम दिखाना, सामाजिक कार्योंमें अधिक भाग लेना, राजकीयपद ग्रहण करना। एकसा व्यापार, व्यवसाय करनेवालोंमें भी इसी प्रकारकी ईर्ष्या होती है। जैसे गवैये, चित्रकार, एक ही वस्तुका व्यापार करनेवाले व्यापारी, एक ही विषय पढ़ानेवाले अध्यापक आदि इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। एक क्षेत्रमें काम करनेवाले लोग भी प्रायः इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। जैसे राजनीतिक नेता अथवा एक ही कार्यालयमें काम करनेवाले अनेक व्यक्ति जिनकी आर्थिक

है तो वे पर हित छोड़ देते हैं और स्वहित चिन्तन करते हैं।

साहसी लोगभी दो प्रकारके होते हैं। एक सुसाहसी और दूसरे दुस्साहसी। सुसाहसी वे हैं जो दूसरेके हित के लिए अपने काम संकटमें डाल देते हैं और दुस्साहसी वे हैं जो अपनी प्रतिष्ठा, यश या स्वार्थ साधनके लिए अपने सामर्थ्यसे बाहरका दुःसाध्य कामकर बैठते हैं। हिमालयपर चढ़नेवाले, उत्तर दक्षिण ध्रुवकी खोजने वाले समुद्रतरसे मोती बटोरने वाले- नये नये भयानक अन्वेषण करनेवाले, वेग या गतिका परिमाण स्थिर करनेवाले, विमान चालक या मोटर चालक सब- दुःसाहसी होते हैं और जलते हुए घरमेंसे बच्चोंको निकाल लाना, डूबते हुए को बचानेके लिए कूद पड़ना आदि सुसाहसके कार्य हैं।

इसके अनन्तर अनुरक्त स्वार्थियोंकी भी मीमांसा कर लेनी चाहिए। विषयी स्वार्थी दो प्रकारके होते हैं एक शान्त दूसरे प्रचण्ड। शान्त वे हैं जो विषयी तो होते हैं किन्तु उसके लिए प्रयत्नशील नहीं होते। उन्हें विलास की सामग्री मिल जाय तो उसे उपभोग करनेमें वे किसी प्रकारका संकोच नहीं करेंगे किन्तु यदि न मिले तो उसके लिए प्रयत्न भी नहीं करेंगे। प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न-करके विलासकी सामग्री एकत्रित करते हैं और उनका उपभोग करते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो विलासकी सामग्री केवल दूसरोंपर शान जमानेके लिये अपनी महत्ताकी धाक बैठानेके लिए अथवा केवल प्रदर्शन व प्रचारके लिये सामग्री एकत्र करते हैं। प्रशंसाके भूखे हैं और हृदयके बड़े धनी होते हैं। किसीके गुणपर रीझकर उसे बहुत कुछ देडालना केवल अपनी बात रखनेके लिए सर्वस्व लुटा डालना अपने मित्र या शरणागतके लिये सब कुछ करनेको उद्यत होना इनका स्वभाव होता है। ये लोग अत्यन्त उदार, निष्कपट बातके धनी और स्पष्टवादी होते हैं इनपर भरोसा किया जा सकता है और ऐसे लोग मित्रताका निर्वाह भी करते हैं। ये लोग केवल यश लोलुप होते हैं।

इनकी प्रशंसा करके कोई भी इनसे चाहे जो ले सकता है। दूसरी प्रकारके प्रचण्ड विषयी वे हैं जो प्रयत्न करके विलास सामग्री एकत्र करते हैं किन्तु स्वयं अकेले उसका उपभोग करना चाहते हैं। दूसरेका वैभव देखकर इन्हें ईर्ष्या होती है। वे अत्यन्त अविवेकके साथ विषयोंमें लिप्त रहते हैं किसीका उपदेश नहीं सुनते और प्रायः इस वृत्तिके होते हैं कि मेरा धन है मैं उपभोग करता हूँ; तुम बीचमें क्या बोलते हो। इन्हें चाटुकारिता अच्छी नहीं लगती। यश भी इनको प्रिय नहीं है। ये एकान्तमें अविज्ञात रूपसे वासनाकी साधना अच्छा समझते हैं। ऐसे लोग किसीके मित्र नहीं होते और यदि मित्र बने भी तो ये मित्रताका निर्वाह नहीं कर सकते। ये लोग बड़े अविश्वस्त होते हैं। किसी भी बातमें इनका विश्वास नहीं किया जा सकता, इनपर अवलम्बित नहीं रहा जा सकता। यह अपने स्वार्थके लिये बड़ेसे बड़ा पाप करने या करानेमें संकोच नहीं कर सकते। बड़ेसे बड़े सम्बन्धी और मित्रको मार्गसे हटानेके लिये क्षुद्रतम उपायों और साधनोंका आश्रय ले सकता है। अत्याचार करने वचन भंग करने और असत्य बोलनेमें उसे किसी प्रकारकी शंका नहीं होती और अपने भोगकी सामग्री, अपने गुरुजन, परिजनके यहाँसे प्राप्त करनेमें वह हिचकिचा नहीं सकता। यह समाजका सबसे बड़ा शत्रु होता है।

अनुरक्त लोभीका सबसे बड़ा दोष यही है कि वह धन प्राप्त करनेके किसी भी उपायको अवैध और अनैतिक नहीं मानता और इस द्रव्य प्राप्तिके लिए वह अपना घर कुटुम्ब छोड़कर विदेशमें रह सकता है, अपने कुटुम्बियोंका निधन देख सकता है, अपमान भी सह सकता है और किसी भी प्रकारके दुराचरणके लिये तैयार हो सकता है। यहाँतक कि अपनी पत्नी और कन्या भी उसको दे सकता है जिससे कुछ द्रव्य प्राप्तिकी सम्भावना हो। इसका सिद्धान्त है "चमड़ी जाय पर दमड़ी न जाय।"

वह अपने ऊपर व्यय नहीं करता। उसे धनसंग्रहमें ही सुख मिलता है। द्रव्य देखकर और गिनकर उसे आनन्द मिलता है। ऐसे कृपण और लोभी पात्र या तो हास्य रसके आलम्बन हो सकते हैं अथवा प्रतिनायकके रूपमें नाटकमें लाए जा सकते हैं। उनके हृदयमें दया और करुणा नहीं होती ये भी समाजके लिए निरर्थक वस्तु हैं।

अनुरक्त प्रतिस्पर्धी वे हैं जो दूसरेकी उन्नति देखकर स्वयं भी उसी प्रकार उन्नति करनेकी चेष्टा करते हैं। यह

प्रतिस्पर्धा की भावना तबतक स्वस्थ कहलाती है जबतक उसमें दूसरेका अहित करनेकी भावना न हो। वे प्रतिस्पर्धी बड़े परिश्रमी प्रयत्नशील, विनम्र, अध्यवसायी और आज्ञाकारी होते हैं। अपनी प्रतिस्पर्धा पूरी करनेके लिये ये बढ़ेसे बड़ा कष्ट उठानेको तैयार रहते हैं। और प्रतिस्पर्धा पूरी हो जानेपर बिना आत्म विज्ञापन किए आत्मसंतोषकी साँस लेते हैं। उनकी मानसिक तृप्ति तभी हो जाती है जब ये अपनेको अपने प्रतिस्पर्धीके समान समझ लेते हैं। प्रायः प्रतिस्पर्धाकी भावना विद्वानों, कलाकारों और शिल्पज्ञोंमें ही होती है। मैं अमुक पण्डितके समान शास्त्रार्थ करने लगूँ, अमुक चित्रकारके समान चित्र खीचने लगूँ, अमुक संगीतज्ञके समान गाने लगूँ और अमुक शिल्पीके समान हाथीदाँतकी मूर्तियाँ बनाने लगूँ। बस इतनी ही उनकी लालसा होती है और विचित्र बात तो यह है कि कभी कभी ये लोग अपने प्रतिस्पर्धीके पास पहुँचकर उससे गुणग्रहण करते हैं और अपनी प्रतिस्पर्धाकी भावना तृप्त करते हैं। इनकी वृत्ति शुद्ध सात्विक होती है। केवल स्पर्धाका थोड़ा सा रजोगुण उसे स्पर्श करता रहता है और उसीके कारण वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यह प्रतिस्पर्धाकी भावना प्रायः समान-कुल-शील-व्यसनवालोंमें होती है और आत्महीनताकी भावनासे प्रेरित होनेके कारण इसकी उत्पत्ति होती है। हम और ये एकही कुलके एक ही अवस्थाके हैं, एक ही सामर्थ्यके हैं फिर भी इसकी इतनी प्रशंसा होती है मैं भी ऐसा प्रयत्न करूँगा कि मेरा भी इसीके समान यश या नाम हो। यही भावना प्रतिस्पर्धीको प्रोत्साहित करती रहती है।

अनुरक्त ईर्ष्यालु प्रतिस्पर्धीका ठीक उलटा होता है। वह दूसरेकी उन्नति देखकर कुढ़ता है और यह प्रयत्न करता है कि किसी प्रकार इसको नीचा दिखाया जाय और इसके लिए वह प्रत्यत्न करता रहता है। ईर्ष्यालु व्यक्तिमें तमोगुणकी प्रधानता रहती है। उसे अपनी असमर्थताके कारण यह निश्चय हो जाता है कि मैं अपने प्रतिस्पर्धीके समान विद्या, धन, यश, लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकता। तब वह अनेक अवैध व अनैतिक उपायोंसे अपने प्रतिस्पर्धीकी हानि पहुँचानेमें लग जाता है। वह प्रतिस्पर्धीकी निन्दा करता है और अनायास गुणोंको भी दोष रूपमें दिखानेका प्रयत्न करता है। ये ईर्ष्यालु तीन प्रकारके होते हैं। पर निन्दक, पिशुनी, मन ही मन जलनेवाला तथा अपनी हानि करके भी दूसरोंकी हानि करनेवाला होता है और ये सब भी दो-दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो किसी विशिष्ट व्यक्तिसे ही ईर्ष्या करते हैं और दूसरे वे जो समान रूपसे सभी उन्नत पुरुषोंसे जलते रहते हैं। व्यक्तिगत ईर्ष्या करनेवाले लोग अपने प्रतिस्पर्धीके चरित्रमें सर्वप्रथम दोष लगाते हैं। फिर उसके यशके कारणमें दोषका आरोप करते हैं। जैसे अमुक कविने अमुककी पुस्तक चुराकर प्रकाशित करा दी है उसको क्या आता जाता है। जिन क्षेत्रोंसे प्रतिस्पर्धीको यश मिलता है उन क्षेत्रोंमें अपनी ओरसे द्रव्य देकर या सहायता पहुँचाकर दूसरे प्रतिस्पर्धी खड़ेकर देते हैं। ये सब असद्वृत्ति वाले तथा नीच प्रकृतिके होते हैं। कुछ ऐसे हैं जो मन ही मन तो जलते हैं किन्तु प्रत्यक्ष रूपसे न तो विरोध करते हैं न तो उनमें विरोध करनेका साहस ही होता है। किन्तु नीच प्रकृतिवाले ईर्ष्यालु अपने प्रतिस्पर्धीमें दोषका आरोप करनेके लिए वैसी स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं। जैसी एक नाटकमें एक ईर्ष्यालु व्यक्तिने अपने विपक्षीको चरित्रहीन सिद्ध करनेके लिये एक वेश्याको पुरस्कार देकर उसके पास भेज दिया और फिर कुछ लोगोंको एकत्र करके यह लोकापवाद खड़ाकर देता है कि इसका वेश्यासे सम्बन्ध है। यह ईर्ष्या भी प्रायः समान कुलशीलव्यसनवालोंमें होती है। दायाद सम्बन्धवालोंमें इस प्रकारकी ईर्ष्या प्रायः दृष्टिगोचर होती है और जो सम्बन्ध या विशेष गुणयुक्त सम्बन्धी होते हैं वे अपने किसी न किसी आचरणसे उस ईर्ष्याको भड़काते रहते हैं। जैसे विवाह आदिमें बहुत धूमधाम दिखाना, सामाजिक कार्योंमें अधिक भाग लेना, राजकीयपद ग्रहण करना। एकसा व्यापार, व्यवसाय करनेवालोंमें भी इसी प्रकारकी ईर्ष्या होती है। जैसे गवैये, चित्रकार, एक ही वस्तुका व्यापार करनेवाले व्यापारी, एक ही विषय पढ़ानेवाले अध्यापक आदि इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। एक क्षेत्रमें काम करनेवाले लोग भी प्रायः इसी प्रकारकी ईर्ष्या करते हैं। जैसे राजनीतिक नेता अथवा एक ही कार्यालयमें काम करनेवाले अनेक व्यक्ति जिनकी आर्थिक

आदिके विरुद्ध कोई अपमान जनक बात न सुन सकते हैं न सह सकते हैं। ये बड़े उत्कृष्ट कोटिके अभिमानी हैं। समाज तथा जातिके नेतृत्वके लिए ऐसे लोग अधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो बिना किसी गुणके ही अपने आत्मसम्मानके पीछे पागल रहते हैं। मैं वशिष्ठके वंशका हूँ मैं रामके वंशका हूँ हमारे दादा पहलवान थे आदि कहनेवाले लोग हैं। किन्तु वास्तविक आत्मसम्मानी या आत्माभिमानी वे हैं जो मन, वचन और कर्मसे शुद्ध होते हैं। जिनमें चरित्रबल और आत्मबल होता है और जो अपने आत्माभिमानीके कारण बड़ीसे बड़ी शक्तिसे भी सत्यका पक्ष लेकर लोहा लेनेमें भय नहीं करते ये लोग निर्भीक सच्चरित्र, लोकप्रिय तथा आत्मत्यागी होते हैं। दूसरेकी विपत्ति दूर करनेके लिए सर्वस्व त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने परिवारसे कम सम्बन्ध रखते हैं और प्रायः ऐसी समस्याओंको लेकर खड़े होते हैं जो सब ओरसे उपेक्षित की जा चुकी हो। वास्तवमें ये आत्माभिमानी प्रकृतितः लोकसंग्रही ही होते हैं किन्तु लोकसंग्रहीमें जो विनय और सुशीलता होती है उनका इनमें अभाव होता है। ये लोग किसी भी प्रकारके उपचारका विचार किए बिना कुछ भी कह सकते हैं और इसीलिए ये कुछ उद्धत और मुँहफट होते हैं। ऐसे लोग जहाँ एक ओर समाजका कल्याण करते हैं वहाँ कुछ लोगोंसे टन्टा भी मोल ले लेते हैं। सब प्रकारके नाटकोंके लिए ऐसे पात्र बहुत उपयुक्त होते हैं।

अनुरक्त क्रोधी भी तीन प्रकारके होते हैं। एक अकारणक्रोधी दूसरे आवेशक्रोधी और तीसरे चिड़चिड़े। अकारण क्रोधी वे होते हैं जो क्रोधके लिये अवसर ढूंढ़ा करते हैं। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि वे अपने या परायोंके ऐसे दोषोंकी तालिका बनावें जिनपर क्रोध करनेके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही न हो। इस श्रेणीमें वे लोग आते हैं जो अपनी पुस्तक तनिकसी हटाकर रखनेमें तकिया टेढ़ा कर देनेमें गिलास उलटकर न रखनेमें यहाँ तक कि कोई एक बार पानी पीकर थोड़ी देर बाद पानी माँगे तो महाभारत खड़ा कर दे सकते हैं मेरी खाट यहाँ क्यों बिछाई मेरी वस्तु क्यों छुई, मेरे प्रकोष्ठमें क्यों घुसे यहाँ तक कि ऐसे भी अकारण क्रोधी हुए हैं जिन्होंने सामने किसीको मूंछ मरोड़ते देखकर उसका शिर उतार लिया। ऐसे अकारण क्रोधी लोग नाटकीय कथा प्रवाहमें बाधा उपस्थित करनेमें बहुत उपयुक्त होते हैं। दुर्वासा ऋषिकी गणना इसी कोटिमें की जाती है।

आवेशक्रोधी वे होते हैं जो अपने किसी इष्ट कार्य या इष्ट वस्तुके प्रति दूसरोंके द्वारा पहुँचाये जानेवाले व्याघातको सहन नहीं कर सकते। यदि किसीने उनकी पुस्तक फाड़ दी तो वे आवेशजन्य क्रोधमें आकर उसकी आवश्यकतासे अधिक मरम्मत करेंगे। यदि किसीने उनके पुत्रको पीट दिया तो वह भी इनके आवेशमय क्रोधका भाजन बन सकता है। ऐसे लोग प्रायः कुछ निश्चित वस्तुओं या व्यक्तियोंके प्रति आशक्त रहते हैं और जहाँ उस व्यक्ति या वस्तुको किसीने छेड़ा कि ये आगबबूला हुए। ये आवेशक्रोधी जब क्रोधमें आते हैं तो काँपने लगते हैं मुह लाल हो जाता है चिल्ला-चिल्लाकर बकने लगते हैं। किन्तु ये सब गरजनेवाले होते हैं। केवल गाली दे सकते हैं और चिल्ला सकते हैं। इनके साथ विचित्र बात यह होती है कि यदि इनका कोई प्रतिरोध कर दे तो ठण्ढे हो जाते हैं। तभी तक सिंह बने रहते हैं जबतक कोई बोलता नहीं है। जहाँ कोई बोला ये भीगी बिल्ली बनकर घरमें घुस जाते हैं।

चिड़चिड़े स्वभाववाले वे होते हैं। जो सबसे असन्तुष्ट रहते हैं और किसीका कुछ बिगाड़नेकी क्षमता न होनेके कारण मन ही मन कुड़बुड़ाया करते हैं और अपना चिड़चिड़ापन तथा असन्तोष निरन्तर व्यक्त करते रहते हैं। प्रायः दुर्बल, रोगी और वृद्ध ही चिड़चिड़े होते हैं। किन्तु कभी-कभी घर या बाहरके दुष्ट बच्चे भी किसी दुर्बल, विकलाङ्ग हीनाङ्ग या रोगी या वृद्धको चिड़चिड़ा बना सकते हैं। चिड़चिड़ा होना अभ्यासपर अवलम्बित है यदि ऐसे लोगोंको अनुकूल वातावरण दिया जाय तो इनका चिड़चिड़ापन दूर किया जा सकता है। श्वसुर, दादा नाना बड़े बूढ़े काने लंगड़े, मोटे भोजनभट्ट आदि इसी श्रेणीके होते हैं और तनिक सा भी विरोध होनेपर उन्हें चिड़चिड़ा बननेमें देर नहीं लगती।

या सामाजिक उन्नति परस्पर संघर्षपर ही अवलम्बित हो। तात्पर्य यह है कि ईर्ष्याके लिए समान वृत्ति होनी चाहिए। चाहे वह राजनीतिक हो, सामाजिक हो, पारिवारिक हो, आर्थिक हो या व्यावसायिक हो।

अनुरक्त अभिमानी पुरुष तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो अपने सामने किसीको कुछ नही समझते। ये आत्मसर्वस्वी लोग प्रायः ऐसे ही लोग होते हैं जिनमें शरीर, धन या सैन्यका अधिक बल हो। यदि इन्हें कोई दैवीशक्ति तपस्या, या दैवप्रसाद द्वारा प्राप्त हो जाय तो इनका अभिमान बहुमुखी हो जाता है और अपनेको शक्तिमान तथा सर्वनियन्ता समझने लगते हैं। इन्हींमें कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें किसी एक ही गुणका बल होता है। जैसे रूपका बल, धनका बल, शरीरका बल, जातिबल, लोगबल, विद्याबल तथा इसी प्रकारका कोई एक बल होता है। इनकी प्रकृति ऐसी होती है कि ये कभी किसी बातमें न तो दूसरेसे सम्मति लेते हैं न दूसरेकी सम्मति मिलनेपर उसका आदर करते हैं। उलटे सम्मति देनेपर उसका विरोध करते हैं और अपमान करते हैं अपने किसी भी विरोधीको किसी प्रकारसे सतानेमें इन्हें संकोच नहीं होता किन्तु अपने पक्षके लोगोंका जमकर समर्थन करते हैं और उनका सब प्रकारसे पोषण करते हैं। ये प्रायः वाग्विवादी होते हैं और किसी भी प्रकार दूसरेसे परास्त नहीं होना चाहते। ये लोग प्रायः अपने मुखसे अपने पराक्रमका वर्णन करते हैं और यह चाहते हैं कि दूसरे भी हमारी बातका समर्थन करें। ये लोग दूसरोंसे ईर्ष्या भी करते हैं। दूसरेकी उन्नति देखकर चिढ़ते हैं। अपने दोष सदा छिपानेका प्रयत्न करते हैं और यदि किसी दूसरेको अपने दोष ज्ञात हो गए हों तो उनका विनाश करनेके लिए अथवा साम, दाम, दण्ड, भेद नीतिसे उनका मुह बन्द करने या उनको अपने पक्षमें लानेका प्रयत्न करते हैं। ये बड़े हटी और आनके पक्के होते हैं। प्राण-सङ्कटमें पड़ जानेपर भी किसीकी अधीनता नहीं स्वीकार करते न किसीके आगे दैन्य दिखाते और न किसीके आगे हाथ फैलाते। प्रायः ऐसे लोग अपनी शक्तिके कारण लोक रुचि तथा लोकमतके विरुद्ध खड़े रहनेमें ही अपना गौरव समझते हैं। ऐसे लोगोंका अन्त प्रायः बड़ा करुण होता है और उनका पतन भी सहसा अकस्मात हो जाता है।

दूसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी हैं। जो भ्रमवश अपनेको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। जिसके मनमें यह बात समा गई है कि संसारमें कोई भी मुझसे अधिक चतुर व बुद्धिमान नहीं हैं। इन्हें किसीका कोई गुण फूटी आँखों नहीं सुहाता। ये आत्मविस्मृत रहते हैं। दूसरोंका अपमान करते तथा दूसरोंका दोष दिखानेमें ही उनका सब समय जाता रहता है। ये प्रायः लोकद्वारा उपेक्षित होते हैं और इसीलिये ये लोकसे भी रुष्ट रहते हैं। यह किसीसे सन्तुष्ट नहीं रहते और सदा चिन्तित और उदासमुद्रामें रहते हैं। मानो विश्वभरकी सब आपत्तियाँ दूर करनेका भार इन्हींपर आ पड़ा हो। प्रौढ़ावस्थामें ये चिड़चिड़े हो जाते हैं और अपने आसपास रहनेवाले लोगोंपर तिन्नाया करते हैं। दिन रात सब प्रकारके लोगोंकी आलोचना करना ही उनका अभ्यास हो जाता है। ऐसे लोग बालकोंके चिढ़ानेकी अच्छी सामग्री बन जाते हैं। हास्य रसके लिये इनका सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। ऐसे लोग न किसीका हित कर सकते हैं न अहित ही।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त अभिमानी वे हैं जो केवल आत्मप्रशंसा करते हैं। ये दूसरोंकी प्रशंसा भी सुन लेते हैं और विरोध नहीं करते। किन्तु सदा यह चाहते रहते हैं सब लोग दूसरोंकी प्रशंसाके साथ मेरी भी प्रशंसा करें। अन्य कवियोंके साथ, नेताओंके साथ, लेखकोंके साथ, योद्धाओंके साथ, व्यापारियोंके साथ या सुन्दर पुरुषोंके साथ मेरी भी गिनती हो। यह उनकी इच्छा रहती है और इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे धन भी व्यय कर सकते हैं और परिश्रम भी कर सकते हैं। वास्तवमें ये उस प्रकारके अभिमानी नहीं हैं जैसे द्वितीय श्रेणीके। ये यद्यपि दूसरोंको बुरा नहीं कहते किन्तु अपनेको किसीसे कम भी नहीं मानते। इन्हींमें एक श्रेणी मूर्ख अभिमानियोंकी होती है जो बिना किसी गुणके ही पैसेके भरोसे सस्ते प्रशंसा पाना चाहते हैं। ऐसे लोगोंकी व्याख्या हम अलग करेंगे।

एक चौथे प्रकारके भी अनुरक्त अभिमानी होते हैं। जो अपनी कीर्ति, अपने यश, अपनी विद्या, अपने कुल

आदिके विरुद्ध कोई अपमान जनक बातें न सुन सकते हैं न सह सकते हैं। ये बड़े उत्कृष्ट कोटिके अभिमानी हैं। समाज तथा जातिके नेतृत्वके लिए ऐसे लोग अधिक लाभ-दायक सिद्ध होते हैं। इनमें भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो बिना किसी गुणके ही अपने आत्मसम्मानके पीछे पागल रहते हैं। मैं वशिष्ठके वंशका हूँ मैं रामके वंशका हूँ हमारे दादा पहलवान थे आदि कहनेवाले लोग हैं। किन्तु वास्तविक आत्मसम्मानी या आत्माभिमानी वे हैं जो मन, वचन और कर्मसे शुद्ध होते हैं। जिनमें चरित्रबल और आत्मबल होता है और जो अपने आत्मा-भिमानीके कारण बड़ीसे बड़ी शक्तिसे भी सत्यका पक्ष लेकर लोहा लेनेमें भय नहीं करते ये लोग निर्भीक सच्चरित्र, लोकप्रिय तथा आत्मत्यागी होते हैं। दूसरेकी विपत्ति दूर करनेके लिए सर्वस्व त्याग करनेको प्रस्तुत रहते हैं। ये लोग प्रायः अपने परिवारसे कम सम्बन्ध रखते हैं और प्रायः ऐसी समस्याओंको लेकर खड़े होते हैं जो सब ओरसे उपेक्षित की जा चुकी हो। वास्तवमें ये आत्माभिमानी प्रकृतितः लोकसंग्रही ही होते हैं किन्तु लोकसंग्रहीमें जो विनय और सुशीलता होती है उनका इनमें अभाव होता है। ये लोग किसी भी प्रकारके उपचारका विचार किए बिना कुछ भी कह सकते हैं और इसीलिए ये कुछ उद्धत और मुँहफट होते हैं। ऐसे लोग जहाँ एक ओर समाजका कल्याण करते हैं वहाँ कुछ लोगोंसे टन्टा भी मोल ले लेते हैं। सब प्रकारके नाटकोंके लिए ऐसे पात्र बहुत उपयुक्त होते हैं।

अनुरक्त क्रोधी भी तीन प्रकारके होते हैं। एक अकारणक्रोधी दूसरे आवेशक्रोधी और तीसरे चिड़चिड़े। अकारण क्रोधी वे होते हैं जो क्रोधके लिये अवसर ढूढ़ा करते हैं। उनकी प्रकृति ही ऐसी बन जाती है कि वे अपने या परायोंके ऐसे दोषोंकी तालिका बनावें जिनपर क्रोध करनेके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही न हो। इस श्रेणीमें वे लोग आते हैं जो अपनी पुस्तक तनिकसी हटाकर रखनेमें तकिया टेढ़ा कर देनेमें गिलास उलटकर न रखनेमें यहाँ तक कि कोई एक बार पानी पीकर थोड़ी देर बाद पानी माँगे तो महाभारत खड़ा कर दे सकते हैं मेरी खाट यहाँ क्यों बिछाई मेरी वस्तु क्यों छुई, मेरे प्रकोष्ठमें क्यों घुसे यहाँ तक कि ऐसे भी अकारण क्रोधी हुए हैं जिन्होंने सामने किसीको मूछ मरोड़ते देखकर उसका शिर उतार लिया। ऐसे अकारण क्रोधी लोग नाटकीय कथा प्रवाहमें बाधा उपस्थित करनेमें बहुत उपयुक्त होते हैं। दुर्वासा ऋषिकी गणना इसी कोटिमें की जाती है।

आवेशक्रोधी वे होते हैं जो अपने किसी इष्ट कार्य या इष्ट वस्तुके प्रति दूसरोंके द्वारा पहुँचाये जानेवाले व्याघातको सहन नहीं कर सकते। यदि किसीने उनकी पुस्तक फाड़ दी तो वे आवेशजन्य क्रोधमें आकर उसकी आवश्यकतासे अधिक मरम्मत करेंगे। यदि किसीने उनके पुत्रको पीट दिया तो वह भी इनके आवेशमय क्रोधका भाजन बन सकता है। ऐसे लोग प्रायः कुछ निश्चित वस्तुओं या व्यक्तियोंके प्रति आशक्त रहते हैं और जहाँ उस व्यक्ति या वस्तुको किसीने छेड़ा कि ये आगबबूला हुए। ये आवेशक्रोधी जब क्रोधमें आते हैं तो काँपने लगते हैं मुह लाल हो जाता है चिल्ला-चिल्लाकर बकने लगते हैं। किन्तु ये सब गरजनेवाले होते हैं। केवल गाली दे सकते हैं और चिल्ला सकते हैं। इनके साथ विचित्र बात यह होती है कि यदि इनका कोई प्रतिरोध कर दे तो ठण्ढे हो जाते हैं। तभी तक सिंह बने रहते हैं जबतक कोई बोलता नहीं है। जहाँ कोई बोला ये भीगी बिल्ली बनकर घरमें घुस जाते हैं।

चिड़चिड़े स्वभाववाले वे होते हैं। जो सबसे असन्तुष्ट रहते हैं और किसीका कुछ बिगाड़नेकी क्षमता न होनेके कारण मन ही मन कुड़बुड़ाया करते हैं और अपना चिड़चिड़ापन तथा असन्तोष निरन्तर व्यक्त करते रहते हैं। प्रायः दुर्बल, रोगी और वृद्ध ही चिड़चिड़े होते हैं। किन्तु कभी-कभी घर या बाहरके दुष्ट बच्चे भी किसी दुर्बल, विकलाङ्ग हीनाङ्ग या रोगी या वृद्धको चिड़चिड़ा बना सकते हैं। चिड़चिड़ा होना अभ्यासपर अवलम्बित है यदि ऐसे लोगोंको अनुकूल वातावरण दिया जाय तो इनका चिड़चिड़ापन दूर किया जा सकता है। श्वसुर, दादा नाना बड़े बूढ़े काने लंगड़े, मोटे भोजनभट्ट आदि इसी श्रेणीके होते हैं और तनिक सा भी विरोध होनेपर उन्हें चिड़चिड़ा बननेमें देर नहीं लगती।

जो लोग युद्धमें शत्रुके प्रति या अन्यायीके प्रति क्रोध दिखाते हैं वे सात्विक क्रोधी होते हैं । उनकी गणना लोक संग्रहियोंमें होती है । अतः उन्हें क्रोधी समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये ।

अनुरक्तमूढ़ तीन प्रकारके होते हैं एक,तो वे जो सदा भोले-भाले रहते हैं । जिनमें तनिक भी व्यवहार कुशलता नहीं होती । जिन्हें कोई भी मूर्ख बन.कर उनसे रूपया पैसा ऐंठकर अपना काम निकाल सकता है । ये स्वभावतः बड़े सज्जन होते हैं और स्वभावतः किसीका आहित नहीं चाहते हैं । सन्तोष ही इनका धन होता है । जो मिल जाय जितना मिल जाय उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं । इनमें जीवनकी कोई भी आकांक्षा नहीं रहती और ये संसारकी घटनाओंसे तनिक भी सम्पर्क नहीं रखते हैं । अपने छोटेसे संसारमें कूपमण्डूकके समान अपनेमें ही परिमित रहते हैं । ऐसे लोग प्रायः संसारकी प्रवञ्चनावोंके आखेट बनते हैं और सदा लोकोपेक्षित जीवन व्यतीत करते हैं । दुष्ट और धूर्त लोग ऐसे लोगोंके सीधेपनका अनुचित लाभ उठाते रहते हैं और कभी-कभी उन्हें विपत्तिमें भी डाल देते हैं । अरस्तूके अनुसार 'त्रासद' नाटकके लिये अधिक उपयुक्त होते हैं ।

दूसरे अनुरक्तमूढ़ वे है जिन्हें धर्मभीरु कहाँ जा सकता है । ऐसे लोग अन्धविश्वासी देवी देवताओंकी मनौती माननेवाले किसीको हानि न पहुँचानेवाले और सच्चे होते हैं । इनके मनमें स्वर्ग और नरकका भय बना रहता है । ये जान,बूझकर ऐसा कोई भी काम नहीं करते जो उनकी धार्मिक रूढिके विपरीत हो । ऐसे लोगोंको ढोंगी और पाखण्डी लोग निरन्तर ठगते रहते हैं और ये जानबूझकर भी ठगे जानेमें बुरा नहीं मानते । इनका उद्देश्य होता है रगा जाना अच्छा हैं ठगना अच्छा नहीं । ऐसे लोग दुष्टों प्रवञ्चकों और पाखण्डियोंके हाथमें पड़कर प्रायः कष्ट पाते रहते हैं किन्तु फिर भी उनमें अपनी आस्था नहीं छोड़ते ।

तीसरे प्रकारके अनुरक्त मूढ़ वे हैं जो बुद्धि हीनताके कारण अथवा मानसिक विकारके कारण लोक निन्दा या लोकापमान सहन करते रहते हैं । ये लोग सदा दूसरों के संकेत पर काम करते हैं । सबकी झिड़की सहते हैं । आत्मसम्मान इनके पास होता ही नहीं । इतनी आत्महीनता इनके मनमें समा जाती है कि ये स्वयं अपनेको मूर्ख, निरर्थक और अकुशल समझते रहते हैं । इन्हें जैसा बता दिया जाय जैसा समझा दिया जाय उसमें भी व्यतिक्रम कर देते हैं । जैसे किसीको दो पत्र देकर कहा जाय कि एक राजाको देना दूसरा राजकुमारको देना वह उनको उलटकर राजाका पत्र राजकुमार और राजकुमारका पत्र राज.को दे देता है और फलस्वरूप बड़ी निकट समस्यायें उपस्थित हो जाती हैं ।

अनुरक्तमूढ़ोंमें एक श्रेणी उन लोगोंकी भी है जिनके विषयमें हम पीछे अभिमानीके प्रकरणमें कह आए हैं । ये प्रायः अपने वैभवसे सबको प्रभावित करना चाहते हैं और उसके लिए कुछ ऐसे प्रशंसक चाटुकार तथा विज्ञापक लोगोंको आश्रय देते रहते हैं जो इन लोगोंके प्रचारमें निरन्तर योग देते रहते हैं । ऐसे लोग मनमें तो बड़े अभिमानी होते हैं किन्तु उस अभिमानका प्रदर्शन बड़े दैन्यके साथ करते हैं । जैसे सुन्दर घोड़ा-गाड़ी या मोटर मोल लेकर उसे दूसरोंके उपयोगके लिए सदा देनेको तैयार रहना और यह कहना कि यह सब आपका ही है । ऐसे लोग वास्तविक मूढ़ नहीं होते किन्तु मूढ़ताका रूपक करते हैं । ये लोग मनसे लोकसेवाकी भावना न रखते हुए भी केवल अपने ऐश्वर्य प्रदर्शनके लिये या लोकप्रियता सिद्ध करनेके लिये तथा आत्मप्रचारके लिये लोक सेवक बन जाते हैं । समाजके धूर्त और चतुर लोग इनसे बहुत लाभ उठाते हैं और अन्तमें ऐसे लोगोंका भण्डा भी फोड़ देते हैं । ये लोग प्राय बड़े मिष्टभाषी विनयी सबकी सेवाको तत्पर और उदारताका ढोंग करनेवाले होते हैं । ये किसीकी बातको बुरा नहीं मानते हैं और किसी बातपर अपनी सम्मति नहीं देते । ऐसे ही लोग सबको सन्तुष्ट करनेके फेरमें पड़कर सदा ठकुरसुहाती कहते रहते हैं । इनपर किसी प्रकारका विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि इनका कोई पक्ष नहीं होता । जिसका प्रबल पक्ष समझते हैं उसीका पक्ष ले लेते हैं ।

नाटकीय द्वन्द्व और कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये ऐसे व्यक्ति बहुत कामके होते हैं । क्योंकि ऐसे लोगोंके

प्रतिकूल आचरणसे नाटकीय कथामें सुन्दर प्रतिघात और द्वन्द्व उत्पन्न किए जा सकते हैं।

महत्वाकांक्षी पुरुष वे होते हैं। जो साधारण मनुष्यकी क्रियाओं या इच्छाओंसे आगे बढ़ना चाहते हैं। ये भी तीन प्रकारके होते हैं। एक तो स्रष्टा महत्वाकांक्षी,- दूसरे कर्ता महत्वाकांक्षी और तीसरे भोक्ता महत्वाकांक्षी। स्रष्टा महत्वाकांक्षी वे हैं। जो ज्ञान-विज्ञानकी नई-नई वस्तुओं या प्रयोगोंका सर्जन करते हैं। दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, आयुर्वेद अथवा अन्य किसी शास्त्रमें नया सिद्धान्त निकालना नई रचना करना ही इनका उद्देश्य है। इन्हींके साथ-साथ वे भी स्रष्टा महत्वाकांक्षी हैं जो नये अस्त्र-शस्त्र नई औषधि नई-नई प्रयोगकी वस्तुओं का आविष्कार करते हैं। ये स्रष्टा महत्वाकांक्षी मानव जीवनके सहायक भी होते हैं और विनाशक भी। जो मानव जीवनके लिए स्वस्थ साहित्य, स्वास्थ्यकर या हितकर वस्तुओंका अविष्कार करता है वह सहायक स्रष्टा कहलाता है और जो अहितकर साहित्य अथवा विनाशकारी वस्तुओंका आविष्कार करता है वह विनाशक कहा जाता है। इनमें कुछ स्रष्टा तो ऐसे हैं जो जानबूझकर हितकर या अहितकर साहित्य या पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो स्वयं अहित नहीं करना चाहते किन्तु प्रयोग करनेवालोंके हाथमें उनका आविष्कार विनाशकर होता है।

कर्तामहत्वाकांक्षी वे होते हैं जो कोई आचरण या क्रिया करके दिखलाते हैं। लोकहितके लिये पत्नीका परित्याग राज्यका परित्याग शरीरका त्याग अथवा ऐसे स्थानपर पहुँचना जहाँ कोई न पहुँचा हो ऐसी क्रिया करना जो किसीने न की हो। ये सब काम कर्ता महत्वाकांक्षियोंके होते हैं। दिग्विजयी राजा लोग, दुर्गम पर्वतोंपर चढ़नेवाले साहसी, अकेले बहुतसे लोगोंसे युद्ध करनेवाले शूर, अपने कौशलसे सबको परास्त करनेवाले कूटनीतिज्ञ सब इसी श्रेणीमें आते हैं।

भोक्ता महत्वाकांक्षी वे हैं। जो निरन्तर यह चाहते रहते हैं कि सुन्दरतम स्त्री, सुन्दरतम दृश्य, मधुरतम वाणी या संगीत परम स्वादिष्ट विविध भोजन, परम तृप्तिकर सुगन्धि द्रव्य, सर्वश्रेष्ठ यत्न, सर्वाधिक भव्य भवन आदि संसारमें जितना कुछ भोग्य है वह सब मैं निरन्तर पाता रहूँ और वह उसके लिये निरन्तर प्रयत्न ही करता रहता है।

ये तीनों प्रकारके महत्वाकांक्षी असिधाराव्रती होते हैं। अपनी महत्वाकांक्षा तृप्त करनेके लिये इन्हें बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है बड़ी आतनाएँ सहनी पड़ती हैं और फिर भी उनको पूरी सफलता प्रायः नहीं प्राप्त होती। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिन्हें राजकीय वा व्यक्तिगत सहायता प्राप्त हो जाती है। इनकी अड़चनें भी कम होती हैं और असुविधाएँ भी अपेक्षाकृत कम होती हैं। बहुतसे भोक्ता महत्वाकांक्षी अपने पैतृक धन या कहीं औरसे प्राप्त किए जानेवाले धनपर आँख गड़ाकर अपनी महत्वाकांक्षा तृप्त करनेकी बात सोचसे हैं। निरन्तर चाहते रहते हैं कि हमारे बड़े समाप्त हों तो हमें अपने मनकी आकांक्षा तृप्त करनेका अवसर मिले। ये अधम कोटिके महत्वाकांक्षी होते हैं। मध्यम कोटिके वे हैं जो दूसरोंकी सहायतापर अवलम्बित रहते हैं और उत्कृष्ट कोटिके वे होते हैं जो अपने बलपर चुपचाप कष्ट उठाकर परिश्रमके साथ महत्व प्राप्त करते हैं।

दुहरे चरित्रके लोग

यों तो प्रायः सब प्रकारके और सब श्रेणीके लोग दुहरे चरित्रके होते हैं। अर्थात् उनका घरेलू आचरण कुछ दूसरी प्रकारका होता है बाहरका कुछ दूसरा होता है। यहाँतक कि एक ही व्यक्ति बाहर समाजमें मद्यमानका विरोध करता है स्त्रीके सम्मान करनेकी दुहाई देता है दया और उदारताके गुण बखानता है किन्तु भीतर घरमें मदिरा पीता है स्त्रीको पीटता है और दूसरोंका धन अपहरण करनेका नित्य प्रयत्न करता है। इस प्रकारकी विविधता समाज धर्म और राष्ट्रकी सेवा करनेवाले अधिकांश व्यक्तियोंमें होती है। इसी द्वैधका अनुभव करते हुए कहा है—

"असती भवति सलज्जा क्षारंनीरं च शीतलं भवति
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजनः।"

[कुलटा स्त्री बहुत लज्जा दिखती है। खारापानी बहुत ठण्डा होता है। पाषण्डी बहुत ज्ञान झाड़ता है और बहुत चिकनी चुपड़ी बातें करनेवाला धूर्त होता है।]

इन सब प्रकारके दुहरे आचरणवाले लोग दम्भीकी श्रेणीमें ही आते हैं। किन्तु यह दम्भ दो प्रकार होता है। एक तो हमारे सामाजिक जीवनके लिये अपरिहार्य सा हो गया है जिसमें हम अपने इष्ट मित्र बन्धु, बान्धव, गुरुजन आदिमें से किसीके प्रति श्रद्धा न रखते हुए भी शिष्टाचारवश, भयवश या परिस्थितिवश श्रद्धा दिखानेको विवश होते हैं। इस प्रकारका दम्भ वास्तविक दम्भ नहीं है वह लोकाचारका अंग बनकर शुद्ध बन गया है। इससे किसीकी हानि नहीं होती पर लाभ भी नहीं होता। किन्तु दूसरे प्रकारका दम्भ कुटिलतापनके साथ होता है। उसमें दम्भीकी वृत्ति दूसरेको धोखा देकर ठगकर अपना किसी न किसी प्रकारसे स्वार्थ साधनेकी रहती है। ऐसे व्यक्ति बड़े स्फूर्तिमान चतुर वाग्मी सदा सहायताको तत्पर सेवा भावसे युक्त दैन्यमुद्रा धारण किए हुए बहुत उपदेश देनेवाले और ज्ञान बघारनेवाले होते हैं। उनकी दृष्टि बड़ी तीक्ष्ण और चञ्चल होती है। वे कभी किसी कामको नहीं नहीं करते। उन्हीं के लिये कहा गया है—

"मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुहात्मनाम्"

[जो कहते कुछ हैं सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं वे दुरात्मा होते हैं।]

नाटकीय व्यापारमें प्रतिनायकके सहायक इस चरित्र वाले रक्खे जा सकते हैं। वर्तमान सामाजिक नाटकोंमें सज्जन नायकोंकी गतिमें बाधा, देनेके लिये ऐसे नायकों कि योजना प्रायः की जाती है। क्योंकि अपने दुहरे चरित्रके कारण ये लोग रहस्यका उद्घाटन होनेतक नाटकीय कथाका कुतूहल बनाए रख सकते हैं और सब समाजमें तथा सब वर्गों में इस प्रकार दुहरे आचरणवाले लोग निरन्तर मिलते रहते हैं। इनमें जो अधिक प्रभावशाली होते हैं उन्हें लोग चतुर कहते हैं और जो साधारण श्रेणीके होते हैं उन्हें लोग धूर्त काइयाँ और पाखण्डी कहते हैं। राजनीतिमें जब इस प्रकारके लोग पहुँचते हैं तो उन्हें कूटनीतिज्ञ कह दिया जाता है किन्तु हैं ये सब धूर्त या दम्भी श्रेणीके ही किन्तु सामाजिक पदका ही अन्तर रह जाता है।

विशिष्ट प्रकृतिके लोग

मानव समाजमें कुछ विशिष्ट प्रकृतिके लोग भी होते हैं इनमें कुछ तो अपने विशिष्ट स्वभावके कारण, व्यवसायके कारण या विशिष्ट परिस्थितिके कारण किसी विशेष प्रकारका आचरण करते हैं। इनमें पहली श्रेणी है चिन्ता मुक्त या मस्त लोगोंकी। ये लोग सदा सब दशाओंमें प्रसन्न रहते हैं और यद्यपि इनकी मानसिक स्थिति स्थितप्रज्ञवालोंकी सी ही होती है किन्तु ये विरक्त नहीं होते। जहाँ पड़ रहे वहीं सो गये जो मिला खा गए जो समझमें आया किया। मान-अपमान राग-द्वेषसे दूर अपने फक्कड़पनमें मस्त रहते हैं। ऐसे लोग परिवारके लिये निकम्मे किन्तु समाजके लिये बड़े उत्साह वर्धक होते हैं। ऐसे लोग अत्यन्त शीघ्र लोकप्रिय हो जाते हैं ओर प्रायः दूसरोंके सहारे ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। ये लोग स्वाभिमानी भी होते हैं और यदि इनके स्वाभिमानको कहीं भी ठेस लगती है तो ये अपने बड़ेसे बड़े हित मित्र सहायक सम्बन्धीकी भी अवहेलना कर सकते हैं।

नाटकीय व्यापारकी दृष्टिसे ऐसे अस्थिर चरित्रवाले लोग अद्भुत रसमें बहुत सहायक होते हैं। इनका रोष और तोष कभी समझा या जाना नहीं जा सकता। ये सब अव्यवस्थित चित्त हैं। जिनके लिये कहा गया है—

"क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः रुष्टःतुष्टः क्षणे क्षणे"
"अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः"

[जो लोग क्षण भरमें प्रसन्न होते हैं क्षण भरमें रूठते हैं उन लोगोंकी कृपा भी भयंकर ही होती है।]

दूसरे प्रकारके विशिष्ट लोग वे हैं जो व्यवसाय वैशिष्टयके कारण विशेष प्रकारका आचरण करते हैं। कवि, कलाकार, वैज्ञानिक और दार्शनिक ये सब इसी श्रेणीके हैं। खाना पीना भूलकर केवल काव्यचिन्तन कलाचिन्तन दर्शन या विज्ञानकी चिन्तनमें सदा भूले रहते हैं। इन सब लोगोंकी वृत्ति एकमुखी हो जाती है। इसलिये अपने विषयके अतिरिक्त शेष सब विषयोंकी ओरसे उदासीन रहते हैं। ये प्रायः भूले हुएसे मदिरके समान आचरण करते हैं जिससे कब क्या कहा या कौनसी

वस्तु कहाँ रक्खी थी इसका उन्हें तनिक भी स्मरण नहीं रहता। उनकी सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियाँ वास्तविक जगतसे उठकर काल्पनिक जगतमें लीन हो जाती है। ये लोग व्यवहारमें भी अटपटे रूखे उदासीन ठण्ढे रहते हैं। बहुत अधिक मिलना-जुलना बात करना तथा आना-जाना इन्हें अच्छा नहीं लगता। पारिवारिक धर्मके निर्वाहमें भी लोग बहुत शिथिल अपटु और उदासीन रहते हैं। समाजको इनसे शारीरिक या व्यक्तिगत कोई लाभ नहीं होता उनकी वृत्ति या विचारोंसे समाज प्रभावित होता रहता है। बहुतसे नाटककारोंने ऐसे चरित्रोंका प्रयोग हास्य या व्यंग्य नाटकोंके लिये किया है किन्तु यह अत्यन्त अनुचित है। गम्भीर त्रासदोंके लिये तथा करुण रसके लिए ऐसे पात्र अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। इनमें भी कुछ तो बड़े व्यवहार कुशल होते हैं किन्तु वे सब अनुरक्तलोभी ईर्ष्यालुअभिमानी महत्वाकांक्षी या मूढ़ चरित्रोंके अन्तर्गत आ जाते हैं।

एक और भी विशिष्ट प्रकारके लोग होते हैं जो मानसिक पारिवारिक सामाजिक या राजनीतिक परिस्थितिके कारण विशिष्ट प्रकारका स्वभाव बनानेके लिए विवश हो जाते हैं। पागल घरमें उपेक्षित समाजसे बहिष्कृत तथा देशसे निर्वासित व्यक्ति अपनी एकान्तता और विवशता के कारण अपनी सम्पूर्ण वासनाएँ इच्छाएँ प्रवृत्तियाँ सब कुछ समाप्तकर या खोकर ऐसा ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करते हैं जिससे मनमें तीव्र आवेश विद्रोह तथा विनाश की भावना बल पकड़ती हैं। उसका मस्तिष्क इस वेगसे चिन्ता-चक्र बनाता रहता है कि उसके कार्यका कोई निश्चय नहीं रहता वह किसी भी समय कुछ भी कर सकता है। शरीरका उसे मोह नहीं रहता विवेक लुप्त हो जाता है और अन्तः प्रेरणा केवल आवेशके आधीन हो जाती है और इस अवस्थामें वह आत्मविनाशसे लेकर सर्व विनाश तक कोई भी कार्य कर सकता है ऐसे लोग प्रायः शान्त और चिन्तित दिखाई देते हैं। मनकी बात किसीपर प्रकट नहीं करते जीवनके साधारण कार्योंमें अर्थात् स्नान, भोजन, शयन आदिमें भी बड़े अनियमित रहते हैं। सोते समय बर्राते हैं और उनकी मुद्रा इतनी भयंकर हो जाती है कि उनके पास कोई सरलतासे जाता नहीं है। खीझ बौखलाहट चिड़चिड़ापन और झुन्झलाहट उनके व्यवहारमें सदा दिखाई देती। वे सदा उन्मन रहते हैं और कभी कभी उनकी दशा विक्षिप्तों सी हो जाती है। हत्याकारी प्राणदण्ड पाये हुए अपराधी तथा उच्चवर्गके दण्ड पाये हुए अपराधी भी प्रायः इसी प्रकृतिके होते हैं। ये स्वतः अपने लिए तथा समाजके लिए बड़े भयानक होते हैं। ये लोग चलते बैठते हाथ चलाते या उंगली नचाते रहते हैं। इनकी सब क्रियाएँ सदा चञ्चल और अस्थिर होती हैं किन्तु सहानुभूति मिलनेपर ये लोग अपने मनकी बात प्रकट करनेमें भी संकोच नहीं करते। आज कलके मनोवैज्ञानिकोंने इस प्रकारके लोगोंके लिए कुछ विशेष प्रकारके यन्त्र और परीक्षणोंका निर्माण किया है और मनोविश्लेषण शास्त्रियोंने उनकी मानसिक चिकित्साका भी आयोजन किया है। इसमें कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है।

ऊपर जितने प्रकारकी मानव प्रकृतिका वर्णन हुआ है वे साधारणतः हमारे मानव समाजमें व्यापक रूपसे दिखाई पड़ती हैं किन्तु इनके अतिरिक्त भी सैकड़ों प्रकार की प्रकृति वाले पुरुष सम्भव हैं। जिनमें कई प्रकृतिके लोगोंका समिश्रण है और जो जहाँ जैसी स्थिति देखते हैं वहाँ वैसी प्रकृति बदल लेते हैं जिसमें अच्छे और बुरे दोनों स्वभावोंका ऐसा विचित्र सम्मिश्रण होता है कि उनके बहुतसे कार्योंसे उनकी वास्तविक प्रकृतिसे भिन्न ही प्रकृति दिखाई पड़ती है। एक नाटककारने अपने नाटकमें एक अत्यन्त दुश्चरित्र और दुष्ट व्यक्तिको अपनी कथाका नायक बनाया है और इस प्रकार घटनाओंका समावेश किया है कि उस व्यक्तिने सब कार्य सज्जनोंके समान किए हैं। वह स्वयं प्रत्येक सत्कार्य कर लेनेपर आश्चर्य करता है कि यह शुभ कार्य मैंने कर कैसे लिया और दूसरोंको भी इस बातपर आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति सत्कार्यकी ओर कैसे प्रवृत्त हुआ। बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि जिस व्यक्तिसे किसी विशेष प्रकारके आचरणकी आशा नहीं की जा सकती वह व्यक्ति वैसा आचरणकर देता है कभी तो वह परिस्थितिवश वैसा करता है किन्तु कभी कभी अकारण ही मनकी मौजपर भी और कभी कभी केवल खिलवाड़के लिये आत्मकुतूहलके लिये वह सत्कार्य कर बैठता है। ऐसोंकी कोई श्रेणी नहीं है और न उनके कोई विशेष चिह्न होते हैं किन्तु नाटककारके लिए ऐसे पात्र बड़े उपयुक्त होते हैं। अद्भुतरसके लिये ऐसे पात्र

अधिक कामोंमें लाए जा सकते हैं। मानवमें मनुष्य ऐसा विचित्र प्राणी है कि उसकी लीलाका प्रकृतिका उसकी दृष्टिका और प्रकृतिका ठीक ठीक भेद पाना बड़ा कठिन है यहाँ तक कि वह स्वयं अपनी प्रकृति ठीक ठीक नहीं पहचान सकता। यहाँ तक कि कभी वह स्वयं अपने विषय में फसने लगता है तो वह आत्मवञ्चना करता है और अपने विषयकी बहुतसी बातें छिपाए रखता है। साधारणतः सभी मनुष्योंकी वह प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी दुर्बलता छिपानेका प्रयत्न करते हैं या प्रकट होजाने पर उसका किसी न किसी प्रकार समर्थन करते हैं। इनमेंसे जो दुर्बल और कायर होते हैं वे अपनी भूल स्वीकारकर लेते हैं और उसके लिये क्षमा माँगते तथा प्रायश्चित करते हैं। जो बलवान शक्तिशाली तथा निर्भय होते हैं वे अपनी बातपर अड़े रहते हैं और अपनी दुर्बलता तथा कायरता स्वीकार नहीं करते।

अतः नाटकमें पात्रोंकी योजना करने वाले नाटककार को अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिके साथ अपने चारों ओर विचरने वाले पुरुषोंके वचनों और आचरणोंका भली प्रकार निरीक्षण और परीक्षण करते रहना चाहिए और उसके अनुसार अपने पात्र और पात्रोंकी प्रकृति निर्धारित करनी चाहिए।

तरुणावस्थाके पश्चात् जो अति तरुणावस्था आती है उनमें जो अविवाहित होते हैं वे तो तरुणवत् ही आचरण करते हैं किन्तु जो गृहस्थ होते हैं वे प्रायः अपनी पारिवारिक चिन्तामें ही मग्न होते हैं। स्त्री या सन्ततिका अस्वस्थ होना गृहस्थीके व्ययभारकी चिन्ता बच्चोंके विवाहकी चिन्ता तथा इस प्रकारकी अनेक मानसिक चिन्ताओंसे व्याप्त रहता है। किन्तु जिनके माता पिता जीवित रहते हैं वे कुछ चिन्ता मुक्त और मस्त रहते हैं किन्तु दो प्रवृत्तियाँ विशेष रूपसे बलवती होती हैं एक तो धन उपार्जन करनेकी। दूसरी यश उपार्जन करनेकी। इनमें से धनोपार्जनकी वृत्तिके कारण अनेक प्रकारके धन्धोंसे द्रव्योपार्जनका यत्न करता है और जिनसे द्रव्य पानेकी आशा होती है उनकी अधिक चाटुकारी प्रशंसा या हित साधना करता है। यशकी कामनाके लिए वह सभा समितियोंसे अधिक सम्बन्ध स्थापित करता है और दिखावटी रूपमें दंभपूर्ण अन्य लोकसेवाका ढोंग रचता है।

इन्हींमें कुछ ऐसे मनस्वी होते हैं। जो अत्यन्त सचाई और निष्कपटताके साथ धनोपार्जन करते हैं किसीकी भी चाटुकारिता नहीं करते और किसी की निष्कारण प्रशंसा नहीं करते और स्वाभाविक यश अर्जित करते हैं। दूसरोंके कहने या प्रशंसा करनेसे प्रसन्न नहीं होते और निन्दाकी चिन्ता नहीं करते। ये लोग स्वतन्त्र रूपसे अपनी योग्यता और समर्थताके सहारे व्यवसाय या लोकसेवाके क्षेत्रमें निरन्तर बढ़ते रहते हैं। इसी अवस्थामें महत्वाकांक्षा भी बढ़ने लगती है और जिसके पास जितने अधिक साधन होते हैं वह उन सबका प्रयोग इस महत्वाकांक्षाकी तृप्तिके लिये करता है। राजकीय पद पानेके लिये कुवाँ धर्मशाला विद्यालय आदि स्थापित करनेके लिए अथवा अन्य किसी लोकोपकारी संस्थामें सहयोग देनेके लिये इसी अवस्थामें अधिक प्रेरणा मिलती है। जो तरुण अवस्थामें उद्दण्ड होते हैं उनकी उद्दण्डता भी इस अवस्थामें कम हो जाती है और जो कुटिल ईर्ष्यालु अभिमानी विषयी और क्रोधी होते हैं उनमें भी कुछ सुधार होने लगता है और वे अधिक समन्वयवादी बन जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो मस्त विरक्त ढोंगी दुःसाहसी होते हैं उनकी ये प्रवृत्तियाँ और अधिक बढ़ जाती हैं नाटककारको पश्चात्ताप प्रायश्चित्त और करुणोंके सम्मुख अपने उदाहरण देकर शिक्षा देनेवाले पात्रोंके लिये तथा करुण, भयानक, रौद्र, वीर और अद्भुत रसोंके लिये इन पात्रोंका प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि इनकी सम्पूर्ण मानवीय भावनाएँ पक चुकी हैं और किसी भी रसका स्थिर निर्वाह करसकते हैं जो वीर होगा वह अद्भुत वीरता दिखा सकेगा। जो करुणशील होगा वह अधिक करुणका आलम्बन बन सकता है। जो सदा कायर व भीरु रहा है वह भयानकका आलम्बन बन सकता है और जिसने सदा साहसके अद्भुतकार्य किए हैं वह अद्भुतत्वका दिव्य पोषण कर सकता है और जो सदा अपनी कुटिल भौंहोंसे सदा सबको तर्जना देता आया है वह रौद्रमें बड़ी सरलतासे लाया जा सकता है।

प्रौढ़ अवस्थामें वृत्तियाँ शिथिल होने लगती हैं पुराने कृत्योंपर पश्चात्तापकी भावना जागने लगती है धर्ममें तथा सन्त समागममें रुचि बढ़ने लगती है नवीन समाज से चिढ़ उत्पन्न होने लगती है और प्रौढ़ व्यक्ति निरन्तर

सबको उपदेश देता ही रहता है और अपने आदेशकी पुष्टि अपने जीवनके उदाहरणोंसे करने लगता है। नवीन समाजसे उसकी विरक्ति होने लगती है और वह खीझता अधिक है और बात बातमें घर छोड़कर चले जानेकी धमकी देता है। अपमान और अनाज्ञाकारिताको वह असह्य समझता है और जिस संसारकी उसने सृष्टिकी है उसीमें वह अपनेको अनुपयुक्त और अनावश्यक समझने लगता है। नाटककारके लिये ऐसे पात्र भी बड़े कामके होते हैं। इनका प्रयोग नवीन और प्राचीनका वैषम्य दिखानेके लिये रूढ़ि और सुधारका द्वन्द्व प्रदर्शित करनेके लिए भली प्रकार किया जा सकता है।

अतिप्रौढ़ पुरुषमें भी धार्मिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ने लगती हैं युवकोंके आचरणपर उसका अनावश्यक आक्षेप होने लगता है और वह अपने समवयस्कोंसे प्रीति बढ़ाने लगता है। इनका स्वभाव या तो चिड़चिड़ा हो जाता है या ये विरक्त हो जाते हैं चिड़चिड़े पात्रोंके प्रयोग नाटककारोंने हास्य रसमें और विरक्तोंका करुण रसमें किया है। कभी-कभी केवल उत्साह प्रदर्शनके लिये इन अतिप्रौढ़ोंमें भी वीरताकी भावना भरी है किन्तु वहाँ उनकी वीरता केवल बातोंतक ही रहती है इसलिए वह भावमात्र बनकर रह जाता है रस तक नहीं पहुँचता। राजपूत इतिहासपर नाटक लिखनेवाले नाटककारोंने उत्साहपूर्ण प्रेरणा देनेके लिये ऐसे पात्रोंकी कल्पनाकी है।

वृद्ध अवस्थावाले लोग अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण और उपदेशद होते हैं अपने बचपन और यौवनकी कथा सुनानेको अत्यन्त व्यग्र रहते हैं उनकी प्रवृत्ति बहुत धार्मिक हो जाती है। ये नाटककारके बहुत कामके नहीं होते। यद्यपि इस अवस्थाके राजा महापुरुष या किसी सुशील व्यक्तिको किसी संकटमें डालकर और उनकी बुढ़ापा बिगाड़कर करुण रसके परिपाकमें उनका सुन्दर प्रयोग किया है क्योंकि ऐसोंके प्रति हमारी सहानुभूति अधिक प्रबल होकर प्रवाहित होती है।

इसके पश्चात् अन्तिम अतिवृद्ध अवस्था वह है जिसके लिये कहा गया है—

"अगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्"

किन्तु इसके आगे जो कहा गया है—'तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम्" यह बात नहीं है इस अतिवृद्धावस्थामें वृद्धोंको एक मात्र अभिलाषा रहती है कि अब भगवान उठा लेता तो अच्छा है जिन्होंने जीवनमें सुख देखा उनकी भी यही अभिलाषा रहती है और जिन्होंने दुःख देखा उनकी तो यह अभिलाषा तीव्रतर हो जाती है। इस दूसरे प्रकारके ही अतिवृद्धोंका प्रयोग नाटककार अपने उन नाटकोंमें करते आए हैं जहाँ दुष्ट अकृतज्ञ पापी और दुरात्मा पुत्र पौत्र अपने अतिवृद्ध पिता या पितामहको यातना देते हैं और उनका अपमान करते हैं। करुणरसके लिये ये बहुत अच्छे आलम्बन होते हैं और इनके साथ पुरुषोंकी प्रकृतिका वर्णन समाप्त हो जाता है।

स्त्रियोंकी प्रकृति

सदा समाजमें गृहणी कहनेके कारण अथवा बहुतसे देशोंमें उपेक्षित रहनेके कारण स्त्रियोंकी प्रकृतिमें उतने अधिक प्रकार प्राप्त नहीं होते जितने पुरुषोंके चरित्रमें होते हैं। स्त्रियाँ प्रायः चार प्रकारकी होती है। सुशीला, कर्कशा, प्रमत्ता और दुहरे स्वभाववाली। ये भेद भी युवतियों और प्रौढ़ाओंके ही होते हैं अन्य सब अवस्थाओंमें उनकी वृत्ति अलग-अलग होती है और वह प्रायः पुरुषोंके ही समान वृत्तिकी चलती है। रसमञ्जरी वालोंने अवस्थाके अनुसार चार प्रकारकी स्त्रियाँ मानी है—

"आषोडशाद्भवेद्बाला तरुणी त्रिंशता मता
पञ्चपञ्चाशतं यावत् प्रौढा वृद्धा ततः परम्॥

[सोलह वर्षतक कन्या बाला कहलाती है तीस तक तरुणी कहलाती है पचपन वर्ष तक प्रौढ़ा और उसके बाद वृद्धा कहलाती है]

किन्तु यदि वयके अनुसार छोटे-छोटे परिमाण बाँधे तो स्त्रियोंके निम्नलिखित भेद हो सकते हैं। शिशु-बाला, कुमारी, किशोरी, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा।

शिशु अवस्थामें बालिकाको अपनी कुछ भी प्रेरणा नहीं होती साधारण शिशुके समान भूख माता-पितासे स्नेह रंगीन पदार्थ और वाद्यके लिये उत्सुकता और अपरिचितसे संकोच, बस इतने ही भाव दिखाई पड़ते हैं।

यह अवस्था तीन वर्ष तक की है। इसमें कुछ-कुछ अनुकरण वृत्ति आने लगती है किसीके सिखानेके अनुसार बोलना हँसना, नाचना कूदना आदि इस अवस्थामें दिखाई पड़ जाता है। किन्तु प्रायः बहुतसे बच्चे ऐसे होते हैं जो माता पिता द्वारा उपेक्षित रहते हैं। क्योंकि संसारमें अधिकांश माता पिता दरिद्र और अपने अपने व्यवसाय में लीन रहते हैं उनके शिशु शान्त, सुस्त और गूँग रहते हैं। शिशुत्वकी साधारण चपलताका भी उनमें अभाव रहता है। किन्तु जहाँ माता पिता की ओरसे तनिक भी स्नेह और लालन पालन बालकको प्राप्त होता है तो उसके अंगोंमें चपलता आ जाती है और यह चपलता बालकोंकी अपेक्षा बालिकाओंमें अधिक होती है।

शिशु अवस्थाके पश्चात् दूसरी अवस्था है बलिकाकी जिसमें वह गुड़िया खेलने लगता है उनको शरीरमें बड़ी स्फूर्ति बड़ी चञ्चलता आ जाती है और वह सुन्दर शृंगारके वस्तोंसे अर्थात् फूल, पत्ती, वस्त्र आभूषण इत्यादिसे अधिक स्नेह करने लगती है। घरके कामोंमें उसका मन लगता है और उसे साथ खेलनेके लिए संगिनीकी आवश्यकता पड़ जाती है। जिससे वह हँसती बोलती है और जिससे वह झगड़ा भी कर लेती है और मानमनौवल भी कर लेती है। इसी अवस्थामें कन्याओंकी जीभ चटोरी हो जाती है मेले तमासेसे अधिक स्नेह बढ़ता है विवाह बरात देखनेकी इच्छा बढ़ती है ये उसके खेलने खानेके दिन होते हैं इस अवस्थामें भोलापन अधिक होता है और उस भोलेपनके साथमें मेरा की भावना भी प्रबल होने लगती है। मेरे पिता ऐसे हैं मेरा घर ऐसा है मेरे पास इतने वस्त्र या आभूषण हैं ऐसे आत्म प्रदर्शनके भाव जाग्रत होने लगते हैं यह अभिमान नहीं होता किन्तु दूसरेके आगे अपनेको छोटा न दिखानेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है नाटककार इस अवस्था तककी बालिकाओंको अपने नाटकोंमें नहीं लाते और यदि लाते भी हैं तो विचित्र विनोद अथवा विरुचि उत्पन्न करनेके लिये ही लाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति घरमें बैठा हुआ किसी आगन्तुक से नहीं मिलना चाहता है और कहला देता है जाकर कह दो बाबूजी घरमें नहीं है तो वह बाहर जाकर कह देती है "कि बाबूजीने कहलाया है कि वह घरमें नहीं हैं" इसी नाटककारोंने प्रायः राजनीतिक [illegible] भण्डाफोड़में बालिकाओंके भोलेपनका प्रयोग किया। जैसे एक कन्या गुप्तचरोंके पूछने पर भोलेपन के साथ कह दिया। "पिताजीको कोई नहीं पकड़ सकता वे अम्मासे कह रहे थे कि मैं कल पीलीबाद चला जाऊँगा वहां मुझे कोई नहीं पा सकता" इसी संकेत पर वह व्यक्ति पकड़ा गया। हमारे यहां के नाटककारोंमें इतनी छोटी अवस्थाके पात्रोंके प्रयोगके सुन्दर उदाहरणोंमें कालिदास द्वारा अंकित भरतवाला दृश्य है। जहां वह सिंह शावकके मुँह खोलकर कहता है कि "मुखंविजृम्भस्व यादवत्चे दन्तान् गणयिस्यामः"।

इस प्रकारके पात्रोंके लिए अभिनेता ढूढ़ने और उन्हें शिक्षित करनेमें बड़ी कठिनाई होती है। शिशुओं का प्रयोग तो कभी कभी नाटकोंमें कर लिया जा सकता है क्योंकि वहाँ तो उनके प्रदर्शन भरका महत्व है किन्तु इस अवस्थाके बालकोंसे अभिनयकी भी अपेक्षा होती है योरोपमें कुछ ऐसे बच्चे अभिनेता प्रसिद्धि अवश्य प्राप्त कर चुके हैं हमारे देशमें भी रंगपीठ और चलचित्रोंमें भी अच्छा काम करनेवाले कुछ अभिनेता हैं किन्तु उनकी संख्या अत्यन्त अल्प है। यद्यपि बहुतसे बच्चोंके विद्यालयोंमें बच्चोंके द्वारा नाटक कराए जाते हैं किन्तु उनमें अभिनयकी भावना होनेसे सरसता नहीं आती अतः जहाँतक सम्भव है नाटककारको तीनसे आठ वर्षतक की बालिकाओंको पात्र नहीं बनाना चाहिए किन्तु यदि विनोद और बच्चोंके खेलसे सम्बन्ध रखनेवाले दृश्य दिखाने हो तो उनकी योजना हो सकती है। कभी-कभी बालकोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुकूल गम्भीर करुण दृश्योंमें भी ऐसी बालिकाओंकी योजनाएँ हो सकती हैं जैसी अभिनव भरतने अपने "वसन्त" नाटकमें किया है।

आठसे बारहतककी अवस्थाकी कन्या कुमारी कहलाती है इस अवस्थामें चञ्चलता और शृङ्गारप्रियता बढ़ने लगती है और उसके हृदयमें अपने समानवयके सुन्दर अथवा सुखी बालकोंके प्रति मानसिक आकर्षक भी होने लगता है जिसमें वासना तो नहीं होती किन्तु व्यग्रता अवश्य होती है और यह आकर्षण किसी एकके प्रति न होकर अनेकके प्रति होता है। इसी अवस्थासे स्त्रीके हृदयमें अपने मनकी बात छिपानेका रोग हो जाता है और दूसरेकी बात सुनकर तत्काल दूसरेसे कह सुनानेकी उत्कण्ठा भी उत्पन्न हो जाती है। वह अपनी सखियोंसे

गाढ़ स्नेह स्थापित करने लग जाती है और सबके आचरणके विषयमें बहुत ध्यानसे सुनने और समझने लगती है।

इसके पश्चात् तेरहवें वर्षमें पैर रखते-रखते किशोरावस्था आ जाती है और यह किशोरी कुछ अधिक चञ्चल हो जाती है मेले तमासेमें रुचि बढ जाती है एकान्त प्रिय हो जाती है और इसी अवस्थामें प्रायः मनकी वृत्ति किसी एककी ओर आकृष्ट होने लगती है हमारे देशमें जो इस अवस्थामें विवाहका विधान है वह इसीलिए अनुकूल है कि एक ओर वृत्ति लग जानेसे उसके पतित होनेकी अशंका कम रह जाती है। किशोर अवस्थाकी कन्या अधिक हँसमुख, प्रगल्भ, क्रियाशील और स्नेहपूर्ण व्यवहार करने लगती है और अपने आचरणसे दूसरोंको आकृष्ट करनेका प्रयत्न करती रहती है और इसके तीन वर्ष पश्चात् हम अर्थात् पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें ही वह युवती हो जाती है और यह अवस्था तीस वर्षतक चलती है। इस अवस्थावाली स्त्रियाँ अत्यन्त शृङ्गारप्रिय, विलासिनी, मानिनी, अपने सौभाग्यपर इतरानेवाली, दूसरेके सौभाग्यसे ईर्ष्या करनेवाली, साहसी और वाक्चतुरहो जाती हैं। उनकी वृत्ति यही होती है कि यदि अपने पास धन न हो तो अपने पतिके गुणके कारण अपनेको बढ़ा हुआ समझती हैं यहाँ तक की कभी कभी अपने रूपतकका इन्हें गर्व होता है। असत्य बोलनेमें अपने मनकी बात छिपानेमें, दूसरेके अवगुणमें तिलको ताड़ बनानेमें इन्हें बड़ा आनन्द मिलता है। इसी अवस्थामें अलङ्कार प्रियता या शृंगार प्रियता बढ़ जाती है दूसरेका वस्त्र या आभूषण देखकर वैसा ही वस्त्र या आभूषण धारण करनेकी इच्छा होती है और न मिलनेपर रूठना रोना पीटना अनशन आदि सब उपाय करने लगती है। अपने ससुरालमें आपने पीयरका और पीयरमें अपने स्वसुरालका अपमान नहीं सहन कर सकती अपने रूप यौवन और वयके विरुद्ध वे कुछ नहीं सुनना चाहतीं। किसीके मुँहसे अपने बच्चोंकी बुराई सुनकर वे आग बबूला हो जाती हैं और अपने निर्गुणी तथा असुन्दर बच्चोंको भी अश्विनीकुमार और बृहस्पतिसे कम नहीं समझती।

कुल संस्कार और परिस्थितियोंके कारण इस अवस्था में स्त्रियाँ चार प्रकारकी हो जाती हैं। सुशीला कर्कशा, प्रमत्ता और दुहरे चरित्र वाली। जिसका संकेत हम ऊपर दे चुके हैं। सुशीला युवती पतिभक्ता, गोली, सबका हित और सबकी सेवा करनेवाली गृहस्थीका सम्भाल करने वाली शान्त और सुशील होती है वह कभी लड़ाई नहीं मोल लेती और यदि लड़ाई भी होने लगे तो मौन रहती। सुशील स्त्री सब प्रकारका अपमान कष्ट और असुविधा सहकर भी दूसरोंके सुखका चिन्तन करती रहती है। वह न तो किसीपर दोषारोपण करती है न किसीकी निन्दा करती है और ऐसा प्रसङ्ग छिड़ जानेपर या तो प्रसङ्ग बदल देती है या उठकर चली जाती है वह सदा अपने सब सम्बन्धियोंका कुशल मनाती है, और उनके लिये सब प्रकारकी दैवी और मानुषी साधना करती है किन्तु परिवारमें ऐसी स्त्रियोंको ही विशेष कष्ट भोगना पड़ता है और वे अपने सम्बन्धियोंके कुचक्रका आखेट बनकर अत्यन्त दयनीय जीवन व्यतीत करती हैं किन्तु ऐसी ही स्त्रियाँ यदि सौभाग्यवती हों तो उनके पुत्र पौत्र आदि उनका सम्मान भी करते हैं। प्रायः नाटककारोंके लिये ऐसी स्त्रियाँ निकम्मी होती हैं। जिसके जीवनमें संघर्ष न हो भावोंका जमघट न हो आवेश, आवेग और उत्कण्ठा न हो प्रतीक्षा, आशा और निराशा के झोकोंमें जिसका जीवन झूलता न हो सफलता और असफलताके झूलेपर चढ़ी हुई जो जीवनकी पैंगे न भरती हो उल्लास और विषादकी धूपछाँह जिसे स्पर्श न करती हो उसे नाटककार भी स्पर्श नहीं करते। प्रायः ऐसी सुशीला स्त्रियोंको सामाजिक दुरन्तनीतिके चक्रमें डालकर करुण रसका आलम्बन बनाया है और उनकी सरलता तथा सीधेपनको दुर्बलता मानकर और विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उन्हें सुपथसे कुपथकी ओर जानेको विवश किया है इस दृष्टिसे ये सुशील नारियाँ दो प्रकारकी हो गईं। एक तो वे जिन्होंने प्राण संकट आने पर भी तथा प्रबल अत्याचार होनेपर भी अपने सतीत्व को नहीं छोड़ा अपनी आनपर डटी रहीं। ऐसी नारियाँ सभी आदर्शवादी नाटककारोंकी श्रद्धा भाजन बनी रहीं किन्तु एक दूसरे प्रकारकी भी नारियाँ हुई हैं जिन्होंने यथा शक्ति अपने चरित्र तथा सतीत्वकी रक्षा की किन्तु

अपने पति, सन्तति आदिकी रक्षाके बदले अनिच्छासे सतीत्व दे डाला। परिस्थितियाँ ऐसी स्त्रियोंके लिये कभी कभी इतनी प्रबल हो जाती हैं कि उनके लिये दूसरा मार्ग नहीं रहता। एक नाटकमें ऐसी ही एक परिस्थिति है जहाँ एक अत्यन्त सुशील महिला अपने पुत्रके साथ बन्दी कर ली गई है बन्दी करनेवाला कहता है—

"यदि तुम मुझसे विवाह नहीं करोगी तो मैं तुम्हारे प्राण ले लूँगा और तुम्हारे पुत्रके भी। वह अत्यन्त दृढ़ होकर विरोध करती है और अपने व्रतपर डटी रहती है किन्तु जब उसके सामने दो वधिक उसके पुत्रको लाते हैं और तप्त लोहेसे उसका शरीर दागना प्रारम्भ करते हैं और वह पीड़ासे व्याकुल होकर छटपटाकर चिल्लाता है तब उसकी माँ साहस छोड़ देती है और कह उठती है "छोड़ दो इसे मैं तुमसे विवाह कर लूँगी" ऐसी स्त्रियाँ भी सुशीला ही होती हैं किन्तु उनके साथ सहानुभूति ही होती है श्रद्धा नहीं होती। नाटककार ऐसी स्त्रियोंको प्रायः अपनी पात्र-योजनामें विशेष स्थान देते हैं और वे ऐसी स्त्रियोंको कष्ट दिलाकर और दुर्बलता का परिचय दिलाकर किसी प्रकारसे उनके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये कुछ घटनाओंकी योजना करते हैं। इसी प्रकारकी स्त्रियोंमें वे भी हैं जो अनाथ हो जानेके कारण किसी एककी उदारता या सज्जनतासे प्रभावित होकर उसकी हो जाती हैं ये सब स्वभावसे सुशील होती हैं केवल परिस्थिति उनके विरुद्ध होती है।

कर्कशा स्त्रियाँ वे हैं जिन्हें लड़ाई-झगड़ा करनेमें रस मिलता है। ये अत्यन्त असहनशील होती हैं इनकी वाणीपर कोई संयम नहीं होता किसीको कुछ भी कह देनेमें इन्हें संकोच नहीं होता ये समझती है कि सारा संसार उनकी भाग्यपर ईर्ष्या करता है। अपनी वस्तु छू जानेपर अपने पतिको कुछ कह दिये जानेपर अपने पुत्रका अपमान हो जानेपर ये स्वयं मोर्चा लेने चल देती हैं। ये बड़ी छिद्रान्वेषिणी होती हैं और निरन्तर सब परिवारोंके दोष ढूढ़नेकी उधेड़बुनमें लगी रहती हैं। दूसरेका उत्कर्ष या सौभाग्य ये सहन नहीं कर सकती किन्तु दूसरेका अपकर्ष देखकर अत्यन्त हर्षित होती हैं इनकी कलहप्रियता घर और बाहर दोनों स्थानोंपर दिखाई पड़ती है। छोटी-छोटी बातोंपर ये बड़बड़ाती रहती हैं—"कोई हमारी सुध नहीं लेता, हम घर भरके लिये प्राण देती हैं, हम क्या कोई नौकरानी है खानेके लिये सब हैं काम करनेके लिये कोई नहीं, हम न रहेंगे तो देखें कैसे किसीको भोजन मिलेगा" आदि-आदि निरर्थक बातें बकती रहती हैं। अपने पति पुत्र-पुत्री सास, ननद, जेठानी, देवरानी, पड़ोसी, पड़ोसिन सबसे दिन रात झगड़ती रहती हैं। ये प्रायः आचरणकी अच्छी होती है क्योंकि जिसमें आचरणका दोष रहता है वह सदा दूसरोंके आगे मुह खोलनेमें लजाता है किन्तु इनमेंसे जो कुलटा हो जाती हैं वे पूर्णतः निर्लज्ज हो जाती हैं और जब कोई उन्हें टोकता है तो कह देती है—"तो तुम्हें क्या ? मैं करती हूँ मेरा मन, तुझे अच्छा लगे तू भी कर।" प्रायः नाटककारोंने ऐसी कर्कशा स्त्रियोंको हास्य रसके लिये ही चुना है। यद्यपि इनमेंसे सच्चरित्रा कर्कशा स्त्रियाँ रौद्र रसके लिये भी अधिक उपयुक्त हो सकती हैं। इन्हीं कर्कशा स्त्रियोंमें जो स्त्री अधिक ईर्ष्यालु हो जाती है और जिसमें अधिक महत्वाकांक्षा तथा आत्मसम्मानकी भावना बढ़ जाती है। वह अपने प्रतिपक्षी या विरोधीकी हत्या करनेमें भी नहीं चूकती और प्रतिपक्षीके अधिक प्रबल होनेपर तथा बदला न ले सकनेपर वह आत्महत्या भी कर सकती हैं ऐसी स्त्री कुल और समाज दोनोंके लिये भयंकर होती है पुरुष नाटककारोंने प्रायः अपने सभी त्रासदोंमें इसी प्रकारकी डाइन स्त्रियोंकी योजनाकी है। शेक्सपीयरकी "लेडी मैकव्यये इसी" प्रकारकी है। क्योंकि ऐसी स्त्रियोंमें जब विरोध भावना जगती है तो वे स्वयं इतनी भयंकर हो जाती हैं कि अपनेसे सम्बद्ध लोगोंसे भी बड़ेसे बड़ा पाप करा सकती हैं। जापानी और चीनी नाटककार भारतवासियोंके समान ही नाटकमें ऐसी स्त्रियोंकी योजना करनेके विरोधी हैं। उनका समाज भी ऐसा है कि स्त्रीको इस सीमातक पहुँचनेकी न तो सामाजिक सुविधा है और न तो संस्कार ही है।

तीसरे प्रकारकी युवती प्रमत्ता होती है। धनी पिता या पति राजपदपर प्रतिष्ठित पिता या पतिवाली स्त्रियाँ प्रायः प्रमत्त होती हैं। इनके अतिरिक्त किसी विशेष रूप गुणवाली स्त्रियाँ भी प्रमत्त हो जाती हैं। उनकी प्रमत्तताका आधार अपने पिता या पतिके धन पद या

बलका होता है अथवा अपने रूप और गुणका। इन प्रमत्ताओंका सबसे प्रधान लक्षण यह होता है कि दूसरोंका अपमान करनेमें, नीचा दिखानेमें और अपने वैभवका आतंक जमानेमें इन्हें बड़ा रस मिलता है। ये अत्यन्त विलासिनी हैं। अपने वैभवका प्रदर्शन करनेके लिये ये निरन्तर अपने सम्बन्धियों या संगिनियोंको बुलाती रहती हैं, उत्सव करती रहती हैं और दूसरोंके यहाँ भी बड़ी तड़क-भड़कके साथ आती-जाती हैं। अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होती हैं, उनकी किसी वस्तुकी यदि तुलना कर दी जाय तो वे रुष्ट हो जाती हैं। दूसरोंका अपमान और निन्दा सुनकर इन्हें मन ही मन बड़ी प्रसन्नता होती है। इस अभिमानके साथ ऐसा मिथ्या आत्मगौरव भी लगा रहता है जिसमें यह वृत्ति होती है कि हम किसीके आगे हाथ न फैलाएँ, किसीकी सहायता न लें, किसीकी सेवा न करें और यह मिथ्या आत्माभिमान आत्म-प्रवञ्चनाकी उस सीमातक पहुँच जाता है कि जहाँ उनके वैभवमें किसी प्रकार कमी पड़ी कि उन्हें अपना प्राण देनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। नाटककारोंने ऐसी प्रमत्ता स्त्रियोंकी योजना प्रायः उन नाटकोंके लिये की है जिसमें उन्होंने अभिमानका पतन दिखाया है।

इन तीनोंके अतिरिक्त अधिकांश सभी स्त्रियाँ दुहरे चरित्रवाली होती हैं। एक सूक्ति जो कही गई है—

"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं
दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।"

[स्त्रीका चरित्र और पुरुषका भाग्य दैव भी नहीं जान सकता है फिर मनुष्य कैसे पहचाने।]

अधिकांश स्त्रियाँ गूढ़ेङ्गित होती हैं। अर्थात् उनका स्वभाव पहचानना बड़ा कठिन होता है वे जो कहती हैं उसकी सत्यतामें सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। इसीलिये चाणक्यने कहा है—

"विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च।"

[स्त्रियों तथा राजपुरुषोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।]

प्रायः स्त्रियाँ जितना बाहर आचरण दिखलाती हैं वह उनके मानसिक निर्णयका फल नहीं होता। वे अपने आचरणमें सदा सब कुछ छिपानेकी चेष्टा करती हैं और मन ही मन ऐसे संकल्प-विकल्प करती रहती हैं कि उनका ठीक-ठीक परिज्ञान करना सम्भव नहीं रहता। पुरुषोंमें ऐसे बहुत कम होते हैं जो आकार-गुप्त हों, किन्तु स्त्रियोंमें प्रायः उन्हींकी संख्या अधिक मिलेगी जो निरन्तर अपने मनकी बात छिपानेका प्रयत्न करती रहती हैं। किन्तु इसीके साथ-साथ उनमें यह भी प्रवृत्ति होती है कि वे दूसरोंकी बात अपने मनमें नहीं रखतीं। चाहे युधिष्ठिरने कुन्तीको शाप दिया हो या न दिया हो किन्तु स्त्रीकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह सुनी हुई बात पचा नहीं सकती। नाटककारकी दृष्टिसे ऐसी दुहरे चरित्रवाली स्त्रियाँ बड़ी उपयोगी होती हैं। क्योंकि नाटकीय कुतूहल उत्पन्न करनेके लिये ऐसे पात्रोंसे बड़ी सहायता मिलती है।

प्रौढ़ा स्त्रियाँ तीससे चालीसकी अवस्थाकी होती हैं। इनमें केवल तीन गुण रहते हैं। एक तो ये बड़ी ईर्ष्यालु हो जाती हैं, युवतियोंका साज शृङ्गार देखकर इन्हें बड़ी टीस होती है। दूसरे ये निरन्तर दूसरेका दोष ढूँढ़नेमें लगी रहती हैं और तीसरे अपने बच्चोंके प्रति इनकी ममता अधिक बढ़ जाती है और दूसरेके बच्चोंसे डाह करने लग जाती हैं।

इसके अनन्तर स्त्री केवल वृद्धा रह जाती है। वह पूजा-पाठ अधिक करती है या अधिक धार्मिक और ईश्वर-भीरु हो जाती है, और धीरे-धीरे उसका वात्सल्य स्नेह अपने परिवारसे बढ़कर फैलने लगता है। वह अपनी समवयस्काओंसे अधिक मेल-जोल रखती है और उनकी गोष्ठीमें बैठकर या तो अपने पुराने जीवनकी बातें करती है, या जीवनसे निराशा प्रकट करती है अथवा नये युगकी कड़ी आलोचना करती है। यह आलोचना अवस्थाके साथ-साथ बढ़कर असन्तोषका रूप धारण कर लेती है और फिर वह चिड़चिड़ी हो जाती है। किन्तु अपने नाती और पोतोंके प्रति उसकी ममता गहरी हो जाती है और यह चाहने लगती है कि इनका भी सुख मैं देख लूँ तो अच्छा। और इसी बढ़ती हुई तृष्णामें वह समाप्त हो जाती है। वृद्धा स्त्रियोंका प्रयोग नाटकीय व्यापारके लिये बहुत कम किया गया है। किन्तु कुछ राजनीतिक नाटकोंमें वृद्धा माताओंके वीरतापूर्ण त्याग और अपने पुत्रोंका बलिदान करनेकी उत्सुकता दिखाकर उनका अत्यन्त गौरवमय

चित्रण किया गया है। वीरतापूर्ण नाटकोंमें ऐसी वृद्धाओंको अवश्य स्थान दिया जा सकता है जो अपने पुत्रके मस्तकपर टीका लगाकर रणमें भेज दें अथवा देश और धर्मके लिये बलिदान होनेवाले पुत्रोंपर उल्लास प्रकट करें। बहुतसे नाटककारोंने चिड़चिड़ी वृद्धाओंको प्रहसनोंकी नायिका बनाया है किन्तु यह उचित नहीं है।

वर्तमान युगमें नारीमें विशिष्ट जागर्ति हुई है। वह सभी क्षेत्रोंमें पुरुषोंसे होड़ करने लगी है। राजनीतिक, सामाजिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में भी उसने अपनी महत्वाकांक्षा और साहस पुरुषोंके समान ही व्यक्त किया है। अतः इस प्रवृत्ति वाली नारियोंको ठीक वैसा ही समझना चाहिए जैसे महत्वाकांक्षी और साहसी पुरुष होते हैं।

इनके अतिरिक्त सौत, विधवा अपुत्रा, पुंश्चली, अपमानिता, ताड़िता, पीड़िता तथा कामार्ता स्त्रियोंका स्वभाव कुछ रूखा व्यग्रतायुक्त और उदास होता है। वे किसी भी समय कुछ भी कर सकती हैं। सौत अपनी सौतको सब प्रकार से नीचा दिखाने तथा हानि पहुँचानेका प्रयत्न करती है, उसके फँदेसे अपने पतिको छुड़ानेके लिये तन्त्र, यंत्र, जादू, टोना आदिका भी आश्रय लेती है और अनेक प्रकारके षडयन्त्रों और कुटिल उपायोंसे उसे पतिके विरुद्ध सिद्ध करने और पति द्वारा परित्यक्त करानेका उपाय करती है और इस प्रयत्नमें असफल होनेपर अपने पतिकी हत्या या आत्महत्या तक करनेमें नहीं चूकती।

विधवा सदा सौभाग्यवती स्त्रियोंका सुख देखकर मन ही मन कुढ़ा करती है और मन ही मन यह मागती रहती है कि ये भी मेरी गति प्राप्त करें। इनमें जो पुंश्चली होती हैं उन्हें यह ईर्ष्या नहीं होती। वे उल्टे अधिक मृदुभाषिणी और सहानुभूतिमय हो जाती हैं।

पुंश्चली स्त्री समाजके लिये बड़ी भयङ्कर होती है। वह जिसका समागम चाहती है उसे प्राप्त करनेके लिये वह नये हथकंडे, कौशल और छलका आश्रय लेती है। वह हँसहँसकर सबसे बोलती है और सदा सबकी सहायता करने को उद्यत रहती है। यदि वह शक्ति-शालिनी हुई तो जिससे काम निकल जाता है उसे समाप्त कर डालती है और जो इसकी इच्छाका विरोध करे उसका विनाश करा डालती है। अपमानिता, ताड़िता, और पीड़िता प्रायः अपनी मनहानि अधिक करती हैं किन्तु यदि शक्तिशालिनी हुईं तो अपमानकारी, ताड़नकर्ता और प्रपीड़कको ध्वस्त कर सकती हैं।

अपुत्रा नारी पुत्रोत्पत्तिके लिये, दूसरेका पुत्र मारने तथा अन्य यन्त्र, मंत्र, तंत्र जादू-टोना भी करती है और पुत्रवती से जलती भी है।

कामार्ता अन्धी होती है। वह विवेक, लज्जा, मानापमान, लोक-निन्दा सबको तिलाँजलि देकर अपना हित साधनेमें लगी रहती है और यथेच्छ विहार करती है।

किन्तु उच्च कुल और संस्कारमें पली हुई सौत, विधवा, अपुत्रा, अपमानिता, पीड़िता और कामार्ता ऐसी भी होती हैं जो स्थिर होकर अपनेको वशमें रखती हैं और किसीका अहित नहीं करतीं।

स्त्रीपुंभावहीना नपुंसकाः ॥

[नहीं नपुंसकमें मिले नारी नरके भाव।]

नपुंसक व्यक्ति स्त्री और पुरुष दोनोंके भावोंसे हीन होते हैं। जहाँतक काम–सम्बन्धी भावोंका प्रश्न है वे उससे विरक्त और उदासीन होते हैं। शेष सब बातें उनमें पुरुषों और स्त्रियोंके समान होती हैं। अर्थात् सर्वसाधारणके समान उनमें भी अन्य भावनाएँ पाई जाती हैं। प्राचीन संस्कृत नाटककारोंने वर्षवरों और षण्ढोंका प्रयोग राज-परिवारमें किया है किन्तु आज कलके नाटककार नपुंसकोंका प्रयोग नाटकमें नहीं करते।

बुद्धिभेदेन सप्तधा लोक इति मनोवैज्ञानिकाः।

वर्तमान मनोवैज्ञानिकोंने मानव समाजकी बुद्धिका परीक्षण करके उनके सात भेद आँके हैं। ये परीक्षण तीनसे पन्द्रह वर्षतकके बालकोंके लिये निर्धारित किए गए हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी अवस्थावाली समझी जाती है। यदि एक आठ वर्षका बालक आठ वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया तो उसकी बुद्धि आठ वर्षके बच्चेकी है और इस दशामें उसकी बुद्धि-लब्धि १०० मान ली गई है। यदि वही बालक नौ या दस वर्षकी अवस्थावाली परीक्षामें सफल हो तो उसकी शारीरिक अवस्था आठ वर्षकी होते हुए भी मानसिक या बौद्धिक अवस्था दस वर्षकी समझी जायगी।

बौद्धिक अवस्थाको वास्तविक अवस्थासे भाग देकर सौसे गुणा किया जाय तो बुद्धिलब्धि प्राप्त हो सकती है। इसमें जैसे वास्तविक अवस्थासे अधिक बौद्धिक अवस्थाके बालक होते हैं वैसे ही कमसे-कम बौद्धिक अवस्थाके भी सहस्रों बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर मनोवैज्ञानिकोंने बालकोंको सात श्रेणियोंमें बाँटा है—

१— बुद्धिफल १५० से ऊपर देवबुद्धि
    ,, १४० ,, ,, प्रायः देवबुद्धि
२— बुद्धिफल १२० से १४० अत्यन्त उच्चबुद्धि
३— बुद्धिफल ११० से १२० उच्चबुद्धि
४— बुद्धिफल ९० से ११० साधारण बुद्धि
५— ,, ८० से ९० स्थूलबुद्धि
६— ,, ७० से ८० मन्द बुद्धिकी सीमापर
७— ,, ७० से नीचे निश्चित मन्दबुद्धि

अनुचितमित्यभिनवभरतः ॥

[अभिनव भरत बताते अनुचित ।]

मनोवैज्ञानिकोंने जो उपर्युक्त भेद बताया है उस प्रकारसे यदि भेद किए जाएँ तो सैकड़ों उपभेद हो सकते हैं। बुद्धि विशिष्ट-प्रवृत्तियुक्त होती है। एक व्यक्तिकी बुद्धि गणितमें लगती है, काव्यमें नहीं। वह गणितका प्रश्न शीघ्रतासे पूर्ण कर सकता है। इसी प्रकार एक काव्य-प्रेमी कविता सुन और रच सकता है किन्तु गणितके नामसे ही उसे जूड़ी आती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकृतिके बालक भिन्न-भिन्न गुणोंमें दक्ष होते हैं और उनमें बुद्धिमान माने जाते हैं। एक बालकका मन पढ़नेमें नहीं लगता किन्तु यन्त्र-क्रियामें वह बड़े मनोयोगसे काम करता है। इसका अर्थ यह है कि उसमें बुद्धि है किन्तु वह यन्त्र-प्रवृत्तियुक्त है। आजतक जितनी बुद्धिमापक परीक्षाएँ हुई हैं उनमें प्रत्येक बालककी प्रवृत्तिका ध्यान रखकर परीक्षा नहीं ली जाती।

इस दृष्टिसे यदि हम अपने चारों ओरके समाजका परीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि बुद्धिके अनुसार तीन प्रकारके लोग हैं स्वाधीन-बुद्धि, परप्रत्ययनेय बुद्धि, और जड़। स्वाधीन-बुद्धि वह है जो अपनी रुचिके कार्यमें स्वतंत्र रूपसे विचार करता है और परिणाम निकालता है। दूसरेका कहा हुआ न आँख मूँदकर स्वीकार करता न किसीकी सम्मति लेता है। परप्रत्ययनेय बुद्धिवाले वे हैं जो सब बातोंमें दूसरोंकी सम्मतिसे काम करते हैं और दूसरोंकी धारणाके अनुसार अपनी धारणा बनाते हैं। जड़बुद्धि वे हैं जो न स्वयं कोई बात समझनेका प्रयत्न करते न दूसरोंके समझाने से ही समझते हैं। अतः यह निष्कर्ष निकला—

स्वाधीनपरप्रत्ययनेयजडबुद्धिभेदेन लोकास्त्रिधा

[स्वाधीन और जड़, पराधीन
हैं बुद्धिभेदसे लोक तीन।]

वर्ग-स्वभाव

विभिन्न देशों, जातियों, वर्गों और वृत्तियोंके अनुसार भी मनुष्योंके स्वभाव बनते हैं। अपने देशमें ब्राह्मण क्षमाशील, क्षत्रिय उत्साही और क्रोधी, वैश्य दब्बू और लोभी तथा शूद्र दीन और भीरु होते हैं। देशके अनुसार अंग्रेज वणिकवृत्तिवाले, स्पेनी मस्त, फ्रांसीसी विलासी, जर्मन साहसी, यहूदी अर्थपिशाच, जापानी अध्यवसायी, चीनी आलसी, इतालवी धर्मभीरु, यूनानी विनोदप्रिय और निर्द्वन्द्व, अमेरिकावाले विलासी और धनलोलुप, मुसलमान हिंसक और धर्मान्ध होते हैं। वर्गोंके अनुसार राजसी या भूमिपति वर्गवाले अधिक अभिमानी मनस्वी और आत्माभिमानी होते हैं। मध्यम वर्गके लोग अध्यवसायी और ठकुरसुहाती करनेवाले होते हैं। हीन श्रेणीके लोग दीन और मस्त होते हैं। वृत्तिके अनुसार देखा जाय तो अध्यापक त्यागी और सरल होते हैं, वकील और डाक्टर लोभी होते हैं, बीमा कम्पनीके दलाल और नाई धूर्त होते हैं, व्यापारी कपटी और मिथ्यावादी होते हैं, स्वर्णकार प्रवञ्चक और चोर होता है। इस प्रकार कुछ देश, जाति और वृत्तिके अनुसार भी स्वभाव बनता है और कभी-कभी कुलका स्वभाव भी काम करता है। जैसा रामने कहा था—

रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ ॥

अतः

देश-जाति-कुल-वर्ग-वृत्त्यनुकूलता स्वभावे ॥

[है स्वभावमें देश-जाति कुल वर्ग-वृत्तिका बीज।]

लोकावेशके अनुसार स्वभाव

क्वचिल्लोकावेशानुसारोऽपि ॥

[कभी-कभी सामूहिक होता है स्वभाव बनता।]

कभी-कभी किसी नगर, देश, राष्ट्र या वर्गपर सामूहिक विपत्ति आती है या सामूहिक रूपसे उनके मान अपमानका प्रश्न होता है, उस समय उनके व्यक्तिगत स्वभाव बदलकर लोकावेशके रूपमें परिणत हो जाते हैं। भारतके सभी जाति, वर्ग और प्रवृत्तियोंके लोग समझते थे कि अंग्रेजोंने हमपर अत्याचार किया है अतः उन्हें चले जाना चाहिए। इस निमित्त जितने आन्दोलन हुए उनमें लोकावेश स्वभाव ही काम कर रहा था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिकी व्यक्तिगत भावनासे अलग जाति-भावना, देश-भावना, राष्ट्र-भावना, कुल-भावना और परिवार-भावना भी प्रधान रही है। इस भावनाको जब ठेस लगती है तब उस श्रेणीके सब लोगोंको ठेस लगती है और उसके निराकरणके लिये एक सामूहिक स्वभाव बन जाता है। यह स्वभाव व्यष्टिसे ऊपर उठकर समष्टिमें व्याप्त हो जाता है और तभी वह लोकावेश-भाव कहलाता है। शेक्सपियरने अपने कुछ नाटकोंमें और वर्तमान कालके अनेक नाटककारोंने इस लोक-मनोविज्ञानका आश्रय लेकर लोकावेशके दृश्य प्रायः उपस्थित किए हैं।

मनुष्य-स्वभावके अध्ययनके लिये इतना पर्याप्त होगा और नाटकीय पात्रोंमें चरित्रका आरोपण करते समय इन सब बातोंका समष्टि रूपसे ध्यान रखना होगा।

योरोपीय नाट्याचार्योंके कुछ सिद्धान्त

नाटकमें पात्रोंका चरित्रारोपण करते समय नाटककारको जिन बहुतसी बातोंका ध्यान रखना चाहिए। उनके विषयमें योरोपीय नाट्यचार्यों के चार मत हैं—

(१) दुष्टको भयानक चित्रित करो और सज्जनको देवतुल्य।

(२) रंगशाला तो चित्रक (फोटोका केमरा) का बिम्ब-ग्राही काचफलक है, जो सामने पड़नेवाले समस्त पदार्थको ग्रहण करके दिखाता है।

(३) सुन्दरका चित्रण करो असुन्दर स्वयं लुप्त हो जायगा।

(४) दोष दिखाओ, उन्हें देखकर मनुष्य स्वयं अपना सुधार कर लेगा।

इन चारों सिद्धान्तोंके आधारपर हम अपने विचार सिद्धान्त प्रकरणमें विस्तारसे बता आए हैं फिर भी यहाँ इसपर कुछ कहना आवश्यक ही है। जहाँतक पहले और तीसरे सिद्धान्तका सम्बन्ध है, ये दोनों स्वीकार किए जा सकते हैं और इनमें किसीको आपत्ति भी न होगी, क्योंकि दुष्टमें श्रेष्ठताका आरोप करना और सज्जनमें दुष्टताका आरोप करना नीति और समाज दोनोंसे विरुद्ध है। यही बात तीसरे सिद्धान्तके विषयमें भी है। यदि हम सुन्दरको सुन्दरतम रूपमें अत्यन्त प्रभावशाली रीतिसे उपस्थित करें तो उसके प्रभावसे ही असुन्दर लुप्त हो जायगा, यह एक साधारण-सी बात है कि सुन्दर तथा उदात्तकी ओर मनुष्यका स्वाभाविक आकर्षण होता है और उससे ऊपर उठनेकी प्रेरणा मिलती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी निरन्तर सुन्दर वस्तुको देखते-देखते सौन्दर्यबोध इतना प्रबल हो जाता है कि असुन्दरकी कल्पना ही असम्भव हो जाती है। दूसरा और चौथा सिद्धान्त यथार्थवादियोंका है। इसके विषयमें हम सिद्धान्त-प्रकरणमें बहुत कुछ कह चुके हैं।

पात्र चुनने और उनके चित्रित करनेके सम्बन्धमें इनसे मिलते-जुलते तीन और सिद्धान्त हैं। ये तीनों प्रणालियाँ हो सकती हैं, और 'होनी चाहिए' के नामसे पुकारी जाती हैं। यह "हैवाद" यथार्थवाद है, 'हो सकता है,' दैववाद है और 'होना चाहिए,' आदर्श-वाद है। इन तीनोंकी व्याख्या हो चुकी है और हम कह चुके हैं कि नाटककारोंको वादोंके पचड़ोंसे ऊपर उठकर इस दृष्टिसे पात्रोंमें चरित्रारोपण करना चाहिए कि इनके द्वारा दर्शकोंका मनोविनोद हो और उन्हें शान्ति मिले। पीछे हम यह भी कह आए हैं कि नाटकमें कम पात्र रक्खे जायँ और उनके चरित्रोंका विकास अधिकांश उनके कार्योंके द्वारा, कुछ संवादोंके द्वारा और कुछ विभिन्न पात्रोंके सम्बन्धसे प्रकट होता हो। इस प्रकार पात्रोंकी योजना करनेपर नाटकमें रस आ सकता है।

बहुतसे नाटककार नाट्य-मण्डलियोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण कुछ विशिष्ट पात्रोंको दृष्टिमें रखकर पात्र-योजना करते हैं और ऐसे नाटककार सफल भी हुए हैं क्योंकि विद्यमान व्यक्तियोंके अनुसार पात्र-योजना करनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि काव्यका हृदपक्ष सिद्ध हो जाता है तथा अभिनेताओंको स्वाभाविक अभिनयके द्वारा रस उत्पन्न करनेमें बड़ी ही सरलता होती है।

स्वयं अभिनवभरतने अपने सभी नाटक अभिनव-रंगशालाके प्रतिष्ठित और विद्वान अभिनेताओं तथा विदुषी अभिनेत्रियोंको ध्यानमें रखकर लिखे हैं और वे नाटक बड़ी ही सफलतासे रंगपीठपर अभिनीत हो चुके हैं। नाटककारको एक और भी व्यावहारिक बातकी ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें सब पात्रोंकी कुछ न कुछ विशेषता और महत्ता होनी चाहिए और सबके लिये इतना अवसर होना चाहिए कि सब पात्र आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनयके द्वारा अपनी अभिनय-कुशलताका परिचय दे सकें, नहीं तो फल यह होता है कि नाटकमें भूमिकाका वितरण करते समय सब अभिनेता छोटी या सारहीन भूमिका ग्रहण करनेमें नाक-भौं सिकोड़ते हैं। जो नाट्यकार अपने नाटकोंमें चार सिपाही, बीस चोबदार और दस सेवक-सेविकाएँ रखते हैं उन्हें यह भली भाँति समझ रखना चाहिए कि वे नाट्य-प्रयोक्ताके लिए बड़ा बखेड़ा खड़ा कर रहे हैं। नाटककारको नियमितः यह सिद्धान्त पालन करना चाहिए—

● नाटकेऽनावश्यकबहुपात्राणां प्रयोगो निषिद्धः ॥

[नाटकमें बहुपात्र निरर्थक रखना बड़ा निषिद्ध ।]

इसका अर्थ यह है कि पात्र थोड़े हों, उनके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति, कुलपरम्परा, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर उनकी सृष्टि की जाय और यह ध्यान रक्खा जाय कि इन सब परिस्थितियोंमें पले हुए पात्र नाटकीय परिस्थितियोंमें पड़कर अपने उपर्युक्त वातावरणके प्रभावके कारण स्वभावोचित गतिसे कार्य करते हुए नाटकीय व्यापारमें योग देकर नाट्यकारके उद्दिष्ट फलागमको सिद्ध करें। इसी दृष्टिसे उपस्थित किए हुए पात्र अधिक स्वाभाविक और सरस प्रतीत होंगे।

इस विवरणके साथ पात्रोंकी योजनाका विवरण समाप्त होता है।

इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखण्डे पात्र-योजना-प्रकरणं नाम नवमोऽध्यायः ।

स्थान-योजना

स्थान-निर्देशका महत्त्व

● नाट्ये स्थानवैशिष्ट्यम् ॥

[स्थानका वैशिष्ट्य भी है नाट्यमें।]

नाटकमें कोई घटना कहाँ दिखाई जाय इसका भी बड़ा महत्त्व होता है। जिस स्थानमें कोई दृश्यपीठ न हो, किसी प्रकारका आकर्षण न हो, अभिनय करनेवाले अभिनेताओंके आश्रय या व्यापारके लिये दृश्य-विधानकी योजना न हो, सर्व-विदित या सर्व-साधारण, पूर्व-परिज्ञात स्थान हो वह नाटकीय व्यापारको उदात्त, लोकप्रिय, रुचिकर और आकर्षक बनानेमें असफल होता है। वही स्थान अधिक नाट्यानुकूल हो सकता है जो नया हो, जिसका प्रयोग पहले न हुआ हो, जिसे किसीने पहले न देखा-सुना हो या पूर्व-ज्ञात होनेपर भी जिसमें कोई नया चमत्कार हो, नई सजावट या बनावट हो, जिसके विविध भागोंको नाटकीय व्यापारके लिये अभिनेता प्रयोग कर सकते हों।

पुराने संस्कृत नाटकोंमें स्थान-निर्देश भी पात्रों द्वारा ही हो जाता था। उसके लिये रङ्गाध्यक्षको कुछ नहीं करना पड़ता था। पात्र स्वयं अपने अभिनयसे और बातचीतसे उसका संकेत कर देते थे। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें दुष्यन्त कण्वके आश्रममें पहुँचनेकी सूचना निम्नलिखित श्लोकके द्वारा दे देता है—

> नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
> प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ॥
> विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
> स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

[कहीं तो वृक्षोंके तले, सुग्गोंके घोसलोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर पड़े हुए चिकने पत्थर बता रहे हैं कि इनपर हिंगोरके फल कूटे गए हैं, कहीं निडर खड़े हुए मृग इस विश्वाससे रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें कोई हमें छेड़ नहीं सकता और कहीं नदी तालाबोंपर आने-जानेकी राहोंमें मुनियोंके वल्कलोंसे टपके हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं।]

प्रत्येक दृश्यके साथ स्थान-निर्देशकी प्रथा योरोपीय नाटककारोंने चलाई है और अब दृश्य-विधानके युगमें स्थान निर्देश आवश्यक भी हो गया है, क्योंकि उसके अनुसार रंगपीठपर दृश्य-पीठ सजानेकी लम्बी-चौड़ी व्यवस्था होने लगी है। इतना सब होनेपर भी यदि हम विश्वभरके सभी प्राप्त नाटकोंके दृश्योंकी तालिका बनावें तो केवल निम्नलिखित स्थानोंमें नाटकीय व्यापार करानेकी योजना नाटककारोंने की है—

जंगल, उपवन, उद्यान, नदीतट, पहाड़ी, कन्दरा, पहाड़ी या जंगली पथ, निर्झर, मरुभूमि, खेत, घासका मैदान, समुद्रतट, झील, ताल, कूप या वापीके पास, भवनके भीतर किसी प्रकोष्ठमें या बाहर राज-भवन या राजसभा या रनिवासका कोई कक्ष, झोंपड़ी, सार्वजनिक आँगन, भोजनालय, जलपान घर, द्यूतशाला, मदिरालय, वेश्यालय, सड़क, बैठक, कारागार, यन्त्रालय, सार्वजनिक स्थान (भवन या मैदान), जलतल, आमोदगृह, स्नानागार, चित्रशाला, नाट्यशाला, यातनागृह, अंधस, युद्ध क्षेत्र, अग्निशाला, अतिथिशाला, युद्ध शिविर, घुड़दौड़ या रथदौड़के मैदान, मल्लशाला, विद्यालय, रेलगाड़ीके अड्डे, चिकित्सालय (नागरिक तथा सैनिक), संगीतालय, व्यायामपीठ, हाट, दूकान, काल्पनिक नरक, काल्पनिक स्वर्ग।

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इतने बड़े संसारमें नाटककारोंको केवल इतने ही गिने-गिने स्थल मिले। इसीसे ऊबकर कुछ नये नाटककारोंने निम्नलिखित स्थान और पदार्थ,—दलदलके मैदान, गन्दे नालोंके ढके हुए भाग, आवासिक घर, किसानोंके झोंपड़े और बाड़े, मजदूरोंके गन्दे झुग्गे और घर, भिखारियोंके कोठर, मोचीकी दुकान आदि अर्थात् निम्नवर्गके प्रयोगमें आनेवाले स्थान। इतना होनेपर भी यह सूची अधूरी और संकुचित जान पड़ती है। न जाने कितने प्रकारके भू-भाग, जल-भाग और नभभाग तथा काल्पनिक स्थान हैं और हो सकते हैं जिनकी ओर नाटककारोंका ध्यान अभीतक नहीं गया है। वर्त्तमान नाटककारोंका यह धर्म है कि यदि वे अपने नाटकोंका क्षेत्र विस्तृत करना चाहें और उन्हें अधिक आकर्षक बनाना चाहें तो प्रकृति और मानव बुद्धि द्वारा सर्जित अपिरिमित प्रकारके स्थानोंमेंसे नये, अद्भुत, आकर्षक, अज्ञात और सुन्दर स्थानोंकी योजना करें। क्योंकि इस प्रकारकी स्थान-योजनासे व्यापार-योजना और पात्र-योजनामें भी नवीनता तथा सरसता आवेगी और जो लोग पुराने ढंगके दृश्य और व्यापार देखते-देखते ऊब गए हैं या खीझ उठे हैं उनका भी मनस्तोष होगा।

निम्नलिखित स्थान विभिन्न प्रकारके नाटकीय व्यापारोंके लिये अवश्य ग्राह्य हो सकते हैं।

ज्वालामुखी पर्वत, ऐतिहासिक स्थल (जैसे बर्नर्ड शॉने अपने सीज़र ऐंड क्लिओपैट्रामें स्फिन्क्सका प्रयोग किया है।) जलमग्न प्रदेश जिनमें लोग लकड़ीके घरोंपर रहते हैं, गृहनौकाएँ, तेलकी खानें, हिमाच्छादित प्रदेश, चायके बाग।

वास्तविक और काल्पनिक स्थान

वास्तविककाल्पनिकस्थाने ॥

[स्थान वास्तविक काल्पनिक।]

जैसे कथावस्तु वास्तविक और काल्पनिक होती है तदनुसार स्थान भी वास्तविक और काल्पनिक होते हैं। वास्तविक स्थानके अन्तर्गत पृथ्वी और आकाशसे सम्बद्ध सभी प्रत्यक्ष स्थान आ जाते हैं। काल्पनिकके अन्तर्गत वे सब स्थान आ जाते हैं जो शुद्ध रूपसे कल्पित होते हैं। इन दोनों प्रकारके स्थानों की विवेचना करनेके पूर्व यह जान लेना चाहिए सब स्थान नाटकीय व्यापारके लिये उपयुक्त नहीं होते। इसके लिए कुछ गिने-चुने स्थान हैं जो रंग मंचपर उपस्थित किए जा सकते हैं। प्राचीन समय में स्थानों की व्यञ्जना अभिनयके ऊपर हो जाती थी। भरतने नाट्यशास्त्रके छब्बीसवें अध्यायके चित्राभिनयके अन्तर्गत विस्तीर्ण जलाशय, आकाश, पर्वत, सागर, आदि स्थानोंके अभिनयका भी विधान दे दिया है। शेक्सपीयरके युगतक एक गत्तेके टुकड़े पर लिखकर टाँग दिया जाता था। किन्तु आजकल ऐसा प्रतीकाभिनय नहीं होता।

आजका नाटककार कला और विज्ञानका आश्रय लेकर प्रत्यक्ष दृश्योंका विधान करता है। अतः उसी स्थानका निर्देश नाटककारको करना चाहिए जो साधारणतः रंगमंच-पर दिखाना सम्भव हो सके। कभी-कभी चलचित्रके योगसे जलाशय, पर्वत और अन्य भूभाग तथा जल भाग भी रंगमञ्चपर रजत पटके द्वारा दिखानेकी योजना की जाती है। अतः ऐसे स्थान-दृश्योंकी योजना उन्हीं नाटकोंमें होनी चाहिए जो विशेष रंगशालाके लिये लिखे गये हों। साधारण नाटकोंमें जटिल व्ययसाध्य तथा दुस्साध्य नहीं होना चाहिए। यदि पर्वत, सागर, मरुभूमि आदि स्थानोंका कथासे सम्बन्ध हो और तत्सम्बन्धी विवरण देना भी आवश्यक हो तो उसे पात्रों द्वारा कहला देना चाहिए, उसके लिए दृश्य-विधानका पचड़ा नहीं खड़ा करना चाहिए। यही बात काल्पनिक स्थानोंके विषयमें है। कविको ऐसे काल्पनिक स्थानोंका विधान नहीं करना चाहिए जो सर्वसाधारण रंग-व्यवस्थापकके लिये कठिन हो।

आकाशेऽपि व्यापाराः ॥

[नभमें भी संभव व्यापार।]

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर वास्तविक स्थान पृथ्वीके ही आ सकते हैं किन्तु आजकल विमानकी सुविधा होनेसे बहुतसे नाटकीय व्यापार आकाश स्थानमें भी हो सकते हैं और वह भी इस प्रकार कि विमानका अन्तर्भूत भाग रंगमंच पर उपस्थित किया जाय और रंगमंचको इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि दर्शक यही समझें कि हम उड़ते हुए विमानका भीतरी भाग देख रहे हैं। पृष्ठ-ध्वनि और गनगनाहट उत्पन्न करके यह प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। कुछ नाटकोंमें ऐसे दृश्य अवश्य आए हैं जहाँ आकाशमें और पृथ्वीपर एक साथ व्यापार होते हैं। जैसे कंसवधमें कंसके हाथसे छूटकर माया आकाशमें स्थित होकर बोलती है, उषा-अनिरुद्धमें चित्रलेखा अनिरुद्धको शय्या सहित उड़ा लाती है या कृष्णार्जुन युद्धमें चित्ररथ गन्धर्व अपनी पत्नीके साथ विमान-विहार कर रहा है और वहाँसे जो पीक थूकता है वह गालवमुनिकी अञ्जलिमें गिर पड़ती है। ये सब दृश्य साधारण रंगशालामें भी सरल यान्त्रिक कौशलसे दिखाए जा चुके हैं। किन्तु इस स्थानोंके परिमाणकी सीमा रंगमंचके परिमाणसे अधिक न होनी चाहिये। अतः विशेष दृश्य भूमिपरके ही दिखाये जाने चाहिए। इसलिये भूमिके स्थानोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है। भूमिके दो भाग हैं—एक स्थल और दूसरा जल।

निम्नोन्नतसमभूमयः ॥

[नीची ऊँची सम है पृथ्वी।]

स्थलके भी तीन रूप हैं—उन्नत, सम, निम्न। उन्नत भागमें मिट्टी या रेतके टीले, पहाड़ी, पहाड़, पठार आदि सम्मिलित हैं और ये उन्नत भाग भी घास या वृक्षोंके कारण हरे, सूखी चट्टानोंके कारण पथरीले और हिमके कारण हिमाछन्न हो सकते हैं। इनमें भी चौरस भूमि, घाटी, ढाल, निर्झर, गुफा, ताल और पहाड़ी पथ हो सकते हैं। समभूमि दो प्रकारकी होती है—एक उपजाऊ और दूसरी ऊजड़। उपजाऊ भूमिमें वन, उपवन, घासके मैदान, तथा खेत आदि होते हैं। ऊजड़ भूमि रेते, कंकड़, पत्थर, रेह आदि ऐसे पदार्थोंसे ढकी होती है जो भूमिकी उत्पादिका शक्तिमें बाधक होते हैं। ये सब पृथ्वीके प्राकृत स्थल हैं। किन्तु मनुष्यने अपनी बुद्धि कौशलसे भूमिपर प्राकृतिक सामग्रीसे अनेक प्रकारके स्थान बनाये हैं। श्रीमद्भागवतमें कथा आई है कि किस प्रकार पृथुने पृथ्वीको दुहकर अपनी धनुषकी कोरसे पर्वतोंके शिखरों और टीलोंको चूर-चूर करके सारे पृथ्वी-मंडलको समतल कर दिया और प्रजागणके रहनेके लिये, गाँव, पुर, पत्तन, दुर्ग, घोष, व्रज, शिविर आकर, खेत, खर्वट इत्यादि बस्तियाँ बना दीं जिनमें लोग सुखपूर्वक रह सकें, क्योंकि सबसे पहले पुर, गाँव आदि कुछ न थे। इस घटनाका वर्णन करते हुए श्रीमद्भागवतमें मैत्रेयजी कहते हैं—

> चूर्णयन्स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटान् स राजराट्।
> भूमण्डलमिदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः॥
> अथास्मिन् भगवान् वैन्यः प्रजानां वृत्तिदः पिता।
> निवासान् कल्पयाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः॥
> ग्रामान् पुरीः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
> घोषान् व्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्॥
> प्रागपृथोरिह नैवैषा पुरग्रामादिकल्पना।
> यथासुखं वसन्तिस्म तत्र तत्राकुतोभयाः॥
>
> ४०, २८, २९, ३२,

इन सब ग्राम, पत्तन, नगरादिमें मनुष्योंने अपने निवास स्थान बनाए, उन स्थानोंमें उसने पाठ-शाला,

गोशाला, भाण्डारागार, गन्ध-पुष्पालय, जलागार, कोठार (लकड़ी कोयले आदिके लिये) अस्त्रशाला, अतिथिशाला चित्रशाला, गोष्ठीशाला, शयनशाला, पानशाला, द्यूतशाला, नृत्यशाला संगीतशाला और न जाने ऐसी ऐसी कितनी शालाओंका निर्माणकर डालीं। मनुष्यकी इन व्यक्तिगत आवश्यकता तथा विलासके अतिरिक्त कुछ लोकशालायें भी बनीं जैसे देवालय, चौपाल, पंचघर, सभाभवन विलासभवन, नाट्यशाला आदि। राजाओंके यहाँ उनकी आवश्यकताके अनुकूल, दुर्ग कारागार प्रकार अन्तःपुर, यज्ञशाला, सभाभवन, प्रमदवन, ग्रीष्मभवन, उद्यान, फुलवारी अश्वशाला, गजशाला, सैन्य-शिविर आदि न जाने कितने स्थान बने इसी प्रकार व्यापारके लिये भी हाट, पणि, गोदाम तथा विभिन्न व्यवसायके अनुरूप कोठियाँ बनी और जैसे-जैसे व्यवसायोंकी वृद्धि होने लगी वैसे ही स्थानोंकी वृद्धि हुई। बड़े बड़े नगरोंमें एक खण्डसे लेकर १४० खण्डतकके मकान बन गये हैं और इन सब प्रकारके भवनोंमें व्यवसायिक कार्यालय पुतलीघर, गोदाम आदि स्थापित हैं उन सब प्रकारके व्यावसायिक स्थानोंकी प्रकृति भी भिन्न होती है। पहले एक नाईकी कुल विभूति उसके पैठेमें आ जाती थी किन्तु इस विशाल नगरोंकी नापितशालाओंमें अनेक प्रकारके उच्च शिराधार सहित पीठासन, मनुष्याकार शीशे, गन्ध-द्रव्य, साबुन, तेल, बिजलीका पंखा और न जाने कितने प्रकारकी सामग्रियाँ वहाँ सुसज्जित रहती हैं। इसी भाँति मुद्रणालय, जलपानगृह, भोजनालय, यन्त्रशालाएँ आदि न जाने कितनी व्यवसायिक शालायें हैं। यूरोप, अमेरिका और जापानके नाटककारोंने ऐसे स्थानोंकी योजना की है। इनके अतिरिक्त बहुतसे और भी स्थल हैं जैसे सार्वजनिक गोष्ठीगृह (क्लब) जहाँ अनेक प्रकारके खेल और भोजनादिका प्रबन्ध होता है। रेलका स्टेशन, होटल आदि भी उपयोगमें आते हैं। प्रायः योरोपीय नाटकोंके दृश्य बैठकोंमें ही होते हैं। इब्सनके ग्यारह नाटकोंके छियालिस दृश्योंमेंसे उन्तालिस दृश्य केवल बैठकोंमें ही हैं। कभी कभी पहाड़ी मार्ग, जंगल, समुद्रतट इत्यादिका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका परिमाण रंगमञ्चसे अधिक नहीं है। कुछ मुद्रित ही नाटकोंमें प्रस्तुत दृश्य विधानके साथ साथ उसके पीछेका दृश्य दिखानेका भी विधान कुछ नाटककारोंने किया है। किन्तु यह [illegible] साधारण तथा असाधारण रंगव्यवस्थापकोंके लिए भी असम्भव है। इब्सनने अपने 'लोकशत्रु, (ऐन ऐनिमी औफ़दी पीपुल) नामक नाटकमें सम्पादकीय कार्यालयके पीछे मुद्रण-भवन-दृश्य दिखानेका विधान देकर सरल दृश्यको भी कठिन बना दिया है। यहाँ तक कि यह भी दे दिया है कि मुद्रण-भवनमें अक्षर जोड़नेवाले अक्षर जोड़ रहे हैं। इस प्रकार मुद्रणशाला रंगमंचपर लाना असम्भव कार्य है। क्योंकि रंगपीठका यह एक साधारण सिद्धान्त है कि दृश्य-पीठके रूपमें जो वस्तु रंगमंचपर लाकर रक्खी जाय वह सरलतासे धरी उठाई जा सके। इन सभी प्रकारके दृश्योंके विधानमें दो बातें स्मरण रखनी चाहिये। एक ऐसे दृश्यका निर्देश हो जो रंगमंचके परिमाणसे बड़ा नहीं। दूसरे दृश्यमें प्रस्तुतकी जानेवाली वस्तुएँ ऐसी हैं। जो सरलतासे रखी या हटाई जा सकें।

- भूमिके उन्नत और समस्थलोंके अतिरिक्त निम्नस्थल भी होते हैं जिनमें घाटी, सूखी नदियोंको कछार, खड्ड, प्राकृतिक गढ़े आदि आते हैं। इनके अतिरिक्त मनुष्यने कृत्रिम रूपसे अंधकूप, तथा खानोंका आविष्कार किया है। प्रायः सभी देशोंमें अपराधियोंको दंड देनेके लिए अंधकूप भी बनवाये जाते थे जो या तो पर्वतोंके बीच होते थे या कृत्रिम रूपसे कूपके समान होते थे। खानके लिये तो निश्चित रूपसे तीन-चार सौ हाथ नीचे तककी खुदाई होती है और उनमें पुरुष और स्त्री काम करते हैं। एक नाटककारने अपने नाटकमें खानको ही अपने नाटकका स्थान बनाया है। इसी प्रकार साइबेरियाकी अंधखानें रूसी निरंकुश शासकोंके कठोर यातना गृहके रूपमें काम लाई जाती थीं। स्थलके ये उन्नत, सम और निम्न नामक तीनों भाग नाटकके दृश्य विधानमें आ सकते हैं और उनकी प्रकृतिके अनुसार वहाँ नाटकीय व्यापारकी सृष्टि की जा सकती है। इनके अतिरिक्त सड़क, पुल, बाँध, धर्मशाला, रेलवाइन, रेल, मोटर या अन्य यानोंके अड्डे, लोक, उपवन, चौक आदि अनेक परिमाण, आकार, रूप तथा विवरण बनाए जा चुके हैं या बनाए जा रहे हैं। मरुभूमिमें मरुद्यान, हालैंडमें बाँध।

पृथ्वीसे सम्बन्ध रखनेवाला दूसरा भाग है जलका। इन जलस्थानोंके अन्तर्गत छोटी-सी पुष्करिणी नदी, नद, झील, तालाब, सरोवर और समुद्र, सभी आ जाते हैं। इन

प्राकृतिक जलस्थानोंके अतिरिक्त मनुष्यने भी इन्हींकी देखा-देखी ताल, सरोवर, झरने, राजवाहे, नहर और कृत्रिम नदियाँ, कूप, वापी, तडागादि जलाशय अपनी आवश्यकता तथा विलासादिके लिये बनवाया है। प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें गृह-वापियोंके जल-विहारका बड़ा विस्तृत वर्णन दिया गया है। इन जलस्थानोंमेंसे समुद्र, नदी-नदका तट तथा सरोवर रंगमंच पर भी दिखाये जा सकते हैं। योरोपमें ऐसी बहुत सी नाट्यशालायें हैं जिनमें यंत्रके द्वारा रंगमंचका काष्ठ-पीठ हट जाता है और वहाँ सुन्दर तालाब दिखाई देने लगता है और एक नाटकमें तो समुद्र तटके किनारे दुर्ग और समुद्रमें कूदता तैरता व्यक्तिभी दिखाई दिया है। इस सम्बन्धमें नाटककारको यही स्मरण रखना चाहिए कि जो भी दृश्य दिखाया जाय वह रंगमञ्चके परिमाणसे बाहर न हो और उसे दिखलानेमें असुविधा न हो। नाटककारको दृश्य-विधानकी दृष्टिसे रंग व्यवस्थापकका सहायक होना चाहिए, उसका द्रोही नहीं। अर्थात् उसे रंग-व्यवस्थापककी सुविधा और दृश्यकी सम्भावनाका ध्यान रखकर स्थान निर्देश करना चाहिए।

काल्पनिक स्थानोंके निर्देशमें भी इन्हीं उपर्युक्त सिद्धान्तोंका ध्यान रखना चाहिए और इनके अन्दर जैसे भी दृश्य हों उनका विधान किया जा सकता है। इसमें ध्यान रखनेकी बात यही है कि प्रत्येक देशकी संस्कृतिके अनुसार स्वर्ग, नरक, पाताल, देवी-देवताओं, राक्षसों, जिन्नों आदिके स्थानोंका विभिन्न प्रकारका विशिष्ट वर्णन है। उन देशोंसे सम्बद्ध नाटकोंमें उनके पुराणमें धार्मिक विवरणोंकी अनुकूलता रखनी चाहिए।

जैसे मनुष्यके चरित्र और स्वभावपर परिस्थितियों और संगतिका प्रभाव पड़ता है वैसे ही स्थानका भी प्रभाव पड़ता है। पर्वतपर रहनेवालोंकी प्रकृति और मैदानपर रहनेवालोंकी प्रकृतिमें बड़ा अन्तर होता है। पर्वतवासी अधिक परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं। समस्थलवासी निरुद्यमी और आलसी होते हैं। इसी प्रकार समुद्रतटपर रहनेवाले लोग साहसी, वनप्रान्तरमें रहनेवाले लोग अधिक निर्भय, मरुभूमिमें रहनेवाले लोग अकर्मण्य ठंडे प्रदेशोंमें रहनेवाले लोग अधिक कर्मठ और उष्ण प्रदेशोंमें रहनेवाले अधिक सुस्त होते हैं। स्थानके ही प्रभावसे मनुष्यके व्यवसाय, उसके खान-पान, रहन-सहन, पशु-धन इत्यादिकी परीक्षा होती है। जैसे टुंड्रामें रहनेवाले एस्कीमो लोग खालसे मढ़े बर्फ़के मकानमें रहते हैं, बिना पहिएकी कुत्तों या बारह सिंहोंसे खिंची जानेवाली स्लेजगाड़ीपर चढ़कर आखेट करते और बारहसिंहोंके खालका वस्त्र पहनते हैं। केवल परिवारिक भावनाके अतिरिक्त और कोई भावना उनमें नहीं होती है। इसी प्रकार अफ्रीकाके जंगलमें रहनेवाला व्यक्ति वन्य आहार-विहारके अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। समुद्र तटपर रहनेवाली जातियाँ अधिक व्यापारिक होती हैं। घासके मैदानोंमें रहनेवाले लोग गाय, बकरी, भेड़ आदि चराकर पेट पालते हैं। अपने ही देशमें पंजाबी, बंगाली और मद्रासीके आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान सबमें बड़ा भेद है। अतः नाटकीय चरित्रोंके विकासमें स्थानका उतना ही महत्त्व है जितना पात्रका या संवादका और नाटककारकी इसीसे बड़ी भारी परीक्षा भी हो जाती है कि वह विभिन्न जातियों और वर्णोंके आचार-विचार आदिसे परिचित है या नहीं और वह अपने नाटकोंमें निर्दिष्ट स्थानोंके अनुसार पात्रोंके आचार विचार इत्यादिका ठीक-ठीक चित्रण कर सकता है या नहीं। तिब्बतके दृश्यमें जब दो मित्र मिलते हैं तो वे परस्पर हाथ नहीं जोड़ते, वे अपने बायें हाथमें अपनी टोपी ले लेते हैं, और दायें हाथसे कान पकड़कर अपनी जीभ निकाल लेते हैं यही उनका दण्ड-प्रणाम है। अतः नाटककारको स्थानका और स्थानसे सम्बद्ध आचारके अनुसार अपने पात्र, संवाद, व्यापार और दृश्यकी योजना करनी चाहिए।

साहित्य शास्त्रके आचार्योंने उद्दीपन विभावके अन्तर्गत जहाँ सखा, सखी, दूती, ऋतु और पवनका निर्देश किया है वहाँ वन-उपवन नदीतट, चाँदनी, कुञ्ज आदि स्थानोंका भी उल्लेख किया है किन्तु वह स्थान-विचार भी मान्य नहीं क्योंकि आजकल शृङ्गारके लिए अर्थात् रतिके लिए इतने स्थान हो गए हैं कि उनकी सूची नहीं बताई जा सकती। सार्वजनिक, खास भोजनालय (होटल) पुस्तकालय, विनोदगोष्ठी, रेलगाड़ीके विश्रामालय तथा डब्बे, विमानतकमें प्रेम-संयोग होने लगे हैं और कारागारमें घुड़दौड़के मैदानमें, चलचित्र निर्माणशालाओंमें भी प्रेमाचार होनेलगे हैं। एक नाटककारने एक मरणोन्मुख व्यक्तिके साथ एक युवतीके विवाहका दृश्य उपस्थित कर दिया है और सबसे विचित्र घटना वह है कि विवाह और चुम्बन

तक भी टेलीफोन पर होने लगे हैं। अतः नाटककारको समय, युग, व्यक्ति, समाज और परिस्थितिका ध्यान रखकर स्थानोंका विधान करना चाहिए। केवल रूढ़िके अनुसार उद्दीपनात्मक स्थानोंके विधानकी आवश्यकता नहीं। पहले समयमें वीरता युद्धमें दिखाई जाती थी किन्तु भारतने अपना स्वातन्त्र्य युद्ध इस प्रकार चलाया कि मरना, पिटना, गोली खाना, फाँसी पड़ना. मोटरोंके नीचे पिसजाना तथा अन्य ऐसे दमनकारी अत्याचारोंका आखेट बनना वीरताका अंग समझा गया और यह सब वीरतायें युद्धक्षेत्रमें नहीं वरन् सड़कों, हाटों, न्यायालयोंके सामने या कारागारोंमें दिखाई गई थीं।

स्थानोंके साथ ही ऋतु या जलवायुकी बात आ जाती है। बहुतसे नाटककारोंने वेलाका निर्देश दिया है। जैसे प्रातःकाल, अपराह्न, संध्या, रात्रि इत्यादि। यहाँ तक तो ठीक है। इसके साथ-साथ वर्षा होना, बादल घिरना, ठंढा बात, बिजली कड़कना आदि दृश्य दिखाये जा सकते हैं। किन्तु जब नाटककार यह भी कहने लगता है—'गर्मीके दिन हैं, लू, चल रही है या जाड़ेकी रात है' तो यह निर्देश निरर्थक और नाटककारकी सीमाके बाहर है। शेक्सपियरके किंगलियर नाटकमें आँधीसे किंगलियरका संवाद है। शेक्सपियरके युगमें आँधी दिखानेकी व्यवस्था थी। अतः जब किंगलियरके कपड़े न उड़ते हों तो उसका आँधीका संवाद हास्ययुक्त ही प्रतीत होता है। इसीलिये जान्सन जैसे विद्वान्ने उसकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इस वैज्ञानिक युगमें आँधी-पानी दिखानेका प्रबन्ध तो हो सकता है किन्तु गर्मी और जाड़ाका रंगनिर्देश दर्शकोंको किस प्रकार कराया जा सकता है, यह तो केवल पात्रोंके संवादमें कहलाया जा सकता है। जैसे यदि जाड़ेके ऋतुका दृश्य उपस्थित करना है तो तत्सम्बन्धी दृश्यमें पात्रोंसे कहला दिया जाय कि कितना भयंकर जाड़ा है और फिर दांत कटकटाने, थरथराने, वस्त्र खीच-खीचकर ओढ़ने तथा दोनों मुट्ठियाँ आदि बाँधकर दर्शकोंको यह समझाया जा सकता है कि यह दृश्य जाड़ेका है। इसी प्रकार अन्य ऋतुओंके बारेमें होना चाहिए। उसे केवल ऐसा रंग निर्देश नहीं देना चाहिए जो प्रदर्शन-अभिनेता और रंगव्यवस्थापक या किसी भी व्यवस्थापककी सामर्थ्यके बाहर हो।

इस विवेचनसे यह निश्चय होगया कि —

● देशकालपात्रसंस्कारानुसारेण स्थानयोजना ॥

[देश, काल, संस्कार, पात्रके योग्यस्थानका आयोजन हो]

नाटकीय स्थानोंका निर्देश करते हुए रंगके परिमाण, स्थान-प्रदर्शनकी सम्भावना तथा प्रदर्शनीय समाजके युग, संस्कृति पात्र, और देशके अनुसार स्थान-निर्देश किया जाय।

इत्यभिनवभरत श्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखंडे स्थानयोजनाप्रकरणं नाम दशमोऽध्यायः ॥

व्यापार-योजना

व्यापारकी व्याख्या

● चेष्टितं व्यापारः ॥

[चेष्टा व्यापार है।]

स्थानानुसन्धानमें हम बता आये हैं कि नाटक-रचनामें [illegible] स्थान और व्यापारकी आवश्यकता पड़ती है। और [illegible] व्यापार या कार्य न हो तबतक पात्र या स्थानका कोई महत्त्व नहीं। [illegible] पात्र और निर्जनस्थान चाहे कितने [illegible] नाटकके लिये व्यर्थ हैं [illegible] न हों। इन घटनाओंमें मनुष्यकी स्वाभाविक गति, उसकी मानसिक क्रियाके अनुरूप चेष्टायें, दैवी-घटनायें, आकस्मिक घटनायें, सभी नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आ सकती हैं। इनमें कुछ तो व्यक्तिगत होती हैं जिन्हें करने या न करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको होता है—जैसे चोरी करना, हत्या करना, कहीं जाना, किसीसे प्रेम करना आदि। कुछ सामूहिक होती हैं—जैसे आक्रमण करना, मिलकर व्यापार करना, षड्यन्त्र करना आदि। कुछ दैवी होती हैं—जैसे बिजली गिरना, आग लगना, घर या वृक्षका गिरना बाढ़ आना, नाव उलटना, बाँध टूटना इत्यादि। कुछ क्रियायें

सामाजिक होती हैं जो सामाजिक नियमोंके पालन करने या करानेके लिये हो जाती हैं। जैसे, किसी असामाजिक कार्य करनेपर जाति-बहिष्कार या देशद्रोह करनेपर देश-निष्कासन आदि। कभी-कभी किसी विशेष सिद्धान्तकी रक्षा या आदर्शकी स्थापनाके लिये भी कोई व्यापार करना पड़ता है, जैसे—रामका वनवास। कुछ ऐसी भी घटनायें हैं जो मनुष्यकी इच्छापूर्ण न होनेपर उसके मानसिक-विकारके फलस्वरूप होती हैं, जैसे—व्यापार नष्ट होनेपर या किसी कामके सफल न होनेपर पागल होना, हत्याकर लेना। ये तो बड़ी-बड़ी घटनायें हैं और ये घटनायें या तो नाटककी पूर्ण घटनायें हो सकती हैं या अङ्ग-घटनायें हो सकती हैं किन्तु एक घटनाके अन्तर्गत बहुत-सी छोटी-छोटी घटनायें होती हैं और उन उपघटनाओंकी भी अङ्गीभूत अन्य उपाङ्ग घटनायें होती हैं। यदि हम सीता-हरणकी ही घटना लेंगे तो उसमें प्रधान नाटक-घटना यह है।

"शूर्पणखाने रामसे विवाहका प्रस्ताव किया। अस्वीकार करनेपर जब उसने अपना विकटवेश दिखाया तो रामके संकेतपर लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिए। उसने रावणके पास जाकर पुकार की और रावणने मारीचकी सहायतासे सीताका हरण किया" इस प्रधान नाटक—घटनाको यदि अंक घटनाओंमें बाँटना हो तो इसके, शुद्ध रूपसे, तीन-घटना-अङ्क बनाए जा सकते हैं—प्रथम अंकमें शूर्पणखाको रामके पास जानेसे लेकर लक्ष्मण द्वारा नाक-कान काटने तककी घटना आनी चाहिए। दूसरे अंकमें शूर्पणखाकी पुकारसे लेकर मारीच और रावणके मिलन और षड्यन्त्र तककी घटना आनी चाहिए। तीसरे अंकमें मारीचके स्वर्णमृग बननेसे लेकर सीताके अपहरण तककी घटना आनी चाहिए।

इन तीनों अंक-घटनाओंमें अनेक उप-घटनाओंका समावेश होता है। प्रथम अंकमें निम्नलिखित उपघटनायें सहायक घटनायें होती हैं—रामको देखकर शूर्पणखाका सुन्दरीका रूपधारण, रामके पास जाकर प्रेमकी बात करना, रामका लक्ष्मणके पास भेजना, लक्ष्मणका उसे फिर रामके पास भेजना, रामका फिर उसे लक्ष्मणके पास भेजना। इस व्यवहारसे रुष्ट होकर शूर्पणखाका राक्षसीवेश धारण करना, जानकीका भयभीत होना, रामका लक्ष्मणको संकेत करना और लक्ष्मणका नाक-कान काटना।

इन उपर्युक्त उपघटनाओंके अन्तर्गत भी अनेक क्रियायें हो सकती हैं, जैसे, शूर्पणखाका रामके पास वेश धारणकर जानेकी उपघटनाके अन्तर्गत निम्नकार्य हो सकते हैं—कुछ विशेषतांत्रिक या जादूकी क्रियासे अपना वेश बदलना, विशेष हाव-भावके साथ, मुस्कानके साथ, रामके पास जाकर खड़ा होना, बात करना, शिष्टाचार दिखाना, परिचय पूछना, लक्ष्मणके पास उसी भावसे जाना, दो-तीन बार आने-जानेसे से खीझना, रुष्ट होना, प्रलाप करना, रामका विशेष रूपसे संकेत करना और लक्ष्मणका तलवार निकालना, कौशलसे नाक-कान काट लेना, शूर्पणखाका दोष-पूर्ण वचन कहना।

इसका यह तात्पर्य है कि नाटककी एक मुख्य घटना होती है उसकी विशिष्ट अंक-घटनायें और अंक घटनाओंमें अनेक उपघटनायें और उन उपघटनाओंमें अनेक क्रियायें होती हैं। ये सब नाटकीय व्यापारके अन्तर्गत आती हैं।

कथा-सहाय्य-विरोधात्म-व्यापाराः।

[नाटकीय व्यापार सदा हैं कथा-सहायक या बाधक।]

नाटकीय व्यापारकी घटनायें या तो नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायक होती हैं या उसका विरोध करती हैं। सहायक घटनाओंके अन्तर्गत वे सब कार्य या व्यापार आते हैं जो नाटककारके उद्दिष्ट फलागमकी ओर कथा प्रवाहको ले चलनेमें सहायक होते हैं। ये व्यापार या कार्य तीन प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। या तो नायकके अपने कौशल-बुद्धिसे, चेष्टासे, गुणसे या स्वभावसे सहायता करते हैं। अथवा नायकके मित्र, सहयोगी, सहानुभूति करनेवाले, नायकमें रुचि रखनेवाले अथवा परोक्ष-रूपसे नायकका हित-चिन्तन करनेवाले या नायिकाकी ओरसे चेष्टा करनेवाली सखियोंकी ओरसे व्यापार होते हैं, जिनसे नाटकीय कथाके प्रवाहमें सहायता मिलती चलती है। कभी यह सहायता दैवयोगसे भी प्राप्त होती है। उसमें नायक अथवा नायकके अन्य सहायकोंकी सहायता न तो आवश्यक होती है न तो उसका कोई महत्व होता है। दैवयोगसे मिलनेवाली सहायता दो प्रकारकी होती है, एक तो वह जिसमें केवल आकस्मिकता भरी होती है और वह पीछे ऐसी जान पड़ने लगती है मानो वह अत्यन्त स्वाभाविक हो।

दूसरी ऐसी होती है जिसमें सचमुच किसी दैवी-शक्तिका या भाग्यका ही विशेष विधान हो। ऐसी घट-

नाओंमें निरन्तर यही विश्वास होता है कि यह असम्भव बात थी। किसी प्रकारसे भी उसकी सम्भावना नहीं हो सकती थी, उससे आश्चर्य उत्पन्न होता है। यदि हम अभिज्ञान शाकुन्तलकी सहायक घटनाका समीक्षण करें तो ज्ञात होगा कि दुष्यन्तका शकुन्तलाकी रक्षाके लिये पहुँचना उसका रूप और तेज, उसका मधुर व्यवहार आदि गुण, चेष्टा और कौशल शकुन्तलाको मोहित करनेके लिये सहायक सिद्ध हुए। अनुसूया और प्रियंवदाकी चेष्टाएँ और विदूषकके व्यापार भी इस फलागममें सहायक सिद्ध हुए। मातलिका इन्द्रके पाससे सन्देश लेकर आना और दानव-विजयसे लौटकर मारीच कश्यपकी ओरसे लौटना आदि घटनायें ऐसी प्रतीत होती हैं कि दैवसंयोग होते हुए भी उनमें कोई विलक्षणता या आश्चर्यजनक बात नहीं प्रतीत होती और वहाँ शकुन्तलासे मिलनकी तथा दुर्वासाके शापसे मतिभ्रष्ट होनेकी घटनायें स्वाभाविक-सी और अपरिहार्य सी जान पड़ती हैं। किसीके साथ मछलीके पेटसे अँगूठी प्राप्त होना ऐसा दैवयोग है जिसे सुनकर आश्चर्य भी होता है। यह शुद्ध रूपसे भाग्यकी बात है कि वही मछली उस मछुएने पकड़ी जिसके पेटमें अँगूठी थी। अतः नाटकीय व्यापारमें तीनों प्रकारकी सहायता अपेक्षित होती है।

जिस प्रकार नाटकीय व्यापारमें कुछ घटनायें सहायता देती हैं उसी प्रकार नाटकीय कथाके प्रवाहमें कुछ घटनायें बाधा भी उत्पन्न करती हैं। ये घटनायें भी तीनर प्रकारकी होती हैं। एक तो वे हैं जो नायककी, नायकके मित्रों और सहायकोंकी, नायिकाकी, अथवा नायिकाके सम्बन्धियों और सहायकोंकी भूलसे, अवगुणसे, मूर्खतासे या अविचारसे हो जाती हैं। दूसरे प्रकारकी घटनायें वे हैं जो प्रतिनायकके अथवा उसके साथियोंकी चेष्टा या कुचक्रोंसे अथवा किसी [illegible] उपस्थित की जाती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जिनमें दैवका हाथ होता है, जिनमें कुछ सम्भाव्य जान पड़ती हैं और कुछ आकस्मिक। अभिज्ञान शाकुन्तलमें ही [illegible] ऐसा—

"[illegible] सखी! [illegible] न [illegible]" [illegible] शकुन्तला [illegible] शकुन्तलाके [illegible]

लुप्त हो जाती है। यह दूसरे प्रकारका विरोध है जो बाहरी व्यक्तिके कारण हुआ। इसी प्रकार दैवयोगकी घटनाओंमें दुर्वासाका आगमन और अँगूठीका उँगलीसे निकल जाना ऐसी दैवी घटनायें हैं जो सम्भाव्य तो प्रतीत होती हैं किन्तु हुई दैवयोगसे ही और सानुमती द्वारा शकुन्तलाका हरण कर लिया जाना ऐसी आकस्मिक दैवी बाधा है जिसपर सहसा विश्वास नहीं होता और जो अकस्मात् हो जाती है।

स्वपरदैवायत्तं कार्यम् ॥

[अपने पर या दैवयोग पर अवलम्बित सब काम।]

संसारभरकी जितनी भी क्रियायें या चेष्टायें हैं उन सबका विश्लेषण करके हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सब घटनायें या तो मनुष्यकी अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, चेष्टा और गुणके फलस्वरूप होती हैं या उन घटनाओंमें दूसरे सहायकों या विरोधियोंका हाथ होता है। अथवा वे घटनायें होती हैं जिनमें मनुष्यका कोई हाथ नहीं होता। जो केवल संयोगसे अथवा दैवयोगसे होती हैं और जिनके आगे मनुष्यकी सब शक्ति और बुद्धि निरर्थक और असहाय जान पड़ने लगती हैं। इन घटनाओंके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कभी-कभी अत्यन्त नैतिक और धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक और पापपूर्ण कार्य करनेको विवश हो जाते हैं। कभी कभी भ्रमवश वह ऐसा काम कर बैठता है जिससे पीछे उसे पश्चात्ताप होता है। कभी-कभी मनुष्यके उन प्रयत्नोंका फल एकदम उलटा हो जाता है और ऐसा विषम परिणाम निकलता है जिसकी कोई कभी कल्पना भी नहीं कर सकता है।

इन घटनाओंमें जहाँतक दैवका हाथ है वह तीन प्रकारका है। या तो फलकी प्राप्ति करनेवाला नायक ही बीचमें समाप्त हो जाता है अथवा उसका फलागम ही असम्भव हो जाता है अथवा कुछ ऐसी परिस्थितियाँ खड़ी हो जाती हैं कि मनुष्यको विवश होकर अपने इष्टफलके विपरीत आचरण करना पड़ता है।

मनुष्यकी अपनी क्रियायें भी तीन प्रकारकी होती हैं जिनसे इष्टफलकी प्राप्ति भी होती है और उनमें बाधा भी पड़ सकती है। मनुष्य या तो कुछ करता है या कुछ स्वयं [illegible] प्रेरित करता है।

उसमें कोई दैवी बाधा न हुई तो निश्चय ही फलकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि इस वाणी, कार्य या प्रेरणामें कुछ भूल हुई अथवा असद्वृत्तिका योग हुआ तो निश्चय ही फलप्राप्तिमें बाधा होगी। हाँ, यदि दैवयोग सहायक हो जाय तो दूसरी बात है। कुशल नाटककारको इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका मेल करके घटनाओंका गुम्फन करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो दैवयोगका प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि दैवयोगके प्रभावसे तो कोई भी सम्भव कार्य असम्भव किया जा सकता है और असम्भव कार्य सम्भव। नाटकीय कौशलकी दृष्टिसे केवल उन्हीं घटनाओंका समावेश नाटकमें करना चाहिए जो उस विशिष्ट परिस्थितिमें स्वाभाविक और अपरिहार्य जान पड़ें। ये घटनायें जितनी अधिक स्वाभाविक होंगी और दैवयोगसे रहित होंगी उतना ही अधिक नाटककारका कौशल समझा जायगा। यदि कालिदासके समान कोई दैवयोगको भी अपरिहार्य और सम्भाव्य रूपसे उपस्थित कर सकें तो वह भी नाटकीय कुतूहल उत्पन्न करनेमें सफल हो सकता है। किन्तु फिर भी दैवयोगका प्रवेश नाटककारके कौशलमें सदा हीनता ही उत्पन्न करता है।

नाटककारको यह स्मरण रखना चाहिए कि उसे थोड़ी-थोड़ी देरके पश्चात् नये पात्रों, उपघटनाओं, चेष्टाओं तथा भावावेगोंका इस प्रकार विधान करते रहना चाहिए कि नाटकमें नीरसता न आने पाए। यद्यपि संवाद भी नाटकका मुख्य अंग है किन्तु दृश्यकाव्य होनेके कारण उसमें व्यापार या कार्योंका अधिक प्रदर्शन होना चाहिए, संवादका कम। यह कार्य या चेष्टायें निम्नलिखित प्रकारकी हो सकती हैं। बैठे-बैठे या लेटे लेटे उठ खड़े होना, स्थान बदलना, लिखना, पुस्तक बाँचना, सीढ़ीपर चढ़ना या उतरना, खिड़की खोलकर बाहर झाँकना, पात्रोंका भीतर आना और जाना, विशेष प्रकारसे सिंहासनों पर बैठना, पीठोंपर हाथ टेककर खड़े होना, घबराहट, भय, आशंका और मनोविकारके कारण सहसा उद्विग्न होकर उन्मत्त चेष्टा करना, चित्र बनाना, वाद्य बजाना, हर्ष या उन्मादसे नाचने लगना, मुँह बनाना, वस्त्र पहनना, अस्त्र-शस्त्र घुमाना, मद्यपका-सा आचरण करना आदि अनेक ऐसी चेष्टायें हैं जिन्हें अंक-व्यापारमें डालकर नाटककी गति वेगयुक्त बनाई जा सकती है। किन्तु पात्रोंमें इन क्रियाओंका आदेश करते समय पात्रके पदका अवश्य ध्यान रखना चाहिए। एक साधारण श्रेणीका व्यक्ति सहसा सम्पत्ति पाकर हर्षसे नाच सकता है किन्तु कोई विद्वान् गम्भीर पुरुष या राजाके लिये उस प्रकारका आचरण अस्वाभाविक हो जायगा। इसी प्रकार गम्भीर, प्रौढ, वृद्ध तथा उच्चपदस्थ लोगोंकी क्रियाओंमें धैर्य अधिक होता है, गति भी होती है किन्तु अल्पवयस्क, युवक तथा निम्नश्रेणीके पात्रोंकी गति वेगवती होती है और उनमें संयमका अभाव होता है। इन्हीं चेष्टाओंके अनुसार ही भाव-प्रदर्शनका भी विधान होना चाहिए। गम्भीर और उच्चपदस्थ व्यक्ति जहाँ मुस्कराते हैं वहीं उद्धत और अभिमानी पुरुष रूखी कुटिल हँसी हँसता है। अर्थलोलुप व्यक्ति उसी स्थान पर दाँत दिखाकर दैन्य मुद्रा साधता है और युवा तथा अल्पवयस्क उसीपर ठठाकर हँसते हैं। नाटककारको उपघटनाओंकी चेष्टाओंके साथ साथ मानसिक भावोंके प्रदर्शनका भी विधान करना चाहिए, जिनके अन्तर्गत मुस्कराना, कटाक्ष फेंकना, अनुराग भरे नेत्रोंसे देखना, आँखसे संकेत करना, नथने फुलाना, ओठ चबाना, दाँत पीसना, पैर पटकना, नाक भौंह सिकोड़ना, खीझना, आश्चर्यसे आँखें फाड़कर देखना, खिसियाना, लजाना, मुँह फेरना, छेड़-छाड़ करना, सिसकियाँ भरना, आँसू बहाना, डरना, घबराना, हकलाना, घिग्घी बाँधना, रोना, चिल्लाना, गाली देना, हाँथ मटकाना आदि सब मानसिक भावोंके अनुरूप अनुभावोंका प्रदर्शन आ जाता है। नाटककारका धर्म है कि उपर्युक्त सभी चेष्टाएँ आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अनुभावोंका रह-रहकर इस प्रकार प्रयोग करे कि दर्शक एक क्षणके लिये भी नीरसताका अनुभव न करें। क्योंकि वे ही नाटककार सदा असफल होते आए हैं जिन्होंने नाटकको केवल सम्वाद समझ लिया है। वास्तवमें सम्वाद तो इन घटनाओंके सहायक होकर ही आए हैं और जैसा हम पहले कह आए हैं कि सम्वादके विना नाटकका अस्तित्व सम्भव है। किन्तु घटनाओं या या नाटकीय व्यापारोंके विना नाटक कदापि सम्भव नहीं।

इष्टप्राप्तिःस्यान्नवा ॥

[इष्ट प्राप्ति व्यापार एक है सफल रहे या असफल।]

नाटकीय व्यापार मुख्यरूपसे तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनमें एक या कई मनुष्य किसी इष्ट व्यक्ति, वस्तु या पद प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रयत्नमें

सफलता या असफलता उन्हें मिलती है। ये प्रयत्न दो प्रकारसे होते हैं। एक तो सदुपायोंका आश्रय लेकर और दूसरे दुरुपायोंका। सदुपायोंमें सर्वप्रधान सहायक अपना संस्कारपूर्ण मन होता है। जिसकी मूल प्रेरणा ही मनुष्यको कार्यमें प्रवृत्त करती है। जिसीके लिए कालिदासने लिखा है—

"प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः।"

सदुपायोंमें दूसरे सहायक मित्र, सम्बन्धी आदि इष्ट-जन होते हैं। तीसरा सहायक दैवयोग होता है और इन सबसे अधिक सहायक हैं अपने सद्गुण, अपनी बुद्धि और अपना कौशल। जहाँ कहीं इष्टव्यक्ति, इष्टवस्तु या इष्टपदकी प्राप्तिमें सफलता हुई है वहाँ केवल उपर्युक्त चार प्रकारके साधन उपयोगमें लाए गए हैं।

इन प्रयत्नोंमें जो बाधाएँ पड़ती हैं वे भी चार प्रकारकी होती हैं। सबसे पहला बाधक तो हमारा द्वन्द्वात्मक मन ही है। युद्धक्षेत्रमें दोनों सेनाओंके उपस्थित हो जानेपर अर्जुनके मनमें व्यामोह हुआ—

"न च श्रेयोनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।"

[मैं अपने बन्धुओंको युद्धमें मारकर किसी प्रकारकी भलाई नहीं देख रहा हूँ।]

अतः इस कार्यमें सर्वप्रथम बाधा प्रायः अपने मनकी होती है। यह मानसिक बाधा दो प्रकारके लोगोंके द्वारा प्रयुक्त होती है। जो या तो अत्यन्त धार्मिक हों, या अत्यन्त कायर या अव्यवस्थित चित्त हों।

दूसरे प्रकारकी बाधा वह है जो अपने मित्र, सम्बन्धी, इष्टजन या शत्रुओंके द्वारा हित करनेकी सद्भावना या अहित करनेकी दुर्भावनाओंसे प्रेरित हो। नारदजी अपने विवाहके लिये उत्सुक हुए थे और भगवान्से उनका रूप माँगा था। उस समय उन्होंने हितकी भावनासे उनके विवाहमें बाधा डाली। अहित, भावनासे बाधा डालनेके उदाहरण तो प्रत्यक्ष जीवनमें भी अनेक मिलते हैं। जहाँ किसीके प्रेम, व्यापार आदि कार्योंमें अनेक व्यक्ति ही प्रतिस्पर्धी शत्रु या बाधक बनकर खड़े होते हैं।

तीसरे प्रकारकी बाधा है दैवबाधा जिसपर मनुष्यका कोई वश नहीं। जिस प्रकार दैवसंयोग इस कार्यके लिये सहायक हो सकता है वैसे ही यह प्रतिकूल भी हो जाता है। यह दैवयोग या तो स्वसम्बन्धी होता है जैसेः—किसी विशेष रोगसे पीड़ित होना, कहीं चोट खा जाना, अंग भंग होना, सहसा व्यापार नष्ट होनेसे दरिद्र हो जाना, अपने किसी इष्टजनके वियोगसे अनाथ और निराश्रित हो जाना या उन्मत्त हो जाना आदि घटनायें स्वसम्बन्धीहैं, अथवा कभी-कभी इष्टजन-सम्बन्धी ऐसी दैवी घटनायें हो जाती हैं कि वे भी इष्टकार्यमें बाधक हो जाती हैं, जैसे—इष्ट-व्यक्तिका निधन अथवा विपत्तिमें पड़ना या देश-परिवर्तन तथा इस प्रकारकी अन्य घटनायें सब इष्टजन सम्बन्धी होती हैं। नगर-ग्राम सम्बन्धी घटनायें भी इस कार्यकी सफलतामें बाधक हो सकती हैं। जैसे शत्रुका आक्रमण, अग्निकाण्ड, नदीकी बाढ़, साम्प्रदायिक या वर्गी झगड़े, महामारी, भूकम्प, आँधी, प्रलय, वर्षा आदि। ग्राम या नगर सम्बन्धी घटनायें भी इस फलमें बाधक होती हैं। इसी प्रकार राष्ट्र-सम्बन्धी घटनायें भी, जैसे। शत्रुपर आक्रमण, युद्ध, खण्ड-प्रलय तथा अन्य ऐसी सामूहिक विपत्तियाँ और परिस्थि-तियाँ भी बाधक हो जाती हैं। जैसे अभी हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके बटवारेपर करोड़ों परिवारोंकी धन, जन, गृह, और मानसिक निश्चिन्तताकी अपार हानि हुई है।

आदर्शसृष्टिः।

[सृष्टि हो आदर्शकी।]

दूसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार वे हैं जिनमें दृढ़ चरित्र-वाले व्यक्ति किसी विशेष आदर्शकी स्थापनाके लिये आत्म-त्याग, सर्वस्व-त्याग, इष्ट-वियोग, प्रवास, शारीरिक असुविधा, यातना तथा कष्ट सहते हैं।

परपीडात्मकत्वम्।

[औरोंको पीड़ा देना जिनको मुख्य विचार।]

तीसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार वे हैं जिनमें दृढ़ चरित्रवाला दुष्ट पुरुष नियमित रूपसे दूसरोंको पीड़ा देता या दिलाता हो, दूसरोंका जन, धन, अपहरण करता या कराता हो अथवा अपने हठसे और दुर्बुद्धिसे ऐसी परिस्थिति जानबूझकर या अनजाने उपस्थित करता हो जिससे वैयक्तिक या सामूहिक रूपसे लोगोंको कष्ट प्राप्त होता हो। इन नाटकीय व्यापारोंमें प्रायः एक व्यक्ति ही प्रधान होता है और वह इतना समर्थ और शक्तिशाली होता है कि

उसका विरोध करनेके लिये उतने ही शक्तिशाली पुरुषकी अपेक्षा होती है। इस प्रकारकी घटनाओंमें दैवयोगका विशेष उपयोग करनेसे ही कथाकी स्वाभाविकता बनी रह सकती है अन्यथा प्रतिस्पर्धीकी योजना करनेमें अस्वाभाविक होने तथा असत्य हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है। प्रायः दूसरे और तीसरे प्रकारके नाटकीय व्यापार एक साथ ही प्रयुक्त किये जाते हैं जिनमें एक ओर कोई सत्य-निष्ठ दृढ़ पुरुष लोक-कल्याण के लिये सर्वस्व त्याग करनेकी निष्ठा प्रदर्शित करता है और दूसरी ओर कोई दृढ़ दुष्ट सबका अकल्याण और अमङ्गल करनेके लिये ही कटिबद्ध रहता है। विश्वभरके प्रायः सभी नाटककारोंने इस द्वन्द्वमें घटनाओंका संयोजन दैवी आधार देकर इस प्रकार किया है कि दुष्टका पतन होता है और सज्जनकी विजय होती है।

स्वेष्टग्रामराष्ट्रविश्वसंबन्धाश्रिता व्यापाराः ॥

[स्वयं, इष्ट, या ग्राम, राष्ट्र सब, विश्व-समाश्रित हैं व्यापार]

उपर्युक्त घटनाओंका विवेचन करके हम इस परिणाम पर पहुँचे कि संसारमें जितना भी व्यापार होता है या जितनी भी घटनायें होती हैं वे सब चार सम्बन्धों पर आश्रित होती हैं। स्वसम्बन्ध, इष्टजन-सम्बन्ध, नगरग्राम सम्बन्ध और राष्ट्र-सम्बन्ध। यदि हम अपने सम्बन्धको विश्व-बन्धुत्व और लोकमङ्गलकी सीमा तक खींच ले चलें तो एक सम्बन्ध और बढ़ जायगा 'विश्व सम्बन्ध'।

स्वसम्बन्धी घटनाएँ कुछ हितकर होती हैं कुछ अहित-कर होती हैं। हितकर घटनाएँ वे होती हैं जो हमारी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणाको प्राप्त करती हैं। पुत्रैषणाको तृप्त करनेवाली घटनाओंमें मुख्य तीन बातें आती हैं। सुन्दरी, सौम्य, पतिव्रता, इष्ट कन्यासे विवाह। दूसरा पुत्रप्राप्ति और तीसरा पुत्र सुख अर्थात् पुत्रकी विद्या, गुण और यशसे मानसिक तुष्टि। इस सम्बन्धमें विवाह, पुत्र-प्राप्ति तथा पुत्र-सुखमें भी चारों प्रकारकी सहायता मिलती है। अपने रूप और गुणकी, अपने मित्रों और सम्बन्धियोंकी, दैवयोगकी अथवा मन्त्र-तन्त्र, औषध-प्रयोगसे इसमें बाधा भी या तो अपने मित्र, सम्बन्धी या शत्रु देते हैं या अपनी कोई त्रुटि या दुर्गुणसे होती है अथवा दैवयोग बाधक होता है। मित्र-सम्बन्धी या शत्रुकी ओरसे पड़नेवाली बाधा या तो व्यक्तिगत होती है या समाजको उकसाकर कराई जाती है। अथवा मन्त्र-तन्त्र औषधके बलसे उपस्थित की जाती है।

वित्तैषणाकी तृप्ति यातो अपने गुणके कारण होती है। जैसे—विद्या प्राप्त करके, वीरतासे, दूसरोंकी रक्षा करनेका पुरस्कार पाकर सौजन्यसे अथवा शारीरिक सौन्दर्यके कारण।

दूसरा उपाय है व्यापारके द्वारा धन अर्पण करना। यह भी दो प्रकारसे हो सकता है। सचाईके साथ और बेई-मानीके साथ। यद्यपि ससारमें बहुतसे बेईमानीसे द्रव्यार्जन करनेवाले लोग भी सुखी पाए जाते हैं किन्तु व्यापार सिखाने वाले और लोकमङ्गलकी कामना करनेवाले नाटककारका यह कर्तव्य है कि वह बेईमानीसे द्रव्योपार्जन करनेवाले लोगोंका अन्त इतना बुरा दिखावे कि व्यापारी लोग अधर्मसे पैसा कमाना अपने सर्वनाशकी सूचना समझें। इस सद्व्यापारमें भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं और वे बाधायें कुछ तो अपने स्वभाव और भूलोंसे और कुछ मानवी तथा दैवी कारणोंसे हो सकती हैं। वित्तैषणाकी तृप्तिका तीसरा कारण दैवयोग भी हो सकता है। सहसा भूमि खोदनेसे धन मिल जाना रिक्थ-भाग प्राप्त होना। कहींसे सहसा पुरस्कार अथवा भाग्यखेल (लौट्री) आदिसे प्राप्त होना, ससुरालसे प्राप्त होना आदि हैं। ये सब या तो दैवयोगसे ही घटित होते हैं या कुछ ऐसे भी हीन उपाय हैं जिनसे यह वित्तैषणा तृप्त की जा सकती है और वे हैं चोरी, डाका, किसी दीनका भाग हरण करना, छुटी हुई भूमि या धन हड़प कर लेना, धरोहर निगल जाना, किसीको मारकर उसकी धन सम्पत्तिका स्वामी बन बैठना आदि। नाटककारको इस प्रकारके दुष्कृत्योंसे धन उपार्जन करनेकी समस्त वृत्तियोंका अन्त इतना भयानक दिखाना चाहिए कि जो दर्शक इस वृत्तिके हों वे भी इस अन्तको देखकर त्राहि-त्राहि कर उठें। इन परिणामोंके प्रदर्शनके लिये कुछ ऐसे विधान बताए गए हैं जैसे आत्महत्या करना, किसी अत्यन्त निकृष्ट प्रकारसे निकृष्ट व्यक्तिके द्वारा उसकी हत्या होना, पुत्र-पौत्र आदि सबका क्षय होना, भयानक स्वप्न दिखाई पड़ना, घरमें आग लगना, किसी ऐसे अत्यन्त बीभत्स रोगसे ग्रसित होना जिसमें उसे अत्यन्त पीड़ित और जर्जर होकर जीवन बिताना पड़े।

लोकैषणावृत्तिकी तृप्तिके लिए भी दो उपाय हैं। एक

तो अपने गुणोंसे यश प्राप्त करना और दूसरे औरोंकी निन्दा करके तथा कुचक्र द्वारा दूसरेको नीचा दिखाकर यश और पद प्राप्त करना होता है। अपने गुणोंसे जो यश प्राप्त करता है उसके अतिरिक्त अपने सम्बन्धियों तथा दैवयोगके द्वारा भी यश प्राप्त हो जाता है इसलिए मनुष्यको लोकैषणाकी तृप्तिके लिये विद्वान्, साहसी, तेजस्वी नीति कुशल, लोकहितकारी, उदार और सज्जन होना चाहिए। जो यश दूसरोंकी हानि करके, निन्दा करके या उपकार करके अर्जित किया जाता है वह स्थायी नहीं होता। कभी-कभी दैवयोगसे भी यश प्राप्त हो जाता है। जैसे सहसा किसी देशमें पहुँचकर दूसरोंके द्वारा राजा या नेता चुना जाना, और कभी कभी तो ऐसा होता है कि अनिच्छा रहते हुए भी संयोगवश दूसरोंके देखा-देखी या लोकनिन्दाके भयसे कोई कार्य ऐसा हो जाता है जिससे सहसा ख्याति हो जाती है। कभी कभी अपने सम्बन्धोंसे चिढ़कर मनुष्य लोकहितके लिये अपना सर्वस्व देकर ऐसी संस्थायें स्थापित कर देता है जिससे उसकी कीर्ति चिरस्थायी हो जाती है। कभी-कभी [illegible] भी ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनसे बिना परिश्रम किये यश प्राप्त हो जाता है। नाटककारको ऐसी घटनायें अधिक रूपमें नहीं रखनी चाहिए। उसे केवल उन घटनाओंपर विशेष ध्यान देना चाहिए जो स्वयं अपने उसके गुण-अवगुण या कार्यके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप उपस्थित हुई हों। कुछ योरोपीय प्रहसनकारों और व्यङ्ग्य लेखकोंने [illegible] आकस्मिक और दैवी घटनाओंका समावेश अवश्य किया है और दूसरे प्रहसनों तथा व्यङ्ग्य-नाटकोंमें इनका प्रभाव भी रहा है।

शरीरसम्बन्धी अनिष्टकर घटनाओंमें शरीरकी हानि, मनकी हानि और धनकी या सम्बन्धियोंकी हानि ही प्रधान है। शरीरकी हानि या रुग्णता, विष, चोरी, आत्महत्या, जलमें डूबना, आगमें जलमरना, ऊँचे स्थानसे नीचे गिरना, दुष्टों द्वारा मारा जाना [illegible] यातना सहना, [illegible] किसी [illegible] नीचे दब जाना, किसी [illegible] या [illegible], [illegible] तथा इस प्रकारके अन्य उपायोंसे शारीरिक और [illegible] प्राप्त करना है। [illegible] शारीरिक हानि [illegible] [illegible] अपनी [illegible], सम्बन्धियों अथवा [illegible] होती है। कभी कभी अपने किसी इष्टके विपरीत आचरण देखकर मनुष्य प्राण त्यागकर देता है और कभी स्वयं अपनी मूर्खता अथवा भूल या भ्रमसे भी शरीरकी हानि कर देता है। यश और धनकी हानिके लिये भी प्रायः अपने इष्ट, मित्र या शत्रु सहायक होते हैं या दैवीयोग ही विपरीत हो जाता है। कभी-कभी अपने पुत्र और पुत्रियोंके दुराचारसे ऊबकर भी लोग मृत्युकी शरण लेते हैं। ये सब घटनायें स्वसम्बन्धी होती हैं।

इष्टजन सम्बन्धी घटनाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं एक तो इष्टप्राप्ति, दूसरे उस वियोग और तीसरे इसके कारण सुख-दुःख। अपने किसी प्रिय को प्राप्त करना इष्टप्राप्ति कहलाता है, उससे बिछुड़ना इष्ट-वियोग कहलाता है। इष्ट-प्राप्तिके लिये नाटककारको ऐसी घटनाओंका संयोग करना चाहिए जिसमें नायकके व्यक्तिगत गुण, उसके मित्रों और सम्बन्धियोंका सहयोग तथा दैवयोगकी सहायताका साथ हो और इष्ट वियोगमें नायकके दुर्गुण उसकी भूलें, दूसरोंकी प्रेरणा या कुचक्रका समावेश किया जाय। कभी-कभी इष्टवियोगका लक्ष्य उदात्त हो जाता है। जहाँ कोई व्यक्ति किसी दूसरेके हितके लिये जान बूझकर अपने पुत्र, स्त्रीका अन्य किसी निकटतम सम्बन्धीको त्याग या बलिदान करे। इष्टवियोगमें दैवयोगका भी प्रयोग करना नाटकको अधिक आकर्षित कर देता है। कभी-कभी इष्ट-प्राप्तिके लिये प्रपञ्च, छल, मिथ्याचार मन्त्र, तन्त्र, अभिचार-प्रयोग तथा अन्य अनुचित उपायोंपर भी अवलम्बित किया जाता है। जहाँतक परस्पर स्नेही व्यक्तियोंके लिये ऐसे उपायोंका व्यवहार किया जाय वहाँ तक तो ठीक है किन्तु जहाँ एक व्यक्ति किसी दूसरेको उसकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्राप्त करनेके लिये छल, बल, कौशल आदिका प्रयोग करे तो ये सब अनुचित प्रयोग हैं और उनका प्रयोग केवल प्रतिनायकों द्वारा ही कराना चाहिए।

तीसरे नगर-ग्राम-सम्बन्धी घटनाओंमें प्रमुख आक्रमण अग्निकाण्ड, जलप्रलय, साम्प्रदायिक या वर्गीय संघर्ष सामूहिक आन्दोलन, महामारी, भूकम्प, प्रभञ्जन आदि हैं। अनिष्टकारी घटनाओंके विपरीत सार्वजनिक सभाएँ, उत्सव, पर्व, मेले, चुनाव आदिकी हितकारी घटनाओंका भी प्रयोग नाटकीय वातावरणके निर्माणमें किया जा सकता है।

राष्ट्रसम्बन्धी घटनाओंमें प्रमुख आक्रमण राज्य-प्रलय, भूकम्प, चुनाव, दुर्भिक्ष सामूहिक आन्दोलन आदि घ-

नाओंके संयोगसे नाटकीय व्यापारमें सहायता या बाधा उत्पन्न की जा सकती है।

विश्व-सम्बन्धी घटनाएँ तीन प्रकारकी हो सकती हैं। एक तो पारस्परिक राजनीतिक व्यवहारसे सम्बद्ध, जिनके कारण अन्य देशोंसे समयपर सहायता प्राप्त हो सकती है या विरोध हो सकता है। दूसरे सांस्कृतिक सम्बन्ध, जिनके कारण विभिन्न राष्ट्रोंमें पारस्परिक एकता स्थापित हो सकती है और तीसरे व्यवसाय-सम्बन्ध, जिनके कारण एकसे दूसरे देशमें आवश्यक वस्तुओंका लेना-भेजना बन्द होनेसे व्यापक कष्ट हो सकता है और चलाए रखनेसे आर्थिक समृद्धि हो सकती है।

इन पाँचों सम्बन्धोंवाली घटनाएँ मूलतः दैवयोग, व्यक्तिगत आचरण और व्यक्तियों तथा समाजोंसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियोंके आचरणोंपर अवलम्बित हैं। अतः पात्रोंके कर्म, शील, कुल, कौशल, भाव आदिके अनुसार दैवयोगका सम्मिश्रण करते हुए नाटकीय व्यापारकी घटनाओंका गुम्फन करना नाटककारका धर्म है।

इत्यभिनवभरत-श्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखण्डे व्यापारयोजनाप्रकरणं नामैकादशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

भाषा-तत्त्व

भाषाकी आवश्यकता

* भावाभिव्यञ्जनाय वाग्व्यापारः ॥

[भाव प्रकट करनेको भाषा ।]

पात्र-योजनाके प्रकरणमें हम बता आए हैं कि पात्रोंके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, देह, लिङ्ग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति, कुल, संस्कार आदिकी भावनाका योग देकर पात्रोंकी सृष्टि की जाय और यह भी ध्यान रक्खा जाय कि इन सब परिस्थितियोंमें पले हुए पात्र नाटकीय परिस्थितियोंमें पड़कर उपर्युक्त अवस्थाओंके प्रभावके कारण स्वभावोचित गतिसे कार्य करते हुए नाटकीय व्यापारमें योग देकर नाट्यकारके उद्दिष्ट फलको सिद्ध करें। किन्तु यह अभिसन्धान केवल पात्र-योजनाके लिये ही नहीं, भाषा-योजनाके लिये भी आवश्यक है।

नाटक चाहे संवादात्मक हो, मूकाभिनय हो, चल-चित्रके लिये लिखा गया हो, श्रव्य नाटक (रेडियो-प्ले) अथवा गीति-नाट्य हो, सभीमें भाषाकी आवश्यकता अवश्य पड़ती ही है क्योंकि उसीपर नाटकीय व्यापार आश्रित होते हैं। नाटककी अधिकांश सफलता भी प्रायः उसकी संवाद-योजनापर ही अवलम्बित होती है। बहुतसे नाटक कलाकी दृष्टिसे बहुत उच्च कोटिके न होते हुए भी संवादके बलपर सफल हो जाते हैं। अतः संवाद-योजनाके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

* भावसंक्रमणसामर्थ्यं संवादे ॥

[भावसंक्रमणकी समर्थता आवश्यक संवादमें ।]

वाचिक अभिनयका आधार संवाद है और वह किसी भाषा-द्वारा ही होता है। भाषामें सार्थक या निरर्थक ध्वनियाँ होती हैं, उनके मेलसे शब्द बनते हैं और शब्दोंसे वाक्य। इन्हीं वाक्योंसे शब्दकी योजना, प्रयोग, उनके स्थान, रचना और कहनेकी शैलीके अनुसार श्रोता या सम्बोध्यपर उनका प्रभाव पड़ता है और वह सम्बोध्य व्यक्ति अपने स्वभाव, पद और सामर्थ्यके अनुसार उसकी शाब्दिक, मानसिक या कायिक प्रतिक्रिया करता है। इस शाब्दिक क्रिया और प्रतिक्रियाको संवाद कहते हैं।

किन्तु इसके अतिरिक्त नाटककार कुछ निर्देश भी देता है। वह भी भाषाके द्वारा ही व्यक्त होता है। अतः संवाद और रंगनिर्देशके लिये ही यहाँ भाषापर विचार किया जा रहा है।

इस विश्व रंगमञ्चके पात्रोंकी भाषाएँ अगणित हैं। उनकी गणना करना या उनके विषयमें संक्षिप्त परिचय भी देना हमारा उद्देश्य नहीं है।

हमारा कथन इतना ही है कि संसारमें जितनी भी मनुष्य जातियाँ हैं वे सब अपने मनके भाव भाषाके ही द्वारा व्यक्त करते हैं। इन सभी संस्कृत और असंस्कृत, सभ्य और असभ्य, ग्राम्य और अग्राम्य, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध, वन्य और नागरिक भाषाओंमें अपनी-अपनी कुछ विशेष परिगणित ध्वनियाँ होती हैं। उन ध्वनियोंके मेलसे वे ऐसे सार्थक शब्द या वाक्य बनाते हैं जिनसे नाम और क्रियाका बोधक होता है और जिनके विशेष क्रमबद्ध मेलसे लोग अपने इष्ट भाव दूसरोंपर प्रकट करते हैं और अपना व्यवहार चलाते हैं। शिष्ट, समुन्नत और सुसंस्कृत जातियोंने अपनी भाषाके ध्वनियोंको विशेष रूपसे बाँधकर शब्दोंके अनेक रूप और प्रयोजन स्थिर किए, शब्दोंकी शक्ति बढ़ाई, उनके प्रयोगोंमें नवीनता भरी और इस प्रकारके जितने अधिक व्यवस्थित प्रयास जिन भाषावालोंने किए वे भाषाएँ उतनी ही अधिक स्थिर, शुद्ध और सुव्याकृत हो गईं और इस सम्पूर्ण प्रयत्नका उद्देश्य यही हुआ कि हम अपनी बात अधिकसे अधिक स्पष्टता और विशदतासे दूसरेपर व्यक्त करने लगे। यह व्यक्त करना तीन प्रकारसे होता है—एक तो लिखकर, दूसरे व्याख्यानके द्वारा जन-समूहको सम्बोधित करके, तीसरे वार्त्तालाप या परस्पर बातचीत द्वारा। इनमेंसे लिखना और व्याख्यान देना अलग कला है। उसका विवेचन लेखन कला और व्याख्यान-कलाके अन्तर्गत ही हो सकता है किन्तु नाटकमें संवादका ही प्रयोजन होता है क्योंकि नाटकके पात्र संवादके द्वारा ही अपने मनके भाव दूसरोंपर व्यक्त करते हैं और उसीसे पात्रोंके चरित्र तथा नाटककी कथाका विकास और प्रसार होता है। इस संवादमें शब्द होते हैं और वाक्य।

ध्वनि।

* व्यक्ताव्यक्ता ध्वनी ॥

[व्यक्त और अव्यक्त ध्वनिद्वय।]

मनुष्योंने जिन सब ध्वनियोंके अर्थ स्थिर कर लिये हैं और जो वाणीके द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं, उन्हें व्यक्त ध्वनि कहते हैं। इसके अतिरिक्त जितनी ध्वनियाँ वर्णके द्वारा नहीं लिखी या व्यक्त की जा सकतीं उन्हें अव्यक्त कहते हैं। मनुष्यके मुखमें कंठसे ओष्ठतक वायु जब विभिन्न स्थानोंके सम्पर्कमें आता है और उससे जो वर्ण या सार्थक ध्वनियाँ निकलती हैं वे व्यक्त ध्वनियाँ कहलाती हैं और भिन्न-भिन्न पदार्थोंके परस्पर आघातसे जो ध्वनि सुनाई पड़ती है वह अव्यक्त ध्वनि है। ये व्यक्त और अव्यक्त ध्वनियाँ दो प्रकारकी होती हैं, श्रुतिमधुर और श्रुतिकटोर। जो व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि कानोंको मधुर लगे उन्हें श्रुति-मधुर कहते हैं और जो कानको कठोर प्रतीत हो उन्हें श्रुतिकटोर कहते हैं। इनमेंसे अव्यक्त ध्वनियोंका केवल वर्णन कर दिया जाता है जैसे गाय रँभाती है, बादल गड़-गड़ाता है, घंटा टनटनाता है, बिजली कड़कती है, वायु सनसनाता है आदि। किन्तु व्यक्त ध्वनियों या वर्णोंका भाषामें नियमित विचार होता है।

* ध्वन्यक्षरात्मको वर्णौ ॥

[ध्वनिअक्षरमय वर्ण द्विविध हैं।]

वर्ण दो प्रकारके होते हैं, ध्वन्यात्मक तथा अक्षरात्मक। तन्त्राचार्योंने कहा है कि प्राणियोंके मूलाधारमें (गुदा और लिङ्गके बीच दो अंगुलका वह स्थान जिसे त्रिकोण कहते हैं, जो इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक होता है और जहाँ करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशसे युक्त स्वयंभू लिङ्ग विरा-जमान है साँपके समान कुण्डली मारे हुए एक नाड़ी है जो सब वर्णोंमें मिलकर मन्त्रमय जगत्को प्रकाशित करती है, जो शब्द और अर्थमें परिवर्तन लाती है और जो उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर-समाहारको व्यक्त करनेवाली है। यह कुण्डली इस क्रमसे वर्णमाला उत्पन्न करती है कि कुण्ड-लीसे शक्ति, शक्तिसे ध्वनि, ध्वनिसे नाद, नादसे निरोधिका, निरोधिकासे अर्धेन्दु, अर्धेन्दुसे बिन्दु, बिन्दुसे अन्य बयालीस वर्णोंकी वर्णमाला उत्पन्न होती है। चित्शक्ति जब सत्त्वसे संयुक्त होती है तब वह शब्द, पद और वाक्ययुत हो जाती है। वह चित्शक्ति जब सत्त्वसे युक्त अवस्थामें आकाशमें पहुँचकर रजोगुणसे मिलती है उस समय उत्पन्न होनेवाली ध्वनि ही शब्द कहलाती है। जब ध्वनि अक्षर अवस्थामें तमोगुणसे मिलती है तब वह पद और वाक्यका रूप धारण करती है।

अलंकारकौस्तुभ और पदार्थादर्श आदि ग्रन्थोंमें वर्णके चार भेद बताए गए हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। जब मूलाधारसे पहले पहल नाद रूपमें वर्णकी उत्पत्ति होती

है तब उसे परा कहते हैं। जब वह वर्ण नाद रूपमें मूलाधारसे उठकर धीरे-धीरे हृदयमें पहुँचता है तब वह पश्यन्ती कहलाता है और इसके पश्चात् जब हृदयसे उठकर वह क्रमसे बुद्धि और संकल्पके साथ मिलता है तब उसे मध्यमा कहते हैं। इसके पश्चात् जब वह बुद्धिसे उठकर कंठमें पहुँच कर मुखसे प्रकट होता है तब वह वैखरी कहलाता है।

वाक्यपदीय ब्रह्मकांडमें 'पश्यन्त्या मध्यमायाश्च' नामक कारिकाकी भावप्रदीप-टीकामें पंडित श्री सूर्यनारायण शुक्लजीने लिखा है कि पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन ही प्रकारकी वाणी होती है और ये तीनों स्थूला, सूक्ष्मा और परा भेदसे तीन तीन प्रकारकी हैं। इस प्रकार वाणीके नौ भेद हैं। वर्णोंके विभागोंसे रहित केवल स्वरयुक्त संगीतरूपी वाणी ही स्थूला पश्यन्ती है। वही जब जिज्ञासा-रूपिणी हो जाती है तब सूक्ष्मा पश्यन्ती कहलाती है। वही जिज्ञासासे हीन संविद् अर्थात् बुद्धिरूपा या चिद्रूपा परा पश्यन्ती कहलाती है। चमड़ेसे मढ़े हुए मृदंग आदिमें हाथकी चोटसे उत्पन्न हुई ध्वनि स्थूला मध्यमा कहलाती है। ध्वनिरूपी वाणी ही स्थूला मध्यमा कहलाती है, वही विवादयिषा अर्थात् विचारकी इच्छाको प्रेरित करनेवाली सूक्ष्मा मध्यमा है और वही जब उस प्रकारकी इच्छासे रहित निरुपाधिका हो जाती है तब परा-मध्यमा कहलाती है। इसी प्रकार परस्पर विलक्षणतासे अलग-अलग वर्णके रूपमें प्रकट होनेवाली वाणी स्थूला वैखरी कहलाती है। बोलनेकी इच्छाका रूप धारण करनेवाली सूक्ष्मा वैखरी कहलाती है और बोलनेकी इच्छासे रहित केवल ज्ञानरूपा या बुद्धिरूपा परा-वैखरी कहलाती है। पश्यन्ती ही सूक्ष्म होकर परा कहलाती है।

वैदिक साहित्यमें वाक् या वाणीके दो भेद किए गए हैं—निरुक्ता और अनिरुक्ता। निरुक्ता वह जो प्रकट सुनाई पड़े और व्यक्त हो; अनिरुक्ता वह है जो अप्रकट और अव्यक्त हो। वैखरी वाणी निरुक्ता होती ह, मध्यमा कभी निरुक्ता होती है कभी अनिरुक्ता होती है और पश्यन्ती तथा परा-वाणी केवल अनिरुक्ता होती हैं। वैखरी वाणी भी दो प्रकारकी होती है—व्याकृता तथा अव्याकृता। जिन ध्वनियोंको मनुष्यने सार्थक बनाकर अपने व्यवहारके लिये बोलचालका साधन बनाया है और जिसे वे किसी विशेष नियमके साथ प्रयोग करते हैं उसे व्याकृता कहते हैं। शेष सब ध्वनियाँ अव्याकृता हैं, जैसे पशु-पक्षियोंकी बोलियाँ, बच्चेकी तोतली बोली आदि। सभी काव्योंमें केवल व्याकृता वाणीका ही प्रयोग होता है किन्तु नाटक या रूपक एक ऐसा काव्य है जिसमें अव्याकृता वाणीका भी प्रयोग किया गया है और किया जा सकता है जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलमें कोकिलका कूजन आदि।

संसारमें अनेक देशोंके मनुष्य अनेक प्रकारकी बोलियाँ बोलते हैं जो परस्पर विभिन्न देशवासी समझ नहीं सकते। इसलिये जो ध्वनि एक देशके लिये व्याकृता है वही दूसरेके लिये अव्याकृता हो सकती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि दूसरे देशवाले एक देशकी भाषाका प्रयोग करते हुए अक्षरों और शब्दोंका भ्रष्ट उच्चारण करते हैं, जैसे—'किधर जाता है' वाक्यको एक अंग्रेज बोलता है 'किड्र जाटा हाए'। यद्यपि किड्र, जाटा, हाएकी व्युत्पत्ति हमारे व्याकरणसे नहीं हो सकती किन्तु फिर भी हम उसका अर्थ अंग्रेजोंके सम्पर्कके कारण और उनके उच्चारण-दोषसे परिचित होनेके कारण जान लेते हैं। इसी आधारपर शिष्ट भाषाके अनेक अपभ्रष्ट और देशी स्वरूप बन जाते हैं और वे भी व्याकृताके ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

संसारकी सभी सभ्य-जातियोंने अपनी-अपनी भाषाकी वर्णमाला या ध्वनिमाला स्थिर कर ली है जिनके द्वारा वे अपने मनके भाव उस भाषाके समझनेवाले लोगोंपर व्यक्त कर लेते हैं। ये सभी ध्वनियाँ कंठसे ओठ तकके बीच मुखके भीतरी स्थानोंसे उच्चरित होती हैं। सभी सभ्य भाषा-भाषियोंने इन ध्वनियोंके लेख-प्रतीक या लिपि-चिह्न बना लिए हैं। इनमेंसे कुछने तो ध्वनियोंके प्रतिनिधि चिह्न बनाए हैं और मिस्रवालोंने तो वर्णोंके चित्ररूप ही बना लिए थे। उनके बयासी (८२) चित्र-वर्णोंमें मनुष्य या उनकी प्रतिकृतियोंके, सत्रह अस्त्र, यंत्र, बाजे और पात्र आदिके, तीन सामुद्रिक जीवोंके, सत्रह पशु-पक्षियोंके, आठ वृक्षोंके, छः ग्रहों-नक्षत्रोंके, एक भौगोलिक, आठ ज्यामितिमूलक चिह्नोंके और बारह दूसरे प्रकारके चिह्न थे। संस्कृतमें पचास, तन्त्र-शास्त्रमें ५१, अंग्रेजीमें २६, फ्रान्सीसीमें २३, अरबीमें २८, फारसीमें ३१, तुर्कीमें ३३, हिब्रूमें, २२, रूसीमें ४१, यूनानीमें २४, लैटिनमें २२, डचमें २६, स्पेनीमें २७, इतालवीमें २०, तातारीमें २०२ और ब्रह्ममें १९ वर्ण हैं। चीन देशकी वर्णमाला शब्दात्मिका है और ऐसे शब्दोंकी संख्या प्रायः अस्सी सहस्र है। इनके अतिरिक्त और भी जितनी भाषाएँ बोली

जाती हैं उनमें थोड़े बहुत विकारके साथ वे ही ध्वनियाँ हैं जो संस्कृत वर्णमालामें है। किन्तु उन ध्वनियोंका अलग अलग कोई अर्थ नहीं है और यदि है भी तो एक दो का जैसे अंग्रेजीमें ए और आईका अर्थ क्रमशः 'एक' और 'मैं' है। किन्तु संस्कृतमें प्रत्येक वर्ण सार्थक है जैसा कि नीचेकी सरणीसे स्पष्ट हो जायगा। संसारकी शेष भाषाएँ विभिन्न ध्वनियोंको मिलाकर शब्दका निर्माण करती हैं किन्तु संस्कृतकी पूर्ण वर्णमाला ही शब्दमाला है। संस्कृतका यही वर्ण-समाम्नाय देवनागरी वर्णमाला कहलाता है। इसकी विशेषता यह है कि इसके अक्षरोंके नाम और उच्चारण दोनों एक हैं। संसारकी अन्य लिपियोंमें अक्षरोंके नाम कुछ और उनका उच्चारण कुछ होता है यहाँ तक कि कभी-कभी उनमें एक ध्वनिके लिये तीन तीन अक्षर या एक अक्षरसे कई-कई ध्वनियोंका काम निकाला जाता है।

नीचे हम संस्कृत वर्णमालाकी पूरी सरणी देकर यह स्पष्ट करते हैं कि संस्कृत वर्ण-समाम्नायका प्रत्येक वर्ण सार्थक है—

अ = विष्णु
आ = महादेव
इ = कामदेव
ई = कन्दर्प, लक्ष्मी।
उ = शिव, ब्रह्मा।
ऊ = चन्द्रमा।
ऋ = अदिति।
ॠ = अदिति।
ऌ = दैवी प्रकृति, पृथ्वी, पर्वत।
ॡ = देवी, नारी-प्रकृति, माता, शिव, दैत्योंकी माता।
ए = विष्णु।
ऐ = शिव।
ओ = ब्रह्मा।
औ = अनंत, शेषनाग और पृथ्वी।
क = ब्रह्मा, विष्णु, कामदेव, अग्नि, वायु, यम, सूर्य, आत्मा, चतुर पुरुष, राजा, गाँठ या जोड़, मन, शरीर, मोर, समय, धन, सम्पत्ति, ध्वनि, प्रकाश, ज्योति, शिर, जल, आनंद, बाल।
ख = आकाश, स्वर्ग, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान, हर्ष या आनंद, शून्यता, बिन्दु, नगर, खेत, कार्य, शुभमुहूर्तता, ब्रह्म, सूर्य।
ग = जो जानेवाला हो, गणेश, गन्धर्व, गीत, गायन।
घ = घंटी, घरघराहट, घुंघरूदार करधनी, मारना, भिगोना।
ङ = इन्द्रिय-बोध्य वस्तु, इच्छा।
च = बीजरहित, नीच, शिव, चन्द्रमा, चोर, कछुआ।
छ = पवित्र, स्वच्छ, कंपन, स्थिर, काटना, बाँटना, भाग, टुकड़ा, बच्चा, ढँकना, छिपाना।
ज = वेगवान, खाया हुआ, विजयी, शिव, विष्णु, उत्पत्ति, माता या पिता, विष, प्रसन्नता, प्रकाश, चमक, गति।
झ = शयन, सुप्त, नरक, बृहस्पति, दैत्योंका राजा, आँधी, गत बजाना या ताल देना, झड़ना, झाँझका स्वर।
ञ = शुक्र, बैल, नास्तिक, गायन।
ट = ध्वनि, प्रत्यंचाकी टंकार, बौना, चौथाई, खोखला नारियल, पृथ्वी, प्रतिज्ञा।
ठ = शिव, चन्द्र या सूर्यका मंडल, गोला, वृत्त, शून्य, हल्ला, देवमूर्ति या देवता, बर्त्तनके गिरने या लुढ़कनेकी ध्वनि।
ड = शिव, भय, ध्वनि, वाड़वाग्नि, ढोल, एक पक्षी, टोकरी।
ढ = बड़ा ढोल, कुत्तेकी पूँछ, ध्वनि, साँप।
ण = ज्ञान, निश्चयता, शिव, जैन-देवता, बिन्दु, देव, एक आभूषण, जलघर या निदाघ-गृह, गुणहीन, एक प्रकारकी ध्वनि, नहीं की ध्वनि, दान।
त = चोर, अमृत, जाति-बहिष्कृत, नीच, नितंब, ऊँच, गर्व, दुष्ट, वृक्ष, एक रत्न, एक बुद्ध, पार करना, पाससे होकर निकलना, गुण, पवित्रता।
थ = शुभ मुहूर्तता, भय, रक्षा, पर्वत, भोजन, एक रोग।
द = पत्नी, दान, काटना, बाँटना, तोड़ना, माँजना, रक्षा करना, पश्चात्ताप, पर्वत।

ध = ब्रह्मा, कुवेर, नैतिक गुण, धन, सम्पति ।

न = पतला, बचा हुआ, अतिरिक्त, रिक्त, ठीक वैसा ही, निश्चित, रोषहीन, अविभक्त, बौद्ध, बाँधना, प्रशंसित, गणेश, युद्ध, दान, भलाई, समृद्धि, एक रत्न, नाड़ी, एक बाजा, ज्ञान ।

प = पवन, राजा, पत्ता, अंडा, पीना, रक्षा करना, शासन करना ।

फ = बढ़ाना, फैलाना, कुवेरके सेवकोंको प्रसन्न करनेके लिये एक प्रकारकी तांत्रिक पूजा, आँधी, जँभाईके समय निकला हुआ वायु, उत्पादकता, बढ़ाने वाला, निरर्थक या व्यर्थ बात, क्रोध-वचन, ध्वनिके साथ कूद पड़ना, चिन्ता, व्यथा ।

ब = वरुण, घड़ा, समुद्र ।

भ = तारा, ग्रह, सत्ताइस नक्षत्र, शुक्र, मधुमक्खी, भूल या भ्रम, प्रकाश, ज्योति, प्रकाशकी किरण, भय, ब्रह्मा, शिव, यम, समय, ऋतु, विष, मंत्र, चन्द्रमा, सरगमका चौथा स्वर, लक्ष्मी, माता, नाप-तौल, प्रकाश, ज्ञान, बाँधना, मृत्यु, स्त्रीकी कटि, सौभाग्य, जल ।

य = जाने वाला, चलाने वाला, आयु, मेल, प्रसिद्धि, जौ, प्रकाश, परित्याग, यम, गाड़ी, रोकना, ध्यान, प्राप्ति ।

र = अग्नि, गर्मी, जलाना, प्रेम, इच्छा, वेग, देना, स्वर्ण, जलाना ।

ल = इन्द्र, काटना, लघुमात्रा, देना, लेना, गले लगाना, पिघलाना ।

व = वायु, भुजा, वर्म, वक्तव्य, शुभमुहूर्त्तता, शक्तिशाली, आकाश, वरुणका निवासस्थान, समुद्र, जल, क्षौरकर्म, राहु, सिंह, वस्त्र, जाना, चोट, बाण, बुनना, जुलाहा, वरुणका मंत्र ।

श = शिव, शस्त्र, काटनेवाला या नाशक, प्रसन्न ।

ष = सर्वश्रेष्ठ, विद्वान्, अध्यापक, चूचुक, विनाश, शेष, ज्ञाननाश, शाश्वत आनंद, स्वर्ग, निद्रा, अन्त, बाल, गर्भ, संतोष, सहनशीलता ।

स = सर्प, शिव, विष्णु, वायु, षड्ज स्वर, एक पक्षी, लक्ष्मी, ज्ञान, ध्यान, गाड़ीका मार्ग, बाड़ा ।

ह = हंसी, पागल, मद्यप, शिव, जल, शून्य, ध्यान, शुभमुहूर्त्तता, आकाश, स्वर्ग, रक्त, मरण, भय, ज्ञान, चन्द्र, विष्णु, युद्ध रोमहर्षण, घोड़ा, अभिमान, वैद्य, कारण, परित्याग, वीणा, परमेश्वर, आनंद, पुकार, शस्त्र, रत्नकी चमक, वीणाकी ध्वनि ।

हमारी भाषाका ध्वनितत्त्व

हमारी भाषाका अर्थ यहाँ नागरी भाषा है जिसकी उत्पत्ति संस्कृतसे हुई है और जिसमें यह ग्रंथ लिखा जा रहा है और जो भारतकी राष्ट्रभाषा तथा उत्तरी भारतकी शिष्टजन-प्रयोज्या तथा अध्ययनाध्यापनकी भाषा है। इसे साधारणतः लोग हिन्दी भाषा कहते हैं। हमारे वर्णोंकी मूल ध्वनियाँ प्रधानतः दो समूहोंमें विभक्त हैं जिन्हें स्वर और व्यंजन कहते हैं। इनकी मूल संख्या पाणिनीय शिक्षाके अनुसार ६३ अथवा ६४ थी ।

अ आ आ३ इ ई ई ३ उ ऊ ऊ ३ ऋ ॠ ॠ ३ ऌ ए ए ३ ऐ ऐ ३ ओ ओ ३ औ औ ३ क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व श ष स ह, चार यम, अनुस्वार (ं), विसर्ग (:), ⌣क् जिह्वामूलीय, और ⌣प् उपध्मानीय, प्लुत ऌकार और दुःस्पृष्ट ।

१—त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा ॥
स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ।
अनुस्वारो विसर्गश्च⌣क⌣पौ चापि पराश्रितौ ॥
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च ।

२—वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः । पलिक्क्नी चख्ख्नतुः अग्ग्निः घ्घ्नन्ति । (सिद्धान्तकौमुदी संज्ञा-प्रकरण)

* नागर्यां सप्तचत्वारिंशत् ॥
[सैंतालिस ध्वनियाँ नागरि में ।]

हमारी नागरी भाषामें प्रयुक्त वर्णमालाके अनुसार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, ११ स्वरवर्ण कहलाते हैं। क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह ३३ व्यञ्जन वर्ण कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त अनुस्वार (ं) विसर्ग (:) और अनुनासिक (ँ) तीन विशेष ध्वनियों का भी प्रयोग होता है। अर्थात् नागरीमें ४७ वर्णोंका ही प्रयोग होता है। इस संबंधमें सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात इन वर्गोंके उच्चारण-स्थानका निर्देश है। नीचे दिए कोष्ठसे विदित होगा कि नागरी वर्णोंका क्रम सर्वथा वैज्ञानिक पद्धतिपर निश्चित किया गया है। वे एक क्रमसे सजाये गए हैं। ऐसा नहीं किया गया है कि कंठ्य वर्णके पश्चात् ओष्ठ्य वर्ण हो और उसके पश्चात् तालव्य वर्ण आ जाय तथा तुरंत ही दूसरे कण्ठ्य वर्णको स्थान दे दिया गया हो।

वर्ण	उच्चारण-स्थान	वर्ग
अ, आ, ह	कण्ठ	स्वर, अन्तस्थ
क ख ग घ ङ	जिह्वामूल	कवर्ग
इ ई, च छ ज झ ञ, य श	तालु	स्वर, चवर्ग, अन्तस्थ
ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण, र ष	मूर्द्धा	स्वर, टवर्ग, अन्तस्थ
लृ, त थ द ध न, ल स	दन्त	स्वर, तवर्ग, अन्तस्थ
उ ऊ प फ ब भ म	ओष्ठ	स्वर, पवर्ग
ए ऐ।	कण्ठ-तालु	स्वर
ओ औ	कंठोष्ठ	स्वर
व	दंतोष्ठ	अन्तस्थ

'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार अ, आ, ह क ख ग घ ङ के उच्चारणका स्थान कंठ है। किन्तु स्वर्गीय ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने इसमें संशोधन करते हुए 'अ आ ह' का उच्चारण स्थान कंठ तथा कवर्गका उच्चारण-स्थान जिह्वामूल निर्दिष्ट किया है। 'जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः'। पाणिनीय शिक्षापर उक्तमत 'क ख ग' के सम्बन्धमें है। पर इनका प्रयोग नागरीमें नहीं होता। विदेशी शब्दोंमें क़ाग़ज़, आदिमें होता है। पर उनका ग्रहण नागरीमें तद्भव रूपमें होना चाहिए, तत्सम रूप में नहीं। अतः इन नवीन ध्वनियोंके स्वीकरण की कोई आवश्यकता हमारी नागरीमें नहीं है। हमारा कार्य क ख ग आदिसे 'कागज' लिखकर चल जायेगा।

इसी संबंध में यहाँ एक और बात भी कह देनी अत्यावश्यक है। किसी कार्यके करनेके पूर्व हमें उस कार्यका ज्ञान होता है, तदनन्तर इच्छा होती है और तब मनुष्य उसके लिये यत्न करता है। इसी प्रकार शब्दोच्चारणमें भी अनेक प्रक्रियाएँ पहले हो चुकी हैं तब मनुष्य शब्दोच्चारण करता है। पाणिनि मुनिने अपनी शिक्षामें इस विषयकी कुछ महत्वपूर्ण बातें कही हैं जो अवश्यमेव ध्यानमें रखनेकी हैं। उन्होने कहा है :—

"आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।
स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः॥"

अर्थात् शब्दोच्चारणसे पूर्व आत्मा बुद्धिके साथ मिलकर अर्थ-ज्ञान करता है तदनन्तर वह मनको बोलनेकी इच्छासे प्रेरित करता है। मन शरीरकी अग्निपर आघात करता है जिसके कारण अग्नि वायुको प्रेरित करता है। वह वायु हृदय स्थानमें पहुँचनेपर गम्भीर ध्वनि-उत्पन्न करता है। वहाँसे चलकर फिर वह ऊपर जाकर मूर्धासे टक्कर खाकर लौटता है और मुखमार्गसे बाहर निकलते हुए विभिन्न प्रकारकी ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। इन वर्णोंमें कारणके अनुसार पाँच भेद माने जाते हैं—स्वरकृत भेद, कालकृतभेद, स्थानकृत भेद, आभ्यन्तर प्रयत्नकृत और बाह्यप्रयत्नकृत भेद।

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। अतः इनका संक्षिप्त इतिहास दे देना अनुचित न होगा।

वैदिक संस्कृतमें ह्रस्व 'अ' का उच्चारण विवृत होता था। पर यह प्रारम्भिक अवस्थाकी बात है। अनन्तर लौकिक संस्कृत एवं प्रातिशाख्यों और पाणिनीय शिक्षादिके द्वारा इसका उच्चारण आजकलकी भाँति संवृत ही होने लगा।

ऋ और लृ का भी उच्चारण वैदिक कालमें भिन्न-भिन्न होता था। 'र' ध्वनि तो इसके साथ उच्चरित होती थी जिसका प्रमाण हमें ऋक् प्रातिशाख्य और महाभाष्यके अध्ययनसे प्राप्त है, पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। पाली और प्राकृतमें ऋ का प्रयोग नहीं मिलता है। ऋ के स्थानपर कभी अ कभी इ और कभी उ हो जाते हैं। जैसे कृतका कद, ऋषिका इसि और वृक्षका रुक्ख। ऋके उक्त तीन विकार संस्कृतमें भी उपलब्ध हैं—कृका करण तृका तीर्ण और पृका पूर्ति। ऐसी स्थितिमें ऋका उच्चारण रु या रि न होकर रे होना चाहिए।

"लृ" का प्रयोग तो वैदिक संस्कृतमें भी अत्यल्प मात्रामें होता था। लौकिक संस्कृतमें तो 'लृ' का प्रयोग एक प्रकारसे होता ही न था। आधुनिक पाश्चात्य विद्वानोंका कहना है कि प्राचीन 'लृ' का उच्चारण अंग्रेजीके 'लिटिल्' शब्दमें उच्चरित होनेवाले ल के समान था। किन्तु इस कहनेका कोई प्रबल आधार न मिलनेसे उस विषयमें मौन ही रहना उचित है। संस्कृतके पश्चात् पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीमें 'लृ' का प्रयोग सर्वथा उपलब्ध नहीं है।[1]

ए ऐ ओ औ को वैदिक और लौकिक संस्कृतमें सन्ध्यक्षर माना है। इनके उच्चारण स्थान भी (एदैतोः कंठतालुः। ओदौतोः कण्ठ्योष्ठन्) एक-एक न होकर दो-दो कहे गए हैं। महाभाष्यमें भी इन्हें सन्ध्यक्षर ही माना है।[2] इसी आधारपर यह कल्पना की जाती है कि इन चार अक्षरों का उच्चारण एक स्वरके या समान स्वरके समान नहीं किन्तु दो स्वरोंके समान—सन्ध्यक्षरके समान होता रहा होगा पर इसका ठीक-ठीक उच्चारण क्या था यह संदिग्ध ही है। प्रायः 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' का प्राचीन उच्चारण क्रमशः 'अइ' 'अउ' 'आइ' 'आउ' माना जाता है। इसका आधार उक्त कथनके अतिरिक्त यह भी है कि सन्धि-स्थलोंके 'ए' 'ओ' 'ऐ' 'औ' की रचना 'अ + इ' 'अ + उ' 'अ + ए' 'अ + ओ' के योगसे भी होती है। 'अए' 'अओ' भी ऐ औका एक उच्चारण माना जाता है जो आधुनिक नागरीमें उपलब्ध है। पर हिन्दीकी स्थिति कुछ विचित्र है। आधुनिक नागरीमें 'ए' 'ओ' का उच्चारण एक स्वर सा होता है और ऐ औ का सन्ध्यक्षर सा। अतः कुछ निर्णय करनेके पूर्व इन वर्णोंके इतिहासपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए। संस्कृतमें ये स्वर संयुक्ताक्षर माने गए हैं यह कहा जा चुका है। पाली और प्राकृतमें ए ओ तो उपलब्ध हैं पर ऐ औ नहीं मिलते। प्राकृतमें ऐ का ए और औ का ओ हो जाता है। पर कुछ ऐसे परिवर्तन भी उपलब्ध हैं जो कि आधुनिक नागरी उच्चारणके कारण माने जा सकते हैं। प्राकृतमें दैत्य शब्दके दैका उच्चारण दइ और पौरवके पौका पउ हो जाता है। अतः संस्कृत कालमें चाहे इनका उच्चारण सन्ध्यक्षर सा रहा भी हो पर आजकल हमारा आधुनिक उच्चारण निराधार नहीं है। प्राकृत कालसे ही इनका उचारण आज जैसा है। अतः ऐ औ का शुद्ध उचारण अइ अउ ही मानना चाहिए। किन्तु वृद्धि-सन्धिके नियमानुसार इनका निर्माण अ + ए, अ + ओ, से होनेके कारण इनका उच्चारण 'ऐसा' तथा 'औरत' आदि शब्दोंमें होनेवाले 'ऐ' 'औ' का भी प्रतिनिधि कहा जा सकता है जो अए, अओ के समान बोला जाता है।

---

१. अथ लृकारोपदेशः किमर्थः किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषां वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति। को वा विशेषः। अयमस्ति विशेषः। अस्य लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोग विषयः यश्चापि प्रयोग विषयः स क्लृपिस्थस्यैव।

(महाभाष्य १।१।२।२।)

२. ननु चैङः सस्थानतरावर्द्ध एकारोऽर्द्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते। सुजाते ए अश्वसूनृते। अध्वर्यो ओ अद्रिभिः सुतम्। शुक्रं ते ए अन्यत्। यजतं ते ए अन्यत्। इति

(म [illegible] ओच्, एऔच्)

इसके अतिरिक्त हिन्दीकी उपभाषाओंमें ह्रस्व 'ऐ औ ए ओ' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे कवितावली में—अवलोकिहौं सोच विमोचनको, 'नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू' बरु मारिए मोंहि बिना पग धोए'। आधुनिक नागरीमें भी वे ह्रस्व ध्वनियाँ 'लोहार' 'सोनार' 'एक्का' आदि शब्दों में उपलब्ध हैं। प्राकृतके व्याकरणमें यद्यपि इसका उल्लेख नहीं मिलता पर गाथाओंमें ह्रस्व 'ए ओ' मिलते हैं। लौकिक संस्कृतमें यद्यपि ह्रस्व 'ए ओ' उपलब्ध नहीं है किन्तु वेद की 'सत्यमुग्रिराणायनीय' शाखामें ह्रस्व ए ओ का उच्चारण होता था जिसका ज्ञान आज हमें महाभाष्यसे प्राप्त है एवं आज भी दक्षिणके सात्यमुग्रिराणायनी ए ओ का ह्रस्व ही उच्चारण करते हैं पर इनके लिये हमारी नागरीमें नये संकेतोंकी आवश्यकता नहीं है। हम लोग अवधी आदिके कवित-सवैयोंमें आनेवाले एवं 'एक्का' 'लोहार' 'सोनार' के ह्रस्व ए ओ का उच्चारण ठीक रीतिसे ही कर लेते हैं।

'ङ' का प्रयोग नागरीमें केवल तत्सम शब्दोंमें होता है, जैसे 'गङ्गा', 'विहङ्गम', 'अङ्ग' आदिमें। किन्तु इनका काम अनुस्वारके द्वारा भी चला लिया जाता है।

'ञ' का प्रयोग तो कहना चाहिए कि नागरीमें रह ही नहीं गया है। अञ्चल, चञ्चल आदि भी वस्तुतः अन्चल, चन्चल पढ़े जाते हैं। केवल अनुकरणात्मक 'साञ् साञ्' आदिमें ही ञ का उच्चारण होता है। इसी प्रकार सयुक्ताक्षरमें आनेवाला 'ण' भी 'कुण्ठित' 'दण्ड' में 'न' के रूपमें ही उच्चरित होता है। पर पञ्चम वर्ण-संयुक्त वर्णोंकी उपयुक्त स्थितिका एक कारण भी है। महाभाष्यकार पतञ्जलिने कहा है कि अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म के पश्चात् यदि क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ, श, ष, स, ह आवें तो अनुस्वार और ङ, ञ, ण, न, म को नकारोत्पन्न ही समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें आधुनिक नागरीके अनुस्वार और कुछ वर्गोंके पंचम वर्णोंका 'न' जैसा उच्चारण अकारण नहीं है। यद्यपि नागरीमें ङ और ञ का पृथक् प्रयोग नहीं होता किन्तु जब यह भारतकी राजभाषा बन रही है तब ङ और ञ को रखना ही पड़ेगा, क्योंकि सिन्धी भाषामें अनेक ऐसे शब्द हैं जिनमें ङ और ञ स्वतन्त्र रूपसे भी प्रयुक्त होते हैं।

नागरी वर्णमालामें कुछ ध्वनियाँ ऐसी भी हैं जिनका प्रयोग या तो उठ चुका है या जिनका उच्चारण इस समय अनिश्चित है। इनमें ङ, ञ और ऌ का प्रयोग प्रायः लुप्त हो चुका है। शेष ऋ ष क्ष और ज्ञ का उच्चारण भ्रमात्मक और अनिश्चित हो रहा है। लोग प्रायः ऋ का उच्चारण ह्रस्व 'रि' की तरह किया करते हैं। वे यह भूल करते हैं। 'रि' और ऋ के समान उच्चारणका भ्रम शायद दोनोंके मूर्धन्य वर्ण होनेका परिणाम है। वास्तवमें रि तो र पर ह्रस्व इकारकी मात्रा लगाकर बनती है परन्तु ऋ का उच्चारण हल्का एकार लगाकर होता है जैसा कह चुके हैं। कृपण, कृषि, सरीसृप आदिमें इसी ऋ का रूप है। इनको हम इस प्रकार लिख सकते हैं—क्ऍपण, क्ऍषि तथा सरीस्ऍप।

ष की स्थिति भी ऋ से मिलती जुलती है। नागरी वर्णमालामें यद्यपि दन्त्य स, तालव्य श और मूर्धन्य ष अलग-अलग स्पष्ट निश्चित किए गए हैं फिर भी लोग तालव्य श और मूर्धन्य ष में भेद नहीं करते। मूर्धन्य ष को या तो लोग तालव्य श पढ़ते हैं या सीदे ख पढ़ते हैं। उसका कारण सम्भवतः यही है कि वैदिक प्रातिशाख्योंमें 'ष' का उच्चारण 'ख' भी माना गया है किन्तु 'ष' मूर्धन्य वर्ण है और 'ख' कण्ठ्य वर्ण है, अतः 'ख' उच्चारण प्रातिशाख्योंमें मान्य होते हुए भी नागरीमें अमान्य है, यद्यपि अवधीमें 'लषन' लिखकर लोग 'लखन' पढ़ते हैं।

यद्यपि ऊपरकी विवेचनासे यह स्पष्ट है कि आजकल हमारे यहाँ 'श' और 'ष' के उच्चारणमें भेद नहीं रह गया है तथापि यह परम्परा आजकी नहीं है। हमें यह परम्परा हमारी पूर्ववर्तिनी भाषाओंसे मिली है। 'श', 'स' और 'ष' के उच्चारणका विभेद संस्कृत तक तो उपलब्ध है पर पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदिमें यह भेद नहीं दिखाई पड़ता। पालीमें 'श', 'ष' और 'स' के लिये केवल दन्त्य 'स' का प्रयोग होता था। इसी प्रकार शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतमें भी तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल 'स' का ही प्रयोग होता था। मागधी

प्राकृतमें तीनों ध्वनियोंके स्थानपर केवल तालव्य 'श' का ही प्रयोग होता था। यही परम्परा हमें भी प्राप्त हुई। पर हमारी आजकी प्रवृत्ति तत्सम शब्दोंके शुद्ध रूपमें उच्चारण करनेकी ओर है। अतः हमने प्रयोग तो तीनों ध्वनियोंका कर दिया परन्तु उच्चारण अबतक केवल दन्त्य स' और तालव्य श' इन दोका ही करते हैं। यदि वैज्ञानिक दृष्टिसे देखा जाय तो वस्तुतः दन्त्य 'स' का ही कुछ विशेष परिस्थितियोंमें मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। यह नागरीके उच्चारणका अपना ध्वनि-नियम है। जैसे प्रायः इ ऊ ऋ ए ओ ऐ और ह य र ल व क ख ग घ ट ठ ड ढ ण और ष के पश्चात् दन्त्य 'स' के स्थानमें ही मूर्धन्य 'ष' संस्कृतमें हो जाता है। जैसे—विष, ऋषि आदि। किन्तु तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' की गड़बड़ी उच्चारणकी अनभिज्ञताका ही फल है।

ऐसा ही भ्रम 'क्ष' के उच्चारणमें दिखाई पड़ता है। विभिन्न स्थानोंमें लोग 'क्ष' का उच्चारण 'ख्य' 'क्श' या 'क्स' के समान करते हैं। परन्तु नागरीका 'क्ष' वास्तवमें 'क्' और मूर्धन्य 'ष'के योगसे बनता है। प्रमाणके लिये ब्राह्मी शिलालेखोंमें आए हुए 'क्ष' को देखना चाहिए। उसमें क्' और 'ष'के संयोगसे बना हुआ 'क्ष' का ही रूप देखनेमें आता है।

क
ष = क्ष

इसके अतिरिक्त संस्कृत व्याकरण पढ़नेवाला एक साधारण विद्यार्थी भी यह जानता है कि क्' 'ष' संयोगे 'क्ष' होता है। इसी प्रकार 'धुक्षु' मोक्ष आदिमें 'क्ष'की रचना भी क्+ष से ही होती है।

सबसे अधिक गड़बड़ी 'ज्ञ' के उच्चारणमें पाई जाती है। पंजाबवाले इसे शुद्ध 'ग्य' बोलते हैं। संयुक्तप्रान्त और मध्यप्रान्तमें 'ग्यँ' या ग्नका प्रचार है। यही महाराष्ट्र में 'द्न्य' और गुजरातमें 'ग्न' उच्चरित होता है और वेदपाठी-मंडल इसका उच्चारण ज्ञ करता है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम हमें एक सूत्र मिलता है 'ज्ञोर्ज्ञः' जो यह प्रमाणित करता है कि 'ज्ञ' न तो 'ग्'+'ञ' से बना है और न तो 'द् न्' और 'य' से वरन् यह अक्षर 'ज्' और 'ञ' के संयोगसे बना है। दूसरी ओर ईसासे सौ वर्ष पूर्ववाले पभोसाके ब्राह्मी शिलालेखसे भी यही बात प्रमाणित होती है, जिसमें ब्राह्मी 'ज्' और 'ञ'के योग से बना हुआ ही ज्ञ लिखा मिलता है—

❀ सानुनासिका हि नागरी प्रकृतिः ॥

[अनुनासिक है प्रकृति नागरी ।]

नागरी भाषाके अध्ययनसे यह सिद्ध होगा कि संस्कृतकी ध्वनियोंके अतिरिक्त नागरी भाषामें प्राकृतसे अनुनासिकका प्रयोग अधिक आ गया। अँधेरा, आँख पाँच, कुँआ, ईंट, इँडुआ, उँगली ऊँट, एँड़ी, ऐंठ, ओंठ, औंधा, कँपकँपी, खाँड़, गोंद, घुँघरू, चाँदनी, छींक, जाँघ, भाँभ, ताँत, थूँथड़ा, दाँत, धौंकनी, दोनों, पोंगा, फूँक, बाँध, भाँति, माँ, में, मैं, टायँटायँ, रँगाई, लँगड़ा, गावँ, चाँटा, गाँजा, साँड़, हँडिया, हँसना, हैं आदि शब्दों, भाइयों, लेखों, पुस्तकों आदि बहुवचनों और होना आदि क्रियाओंके हों, हैं, होंगे आदि रूपोंमें अनुनासिक ध्वनिका ही प्रयोग होता है। यह कालिदासके अभिज्ञानशाकुन्तलके एक प्राकृत पदमें भी मिलता है—

ईसीसि चुम्बिआइँ भमरेहिँ सुउमार कोमलसिराहिँ ।
अवतंसअन्ति दअमाना पमदाओ सिरीसकुसुमाहिँ ॥

और अपभ्रंशमें भी—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त नागरीकी मूल प्रकृति तद्भवात्मिका है जो अब तत्समात्मिका होती चली जा रही है। यदि हमें प्रातःकालका वर्णन ठेठ मूल नागरी भाषामें करना हो तो हम कहेंगे—

तड़का हो गया था, पौ फट चली थी, पूरबमें लाली छा गई थी, पंछी चहकने लगे थे तारे छिप गए थे, तालोंमें कमल खिलने लगे थे भौंरे गूँजने लगे थे, सारी धरती जाग उठी थी और चारों ओर चहल-पहल मच गई थी।

इसीको आजका लेखक यों लिखेगा—

प्रातःकाल हो गया था, उषा उदित हो गई थी, पूर्वके आकाशमें लालिमा व्याप्त हो गई थी, पक्षी कलरव करने लगे थे तारे अस्त हो गए थे, सरोवरमें कमल हँसने लगे थे, भ्रमर गुन्जन करने लगे थे, सम्पूर्ण धरित्री उद्बुद्ध हो उठी थी और चारों ओर सक्रियताका साम्राज्य फैल गया था।

यद्यपि यह प्रवृत्ति नागरीकी मूल तद्भवात्मिका प्रकृतिसे अत्यन्त भिन्न है किन्तु भारतके अन्य भाषा-भाषियोंके लिये यह अधिक निकट और सरल है, इसलिये राज-व्यवहार और पारस्परिक लेखव्यवहारमें तो संस्कृतनिष्ठ नागरीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु साधारण जन-समाजके लिये तद्भवात्मिका नागरीका ही प्रयोग अभीष्ट है।

ॐ क़ ख़ ग़ ज़ ड़ ढ़ फ़ ळ म्ह न्ह ल्ह न्येतरा: ॥
[क़ ख़ ग़ ज़ ड़ ढ़ फ़-ळ म्ह न्ह ल्ह न्य इतर ध्वनियाँ।]

नागरी भाषाका गठन देखनेसे यह भी ज्ञात होगा कि विदेशी जातियोंके सम्पर्क और संसर्गसे इसमें संस्कृतके अतिरिक्त कुछ ऐसी ध्वनियाँ भी आगई हैं जो संस्कृतके वर्णसमाम्नायमें नहीं हैं। जैसे हम सुनते हैं—

क़ाग़ज़के बड़े बड़े टुकड़े लेकर उन्होंने गढ़ोंमें भर दिए और फिर साफ़ पानी डालकर तुम्हारे दरवाज़ेपर कोल्हूके पास आकर व्रज भाषामें चिल्लाने लगे - जन्यो (जरयो रे तो उसने खयाल किया कि मेरा बैल कोई खोले ले जा रहा है। एक पछाहीं जाट वहाँ सो रहा था। वह भी चिल्लाया— मेरा बळद (बैल) कौण (कौन) ले जाहूरा (ले जा रहा है ।

कुछ लोगोंका कहना है क़ ख़ ग़ ज़ फ़ जो अरबी फ़ारसीके क़ाफ़, ख़े, ग़ैन, ज़े, ज़ोय, ज़्वाद, फ़े से आए हैं उन्हें क ख ग ज फ ही पढ़ा लिखा जाय। यह बात नागरीकी प्रकृतिके अनुकूल भी है किन्तु फ़ारसी और अरबीका प्रभाव नागरीपर इतना पड़ा है कि बहुतसे शब्दों को कभी-कभी तत्सम रूपमें प्रयोग करना ही पड़ जाता है। हमारे बहुतसे नाटककारोंने मुसलमान पात्रोंके मुखसे फ़ारसी-निष्ठ नागरी कहलाई है वह उसी प्रकार जबतक उच्चरित न होगी तबतक उसका ठीक रूप नहीं बैठ सकता। अतः व्यवहारतः नागरी भाषामें जो फ़ारसी या अरबीके शब्द क़ ख़ ग़ ज़ फ़ से युक्त आवें उनमें प्रयुक्त होनेवाली ये ध्वनियाँ क ख ग ज फ ही उच्चरित की जायँ। यदि किसी पात्रसे तत्सम रूपमें इन ध्वनियोंका प्रयोग कराना हो तो मूल रूपमें कराया जाय।

ड़ और ढ़ का प्रयोग बड़ा, सड़ा, कड़ा, पड़ा, जोड़, तोड़, बढ़ाई बूढ़ा, पढ़ना, गढ़ा, कढ़ी, मढ़ी, गाढ़ा आदि शब्दोंमें होता है। ये ध्वनियाँ शुद्ध मूर्धन्य न होकर विसर्प मूर्धन्य हैं अर्थात् जीभको मूर्धासे लगाकर उच्चरित करनेके बदले जीभको मूर्धासे रगड़कर इनका उच्चारण किया जाता है। इन दो ध्वनियोंका प्रभाव इतना पड़ा है कि संस्कृत-वाले भी गरुडको गरुड़ और गूढको गूढ़ पढ़ते-बोलते हैं।

ळ का उच्चारण वेदोंमें हुआ है। नागरीमें इसका प्रयोग नहीं होता किन्तु पश्चिमी युक्तप्रान्तमें हल्दी, बैल आदि कुछ शब्दोंके हळदी, बळद आदि पर्यायोंमें इसका प्रयोग होता है। कुछ लोगोंने ड़ को ही ळ समझनेकी भूल की है और वे खिचड़ीको खिचळी लिखते हैं किन्तु ड़ और ळ में अन्तर यह है कि डको मूर्धापर जीभ रगड़कर बोलनेसे ड़ होता है और तालुपर लके साथ जीभ रगड़कर बोलनेसे ल् या ळ होता है।

नागरीकी कुछ ध्वनियाँ विचित्र हैं। ये हैं तो मिश्र ध्वनियाँ किन्तु सन्ध्यक्षरके समान लिखे जानेपर उनका उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है, पूर्णाघातसे नहीं। ये ध्वनियाँ हैं म्ह, न्ह, और ल्ह। पाली और प्राकृतों के अम्हाकं, पन्ह और कल्हार में म्ह, न्ह और ल्ह आए हैं। उनके म्, न् और ल् पूर्ण स्वराघातके साथ अम्हाकं, पन्ह और कल्हारमें उच्चरित होते हैं किन्तु नागरीके 'तुम्हारा' 'पिन्हाना' 'कोल्हू' में प्रयुक्त होनेवाले म् न् और ल् अत्यन्त अल्प स्पर्शके साथ बोले जाते हैं और कभी कभी इस म्ह और न्ह में प्रयुक्त म् और न् के अल्प स्पर्शका यह परिणाम हुआ है कि कुम्हार और जम्हाईको लोग कुँभार और जँभाई कहने लगे और कान्हाको काँधा अर्थात् म्ह और न्ह को लोग भँ, धँ पढ़ने-बोलने लगे।

न्यका प्रयोग व्रजमें तथा अवधीमें पन्यौ, जन्यौ, भन्यौ आदिमें होता है और मराठीमें दुसऱ्या, तिसऱ्याके रूपमें होता है। इसमें भी र् का उच्चारण स्पर्शाघातसे किया जाता है पूर्णाघातसे नहीं।

ॐ प्रदेशभेदाद्विकृतिः ॥
[उच्चारणमें देशभेदसे कुछ विकार आए हैं।]

नागरीमें उच्चारणकी इतनी व्यवस्था होनेपर भी देश-भेदसे कुछ विकार आ गए हैं। जैसे अ या अकारयुक्त सभी व्यजनोंको पंजाबमें आ या का खा गा घा पढ़ते हैं, पश्चिमी युक्तप्रान्तवाले कै खै गै घै कहते हैं और वे 'रहना' को 'रैहना', 'कहना'को 'कैहना', 'पहले'को 'पैहूले' पढ़ते-बोलते

हैं किन्तु कलमको ठीक पढ़ते हैं। अर्थात् ह के पूर्वके व्यंजन को ऐ कर देते हैं। अक्षरको अलग-अलग का, खा, गा, घा उच्चारण करनेवाले पंजाबी भी शब्दोच्चारणमें 'कहना' को 'कैणा' बोलेंगे और पढ़ते समय यदि उन्होंने बड़ी कृपा की तो 'कैना' पढ़ेंगे। अलग से यही अकारकी ध्वनि पूर्वमें जाकर कुछ ओकारकी ओर प्रवृत्त होती है और बंगालमें जाकर क ख ग घ शुद्ध को खो गो घो हो जाते हैं और विलक्षण बात यह है कि कभी-कभी एक शब्दमें एक दो अक्षरको गोल ओकारके साथ बोलते हैं और एक आधको शुद्ध, जैसे कमल शब्दको वे कोमोल कहेंगे।

ह्रस्व इ और ह्रस्व उ को दीर्घ पढ़ना और बोलना नागरीवालोंकी साधारण प्रकृति है। वे कविको कवी, भानु को भानू, वायुको बायू पढ़ते-बोलते हैं।

ऐ और औ के संबंधमें हम ऊपर विस्तारसे कह आए हैं। ऐसा को एसा, मैं को में कहनेकी प्रकृति मारवाड़ और गुजरातमें बहुत है। मारवाड़में और को ओर, कौन को कोन पढ़ा-बोला जाता है। इसके ठीक विपरीत ब्रजमें ए को ऐ और ओ को औ पढ़ने-बोलनेका अभ्यास है। वे जिसने को जिसनै, प्रेम को प्रैम, उसको को उसकौ, उसकौं, दोनों को दोनौं पढ़ते-बोलते हैं।

यद्यपि ङ का उच्चारण जीभको घंटीसे आगे लगाकर नाकसे किया जाता है और इसका प्रयोग भी अलग नागरीमें नहीं होता किन्तु वर्णमालामें पढ़ते हुए इसे पंजाबवाले अंगऽ और ङै कहते हैं।

च छ ज झ हैं तो तालव्य किन्तु महाराष्ट्रवाले इन्हें वर्त्स्य और दंत्य बनाकर च़ छ़ ज़ झ़ बोलते हैं।

ड और ढ को प्रायः लोग ड़ और ढ़ पढ़ते और बोलते हैं जैसे गुडाकेशको गुड़ाकेश, गूढ़को गूड़, मूढ को मूड़, जड को जड़, प्रौढ को प्रौढ़। हाँ, यदि ड और ढ शब्दके प्रारम्भमें आवे तब वे मूल रूपमें ही बोले जाते हैं जैसे डंकार, डलिया, ढकना, ढोल, ढमाढम। बिहारमें और सिंधमें ड़ का र हो जाता है, सड़क भी सरक बन जाती है। हमारे कवि लोग भी पतझड़ को पतझर लिखने लगे हैं।

ण को प्रायः लोग ड़ से मिला देते हैं। ऐसे लोग गणकको गड़क और गणेशको गड़ेश लिखते-बोलते हैं।

थ को पंजाबमें त ही पढ़ते-बोलते हैं और थेनु वहाँ तेनू हो जाती है। ब और व का भी ऐसे ही घपला होता है। उत्तर भारतमें ब का अधिक प्रयोग होता है। यहाँ वन, वृक्ष, वानर, विमान भी बन, बृच्छ, बानर और बिमान हो जाते हैं किन्तु दक्षिणवाले व का शुद्ध उच्चारण करते हैं, वहाँ व्हिणी (बहन), वाँदरा (बानर) में व का ही प्रयोग होता है। इसी प्रकार पंजाबमें भ को प बोलते हैं जिससे भानु भी पानु हो जाता है।

य को ज पढ़ने-बोलनेकी प्रवृत्ति भी उत्तर भारतके पूर्वी भागमें है। वहाँ यज्ञको जग्य, यजमानको जजमान, यदा-कदाको जदाकदा कहते हैं किन्तु यहाँ, यार, ये, यहूदी आदिको जहाँ, जार, जे, जहूदी नहीं कहते अर्थात् तत्सम शब्दोंके प्रारम्भमें आनेवाले य को ही ज बोलते हैं। नियन्ताको निजन्ता नहीं कहेंगे।

श ष स में से कहीं श का स, कहीं स का श और मेवाड़में तो स का ह हो जाता है और वहाँ साढ़े सात भी 'हाढ़े हात' बन जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि उत्तर भारतमें व को ब कहनेका प्रचलन है किन्तु मध्यभारतमें भी वह को 'बो' कहनेका अभ्यास है। ल का र तो 'रलयोरभेदः'से बहुधा हो जाता है, गाली भी गारी हो जाती है।

सन्ध्यक्षरोंको तोड़कर कहनेकी वास्तविक प्रकृति नागरीकी है। दरपन, करम, धरम, परगट, गुपुत, सरग आदि सच्चे ठेठ नागरी शब्द हैं जिनका प्रयोग कवियोंने खुलकर किया है, किन्तु अब प्रवृत्ति है दर्पण, कर्म, धर्म, प्रकट, गुप्त, स्वर्ग आदि तत्सम रूपमें लिखनेकी। अतः लिखते तो लोग तत्सम रूपमें हैं किन्तु प्रायः पंजाबी लोग दरपण, करम, धरम ही बोलते हैं।

प्रायः स के साथ बने हुए सन्ध्यक्षरोंसे प्रारम्भ होनेवाले शब्दोंसे पहले अ या इ जोड़कर उनका उच्चारण किया जाता है जैसे स्नानको अस्नान, स्कूलको इस्कूल, स्तोत्रको अस्तोत्र आदि। अवधके रहनेवालोंकी कुछ अपनी विशेषता है। वे ए को या और आ को वा कर देते हैं। उनका लोटा, ल्वाटा हो जाता है और देखो, द्याखौ हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेशमें एक वाक्य-ध्वनि होती है अर्थात् एक विशेष स्वरारोहावरोहके साथ वाक्य कहना। यह ध्वनि लिखकर नहीं बताई जा सकती। इसके लिये

नाट्य-प्रयोक्ताको उन-उन प्रदेश-वासियोंके सम्पर्कमें जाकर ध्वनि-ज्ञान करना चाहिए जिनके प्रयोग करनेका निर्देश नाटककारने अपने नाटकमें किया हो।

नाटककारका यह कर्त्तव्य है कि यदि वह अपने नाटकमें विभिन्न प्रदेशके व्यक्तियोंका समावेश करता हैं तो नाटंककारको अपना वाक्य-विन्यास उस प्रदेशवासीकी नागरी वाक्य-शैलीके अनुसार करना चाहिए। एक नागरीका वाक्य लीजिए—

मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता।
इसे विभिन्न प्रदेशवाले इस प्रकार बोलते हैं—
सिन्धी—हम तुमसे बात नहीं करेंगा।
पंजाबी—मैंने तुजसे बात नी करणी।
राजपूतानी—मुजै तेरेसै बात नी करणी।
बंगाली—हाम तूमशे बात नाहीं कारना माँगता।
बंबइया—हमकू तुम लोकोंसे बात करनेका नहीं है।
अँगरेज़—हाम टुमसे बाट नाइँ करने माँगटा।

अतः नागरीमें नाटक रचना करते समय नाटककारको विभिन्न प्रदेश-वासियोंके नागरी-वाक्य-विन्यास और उचारण-ध्वनिका पूरा ध्यान रखकर उनके लिये संवाद-रचना करनी चाहिए और यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उन प्रदेश-वासियोंके अनुकूल वाक्य-विन्यास करते समय ऐसे विदेशी या एकदेशीय शब्द न आ जायँ जो सर्वबोध न हों, भले ही किसी विशिष्ट प्रदेशके लोग उसका प्रयोग विशेष रूपसे करते ही हों जैसे महाराष्ट्र, गुजरात तथा बम्बईमें सभी कोठरीको खोली कहते हैं, वेतनको पगार कहते हैं किन्तु नागरी प्रदेशोंमें इन शब्दोंका प्रचार नहीं है। अतः इनका प्रयोग या तो नहीं करना चाहिए या प्रयोग करके वहीं इस प्रकार स्पष्टीकरण कर देना चाहिए—

एक—हमने अपनी सब पगार खोलीके भाड़ेमें दे दिया।
दूसरा—क्यों भाई यह पगार और खोली क्या है?
एक—पगार कहते हैं जो महीनेमें काम करनेका पैसा मिलता है।
दूसरा—अच्छा वेतन, माहवारी!
एक—हाँ, हाँ वही।
दूसरा—और खोली क्या है?
एक—खोली है वही जिसमें रहते हैं।
दूसरा—अच्छा कोठरी, ठीक है।

जबतक इस प्रकारसे स्पष्टीकरण नहीं होगा तबतक विभिन्न प्रदेशके भाषा-भाषियोंके विचित्र वाक्य-विन्यासका रस दर्शकोंको नहीं मिल सकता और यदि रस न मिला तो वह संवाद ही व्यर्थ और नीरस है। प्रादेशिक उच्चारण और वाक्य-विन्यासके संबंधमें इतना पर्याप्त होगा।

❀ राष्ट्रभाषामहत्त्वान्नागरीनिरूपणम्।
[बनी नागरी राष्ट्रभाषा हमारी।
इसीसे निरूपण किया अर्थकारी॥]

वास्तवमें नाट्यशास्त्रमें नागरीकी प्रकृतिके संबंधमें इतना लिखना आवश्यक नहीं था किन्तु यह नाट्यशास्त्र विशेष रूपसे भारतके लिये और व्यापक-रूपसे विश्व भरके लिये लिखा जा रहा है अतः भारतकी राष्ट्रभाषा हिन्दी या नागरीकी प्रकृतिसे सबका परिचय होना आवश्यक है क्योंकि वह विश्वके स्वतंत्र राष्ट्रकी वाणी है और शीघ्र ही विश्व भरके लोग इस भाषाकी ओर आकृष्ट होकर इसका अध्ययन करेंगे और प्रचार करेंगे और संभव है कि कोई ऐसा भी युग आ जाय कि अपनी ध्वनि-सरलता और भाषा-सरलताके कारण यह विश्व भरकी लोकप्रिय भाषा बन जाय।

नाटककी भाषा

❀ नाट्ये सर्वध्वनिप्रयोगं ग्राह्यम्॥
[नाटकमें सब ध्वनियाँ ग्राह्य।]

वैदिक साहित्यमें तीन प्रकारकी वाक् बताई गई है—दैवी, भौतिक और पार्थिव। दैवी वाक् वह है जो योगियोंको समाधि अवस्थामें सुनाई पड़ती है और जिसे अनाहत नाद कहते हैं। परा, पश्यंती और मध्यमा वाणी भी इसी श्रेणीमें है। भौतिकके अन्तर्गत वे सभी ध्वनियाँ हैं जो पंच महाभूतोंमें व्यक्त होती है जैसे बादलोंका गर्जन, बिजलीकी तड़प, वायुकी मर्मराहट, हराहराहट, जलकी छलछलाहट या गरगराहट, आगकी सरसराहट, भूकंप या ज्वालामुखीकी गड़गड़ाहट आदि। पार्थिव वाक् दो प्रकारकी बताई गई है—निरुक्ता और अनिरुक्ता वाक्। जिन ध्वनियोंका निर्वचन किया जा सके, व्युत्पत्ति की जा सके, अर्थ निकाला जा सके, उन सभी मानुषी ध्वनियोंको निरुक्ता कहा गया है और पशु-पक्षियोंकी बोली तथा बैल-गाय हाँकते समयकी क्लै-क्लै या हुर्र-हुर्र आदि सभी ऐसी ध्वनियाँ अनिरुक्ता हैं जिनका

निर्वचन न किया जा सके।

काव्य-शास्त्रियोंने केवल निरुक्त वाक्को ही ग्रहण किया है। उसीको नियमित, संयत, शक्तिशाली, शिष्ट और संस्कृत करनेके लिये उन्होंने व्याकरण, छन्द, अलंकार, ध्वनि, रस आदिका विधान करके उसे सुन्दर, ललित, प्रभावशाली, सशक्त और बहुमुख बनानेका प्रयत्न किया और उसके लिये गुण-दोषके बन्धन बाँधकर उन्होंने उसे प्रेय और श्रेय बनानेका भी प्रबन्ध किया। नाटकीय संवादोंके लिये भी यद्यपि इसी शिष्ट निरुक्त भाषाका ही विधान किया गया है किन्तु अभिनवभरत इससे सहमत नहीं है। उसका कारण यह है कि निरुक्त वाणी व्याकृत होती है। वह एक विशेष नियमके अनुसार चलती है किन्तु नाटककी भाषा पात्रोंके देश, प्रकृति और संस्कारके अनुसार अनेक प्रकारकी हो सकती है। स्वयं भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें संस्कृत पाठ्यकी व्याख्या कर चुकनेपर अष्टादश अध्यायमें भाषाविधानके प्रसंगमें कहा है—

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम्।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥

[यही (संस्कृत ही) उलट-पलटकर उच्चारण बिगाड़कर और संस्कृत बोलनेके गुणोंको छोड़कर अनेक अनेक अवस्थाओंमें अनेक प्रकारसे बोला जाय तो वह प्राकृत पाठ्य हो जाता है।]

पाठकके गुणोंका वर्णन करते हुए पाणिनीय शिक्षामें लिखा है—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

[मधुरता, अक्षर स्पष्ट बोलना, शब्द स्पष्ट और अलग बोलना, स्वरोंके उचित उतार-चढ़ावके साथ बोलना, धैर्यके साथ तथा उचित लयके साथ बोलना ये छः पाठकके गुण हैं।]

इन्हींको बिगाड़कर उलट-पलटकर बोलना ही प्राकृत पाठ कहलाता है। इसके पश्चात् भरतने इस प्राकृत पाठ्यको तीन प्रकारका बतलाया है—

त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च॥

[नाट्यके लिये इस (प्राकृत पाठ्य) को तीन प्रकारका समझना चाहिए—समान शब्द, विभ्रष्ट और देशी।]

भरतने उन 'कमला, अमल, रेणु, तुरंग, लोल, सलिल' आदि शब्दोंको समान शब्द कहा है जो प्राकृतमें पहुँचकर भी अपना संस्कृत रूप बनाए रहते हैं। इन्हें तत्सम भी कहते हैं। विभ्रष्ट उन शब्दोंको बताया है जो उच्चारण-दोषसे बिगड़कर विरूप हो गए हैं जैसे—गिम्हो (ग्रीष्म), कण्हो (कृष्ण), पल्लंक (पर्यङ्क) आदि।

देशी भाषाके विषयमें भरत कहते हैं—

भाषा चतुर्विधा ज्ञेया देशरूप प्रयोगतः॥ २३॥
संस्कृतं प्राकृतं चैव यत्र पाठ्यं प्रयुज्यते।
अतिभाषार्यभाषा च जातिभाषा तथैव च॥ २४॥
तथा जात्यन्तरी चैव भाषा नाट्ये प्रकीर्तिता।
अतिभाषा तु देवानामार्यभाषा तु भूभुजाम्॥ २५॥
संस्कार पाठ्यसंयुक्ता सम्यङ्न्यायप्रतिष्ठिता।
द्विविधा जातिभाषा च प्रयोगे समुदाहृता॥ २६॥
म्लेच्छशब्दोपचारा च भारतं वर्षमाश्रिता।
अथ या जात्यन्तरी भाषा ग्राम्यारण्यपशूद्भवा॥ २७॥
नानाविहगजा चैव नाट्यधर्मीप्रयोगतः।
जातिभाषाश्रयं पाठ्यं द्विविधं समुदाहृतम्॥ २८॥
प्राकृतं संस्कृतं चैव चातुर्वर्ण्यसमाश्रयम्।
धीरोद्धते धीरललिते धीरोदात्ते तथैव च॥ २९॥
धीर प्रशान्ते च तथा पाठ्य-योज्यं तु संस्कृतम्।
एषामेव तु सर्वेषां नायकानां प्रयोगतः॥ ३०॥
कारणव्यपदेशेन प्राकृतं सम्प्रयोजयेत्।
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्येण प्लुतस्य च॥ ३१॥
उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत्।
व्याजलिङ्गं प्रतिष्ठानां श्रमणानां तपस्विनाम्॥ ३२॥
भिक्षु चाट चराणां च प्राकृतं सम्प्रयोजयेत्।
बाले ग्रहोपसृष्टे स्त्रीणां स्त्रीप्रकृतौ तथा॥ ३३॥
नीचे मत्ते सलिङ्गे च प्राकृतं पाठ्यमिष्यते।
परिव्राण्मुनिशाक्येषु चैक्षपु श्रोत्रियेषु च॥ ३४॥
द्विजा ये चैव लिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत्।
राज्ञ्यश्च गणिकायाश्च शिल्पकार्यास्तथैव च॥ ३५॥

कायविस्थान्तरकृतं योज्यं पाठ्यन्तु संस्कृतम् ।
सन्धिविग्रहसम्पन्नं तथा चाप्यशुभाशुभम् ॥ ३६ ॥
ग्रहनक्षत्रचरितं खगानां रुतमेव च ।
सर्वमेतद्धि विज्ञेयं कार्यबन्धे शुभाशुभम् ॥ ३७ ॥
नृपपत्न्या भवेत् पाठ्यं संस्कृतं द्विजसत्तमाः ।
क्रीडार्थं सर्वलोकस्य प्रयोगस्य सुखाश्रयम् ॥ ३८ ॥
क्रीडालीलार्थकं चैव पाठ्यं वेश्यासु संस्कृतम् ।
लोकोपचारज्ञानार्थं क्रीडार्थं पार्थिवस्य तु ॥ ३९ ॥
निर्दिष्टं शिल्पकार्येषु नाटके संस्कृतं वचः ।
आम्नायसिद्धं सर्वासां शुभं चाप्सरसां वचः ॥ ४० ॥
संसर्गाद्देवतानां वै तद्धि लोकोऽनुवर्तते ।
छन्दतः प्राकृतं वाक्यं स्मृतमप्सरसां भुवि ॥ ४१ ॥
मानुषाणां च कर्तव्यं कारणार्थे व्यपेक्षया ।
न बर्बरकिरातान्ध्रद्रमिलाद्यासु जातिषु ॥ ४२ ॥
नाट्ययोगे तु कर्तव्यं काव्यं भाषासमाश्रयम् ।
जातिष्वेतासु सर्वासु शुद्धासु च द्विजोत्तमाः ॥ ४३ ॥
सौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके ।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा-प्रयोक्तृभिः ॥ ४४ ॥
नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ।
मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी ॥ ४५ ॥
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ।
शबराभीरचाण्डाल-सचर-द्रविडोद्रजाः ॥ ४६ ॥
हीनां वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ।
मागधी तु नराणाञ्चैवान्तःपुरनिवासिनाम् ॥ ४७ ॥
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठीनाञ्चार्धमागधी ।
प्राच्या विदूषकादीनां योज्या भाषा अवन्तिजा ॥ ४८ ॥
नायिकानां सखीनाञ्च सौरसेन्यविरोधिनी ।
यौधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या च दीव्यताम् ॥४९॥
बह्लीकभाषोदीच्यानां खसानाञ्च स्वदेशजा ।
शबराणां शकादीनां तत्स्वभावश्च यो गणः ॥ ५० ॥
शकारभाषा योक्तव्या पाञ्चाली पुल्कसादिषु ।
अङ्गारकारव्याधानां काष्ठपत्रोपजीविनाम् ॥ ५१ ॥
योज्या शबरभाषा तु किञ्चिद्वानौकसी तथा ।
गजाश्वाविलोष्ट्रादिघोष-स्याननिवासिनाम् ॥ ५२ ॥
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः श्रुतिमागताः ।
नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ॥ ५३ ॥
आभीरोक्तिः शबरीस्यात् द्राविडी द्रविडादिषु ।
सुरङ्गखनकादीनां औष्ट्रिकानां च रक्षताम् ॥ ५४ ॥
व्यसने नायिकादीनां आत्मरक्षासु मागधी ।
गङ्गासागरमध्ये तु ये देशाः सम्प्रकीर्तिताः ॥ ५५ ॥
एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्यन्तरेषु च ॥ ५६ ॥
ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ।
हिमवत्सिन्धुसौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ॥ ५७ ॥
उकारबहुलां तेषु नित्यं भाषां प्रयोजयेत् ।
एवं भाषाविधानन्तु कर्तव्यं नाटकाश्रयम् ॥ ५८ ॥
अथ नोक्तं मया यच्च लोकाद्ग्राह्यं बुधैस्तु तत् ॥ ५९ ॥

[दशरूपकके प्रयोगके अनुसार यहाँ भी चार प्रकारकी देशी भाषा जाननी चाहिए जहाँ संस्कृत और प्राकृतके पाठ्यका प्रयोग किया गया हो। नाट्यमें चार प्रकारकी देशी भाषाका प्रयोग होता है। अतिभाषा, आर्य्यभाषा, जातिभाषा तथा जात्यन्तरीभाषा। देवताओंकी भाषाको अतिभाषा कहते हैं। राजाओंकी भाषा आर्य्यभाषा कहलाती है जो भली प्रकार सुधरे हुए पाठ्यसे युक्त होती है और अत्यन्त उचित ढंगसे प्रयोग की जाती है। दो प्रकारकी जातिभाषा प्रयोगमें बताई गई है एक तो वह जिसमें म्लेच्छ शब्दोंका प्रयोग होता है और दूसरी वह जो भारतवर्षमें बोली जाती है। जात्यन्तरी भाषा वह है जो गाँव और जंगलके पशु बोलते हैं या जो पक्षी बोलते हैं और नाट्यके नियमानुसार जिनका प्रयोग होता है। जातिभाषाके पाठ जो दो प्रकारके होते हैं उनका वर्णन ऊपर हो ही चुका है। प्राकृत और संस्कृतका प्रयोग चारों वर्णोंके लोग कर सकते हैं।

धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीर प्रशान्त नायकोंसे संस्कृतमें पाठ्य कहलाना चाहिए। और सब नायकोंका भी संस्कृतमें ही पाठ्य रखना चाहिए। हाँ, यदि कोई कारण विशेष हो तो प्राकृतका प्रयोग हो सकता है। जो ऐश्वर्यमें मतवाला हो उस उत्तम नायकके पाठको भी प्राकृतमें रखना चाहिए। गुप्त रूपसे रहनेवाले लोगों, श्रमणों, भिक्षुओं आदिका पाठ्य प्राकृतमें ही होना चाहिए। बच्चों, भूत प्रेतकी बाधायुत स्त्रियों, साधारण स्त्रियों, नीचों, मतवालों

और धार्मिक विद्यार्थियों (जैन और बौद्ध) का भी प्राकृतमें ही पाठ्य रखना चाहिए। संन्यासी, मुनि, शान्त तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण और द्विज ब्राह्मणके लिये संस्कृतका प्रयोग करना चाहिए। राजाकी वेश्या तथा शिल्पकारिणी आदिका यदि किसी विशेष अवस्थामें प्रयोग किया गया हो तो उनसे संस्कृतमें पाठ्य कहलाया जा सकता है। ग्रह, नक्षत्र आदिका चरित्र, पक्षियोंका स्वर इन सबसे कार्यबन्धमें शुभ और अशुभ विचार कर लेना चाहिए। राजाकी पत्नीका पाठ्य सब लोगोंके मनोविनोदके लिये और नाट्य-प्रयोगके सुखाश्रयके लिये संस्कृतमें ही करना चाहिए। वेश्याओंका पाठ भी अधिक विनोदात्मक और कलात्मक बनानेके लिये संस्कृतमें ही होना चाहिए। लोकोपचार जाननेके लिये और राजाओंके विनोदके लिये नाटकोंमें शिल्पकार्य-सम्बन्धी सब बात संस्कृतमें ही होनी चाहिए। अप्सराओंकी वाणी वेदसिद्ध शुभ होती है क्योंकि उनका संसर्ग देवताओंसे होता है और लोग उसीका अनुकरण करते हैं। किन्तु पृथ्वीपर अप्सराओंकी वाणी कमसे कम छंदमें प्राकृत होनी चाहिए। मनुष्योंकी वाणी कारण और प्रयोजनके अनुसार यथायोग्य भाषामें करनी चाहिए। किन्तु बर्बर, किरात, आन्ध्र और द्रमिल (द्रविड) आदि जातियोंके लिये भाषा-समाश्रित काव्य नहीं बनाना चाहिए। इन सब जातियोंके लिये शौरसेनी भाषाका प्रयोग कराना चाहिए अथवा प्रयोगकर्त्ता लोग जैसी भाषाका प्रयोग करना चाहें वैसा करावें। क्योंकि नाटकमें अनेक देशोंसे सम्बद्ध भाषाओंका प्रयोग होता है। सात भाषाएँ बताई गई हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, सूरसेनी, अर्द्ध-मागधी, वाल्हीका और दाक्षिणात्या। शबर, आभीर, चांडाल, द्रविड, उद्रज तथा जंगलियोंकी विभाषा अर्थात् विकृत भाषाको नाटकमें हीन बताया गया है। मनुष्यों और रनिवासमें रहने वालोंकी भाषा मागधी, चेटों राजपुत्रों और श्रेष्ठियोंकी भाषा अर्द्धमागधी, विदूषक आदिकी भाषा प्राच्या या अवन्तिजा, नायिकाओं और सखियोंकी भाषा शौरसेनी, योद्धा नागरिकोंकी भाषा दाक्षिणात्या, उदीच्यियोंके लिये वाल्हीक, खसोंके लिये देशी, शबरों और शकोंके लिये उनके स्वभाव और समूहके अनुसार शकार भाषा, पुल्कस आदि के लिये पांचाली, कोयले बनानेवाले, व्याध, लकड़ी और पत्ता बेचनेवाले लोगोंके लिये शबर भाषाका प्रयोग करना चाहिए और हाथी, घोड़े, बकरी, ऊँट आदि का व्यापार करनेवाले लोगोंके लिये कुछ जंगली शबर भाषाका प्रयोग करना चाहिए। विन्ध्य और समुद्रके बीच जितने देश सुने जाते हैं वहाँके निवासियोंके लिये नकारसे भरी हुई भाषाका प्रयोग करना चाहिए। आभीरोंके लिये शबर भाषा तथा द्रविड़ोंके लिये द्राविड़ी उन सब लोगोंके लिये प्रयोग करनी चाहिए जो रंगका काम करते, लकड़ीके खिलौने बनाते या ऊँटोंके रेवड़ चलाते हैं। नायक आदि जब संकटमें पड़ गए हों तो उन्हें आत्मरक्षाके लिये मागधी का प्रयोग करना चाहिए। गंगा और समुद्रके बीच जितने देश हों उनमें एकारका अधिक प्रयोग करना चाहिए। सौराष्ट्र तथा अवन्ति देशोंमें तथा वेत्रवती (वेतवा) की घाटीमें जितने देश हों उनकी भाषामें चकारका अधिक प्रयोग हो। हिमालय, सिन्धु सौवीर तथा अन्य देशोंकी भाषामें लोगोंको उकारका अधिक प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार नाटकमें भाषाका विधान करना चाहिए। मैंने अधिक इसलिये नहीं कहा कि बुद्धिमान लोग लोक व्यवहारसे ही भाषाका विधान ग्रहण कर लेंगे।]

ॐ शिष्टभाषैव प्रयोज्या पात्रप्रकृत्यनुसारेण।

[पात्र प्रकृति अनुसार ही शिष्टजनोंका भाषायोग।]

अभिनवभरतका मत है कि जब नाट्यको लोकानुरंजक बनाना है तो यह विचार कर लेना चाहिए कि दर्शकोंमें जितने लोग होंगे वे देशभरकी या विश्वभरकी भाषाओंसे परिचित नहीं हो सकते। संस्कृतके जिन नाटककारोंने अपने नाटकोंमें अनेक प्राकृतोंका प्रयोग किया है उन्होंने विभिन्न देशोंमें व्यवहृत होनेवाली प्राकृतोंका विचार करके उनका प्रयोग नहीं किया है वरन् केवल इस क्रमसे संस्कृतके शब्दों और वाक्योंको प्राकृतोंमें ढाल दिया है जिसकी परिपाटी प्राकृत व्याकरणोंने स्थिर कर ली थी।

अतः दर्शकोंकी दृष्टिसे यह आवश्यक है कि नाटककी भाषा एक ही हो जो व्यापक रूपसे देशके सब भागोंमें समान रूपसे समझी जाती हो और विभिन्न प्रदेशोंके उच्चारण तथा वाक्योंके रूपोंके कारण विभिन्न प्रदेशोंके भाषा-भाषियोंके द्वारा कुछ परिवर्त्तनके साथ बोली जाती हो। यदि हम नाटकमें विभिन्न देशोंकी भाषा मिलानेकी व्यवस्था स्वीकार भी कर लें तो यह व्यवस्था नाटककारके लिये और नाटककी स्वभाविकताके लिये अत्यंत बाधक होगी। नाटकमें

प्रत्येक पात्र अपने पद, मर्यादा, ज्ञान, योग्यता, मानसिक या शारीरिक स्थिति तथा सम्बोध्य व्यक्तिकी योग्यता, अवस्था तथा पदके अनुकूल भाषाका व्यवहार करता है। इस व्यवहारमें यह सम्भव है कि कुछ शिष्ट तथा विद्वान् पात्र तो व्याकरण-सिद्ध भाषामें तथा पूर्ण वाक्योंमें बातचीत करें किन्तु अधिकांश ऐसे होंगे जो अशुद्ध, अप्रयुक्त, दुष्प्रयुक्त, कठिन, विरोधार्थी शब्दोंसे लदी, विभिन्न भाषाओंकी खिचड़ी बनी हुई, अपूर्ण, असंगत, अयुक्त, और असमय वाक्य कहें या कभी कभी भावावेशमें अधूरे और अस्पष्ट शब्दोंका प्रयोग करें और कभी कभी अपने चरित्रके अनुसार ऊटपटांग अनर्गल प्रलाप भी करें। अतः यह आवश्यक नहीं है कि नाटककी भाषापर किसी व्याकरणका शासन हो। हाँ, भाषाके रूपका निर्देश अवश्य हो सकता है। नाटककी भाषाका निर्णय पात्रोंकी योग्यता और परिस्थितिपर अवलम्बित है।

इसके अतिरिक्त नाटककी भाषामें अव्याकृता वाणीके प्रयोगका भी यथावसर निर्देश किया जा सकता है जैसे सिंहका गरजना, कोयलका कूकना आदि। यहीं तक नहीं, बिजलीकी कड़क, समुद्रका गर्जन, झंझाकी हरहराहटका भी निर्देश करके नाटकमें प्रयोग कराया जा सकता है। हाँ, एक दैवी वाक् या अनिरुक्ता वाणीका प्रयोग नाटककार नहीं कर सकता और उसका रूप व्यक्त न होनेसे यन्त्रके माध्यमसे भी उसे प्रकट करके दिखाना संभव नहीं है फिर भी यदि उससे नाटकीय व्यापारकी सिद्धि हो सके तो आकाशवाणीके समान उसका भी प्रयोग कराया जा सकता है।

किन्तु केवल शब्द-समूहसे ही भाषा नहीं बनती। भाषाके लिये अर्थात् किसी भी उद्दिष्ट भावको दूसरेके द्वारा ठीक समझे जानेके योग्य बनानेके लिये यह आवश्यक है कि शब्दोंको एक विशिष्ट क्रमसे रक्खा जाय। इस क्रमका विधान प्रत्येक भाषाका अलग-अलग होता है। प्रत्येक नाटककारको उस भाषाका वाक्य-विन्यास विधान भली भाँति जान लेना चाहिए।

हम ऊपर यह भी कह आए हैं कि नाटकके पात्रोंकी भाषाको स्वाभाविक बनानेके लिये नाटककार सदा व्याकरणकी उपेक्षा करके लोक-प्रयोगका विशेष ध्यान रखते हैं। एक सम्वाद लीजिए—

[टेकचन्द खूँटीसे कपड़े उतारकर पहनता है। उसके पिता रूपचन्दका प्रवेश।]

रूपचन्द—कहाँकी तैयारी है।
टेकचन्द—(कुछ सकपकाकर) कहींकी नहीं।
रूपचन्द—तो ये सजधज कैसी। कहीं निमन्त्रण है ?
टेकचन्द—जी।
रूपचन्द—कहाँ।
टेकचन्द—गणेशके घर।
रूपचन्द—क्या है।
टेकचन्द—साहित्यगोष्ठी।
रूपचन्द—कबतक चलेगी।
टेकचन्द—यही एक आध घंटे।

इसमें रूपचन्दके पहले और दूसरे कथनके वाक्योंको छोड़कर शेष सब वाक्य अधूरे हैं और यदि इनको अलग रक्खा जाय तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं लगाया जा सकता। अतः नाटकीय भाषाके वाक्योंकी परिभाषा यह नहीं हो सकती कि सार्थक ही शब्द-समूहका नाम भाषा है। नाटकीय वाक्यकी परिभाषा तो इस प्रकार करनी होगी—

❀ इष्टार्थव्यंजकः शब्दः वाक्यम्।
[इष्ट अर्थका व्यंजक जो हो शब्द वही है वाक्य।]

जिस शब्द या शब्द-समूहसे नाटकीय संवादके प्रसंगमें पूर्ण वाक्यका इष्ट भाव प्रकट किया जा सके वही वाक्य है। कभी कभी तो केवल एक हुँकारी या हुँकारसे स्वीकृति, या अस्वीकृति, आदेश या निषेध कर दिया जाता है। नाटककी दृष्टिसे वह हुँकारी या हुँकार ही वाक्य बन जाता है।

साधारणतः मनुष्यकी प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह शब्दोंके प्रयोगमें मितव्ययी होता ही है। यदि आपका पुत्र आपसे पूछे—पिताजी! क्या मैं देवदर्शनके लिये जा सकता हूँ—तब आप कभी यह नहीं कहेंगे—हाँ! पुत्र तुम देवदर्शनके लिये जा सकते हो। आप सीधे कह देंगे—'जाओ'। नाटकमें इसी प्रकारके संवाद अपेक्षित होते हैं जिनमें स्वाभाविक वार्तालापका रस और विधान हो।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस शब्द या शब्द-समूहसे वाक्यका अर्थ या भाव व्यंजित हो वह व्याकरणकी परिभाषाके

अनुसार पूरा वाक्य न भी हो फिर भी वह वाक्य ही होता है क्योंकि उतनेसे ही इष्टार्थकी व्यंजना हो जाती है।

ॐ अनेकानुषंगिवाग्व्यापारस्संवादः ।

[है आपसकी बोलचाल ही कहलाती संवाद ।]

नाटकमें दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर बातचीत, विचार विमर्श, कहा-सुनी, वाद-विवाद, गाली-गलौज, तर्जन-आह्वान आदिके लिये जो परस्पर वाग्व्यापार करते हैं अर्थात् वाणीका प्रयोग करते हैं उसीको संवाद कहते हैं।

ॐ स्वयंलापोपि ॥

[स्वयंलाप भी है संवाद ।]

कभी कभी मनुष्य अकेलेमें डरकर चिल्लाता है, सपनेमें बर्राता है, मन ही मन बुदबुदाता है, किसी सुन्दर वस्तुको देखकर प्रशंसात्मक शब्द बोल उठता है, विचित्र वस्तुको देखकर विस्मयसूचक शब्द सहसा उच्चरित कर उठता है, पत्र पढ़कर उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें करुणा, भय स्नेह या आश्चर्यकी मुद्रामें कुछ कह बैठता है, देवी-देवताके आगे मनौती मानता या प्रार्थना करता है, मद्यके मदमें बकवाद करता है, किसीसे रुष्ट हो जाने या अपनी हानि हो जानेपर अपने शत्रु या हानि करनेवालेको कोसता है, पीड़ासे कराहता है, विचारमग्न होकर कुछ बड़बड़ाता है, अपने प्रिय या शत्रुकी किसी वस्तुको देखकर स्नेह या क्रोधसे कुछ कह बैठता है या शाप दे देता है। यह स्वयंलाप वाग्व्यापार भी संवाद ही है, क्योंकि इस प्रकारके वाग्व्यापारमें यद्यपि किसी दूसरेकी प्रत्यक्ष आवश्यकता या अपेक्षा प्रकट नहीं होती किन्तु परोक्ष रूपसे दूसरे व्यक्तिकी भावना इसमें अन्तर्हित होती ही है, क्योंकि अकेलेमें डरकर चिल्लानेवाला किसी दूसरेसे सहायता माँगनेकी भावनासे चिल्लाता है, सपनेमें बर्रानेवाला स्वप्नमें किसीसे बात करता रहता है, सुन्दर वस्तुको देखकर प्रशंसात्मक शब्द कहनेवाला उस वस्तुको या उसके रचयिताको संबोधन करता है, विचित्र वस्तुको देखकर जो विस्मयसूचक शब्द निकलता है वह अपने आत्माको या अपने पास खड़े व्यक्तिको संबोधित करनेके लिये व्यक्त होता है। पत्र पढ़कर जो वाणीका व्यापार स्फुट होता है वह पत्रके लेखक अथवा पत्रमें वर्णित घटनाके पात्रोंको लक्ष्य करके स्फुट होता है, देवी-देवताके आगे जो कहा जाता है उसमें देवी देवताको सजीव सशक्त मानकर कहा जाता है, मद्यप सारी सृष्टिको या अपनेको संबोधित करता है, कोसनेकी क्रियामें तो व्यक्ति निर्दिष्ट ही रहता है भले ही परोक्षमें हो, पीड़ामें कराहनेवाला दूसरेकी सहायता चाहता है, स्वतः बड़बड़ाने वाला अपनेको संबोधित करता है, प्रिय या शत्रुकी वस्तुको देखकर जो बात कही जाती है उसका लक्ष्य प्रिय या शत्रु होता है और शापमें भी लक्ष्य निश्चित ही रहता है। अतः चाहे कोई व्यक्ति स्वतः कुछ वाग्व्यापार करता है या दूसरोंसे कराता है, सभी संवादके अन्तर्गत है।

ॐ उल्लासोऽपवादः ।

[है उल्लास एक अपवाद ।]

किन्तु कभी कभी मनुष्य अत्यधिक उल्लासके कारण निरुद्देश्य गाने लगता है या कुछ कुछ बकने-झकने या बोलने लगता है वह संवाद नहीं होता किन्तु नाटकीय वाग्व्यापारमें उसका भी प्रयोग होता है अतः उसे भी संवादका ही रूप मान लेना चाहिए।

ॐ गद्य-पद्योभयात्मकं संवादः ।

[गद्य पद्य दोनोंमें ही हो सकता है संवाद ।]

सिद्धान्त-निरूपणके समय ही हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि नाटककी भाषा केवल गद्यमें ही होनी चाहिए क्योंकि लोगोंका साधारणतः स्वाभाविक वार्त्तालाप गद्यमें ही होता है। उसी वार्त्तालापमें कहीं प्रसंगवश किसी पद्योक्तिका प्रयोग करना अपेक्षित हो तो वह पद्यमें रक्खी जा सकती है। किन्तु कुछ नाट्य-प्रयोग केवल गीतात्मक या पद्यात्मक ही होते हैं जैसे गीतिनाट्य तथा नृत्य-नाट्य। उनमें हमें आद्यन्त पद्य-रचना ही करनी पड़ती है क्योंकि उसके रंगनिर्देशका विधान भी पद्यमें ही करना पड़ता है जैसे अभिनव-भरतके 'गौतमबुद्ध' नृत्य-नाट्यमें। ऐसी रचनाके लिये हमें यह विचार करना होगा कि किस पात्रके संवादके लिये किस छन्दका प्रयोग करना होगा और वह छन्द भी रसके अनुसार किस रागमें गवाना चाहिए जिससे उचित प्रभाव उत्पन्न हो सके। अतः भाषाके प्रसङ्गमें आगे चलकर छन्दका भी विचार करना होगा और विभिन्न रसोंके अभिव्यंजनके अनुकूल राग-रागिनियोंका भी।

इत्यभिनवभरत श्रीसीताराम विरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचनाखंडे संवाद-योजनायां भाषा तत्त्व प्रकरणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥

संवाद—योजना

काव्य-तत्त्व

रूपक-काव्य

ॐ आकृष्टत्वम् सम्वादे ॥

[आकर्षण सम्वादमें ।]

भाषा तत्त्वपर विचार कर लेनेके अनन्तर नाटक या रूपकके काव्य-तत्त्वकी मीमांसा करना अत्यन्त आवश्यक है। विश्व भरके नाटकोंका अनुशीलन करनेसे यह ज्ञात होता है कि पुराने नाटककार जहाँ एक ओर घटना-गुम्फनकी ओर सजग रहते थे उतना ही वे काव्य-तत्वके अधिष्ठानका भी ध्यान रखते थे। भारतीय नाटकोंमें और यूनानी नाटकोंमें समान रूपसे काव्य-तत्त्वकी महत्ता दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि अरस्तूने नाटककी भाषाशैलीका निरूपण करते हुए यह कहा है कि भाषाशैलीका सम्बन्ध भाषण-शास्त्रसे है, जिसका अर्थ यह है कि वह काव्यशैलीकी अपेक्षा लोक-प्रयुक्त भाषाशैलीका ही निरूपण करनेकी वृत्ति नाटकमें चाहता है किन्तु सफक्लेस, इउरीपिदेस, तथा असकुलस आदि यूनानी नाट्यकारोंकी रचनाओंमें यहाँतक कि उनसे प्रभावित रोम तथा यूरोपके नाटकोंमें भी उन्नीसवीं शताब्दितक नाटकोंमें भाषा-सौन्दर्य पर अनवरत रूपसे ध्यान दिया जाता रहा है। अतः हमारे देशमें तथा बाहरके सभी देशोंके नाटकोंमें काव्यत्वकी प्रधानता बनी रही, अर्थात् नाटकको अवस्थानुकृति मानते हुए भी नाटककार अपने पात्रोंकी भाषामें विशेष काव्यशैलीका पुट देते ही थे और सम्भवतः यही कारण है कि नाटककार भी कवि ही कहलाता था। किन्तु इधर जितने प्रकारके नाटकोंका आविर्भाव हुआ है और जो नई नाट्यशैलियाँ जन्म ले रही हैं उनमें काव्यत्वकी अपेक्षा स्वाभाविकताका अधिक समावेश हो रहा है और उसीके साथ-साथ एक और प्रकारके नाटक सिर उठा रहे हैं जिनका उद्देश्य केवल अत्यन्त संस्कृत विद्वान् और बहुत गिने चुने लोगोंका ज्ञान-विवर्धन करना ही है। उनसे विद्वान् लोगोंका मनोरंजन होता है इसमें सन्देह ही है। इन पाण्डित्यवादी नाटकोंमें नाटककार यही प्रयत्न करता है कि हम अपनी बहुज्ञता या व्युत्पत्तिका आतंक दूसरोंपर जमावें। भाषाके नये लाक्षणिक कौतुकपूर्ण प्रयोगोंका प्रदर्शन करें और रंगमंचपर खेलने योग्य नाटकके बदले गंभीर अध्ययनके योग्य काव्यकी रचना करें। ऐसे ही एक नाटकपर टिप्पणी करते हुये एक आलोचकने उसे नाटकीय उपन्यासात्मक गद्यकाव्य कहा था।

इसके अतिरिक्त एक नये प्रकारके नाटककार उत्पन्न हो रहे हैं जो अपनेको प्रभाववादी कहते हैं। इनका उद्देश्य यह है कि हम जो कुछ कहना चाहें उसे इस प्रकार विभिन्न साधनोंसे सजाकर उपस्थित करें कि केवल संवाद या नाटकीय व्यापारसे ही नहीं वरन् सम्पूर्ण नाटकीय साधनोंके सम्मिलित प्रभावसे अर्थात् दृश्यविधान, प्रकाश-विधान, वेष-भूषा, संगीत नेपथ्य-विधान तथा यान्त्रिक क्रियाओंकी सम्मिलित योजनासे निर्दिष्ट फलकी प्राप्ति करें। इनके अतिरिक्त आजकल एक नया वाद और चला है जो अपनेको कलावादी कहते हैं। इनका कहना है कि कला स्वयं सौन्दर्य-बोधकी जननी है। सौन्दर्यबोधसे मनुष्यकी उदात्त वृत्तियाँ विकसित होती हैं। उदत्त वृत्तियोंके विकाससे मन, बुद्धि और हृदयका परिष्कार होता है और इस परिष्कारसे मनुष्यकी भावनाएँ शुद्ध, संयत और उदात्त हो जाती हैं जिससे वह सधारण मानवतासे ऊपर उठकर देवत्वको स्पर्श करने लगता है। कलावादियोंकी यह गर्वोक्ति है कि यदि संगीत अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य तीनोंके समन्वयसे काव्य और चित्रका संयोग करके कथा रंगमंचपर उपस्थित की जाय तो उसका प्रभाव शाश्वत होगा और मनुष्य विनोदप्रिय होनेके कारण उसके नैतिक तत्त्वको ग्रहण करनेमें अधिक प्रयत्नशील होगा। उनका यह भी कहना है कि मनुष्य जबतक पद्यकी ओर प्रवृत्त रहा तबतक उसका नैतिक विकास ठीक रहा और जबसे वह गद्यकी ओर प्रवृत्त हुआ है तभीसे उसका नैतिक मान बराबर गिरने लगा। क्योंकि काव्यमें जो संगीतका तत्त्व था वह स्मृतिमें काव्यको सरलतासे सम्बद्ध रख सकनेके कारण मनुष्यकी उदात्त भावनाओंको उसकाता रहा और नैतिक दुर्बलताके क्षणोंमें उसे सँभालता और सांत्वना देता रहा। यह शक्ति गद्यमें नहीं। कलावादियोंका यह तर्क बहुत कुछ सत्य होते हुए भी

पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि नाटक या रूपक काव्यको केवल गद्यात्मक काव्य नहीं समझना चाहिए। वह दृश्य काव्य है अर्थात् जैसे हम अपने दैनिक व्यवहारमें अपनी या दूसरोंकी भूलोंसे उपदेश ग्रहण करते हैं अथवा किसीके सुकृत्योंसे प्रभावित होकर समुत्साहित होते हैं वैसे ही नाटकीय व्यापारोंको देखकर भी हम उसी प्रकार उपदेश ग्रहण करते हैं और समुत्साहित होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि दैनिक व्यवहारमें तो ठोस घटनाक्रमसे हम परिणाम ग्रहण करते हैं और नाटकमें परिणाम-ग्रहणके साथ साथ हमारा मनोविनोद भी होता है। अतः शुद्ध रूपसे केवल संगीतमय नाटक, कलाकी दृष्टिसे प्रशंसनीय श्लाघ्य, और स्मरणीय भले ही हो किन्तु हितोपदेश-जनन और विनोद-जनन दोनोंका समन्वय उसमें नहीं हो सकता।

एक ओर भी नये नाटककार हो रहे हैं जो मनुष्यकी दुर्बलताओं और वासनाओंको सस्ते विनोदसे उसकाना चाहते हैं। इन लोगोंका यह कथन है कि यदि मनुष्यको उपदेश ग्रहण करना होता या कुछ सीखना होता तो वह पाठशाला, मंदिर या उपदेश-भवनमें क्यों न जाता। वह तो अपनी मानसिक और शारीरिक क्लांति मिटानेके लिये नाट्यशालामें आता है अतः उसके विनोदके लिये गंभीर, सरल और सुबोध ऐसे विनोद उपस्थित किए जायँ जिनमें उसकी स्वाभाविक रुचि हो और जिनसे उससे मनका संतर्पण हो भले ही बुद्धि और आत्माको उससे कुछ भी प्राप्त न हो। ऐसी ही वेढंगी बातें तथ्यवादी या यथार्थवादी कहते हैं। किन्तु यह स्वाभाविक है कि मनुष्य नीचेकी ओर वेगसे चलता है, ऊपरकी ओर उठ चलनेकी उसकी प्रवृत्ति स्वभावतः मंद और कुंठित होती है। इसी लिये मानवताके सभी दार्शनिक नेताओंने और महापुरुषोंने समान रूपसे यह कहा है कि समाजसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी ऐसी क्रिया नहीं होनी चाहिए जो मनुष्यके मनका परिष्कार न करे, बुद्धिकी शुद्धि न करे और आत्माको ऊपर न उठावे।

यथार्थवादी और आदर्शवादी नाटकोंके विषयमें हम पीछे विस्तारसे कह आए हैं अतः उसकी आवृत्ति अपेक्षित नहीं है। इन सभी नाटकोंमें काव्यत्वकी दृष्टिसे दो ही पक्ष हैं—एक तो काव्यवादी और दूसरे स्वाभाविकतावादी। स्वाभाविकतावादियोंका यह तर्क है कि जब नाट्यको अवस्थानुकृति मानते हैं तो संवाद भी अवस्थानुकरण होनेके कारण स्वाभाविक होना चाहिए। काव्यवादियोंका यह कहना है कि नाट्य अवस्थानुकरण तो है किन्तु सभी नाटकमें सभी अवस्थाएँ काल्पनिक होती हैं और जब कल्पना ही करनी है तो वह ऊंची श्रेणीकी क्यों न हो और फिर जब नाट्यको हितोपदेशजनक ही बनना है तो काव्यका संस्कार देनेसे यह उद्देश्य अधिक सरलतासे सिद्ध हो सकेगा। किन्तु वे दोनों ही पक्ष अतिचारित हैं क्योंकि भाषाको अत्यन्त स्वाभाविक लोक-भाषाके अनुसार रख देनेसे लोक विशेषका मनोरंजन भले ही हो किन्तु नाटकमें आनेवाले सामाजिकोंको जो भाषाका चस्का होता है या भाषासे जो रस मिलता है वह नहीं मिल सकेगा और अधिक विद्वान्, गुणी तथा पण्डित लोगोंका उचित मनोविनोद भी न होगा। दूसरी ओर यदि संवादकी भाषा अधिक विद्वत्तापूर्ण, लाक्षणिक और दार्शनिक बना दी जाय तो उससे पंडितोंको भले ही तुष्टि मिल जाय परन्तु साधारण जनसमाज उसके आनन्दसे वंचित रह जायगा। इस लिये नाटककी भाषाके सम्बन्धमें चाहे वह गद्यात्मक हो या पद्यात्मक, यही उचित है कि भाषामें काव्यके गुण तो हों किन्तु वह सुबोध हो अर्थात् भाषा अलंकृत हो, सूक्तियोंसे पूर्ण हो, कहीं कहीं लक्षणा और व्यञ्जनासे पूर्ण हो किन्तु अलंकार-विधान या उक्ति-विधान रूढ़ हो और सर्व-बोध्य हो। उसे समझनेके लिये दर्शकोंको किसी प्रकारका बौद्धिक या काल्पनिक आयास न करना पड़े।

नाट्यका काव्यत्व प्रसंगानुकूलता है

❀ प्रसंगानुकूलं भावालंकरणं नाट्य-काव्यत्वम्।
[नाट्य-काव्यता है प्रसंगके योग्य भावका साज ॥]

अभिनव-भरतकी इस मध्यम-मार्गीय व्यवस्थापर यह आपत्ति की जा सकती है कि एक ओर आप नाटककी भाषा स्वाभाविक और सुबोध भी बनाना चाहते हैं, दूसरी ओर आप यह भी चाहते हैं कि भाषामें काव्यके गुण भी हों। काव्यकी रचनामें कवि अपने कौशलसे उसमें अनेक गुणोंकी व्याप्ति करके एक विशेष नियमावलीके अनुसार उसका अनुबन्ध करता है। किन्तु नाटककार तो इतना

स्वच्छन्द नहीं है। पग-पगपर उसे रुक-रुककर मर्यादा समझकर चलना पड़ता है। भरतने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, जातिभाषा और जात्यन्तरी भाषाका विधान किया किन्तु नाटककारोंने संस्कृत और प्राकृतोंका तो उपयोग किया और कहीं-कहीं अपभ्रंशका भी प्रयोग किया गया किन्तु विभाषा, जातिभाषा और जात्यन्तरी भाषाका प्रयोग नहींके बराबर हुआ है क्योंकि नाटककार भली भांति समझते थे कि न तो उन्हें स्वयं इतनी भाषाओंका ज्ञान है न उनके सामाजिकोंको। उधर संस्कृत और प्राकृतके जो प्रयोग हुए उनके श्लोकों या पद्यांशोंका रूप इतना काव्यमय हो गया कि वह अस्वाभाविक हो गया यहाँ तक कि भवभूति जैसे महाकवियोंने अपने नाटकोंके गद्यभागमें भी गद्यकाव्योंकी समासबहुला शैलीका अवांछनीय और अस्वाभाविक प्रयोग करके अपने नाटकोंकी स्वाभाविकता या नाटकीयता नष्ट कर दी। इधर योरोपमें जो नये समस्यात्मक, पारिवारिक, यथार्थवादी और स्वाभाविकतावादी नाटक लिखे गए हैं उनमें स्वाभाविकताकी रक्षा करनेके कृत्रिम प्रयासमें भाषा ऐसी बेढंगी और इतनी लोक-मुखी बन गई कि उसकी सर्वबोधता नष्ट हो गई इसीलिये अभिनवभरत ने यह प्रतिपादित किया है कि स्वाभाविक और सर्वबोध होते हुए भी नाटककी भाषामें काव्यत्व अवश्य होना चाहिए।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि काव्यत्व उसीकी भाषामें आ सकता है जो काव्यशास्त्रका पंडित हो। किन्तु, यह बात नहीं है। साधारण जनता भी अनेक ऐसे प्रयोग करती है जो लोक-साधारण होते हुए भी काव्यत्वपूर्ण होते हैं यद्यपि उसका दूसरा काव्यत्वहीन रूप भी लोक प्रयुक्त होता है। एक संवाद लीजिए—

[दो मित्र बातें कर रहे हैं।]

(क) मुझे तुमपर विश्वास है।

(ख) तो आज सन्ध्यातक मैं रुपए ला दूँगा।

इतनी ही बातको तीन नाटककारोंने तीन प्रकारसे लिखा है—

(१) क—श्रद्धाका सखा तुम्हारी वाणीका समर्थन कर रहा है।

ख—तो विभावरीके पदार्पण-पर्वकी प्रदोष-वेलामें मैं रजत-राशिसे श्रद्धाके सखाकी पूजा करूँगा।

(२) क—तुम्हारी वाणीमें सन्देह करनेकी कृतघ्नता मैं कैसे कर सकता हूँ।

ख—तो सूर्यकी अन्तिम रश्मिके विदा लेनेतक तुम्हारे हाथ चाँदीसे भर जायँगे।

(३) क—तुम्हारी बातको लक्ष्मणकी रेखा समझता हूँ।

ख—तो विश्वास रक्खो संध्या फूलनेतक मैं कौड़ी कौड़ी गिन दूँगा।

इनमेंसे पहला अत्यन्त क्लिष्ट, दुर्बोध और अति लाक्षणिक है। दूसरा उससे सरल है किन्तु अस्वाभाविक है, तीसरा स्वाभाविक भी है, सुबोध भी और साथ ही उसमें काव्यत्व भी है।

तात्पर्य यह है कि जैसे नाटकमें अभिनय करनेवाले व्यक्तियोंको हम एक विचित्र प्रकारसे ऐसी वेष-भूषा पहना देते हैं कि राम-लक्ष्मण न होते हुए भी वे राम लक्ष्मणसे प्रतीत होते हैं और लोग यही समझते हैं कि वास्तविक राम-लक्ष्मण भी ऐसा ही वेष धारण करते होंगे, उसी प्रकार पात्रोंके संवादकी भाषा भी काव्यत्वके गुणसे संयुत होनेपर भी ऐसी हो कि लोगोंको यह विश्वास करना पड़े कि अमुक पात्रके मुँहसे जो वाक्य निकले हैं वे वास्तवमें उसी पात्रके हैं, नाटककारके नहीं। इस भावनाके साथ-साथ अनेक वर्गोंके दर्शक अनेक प्रकारके पात्रोंकी वाणीको सुनकर अपनी वाणीका यह संस्कार भी करते चलें कि अमुक बात हम भी अमुक प्रकारसे कहें तो अधिक सुन्दर, कलात्मक और भावपूर्ण हो सकती है अर्थात् दर्शक केवल विनोद और उपदेश लेकर ही न जायँ वरन् भाषा और काव्यका संस्कार भी लेकर जायँ।

भाषामें काव्यत्व लानेके लिये नाटककारमें भी भाषाका संस्कार अपेक्षित है। यह भाषाका संस्कार चार प्रकारसे होता है, (१) नाटककारोंके संसर्गसे, (२) नाटकोंका अध्ययन करने और देखनेसे, (३) रंगशालापर नाटक उपस्थित करनेकी कलाके ज्ञानसे, और (४) जनताके विभिन्न वर्गों, सम्प्रदायों, वृत्तियों और समुदायोंके संपर्क तथा अध्ययनसे। किन्तु इन चारों प्रकारसे भाषाका संस्कार प्राप्त करनेके लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति और प्रतिभा आवश्यक है। जबतक लोकाचरणके अध्ययनकी प्रवृत्ति नहीं होगी और उस अध्ययनको ग्रहण करनेकी प्रतिभा

नहीं होगी तबतक वह संस्कार प्राप्त नहीं हो सकता। इस संबंधमें यायावरीय राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें बड़े विस्तारसे विचार किया है।

राजशेखर कहता है कि वे सारस्वत कवि ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहोंकी झोपड़ीसे लेकर राज-प्रासाद तक समान रूपसे आदृत होते हैं। इन कारयित्री प्रतिभावाले सारस्वत कवियोंको ही यदि काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व बुद्धिवाले सहृदयोंके हृदयको आह्लादित करनेवालोंकी भावयित्री प्रतिभा मिल जाय तब तो सोनेमें सुगन्ध समझनी चाहिए। वास्तवमें भावयित्री प्रतिभावाले व्यक्ति वे हैं जो भावक हों। जो व्यक्ति स्वयं सहृदयके समान रस ले सकता हो वही भावयित्री प्रतिभावाला भावक कहलाता है क्योंकि जब तक वह काव्यार्थकी भावना न करे तब तक वह दूसरोंको रसमग्न कैसे कर पावेगा। यह कला अर्थात् कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओंका समन्वय नाटकीय व्यापार और पात्रोंकी योजनाके लिये भी आवश्यक है, किन्तु इसका विशेष प्रयोग शब्द और अर्थके उचित प्रभावशाली संयोगके लिए ही अपेक्षित है। इसका अर्थ यह है कि कविको यह कला आनी चाहिए कि किस शब्दको वाक्यमें किस प्रकार प्रयुक्त करें कि उससे उद्दिष्ट अर्थ व्यक्त हो सके और भाषाका चमत्कार भी बना रह जाय।

काव्य-मीमांसाकार राजशेखरने शिष्य (कवि दो प्रकारके बताए हैं—बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि। जिसकी बुद्धि बिना किसीके सहायताके ही स्वभावतः शास्त्रोंके मर्म-ग्रहणमें कुशल हो वह बुद्धिमान् कहा जाता है और जिसकी बुद्धि शास्त्रा-भ्याससे मँजती है उसे आहार्यबुद्धि कहा जाता है। बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा। दृढ़ संस्कारके द्वारा बीती हुई भूतकी बातोंका स्मरण करनेवाली बुद्धिको स्मृति, प्रस्तुत विषयका मननात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिको मति और भावी विषयोंका कल्पनात्मक ज्ञान करनेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं। ये तीनों प्रकारकी बुद्धि कविकी काव्य-रचनाके लिये आवश्यक होती हैं। ऊपर शिष्योंके (कवियोंके) जो दो भेद बताए गए हैं उनमें बुद्धिमान् शिष्य (कवि) बिना गुरुकी प्रेरणाके स्वयं स्वाभाविक प्रेरणासे ही गुरुसे शास्त्र सुननेकी अभिलाषा रखता है। गुरुके उपदेशको सावधान होकर सुनता है, गुरुके उपदेशको सुनकर उसे व्यवस्थित रूपसे अपने हृदयमें धारण करता है। सुने हुए और जाने हुए विषयोंकी बार-बार आलोचना करके अपने ज्ञानकी वृद्धि करता है। विशेष ज्ञान होनेपर अपने तर्क-बलसे अनेक प्रकारके विकल्पोंकी कल्पना करता है, उन अपनी बुद्धि द्वारा कल्पित किए हुए विकल्पोंमेंसे अनुपयुक्त और अनुचित विकल्पोंको दूर करता है और इस प्रकार अपनी सुबुद्धि द्वारा अनेक मनोव्यापारोंको उपस्थित करके विषयकी यथार्थताकी तहतक पहुँच जाता है।

आहार्य बुद्धिवाले शिष्योंमें भी उपर्युक्त सभी गुणोंकी सत्ता वर्त्तमान रहती है। पर इनमें अन्तर बस इतना ही होता है कि इनके इन गुणोंके विकासको किसी सद्गुरुकी प्रेरणा मात्रकी अपेक्षा रहती है। किसी अच्छे गुरुकी उपासना करना दोनों ही प्रकारके शिष्योंके लिये वाञ्छनीय है, क्योंकि अच्छे गुरुओंकी उपासनासे बुद्धिका विकास होता है। इन दोनों प्रकारके शिष्यों (कवियों) के अतिरिक्त शेष दुर्बुद्धि कहलाते हैं।

किन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि नाटककारके लिये केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसे नाट्य-संस्कार चाहिए अर्थात् रंगशालाके विधानोंका सम्यक् ज्ञान और लोक-व्यापारका विस्तृत परिचय उसे होना ही चाहिए। इसके बिना सारस्वत कवि भी असफल ही सिद्ध होगा और दुर्बुद्धि कवि भी यदि निरन्तर रंगशालाके सम्पर्कमें रहे तो वह बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धिसे कहीं बढ़कर अच्छा नाटककार हो सकता है। श्यामदेवका मत है कि कवि-को 'काव्य रचनामें समाधिकी' अधिक आवश्यकता होती है। चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहा जाता है। चित्तकी एकाग्रता अर्थोंके चयनमें अधिक उपयोगी होती है।

सारस्वतं किमपि तत्सुमहा रहस्यं यद्गोचरे च विदुषां निपुणैक सेव्यम्। तत्सिद्धये परमये परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥

तात्पर्य यह है कि सरस्वती-सम्बन्धी कुछ ऐसे गूढ़ तत्त्व हैं जिनका अन्वेषण करना विद्वानोंका एक मात्र कर्त्तव्य है और उनकी सिद्धिके लिये सबसे प्रधान साधन है चित्तकी एकाग्रता। आचार्यवर मङ्गलका कहना है कि काव्य-स्फूर्तिका प्रधान साधन अभ्यास है। अभ्यास कहते हैं निरन्तर ग्रन्थोंके परिशीलन करनेको। अभ्यास सभी विषयोंमें अबाध

गतिका संचार कराता है। समाधि और अभ्यासमें भेद यह है कि समाधिमें आन्तरिक व्यापारकी प्रधानता होती है और अभ्यासमें बाह्य प्रयत्नकी। समाधि और अभ्यास दोनों ही काव्य-प्रणयन शक्तिको बढ़ाते हैं। यायावरीय (राजशेखर)-का मत है कि काव्य-रचनामें शक्ति ही मुख्य कारण है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति ये दोनों शक्तिके ही परिणाम हैं। जिस व्यक्तिमें काव्य-रचना-शक्ति होती है उसीमें प्रतिभा और व्युत्पत्तिका भी स्फुरण होता है। जो शक्ति विशेष काव्य-रचनाके प्रसारमें कविके मानसमें काव्य-रचनाके अनुकूल शब्द-समुदाय, सहृदय-हृदयको मुग्ध कर सकनेवाली शब्द-राशि, शब्दार्थोभयालंकार प्रपंच और कवि सिद्धान्तानुकूल उक्ति-वैचित्र्यका स्फुरण कराती है उसे प्रतिभा कहा जाता है। अप्रतिभावान् व्यक्तिके सामने शब्द तथा अर्थ दोनों अप्रत्यक्ष रूपसे प्रकट होते हैं और प्रतिभाशालीके सामने शब्द और अर्थ प्रत्यक्ष स्वानुभूतिके समान मूर्त रूप लेकर उपस्थित होते हैं। इस प्रतिभाका ही प्रताप है कि मेधावि, रुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध कवियोंके वर्णनमें भी पाठकोंको प्रत्यक्षानुभूतिका दर्शन मिलता है। यह प्रतिभाका ही बल है कि कवि अपनी कुटियामें बैठा हुआ देशान्तर और द्वीपान्तरोंकी वस्तुओंका भी अपने काव्योंमें ऐसा सच्चा और सजीव चित्र खींच देता है कि पाठकोंके मनमें कविको उन दृश्यों के प्रत्यक्ष दर्शन न होनेके सन्देहका उदय ही नहीं हो पाता।

कारयित्री प्रतिभा

कारयित्री और भावयित्री भेदसे प्रतिभा दो प्रकारकी होती है। काव्यके रचयिताका उपयोग करनेवाली कारयित्री प्रतिभा कही जाती है। उसके भी सहजा, आहार्या और औपदेशिकी ये तीन भेद हैं। जन्मान्तरीय संस्कारसे प्राप्त प्रतिभाको सहजा कहते हैं, वर्तमान जन्म-सम्बन्धी संस्कारोंसे उत्पन्न हुई प्रतिभाको औपदेशिकी कहते हैं। इस प्रकार सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक ये तीन प्रकारके कवि कहे जाते हैं। वह बुद्धिमान पुरुष जिसको अध्ययनादिके बिना ही जन्मान्तर संस्कारोंसे सारस्वत अनुभवोंका ज्ञान होता है उसे सारस्वत कहते हैं। इसी जन्मके अभ्याससे प्रतिभा सम्यक् अर्जन करनेवाला आहार्यबुद्धि शिष्य आभ्यासिक कहलाता है। मंत्र-तंत्रादिके अनुष्ठानसे और उपदेशादि निदर्शनद्वारा जिसमें कवित्व शक्तिका उद्भाव किया जाय वह दुर्बुद्धि शिष्य औपदेशिक कवि कहा जाता है। इसलिये औपदेशिक कवियोंको छोड़कर सारस्वत और आभ्यासिक कवियोंको कवित्व शक्तिके उद्भावन करनेके लिये मंत्र-तंत्र आदिके अनुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि स्वभावतः मधुर अंगूरके रसमें गुड़ मिलानेकी कोई आवश्यकता नहीं हुआ करती यह आचार्योंका मत है। किन्तु यायावरीय राजशेखरका मत है कि आभ्यासिक और सारस्वत कवियोंके लिये भी मंत्र-तंत्रादिका प्रयोग उपयोगी ही है क्योंकि एक ही कार्यके संपादक दो साधनोंके अनुष्ठानसे क्रियाके फलमें विशेषता या शीघ्रता ही होती है। इन तीनों प्रकारके कवियोंमें क्रमशः औपदेशिकसे आभ्यासिक और आभ्यासिकसे सारस्वत उत्तरोत्तर कुशल होते हैं। क्योंकि कहा गया है—

> सारस्वतः स्वतंत्रः स्याद्भवेदाभ्यासिको मितः।
> औपदेशिककविस्त्वत्र वल्गु फल्गु न जल्पति॥

सारस्वत कवि अपनी ध्यानमें स्वतन्त्र होता है। नैसर्गिक प्रतिभासे उसकी वाग्धारा निर्बाध गतिसे प्रवाहित होती चली जाती है। द्वितीय कोटिका आभ्यासिक कवि अपने ऐहलौकिक शास्त्राभ्यासके बलसे रचना करता है पर उसकी रचना एक परिमित क्षेत्रके भीतर ही व्याप्त रही है। मंत्र-तंत्र आदिके उपदेशके प्रभावसे कवित्व-शक्तिका अर्जन करनेवाला औपदेशिक कवि तो कभी मनोहर और कभी निरर्थक रचनाएँ भी किया करता है इसलिये वह सबसे निकृष्ट कोटिका कवि कहा जाता है। यायावरीय राजशेखरका मत है कि तीनों प्रकारके कवियोंमें जिसकी रचनामें उत्कर्षकी मात्रा अधिक होगी वही उत्तम कवि कहा जायगा चाहे वह औपदेशिक हो, आभ्यासिक हो या सारस्वत हो। उत्कर्ष गुणोंकी अधिकतासे होता है। जिस कवितामें जितने ही गुण होंगे उतनी ही उत्कृष्ट वह कविता मानी जायगी। कहा गया है—

> बुद्धिमत्वं च काव्यांगविद्यास्वभ्यास कर्म च
> कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥
> काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
> मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥

काव्य-रचनामें उपयोगिनी विद्याओंका निपुणतापूर्वक ज्ञान, काव्य-रचनाका अभ्यास और कवियोंके रहस्य-ज्ञानसे

भी हुई कवित्व-शक्ति, ये तीनों बातें एक व्यक्तिमें सुलभ होना असम्भव है। काव्यकाव्यांग भूत छन्द कोश विद्याओंका पूरा अभ्यास और मन्त्र तन्त्रादिके प्रयोगका भी उपयोग करनेवाले व्यक्तिके लिये महाकवि कहलाना बहुत सरल बात है। कवियोंके उत्कर्षापकर्षके विषयमें यह प्रसिद्ध कहावत है।

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृहएव काव्यमन्यस्य गच्छति
सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्या (स्ये ?) विदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्कस्यापि
सञ्चरति विश्वकुतूहलीव ॥

एक ऐसे अकुशल कवि होते हैं जिनकी रचना उनके घरमें ही पड़ी-पड़ी सड़ जाती है और उसका तनिक भी प्रचार नहीं हो पाता। दूसरे प्रकारके वे कवि होते हैं जिनकी रचनाका प्रचार उनके सुहृद्वर्गतक ही रह जाता है और वे सब-साधारणके मानसको आह्लादित करनेमें असफल सिद्ध होती हैं। सबसे उत्कृष्ट तीसरे प्रकारके वे सारस्वत कवि होते हैं जिनके महाकाव्य हलवाहोंकी झोपड़ीसे लेकर राजप्रासादों तक समान रूपसे आदृत होते हैं। यहाँतक तो कारयित्री प्रतिभाका वर्णन हुआ।

भावयित्री प्रतिभा

अब भावयित्रीके विषयमें विचार किया जायगा। काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व बुद्धिवाले सहृदय वर्गके हृदयको आह्लादित करनेवाली प्रतिभा भावयित्री कहलाती है। भावयित्री प्रतिभा कविके काव्य-रचना व्यापार-रूपी वृक्षको सफल बनाती है। बिना इस प्रतिभाके वह फलहीन निरर्थक ही रह जाता है। कारयित्री प्रतिभावाला व्यक्ति कवि कहलाता है और भावयित्री प्रतिभावाला भावक। आचार्योंका कहना है कि कवि ही काव्यार्थकी भावना करता है और भावक ही कविता करनेकी क्षमता रखता है। अतः कवि और भावकमें कोई भेद नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा भी है—

प्रतिभातारतम्येन प्रतिष्ठा भुवि भूरिधा।
भावकस्तु कविः प्रायो न भजत्यधमां दशाम् ॥

[प्रतिभाकी न्यूनता और अधिकतासे कवियोंके भिन्न-भिन्न पद होते हैं। भावोंमें रमण करनेवाला भावक कवि सर्वश्रेष्ठ होता है और लोक-प्रशंसा प्राप्त करता है।]

इसलिये कवि और भावकमें कोई स्वरूपतः भेद नहीं है। कवि और भावकमें एकताके प्रतिपादन करनेवाले आचार्योंके मतसे कालिदास सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि कवि और भावकमें महान् भेद है। काव्यके रचयिताको कवि कहा जाता है और काव्यार्थकी भावनामें परिपक्व-बुद्धि सहृदय, जो वर्णनीय वस्तुमें तन्मय होकर रसास्वादनकी अवस्थाको पहुँचता है, भावक कहलाता है। कवि और भावकके विषयमें भी बहुत अन्तर है। कविके वर्णनीय घटपट आदि पदार्थ विषय होते हैं और रसमात्रके आस्वादनमें लीन भावकका विषय रसास्वादन मात्र होता हैं। ऐसी स्थितिमें कवि और भावकके परस्पर स्वरूप तथा विषय दोनोंमें भेद होनेके कारण कवित्व और भावकत्व भिन्न-भिन्न हैं जैसा कि किसीने कहा है—

कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेकः सूते कनकमुपहस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः ॥

[कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी कारयित्री प्रतिभाके बलसे केवल काव्योंकी रचना करनेमें ही कुशल होते हैं, और कुछ ऐसे लोग होते हैं जो भावयित्री प्रतिभाके प्रतापसे काव्य-वाणीको सुनकर उसके रसास्वादनमें ही निपुण होते हैं। पर कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रतिभाओंका परिचय देकर तुम्हारी बुद्धि तो हम लोगोंको आश्चर्यान्वित कर देती है। एक ही व्यक्तिमें सारे गुणोंका होना कोई सहज नहीं है। देखो! एक पारस पत्थर सोनेको उत्पन्न करता है और उसकी परीक्षाके लिये कसौटीकी आवश्यकता होती है। एकमें ही दोनों कार्य कर देनेकी क्षमता नहीं होती।]

वे भावक दो प्रकारके होते हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। यह मंगलका मत है। यायावरीय (राजशेखर)-का मत है कि अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेशी ये चार प्रकारके भावक होते हैं। जिस प्रकार अरोचक रोगमें मनुष्यको सुस्वादयुक्त भोज्यमें भी आस्वादका अनुभव नहीं होता है उसी प्रकार अरोचकी भावकको सरस काव्योंमें भी सन्तोष नहीं होता और वह नाक-भौं सिकोड़कर अपनी अरोचकताकी व्यंजना करता है। सतृणाभ्यवहारी भावक उन मरभुखोंके समान हैं जो परोसे हुए सब अन्न-व्यंजन आदि खा जाते हैं, सम्पूर्ण काव्य मात्रमें रसास्वादन करनेको उत्सुक रहते हैं। अब विचारणीय यह है कि अरोचकी भावकोंमें स्वाभाविक अरोचकता होती है या ज्ञानपूर्विका? इनमें यदि स्वाभाविक अरोचकता हो

तब तो सैकड़ों प्रयत्न करनेपर भी वंगरसकी स्वाभाविक कालिमाके समान दूर नहीं हो सकेगी। हाँ, यदि वह ज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुई होगी तो विशेष रस और ध्वनियोंसे पूर्ण काव्यको सुनकर वह दूर हो जायगी और उनमें रसास्वादनकी रुचि जागरित हो जायगी।

काव्य-निर्माणके क्षेत्रमें पहले-पहल आनेवाले व्यक्तिकी सतृणाभ्यवहारिता वृत्ति हुआ करती है। प्रारम्भावस्थामें विवेककी कमीके कारण काव्योंके गुणागुणका विचार कठिन होता है। पर आगे चलकर इन गुणोंको पहचाननेकी क्षमता आने लगती है। मत्सरी भावक जो स्वभावसे ही दूसरोंके गुणोंसे द्वेष करनेका अभ्यासी होता है उसे काव्यके अच्छे गुणोंको भी प्रकट करनेमें हिचक होती है और इसलिये कि दूसरे कवियोंकी ख्याति न हो जाय उनके काव्यके यथार्थ गुणोंको भी नहीं प्रकट करता। ऐसे कम भावक देखनेमें आते हैं जो मत्सरहीन हों और ज्ञाता भी हों। इस बातको प्राचीनोंने इस कथन द्वारा स्पष्ट कर दिया है :—

कस्त्वं भोः कविरस्मि काव्यमभिनवासूक्तिः सखे पठ्यताम्।
त्यक्ता काव्यकथैव सम्प्रति मया कस्मादिदं श्रूयताम्।
यः सम्यग्विविनक्ति दोषगुणयोः सारं स्वयं सत्कविः
सोऽस्मिन्भावक एव नास्त्यथ भवेद्दैवान्न निर्मत्सरः॥

कोई किसीसे पूछ रहा है कि तुम कौन हो? इसपर दूसरा उत्तर देता है कि मैं कवि हूँ। पुनः पहला उससे प्रार्थना करता है कि मित्र! यदि आप कवि हों तो कोई नवीन रचना सुनाओ। पुनः दूसरा उत्तर देता है कि आजकल तो मैंने काव्यरचना छोड़ दी है। पहलेके पुनः काव्य-रचना छोड़ देनेके कारण पूछने पर दूसरा कहता है कि सुनो - जो दोष-गुणोंकी भली भाँति विवेचना करनेमें कुशल हो और स्वयं भी अच्छा कवयिता हो वही भावक कहलाता है, ऐसे भावक इस समय कहीं देखनेको भी नहीं मिलते, यदि कोई मिलते भी हैं तो मत्सरसे भरे हुए। तब भला बताओ मैं कविता करके करूँगा क्या? उसकी परख करनेवाले कहीं हैं ही नहीं।

आगे चलकर राजशेखरने काव्य-शास्त्र-कलाका विवेचन करते हुए कहा है—

अनेक विषयोंको अवगाहन करनेमें प्रवीण शक्तिको व्युत्पत्ति कहा जाता है। यह आचार्योंका मत है। महाकवियोंकी शक्ति व्यापक और सर्वदेशगामी होती है। कहा गया है—

प्रसरति किमपि कथञ्चन नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥

[बार-बार अभ्यास किए गए विषयोंमें तो भला किसीकी बुद्धि नहीं विस्तृत होती है, पर अनभ्यस्त अत्यंत नवीन विषयमें भी अपनी सर्वत व्यापिनी प्रतिभासे वाणीके विकास का प्रदर्शन करना महाकवियोंका ही कार्य है।] यायावरीय (राजशेखर) का मत है कि योग्यायोग्यके विचारपूर्वक भावोंके आदान-प्रदानकी क्षमताका नाम ही व्युत्पत्ति है। आनन्दवर्द्धनाचार्यका कहना है कि प्रतिभा अधिक प्रशस्यतर होती है। प्रतिभा कविके अव्युत्पत्ति-जन्य दोषोंको छिपा देती है। कहा गया है—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते॥
शक्ति शब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते।

[कविकी रचनामें व्युत्पत्तिकी कमीसे जो दोष आ जाता है वह प्रतिभारूपी शक्तिसे छिप जाता है पर प्रतिभाके अभावसे पैदा हुआ दोष शीघ्र ही प्रकट हो जाता है और कविकी अक्षमता पाठकोंको प्रकट हो जाती है। शक्ति शब्दसे प्रतिभाशक्तिका तात्पर्य है।]

आचार्य मंगलका मत है कि प्रतिभासे व्युत्पत्ति श्रेष्ठ होती है और व्युत्पत्ति ही कविके अप्रतिभा-प्रसूत दोषोंका गोपन करती है। इस पद्यसे इस बातकी पुष्टि भी होती है—

कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धीचितचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥

कविकी काव्य-रचनाके प्रसंगमें प्रतिभा विरह जन्य दोषोंका व्युत्पत्ति संवरण कर लेती है। जिन भावक गणोंका हृदय काव्यकी रसवर्द्धिनी प्रणालीमें रंजित है उनकी अभिरुचि अलंकारादि योजनाओंमें नहीं हो सकती।

राजशेखरका मत है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर कविकी विशेषताका सम्पादन करती हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल प्रतिभा या व्युत्पत्ति अकेले ही किसी काव्यको उत्तमता नहीं प्रदान कर सकती किन्तु प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर रचनाको प्रशस्यतर बना देते हैं। लोकमें भी केवल लावण्यवान् या रूपवान्के लिये सुन्दर शब्दका व्यवहार नहीं होता है वरन् जिसमें

लावण्य और रूप-सम्पत्ति दोनों हों वही वास्तविक सुन्दर कहलानेका पात्र हो जाता है।

छन्दोयोजना मात्र कर देनेसे कोई कवि नहीं हो सकता। कवि बननेके लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनोंकी आवश्यकता होती है। कवि तीन प्रकारके होते हैं—शास्त्र-कवि, काव्य-कवि, और उभय कवि। इनमें शास्त्र-कविसे काव्य-कवि और काव्य-कवि से शास्त्रकाव्योभय कवि उत्तरोत्तर अच्छे होते हैं यह श्यामदेवाचार्यका मत है। पर यायावरीय (राजशेखर) का कहना है कि अपने अभ्यस्त विषयोंमें सभी उत्कृष्ट होते हैं अतः दो प्रकारकी रचना करनेवालोंमें किसीको एक दूसरेसे उत्कृष्ट कहना अनुचित है। जैसे कि नीरक्षीर-विवेकमें कुशल राजहंस भी चन्द्रिका-पानमें असमर्थ होता है और चन्द्रिका-पानमें दक्ष चकोर नीरक्षीर-विवेकमें असमर्थ होता है, अतः उनमें उत्कृष्टापकृष्टत्वका विवेचन करना कठिन होता है। उसी प्रकार कवियोंके भी अपने-अपने क्षेत्रमें उत्कृष्ट होनेसे आपसमें उनका तारतम्य नहीं किया जा सकता क्योंकि शास्त्र-कवि शास्त्रोंके अध्ययन-बलसे काव्योंमें साधारण रूपसे प्रविष्ट रहते हैं पर रसाभि-व्यक्तिकी क्षमतावाली शब्दावलीका प्रयोग वे नहीं कर पाते। काव्य-कवि काव्योंमें सविशेष अभ्यासके कारण रसाभिव्यंजन-योग्य शब्दावलीका प्रयोग तो भली भाँति कर लेता है पर शास्त्रीय पदार्थोंका वर्णन शास्त्रीय पारिभाषिक पद्धतिसे नहीं कर पाता। शास्त्र-काव्योभय कवि यदि शास्त्र और काव्य दोनों विषयोंमें समान रूपसे प्रवीण हो तो वास्तवमें उन दोनों प्रकारके कवियोंसे श्रेष्ठ कहा जा सकता है। इस स्थितिमें शास्त्र-कवि और काव्यकवि दोनोंका समान स्थान मानना उचित जान पड़ता है। हाँ, यह आवश्यक है कि काव्य-कवि और शास्त्र-कविका परस्पर उपकार्योपकारक भाव होता है। विशेषता यह है कि शास्त्रों-में साधारण प्रवेश कविकी काव्य-रचनामें कुछ वैचित्र्य उत्पन्न करता है पर सर्वदा किसी शास्त्रमें अत्यन्त मग्न हो जानेसे सुकविताके लिये परमावश्यक उपयुक्त शब्दोंकी स्फूर्ति कराने-वाली शक्ति नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार काव्यार्थ-भावना-मय संस्कार भी शास्त्रीय तर्क-कर्कश पदोंको भी सरस भावसे वर्णन करनेकी शक्ति प्रदान करता है, पर सर्वदा काव्योंमें ही मग्न रहनेसे तो बुद्धि कोमल हो जाती है और वह व्यक्ति शास्त्रीय कठिन पदार्थोंको नहीं ग्रहण कर पाता।

इन कवियोंमें शास्त्र-कवि तीन प्रकारके होते हैं। जो शास्त्रीय ग्रन्थ रचते हैं वे एक प्रकारके शास्त्र-कवि होते हैं, जो शास्त्रीय पदार्थोंको काव्यका स्वरूप प्रदान करते हैं वे दूसरे प्रकारके शास्त्र कवि होते हैं और जो काव्योंमें भी शास्त्रार्थ अर्थात् शास्त्रीय परिभाषाओंका निवेश करते हैं वे तीसरे प्रकारके शास्त्र-कवि कहलाते हैं। [नाटकके लिये तीनों प्रकारके शास्त्र-कवि निषिद्ध हैं क्योंकि वे नाटक-को दुर्बोध और अस्पष्ट बनाए बिना नहीं मान सकते।]

काव्यकवि आठ प्रकारके होते हैं—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्र-कवि।

श्रुति-सुखद और प्रगाढ़ प्रौढ़ पदबन्धोंवाली रचना करनेवाला कवि रचना-कवि कहलाता है।

शब्द-कवि तीन प्रकारके होते हैं—नाम कवि, आख्यात-कवि तथा नामाख्यात कवि। उनमें नामात्मक-शब्द-प्रधान रचनावाला कवि नाम-कवि कहा जाता है। जो कवि अपनी रचनामें आख्यात अर्थात् क्रिया शब्दोंका ही अधिक प्रयोग करे वह आख्यात कवि कहा जाता है। जिन कवियोंकी रचनाओंमें नाम और आख्यात दोनोंका समान रूपसे प्रयोग पाया जाता है वे नामाख्यात कवि कहे जाते हैं।

अलंकार, रस, भाव, आदिकी अपेक्षा न कर अर्थ-मात्रका वर्णन करनेवाला कवि अर्थ-कवि कहा जाता है।

अलंकार कवि दो प्रकारके होते हैं—शब्दालंकार कवि और अर्थालंकार कवि।

सामान्य रूपसे जो कही जानेवाली वस्तु है उसे भङ्ग्यन्तरसे कहकर सहृदयहृदयाह्लादकताका रूप जो दे उसे उक्ति-कवि कहते हैं। अपने काव्यमें रसके ही विधानकी ओर अधिक प्रवृत्ति रखनेवाला कवि रस-कवि कहलाता है। रीति-प्रधान कविता करनेवाले कवि, मार्ग-कवि कहलाते हैं। जो कविगण शास्त्रीय विषयोंको काव्य-में निबद्ध करते हैं वे शास्त्रार्थ-कवि कहलाते हैं।

अभिनवभरतका मत है कि ये आठ प्रकारके भेद निरर्थक हैं क्योंकि सभी कवि अपने-अपने काव्योंमें शब्द, अर्थ, अलंकार रस आदिका यथास्थान प्रयोग करते ही हैं। जो इनमेंसे केवल एकको लेकर रचना करता है वह काव्य-कवि नहीं है, वह तो गड्डिया है जो काव्यकी सायास रचना करता है। वह कवि कहला ही नहीं सकता।

स्वयं राजशेखरने ही आगे स्वीकार किया है कि इन सब कवियोंके गुणोंमें जो व्यक्ति दो या तीन गुणोंसे युक्त हो वह अधम श्रेणीका कवि, पाँच गुणोंवाला मध्यम श्रेणीका कवि और सब गुणोंसे अलंकृत व्यक्ति महाकवि कहलाता है। कवियोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान और आहार्यबुद्धिकी सात अवस्थाएँ होती हैं और औपदेशिककी तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन दस अवस्थाओंमें रहनेवाले कवियोंका काव्य विद्यास्नातक, हृदय कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता इन दस प्रकारोंसे व्यवहार होता है। जो कवित्वकी अभिलाषासे काव्यविद्याएँ तथा उपविद्याएँ सीखनेके लिये गुरुकुलोंमें निवास करते हैं वे विद्यास्नातक कहे जाते हैं। जो लज्जावश अपने दोषोंको प्रकट न करनेकी अभिलाषासे मनमें ही रखते हैं, दूसरोंके सामने नहीं प्रकाशित करते वे हृदय-कवि कहे जाते हैं। वे कविगण जो स्वरचित काव्यको दोषपूर्ण होनेके डरसे

सुबन्त तिङन्त पदोंके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक कहा जाता है। पर आचार्य लोग इस उत्तरसे नहीं सहमत हैं क्योंकि सुबन्त तिङन्तके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक न कहकर सौशब्द्य कहा जा सकता है। पाक कहते हैं सुबन्त तिङन्त आदि पदोंके प्रयोगमें स्थिरताको। किसीने कहा भी है—

"आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलयते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हस्तसिद्धा सरस्वती॥"

[काव्यमें समुचित पदोंका सन्निवेश और अननुकूल पदोंके त्यागका व्यापार कविको तभीतक करना पड़ता है जबतक उसका ज्ञान विकल्पात्मक रहता है और पदोंके प्रयोगमें स्थिरता नहीं प्राप्त कर चुकता है। पदोंके प्रयोगमें स्थिरता आ जानेपर कवि पाकावस्था या परिणामावस्थाको पहुँच जाता है और सरस्वती उसके सामने सिद्ध सी प्रत्यक्ष हो जाती हैं।]

वामनाचार्यका भी यही कहना है कि जब कृतिको

'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

अच्छे वक्ताके होनेपर, श्रवण-मनोहर उसके शब्दके होनेपर रसाभिव्यञ्जक अर्थके रहनेपर भी जिस वस्तुके बिना वाणीमें माधुर्यकी कमी रह जाती है उसे ही पाक कह जाता है।

सहृदयोंके हृदयको आह्लादन करनेवाले कार्यसे पाकका अनुमान किया जाता है। जिस वस्तु विशेषके बिना आह्लाद नहीं हो पाता वही पाक है और सहृदय मण्डलके व्यवहारका अङ्ग है। पाकके नौ भेद हैं। इन नवों पाकोंमें जो आदि और अन्त दोनोंमें अस्वादु हो उसे पिचुमन्द पाक कहते हैं। पिचुमन्द कहते हैं निम्बको। वह जैसे सब अवस्थाओंमें तिक्त होती है उसी प्रकार उस पाकको भी सब अवस्थाओंमें कम स्वादु होने से पिचुमन्द पाक कहा जाता है। जो आदिमें अस्वादु किन्तु परिणाममें मध्यम हो उसे बदर या बेर-पाक कहते हैं। आरंभमें अस्वादु और परिणाम में जो मधुर हो ऐसे पाकको मृद्वीका पाक कहते हैं। मृद्वीका कहते हैं द्राक्षाको। वह जैसे पहले खट्टी और पकनेपर अत्यन्त मधुर होती है उसी प्रकार मृद्वीका पाक भी पहले अस्वादु और परिणामावस्थामें सुस्वादु होता है। पहले मध्यम श्रेणीका और अन्तमें स्वाद-रहित पाकको वार्ताक (बैंगन) पाक कहा जाता है। आदि और अन्त दोनोंमें मध्यम श्रेणीके स्वादवाले काव्यको तिन्तिडीक या इमली पाक कहा जाता है। आदिमें मध्यम श्रेणीका और अन्तमें स्वादयुक्त काव्यको सहकार (आम) पाक कहा जाता है। आदिमें स्वादु और अन्तमें अस्वादु काव्य क्रमुक (सुपारी) पाक कहलाता है। आदिमें उत्तम और अन्तमें मध्यम स्वादु वालेको त्रपुस या ककड़ी पाक कहते हैं। आदिमें स्वादु और अन्तमें भी मधुर रहनेवाले काव्यको नारिकेल पाक कहा जाता है।

इन नवों प्रकारके पाकोंमें प्रथम पिचुमन्द, वार्ताक और क्रमुक पाकोंको अस्वादु होनेके कारण अनुपादेय समझना चाहिए, क्योंकि सारहीन कविता करनेकी अपेक्षा कविता न करना अच्छा है। कुरचना सदा रचयिताको आजीवन तप्त और दुर्नाम किया करती है। मध्यम श्रेणीके बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस पाकवाले कवि संस्कार उत्पन्न करके अपनी कविताको उपादेय बना सकते हैं। अल्प गुणवाले व्यक्तिके गुणोंमें भी संस्कारसे उत्कर्ष आ जाता है। देखा जाता है कि निम्न कोटिका सुवर्ण भी अग्नि-संस्कारसे उत्तम कोटिका परार्घ्य सुवर्ण बन जाता है। शेष मृद्वीका, नारिकेल और सहकार पाकके कवि प्रत्येक अवस्थामें उत्तम होते हैं और उनकी रचनाएँ उपादेय होती हैं। उनकी प्रतिभा स्वभाव-सिद्ध है। इसलिये उन्हें किसी प्रकारके संस्कारकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि सुवर्णका उत्कर्षाधायक शाण मुक्तामणिकी विशेषता प्रकट करनेमें अनुपयुक्त पाया जाता है। जिस प्रबन्धकी पाकावस्था निश्चित रूपको नहीं प्राप्त कर लेती उसे कपित्थ-पाक कहा जाता है। ऐसे प्रबन्धोंके अनुशीलन करनेसे अनुशीलयिताको जैसे पुवालके दानोंसे बहुत थोड़े अन्नकणोंका लाभ होता है उसी प्रकार बहुत थोड़ेसे सुभाषित मिलनेका लाभ हो पाता है।"

किन्तु ये सब भेद राजशेखरने केवल पांडित्य-प्रदर्शनके लिए किए हैं क्योंकि प्रायः सभी प्रबन्ध-काव्य रचयिताओंने यथास्थान उपर्युक्त सभी प्रकारकी रचनाओंका समावेश किया है। इस मीमांसाका केवल यही प्रयोजन है कि कविकर्म सुसंस्कृत और सुघटित होना चाहिए। इस दृष्टिसे यदि नाटकका पाक-क्रम स्थिर करें तो यही कह सकते हैं जो हमने इस अध्यायमें प्रारंभमें कहा है कि पात्रोंके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति तथा कुल-संस्कारके अनुसार नाटककी भाषा और संवाद हो जो स्वाभाविक होते हुए भी काव्य की ध्वनि और संस्कारसे युक्त हो और इस प्रकारका नाटक वही कवि लिख सकता है जिसने अपने नाटकमें प्रयुक्त किए हुए पात्रोंके वर्गोंका सहवास किया हो, उन पात्रोंके प्रकारोंके मनुष्योंमें स्वयं रहा हो, उनका सूक्ष्म अध्ययन किया हो और जिसे उनके आचार-विचार व्यवहार, बोलचाल आदिका भली प्रकार परिज्ञान हो।

शब्द और अर्थ

❀ भावाधारः शब्दः, शब्दार्थयोर्नित्यत्वात्।
[शब्दोंसे ही भाव प्रकट हैं।]

यद्यपि संकेत और अंग-संचालनसे भी हम अपने मनकी बात प्रकट कर सकते हैं पर वाणीके द्वारा जितनी स्पष्टता और विशदतासे भाव व्यक्त हो सकता है उतना

स्वयं राजशेखरने ही आगे स्वीकार किया है कि इन सब कवियोंके गुणोंमें जो व्यक्ति दो या तीन गुणोंसे युक्त हो वह अधम श्रेणीका कवि, पाँच गुणोंवाला मध्यम श्रेणीका कवि और सब गुणोंसे अलंकृत व्यक्ति महाकवि कहलाता है। कवियोंकी दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें बुद्धिमान और आहार्यबुद्धिकी सात अवस्थाएँ होती हैं और औपदेशिककी तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन दस अवस्थाओंमें रहनेवाले कवियोंका काव्य विद्यास्नातक, हृदय कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और संक्रामयिता इन दस प्रकारोंसे व्यवहार होता है। जो कवित्वकी अभिलाषासे काव्यविद्याएँ तथा उपविद्याएँ सीखनेके लिये गुरुकुलोंमें निवास करते हैं वे विद्यास्नातक कहे जाते हैं। जो लज्जावश अपने दोषोंको प्रकट न करनेकी अभिलाषासे मनमें ही रखते हैं, दूसरोंके सामने नहीं प्रकाशित करते वे हृदय-कवि कहे जाते हैं। वे कविगण जो स्वरचित काव्यको दोषपूर्ण होनेके डरसे सभामें दूसरेका बताकर सुनाते हैं वे अन्यापदेशी कहलाते हैं। जो व्यक्ति केवल छन्दोयोजनाका अभ्यास रहनेसे प्राचीन कवियोंके ही भावोंको अपने छन्दोंमें निबद्ध किया करते हैं वे सेविता कहे जाते हैं। वे कवि जो निर्दोष और भावपूर्ण रचना करनेमें समर्थ रहते हुए भी रचनाको प्रबन्ध रूप नहीं दे पाते वे घटमान कहे जाते हैं। जो गद्य-पद्यात्मक उभयविध प्रबन्ध-रचनामें कुशल होते हैं वे महाकवि कहे जाते हैं। जो मागधी, शौरसेनी आदि प्राकृत भाषाओं तथा संस्कृत और अपभ्रंशमें भी रसभावपूर्ण कविता कर सकनेकी कुशलता रखता हो वह कविराज कहलाता है। कविराज तो प्रायः नहीं मिला करते हैं। यदि कहीं मिलते भी हैं तो एक दो। जो मन्त्र-तन्त्र आदिकी सिद्धि प्राप्त करके देवता आदिके प्रसादसे आविष्ट होकर कविता करते हैं उन्हें आवेशिक कहते हैं। जिनको किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं होता उन्हें अविच्छेदी कवि कहते हैं। वे व्यक्ति जो सिद्ध-मन्त्र होकर कन्या, कुमार आदिमें सिरःस्पर्श आदि द्वारा अपनी शक्तिका आवेश करते हैं उन्हें संक्रामयिता कहा जाता है।

काव्य-रचनामें निरन्तर परिशीलनसे वाणी ही पाकावस्थाको प्राप्त होती है। यहाँ आचार्योंका प्रश्न है कि पाक है क्या वस्तु। इसके समाधानमें मङ्गलाचार्य उत्तर देते हैं कि सुबन्त तिङन्त पदोंके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक कहा जाता है। पर आचार्य लोग इस उत्तरसे नहीं सहमत हैं क्योंकि सुबन्त तिङन्तके श्रुति-सुखद सन्निवेशको पाक न कहकर सौशब्द्य कहा जा सकता है। पाक कहते हैं सुबन्त तिङन्त आदि पदोंके प्रयोगमें स्थिरताको। किसीने कहा भी है—

"आवापोद्धरणे तावद्यावद्दोलयते मनः।
पदानां स्थापिते स्थैर्ये हस्तसिद्धा सरस्वती॥"

[काव्यमें समुचित पदोंका सन्निवेश और अननुकूल पदोंके त्यागका व्यापार कविको तभीतक करना पड़ता है जबतक उसका ज्ञान विकल्पात्मक रहता है और पदोंके प्रयोगमें स्थिरता नहीं प्राप्त कर चुकता है। पदोंके प्रयोगमें स्थिरता आ जानेपर कवि पाकावस्था या परिणामावस्थाको पहुँच जाता है और सरस्वती उसके सामने सिद्ध सी प्रत्यक्ष हो जाती हैं।]

वामनाचार्यका भी यही कहना है कि जब कविको कवितामें एक बार प्रयुक्त शब्दोंको परिवर्त्तन करनेकी आवश्यकता न पड़े वही अवस्था मुख्य पाकावस्था है। इस पद्यसे भी यही बात पुष्ट होती है—

"यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते॥"

जिस ग्रन्थके पदोंमें परिवर्त्तनकी तनिक भी आवश्यकता न हो और उनके परिवर्त्तन करनेसे अभीष्टार्थकी प्रतीति भी न हो सके उसे 'शब्दपाक' कहा जाता है।

राजशेखरकी पत्नी अवन्तिसुन्दरीका मत है कि पदोंके परिवर्त्तनासहत्वको पाक नहीं कहा जा सकता प्रत्युत यह तो असमर्थता है क्योंकि एक ही भावको व्यक्त करनेके लिये महाकवियोंको अनेक पद प्रयुक्त करते और उनको परिपाकावस्थातक पहुँचाते देखा जाता है। इसलिये रसके पोषणमें समर्थ शब्दोंके सुन्दर प्रयोगको पाक कहा जाता है। इस बातकी पुष्टि इस निम्न पद्यसे भी होती है –

"गुणालङ्काररीत्युक्ति—शब्दार्थ-ग्रथन-क्रमः।
स्वदते सुधिया येन वाक्यः पाकः स मां प्रति।"

जिसके कारण गुण, अलङ्कार, रीति, उक्ति और शब्दोंके विन्यासक्रम सहृदयोंके आस्वादनके योग्य हो जायँ उसे पाक कहा जाता है।

'सति वक्तरि सत्यर्थे शब्दे सति रसे सति।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"

अच्छे वक्ताके होनेपर, श्रवण-मनोहर उसके शब्दके होनेपर रसाभिव्यञ्जक अर्थके रहनेपर भी जिस वस्तुके बिना वाणीमें माधुर्यकी कमी रह जाती है उसे ही पाक कहा जाता है।

सहृदयोंके हृदयको आह्लादन करनेवाले कार्यसे पाकका अनुमान किया जाता है। जिस वस्तु विशेषके बिना आह्लाद नहीं हो पाता वही पाक है और सहृदय मण्डलके व्यवहारका अङ्ग है। पाकके नौ भेद हैं। इन नवों पाकोंमें जो आदि और अन्त दोनोंमें अस्वादु हो उसे पिचुमन्द पाक कहते हैं। पिचुमन्द कहते हैं निम्बको। वह जैसे सब अवस्थाओंमें तिक्त होती है उसी प्रकार उस पाकको भी सब अवस्थाओंमें कम स्वादु होने से पिचुमन्द पाक कहा जाता है। जो आदिमें अस्वादु किन्तु परिणाममें मध्यम हो उसे बदर या बेर-पाक कहते हैं। आरंभमें अस्वादु और परिणाम में जो मधुर हो ऐसे पाकको मृद्वीका पाक कहते हैं। मृद्वीका कहते हैं द्राक्षाको। वह जैसे पहले खट्टी और पकनेपर अत्यन्त मधुर होती है उसी प्रकार मृद्वीका पाक भी पहले अस्वादु और परिणामावस्थामें सुस्वादु होता है। पहले मध्यम श्रेणीका और अन्तमें स्वाद-रहित पाकको वार्त्ताक (बैंगन) पाक कहा जाता है। आदि और अन्त दोनोंमें मध्यम श्रेणीके स्वादवाले काव्यको तिन्तिडीक या इमली पाक कहा जाता है। आदिमें मध्यम श्रेणीका और अन्तमें स्वादयुक्त काव्यको सहकार (आम) पाक कहा जाता है। आदिमें स्वादु और अन्तमें अस्वादु काव्य क्रमुक (सुपारी) पाक कहलाता है। आदिमें उत्तम और अन्तमें मध्यम स्वादु वालेको त्रपुस या ककड़ी पाक कहते हैं। आदिमें स्वादु और अन्तमें भी मधुर रहनेवाले काव्यको नारिकेल पाक कहा जाता है।

इन नवों प्रकारके पाकोंमें प्रथम पिचुमन्द, वार्ताक और क्रमुक पाकोंको अस्वादु होनेके कारण अनुपादेय समझना चाहिए, क्योंकि सारहीन कविता करनेकी अपेक्षा कविता न करना अच्छा है। कुरचना सदा रचयिताको आजीवन त्रस्त और दुर्नाम किया करती है। मध्यम श्रेणीके बदर, तिन्तिडीक और त्रपुस पाकवाले कवि संस्कार उत्पन्न करके अपनी कविताको उपादेय बना सकते हैं। अल्प गुणवाले व्यक्तिके गुणोंमें भी संस्कारसे उत्कर्ष आ जाता है। देखा जाता है कि निम्न कोटिका सुवर्ण भी अग्नि-संस्कारसे उत्तम कोटिका परार्घ्य सुवर्ण बन जाता है। शेष मृद्वीका, नारिकेल और सहकार पाकके कवि प्रत्येक अवस्थामें उत्तम होते हैं और उनकी रचनाएँ उपादेय होती हैं। उनकी प्रतिभा स्वभाव-सिद्ध है। इसलिये उन्हें किसी प्रकारके संस्कारकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि सुवर्णका उत्कर्षाधायक शाण मुक्तामणिकी विशेषता प्रकट करनेमें अनुपयुक्त पाया जाता है। जिस प्रबन्धकी पाकावस्था निश्चित रूपको नहीं प्राप्त कर लेती उसे कपित्थ-पाक कहा जाता है। ऐसे प्रबन्धोंके अनुशीलन करनेसे अनुशीलयिताको जैसे पुवालके दानोंसे बहुत थोड़े अन्नकणोंका लाभ होता है उसी प्रकार बहुत थोड़ेसे सुभाषित मिलनेका लाभ हो पाता है।"

किन्तु ये सब भेद राजशेखरने केवल पांडित्य-प्रदर्शनके लिए किए हैं क्योंकि प्रायः सभी प्रबन्ध-काव्य रचयिताओंने यथास्थान उपर्युक्त सभी प्रकारकी रचनाओंका समावेश किया है। इस मीमांसाका केवल यही प्रयोजन है कि कविकर्म सुसंस्कृत और सुघटित होना चाहिए। इस दृष्टिसे यदि नाटकका पाक-क्रम स्थिर करें तो यही कह सकते हैं जो हमने इस अध्यायमें प्रारंभमें कहा है कि पात्रोंके कुल, वर्ग, देश, वृत्ति, लिंग, मानसिक स्थिति, स्वास्थ्य, परिस्थिति, संगति तथा कुल-संस्कारके अनुसार नाटककी भाषा और संवाद हो जो स्वाभाविक होते हुए भी काव्य की ध्वनि और संस्कारसे युक्त हो और इस प्रकारका नाटक वही कवि लिख सकता है जिसने अपने नाटकमें प्रयुक्त किए हुए पात्रोंके वर्गोंका सहवास किया हो, उन पात्रोंके प्रकारोंके मनुष्योंमें स्वयं रहा हो, उनका सूक्ष्म अध्ययन किया हो और जिसे उनके आचार-विचार व्यवहार, बोलचाल आदिका भली प्रकार परिज्ञान हो।

शब्द और अर्थ

❀ भावाधारः शब्दः, शब्दार्थयोर्नित्यत्वात्।
[शब्दोंसे ही भाव प्रकट हैं।]

यद्यपि संकेत और अंग-संचालनसे भी हम अपने मनकी बात प्रकट कर सकते हैं पर वाणीके द्वारा जितनी स्पष्टता और विशदतासे भाव व्यक्त हो सकता है उतना

संकेतसे नहीं। अतः किसी भी प्रकारकी सोद्देश्य बात-चीतमें जितने शब्दोंका प्रयोग होगा उन सबका अर्थ होना आवश्यक है। इसीलिये शब्द और अर्थका नित्य या शाश्वत सम्बन्ध माना जाता है। यह अर्थ एक बार समाज निश्चय कर लेता है और वह प्रयोगसे सिद्ध हो जाता है। शब्द और अर्थके बिना संवाद असंभव है इसलिये शब्द और अर्थका ठीक प्रयोजन समझ लेना चाहिए। प्रायः सभी आचार्योंने काव्यकी परिभाषा करते समय शब्द और अर्थके विशिष्ट रूपको ही काव्य कहा है। यदि हम भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट, रुय्यक, वाग्भट्ट, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित, शोभाकर, यशस्क और पंडितराज जगन्नाथके मतके अनुसार नाटकके पात्रोंको काव्यदृष्टिसे परीक्षा करें तो आधेसे अधिक वाक्य और वर्तमान वस्तुवादी तथा यथार्थवादी नाटकोंके पूरे संवाद काव्यकी श्रेणीमें आवेंगे ही नहीं, किन्तु उनके नाटकत्वमें कोई अन्तर नहीं आता। ऐसी स्थितिमें काव्यकी परिभाषा क्या मानी जाय।

❀ प्रबन्धसारस्यं काव्यत्वम्।

[है प्रबन्धकी सरसता कहलाता काव्य।]

संस्कृतके अनेक आचार्योंने तथा विश्वके अनेक कवियों तथा आलोचकोंने काव्यकी अनेक परिभाषाएँ लिखीं। दण्डीने काव्यादर्शमें और कान्तिचन्द्रने अपनी काव्य-दीपिकामें 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलिः' [अर्थात् इच्छित अर्थको व्यक्त कर देनेवाली पदावली] को ही काव्य बताया है। शौद्धोदनिने अलङ्कारशेखर और वृत्तिकार केशव मिश्रने 'काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्' [अर्थात् रस आदि गुणोंसे युत, सुननेमें सुखद वाक्य] को ही काव्य बताया है। भोजने सरस्वती-कण्ठाभरणमें कहा है—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"

[जो कवि दोषरहित, गुण-सहित और अलङ्कारोंसे सजा हुआ रसात्मक काव्य रचता है उसे कीर्ति और प्रीति मिलती है।]

विश्वनाथ कविराजने साहित्यदर्पणमें 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' [अर्थात् रसभरे (रसीले) वाक्यको ही काव्य] कहा है। जयदेवने चन्द्रालोकमें कहा है—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणगुम्फिता।
सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्य नामभाक्॥"

[दोषरहित, लक्षणोंवाली रीति तथा गुणोंसे गुथी हुई, अलङ्कार और रसोंवाली, अनेक छन्दोंमें सजी हुई वाणी ही काव्य कहला सकती है।]

पंडितराज जगन्नाथने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' [अर्थात् रमणीय अर्थका बोध करानेवाले शब्दको ही काव्य] माना है।

इन आठ मतोंमें शब्दमें ही काव्यत्व माना गया है।

कुछ ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने शब्द और अर्थ दोनोंमें काव्य माना है। भामह, उद्भट, रुद्रट और आनन्दवर्धनने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अर्थात् जो शब्द और अर्थके सहित हो उसे ही काव्य माना है। वामनने काव्यालङ्कारमें 'काव्यशब्दोऽयम् गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते [अर्थात् गुण और अलङ्कारसे परिष्कृत शब्द और अर्थोंको ही काव्य] बताया है कुन्तकने अपने वक्रोक्तिजीवितमें कहा है—

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यम् तद्विदाह्लादकारिणी॥'

[असाधारण कविव्यापारसे युक्त और असाधारण कवि-कर्मको जाननेवाले लोगोंको प्रसन्न करनेवाली रचनामें जो व्यवस्थित हितकर शब्द और अर्थ हैं उन्हींको काव्य कहते हैं।]

मम्मटने काव्य-प्रकाशमें और हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमें तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि [अर्थात् जो शब्द और अर्थ दोषरहित हों, गुण-युक्त हों और कहीं कहीं अलङ्कारसे हीन भी हों] उसे ही काव्य माना है। वाग्भट्टने माना है—

साधुशब्दार्थसंदर्भं गुणालङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥'

[जो कवि कीर्ति पाना चाहे उसे चाहिए कि भले शब्द और अर्थके ऐसे समूहसे काव्यकी रचना करे जो गुण और अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो, जिसकी रीति स्पष्ट हो और जो रसोंसे पूर्ण हो।]

विद्याधरने एकावलीमें सीधे सीधे कहा है—
'शब्दार्थौ वपुरस्य शब्दार्थवपुस्तावत् काव्यम्।'

[शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं। इसलिये शब्द और अर्थके शरीरवाली रचना ही काव्य कहलाती है।]

विद्यानाथने प्रताप-रुद्रीयमें कहा है—

'गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥'

[गद्य तथा पद्य या दोनोंमें गुण और अलङ्कारसे युक्त, दोषसे रहित शब्द और अर्थसे जो रचना की जाती है उसको काव्यके पंडित लोग काव्य मानते हैं।]

अच्युतरायने साहित्य-सारमें लिखा है—

'तत्र निर्दोषशब्दार्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम् ।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम् ॥

[जो गद्य-पद्य आदिमें बँधा हुआ, गुणसे युक्त शब्द होता है वही काव्यका साधारण लक्षण है]

धर्मसूरीने साहित्यरत्नाकरमें कहा है—

'सगुणालङ्कृतिः काव्यम् पदार्थौ दोषवर्जितौ ।'

[गुणयुक्त, अलङ्कृत और दोषहीन शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं]

क्षेमेन्द्रने कविकण्ठाभरणमें 'काव्यं विशिष्टशब्दार्थ-साहित्यसदलङ्कृतिः' [अर्थात् वह विशिष्ट शब्द और अर्थ जो साहित्य-शास्त्रमें वर्णित श्रेष्ठ अलङ्कारोंसे सजा हुआ हो] उसे ही काव्य बताया है। न्यायवागीशने अलङ्कार-चन्द्रिकामें कहा है—

गुणालङ्कारसंयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ ।
नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते ॥

[गुण और अलङ्कारसे युक्त रस और भावमें पगे हुए, सदा दोषसे मुक्त शब्द और अर्थको ही काव्य कहते हैं।]

ये सोलह मत शब्द और अर्थमें ही काव्य बताते हैं।

कुछ लोगोंने 'अनुभावविभावानां वर्णना काव्य-मुच्यते' [अर्थात् अनुभाव और विभावके वर्णन को ही काव्य] कहा है। इन सब मतों में व्यापक दोष यही है कि प्रायः सभीने शब्द या शब्दार्थकी निर्दोष रचनाको ही काव्य माना है, किन्तु मनुष्यकी रचना जबतक देवप्रेरित न हो तबतक वह निर्दोष कैसे हो सकती है, और फिर जो कवि गुण, दोष और अलङ्कारका सदा ध्यान रक्खेगा उसकी रचनामें निश्चय ही स्वाभाविकता नहीं आ सकती, क्योंकि वह पग-पगपर या तो यह चेष्टा करेगा कि मैं अलङ्कारोंका सन्निवेश करूँ अथवा यह विचार करने के लिये रुकता और सँभालता चलेगा कि कहीं दोष न आ जाय। जिन कवियोंने इन नियमोंका ध्यान रखकर शब्द और अर्थको ही सजानेमें अपना कौशल दिखाया है उनकी रचना रूढ़, एकरस और लोक-समाराधनके गुणसे हीन रही। आचार्य मम्मटके कथनानुसार दोष-रहित गुणसहित, प्रायः अलंकृत किन्तु कभी-कभी अन-लंकृत शब्द और अर्थ ही काव्य हैं। यह परिभाषा व्यापक-रूपसे पंडित समाजमें मान्य है, किन्तु इस परिभाषाको पूर्णतः ठीक माननेमें प्रधान बाधा यह है कि स्वरूपलक्षण के भीतर किसी वस्तु के गुणयुक्त तथा दोषयुक्त होनेका विचार नहीं किया जा सकता। जैसे यदि हम घोड़े का स्वरूपलक्षण निर्दिष्ट करें तो हमारा यह कहना कदापि उचित न होगा कि दोषमुक्त तथा गुणयुक्त अमुक-अमुक लक्षणोंवाले चतुष्पदको घोड़ा कहते हैं। क्योंकि यद्यपि वेगसे चलना घोड़ेका गुण है, तथापि यदि वह वेगसे न चले तो भी उसके घोड़ेपनमें कोई अन्तर नहीं आवेगा, वह घोड़ा ही रहेगा। इसके अतिरिक्त गुण शब्दका अर्थ यदि ओज, माधुर्य्य और प्रसाद आदि लें तो उसका सम्बन्ध रीतिसे हो जायगा जो उक्त लक्षणस्वरूपके भीतर नहीं आता। वस्तुतः गुणका सम्बन्ध रससे होता है, शब्द या अर्थसे नहीं फिर परमात्माके सिवाय और कौन निर्दोष कहला ही सकता है! चन्द्रालोककार जयदेवने मम्मटकी परिभाषाका खंडन करते हुए लिखा है—

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।।'

[अर्थात् जो अलंकारहीन शब्दार्थको भी काव्य मान सकता है वह यह क्यों नहीं मान लेता कि अग्नि ठंडी भी हो सकती है।]

इसी प्रकार "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर वामनने काव्यका आत्मा रीतिको बतलाया है। रीतिसे अर्थ है—गौड़ी, वैदर्भी और पाञ्चाली रीतियाँ। अतः रीतिका सम्बन्ध हुआ वर्णोंकी व्यवस्थासे, अर्थात् इसका सम्बन्ध कानोंपर पड़नेवाले प्रभावसे है। वामन तो काव्यमें संगीत-तत्त्वके समर्थक हैं। वे इसे ही कविता मानते हैं। पर विचारणीय बात यह है कि यदि हम इसीसे कविताका

आत्मा मान लें तो काव्य और संगीततत्त्वके सम्मिश्रणसे केवल कविताका माधुर्य ही तो बढ़ता है। अतः काव्यमें रीति केवल सहायकभर है। इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणमें केवल वर्णोंका ध्यान रक्खा गया है, शब्द और अर्थका नहीं। अत; केवल वर्णकी व्यवस्था ही काव्यानुभूतिके लिए पर्याप्त नहीं।

दूसरी ओर भामह और दण्डी काव्यमें अलंकार-का होना आवश्यक मानते हैं। शोभामें वृद्धि करनेवाली वस्तुओंको अलंकार कहते हैं। अर्थात् पहले से ही सुन्दर वस्तु उपस्थित रहती है, अलंकार केवल उसकी शोभा बढ़ाता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि अलंकारोंसे शोभा बढ़ सकती है न कि उसकी उत्पत्ति होती है। कभी-कभी अत्यधिक अलंकारोंसे सुन्दर वस्तु भी असुन्दर लगती है, असुन्दर तथा अशोभन वस्तु और भी भद्दी लगने लगती है। अतः यह आवश्यक नहीं है कि बलपूर्वक अलंकार भरे ही जायँ। रूपक-काव्यको दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो अलंकारोंकी सदा आवश्यकता भी नहीं पड़ती। क्योंकि उसमें जो वाच्यांश होता है वह सब लोकव्यवहारकी बातचीतपर आश्रित रहता है। कहीं-कहीं अधिक आवश्यकता पड़नेपर किसी विशिष्ट पात्रकी भाषामें अलंकारका प्रयोग कराया जा सकता है, किन्तु यदि सभी पात्रोंसे अलंकारयुक्त भाषामें बातचीत कराई जावे तब तो पूरा-नाटक ही अस्वाभाविक हो जावेगा।

इस सम्बन्धमें पण्डितराज जगन्नाथने काव्यकी परिभाषा की है—"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।"

[रमणीय अर्थ सुझानेवाला शब्द ही काव्य है।]

और रमणीयताकी परिभाषा यह है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"।

[क्षण-क्षणमें जो नया-नया रूप धारण करे वही रमणीयता कहलाती है।]

किन्तु नाटकमें सदा सब वाक्य रमणीय ही हों, यह भी आवश्यक नहीं। क्योंकि वाक्योंकी प्रकृति तो उनके प्रयोग करनेवाले पात्रकी प्रकृतिपर अवलम्बित है। दुष्ट, क्रूर, मूर्ख और उन्मादि स्वभाववाले नाटकमें रमणीयता कहाँसे लाकर भर सकता है? हाँ, यदि 'रमणी' शब्दको [illegible] उसका अर्थ 'सुन्दर' कर लिया जाय तब तो यह परिभाषा ठीक हो सकती है।

विश्वनाथ कविराजने "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कह कर बड़ी गोल व्याख्या की है। रसात्मक शब्द इतना व्यापक है कि उसकी ठीक-ठीक परिधिका ज्ञान होना ही बड़ा कठिन है। एक वाक्य जो एक व्यक्तिको सरस और मधुर लग सकता है वह दूसरोंको भी वैसा ही सरस लगे यह आवश्यक नहीं। फिर नाटकके दर्शकोंमें तो विभिन्न रुचिके लोग आते हैं। उन सबको समान रूपसे तुष्ट करना नाटककारका कर्तव्य है। अतः यह परिभाषा भी रूपक काव्यकी परिभाषाके लिये बहुत सहायक नहीं हो सकती।

कुछ आचार्योंने ध्वनिको ही काव्य का आत्मा माना है 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। वे लोग ध्वनि उस विशेष अर्थको कहते हैं जो शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धका अतिक्रमण करके श्रोता या दर्शकको किसी विशेष अर्थकी प्रतीति करावे। यह परिभाषा कई दृष्टियोंसे विशेषतः नाटककी दृष्टिसे अत्यन्त विचारणीय है। नाटकमें एक ही रङ्गपीठपर अनेक अभिनेता उपस्थित होते हैं। उनमेंसे नायक एक वाक्य कहता है -

"मैं सब समझता हूँ"

इस एक वाक्यको रङ्गपीठपर उपस्थित प्रतिनायक, भयमिश्रित आशंकाके साथ समझता है कि मेरा भेद खुल गया। राजाका मित्र यह समझता है कि मैं जिस कार्यके लिये आया हूँ उस कार्यमें राजाकी सहायता प्राप्त होगी। इतना ही नहीं, कभी-कभी मुस्कराहट, आश्चर्यमुद्रा और गम्भीरता आदि भावभंगियोंसे भी विशिष्ट ध्वनि निकलती है जिसका प्रभाव उस दृश्यके पात्रों तथा दर्शकोंपर अलग अलग ढंगसे पड़ता है। अतः शब्द और अर्थके सामान्य सम्बन्धात्मक परिणामके अतिरिक्त भी उसका कुछ भाव होता है, यही वास्तवमें ध्वनि है और नाटककारको उस विशेष प्रभावको उत्पन्न करनेका ज्ञान होना चाहिए।

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकांडमें प्रसंगवश काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

सरल कवित कीरति बिमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

[जो कविता सरल हो अर्थात् कहते ही समझमें

आ जाय और जिसमें किसी विमलकीर्तिवाले महापुरुष-का वर्णन हो उसी कविताका चतुर लोग आदर करते हैं और वही कविता श्रेष्ठ होती है जिसे सुनकर शत्रु भी स्वाभाविक वैर भुलाकर उसकी बड़ाई करते हैं।]

यह परिभाषा है तो प्रबन्ध-काव्यके लिये, किन्तु इसमें से यदि 'कीरति बिमल' वाला अंश निकाल दें तो सब प्रकारके कविकर्मके लिये इस परिभाषाका प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि किसी भी काव्यका पहला गुण यह होना चाहिए कि वह समझमें आवे। यदि कविता श्रोताओं-की समझमें न आ सके तो वह रस, अलङ्कार और रीति-से युक्त होकर भी क्या करेगी और फिर यदि कवितामें यह शक्ति है कि सुजान भी आदर करें और शत्रु भी स्वाभाविक वैर छोड़कर उसकी बड़ाई करे तो यह स्पष्ट है कि उसमें श्रेष्ठ काव्यके सब लक्षण विद्यमान हैं। क्योंकि काव्य तो समाजके लिये रचा जाता है और यदि समाज ही उसके लाभसे वंचित हो तो उसका होना न होना बराबर है। संभवतः इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने काव्य-का प्रयोजन बताते हुए कहा है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरिसम सब कहँ हित होई॥

[वही कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य श्रेष्ठ है जिससे गंगाजीके समान सबका हित होता हो।]

अंग्रेज कवि कीट्सने पोपके 'रेप औफ दि लौक' काव्यपर टिप्पणी करते हुए काव्यकी यह परिभाषा भी बताई थी—

"फौरगेटिंग दि ग्रेट एन्ड
औफ पोइट्री, दैट इट शुड बी ए फ्रेन्ड
टु सूद दि केअर्स एन्ड लिफ्ट दि थौट्स् औफ मैन्

[अर्थात् पोप ने काव्य का यह महान उद्देश्य ध्यान में नहीं रक्खा कि वह मित्रके समान मनुष्यकी चिन्ताओं का शमन करे और मनुष्यके विचारोंको उदात्त बनावे।]

यह वक्तव्य शुद्ध परिभाषात्मक नहीं है, केवल काव्यका प्रयोजन ही व्यक्त करता है कि काव्यकी रचना समाजके हितके लिये होती है। यदि गोस्वामीजीकी और कीट्सकी उपर्युक्त परिभाषाओंका विश्लेषण किया जाय तो उसका तथ्य परिभाषा-निर्माण करनेमें सहायक हो सकेगा।

समाजमें अनेक वृत्तियों और प्रवृत्तियोंके मनुष्य होते हैं। वे सभी उसी रचनाकी ओर आकृष्ट हो सकते हैं जिसमें कुछ कुतूहलजनक, अद्भुत और विनोदजनक प्रसंग हो। ऐसे प्रसंग होनेपर भी जबतक वे सरल और सर्वबोध न होंगे तबतक लोगोंकी रुचि उनमें न हो सकेगी। अतः काव्य सरल हो, उसमें अद्भुत अलौकिक वस्तुओं, व्यक्तियों या व्यापारोंका समावेश हो, उसकी भाषा सरल हो असाधारण किन्तु सर्वबोध उक्तियोंसे पूर्ण हो और ऐसी शैलीमें हो कि उससे लोगोंका जी न ऊबे वरन् उत्तरोत्तर उनके कुतूहलकी वृद्धि होती चले। इसलिये अभिनवभरतका मत है—

ॐ कौतूहलाविरलत्वं सारस्यम्।

[अविरल कौतूहल जिसमें हो वही सरसता है कहलाती।]

आचार्य रामचन्द्र शुक्लने 'कविता क्या है' निबन्धमें कविता या काव्यकी परिभाषा बताते हुए कहा है—

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा हम शेष सृष्टि-के साथ अपने रागात्मक सम्बन्धकी रक्षा और निर्वाह करते हैं।"

इस परिभाषामें भी यह स्पष्ट है कि हमारे रागात्मक सम्बन्ध कविता-रूपी साधनके द्वारा तबतक व्यक्त नहीं हो सकते जबतक हम उस साधनको अर्थात् कविताके स्वरूपको ठीक-ठीक न समझ लें। और फिर रागात्मक सम्बन्धोंकी रक्षा और निर्वाह तभी सम्भव है जब हम कवितामें वर्णित वस्तु, व्यक्ति या व्यापारकी भावनासे अपनेको भावित न कर लें। यह भावना तभी सम्भव है जब कविकर्म इस कौशल से किया गया हो कि कविताके द्वारा कवि जिन भावोंका श्रोताके हृदयमें संक्रमण कराना चाहता है वे भली प्रकार शब्दों और अर्थोंके द्वारा श्रोता-के मानसमें प्रकट हो जायँ। यह साधारणीकरण तभी सम्भव है जब शब्द और अर्थ सरल हों, इस प्रकार गुथे हुए हों कि उनके वैचित्र्य अथवा रमणीयतासे आकृष्ट होकर श्रोता या पाठक उस काव्यमें लीन हो जाय। यह कार्य केवल वाक्यों या शब्दोंके अलग अलग अस्तित्व-से नहीं होता। यह तभी सम्भव है जब पूरी रचना आदिसे अन्त तक कुतूहलजनक, सरल, और सरस शब्द-व्यापारसे मण्डित हो और इस प्रकार कवि-द्वारा निर्दिष्ट काव्यके

इष्ट फलकी साधना करनेवाली कवि-रचनाको ही काव्य माना जा सकता है। यह रचना चाहे मुक्तकके रूपमें एक दोहा, श्लोक या गीत हो अथवा महाकाव्य या नाटक हो।

योरप अमेरिका तथा चीनके भी साहित्य-शास्त्रमें काव्यकी कुछ विलक्षण परिभाषाएँ बताई गई हैं—

(१) हमारी भावनाओंकी कलात्मक अभिव्यञ्जना ही काव्य है।

(२) मानवीय भावनाओंका कोमलतर श्वास ही काव्य है।

(३) बाहरके प्रभावसे या आन्तरिक अनुभूतिसे प्रेरित होकर कवि जो कह बैठता है वही काव्य है।

(४) काव्य कविका हृदय है।

(५) काव्य कविके आत्माकी व्यञ्जना है।

(६) जब बुद्धिसे असंपृक्त होकर मनुष्यका आत्मा हृदयसे बोलने लगता है वही काव्य हो जाता है।

(७) हृदय और आत्माका समन्वय ही काव्य है।

(८) जब मनुष्य कुछ अलौकिक शैलीमें अपनी अनुभूति व्यक्त करनेका प्रयास करता है तभी काव्यकी सृष्टि होती है।

(९) अपने आपमें लीन होनेकी अवस्थामें जब वाणी सहसा छन्दोमयी होकर फूट पड़ती है वही कविता हो जाती है।

(१०) शब्द और छन्द का वेश धारण करके जब भाव व्यक्त होते हैं और उन्हें सुनकर जब सहृदयोंके हृदय स्पन्दित हो जाते हैं वही कविता है।

(११) कविता प्रकृतिके समान आत्मासे बहती है और भावी सृष्टिके नृत्य करती हुई मनकी भावोंका श्रृंगार करती है और [illegible] ऊपर उठा देती है।

ये सब परिभाषाएँ केवल भावात्मक उद्गार हैं जिनमें परिभाषाके योग्य काव्यकी स्वरूपगत समीक्षा है, लक्षण नहीं। एक [illegible] निबन्धने काव्यकी परिभाषा करते हुए कहा है [illegible] प्रत्येक [illegible] हुआ और [illegible] किया है।" किन्तु यह कोई परिभाषा नहीं है, केवल भावात्मक उद्गार ही है। यदि इसमें देवताके स्वरूप और लक्षणका निर्देश होता तो काव्यका स्वरूप समझनेमें सहायता मिलती। इस प्रकारकी और भी न जाने कितनी ही निरर्थक परिभाषाएँ गढ़ी जा सकती हैं किन्तु इससे काव्यका स्वरूप समझनेमें कोई सहायता नहीं मिल सकती। इससे सरल तो स्वयं काव्य शब्द ही परिभाषा-युक्त है। क्योंकि कवि कर्मको ही काव्य कहते हैं। अतः किसी प्रकारका भी कविकर्म काव्य हो सकता है। यदि प्लेटोकी सम्मति ली जाय तो कवियोंको किसी लोकतन्त्र शासनमें रहने ही न दिया जाय किन्तु कवि सब युगोंमें सदा सब देशोंमें होते चले आए हैं। अब यह समाज और राष्ट्रके नेताओंका कर्त्तव्य है कि वे सत्काव्य और असत्काव्यको परिभाषाएँ निश्चित करें और निम्न कोटिके कवियोंको उन नियमोंके अनुसार रचना करनेके लिये बाध्य करें। किन्तु जो श्रेष्ठ आत्माभिमानी कवि होंगे वे निश्शंक होकर शाश्वत काव्यकी सृष्टि करेंगे क्योंकि मम्मटने भी कहा है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिं आदधती भारती कवेर्जयति ॥

[प्रकृतिके बनाए हुए समस्त नियमोंसे मुक्त, सदा आह्लादसे भरी हुई, स्वतन्त्र, नये (या नव) रसोंसे सजी हुई कविकी वाणी सदा विजयी हो।]

हमारे देशमें गद्य और पद्य दोनों काव्यके अन्तर्गत माने गए हैं। यहाँतक कि 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' (गद्य ही कवियोंकी सच्ची कसौटी बताई गई है) कहकर गद्यकारको ही श्रेष्ठ कवि बताया गया है। आचार्योंने गद्यको 'वृत्तानुगंधी' अर्थात् छन्दोमय कविताका-सा रस भरे हुए गद्यको ही अच्छा गद्य बताया है। किन्तु योरोपमें गद्य और पद्य दोनों अलग अलग माने गए। मोटे रूपसे सरस छन्दोबद्ध रचनाको पद्य और नीरस छन्दहीन रचनाको गद्य बताया गया है। यहाँतक कि यदि कोई नीरस कविता हो तो उसे भी वे प्रोज़ेक (गद्यात्मक) अर्थात् नीरस कहते हैं अर्थात् गद्य वहाँ नीरसताका द्योतक है। पहले योरपमें कविताका संबन्ध संगीतसे ही था [illegible] पुस्तकमें [illegible] ने कहा है— 'छन्दमें लिखी हुई प्रत्येक वस्तुको मैं कविता कहता और मानता हूँ।" मानो या अरस्तूने भी अपने काव्यग्रंथ (पोयटिक्स, ३०२ ई.) में और [illegible] ने भी [illegible] ([illegible] १८०८ ई.,

१४०८ बी) में इसी बातका समर्थन किया है। किन्तु अरस्तूने अपने काव्यशास्त्र (पेरिपोइतिखीस अर्थात पोएटिक्स १४४७ बी) में स्पष्ट रूपसे गद्य और कवितामें अन्तर समझाया है। होरेसके समयतक यह अन्तर और भी अधिक स्पष्ट हो गया था क्योंकि उसने सिसरोकी षट्पदियोंको पद्यानुबद्ध गद्य ही माना था। योरोपके जागरणके पश्चात् यह भेद अधिक स्पष्ट हो गया। दुवेले. रोमस, और सिडनीने कहा है कि काव्यके लिये पद्य तो कारण नहीं वरन् केवल अलंकार मात्र है। जौन्सनने कहा है कि कवि और तुक्कड़ दो अलग अलग वस्तुएँ है। पद्यमें लिखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं, वह तो बेचारा कवितासे पेट पालनेवाला होता है। वर्ड्सवर्थने प्रिफेसमें कहा है कि काव्यका उलटा छन्दहीन शब्द नहीं होता वरन् विज्ञान या तथ्य होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कविता और गद्यमें उनके रूपका नहीं वरन् सामग्रीका विभेद है। सर पी० हार्टोगने इसपर टिप्पणी करते हुए अपने 'कविता और पद्यका संबंध' (औन दि रिलेशन औफ पोएट्री टु प्रोज) में कहा है कि "काव्यमें एक विशेष अर्थ या भाव-सामग्री होनी चाहिए जो पद्यमें नहीं प्राप्त हो सकती"। इतना सब शास्त्रार्थ होनेपर भी कविता और पद्य दोनों समानार्थी शब्द माने जाते हैं। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो लोग पद्यको कवितासे भिन्न मानते हैं वे भी यह अवश्य स्वीकारते हैं कि सम्पूर्ण कविता पद्यमें ही लिखी जानी चाहिए और यह बात हेगेल जैसे दार्शनिक और आर्नोल्ड जैसे आलोचकने मानी है।

अरस्तू ने कहीं भी खुलकर काव्यकी परिभाषा नहीं बताई है। उसने अपने काव्यशास्त्रमें कविताको जो अनुकरण बताया है वह नाटक या प्रबन्ध काव्यके लिये ठीक हो सकता है पर भावात्मक मुक्तकको या गीतको अनुकरण कैसे माना जा सकता है। पीछे स्टोइकोंने अनुकरण और काव्यको एक ही मान लिया और सोलहवीं शताब्दीमें इतालवियोंने इसी विचारको प्रोत्साहन दिया। इसका तात्पर्य यह है कि कविता भी फिक्शन या कल्पित वस्तु है और विचित्र बात यह है कि योरोपीय काव्यसिद्धान्तशास्त्रमें कविताको अधिकांश कल्पना ही मानते हैं। फिल्लेमन हालेनने 'जेक्स ला मांत' का अनुवाद करते हुए कहा है कि कविता तो मिथ्या कथाओंको गढ़ने और खोज निकालनेका कौशल है। जौन्सनने भी कहा है कि जो छन्दमें लिखता है वही कवि नहीं है वरन् कवि वही है जो मिथ्या कहानी बनावे और गढ़े क्योंकि कहानी और कल्पना ये तो किसी भी काव्यग्रन्थ या कविताके शरीर और आत्मा है। मार्स्टनने भी यही पूछा है "बताओ तो आलोचक महोदय, क्या काव्यका आत्मा कल्पना नहीं है?" दोनने अपने 'सर्मन्स' में कहा है "कविता तो झूठी रचना है क्योंकि वह अस्तित्वहीन वस्तुओंको ऐसे उपस्थित करती है मानो उनका अस्तित्व हो।" ड्रायडनने भी अपने निबन्धों (ऐस्सेज़) में कहा है "कल्पना कविताका तत्त्व है।" इस युगमें भी एफ० सी० प्रेस्कौटने अपने 'दि पोएटिक माइण्ड' में कहा है—"तो कविता गद्यमें भी उपस्थित हो सकती है और पद्यमें भी। उसका तत्त्व है मिथ्या गाथा (मिथ), कल्पना (फिक्शन), या काव्य (पोएट्री); तीनों एक ही बात है।"

होरेसने कविताको गद्यसे भिन्न बताते समय कल्पना या अनुकरणकी बात नहीं सोची थी। होरेसके अनुसार यह भेद उनकी भाषणकला, वाग्धारा या भव्य-शैलीकी है। उसके अनुसार कविमें यह शक्ति होनी चाहिए कि वह उत्तेजित कर सके और उसकी भव्यताका प्रभाव पड़े। मध्यकालमें यह समझा जाता था कि कविताकी विशेषता यही है कि उसकी भाषा असाधारण रूपसे आलङ्कारिक और भव्य हो। तेरहवीं शताब्दीके व्यूवेके विंसेंटने कविताकी एक विचित्र परिभाषा बनाई है, जिसमें कहा गया है—"कविता वह काल्पनिक वस्तु है जो अलंकारों तथा भाषाके अन्य उदात्त सौन्दर्योंसे आकर्षक बन गई हो।" उसी समयके लगभग दाँतेने कविताको संगीतमय आलंकारिक कल्पना बताया था। यह अलंकारका रोग ऐसा लगा कि पीछेके कवि लोग अलंकारशास्त्री ही कहलाए जाने लगे। मैथ्यू आर्नोल्डने कविताके विषयमें कहा है—"कविताके दो कार्य हैं; एक तो मनुष्यके विचारों और भावोंके कोषोंको अभिवर्धित करे और दूसरे मस्तिष्कको एक नियमित भावके साथ अनेक अन्तःकथाओंके साथ और भव्यशैलीसे संयत और विकसित करे।"

इधर जबसे मनोविज्ञानकी चर्चा चारों ओर होनेलगी

है तबसे कविताके पीछे रचयिताकी मानसिक गतियों या कल्पनाओंको समझनेकी समस्या उठ खड़ी हुई है। आजकल काव्यकी प्रकृतिके सम्बन्धमें तीन विचार अधिक प्रचलित हैं। कुछ लोग कविताको 'अभिव्यक्तिकी क्रिया' मानते हैं। इनमें क्रोचे जैसे कुछ लोग कविता और अभिव्यक्तिको एक ही मानते हैं। उनका कहना है कि कोई वाणी वहाँतक कवितामयी है जहाँतक वह अभिव्यक्तिशील है किन्तु यह सिद्धान्त अभिव्यक्तिके सिद्धान्तमें इतने घुलमिल गए हैं कि वास्तवमें यह भेद अभिव्यक्तिकी क्रियाका नहीं है वरन् जो अभिव्यक्त किया जा रहा है (कल्पना भाव आदि) उसकी प्रकृतिका है। दूसरे दलका यह विचार है कि कविताकी क्रिया भाववहनकी क्रिया है। पर गद्य भी भाववहनका ही काम करता है। अतः ये दोनों क्रियामें भेद न बताकर वहनीय वस्तु (अनुभव, भाव या ज्ञान) की प्रकृतिमें ही भेद स्थापित करते हैं। उनके अनुसार गद्य बड़े रूखे और बिना सौन्दर्यके भावको व्यक्त करता है किन्तु कवितामें यह अभिव्यक्ति या भाववहन बड़ा मार्मिक, संक्षिप्त और अधिक भावपूर्ण होता है जिसके कारण कविता गद्यकी अपेक्षा अधिक भाववहन कर सकती है। तीसरे विचारवालोंका कहना है कि काव्यकी क्रिया केवल एक वस्तु अर्थात् कविताका बनाना मात्र है। इस विचारके अन्तर्गत अभिव्यक्तिकी संभावना और भाववहनकी भावना भी निहित है किन्तु इन सिद्धान्तोंमें उसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया है। ये लोग भावकी अपेक्षा उन बातोंको अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं जो कविता-निर्माणमें आवश्यक होते हैं।

काव्यकी क्रियाके सम्बन्धमें जो भी विचार हों और भावोंको कितना भी महत्त्व दिया जाता हो पर आजके [illegible] यह समझते हैं कि काव्यमें व्यक्त किए हुए भावोंकी प्रकृति [illegible] किए हुए भावोंसे भिन्न है। [illegible] ([illegible]) के सम्बन्धमें [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ऐसा भाव उपस्थित करे जिससे यह गंध ही न निकले कि वह कोई ज्ञानबोध करा रही है या वह व्यावहारिक जीवनसे सम्बद्ध है। १९वीं शताब्दीमें काव्यगत भाव वही समझा गया जो भावात्मक या व्यापक होनेकी अपेक्षा प्रत्यक्ष और विशिष्ट हो। बहुतसे लोग इससे असहमत हैं, फिर भी भावना यही है। आजकल काव्यके सम्बन्धमें जो शास्त्रार्थ हो रहे हैं उसमें कल्पनाकी बात कम सुनाई पड़ती है किन्तु १६ वीं शताब्दीमें कल्पनाको ही काव्यका प्रधान तत्त्व माना जाता था जिससे ज्ञानकी प्राप्ति और उसका समझना संभव होता था। आजकलके प्रायः सभी आलोचक वर्ड्सवर्थके समान काव्यका उलटा विज्ञान ही मानते हैं।

❀ सायासानायासौ काव्यम् ॥

[अनायास सायास काव्यके होते हैं दो रूप।]

कविकी वाणी दो प्रकारसे व्यक्त होती है— एक अनायास अर्थात् बिना किसी प्रकारके बौद्धिक या मानसिक प्रयत्नके जैसे भगवान् प्राचेतसके मुखसे क्रौंचमिथुनका वध करनेवाले निषादके प्रति "मा निषाद" वाली उक्ति सहसा फूट उठी थी और जिसके लिये कहा गया है 'शोकः श्लोकत्वमागतः' अर्थात् शोक ही श्लोक बनकर निकला; यही अनायास, स्वाभाविक, नैसर्गिक, स्वयंव्यक्त कविता है। केवल भावात्मक मुक्तक अथवा तन्मयतायुक्त गीत ही इस श्रेणीकी सात्त्विक रचनाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त प्रबन्धकाव्य, गद्यकाव्य, उपन्यास, नाटक तथा निबन्ध इत्यादि जितने साहित्यिक रूप हैं सब सायास होते हैं; क्योंकि उनमें कवि अपनी बुद्धि तथा कल्पना इत्यादिसे गढ़कर कृत्रिम कला-पूर्ण रचनाका कौशल प्रकट करता है। ये सब रचनाएँ अस्वाभाविक होते हुए भी कवि-कौशलके कारण स्वाभाविक-सी प्रतीत होती हैं। इन्हींमें जो काव्य-कौशलसे हीन होती हैं वे लोकप्रिय नहीं हो पातीं और जिनमें कवि लोक-रुचिका और लोकाकांक्षाकी तृप्ति करनेके साधन उपस्थित करते हैं वे लोकप्रिय और लोकप्रसिद्ध हो जाती हैं। ऐसे काव्य सायास और मनोहर होते हैं। इनके विपरीत जो अनायास या स्वाभाविक काव्य होते हैं वे "स्वान्तः सुखाय" या कविके अपने मनस्तोषके लिये रचे जाते हैं और वे ही सात्त्विक तथा श्रेष्ठतर काव्य हैं।

सम्भवतः बहुतसे प्रबन्ध-काव्योंमें 'स्वान्तः सुखाय" की वृत्तिके साथ-साथ लोक-कल्याणकी भावना भी हो सकती है जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानसमें। किन्तु नाटक, काव्यका वह रूप है जो कभी "स्वान्तः सुखाय" हो नहीं सकता, क्योंकि वह दृश्य है, उसका प्रयोजन ही है दूसरोंके सम्मुख दिखाया जाना। अतः नाटक सोद्देश्य होता है और सायास होता है। उसमें नाटककारको केवल कथा-कौशल और काव्य-कौशल दिखानेसे ही मुक्ति नहीं मिलती वरन् उसे पात्रयोजना, व्यापार-योजना, संवादयोजना, संगीतयोजना सबके लिये विशेष आयास करना पड़ता है और सदा सामाजिक, अभिनेता, नाट्यप्रयोक्ता और रंग-शालाका ध्यान रखकर रचनाकार्य करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' और यही कारण है कि संसारमें निबन्ध, उपन्यास, कविता और कहानीके लेखक तो बहुत हुए पर नाटककार बहुत कम।

नाटकमें जहाँतक भाषा-योजनाका सम्बन्ध है हम पीछे भी कह आए हैं कि भाषाका प्रयोग संवादमें होता है और रंग-निर्देशमें। संवादमें गद्य, पद्य और गीत सबका काव्यात्मक प्रयोग हो सकता है किन्तु रंग-निर्देश और नाट्यनिर्देश अत्यन्त सरल, स्पष्ट और सर्व-बोध होने चाहिएँ कि उसमें किसी प्रकारके दूसरे अर्थका अवसर ही न हो। इसीलिये अभिनवभरतका मत है कि शब्द और अर्थमें काव्यत्व मानना भूल है। पूरे प्रबन्धकी सरसता ही काव्यत्व है क्योंकि नाटकमें केवल शब्द और अर्थ ही प्रधान नहीं होते वरन् व्यापार या कार्यका भी महत्त्व होता है अतः काव्यकी परिभाषा यही होगी कि आदि से अन्ततक जिस रचनामें शब्द, अर्थ, घटना सबका सरस गुम्फन हो वही रचना काव्य कहला सकती है। यह सरस गुम्फन वाग्वैदग्ध्य, व्यापार तथा पात्रयोजनाके अद्भुत सन्निवेशपर निर्भर है और उसी सन्निवेशका ज्ञान नाट्य-कौशल कहलाता है।

इसी परिभाषाके अनुसार नाटकीय काव्य या रूपक काव्यकी परिभाषा होगी—नाटकमें आए हुए पात्रोंकी अवस्था, मनः स्थिति, परिस्थिति, पद तथा सम्बोध्य व्यक्तिकी अवस्थाके अनुकूल ऐसे उचित शब्दों तथा वाक्योंसे युक्त लोक-बोध-गम्य संवाद तथा रंगनिर्देशसे युक्त रचनाको नाट्यकाव्य कहते हैं जिसका यदि उचित अभिनय किया जाय तो नाट्यकार-द्वारा निर्दिष्ट रसका आस्वादन दर्शक कर सकें। हम पीछे परिभाषा प्रकरणमें इसकी विस्तृत मीमांसा कर आए हैं।

आचार्योंने उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकारके काव्य माने हैं। मम्मट कहता है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः।

[जहाँ वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थमें अधिक चमत्कार हो उस काव्यको ध्वनि कहते हैं और वह उत्तम होता है।]

अतादृशि गुणीभूत व्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्।

[मध्यमकाव्य वह है जहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान न हो अर्थात् गौण हो, जहाँ वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यंग्यार्थमें कोई अधिक चमत्कार न हो या बराबर अथवा कम चमत्कार हो। इस प्रकारके काव्यको जहाँ व्यंग्यार्थ गौण या अप्रधान होता है उसे गुणीभूत व्यंग कहते हैं।]

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।

[जहाँ शब्द और अर्थमें ही चमत्कार हो उसे अधम काव्य माना जाता है। यही शब्द और वाच्यका चमत्कार अलङ्कार भी कहलाता है।]

❀ नेत्यभिनवभरतः।

[अभिनवभरत नहीं सहमत हैं।]

अभिनवभरतका मत है कि काव्यकी श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता उसके वाच्यार्थ या व्यंग्यार्थपर अवलम्बित नहीं होती। वह उसकी सरसतापर ही अवलम्बित है। यदि शब्द-चित्र और वाच्य-चित्र ही समान रूपसे लोकको प्रभावित करते हुए और कविके इष्ट प्रभावसे प्रभावित होते हों तो वही श्रेष्ठ काव्य है और यदि व्यंग्यार्थसे भरा हुआ कोई काव्य लोकको आकृष्ट न कर सके और दुर्बोध हो तो वह काव्य अधम ही समझना चाहिए। कालिदासने कहा है "नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्" अर्थात् भिन्नरुचिवाले अनेक लोगोंका जो समान रूपसे मनोरञ्जन करनेवाला है वही नाट्यकी ठीक कसौटी है और जिसे हम ऊपर "प्रबन्धसारल्यम् काव्यत्वम्' के सूत्रमें निर्दिष्ट भी कर आए हैं। राजशेखरने भी इसी बातका समर्थन किया है कि उन सारस्वत कवियोंकी ही रचना सर्वश्रेष्ठ होती है जिनका समान रूपसे हलवाहेकी

कुटियोंसे लेकर राजप्रासादोंतक आदर होता हो। जिन रचनाओंमें यह गुण नहीं उनको अधम ही नहीं, व्यर्थ काव्य कहना चाहिए। श्रेष्ठ काव्यका रूप निर्धारित कर लेनेपर शब्द और अर्थकी विवेचना करना आवश्यक है।

शब्द तीन प्रकारके

※ रूढयौगिकयोगरूढशब्दाः ॥

[रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ी, शब्द तीन प्रकारके है।]

आचार्योंने काव्यमें तीन प्रकारके शब्द माने हैं—१ वाचक, २ लक्षक या लाक्षणिक, ३ व्यञ्जक। वाचक शब्दोंके अर्थ वाच्यार्थ कहलाते हैं। लक्षक या लाक्षणिक शब्दोंके अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाते हैं और व्यञ्जक शब्दोंके अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाते हैं। अभिधा शक्तिसे वाच्यार्थ प्रकट होता है, लक्षणा शक्तिसे लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना शक्तिसे व्यंग्यार्थ। अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके व्यापार अथवा क्रियाके द्वारा शब्दोंसे अर्थका बोध होता है। ये तीनों शब्दकी शक्ति या वृत्ति भी कहलाती हैं।

शब्द और वाक्य

चन्द्रालोककारने कहा है—

विभक्त्युत्पत्तये योगः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥

[विभक्ति और उसकी उत्पत्ति इन दोनोंके मेलसे जो शब्द बनता है वही शास्त्रीय शब्द कहलाता है।]

ये शब्द तीन प्रकारके माने गए हैं—(१) रूढ़, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़। इनके भी तीन तीन उपभेद किए गए हैं, जैसे रूढ़ शब्द अव्यक्तयोग भी हो सकता है जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति छिपी रहती है, जैसे वृक्ष। दूसरा निर्योग, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति नहीं होती, स्वयं व्यक्त होता है जैसे भू। तीसरा योगाभास, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति दोनोंकी छाया हो जैसे मंडप।

यौगिक शब्दके भी तीन भेद माने गए हैं—शुद्ध यौगिक, यौगिकमूल और संभिन्नयौगिक। जैसे भ्रान्तिशब्द शुद्ध यौगिक है, स्फुरत्कान्ति यौगिकमूल है और कौन्तेय संभिन्नयौगिक है।

योगरूढके भी तीन भेद हैं—सामान्य, विशेष और मिश्र। जैसे नीरधि शब्द सामान्य योगरूढ शब्द है, पंकज विशेष योगरूढ़ शब्द है और सागर, भूरुह आदि मिश्र हैं। क्षीरसागर, आकाशपंकज आदि सामासिक शब्द भी इसीसे बन जाते हैं।

कूट शब्द

※कूटोविशेषः। सांकेतिक-काकुध्वनिक-वाक्य व्यंजकाश्च।

[कूट शब्द भी एक प्रकार। सांकेतिक, काकुध्वनि बोधक, वाक्य व्यञ्जना करनेवाला।]

अभिनवभरतका मत है कि इन तीन प्रकारके शब्दोंके अतिरिक्त एक और प्रकारके शब्द होते हैं जिन्हें कूट शब्द कहते हैं और जिनका प्रयोग अन्य काव्यरूपोंमें तो नहीं किन्तु नाटकमें उसका प्रयोग अवश्य हो सकता है। राजनीति और विशिष्ट व्यापारोंमें लोग कुछ अपने व्यवसायके लोगोंमें समझने समझानेके लिये एक शब्दावलि बना लेते हैं जैसे दलाल और पंडे कुछ सांकेतिक शब्द चलाते हैं। लाक्षागृहमें विदुरजीने युधिष्ठिरको जिस भाषामें समझाया था वह भी कोई कूट भाषा ही थी। बहुतसे लोग अपने परस्पर वार्तालापके लिये भी शब्दोंका हेरफेर करके या घटा-बढ़ाकर या किसी विशेष अक्षरको लगाकर शब्द-विकृति कर लेते हैं।

काशीके दलाल रुपयेमें टका दलालीके लिये झब्जी, एक आनेके लिये खरे, दो आनेके लिये मंगल और डेढ़ आनेके लिये ब्यौहार कहते हैं। वे लोग दलालको गाउल कहते हैं।

इसी प्रकार काशीके पंडोंमें एक रुपएको साँग, डेढ़को विड्डी, दो को जेवर, तीनको सिंघाड़ा, चारको फोक और पाँचको हत्थू कहते हैं। वे अपने यजमानके सामने ही अपने किसी गणको समझाते हुए कहेंगे—हत्थूकऽ डौल रहे (अर्थात् इससे पाँच रुपयाले लेना।)

पर इनसे विचित्र है काशीके भड्डरों (यात्रियोंको दर्शन करानेवाले पंडों) का भाषा-व्यवहार। उन्होंने संज्ञा और क्रियापदोंके कुछ अपने कूट शब्द बना लिए हैं जैसे मदिराके लिये लेख, पुरुषके लिये कजा, स्त्रीके लिये कूची, बच्चेके लिये पन्हाँ और पुलिसके सिपाहीके लिये खोटर। यदि इन्हें कहना होगा—'एक पैसेका पान ले आओ तो कहेंगे—रघा वरीकऽ बरंगा बेलहले आवऽ।

इसी प्रकार 'यात्री बैठा है' कहनेके लिये ये कहेंगे—माँझी ठिलल हौ। परस्पर बातचीतके लिये जिस प्रकारकी शब्दावली बना ली जाती है उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

अफ़ुस्का नफ़ाम क्यफ़ा हफ़ै = उसका नाम क्या है।

सुअका मान मवारसी साद है = उसका नाम बनारसीदास है।

चआचइचए = आइए।

नाटकमें जहाँ कोई राजनीतिक षड्यन्त्र या गुप्त बात इस प्रकार दिखानी हो कि रंगपीठके अन्य लोग न समझ पावें वहाँ ऐसे कूट शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु आगे चलकर उनका अर्थ इस ढंगसे खोल भी देना चाहिए कि दर्शकोंके लिये वे कूट न रहें।

इसका तात्पर्य यह है कि साहित्यमें जो शब्द रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ प्रचलित हैं उनके अतिरिक्त भी लोग अपने प्रयोजनानुसार या तो नये शब्द गढ़ लेते हैं या पुराने शब्दोंमें ही नये अर्थोंका आरोप कर उनका इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि इष्टसंबोध्यके अतिरिक्त दूसरा उसे न समझ पावे। नाटकमें इस प्रकारके शब्दके प्रयोगमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी न किसी प्रकार दर्शकोंको उसका अर्थ प्रकट हो जाय।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो पूरे वाक्यकी ध्वनि व्यक्त करते हैं। एक साधारण शब्द ले लीजिए 'हाँ'। इस 'हाँ' को काकुकी अनेक ध्वनियोंसे हम विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त कर सकते हैं। साधारणतः हाँ शब्द स्वीकारोक्तिका बोधक है, किन्तु किसीका गुप्त रहस्य जान लेनेपर इसी हाँको स्वरित कर यह अर्थ निकाला जा सकता है कि 'मैं तुम्हारा सब रहस्य समझता हूँ। मुझसे क्या छिपा रहे हो?' इसी हाँको किसी अप्रत्याशित घटनाके उत्तरमें आश्चर्यकी मुद्रा साधकर इस अर्थमें व्यक्त किया जा सकता है कि 'मुझे यह आशा न थी कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य कर सकेगा।' इसी प्रकार यह प्रश्नवाचक, उपेक्षासूचक, उत्सुकता-निर्देशक और उपालंभ व्यंजक हो सकता है। इस प्रकारके शब्दोंमें हाँ, ना, अच्छा, क्या, क्यों, ऐसा, कैसे, कब, तब, नहीं, तो आदि सम्मिलित हैं। कभी कभी एक शब्द ही अर्थात् कोई संज्ञा या क्रिया ही एक वाक्यका अर्थ दे देता है जैसे यह पूछने पर—"क्या तुम काशी गए थे?" उत्तर मिला "गया था।" इस गया था का वाक्यरूप यह होगा हाँ, मैं काशी गया था। इसी प्रकार यह पूछने पर कि—हरद्वार कौन गया है? उत्तर मिलता है 'गोविन्द' जिसका तात्पर्य यह है कि गोविन्द हरद्वार गया है। नाटककी दृष्टिसे ऐसे शब्दवाक्योंका बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि वहाँ प्रायः एकशब्दीय वाक्य अधिक होते हैं और स्वाभाविकताकी दृष्टिसे एकशब्दीय वाक्य ही शुद्ध और स्वाभाविक होते हैं। अतः रूढ़ियौगिक और योगरूढ़िशब्दोंके अतिरिक्त सांकेतिक काकुध्वनिक और वाक्यव्यंजक तीन और भी प्रकारके शब्द होते हैं जो प्रश्न या उत्तरमें पूरे प्रश्न या पूरे उत्तरका स्पष्ट और निश्चित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

शब्दशक्ति

❀ शक्तिस्त्रिधाऽभिधालक्षणाव्यञ्जना च ॥

[अभिधा, लक्षणा जानो व्यञ्जना तीन शक्तियाँ।]

आचार्योंने यह माना है कि शब्द तीन प्रकारके होते हैं वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इन तीन प्रकारके शब्दोंसे जो अर्थ निकलते हैं वे क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ कहलाते हैं। जिस शक्तिसे वाचक शब्दका वाच्यार्थ प्रकट होता है उसे अभिधा कहते हैं, लक्षक शब्दका लक्ष्यार्थ जिस शक्तिसे व्यक्त होता है उसे लक्षणा और जिस शक्तिसे व्यञ्जक शब्दका व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। अर्थात् कोई भी अर्थ जब हम खोजते हैं तो शब्दसे खोजते हैं अतः शब्द तो कारण है और अभिधा, लक्षणा या व्यंजनाशक्ति वह क्रिया या व्यापार है जिसके द्वारा अर्थ प्रकट होता है।

अभिधाशक्ति और वाचक शब्द

❀ प्रत्यक्षेङ्गितार्थसूचको वाचकः ॥

[जो प्रत्यक्ष अर्थ इंगित हो उसका सूचक वाचक शब्द।]

बहुतसे शब्द ऐसे होते हैं जिनको सुनते ही उनका एक ऐसा स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाता है जिसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका सन्देह या वितर्क नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष किया हुआ संकेत कई कारणोंसे जैसे व्यवहार, प्रसिद्ध शब्दका साहचर्य, आप्तवाक्य, उपमान और

कुटियोंसे लेकर राजप्रासादोंतक आदर होता हो। जिन रचनाओंमें यह गुण नहीं उनको अधम ही नहीं, व्यर्थ काव्य कहना चाहिए। श्रेष्ठ काव्यका रूप निर्धारित कर लेनेपर शब्द और अर्थकी विवेचना करना आवश्यक है।

शब्द तीन प्रकारके

❀ रूढयौगिकयोगरूढशब्दाः ॥

[रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ी, शब्द तीन प्रकारके हैं।]

आचार्योंने काव्यमें तीन प्रकारके शब्द माने हैं—१ वाचक, २ लक्षक या लाक्षणिक, ३ व्यञ्जक। वाचक शब्दोंके अर्थ वाच्यार्थ कहलाते हैं। लक्षक या लाक्षणिक शब्दोंके अर्थ लक्ष्यार्थ कहलाते हैं और व्यञ्जक शब्दोंके अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाते हैं। अभिधा शक्तिसे वाच्यार्थ प्रकट होता है, लक्षणा शक्तिसे लक्ष्यार्थ और व्यञ्जना शक्तिसे व्यंग्यार्थ। अर्थात् अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके व्यापार अथवा क्रियाके द्वारा शब्दोंसे अर्थका बोध होता है। ये तीनों शब्दकी शक्ति या वृत्ति भी कहलाती हैं।

शब्द और वाक्य

चन्द्रालोककारने कहा है—

विभक्त्युत्पत्तये योगः शास्त्रीयः शब्द इष्यते।
रूढयौगिकतन्मिश्रैः प्रभेदैः स पुनस्त्रिधा ॥

[विभक्ति और उसकी उत्पत्ति इन दोनोंके मेलसे जो शब्द बनता है वही शास्त्रीय शब्द कहलाता है।]

ये शब्द तीन प्रकारके माने गए हैं—(१) रूढ़, (२) यौगिक और (३) योगरूढ़। इनके भी तीन तीन उपभेद किए गए हैं, जैसे रूढ़ शब्द अव्यक्तयोग भी हो सकता है जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति छिपी रहती है, जैसे वृक्ष। दूसरा निर्योग, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति नहीं होती, स्वयं व्यक्त होता है जैसे भू। तीसरा योगाभास, जिसमें विभक्ति और उत्पत्ति दोनोंकी छाया हो जैसे मंडप।

यौगिक शब्दके भी तीन भेद माने गए हैं—शुद्ध यौगिक, यौगिकमूल और संभिन्नयौगिक। जैसे भ्रान्तिशब्द शुद्ध यौगिक है, स्फुरत्कान्ति यौगिकमूल है और कौन्तेय संभिन्नयौगिक है।

योगरूढके भी तीन भेद हैं—सामान्य, विशेष और मिश्र। जैसे नीरधि शब्द सामान्य योगरूढ शब्द है, पंकज विशेष योगरूढ़ शब्द है और सागर, भूरुह आदि मिश्र हैं। क्षीरसागर, आकाशपंकज आदि सामासिक शब्द भी इसीसे बन जाते हैं।

कूट शब्द

*कूटोविशेषः। सांकेतिक-काकुध्वनिक-वाक्य व्यंजकाश्च।

[कूट शब्द भी एक प्रकार। सांकेतिक, काकुध्वनि बोधक, वाक्य व्यञ्जना करनेवाला।]

अभिनवभरतका मत है कि इन तीन प्रकारके शब्दोंके अतिरिक्त एक और प्रकारके शब्द होते हैं जिन्हें कूट शब्द कहते हैं और जिनका प्रयोग अन्य काव्यरूपोंमें तो नहीं किन्तु नाटकमें उसका प्रयोग अवश्य हो सकता है। राजनीति और विशिष्ट व्यापारोंमें लोग कुछ अपने व्यवसायके लोगोंमें समझने समझानेके लिये एक शब्दावलि बना लेते हैं जैसे दलाल और पंडे कुछ सांकेतिक शब्द चलाते हैं। लाक्षागृहमें विदुरजीने युधिष्ठिरको जिस भाषामें समझाया था वह भी कोई कूट भाषा ही थी। बहुतसे लोग अपने परस्पर वार्तालापके लिये भी शब्दोंका हेरफेर करके या घटा-बढ़ाकर या किसी विशेष अक्षरको लगाकर शब्द-विकृति कर लेते हैं।

काशीके दलाल रुपयेमें टका दलालीके लिये झज्जी, एक आनेके लिये खरे, दो आनेके लिये मंगल और डेढ़ आनेके लिये व्यौहार कहते हैं। वे लोग दलालको गाउल कहते हैं।

इसी प्रकार काशीके पंडोंमें एक रुपएको साँग, डेढ़को त्रिड्डी, दो को जेवर, तीनको सिंघाड़ा, चारको फोक और पाँचको हत्थू कहते हैं। वे अपने यजमानके सामने ही अपने किसी गणको समझाते हुए कहेंगे—हत्थूकऽ डौल रहे (अर्थात् इससे पाँच रुपयाले लेना।)

पर इनसे विचित्र है काशीके भड्डरों (यात्रियोंको दर्शन करानेवाले पंडों) का भाषा-व्यवहार। उन्होंने संज्ञा और क्रियापदोंके कुछ अपने कूट शब्द बना लिए हैं जैसे मदिराके लिये लेख, पुरुषके लिये कजा, स्त्रीके लिये कुत्री, बच्चेके लिये पन्हाँ और पुलिसके सिपाहीके लिये खोटर। यदि इन्हें कहना होगा—'एक पैसेका पान ले आओ' तो कहेंगे—रवा बरीकऽ बरँगा बेलहले आवऽ।

इसी प्रकार 'यात्री बैठा है' कहनेके लिये ये कहेंगे—माँझी ठिलल हौ। परस्पर बातचीतके लिये जिस प्रकारकी शब्दावली बना ली जाती है उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

अफ़ुस्का नफ़ाम. क्यफ़ा हफ़ै = उसका नाम क्या है।
सुअका मान मबारसी साद है = उसका नाम बनारसी-दास है।
चआचइचए = आइए।

नाटकमें जहाँ कोई राजनीतिक षडयन्त्र या गुप्त बात इस प्रकार दिखानी हो कि रंगपींठके अन्य लोग न समझ पावें वहाँ ऐसे कूट शब्दोंका प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु आगे चलकर उनका अर्थ इस ढंगसे खोल भी देना चाहिए कि दर्शकोंके लिये वे कूट न रहें।

इसका तात्पर्य यह है कि साहित्यमें जो शब्द रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ प्रचलित हैं उनके अतिरिक्त भी लोग अपने प्रयोजनानुसार या तो नये शब्द गढ़ लेते हैं या पुराने शब्दोंमें ही नये अर्थोंका आरोप कर उनका इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि इष्टसंबोध्यके अतिरिक्त दूसरा उसे न समझ पावे। नाटकमें इस प्रकारके शब्दके प्रयोगमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी न किसी प्रकार दर्शकोंको उसका अर्थ प्रकट हो जाय।

कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो पूरे वाक्यकी ध्वनि व्यक्त करते हैं। एक साधारण शब्द ले लीजिए 'हाँ'। इस हाँ' को काकुकी अनेक ध्वनियोंसे हम विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त कर सकते हैं। साधारणतः हाँ शब्द स्वीकारोक्तिका बोधक है, किन्तु किसीका गुप्त रहस्य जान लेनेपर इसी हाँको स्वरित कर यह अर्थ निकाला जा सकता है कि 'मैं तुम्हारा सब रहस्य समझता हूँ। मुझसे क्या छिपा रहे हो?' इसी हाँको किसी अप्रत्याशित घटनाके उत्तरमें आश्चर्यकी मुद्रा साधकर इस अर्थमें व्यक्त किया जा सकता है कि 'मुझे यह आशा न थी कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य कर सकेगा।' इसी प्रकार यह प्रश्नवाचक, उपेक्षासूचक, उत्सुकता-निर्देशक और उपालंभ व्यंजक हो सकता है। इस प्रकारके शब्दोंमें हाँ, ना, अच्छा, क्या, क्यों, ऐसा, कैसे, कब, तब, नहीं, तो आदि सम्मिलित हैं। कभी कभी एक शब्द ही अर्थात् कोई संज्ञा या क्रिया ही एक वाक्यका अर्थ दे देता है जैसे यह पूछने पर—"क्या तुम काशी गए थे?" उत्तर मिला "गया था।" इस गया था का वाक्यरूप यह होगा हाँ, मैं काशी गया था। इसी प्रकार यह पूछने पर कि—हरद्वार कौन गया है? उत्तर मिलता है 'गोविन्द' जिसका तात्पर्य यह है कि गोविन्द हरद्वार गया है। नाटककी दृष्टिसे ऐसे शब्दवाक्योंका बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि वहाँ प्रायः एकशब्दीय वाक्य अधिक होते हैं और स्वाभाविकताकी दृष्टिसे एकशब्दीय वाक्य ही शुद्ध और स्वाभाविक होते हैं। अतः रूढ़ियौगिक और योगरूढ़िशब्दोंके अतिरिक्त सांकेतिक काकुध्वनिक और वाक्यव्यंजक तीन और भी प्रकारके शब्द होते हैं जो प्रश्न या उत्तरमें पूरे प्रश्न या पूरे उत्तरका स्पष्ट और निश्चित प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

शब्दशक्ति

❀ शक्तिस्त्रिधाऽभिधालक्षणाव्यञ्जना च ॥

[अभिधा, लक्षणा जानो व्यञ्जना तीन शक्तियाँ।]

आचार्योंने यह माना है कि शब्द तीन प्रकारके होते हैं वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इन तीन प्रकारके शब्दोंसे जो अर्थ निकलते हैं वे क्रमशः वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकहलाते हैं। जिस शक्तिसे वाचक शब्दका वाच्यार्थ प्रकट होता है उसे अभिधा कहते हैं, लक्षक शब्दका लक्ष्यार्थ जिस शक्तिसे व्यक्त होता है उसे लक्षणा और जिस शक्तिसे व्यञ्जक शब्दका व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। अर्थात् कोई भी अर्थ जब हम खोजते हैं तो शब्दसे खोजते हैं अतः शब्द तो कारण है और अभिधा, लक्षणा या व्यंजनाशक्ति वह क्रिया या व्यापार है जिसके द्वारा अर्थ प्रकट होता है।

अभिधाशक्ति और वाचक शब्द

❀ प्रत्यक्षेङ्गितार्थसूचको वाचकः ॥

[जो प्रत्यक्ष अर्थ इंगित हो उसका सूचक वाचक शब्द।]

बहुतसे शब्द ऐसे होते हैं जिनको सुनते ही उनका एक ऐसा स्पष्ट अर्थ ज्ञात हो जाता है जिसके सम्बन्धमें किसी प्रकारका सन्देह या वितर्क नहीं होता। ऐसा प्रत्यक्ष किया हुआ संकेत कई कारणोंसे जैसे व्यवहार, प्रसिद्ध शब्दका साहचर्य, आप्तवाक्य, उपमान और

और व्याकरण आदिसे ग्रहण किया जाता है। जैसे हम कहें कि 'लेखनी लाओ' तो हमने जिस वस्तुकी ओर संकेत करके कहा है उसका ठीक नाम पहले न जाननेवाला भी उस व्यवहारसे जान जायगा कि यह लेखनी है। इसे व्यवहार-संकेत कहते हैं। जब हम सुनते हैं कि राम-के अनुजने कंसको पछाड़ डाला तो हम प्रसिद्ध शब्द कंस' के साहचर्यसे रामका अर्थ बलराम और रामके अनुजका अर्थ कृष्ण ही लगावेंगे, लक्ष्मण नहीं। कभी कभी हम एक वस्तुको नहीं जानते हैं और उस वस्तुकी विद्यासे सम्बन्ध रखनेवाला आचार्य कहता है—यह वीणा है, यह सितार है, यह तानपूरा है तो हम आप्तवाक्यसे उन तीनों एक जैसे तारके यन्त्रोंके अलग-अलग नाम जान और मान लेते हैं। हमने वनमानुसका यही विवरण पढ़ा है कि उसके पूँछ नहीं होती, मनुष्य जैसा होता है पर बन्दरोंके समान पेड़ोंपर कूदता और झूलता है। जन्तुशालामें पहुँचकर हम तत्काल मनुष्यके जैसा वह जीव देखकर उपमानके द्वारा पहचान जाते हैं कि यह बनमानुस है। इसी प्रकार कुछ शब्द व्याकरणसे सिद्ध होते हैं जैसे भीष्मके लिये गांगेय (अर्थात् गंगाका पुत्र) नाम व्याकरणसे ही बनता है।

प्रत्येक वस्तुके धर्म या उसकी विशेषता (उपाधि) में ही ऐसे प्रत्यक्ष संकेत रहते हैं जो अर्थ प्रकट करनेवाले होते हैं। इन धर्म या विशेषताओंके अनुसार वाचक शब्द चार प्रकारके हुए—जातिवाचक जैसे वृक्ष, पशु, गौ आदि, गुणवाचक जैसे 'हरा वृक्ष' में हरा' शब्द, क्रियावाचक जैसे 'राम दौड़ता है' वाक्यमें रामकी क्रिया बताई गई है कि वह दौड़ता है और यदृच्छावाचक शब्द जैसे अपनी इच्छाके अनुसार किसीको मोहन, लक्ष्मण, भरत आदि नामसे संबोधित करना। कभी-कभी लोग गौ, कुत्ते या बिल्लीके भी कुछ नाम रख लेते हैं। ये सब नाम भी यदृच्छावाचक शब्द होते हैं।

ॐ वाचकार्थः वाच्यार्थः।

[वाचका अर्थ बना वाच्यार्थ।]

वाचक शब्दका जो अर्थ होता है वही वाच्यार्थ कहलाता है। इसीको मुख्यार्थ और अभिधेयार्थ कहते हैं क्योंकि अभिधा शक्तिसे यह अर्थ व्यक्त होता है।

अभिधा

ॐ निश्चितार्थविधायिनी शक्तिरभिधा।

[निश्चित अर्थ बनानेवाली शक्ति कहाती अभिधा]

शब्दोंके निश्चित अर्थोंके अनुसार जो अर्थ प्रकट होता है उस निश्चित अर्थात् मुख्य अर्थको प्रकट करनेवाली शक्तिको अभिधा शक्ति कहते हैं जैसे, फुलवारीमें केलेका एक वृक्ष है। इस वाक्यका कोई अन्य अर्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि इस वाक्यके सब शब्द अपने निश्चित या मुख्य अर्थ ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ यह मुख्य अर्थ शब्दोंकी अभिधा शक्तिसे प्रकट हुए हैं।

इसी अभिधा शक्तिसे जिन शब्दोंके अर्थ प्रकट होते हैं वे चार प्रकारके होते हैं—रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ और कूट। इन चारो प्रकारके शब्दों की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

लक्षणा

ॐ मुख्यार्थ भिन्नाभिन्नार्थसूचको लक्ष्यार्थः॥

[मुख्य अर्थसे भिन्न किन्तु सम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ।]

जब किसी शब्दका मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है और किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होनेसे या किसी विशेष प्रयोजनसे कोई दूसरा ऐसा अर्थ लगा दिया जाता है जो उसके मुख्य अर्थसे भिन्न होनेपर भी उससे कुछ सम्बन्ध रखता हो तो वहाँ जिस शक्तिसे यह दूसरा अर्थ लगाया जाता है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। जैसे यदि हम कहें—सारा देश व्याकुल है। इसमें यद्यपि देश व्याकुल होनेकी वस्तु नहीं किन्तु देशवासियोंके लिये देश कहनेकी रूढ़ि हो गई है। यहाँ देश व्याकुल है का अर्थ हुआ—सारे देशवासी व्याकुल हैं। अतः यहाँ रूढ़ा लक्षणा हुई।

जहाँ किसी प्रयोजनसे शब्दका मुख्य अर्थ छोड़कर उसका दूसरा अर्थ लगा लिया जाता है वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसके कई भेद हैं। पहले दो भेद हैं—शुद्धा और गौणी। फिर शुद्धाके उपादान, लक्षण, सारोपा और साध्यवसाना चार भेद हैं, और गौणीके दो भेद हैं सारोपा और साध्यवसाना।

१—उपादान-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थके साथ कोई दूसरा अर्थ भी लक्षित हो और दूसरेका गुण ग्रहण किया गया हो जैसे 'वहाँ गोली चल

रही थी' यहाँ गोलीमें चलनेका गुण नहीं, अतः यह दोष मिटानेके लिये 'मनुष्यने बन्दूकसे जो गोली छोड़ी है उस शक्तिसे गोली दूरतक आगे चलती है, इतने अर्थकी कल्पना करनी पड़ती है। साथ ही गोलीके चलनेकी क्रिया होती ही है यह मुख्य अर्थ भी साथ बँधा है।

२—*लक्षण-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा* वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ ही दिया जाता है जैसे 'वह ज्ञानवापी पर रहता है' वाक्यका अर्थ यह है कि 'वह ज्ञानवापीके चारों ओर बने हुए किसी भवनमें रहता है, ज्ञानवापी कूपके ऊपर नहीं।' यहाँ मुख्य अर्थ पूरा छोड़ दिया गया है, प्रयोजन इतना ही है कि स्थान ज्ञानवापीके निकट है।

३—*सारोपा-शुद्धा-प्रयोजनलक्षणा* वहाँ होती है जहाँ केवल कुछ थोड़ी सी समानताके कारण मुख्य अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ ले लिया जाता है जैसे 'तेरे ये नेत्र क्या हैं पैने बाण हैं।' यहाँ 'ये' शब्द नेत्रोंके लिये न आकर कटाक्षके लिये आया है।

४—*साध्यवसाना-शुद्धा-प्रयोजन-लक्षणा* वहाँ होती है जहाँ एक शब्दकी लक्षणा शक्ति और दूसरे शब्दकी अभिधा शक्तिसे निकले हुए अर्थमें समानता होनेपर भी दोनोंमेंसे एक अर्थात् विषय या उपमेय न दिया गया हो। कोई प्रेमी अपनी प्रेयसीसे मिलनेपर उससे कहता है 'तुमने मुझे अमृत पिला दिया'। यहाँ अमृत वाचक शब्द है जिसका लक्ष्यार्थ है प्रेयसीसे मिलना किन्तु यहाँ अमृत और प्रेयसीसे मिलना एक हो गया है। इसी सारोपा-लक्षणासे रूपक अलङ्कारकी उत्पत्ति होती है।

गौणी लक्षणा—जहाँ समानताके कारण लक्ष्यार्थ लिया जाता है वहाँ गौणी लक्षणा होती है। गौणीका अर्थ है गुण से संबंध रखने वाली; जैसे 'भुजदंड' शब्द लीजिए। यहाँ भुज और दंड दोनोंमें समान रूपसे शत्रुको पीड़ित करनेकी शक्ति है अतः इस गुणके कारण 'भुजा दंडके समान है' यह लक्ष्यार्थ ग्रहण किया गया।

गौणी शुद्धा लक्षणा—जहाँ किसी समान-संबंधके बिना किसी दूसरे ही संबंधसे दूसरा अर्थ ले लिया जाय वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। 'कुँएपर मेरा घर है' का अर्थ है कुँएके पास मेरा घर है। यहाँ सामीप्य-संबंधसे लक्ष्यार्थ ले लिया गया है। 'मैं विष्णुकी पूजा कर रहा हूँ' का अर्थ है 'मैं विष्णुकी मूर्तिकी पूजा कर रहा हूँ, यहाँ तादर्थ्य सम्बन्ध है क्योंकि विष्णुकी मूर्ति ही विष्णुकी स्थानापन्न मानी जाती है। 'मैंने अपने हाथसे पुस्तक लिखी है' का अर्थ है 'मैंने अपनी उँगलियोंसे लिखी है', किन्तु उँगलियों-का और हाथका अङ्गाङ्गि सम्बन्ध है इसलिये यहां अङ्गाङ्गि भावसे लक्ष्य अर्थ ग्रहण किया गया है। यदि ब्राह्मण न होने पर भी कोई वैश्य पौरोहित्यका काम करता है तो लोग उसे पण्डित जी और पुरोहित जी कहते हैं। यहाँ पुरोहित जी और पण्डितजीका अर्थ है पुरोहित या ब्राह्मण-का काम करने वाला व्यक्ति। यह लक्ष्य अर्थ तात्कर्म सम्बन्ध-से लिया गया है।

जब अपना निर्दिष्ट अर्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरा अर्थ ग्रहण कर लिया जाय अर्थात् जहां मुख्य अर्थ न छोड़ते हुए दूसरा अर्थ खींचकर लाया जाय वहाँ उपादान लक्षणा होती है। इसीलिये इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। 'वहाँ लाठियाँ चल रही थीं' कहने का अर्थ यह है कि 'कुछ लोग लाठियाँ ले लेकर मारनेकी क्रियामें लाठियाँ चला रहे थे।' यहां मुख्य अर्थ लाठी भी लिया है और साथ साथ 'लाठी धारण करनेवाले पुरुष' यह लक्ष्यार्थ भी ग्रहण किया गया है।

इसके विपरीत जहां वाक्यका अर्थ सिद्ध करनेके लिये मुख्य अर्थको छोड़कर दूसरा लक्ष्य अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षण-लक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा होती है। जब हम कहते हैं 'कुएँपर घर है' यहाँ कुएँ-परका मुख्य अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और दूसरा 'कुएँके पास लक्ष्य अर्थ ग्रहण कर लिया गया है।

जहां किसी एक वस्तुमें किसी दूसरी वस्तुका आरोप किया जाय अर्थात् अभेद सिद्ध कर दिया जाय और दोनों-का स्पष्ट निर्देश कर दिया जाय वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जैसे किसी चापलूसको देखकर यह कहना कि 'यह कुत्ता है'। यहां निर्दिष्ट व्यक्तिमें कुत्तेका आरोप किया गया है और दोनोंका निर्देश किया गया है क्योंकि यह आरोप इस गुणके कारण किया गया है कि कुत्ता भी अपने स्वामीको देखकर या किसीके हाथमें भोज्य पदार्थ देखकर पूँछ हिलाने लगता है वैसे ही यह व्यक्ति भी जिससे स्वार्थ निकलता है उसकी चाटुकारी करता है। इस-लिये यह सारोपा-गौणी-लक्षणा है।

सारोपा-शुद्धा-उपादान-लक्षणा वहाँ होती है जहाँ

धार्य्यधारक संबंध होता है। जैसे 'वह लाल पगड़ी चली आ रही है' इसका अर्थ है 'लाल पगड़ी पहने हुए सिपाही चला आ रहा है।' यहां 'वह' का अर्थ 'पगड़ी धारण करनेवाला पुरुष है।' इस लक्ष्य अर्थके साथ मुख्य अर्थ पगड़ी भी लगी हुई है और धार्य्य-धारक सम्बन्ध भी है।

सारोपा-शुद्धा-लक्षण-लक्षणामें मुख्य अर्थ छोड़ दिया जाता है किन्तु एक वस्तुका दूसरेमें आरोप होता है; जैसे 'मालवीयजी भारतीय संस्कृतिके प्राण हैं' यहां मालवीयजी आरोप्य विषय हैं और प्राण आरोप-माण है। यहां मालवीयजी व्यक्तिका अर्थ पूर्णतः छोड़ दिया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि अन्य सब व्यक्तियोंसे मालवीयजी अधिक भारतीय संस्कृतिका कल्याण करने वाले हैं।

जहाँ केवल आरोप्यमाण अर्थात् जिस वस्तुका आरोप किया जाय उसीका वर्णन हो और जिसमें आरोप किया जाय उसका वर्णन न हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। जैसे किसीके यह पूछनेपर कि आप अमुकको जानते हैं वह उत्तर दे 'कुत्तोंकी बात मुझसे न करो' यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है क्योंकि यहाँ केवल आरोप्यमाण-का कथन है जिसका अर्थ यह है कि वह कुत्तेके समान अपने स्वार्थके लिये दूसरोंकी चापलूसी करता है, ऐसे चापलूसोंकी बात मुझसे न करो। यहाँ आरोप्यमाण 'कुत्तों'का तो कथन है किन्तु आरोप्यके विषयका अर्थात् उस व्यक्तिका कथन नहीं है अतः यहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा है।

इसी प्रकार 'लाल पगड़ी चली आ रही है' कहनेमें 'वह' शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है केवल आरोप्यमाण पगड़ीका ही कथन है, अतः यहाँ साध्यवसाना है।

इसी प्रकार यदि मालवीयजीको देखकर कोई कहे—'हे भारतीय संस्कृतिके प्राण! आपकी जय हो!' तो इसमें मालवीयजीका कहीं नाम नहीं आया है किन्तु आरोप्यमाण वस्तुका कथन है अतः यह साध्यवसाना-शुद्धा-लक्षण-लक्षणा है।

ऊपर प्रयोजनवती लक्षणाके छओं भेदोंमें जो लक्षण दिए गए हैं उनमें जो प्रयोजन बताया गया है वह व्यंग्यार्थसे सिद्ध होता है, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थसे नहीं। व्यङ्ग्यार्थ दो प्रकारका होता है गूढ़ और अगूढ़, अतः ऊपर बताए हुए प्रयोजनवती लक्षणाके छओं भेदोंमें गूढ़व्यंग्या और अगूढ़-व्यंग्या दोनों प्रकारकी लक्षणाएँ होती हैं।

❀ नाटेऽत्र गूढव्यंग्या त्याज्या।

[गूढ़व्यङ्ग्या लक्षणा, नाटकमें है त्याज्य ॥]

जहाँ व्यंग्य अर्थ इतना गूढ़ होता है कि केवल काव्यमर्मज्ञ ही समझ पावें वहीं गूढ़व्यंग्या लक्षणा होती है और जहाँ व्यंग्यअर्थ सुबोध और सबकी समझमें आ सके वहाँ अगूढ़-व्यंग्या लक्षणा होती है। नाटकमें केवल अगूढ़व्यंग्या लक्षणाका ही प्रयोग होना चाहिए क्योंकि वहाँ सभी श्रेणीके ऐसे दर्शक भी होते हैं जिनका भाषाज्ञान अथवा साहित्यज्ञान अपरिपक्व होता है। इसी लिये नाटकमें भूलकर भी गूढ़व्यंग्या लक्षणका प्रयोग न करके अगूढ़व्यंग्याका ही प्रयोग करना चाहिए।

साहित्यदर्पणमें विश्वनाथ कविराजने गौणी लक्षणाके भी उपादान और लक्षण-लक्षणा दो भेद मान लिए हैं इस प्रकार गौणीके चार और शुद्धाके चार मिलाकर आठ भेद जब गूढ़व्यंग्य और अगूढ़ व्यंग्य होते हैं तो इन सोलहके भी पदगत लक्षणा और वाक्यगत लक्षणाके भेदसे बत्तीस और इन बत्तीसके भी धर्मगत और धर्मिगत भेदसे प्रयोजनवती लक्षणाके चौसठ भेद हो जाते हैं। रूढ़ा लक्षणाके भी साहित्यदर्पणमें शुद्धा और गौणी दो भेद किए गए हैं और इन दोनोंके भी उपादान और लक्षण-लक्षणाके भेदसे चार रूप माने गए हैं। इस प्रकार रूढ़ा और प्रयोजनवती लक्षणाके अस्सी भेद तक बना लिए गए हैं।

संसारभरके साहित्यका अध्ययन करनेपर यह ज्ञात होगा कि भाषामें चमत्कार, नवीनता, अलङ्करण और उक्तिवैशिष्टय लानेके लिये निरन्तर प्रयास होता चला जा रहा है और यदि इसी प्रकार भेद गिनना प्रारम्भ करें तो उसका कोई अन्त नहीं होगा।

व्यंजना

❀ वाच्यलक्ष्येतरार्थ-व्यंजकः व्यंग्यार्थः।

[वाच्य और लक्ष्यार्थसे, भिन्न अर्थ देता व्यंग्यार्थ।]

आचार्योंने व्यञ्जनाकी परिभाषा बताते हुए कहा है कि जहाँ अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ अर्थ न कर पावें और उनके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्तिसे अर्थका बोध हो उस शक्तिको व्यञ्जना कहते हैं। उसके द्वारा जो अर्थ निकलता हो उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं और जिस शब्दसे यह व्यंग्य अर्थ निकलता हो उसे व्यञ्जक कहते हैं। इस

व्यंग्य अर्थको ध्वन्यर्थ, सूच्यर्थ, आक्षेपार्थ, प्रतीयमान आदि भी कहते हैं। व्यञ्जना दो प्रकारकी मानी गई है। शाब्दी और आर्थी। शाब्दी व्यञ्जना दो प्रकारकी होती है—अभिधामूला और लक्षणामूला। यह संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वरके अनुसार चौदह प्रकारकी होती है अर्थात् जहाँ अनेक अर्थवाले शब्द उपर्युक्त चौदह कारणोंसे प्रभावित होकर जिस शक्तिके द्वारा व्यंग्य अर्थ ध्वनित करते हैं उसे अभिधा-मूला व्यञ्जना कहते हैं।

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना वहाँ होती है जहाँ किसी प्रयोजनके लिये जब लाक्षणिक शब्दका प्रयोग किया जाता है तब उस प्रयोजनकी प्रतीति हो। काव्यप्रकाशके अनुसार इसके बारह भेद और साहित्य-दर्पणके अनुसार इसके चौसठ भेद होते हैं।

आर्थी-व्यञ्जनाके वक्तृ, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल और चेष्टा-वैशिष्ट्यके अनुसार दस भेद होते हैं और ये भी वाच्य-संभवा, लक्षणा-संभवा और व्यंग्य-संभवाके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। किन्तु व्यञ्जनाका काम वास्तव में यही है कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न कोई तीसरा अर्थ ध्वनित करे। यदि कोई कहे कि 'तुमने आकाश क्यों सिरपर उठा रक्खा है' तो वह यही पूछना चाहता है कि 'तुम कोलाहल क्यों मचा रहे हो' किन्तु 'आकाशको सिरपर उठाने' शब्दोंके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से इस इष्ट-अर्थकी प्रतीति नहीं होती है।

तात्पर्याख्यावृत्ति - कुछ आचार्योंका मत है कि वाक्य के भिन्न-भिन्न पदोंके अर्थोंका परस्पर संबंध समझानेवाली शक्तिको तात्पर्याख्या वृत्ति कहते हैं। यद्यपि यह वृत्ति सर्वमान्य नहीं है किन्तु मम्मटादिने अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जनाके साथ इस तात्पर्याख्या वृत्तिको भी माना है। इस वृत्तिके लिये पद और वाक्यकी परिभाषा समझ लेनी चाहिए।

पद

पद या शब्दकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की गई है। पाणिनिने कहा है—'सुप्तिङन्तं पदम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्त शब्दको पद कहते हैं। सुबन्तका अर्थ है विभक्तिसे युक्त शब्द और तिङन्तका अर्थ है विभिन्न कालको व्यक्त करनेवाले रूपमें ढला हुआ क्रियापद। कुछ लोग शब्दकी परिभाषा यह बताते हैं कि अक्षरों या अक्षरोंके सार्थक मेलको पद या शब्द कहते हैं। कुछ आलोचकोंने कहा है कि मनुष्यनिर्मित उस ध्वनिमेलको शब्द कहते हैं जिसका वह किसी अर्थमें प्रयोग करता हो और जो व्याकृत हो अर्थात् जिसकी व्याकरणद्वारा मीमांसा की जा चुकी हो।

नाटकीय भाषाके संबंधमें अरस्तू

शब्दादिके संबंधमें प्रसिद्ध काव्यालोचक तथा नाट्या-लोचक अरस्तूने भी विस्तारके साथ विचार किया है। वह लिखता है—

"अब केवल वर्णनशैली और विचारके विषयमें ही कहना शेष रह गया है क्योंकि त्रासदके अन्य अंगोंका विवेचन ऊपर किया ही जा चुका है। विचारके संबंधमें हम वही स्वीकार कर लेंगे जो भाषण-शास्त्र कहता है, क्योंकि यह विशेषतः उसीसे संबंध रखता है। विचारके अंतर्गत वे प्रभाव भी आ जाते हैं जो वाणी द्वारा प्रकट किए जा सकते हैं। उसके उपभेद हैं---प्रमाण और प्रत्युत्तर तथा करुणा, भय, क्रोध इत्यादि भावोंको उत्तेजित करना तथा किसीको महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन सिद्ध करना। अब यह स्पष्ट है कि यदि नाटकीय घटनाओंसे करुणा, भय, महत्ता अथवा संभावनाके भावोंको जागरित करना उद्देश्य हो तो उनपर उसी दृष्टिसे विचार करना चाहिए जिस दृष्टिसे नाटकीय संवादोंपर विचार किया जाता है। अंतर केवल यह है कि बिना वाणीसे व्यक्त किए ही घटनाओं-को स्वयं अपना परिचय देना चाहिए, किन्तु वक्ताको चाहिए कि अपने वचनोंसे ही वह इष्ट प्रभाव उत्पन्न करे। क्यों-कि यदि विचार उसके वचनसे नितांत पृथक् ही प्रकट हों तो वक्ताका काम ही क्या रहा।

दूसरी बात है वर्णन-शैली। इस विषयकी एक शाखा तो संभाषण-रीतिका वर्णन करती है। किंतु ज्ञानकी इस शाखाका संबंध अभिनय-कला तथा उस शास्त्रके पंडितोंसे ही है। उसके अंतर्गत ऐसी बातें आती हैं जैसे—आज्ञा क्या होती है, प्रार्थना क्या है, वक्तव्य क्या है, निंदा क्या है, प्रश्न क्या है, उत्तर क्या है, इत्यादि। इन बातोंको जानने या न जाननेसे कविकी कलामें कोई बड़ा दोष

नहीं आता। क्योंकि प्रोतगोरस द्वारा होमरपर लगाए हुए इस दोषको कौन मान सकता है कि "क्रोधका गान गाओ देवी।"—इन शब्दोंमें प्रार्थना करनेका भाव रखकर वह आज्ञा देता है। क्योंकि प्रोतगोरसका कथन है कि किसीको एक कामके करने या न करनेको कहना ही आज्ञा देना है। अतः हम इसको छोड़कर आगे बढ़ते हैं, क्योंकि यह एक दूसरी कलासे संबंध रखता है, काव्यसे नहीं।

साधारणतः भाषाके अन्तर्गत निम्नलिखित बातें आती है—वर्ण, मात्रा, संबंध-सूचक शब्द, संज्ञा, क्रिया, विभक्ति या कारक, वाक्य या पदोच्चय।

वर्ण एक अविभाज्य ध्वनि है, किंतु सब प्रकारकी सभी ध्वनियाँ अविभाज्य नहीं वरन् केवल वे ही जो कि ध्वनि-समूहका अंग हो सकें, किंतु उनमेंसे किसीको मैं वर्ण नहीं कहता। जिस ध्वनिसे मेरा तात्पर्य है वह या तो स्वर हो या अंतःस्थ हो अथवा स्पर्श वर्ण हो। स्वर वह है जिसकी ध्वनि जिह्वा या ओठके संसर्गके बिना ही श्रव्य हो। अंतःस्थ वह है जिसकी ध्वनि इनके संसर्गसे सुनाई पड़े जैसे स् या र्। स्पर्शवर्ण उसे कहते हैं जिसकी इनके संसर्ग होनेपर भी स्वतः कोई ध्वनि न हो किंतु स्वरकी ध्वनिसे मिलकर स्पष्ट सुनाई देती हो जैसे ज्, द्। इनमें मुखकी बनावटसे और उनके उच्चारण-स्थानके अनुसार महाप्राण, और अल्पप्राण, दीर्घ और ह्रस्व होने, तार, गंभीर या मध्य ध्वनिके अनुसार भेद किए गए हैं। इसका विवेचन विस्तृत रूपसे छंदःशास्त्रके लेखकोंसे संबंध रखता है।

मात्रा एक स्पर्शवर्ण और स्वरसे मिलकर बनी हुई अर्थरहित ध्वनि है क्योंकि म् बिना अ के मात्रा नहीं है पर अ के साथ मं मात्रा हो जाता है। किंतु इन भेदोंका परिज्ञान भी छंदः शास्त्रसे संबंध रखता है।

संबंधकारक शब्द वह अर्थरहित ध्वनि है जो अनेक ध्वनियोंके साथ मिलकर सार्थक ध्वनि परिवर्त्तन करनेमें न तो सहायता करती है न बाधा ही पहुँचाती है, उसको चाहे वाक्यके अंतमें रख दो या मध्यमें; अथवा वह अर्थरहित ध्वनि है जो कई सार्थक ध्वनियोंको एक सार्थक ध्वनिमें परिवर्त्तित करनेकी क्षमता रखती हो। जैसे एमिफिमें इ, पेरिमें इ इत्यादि। अथवा वह एक ऐसी अर्थरहित ध्वनि है जो किसी वाक्यका प्रारंभ, अंत या विभाजन सूचित करे, वह भी इस प्रकारसे कि वह वाक्यके प्रारंभमें स्वतः शुद्ध रूपसे न स्थित रहे जैसे मेन् में ए्, दी में ई, ताई में इ, दे में ए।

संज्ञा वह संघटित सार्थक ध्वनि है—समय-सूचित नहीं—जिसका कोई भाग स्वतः सार्थक न हो, क्योंकि दुहरे या समासयुक्त शब्दोंमें हम सब भागोंका इस प्रकार प्रयोग नहीं करते कि वे प्रत्येक स्वतः सार्थक हों, जैसे थियोदोरस (ईश्वरप्रसाद) शब्दमें दोरस (प्रसाद) शब्द स्वतः सार्थक नहीं है।

क्रिया वह सुघटित सार्थक ध्वनि है, जो समय-सूचक हो और जिसमें संज्ञाके समान कोई भाग स्वतः सार्थक न हो। क्योंकि 'मनुष्य' या 'श्वेत' कहनेसे 'समय' का भाव नहीं निकलता किंतु 'वह टहलता है' या 'वह टहला' कहनेसे वर्तमान या भूतकालका ज्ञान हो जाता है।

विभक्ति या कारकका संबंध संज्ञा और क्रिया दोनोंसे है और वे या तो संबंध सूचित करते हैं जैसे 'का' 'को' इत्यादि, या एक या अनेककी संख्या सूचित करते हैं जैसे 'मनुष्य' या 'मनुष्यगण' या वास्तविक संभाषणमें व्यवहृत रीति या बोलनेका ढंग बताते हैं जैसे प्रश्न या आज्ञा। 'क्या वह गया?' और जाओ' इसी प्रकारके क्रिया-कारक हैं।

वाक्य या पदोच्चय एक सुघटित सार्थक ध्वनिसमूहका नाम है, जिसके कुछ भाग स्वतः सार्थक होते हैं क्योंकि ऐसे प्रत्येक शब्द-समूहमें क्रियाएँ और संज्ञाएँ नहीं होतीं—जैसे 'मनुष्यकी परिभाषा'। किंतु क्रियाके बिना भी वाक्य हो सकता है पर उसमें कोई सार्थक भाग अवश्य होना चाहिए जैसे 'क्लीओनका पुत्र टहलता है' में क्लीओन। वाक्य या पदमें दो प्रकारकी एकता होनी चाहिए होनी चाहिए जो वह या तो एक बातकी विशेषता प्रदर्शित करे या वह एकत्र गुँथे हुए विभिन्न भागोंका बना हुआ हो। इस प्रकार इलियद् विभिन्न भागोंके एकत्र गुँथनेसे बना है और मनुष्यकी परिभाषा निर्दिष्ट वस्तुके एक होनेसे।

शब्द दो प्रकारके होते हैं, साधारण और दुहरे। साधारणसे मेरा तात्पर्य उनसे है जो अर्थरहित तत्त्वोंके बने हों, जैसे जी। दुहरे या समस्त शब्दोंसे मेरा तात्पर्य उन शब्दोंसे है जो या तो एक सार्थक और एक निरर्थक तत्त्वके बने हों (चाहे एक पूरे शब्दमें भी कोई तत्त्व सार्थक न हो) या दोनों तत्त्व निरर्थक हों। कोई शब्द तिहरा,

चौहरा या ऐसे बहुतसे मेगेलीय उक्तियोंकी भाँति कई गुने रूपवाले भी हों जैसे हर्मोकैकोजैन्थस ।

प्रत्येक शब्द या तो प्रचलित या विदेशी या लाक्षणिक या आलंकारिक या नव-गढंत या विस्तृत या संक्षिप्त अथवा परिवर्तित होता है ।

जो शब्द लोगोंके नित्यके व्यवहारमें आता हो वह प्रचलित या शुद्ध है । जो शब्द दूसरे देशमें व्यवहृत होता हो उसे विदेशी कहते हैं । अतः स्पष्टतया एक ही शब्द एक साथ विदेशी और प्रचलित हो सकता है, किंतु एक ही देशके लोगोंके संबंधमें नहीं । सिगूनीन शब्द साइप्रियोंके लिये तो प्रचलित प्रयोग है किंतु हमारे लिये तो विदेशी ही है ।

किसी दूसरे नामको परिवर्तित करके मूलसे जातिमें, जातिसे मूलमें अथवा जातिसे जातिमें अथवा व्याप्ति अर्थात् अनुपातके नियमानुसार आरोप करनेको लक्षणा कहते हैं । इस प्रकार मूलसे जातिमें—जैसे, सचमुच अदूसियसने दस सहस्र श्रेष्ठ कार्य किए । यहाँ दस सहस्र महान् संख्याकी ही जाति है । अतः यहाँ बहुत अधिक संख्याके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है । जातिसे जातिमें, जैसे—काँसेके फलकेसे प्राण खींच लिया' और 'दृढ़ काँसेके जहाजसे पनी चीर डाला' । यहाँ एरिसाइ' 'खींच लेना' शब्द 'तुमीन' 'चीर देना'के अर्थमें आया और फिर 'तुमीन' भी 'एरिसाइ'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है—इनमेंसे प्रत्येक 'ले जाना' शब्दकी जातिके हैं । व्याप्ति या अनुपात उसे कहते हैं जब दूसरा अर्थ पहले अर्थके विषयमें उतना ही प्रयुक्त हो सके जितना चौथा या चौथेके लिये दूसरा हो । कभी-कभी लक्षणाकी विशेषता प्रकट करनेके लिये हम वह शब्द जोड़ देते हैं जिसके लिये उचित शब्द 'संबंधात्मक' है । इस प्रकार 'दिअनूससके लिये यह प्याला ऐसा ही है जैसे जीवनके लिये बुढ़ापा, वैसे ही है जैसे दिनके लिये संध्या । इसलिये संध्या 'दिनका बुढ़ापा' कहला सकती है और बुढ़ापा 'जीवनको संध्या' कहा जा सकता है । या अम्पदोक्लेसके शब्दोंमें उसे "जीवनका अस्तंगत सूर्य' कह सकते हैं । अनुपातकी कुछ उक्तियोंके लिये तो कभी कभी कोई शब्द नहीं मिलते, फिर भी लक्षणाका प्रयोग किया ही जा सकता है । उदाहरणके लिये बीज बिखेरनेको बोना कहते हैं । किंतु सूर्यके अपनी किरणोंके बिखेरनेके लिये कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है । फिर भी यह विधान सूर्यके साथ वही संबंध रखता है जैसा बीजके साथ बोनेका । इसलिये कवि कहता है 'ईश्वरप्रदत्त प्रकाशको बोता हुआ' । इस लक्षणाको प्रयोग करनेकी एक और भी रीति है । हम एक विरोधी शब्दका प्रयोग करें और फिर उसके उचित अर्थका प्रयोग कर दें, जैसे हम ढालको 'अरेसका प्याला' न कहकर 'मदिराहीन प्याला' कह सकते हैं ।

नवगढंत शब्द वह है जो कभी व्यवहारमें नहीं आया वरन् स्वयं कविने उसका प्रयोग किया हो । ऐसे कुछ शब्द मिलते हैं जैसे सींगों' (केराता) के लिये 'अंकुर' (एर्नारेस्) और पुरोहित (इरेग्) के लिये प्रार्थी (एरीतीर) ।

शब्दका विस्तार तब होता है जब उसका अपना स्वर लंबे स्वरमें बदल जाता है या जब कोई मात्रा उसमें दी गई हो । शब्द तब संक्षिप्त हो जाता है जब उसका कोई भाग हटा दिया जाता है । विस्तृत शब्दके उदाहरण ये हैं, पोलेसके लिये पोलियस और पिलीइद्के लिये पिलियेदीद । संक्षिप्तके उदाहरण जैसे 'मिया गिनेताइ एम्फेतेरीन के ओज' में मि, गि और ओज ।

परिवर्त्तित शब्द वह है जिसमें साधारण शब्दका एक भाग तो अपरिवर्तित छोड़ दिया गया हो और दूसरा भाग नया बनाया गया हो । जैसे देक्सितीरोन काता मेझ्योनमें देक्सियोनके स्थान पर देक्सितीरोन हो गया है ।

संज्ञाएँ स्वतः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग होती हैं । पुल्लिंग वे हैं जिनके अंतमें न, र, स या न में मिश्रित कोई आता है, ऐसे दो ही हैं ज् और क्स । स्त्रीलिंग वे हैं जिनके अंतमें सदा महाप्राण स्वर आते हैं जैसे ई, ऊ और वे स्वर जो विस्तृत हो सकते हों, जैसे अ । अतः पुल्लिंग और स्त्रीलिंगके अंतमें आनेवाले अक्षरोंकी संख्या समान ही है, क्योंकि ज् और क्स उन वर्णोंके समान ही हैं जो स से समाप्त होते हैं । कोई संज्ञा स्पर्शवर्णमें अथवा सहज ह्रस्वमें नहीं समाप्त होती । केवल तीन ही ऐसी हैं जो इ में समाप्त होती हैं, मेलि, कोमि, पेपीइ । पाँच ई में समाप्त होती हैं तोई चीमी, गोनी, दोरी ओस्ती । नपुंसकलिंगकी संज्ञाओंके अंतमें ये अंतिम दो वर्ण ही आते हैं, कभी-कभी न और स भी आते हैं ।

दोषरहित शैली वह है जो हेय न होते हुए स्पष्टतया

प्रकट हो जाय। सबसे स्पष्ट शैली वह है जिसमें केवल प्रचलित या उचित शब्दोंका प्रयोग हो किन्तु वह हेय होती है जैसे क्लीओफन और स्थेनीलसकी कविता। वरन् वह वर्णनशैली उच्च और निम्न श्रेणीसे ऊपर उठी हुई होती है जिसमें अव्यवहृत शब्दोंका प्रयोग होता है। अव्यवहृतसे मेरा तात्पर्य उन विदेशी लाक्षणिक और विस्तृत शब्दोंसे अर्थात् ऐसे सभी शब्दोंसे है जो साधारण लोगोंकी भाषासे भिन्न हों। किंतु जो शैली पूरीकी पूरी ऐसे ही शब्दोंकी बनी हो वह या तो पहेली हो जाती है या कूटार्थक हो जाती है। पहेली तो तब होती है, जब उसमें लाक्षणिक शब्द भरे हों, और कूटार्थक तब होती है जब उसमें अप्रचलित शब्द भरे हों। पहेलीका तत्त्व यह है कि असंभव शब्द-योजनासे ऐसा नहीं किया जा सकता, केवल लाक्षणिक शब्दोंके प्रयोगसे ही ऐसा होता है।—

पहेली ऐसी होती है—मैंने एक मनुष्य देखा जिसने दूसरे मनुष्य पर आगसे पीतल चिपका दिया।

वह वर्णनशैली जो अप्रचलित विदेशी शब्दोंकी बनी हो उसे कूटार्थक कहते हैं। शैलीके लिये इन तत्वोंका एक नियत समावेश आवश्यक है। क्योंकि अप्रचलित या विदेशी शब्द, लाक्षणिक शब्द, आलंकारिक शब्द तथा उपर्युक्त अन्य प्रकारके शब्द उसे साधारणतया निम्न स्थितिसे ऊँचा उठा देंगे। साथ ही उचित शब्दोंका प्रयोग उसे स्पष्ट (बोधगम्य) बना देगा। असाधारण शैलीको स्पष्ट बनानेके लिये कोई इतना सहायक सिद्ध नहीं होता जितना शब्द-विस्तार, शब्दसंकोच तथा शब्द-परिवर्तन। क्योंकि विशेष अवसरोंपर साधारण लोक-भाषामें परिवर्तन करनेसे भाषामें विशिष्टता आ जाती है और साथ ही थोड़ी-सी व्यवहृत भाषाके संयोगसे उसमें स्पष्टता भी आ जाती है अतः वे समालोचक भूल करते हैं जो इस भीषण अधिकारको धिक्कारते हैं और रचयिताकी खिल्ली उड़ाते हैं। इसी प्रकार ज्येष्ठ उक्लेदसने यह कह डाला था कि यदि शब्दोंका अधिकार मिल जाय तो कविता करना सरल हो जाय। उसने अपनी ही शैलीमें इनका व्यवहार निम्नलिखित पदमें किया है :—'एपीशेर्गनइदोन मेरा पुनिर्दा बुए दाबीन्ता या ओक एम जेइर्गेमानस तोन ईकिनोन एन्तेइबुओ गन'। इस प्रकारके अधिकारको इस तरह प्रभावशाली रीतिसे प्रयोग करना तो सचमुच हास्यास्पद है किंतु किसी प्रकार भी काव्यात्मक वर्णनशैलीमें कुछ सुधार अवश्य ही होना चाहिए। यहाँतक कि लाक्षणिक, अप्रचलित (या विदेशी शब्द या इसी प्रकारके भीषण स्वरूपोंका यदि अनुचित रूपसे और हास्योत्पादनके ही भावसे प्रयोग होगा तो उसका वैसा ही फल भी होगा। शब्द विस्तारके उचित प्रयोगसे कितना भारी अंतर पड़ जाता है यह उन महाकाव्योंमें देखा जा सकता है जिनके पदोंमें साधारण रूपोंका समावेश रहता है। इस प्रकार फिर यदि हम कोई अप्रचलित या विदेशी शब्द, लाक्षणिक शब्द या अन्य इसी प्रकारकी भाषण-रीतिको लें और उसके स्थानपर कोई प्रचलित और उचित शब्द रख दें तो हमारे अनुभवकी सत्यता व्यक्त हो जायगी। जैसे अस्कुलस और इउरीपाइदेस् दोनोंने द्विमात्रिक पदमें रचना की है किंतु इउरीपाइदेसने साधारण शब्दोंकी अपेक्षा विदेशी शब्दोंका प्रयोग किया है इसमें एक भी शब्द-परिवर्तन करनेसे एक पद तो सुन्दर प्रतीत होता है और दूसरा तुच्छ। अपने फिलोक्तेतेसमें अस्कुलस् कहता है—

फेगेदायना दे ई मोदसेरकाज़ इओदिई पोदोस।

[देखो! मेरे चरणोंको एक विनाशकारी फोड़ा खाए जा रहा है।]

किंतु इउरीपिदेसने (इओदिई) 'खाए जारहा है' केस्थान पर (पोइनेताई) 'दावत उड़ा रहा है' का प्रयोग किया है। फिर यदि 'नून् दे मे इयुन ते ओलिगोल ते काइ ओउतेदेनोस काइ एईकीस्' के स्थानपर हम निम्नलिखित साधारण शब्दोंका प्रयोग करें तो अंतर स्पष्ट हो जायगा 'नुन् दे मे इयुन मिकरोस ते काइ एस्थेनिकौस काइ एइदीज़'। या यदि हम— 'दीफोन मोशिनऐन कातार्थीज़ निकरेन ते थेपिज़ेन्'को 'दीफोन ऐकेगिओन् कातार्थीज़ ओलगोन ते थेपिज़ेन' के बदले रख दें अथवा 'इओनीज़ बुओसिन' (चट्टानें गूँजती हैं) के बदले 'इओनीज़ क्रेदोओइन' (चट्टानें चहचहाती हैं) का प्रयोग करें।

फिर एरिफ्रेदेसने उन पदोंके प्रयोगके लिये नासदकारोंकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है जिन्हें साधारण बोलचालमें भी प्रयोग करना लोग अच्छा नहीं समझेंगे। जैसे 'एपो दुमातोन' के बदले 'दुमातोन एपो' और सोदेन् के बदले इगोदेनोन और 'पेरी एखिल्लेस' के बदले 'एखिल्लेस् पेरी' इत्यादि। सच्ची बात तो यह है कि इन्हीं पदोंसे वर्णनशैलीमें

विशेषता आती है क्योंकि वे प्रचलित लोक-भाषामें नहीं आते। पर यही बात 'एरिफ्रे देस'की समझमें नहीं आई थी।

विभिन्न प्रकारके शब्दोंमेंसे, स्तोत्रोंमें समासयुक्त शब्द, वीररसपूर्ण कवितामें अप्रचलित शब्द और द्विमात्रिक छंदोंमें लाक्षणिक शब्द बड़े फबते हैं। वीररस-पूर्ण कवितामें तो वास्तवमें ये सभी प्रकारके शब्द काममें आ सकते हैं। किंतु द्विमात्रिक पद्यमें—जिसमें अधिकतर प्रचलित भाषाका निदर्शन होता है—वे ही शब्द अधिक उपयुक्त होते हैं जिनका गद्यमें भी प्रयोग होता है। ये हैं—प्रचलित या उचित, लाक्षणिक या आलंकारिक।

त्रासदों तथा व्यापाराश्रित अनुकरणोंके लिये इतना पर्याप्त होगा।"

अरस्तूने शब्द, वाक्य, अलंकार और शैलीके संबंधमें जो कुछ कहा है उसका विशेषतः यूनानी भाषासे ही संबंध है। उसमेंसे केवल इतनी ही बात तात्विक ग्रहण की जा सकती है कि—

१—बोलचालके वचनोंसे इष्ट प्रभाव उत्पन्न किया जाय।

२-स्पष्ट शैली अर्थात् प्रचलित तथा उचित शब्दोंका प्रयोग हो अर्थात् भाषा सर्वबोधक हो और पात्रकी मर्यादाके अनुकूल हो।

साहित्यदर्पणकारने कहा है—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः (२।४)

[पद उस वर्ण-समूहको कहते हैं जिसका प्रयोग किया जा सके, जो दूसरे शब्दके अर्थसे अलग हो, एक हो और उसका कोई अर्थ हो।]

एक वाक्य लीजिए—'रामने पिताकी आज्ञा मानी।' यहाँ रामने, पिताकी, आज्ञा, और मानी चार वर्ण-समूह हैं जो प्रयोग भी किए गए हैं, एक दूसरे शब्दसे अलग भी हैं, अपनेमें एक एक हैं और सबके निश्चित अर्थ भी हैं। कभी कभी एक अक्षर भी शब्द या पद हो सकता है, जैसे 'मैं' जाता हूँ' में 'मैं'। संस्कृतमें तो पूरी वर्णमाला ही शब्दात्मिका है जिसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं।

ॐ वक्तृप्रयोज्यार्थ योजकः शब्दः।

[किसी अर्थमें वक्ता-द्वारा ध्वनि-प्रयोग है शब्द।]

इसका तात्पर्य यह है कि नाटकमें प्रत्येक वक्ता व्याकरणके नियमके अनुसार शब्द या वाक्यका प्रयोग करनेको बाध्य नहीं होता, कभी कभी वह हाँ, ऊँ आदि ध्वनि ही करता है जिसकी यद्यपि साधारणतः कोई निरुक्ति नहीं की जा सकती किन्तु वक्ता उसका परिस्थिति-वश प्रयोग करता है और उसका श्रोता उसका एक विशेष अभीष्ट अर्थ ग्रहण करता है। कभी कभी ये अर्थ दुहरे होते हैं जिनमेंसे एक अर्थ सामाजिकके लिये होता है, दूसरा नाटकीय पात्रके लिये। अभिनवभरतके 'अजन्ता' नाटकमें तीसरे अङ्कके तृतीय दृश्यमें पिंटोल कहता है—

"बस, एक ही पौमें अमात्य और दंडनायकको पीटनेकी सामग्री जुट रही है।"

सामाजिकगण पिछला प्रसंग जाननेके कारण इसका अर्थ यह लगाते हैं कि अब अमात्य और दंडनायक दोनों पकड़े जायँगे और दोनोंको दंड मिलेगा किन्तु चण्डसेन और नागदत्त यह समझते हैं कि हमारे पासेकी गोटी ही पिटनेवाली है। अतः अभिनवभरतका मत है कि अर्थ दो प्रकारके होते हैं—

ॐ वक्तृश्रोतृभावानुसारतः अर्थद्वैविध्यम्।

[वक्ताश्रोताभावसे दो प्रकारके अर्थ।]

नाटकीय भाषाका सम्बन्ध दो व्यक्तियोंसे होता है। एक कहनेवाला और दूसरा सुननेवाला। इस सुननेवालेकी दो श्रेणियाँ होती हैं—एक वह नट जिसे रंगमंचपर उपस्थित दूसरा नट संबोधित करता है और दूसरा दर्शक। किन्तु दर्शक उस संवादमें भाग नहीं लेता। वह उसका अर्थ समझकर उसका रस लेता है अतः वह संबोध्य नहीं है और इसीलिये वह भोक्ता तो है पर जिस विशेष अर्थमें वक्ता नटने संबोध्य नटसे कोई बात कही है उसका वास्तविक अर्थ वही होगा जो श्रोताके मनमें है और जो दर्शकोंने समझा है और दूसरा वह अर्थ जो संबोध्यने समझा है। अतः दर्शकोंने जो अर्थ समझा है वह तो वक्ता नटके अर्थमें ही हो जाता है। अतः अर्थ दो ही प्रकारके हुए। एक वह जो संबोधनकर्त्ताके मनमें है और दूसरा वह जो संबोध्य नटको नाटककार समझाना चाहता है। यह संबोध्यवाला अर्थ संबोध्यकी योग्यता, बाह्य परिस्थिति और मानसिक दशापर अवलंबित है।

प्रायः यह देखा जाता है कि कभी कभी वक्ता शुद्ध-भावसे कोई एक बात कहता है और श्रोता उसका दूसरा

अर्थ लगा लेता है। अतः साहित्य-शास्त्रियोंने जो शब्दके साथ अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके अनुसार अर्थकी परिकल्पना की है वह ठीक नहीं है क्योंकि अर्थ या तो वक्ताके प्रयोजनके अनुसार चलता है या तो समझनेवालेकी बुद्धिके अनुसार। यदि एक वक्ता अशोकके वृक्षको देखकर अज्ञानवश अपने सेवकसे कहता है "इस आमके पत्ते तोड़ लाओ" तो नौकर उस समय आमके पत्ते नहीं तोड़कर लावेगा वरन् यह समझकर कि स्वामी इसी वृक्षके पत्ते चाहते हैं। वह आम कहनेपर भी अशोकके ही पत्ते लाकर देता है। अतः शुद्ध रूपसे शब्दके दो प्रकारके अर्थ होते हैं। एक वक्ताभिप्रायवाची और दूसरा श्रोतृ-ग्रहणानुसारी। शब्दकी तीन शक्तियोंके माननेका सबसे बड़ा दोष तो यह हो गया है कि कविने अपनी रचना किसी एक विशिष्ट अर्थमें की है जिसे वही जानता है और दूसरे भी संभवतः जानते हों किन्तु टीकाकार अपने पाण्डित्यके कारण अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तिके आधारपर उस काव्यके न जाने कितने ऐसे अर्थ कर डालता है कि जो मूल कविका अभिप्राय ही नहीं रहा। अतः काव्यमें तो शब्दकी एक ही शक्ति माननी चाहिए और वह है केवल व्यञ्जना शक्ति। काव्यका प्रत्येक शब्द व्यञ्जक होता है और काव्यका एक सामूहिक भाव भी एक व्यंग्य भाव ही रहता है जिसे उसका प्रभाव कहते हैं।

इनके अतिरिक्त नाटकमें सम्पूर्ण वाग्व्यापार नटोंद्वारा ही होता है, इसलिये पदों या वाक्योंके अर्थ-ज्ञानमें अभिनेताओंके कहनेके ढंग अर्थात् काकुका सबसे अधिक महत्त्व है और वहाँ तदनुसार ध्वनित किए हुए शब्द या वाक्यसे व्यक्त होनेवाले भावको ही अर्थ कहा जाता है। यह अर्थ प्रसङ्गके अनुसार अपना रूप निर्धारित कर लेता है। इसकी व्याख्या भी हम ऊपर कर आए हैं। अतः नाटकमें घटनास्थित पात्रकी योग्यता और उसकी नाटककार द्वारा अभीष्ट मनःस्थितिके अनुसार संबोधक और संबोध्यके काकुसे ध्वनित भावसे ही अर्थकी प्रतीति होती है अर्थात् नाटकमें अर्थ-प्रतीतिके लिये काकुज्ञान अपेक्षित है जो लोकसंसर्गसे और शिक्षासे सीखा जा सकता है। वास्तवमें वहाँ नाटककार नाटकीय संवादोंमें उचित अर्थात् संकलन कर सकता है जो स्वयं काकुभेदक ध्वनित हो और जो प्रत्येक नाटकीय वाक्यके साथ काकुका निर्देश भी कर दे जैसे—आवेगसे, आश्चर्यसे, हँसकर, क्रोधसे, डाटते हुए, चाटुकारी मुद्रामें आदि।

किन्तु काकुको ठीक समझनेके लिये वाक्य और वाक्यकी प्रकृतिको समझ लेना चाहिए।

वाक्य

❀ वक्तृभावव्यञ्जकः शब्दः वाक्यम्।

[वक्ताके भावोंके व्यञ्जक शब्द कहाते वाक्य।]

वाक्यके सम्बन्धमें कहा गया है—'तिङ्सुबन्तयोश्चयः समुदायः कारकान्विता क्रिया च वाक्यम्' अर्थात् सुबन्त और तिङन्त शब्दोंका कारक और क्रियासहित समूह, वाक्य कहलाता है। यह भी कहा गया है 'परस्पराभिसंबंधः पद समूहो वाक्यम् (परस्पर एक दूसरेसे संबद्ध शब्दोंके समूहको वाक्य कहते हैं)। रीतिकारोंने कहा है—

वाक्यं स्यात् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदच्चयः।

(साहित्यदर्पण २।)

[योग्यता, आकांक्षा और सन्निधिसे युक्त पदसमूहको कहते हैं वाक्य।)

योग्यताका अर्थ है एक शब्दका दूसरे शब्दके साथ उचित सम्बन्ध। जैसे कोई कहे 'मैं जलसे नहाता हूँ' इसमें औचित्य है किन्तु कोई कहे 'मैं आगसे नहाता हूँ' यहाँ औचित्य या योग्यता नहीं अतः यह वाक्य ही नहीं है। कुछ लोगोंने वाक्यकी परिभाषा यह बनाई है—कि सार्थक शब्द-समूहको वाक्य कहते हैं। 'मैं आगसे नहाता हूँ' में सभी शब्द सार्थक हैं किन्तु फिर भी औचित्य न होनेसे यह वाक्य नहीं माना जा सकता यद्यपि व्याकरणवाले अपने नियमसे अर्थात् कर्ताकर्मक्रियाके उचित क्रमसे होनेके कारण इसे वाक्य माननेमें कोई संकोच नहीं करेंगे। काव्यमें भी जहाँ तुलसीदासजीने कहा है कि सीताजी चन्द्रमाको देखकर उसे सूर्य समझती हैं और कहती हैं—

"सरद चाँदनी सँचरत चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥

यहाँ सीताजी चन्द्रमाको सूर्य समझकर प्रणाम कर रही हैं किन्तु यहाँ विरह व्यङ्ग्य है इसलिये योग्यता न होनेपर भी सीताजीकी मानसिक अवस्थाके कारण इसे भी योग्यताके अन्तर्गत ही समझना चाहिए। नाटकमें पागलोंके उन्मत्त प्रलाप अथवा विदूषककी उक्तियोंमें योग्यताहीन वाक्य भी लाए जा सकते हैं।

आकांक्षा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यमें किसी पदकी कमी रह जाती है जैसे 'मैं पुस्तक' कहनेमे वाक्य पूरा नहीं जान पड़ता। इसमें 'पढ़ रहा हूँ' पदकी आवश्यकता प्रतीत होती है। किन्तु नाटकमें प्राय: संवादोंमें एक शब्दमें ही वाक्य आ जाते हैं, जैसे

हरि—चलोगे (मेरे साथ चलोगे) ?

मोहन—कहाँ (मुझे कहाँ ले चलना चाहते हो) ?

हरि—गङ्गाजी – (गंगाजीमें स्नान करनेके लिये तुम्हें अपने साथ ले चलना चाहता हूँ।)

ऊपरकी तीनों उक्तियोंमें 'चलोगे', 'कहाँ और 'गंगाजी' ये तीनों शब्द हैं किन्तु वाक्योंके व्यंजक हैं अतः यहाँ अन्य पदोंके न होने पर भी प्रकरणके कारण अन्य पदोंका अध्याहार हो जाता है।

सन्निधि—का अर्थ यह है कि वाक्यके सब शब्द एकके पश्चात् दूसरेके क्रमसे अविलंब कहे जाने चाहिएँ। यह नहीं है कि 'तुम जाओ' वाक्य कहनेमें 'तुम' के पश्चात् थोड़ी देर किसी दूसरेसे बातचीत करके कहा जाय 'जाओ' या कुछ विलंबसे कहा जाय। यह काल-व्यवधान माना जाता है। दूसरी बाधा तब समझी जाती है जब किसी वाक्यके शब्दोंके बीचमें कोई दूसरे शब्द आ जायँ। जैसे कहना है—'यह काली घटा उमड़ी चली आ रही है।' इसीको यदि कोई कहे 'यह काली, मैं तो पढ़ रहा था, घटा उमड़ी, पोथीके पन्ने फाड़ दिए, चली आ रही है।' इसे अनुपयुक्त-पद-व्यवधान कहते हैं। किन्तु नाटकमें सन्निधिका होना अनिवार्य नहीं है। रोगी, विक्षिप्त, व्यथित, अन्यमनस्क, स्वप्निल तथा भयातुर व्यक्ति सन्निधिहीन वाक्यका भी प्रयोग कर सकता है।

नाटकीय वाक्यकी परिभाषा

सामाजिकभाव-भावनाय नटकथनीयपदपदसमूहश्च नाट्यवाक्यम्।

[दर्शक-मन भावित करनेको नाट्यकार द्वारा प्रस्तुत।
नटकथनीय एक या बहुपद-उक्ति नाट्यका वाक्य।]

अतः नाटककी दृष्टिसे वाक्य उस शब्द-समूहको कहते हैं जो किसी पात्रके मुखसे नाटककार-द्वारा निर्दिष्ट स्थितिमें व्यक्त होकर नाटकीय कथावस्तु, चरित्र, भाव अथवा परिस्थितिको समझनेमें दर्शकोंको योग दे।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटकीय वाक्य वह शब्द या शब्द समूह है जिसके द्वारा नाटककार अपने निर्दिष्ट वक्ता नटसे कुछ कहलाकर दूसरे पात्रपर एक विशिष्ट प्रभाव डालकर उसकी प्रतिक्रियासे दर्शकोंके हृदयोंको एक विशेष भावसे भावित करना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि नाटकीय वाक्यका सम्बन्ध तीन व्यक्तियोंसे होता है, एक तो नाटककारसे—जो विशिष्ट शब्दोंकी योजनासे एक विशेष प्रभाव उत्पन्न करनेका आयोजन करता है, दूसरे अभिनेतासे जो उन वाक्योंके सहारे विशेष प्रकारका वाचिक, सात्त्विक और आङ्गिक अभिनय करके विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है, तीसरे दर्शकसे जो अभिनेताओंके अभिनयसे पुष्ट वाक्योंसे भावित होते हैं। अतः नाटककारका यह धर्म है कि वह वाक्य-योजना ऐसी करे कि जो अभिनेताओंके अभिनयसे सिद्ध होकर उचित ध्वनिके कारण दर्शकोंपर इच्छित प्रभाव डाल सके। इसी क्रियाको अभिनवगुप्तपादाचार्यने साधारणीकरण कहा है। यही विभावन व्यापार है और इसीपर नाटककी सफलता अवलंबित है।

राजशेखरने कहा है –'पदानाभिधित्सित ग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्' अर्थात् इच्छित अर्थको गूँथनेवाले पदोंके समूहको वाक्य कहते हैं। वाक्यकी यह परिभाषा नाटकके लिये अत्यन्त योग्य है। इसके साथ राजशेखरने वाक्योंके दस भेद भी बताए हैं एकाख्यात, अनेकाख्यात, आवृत्ताख्यात एकाभिधेयाख्यात, परिणताख्यात, अनुवृत्ताख्यात, समुचिताख्यात, अध्याहृताख्यात, कृतभिहिताख्यात और अनपेक्षिताख्यात। किन्तु नाटकोंके लिये इन दस भेदोंका कोई महत्त्व नहीं है—

ध्वनि

ऊपर हमने कहा है कि 'वाक्य-योजना ऐसी हो जो उचित ध्वनिके कारण उद्दिष्ट प्रभाव डाल सके' अतः ध्वनिका विवेचन भी उचित और आवश्यक है।

कुछ आचार्य काव्यकी आत्मा ध्वनि को ही मानते हैं—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। उनका कहना है कि जहाँ व्यंग्यार्थमें वाच्यार्थसे अधिक चमत्कार होता है वहीं ध्वनि होती है। इसका अर्थ यह है कि कहनेवाला जब कोई बात कहता है तो उस

वाक्यके शब्दोंकी रचनासे जो साधारणतः अर्थ निकलता है उससे भिन्न कोई अन्य अर्थ प्रकट करे। 'मैं आपको जानता हूँ' यह अत्यंत सीधा-सादा वाक्य है। इसका वाच्यार्थ व्यापक होकर यह अर्थ दे सकता है कि मैं आपके कुल, शील, रूप, गुण सबसे परिचित हूँ।" किन्तु प्रसंग-वश इसका यह भी अर्थ हो सकता है—मैं जानता हूँ कि तुम बड़े भारी शठ, धूर्त और अनाचारी हो। यह दूसरा अर्थ ध्वनित अर्थ है।

आचार्योंने ध्वनिके मुख्य दो भेद माने हैं—लक्षणामूला और अभिधामूला। लक्षणामूला ध्वनिको अविवक्षित वाच्य-ध्वनि कहते हैं अर्थात् वह ध्वनि जिसमें वाच्य अर्थकी तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें प्रयोजनवती गूढ़-व्यंग्या-लक्षणा होती है, रूढ़िलक्षणा नहीं। क्योंकि रूढ़ि-लक्षणामें व्यंग्य अर्थका अभाव रहता है।

लक्षणामूला ध्वनिके भी दो भेद होते हैं अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ध्वनि। जहाँ वाच्य अर्थ दूसरे अर्थमें बदल जाता है वहाँ अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि होती है।

अभिधामूला ध्वनिमें वाच्य अर्थकी भी आवश्यकता रहती है। इसीलिये इसे विवक्षित अन्यपरवाच्यध्वनि कहते हैं। अर्थात् इसमें वाच्य ध्वनिकी आवश्यकता तो रहती है किन्तु वह अन्यपरक या व्यंग्यसिद्ध होती है। इस ध्वनिमें पहले वाच्य अर्थका बोध होता है फिर व्यंग्य अर्थका। किन्तु कहीं तो इनका क्रम स्पष्ट होता है और कहीं अस्पष्ट। जहाँ वाच्य अर्थ और व्यंग्य अर्थके प्रकट होनेका क्रम स्पष्ट होता है वहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि होती है और जहाँ यह क्रम अर्थात् वाच्य अर्थ प्रकट होनेके पश्चात् व्यंग्य अर्थ ध्वनित होता हो वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य होता है।

असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य आठ प्रकारका होता है—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता। इनका वर्णन हम रसके प्रसंगमें सात्त्विकोंका वर्णन करनेके पश्चात् करेंगे क्योंकि रस और भाव आदिकी सृष्टि सात्त्विकोंके द्वारा ही होती है।

संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्यकी प्रतीति कहीं तो शब्द-शक्तिके द्वारा, कहीं अर्थ शक्तिके द्वारा और कहीं शब्द और अर्थ दोनोंकी शक्तियोंद्वारा होती है। इसलिये यह तीन प्रकारकी होती है। शब्दशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि, अर्थशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि और शब्दार्थ-उभयशक्ति-उद्भव-अनुरणनध्वनि। कवि जिस शब्दका प्रयोग करे उसी शब्दसे जहाँ व्यंग्य अर्थ प्रतीत हो, उसके अन्य पर्यायवाची शब्दोंसे न प्रतीत हो वहाँ शब्द-शक्ति-उद्भव-ध्वनि होती है। इस ध्वनिसे भी या तो वस्तुकी प्रतीति होगी या अलंकारकी, अर्थात् जहां अलंकाररहित व्यंग्य अर्थ प्रकट होता है वही वस्तु ध्वनि होती है। नाटकोंमें इसी ध्वनिका प्रयोग करना चाहिए जिससे वस्तु ध्वनित होती हो, अलंकार नहीं। जहाँ व्यंग्य अर्थमें अलंकार ध्वनित होता हो वहाँ अलंकार ध्वनि होती है।

जहाँ शब्दका पर्यायवाची दे देनेपर भी व्यंग्य बना रहे वहाँ अर्थशक्ति-उद्भव ध्वनि होती है। यह व्यंजक अर्थ तीन प्रकारका होता है। स्वतःसंभवी, कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध और कवि-निबद्ध पात्रकी प्रौढोक्ति मात्र सिद्ध। इन तीनोंमें कहीं-कहीं तो वाच्य और व्यंग्य दोनों ही अर्थ वस्तु या अलंकार होते हैं और कहीं एक वस्तु और दूसरा अलंकार-रूप होता है। इस क्रमसे इन तीनोंके चार-चार भेद होते हैं। स्वतःसंभवी अर्थ उसे कहते हैं जो कविकी कल्पनामात्र न हो वरन् लोक-व्यवहारमें उसका प्रयोग होता हो। इसीका प्रयोग नाटकमें पूर्णतः ग्राह्य होना चाहिए। यह भी वस्तु और अलंकार रूपसे चार प्रकार होता है। स्वतःसंभवी वस्तुसे वस्तु व्यंग्य, स्वतःसंभवी वस्तुसे अलंकार व्यंग्य, स्वतःसंभवी अलंकारसे अलंकार व्यंग्य,

जहाँ कवि-द्वारा निर्दिष्ट अर्थ कविकी कल्पनामात्र हो और लोक-व्यवहारमें असंभव हो उसे कविप्रौढ़ोक्ति-मात्र सिद्ध कहते हैं। इसके भी चार भेद हैं कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तुसे वस्तु व्यंग्य, कवि-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध वस्तुसे अलंकार व्यंग्य, कविप्रौढोक्ति-सिद्ध अलंकारसे वस्तु व्यंग्य, कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध अलंकारसे अलंकार व्यंग्य।

जहाँ कुछ शब्दोंके न बदलनेपर और कुछ शब्दोंके बदल देनेपर व्यंग्य अर्थ प्रकट हो वहाँ-शब्दार्थ-उभय-शक्ति-मूलक अनुरणनध्वनि होती है।

इन अठारह प्रकारकी ध्वनियोंके पदगत, वाक्यगत, प्रबंधगत, पदांशगत, वर्णगत और रचनागत ५१ (इक्यावन) भेद होते हैं।

इन सबका तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्दके साधारण अर्थके अतिरिक्त दूसरा अर्थ भी निकल सकता है और निकलता है। यह शब्द नाट्यकी दृष्टिसे चार प्रकारका होता है—एक तो वह जिसका अर्थ संबोध्य व्यक्ति ठीक समझ ले, दूसरा वह जिसका अर्थ संबोध्य व्यक्ति उलटा समझे, तीसरा वह जो संबोध्य व्यक्तिके अतिरिक्त अन्य ठीक समझें किन्तु संबोध्य व्यक्ति या तो न समझे या उलटा समझे और चौथा वह जहाँ कई व्यक्तियोंके बीचकी कही हुई बात निर्दिष्ट व्यक्ति ठीक समझ लें और अन्य व्यक्ति या तो न समझें या उलटा समझें। संवादोंको कुतूहलजनक बनानेके लिये प्रायः नाटककार इसी चौथी प्रकारकी शब्दावलीका प्रयोग करते हैं। कहीं कहीं ऐसी श्लिष्ट पदावलीका भी प्रयोग किया जाता है जहाँ दोनों अर्थ स्पष्ट प्रकट हों, दोनों सार्थक हों और जहाँ संबोधक और संबोध्य दोनोंको दोनों अर्थ ग्राह्य हों। शेक्सपीयरने अपने जूलियस सीज़र नाटकके प्रारम्भमें एक चर्मकार और दो राजपुरुषोंकी बातचीतमें इसका सुन्दर प्रयोग किया है—

राजपुरुष—क्यों जी ! तुम क्या काम करते हो ?

चर्मकार—बिगड़ोंकी मरम्मत करता हूँ। कहिए तो आपकी भी मरम्मत कर दूँ ?

राजपुरुष—क्या बकता है रे ! मेरी मरम्मत करेगा ?

चर्मकार—जी, आपकी नहीं, आपके जूतोंकी ।

उपर्युक्त संवादमें 'बिगड़ोंकी मरम्मत करता हूँ'—में बिगड़े जूतोंकी मरम्मत करना और बिगड़े हुए राजपुरुषोंकी मरम्मत करना दोनों अर्थ ध्वनित होते हैं और इन्हीं दोनों अर्थोंको क्रमसे राजपुरुषने भी ग्रहण किया। अतः नाटकीय संवादके शब्द या वाक्यमें ही इष्टार्थ होता है, वह चाहे एक हो या अनेक और इसी प्रकार जो बोध्य अर्थ होता है वह भी संबोध्य व्यक्तिकी योग्यता, बाह्य परिस्थिति, मनःस्थिति तथा प्रसंगके अनुसार एक या अनेक हो जाते हैं।

जहाँतक नाटकमें शब्द और अर्थका सम्बन्ध है, अभिनवभरतका मत है कि –

❀ सामाजिकबोध्यार्थः नाट्यशब्दार्थः ॥

[सामाजिक जो अर्थ समझ लें वही नाट्य-शब्दोंके अर्थ ।]

शब्द इस प्रकार प्रयुक्त किए जायँ कि वे नाटककारके इष्ट अभिप्राय तथा भावको अभिनेताओंके अभिनय-द्वारा दर्शकों या सामाजिकोंके हृदयतक पहुँचा दें और यही उन सामाजिकोंके हृदयतक पहुँचा हुआ भाव ही शब्दोंका वास्तविक अर्थ होगा।

नाटकीय संवादका काल

❀ भूतभाविवर्त्तमानकालव्यञ्जकानि नाट्यवाक्यानि ॥

(था, है, होगा भाव व्यक्त करनेवाले हैं वाक्य ।)

नाटकमें जितने प्रकारकी बातें कहलाई जाती हैं वे तीन कालकी द्योतिका होती हैं—एक भूत कालकी जो पहले हो चुकी हैं और जिनकी सूचना मात्र देनी होती है। दूसरी वे जो हों या हो रही हों या जिनका प्रारम्भ पहले हो चुका हो या जिनका प्रारम्भ अभी हुआ हो। तीसरी वे जो आगे स्वतः होनेवाली हों, जिनके होनेकी सम्भावना हो, जिनके किए जानेकी योजना हो या जिनके किए जानेका आदेश हो। प्राचीन नाट्याचार्योंने सूच्य घटनाओंके लिये अर्थोपक्षेपकोंकी योजना की थी और वे प्रवेशक, विष्कंभक, चूलिका, अङ्कास्य और अङ्कावतार-द्वारा भूत और भविष्यकी सूचना दे देते थे। सिद्धान्त-प्रकरणमें हमने उन प्रयोगोंको अस्वाभाविक बताते हुए उन्हें अग्राह्य बताया है। फिर भी भूत घटनाओंकी सूचना दूसरे किसी प्रकारसे संवाद-द्वारा देनी ही पड़ेगी और इसी प्रकार भविष्यकी योजना भी किसी दूसरे प्रकारसे अर्थोपक्षेपकोंके बिना ही देनी पड़ेगी। आजकलके सभी नाटककार मूल कथामें ही और नाटकके मुख्य पात्रोंके द्वारा ही भूत और भविष्यकी घटनाओंका निर्वाह कर लेते हैं। उसी प्रकरणमें हमने स्वगतकथन, आकाशभाषित, अपवारित, जनान्तिक आदिको भी अस्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह है कि नाटकीय संवादमें ही मुख्य पात्रोंके द्वारा आगे-पीछेकी कथाकी सूचना दी जाय और इस प्रकार संवादकी व्यवस्था की जाय कि उसमें आकाशभाषित, जनान्तिक, अपवारित तथा स्वगतभाषणकी आवश्यकता ही न रह जाय।

संवादकी परिभाषा

❀ प्रसंगपदानुरूपालापः वाक्प्रयोगश्च संवादः ॥

[पद-प्रसंग-अनुरूप बात या बोली है संवाद ।]

नाटकीय संवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियोंकी उस बातचीतको कहते हैं जिसमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति

प्रसङ्ग, आवश्यकता और पदके अनुरूप भाषामें वातें करते हों। कभी-कभी किसी उन्मत्त, सनकी, अर्धनिद्रित, रुग्ण या पीड़ित व्यक्तिका प्रलाप या चीत्कार तथा नेपथ्यसे की गई पुकार; कोलाहल या वाणीका भी प्रयोग आवश्यक होता है। कुछ रहस्यात्मक नाटकोंमें आकाशवाणी आदि अलौकिक कारणसे उद्भूत शब्दों और वाक्योंका भी प्रयोग होता है। इन सबके आवश्यक और अपरिहार्य संयोगको ही नाटकीय संवाद कहते हैं। इन सब सम्वादोंकी प्रकृति पात्रोंकी योग्यता, मर्यादा और मानसिक स्थितिके अनुकूल रक्खी जाती है।

वाक्योंसे पूर्व कुछ उन सम्बोधनात्मक शब्दोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है जो प्रायः रूढ़ हो गए हैं —

पूज्यके प्रति निर्देश-वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
सभी	देवता, मुनि, संन्यासी बहुश्रुत	भगवन्
	इनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
	विद्वान्	भाव
ब्राह्मण	नराधिप	नाम लेकर
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	नृपति	देव
मुनि	नृपति	राजा अथवा अपत्य प्रत्यय लगाकर, जैसे पृथाके पत्रको पार्थ, गंगाके पुत्रको गांगेय
विदूषक	राजा	सखे, राजन्
ब्राह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव
सारथि	रथी	आयुष्मन्, आर्य
	साधु, महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	भगिनीपति	आवुत्त
	सेनापति	श्याल
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी,
राजा	महिषी	देवी, भट्टारिका
,,	अन्य रानियाँ	देवी, प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
,,	माता	अम्ब
,,	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
	मातुल	आर्य

समानके प्रति निर्देश-वचन

पुरुष	पुरुष	वयस्य
स्त्री	स्त्री	हला, सखी

कनिष्ठके प्रति निर्देश-वचन

गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात
,,	अन्य जन	शिल्प अथवा अधिकारका नाम लेकर या भद्र, भद्रमुख
	नीच	हंडे
	अतिनीच	हजे
स्वामी	भृत्य	नाम लेकर

ऊपर जो सम्बोधनके प्रकार दिए हैं ये भारतीय शिष्टाचारसे सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु अब इस युगमें नाटककार इनका प्रयोग नहीं करते। ये सब सम्बोधन सब देशोंकी दृष्टिसे पांच प्रकारके हैं—१. पदके अनुकूल जैसे महाराज गुरुजी आदि। २. अवस्थाके अनुकूल, जैसे ओ लड़के, ओ बुड्ढे आदि। ३. सम्बन्धके अनुकूल जैसे पिताजी, माताजी, भाईजी आदि। ४. व्यवसायके अनुकूल जैसे ओ तरकारीवाले, ऐ सोनार, ऐ वकील साहब आदि। ५. साधारण व्यवहारके अनुसार, जैसे सब ब्राह्मणोंको पण्डितजी, क्षत्रियोंको ठाकुरसाहब या बाबूसाहब, वैश्योंको साहुजी, लालाजी या सेठजी और शूद्रोंको चौधरी या सरदार कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अनुद्दिष्ट सम्बोधन होते हैं जैसे रे, अरे, ओ आदि। ये सब सम्बोधन भी कुछ रुढ़ होते हैं, कुछ यौगिक। रुढ़ तो समाजमें व्यवहृत होते-होते मँज जाते हैं। पद और सम्बन्धके अनुकूल जितने सम्बोधन हैं सब रूढ़ हो गए हैं। किन्तु अन्य प्रकारके सम्बोधन सब यौगिक हैं और वे सम्बोधन करनेवालेकी योग्यता और प्रकृतिके अनुसार बदलते रहते हैं, जैसे एक बालक किसी आम वेचनेवालेको देखकर पुकारता है "अरे आमवाले", उसीको दूसरा शिष्ट पुरुष पुकारता है "अरे भाइ आमवाले"। कभी कभी इन व्यावसायिक सम्बोधनोंमें केवल व्यवसायकी वस्तु मात्रका

निर्देश रहता है, जैसे आमवालेको पुकारनेमें यह भी कहते हैं 'ओ आम'।

कुछ सम्बोधन अशिष्ट जनोंके द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं और वे या तो निम्न वर्गके लोगोंके पारस्परिक व्यवहारमें ही प्रचलित हैं या कभी-कभी उनका प्रयोग उच्च वर्गवाले नीच व्यक्तियोंके लिये कर देते हैं जैसे अबे, कबे क्यों बे आदि। इनके अतिरिक्त इसी श्रेणीमें वे सब सम्बोधन भी आते हैं जहाँ किसीको गाली देकर या किसी पशु-पक्षीसे तुलना करके सम्बोधित किया जाता है, जैसे साले, ससुर, गधे, उल्लू, सूअर आदि।

कभी-कभी स्नेह, सम्मान या आत्मीयतामें भी कुछ सम्बोधन प्रयुक्त होते हैं, जैसे लल्ला, मुन्ना, बच्चा, लाल, लालन, प्यारे, प्राणप्रिय, प्रिये, आदि। कभी-कभी कुछ ऐसे सम्बोधन देश विशेषमें रूढ़ हो जाते हैं जो अपने अभिन्न मित्रों या सर्वसाधारणके लिये अनेक अर्थोंकी व्यञ्जनाके साथ व्यवहृत होते हैं, जैसे काशीमें "गुरु" शब्द या "बाबा" साईं भाई, माई, आदि।

नाटकमें जितने भी वाक्य आते हैं वे भाव-प्रधान होते हैं अर्थात् मनुष्यके मन और हृदयकी भावनाओंसे रँगकर वे किसी विशिष्ट भावकी व्यञ्जना करना चाहते हैं। इनमेंसे कुछ तो केवल आचारसूचक होते हैं जो विभिन्न चरित्रोंके पद, मर्यादा और अवसरके अनुकूल केवल लोकाचारके प्रदर्शनार्थ प्रयोग किए जाते हैं, जैसे—मैं आपको प्रणाम करता हूँ। चिरञ्जीव हो या आयुष्मान् हो। ये आचार संस्कृतके अभिवादये और आयुष्मान् भावके रूपान्तर हैं। नागरी भाषामें बड़ोंको प्रणाम, समानको नमस्कार, छोटोंको जियो कहना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त आइए पधारिए, कहिए कुशल तो है, सब आपकी कृपा है, बाल-बच्चे तो अच्छे हैं, आदि आचार-वाक्योंका प्रयोग लोकाचारके अनुसार किया जाता है। ये प्रयोग देश-भेदके अनुसार अलग-अलग प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। कहीं राम-राम, कहीं जय सियाराम, कहीं जै श्रीकृष्ण, कहीं पालागन, कहीं दण्डवत् यहाँतक कि मुसलमानी आचारके अनुकरणमें बहुतसे हिन्दू भी आदाब अर्ज़, तसलीमात् अर्ज़, सलाम वालेकुम् आदिका प्रयोग भी करते हैं और अंग्रेजोंकी देखादेखी गुड मौर्निङ्ग, गुड नाइट, और गुड बाईका भी प्रयोग करते हैं। इन सब आचार-वाक्योंका देश, काल, पात्रके अनुसार प्रयोग करना चाहिए। उसके लिये कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। किन्तु शुद्ध भारतीय प्रणालीके अनुसार बड़ेको प्रणाम, समवयस्कको नमस्कार और छोटेको आशीर्वाद कहना चाहिए। 'सौभाग्यवती स्त्रियोंको सौभाग्य अचल हो' और कन्याओंको 'स्वस्तिमती हो' कहना चाहिए।

भावके अनुसार वाक्यके अनेक भेद हो सकते हैं जिनमेंसे मुख्य नीचे दिए जाते हैं—

सभी वाक्य या तो विधिवाची होते हैं या तो निषेधवाची। जैसे "मैं जा रहा हूँ" विधिवाची है, "मैं नहीं जा रहा हूँ" यह निषेधवाची है। किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें विधि या निषेधकी बात नहीं होती। उसमें सम्बोध्य व्यक्तिसे निश्चित रूपसे कोई कार्य करानेकी भावना होती है किन्तु उसके लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह विधिमुखेन प्रवृत्तिवाला भी हो सकता है और निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला भी। निम्नलिखित दोनों अनुनयात्मक वाक्योंका अर्थ यही है कि आप मेरे लिये अमुक कार्य कीजिए किन्तु दोनोंकी प्रवृत्ति अलग-अलग है। विधिमुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य यह होगा "आप कृपा कर मेरा यह काम अवश्य कर दीजिए।" निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य होगा "आप क्या मेरे लिये यह काम नहीं कर दीजिएगा" (अर्थात् अवश्य कर दीजिएगा)।

वाक्यकी एक तीसरी प्रवृत्ति होती है जिसे काकु प्रवृत्ति कहते हैं। उसकी अर्थव्यञ्जना कहनेवालेके ढंगपर अवलम्बित होती है। "आप तो साक्षात् बृहस्पति हैं, या आइए पण्डितराज, अथवा आप थे!" आदि वाक्योंमें बोलनेके अनुसार यह अर्थ निकल सकता है कि "आप परम मूर्ख हैं, आइए मूर्खराज, यह मूर्खताका काम सिवाय आपके कौन कर सकता है।" ये सब वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रश्नवाची, दूसरे उक्तिवाची और ये सब वाक्य भी विधि-निषेधात्मक होते हैं।

भावके अनुसार वाक्य रचना

ऊपर कहा जा चुका है कि नाटकमें सभी वाक्य प्रायः भावात्मक होते हैं अर्थात् उनकी रचना भावके अनुकूल

प्रसङ्ग, आवश्यकता और पदके अनुरूप भाषामें बातें करते हों। कभी-कभी किसी उन्मत्त, सनकी, अर्धनिद्रित, रुग्ण या पीड़ित व्यक्तिका प्रलाप या चीत्कार तथा नेपथ्यसे की गई पुकार, कोलाहल या वाणीका भी प्रयोग आवश्यक होता है। कुछ रहस्यात्मक नाटकोंमें आकाशवाणी आदि अलौकिक कारणसे उद्‌भूत शब्दों और वाक्योंका भी प्रयोग होता है। इन सबके आवश्यक और अपरिहार्य संयोगको ही नाटकीय संवाद कहते हैं। इन सब सम्वादोंकी प्रकृति पात्रोंकी योग्यता, मर्यादा और मानसिक स्थितिके अनुकूल रक्खी जाती है।

वाक्योंसे पूर्व कुछ उन सम्बोधनात्मक शब्दोंका विवेचन कर लेना आवश्यक है जो प्रायः रूढ़ हो गए हैं —

पूज्यके प्रति निर्देश-वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश-वचन
सभी	देवता, मुनि, संन्यासी बहुश्रुत	भगवन्
	इनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
	विद्वान्	भाव
ब्राह्मण	नराधिप	नाम लेकर
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	नृपति	देव
मुनि	नृपति	राजा अथवा अपत्य प्रत्यय लगाकर, जैसे पृथाके पुत्रको पार्थ, गंगाके पुत्रको गांगेय
विदूषक	राजा	सखे, राजन्
ब्राह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव
सारथि	रथी	आयुष्मन्, आर्य
	साधु, महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	भगिनीपति	आवुत्त
	सेनापति	श्याल
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी,
राजा	महिषी	देवी, भट्टारिका
,,	अन्य रानियाँ	देवी, प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
,,	माता	अम्ब
,,	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
	मातुल	आर्य

समानके प्रति निर्देश-वचन

पुरुष	पुरुष	वयस्य
स्त्री	स्त्री	हला, सखी

कनिष्ठके प्रति निर्देश-वचन

गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात
,,	अन्य जन	शिल्प अथवा अधिकारका नाम लेकर या भद्र, भद्रमुख
	नीच	हंडे
	अतिनीच	हजे
स्वामी	भृत्य	नाम लेकर

ऊपर जो सम्बोधनके प्रकार दिए हैं ये भारतीय शिष्टाचारसे सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु अब इस युगमें नाटककार इनका प्रयोग नहीं करते। ये सब सम्बोधन सब देशोंकी दृष्टिसे पांच प्रकारके हैं—१. पदके अनुकूल जैसे महाराज गुरुजी आदि। २. अवस्थाके अनुकूल, जैसे ओ लड़के, ओ बुड्ढे आदि। ३. सम्बन्धके अनुकूल जैसे पिताजी, माताजी, भाईजी आदि। ४. व्यवसायके अनुकूल जैसे ओ तरकारीवाले, ऐ सोनार, ऐ वकील साहब आदि। ५. साधारण व्यवहारके अनुसार, जैसे सब ब्राह्मणोंको पण्डितजी, क्षत्रियोंको ठाकुरसाहब या बाबूसाहब, वैश्योंको साहुजी, लालाजी या सेठजी और शूद्रोंको चौधरी या सरदार कहते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अनुद्दिष्ट सम्बोधन होते हैं जैसे रे, अरे, ओ आदि। ये सब सम्बोधन भी कुछ रूढ़ होते हैं, कुछ यौगिक। रूढ़ तो समाजमें व्यवहृत होते-होते मँज जाते हैं। पद और सम्बन्धके अनुकूल जितने सम्बोधन हैं सब रूढ़ हो गए हैं। किन्तु अन्य प्रकारके सम्बोधन सब यौगिक हैं और वे सम्बोधन करनेवालेकी योग्यता और प्रकृतिके अनुसार बदलते रहते हैं, जैसे एक बालक किसी आम बेचनेवालेको देखकर पुकारता है "अरे आमवाले", उसीको दूसरा शिष्ट पुरुष पुकारता है "अरे भाइ आमवाले"। कभी कभी इन व्यावसायिक सम्बोधनोंमें केवल व्यवसायकी वस्तु मात्रका

निर्देश रहता है, जैसे आमवालेको पुकारनेमें यह भी कहते हैं 'ओ आम'।

कुछ सम्बोधन अशिष्ट जनोंके द्वारा प्रयुक्त किए जाते हैं और वे या तो निम्न वर्गके लोगोंके पारस्परिक व्यवहारमें ही प्रचलित हैं या कभी-कभी उनका प्रयोग उच्च वर्गवाले नीच व्यक्तियोंके लिये कर देते हैं जैसे अबे, कबे क्यों बे आदि। इनके अतिरिक्त इसी श्रेणीमें वे सब सम्बोधन भी आते हैं जहाँ किसीको गाली देकर या किसी पशु-पक्षीसे तुलना करके सम्बोधित किया जाता है, जैसे साले, ससुर, गधे, उल्लू, सूअर आदि।

कभी-कभी स्नेह, सम्मान या आत्मीयतामें भी कुछ सम्बोधन प्रयुक्त होते हैं, जैसे लल्ला, मुन्ना, बच्चा, लाल, लालन, प्यारे, प्राणप्रिय, प्रिये, आदि। कभी-कभी कुछ ऐसे सम्बोधन देश विशेषमें रूढ़ हो जाते हैं जो अपने अभिन्न मित्रों या सर्वसाधारणके लिये अनेक अर्थोंकी व्यञ्जनाके साथ व्यवहृत होते हैं, जैसे काशीमें "गुरु" शब्द या "बाबा" साईं भाई, माई, आदि।

नाटकमें जितने भी वाक्य आते हैं वे भाव-प्रधान होते हैं अर्थात् मनुष्यके मन और हृदयकी भावनाओंसे रँगकर वे किसी विशिष्ट भावकी व्यञ्जना करना चाहते हैं। इनमेंसे कुछ तो केवल आचारसूचक होते हैं जो विभिन्न चरित्रोंके पद, मर्यादा और अवसरके अनुकूल केवल लोकाचारके प्रदर्शनार्थ प्रयोग किए जाते हैं, जैसे—मैं आपको प्रणाम करता हूँ। चिरञ्जीव हो या आयुष्मान् हो। ये आचार संस्कृतके अभिवादये और आयुष्मान् भावके रूपान्तर हैं। नागरी भाषामें बड़ोंको प्रणाम, समानको नमस्कार, छोटोंको जियो कहना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु इसके अतिरिक्त आइए पधारिए, कहिए कुशल तो है, सब आपकी कृपा है, बाल-बच्चे तो अच्छे हैं, आदि आचार-वाक्योंका प्रयोग लोकाचारके अनुसार किया जाता है। ये प्रयोग देश-भेदके अनुसार अलग-अलग प्रकारसे प्रयुक्त होते हैं। कहीं राम-राम, कहीं जय सियाराम, कहीं जै श्रीकृष्ण, कहीं पालागन, कहीं दण्डवत् यहाँतक कि मुसलमानी आचारके अनुकरणमें बहुतसे हिन्दू भी आदाब अर्ज़, तसलीमात् अर्ज़, सलाम वालेकुम् आदिका प्रयोग भी करते हैं और अंग्रेजोंकी देखादेखी गुड मौर्निङ्ग, गुड नाइट, और गुड बाईका भी प्रयोग करते हैं। इन सब आचार-वाक्योंका देश, काल, पात्रके अनुसार प्रयोग करना चाहिए। उसके लिये कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। किन्तु शुद्ध भारतीय प्रणालीके अनुसार बड़ेको प्रणाम, समवयस्कको नमस्कार और छोटेको आशीर्वाद कहना चाहिए। 'सौभाग्यवती स्त्रियोंको सौभाग्य अचल हो' और कन्याओंको 'स्वस्तिमती हो' कहना चाहिए।

भावके अनुसार वाक्यके अनेक भेद हो सकते हैं जिनमेंसे मुख्य नीचे दिए जाते हैं—

सभी वाक्य या तो विधिवाची होते हैं या तो निषेधवाची। जैसे "मैं जा रहा हूँ" विधिवाची है, "मैं नहीं जा रहा हूँ" यह निषेधवाची है। किन्तु कभी-कभी कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें विधि या निषेधकी बात नहीं होती। उसमें सम्बोध्य व्यक्तिसे निश्चित रूपसे कोई कार्य करानेकी भावना होती है किन्तु उसके लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है वह विधिमुखेन प्रवृत्तिवाला भी हो सकता है और निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला भी। निम्नलिखित दोनों अनुनयात्मक वाक्योंका अर्थ यही है कि आप मेरे लिये अमुक कार्य कीजिए किन्तु दोनोंकी प्रवृत्ति अलग-अलग है। विधिमुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य यह होगा "आप कृपा कर मेरा यह काम अवश्य कर दीजिए।" निषेधमुखेन प्रवृत्तिवाला वाक्य होगा "आप क्या मेरे लिये यह काम नहीं कर दीजिएगा" (अर्थात् अवश्य कर दीजिएगा)।

वाक्यकी एक तीसरी प्रवृत्ति होती है जिसे काकु प्रवृत्ति कहते हैं। उसकी अर्थव्यञ्जना कहनेवालेके ढंगपर अवलम्बित होती है। "आप तो साक्षात् बृहस्पति हैं, या आइए पण्डितराज, अथवा आप थे!" आदि वाक्योंमें बोलनेके अनुसार यह अर्थ निकल सकता है कि "आप परम मूर्ख हैं, आइए मूर्खराज, यह मूर्खताका काम सिवाय आपके कौन कर सकता है।" ये सब वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रश्नवाची, दूसरे उक्तिवाची और ये सब वाक्य भी विधि-निषेधात्मक होते हैं।

भावके अनुसार वाक्य रचना

ऊपर कहा जा चुका है कि नाटकमें सभी वाक्य प्रायः भावात्मक होते हैं अर्थात् उनकी रचना भावके अनुकूल

होती है। भावानुकूल वाक्य-रचनामें कभी-कभी विशेष बल देने अथवा प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये शब्दोंका विपर्यय भी कर दिया जाता है। जैसे—"मैं तुम्हें जानता हूँ" वाक्यको "मैं जानता हूँ तुम्हें," अथवा "तुम्हें मैं जानता हूँ" अथवा "तुम्हें जानता हूँ मैं," विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया जा सकता है। अतः वाक्य-रचनामें इस बातपर पूरा ध्यान देना चाहिए कि कोई निर्दिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये कौन-सा शब्द वाक्यमें कहाँ रक्खा जाय।

सूचनात्मक वाक्य

साधारणतः अधिकांश वाक्य सूचनात्मक होते हैं। "मैंने अमुक कार्य किया, मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ, मैं अमुक कार्य करनेवाला हूँ या करूँगा अथवा मैंने अमुक कार्य नहीं किया, मैं नहीं कर रहा हूँ अथवा मैं नहीं करूँगा।" इनमें दोनों प्रकारके विधि और निषेधवाची वाक्य सूचनात्मक हैं। साधारण बातचीतमें जहाँ केवल सूचना देने भरकी बात होती है और उसके साथ कोई किसी प्रकारकी स्वानुरक्ति संलग्न नहीं होती वहाँ इसी प्रकारके सूचनात्मक वाक्योंका प्रयोग होता है। दास, दासी, शिष्य अथवा अन्य कोई भी जो किसीके कुछ पूछनेपर या सन्देश सुनाते समय या समाचार देते हुए जब निर्लिप्त भावसे कोई सूचना देता है अर्थात् जब इस भावसे सूचना देता है जिसमें उसके व्यक्तिगत हित या अहितकी बात नहीं रहती तब वह शुद्ध सूचनात्मक कहलाता है। इसीके साथ जब कोई निर्लिप्त भावसे किसीसे कोई आज्ञा माँगता है उस समय जो प्रश्नात्मक वाक्य कहे जाते हैं वे भी इसी श्रेणीके होते हैं। जैसे—क्या मैं घर जा सकता हूँ ? आदि। इन प्रश्नोंमें भाव यही रहता है कि मेरा काम जितना था वह मैंने पूरा कर लिया उसकी मैं आपको सूचना दे रहा हूँ, आप मुझे जानेकी आज्ञा दीजिए। ये वाक्य यद्यपि जान तो प्रश्नात्मक पड़ते हैं किन्तु उनकी वृत्ति सूचना देने मात्रकी ही होती है।

प्रश्नात्मक वाक्य

प्रश्नात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। एक तो केवल जिज्ञासाकी तृप्तिके लिये जैसे—क्या आप वहाँ गए थे, क्या आप उधर जाइएगा आदि। कुछ ऐसे प्रश्नात्मक वाक्य होते हैं जिनमें आशंकी भावना निहित रहती है जैसे—"क्या तुम नहीं जाओगे, क्या तुम नहीं करोगे" इत्यादि।

तीसरे प्रकारके प्रश्नात्मक वाक्य वे हैं जिनमें किसी दूसरेके मनका भेद निकलवानेकी प्रवृत्ति होती है या किसी विशेष कार्यके लिये भेजे हुए व्यक्तिसे सविशेष जाननेकी उत्कण्ठा होती है। इनमेंसे प्रथम प्रकारके वाक्योंमें काँइयाँपन, धूर्तता, कूटनीतिज्ञता भरी होती है। जैसे—"जब तुम गए और तुमने मेरे विषयमें पूछा तब उनका मुँह कैसा हो गया था ?" अथवा 'तुम्हारी बात सुनकर क्या उन्होंने मेरे विषयमें कुछ पूछा था" आदि। उत्कण्ठापूर्ण प्रश्नात्मक वाक्योंमें प्रायः उत्तर थोड़ा होता है किन्तु प्रश्न अधिक होते हैं, जैसे अपने प्रियके पाससे सन्देश लानेवाली दूतीसे कोई नायिका पूछती है 'कहो मिल आई ? कैसे थे ? क्या कर रहे थे ? मेरी बात सुनकर क्या कहा ? कुछ मेरे लिए भी सन्देश दिया है ?' आदि।

इनके अतिरिक्त जो प्रश्नात्मक वाक्य होते हैं वे मानसिक भावके अनुसार अलग-अलग प्रकारके होते हैं उनका विवरण आगे होगा।

समर्थनात्मक वाक्य

कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें किसीके कहे हुए वक्तव्यका समर्थन मात्र होता है। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एकमें समर्थन करनेवाला कहनेवालेके प्रति पूरी सहानुभूतिके साथ सक्रिय रूपसे योग देता है। अर्थात् उसमें समर्थन करनेवालेकी स्वानुरक्ति होती है जैसे "ठीक किया आपने, मैं भी उसको समझ लूँगा।" दूसरे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें केवल चाटुकारिताका प्रदर्शन होता है जैसे—"बड़ा अच्छा किया आपने, आप न करेंगे तो ऐसा करेगा कौन ?" तीसरे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे हैं जहाँ किसीके कार्यकी प्रशंसामें उसका समर्थन किया जाय, जैसे—"आपने देशके लिये जो त्याग किया है वह बहुत अच्छा किया है हम सब उससे गौरवान्वित हैं।" एक चौथे प्रकारके समर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिन्हें अर्ध-समर्थनात्मक समझना चाहिए जैसे—"अच्छा, जो किया ठीक ही किया," आदि।

समर्थनात्मकके उलटे विरोधात्मक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं। एकमें उद्दण्डता और अधिकार होता है जैसे "तुम कुछ नहीं जानते, तुम ठीक नहीं कर रहे हो।"

दूसरेमें मित्र-बुद्धि रहती है जैसे—"भाई तुम जो चाहो सो करो पर मेरी सम्मति नहीं है।" तीसरे कान्तासम्मिततया विरोध होता है जैसे—"यदि तुम यह नहीं करोगे तो मैं विष खाकर प्राण दे दूँगा, डूब मरूँगा, नहीं बोलूँगा।" कुछ विरोधात्मक वाक्य ऐसे होते हैं जिनमें ढुलमुलपना होता है जैसे—"आप यह न करते तो अच्छा ही था किन्तु कर रहे हैं तो कोई चिन्ता नहीं, देखा जायगा" अथवा "देखिए क्या होता है, आपने तो कर ही दिया।" पद और मर्यादाके अनुकूल ऐसे विरोधात्मक वाक्य अनेक कौशलोंसे कहे जा सकते हैं, जैसे—"आपके पितामहने आजतक दीनोंको अपने द्वारसे विमुख नहीं किया। आपके पिताजीने स्वयं द्वारपर खड़े होकर न जाने कितने निर्धनोंको धनी बना दिया, कितने अनाथोंको सनाथ कर दिया। वे जब स्वर्गसे देखेंगे कि आपके हाथ संकुचित हुए बैठे हैं तब उन्हें कितना दुःख होगा।" इस वाक्यसे अनुदार व्यक्तिकी अनुदारताका विरोध किया गया है और उदारताके लिये उत्साहित किया गया है।

आदेशात्मक वाक्य

कुछ वाक्य आदेशात्मक होते हैं। ये आदेश समय, प्रकृति, सम्बोध्य व्यक्ति तथा परिस्थितिके अनुसार विभिन्न प्रकारके हो सकते हैं। राजा अपने सेवकको, सेनापति अपने सैनिकको शुद्ध आज्ञा देता है—ऐसा करो, ऐसा मत करो। कोई प्रेमी या प्रेयसी भी अपने प्रियके पास सन्देश देनेके लिए आदेशात्मक वक्यका प्रयोग करती है—

"देखो, वहाँ जाना तो इस प्रकार कहना, इस प्रकार मनाना, इस प्रकार मेरा विरह वर्णन करना।" कभी-कभी मनुष्य क्रोध या हठमें आकर कुछ आदेश देता है—यह करो नहीं तो खाल खींच लूँगा, प्राण ले लूँगा। कुछ आदेश केवल स्नेहवश दिए जाते हैं. जैसे—वृद्ध पिता अपने प्रौढ़ पुत्रको यात्राके समय समझाता है—देखो किसी ऐसे-वैसेके साथ मत उठना-बैठना, पैसा सँभाल कर रखना, चलती गाड़ीपर मत चढ़ना। कुछ आदेश मित्रों या समीपवर्तियोंके होते हैं—वहाँ जाना तो अमुक वस्तु ले आना, उसके लिये प्रयत्न करना, उसे सहायता देना आदि। कभी-कभी साधु-संन्यासी लोग विशिष्ट फलके लिये अपने शिष्योंको आदेश देते हैं—अमुक प्रकारसे मन्त्रका जप करो या अमुक अनुष्ठान कराओ तो अमुक फल होगा। ये आदेश सदा मान्य नहीं होते किन्तु ऊपर जितने आदेशोंका वर्णन है वे सब अवस्थामें प्रायः मान्य होते हैं।

सम्मतिसूचक वाक्य

कुछ वाक्य सम्मत्यात्मक होते हैं। इनकी वृत्ति यह होती है कि इनमें दोनों पक्षोंका हिताहत समझाया जाता है, निर्णय कुछ भी नहीं दिया जाता, जैसे—अमुक कार्य करनेसे तुम्हें द्रव्य मिलेगा, यश भी प्राप्त होगा किन्तु वहाँका जलवायु तुम्हारे स्वास्थ्यके अनुकूल नहीं होगा। जा रहे हो तो जाओ पर दो बातें हैं उनका ध्यान रखना, एक तो वहाँ ठग बहुत हैं और दूसरे वहाँ गुणज्ञ कोई नहीं है। तीसरे प्रकारकी सम्मति निर्णयात्मक सम्मति कहलाती है। इसमें निर्णय तो दे दिया जाता है किन्तु मानने न माननेका अधिकार सम्बोध्यपर छोड़ दिया जाता है, जैसे वहाँ जाओगे तो निश्चय तुम्हें रोग पकड़ लेगा। अब सोच लो जो चाहो वह करो। ये सम्मत्यात्मक वाक्य कभी-कभी छल और प्रवञ्चना पूर्ण भी होते हैं। इनका उद्देश्य ऐसी भ्रमात्मक सम्मति देना होता है जिससे सम्बोध्यको निश्चित रूपसे हानि हो। जैसे—उस व्यक्तिका कभी भी विश्वास न कीजिएगा, वह भाई होते हुए भी आपके विरुद्ध षड्यन्त्र करता रहता है। उसका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए। धूर्त, प्रवञ्चक, षड्यन्त्रकारी और कुटिलजन सदा इसी प्रकारकी सम्मति देते हैं। उनकी शब्दावलीमें जितनी अधिक आत्मीयता होगी उतनी ही अधिक वह प्रभावशाली होगी जैसे—"आज मैं गया था आपके लिये कुछ फल लेने। वहाँ देखा तो आपके भाई खड़े हुए आपके लिये दस बातें सुना रहे थे। मुझसे भी न रहा गया, मैंने भी उनको भर पेट सुनाया। उन्होंने मेरा अपमान भी किया पर आपके लिये मैंने सब सह लिया। आप जैसे देवताका ऐसा भाई, राम-राम, फिर भी आप उसके लिए प्राण दे रहे हैं। मेरा ऐसा भाई होता तो कभी उसका मुँह न देखता। आपके लिये ऐसे-ऐसे दुर्वचन कहे, मुझे तो कहनेमें लज्जा आती है", आदि।

उपदेशात्मक वाक्य

उपदेशात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें वृद्ध, गुरु, साधु, संन्यासी अथवा महापुरुष किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज

या सम्पूर्ण मानव-समाजके हितकी बात कहते हैं। इन सब वाक्योंमें कहनेवाला अपने अनुभवकी अथवा पुराणेतिहास-सिद्ध घटनाओंका उदाहरण देकर अपने वक्तव्यका समर्थन करते हैं। जैसे—वे तुम्हारे बड़े भाई हैं। जानते हो लक्ष्मण और भरतने अपने बड़े-भाईके लिये क्या किया? एकने चौदह वर्षतक उनके साथ जंगलमें रहकर उनकी सेवा की और दूसरेने भाईके लिये मिला हुआ राज्य भी छोड़ दिया। क्या तुम अपने भाईके लिये थोड़ासा भी त्याग नहीं कर सकते।

दूसरे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कहनेवाला अपने वय अथवा पदके कारण अपनेको उपदेश का अधिकारी समझकर उपदेश देता है। जैसे—अरे भाई हमारे पके हुए बालोंका तो कुछ ध्यान करो, हमारी बात तुम्हें माननी होगी, हम जैसा कहें वैसा करनेमें तुम्हें लाभ ही होगा।

तीसरे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जिनमें माता, पिता अथवा बड़े लोग शिष्टाचारकी शिक्षा देते हैं जिनमें फलकी भी साथ-साथ विवेचना रहती है जैसे—बड़ोंकी सेवा करोगे, उनका आदर करोगे तो बुद्धि बढ़ेगी, आयुष्य बढ़ेगा आदि।

चौथे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जिनमें कोई वय या पदमें छोटा व्यक्ति अपनेसे वय या पदमें बड़े व्यक्तिके अनीतियुक्त अथवा अनुचित कार्यपर समझाता हो। जैसे विभीषणने रावणको समझाया कि "सीताजी जगदम्बा हैं उन्हें हर लानेसे आपका कल्याण नहीं।"

पाँचवें प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जहां कोई व्यक्ति अपने स्वामी या अपने किसी वृद्ध अभिभावक अथवा गुरुके आदेशानुसार किसी को जाकर उपदेश दे जैसे अंगदने रावणको उपदेश दिया था।

छठे प्रकारके उपदेशात्मक वाक्य वे हैं जहाँ कोई सखी या वृद्धा किसी प्रेमासक्त नारीको प्रेम-विरत होनेका उपदेश देती हो।

पिछले तीन प्रकारके उपदेश प्रायः ग्राह्य नहीं हुआ करते और सम्बोध्य-द्वारा इनका विरोध, तिरस्कार या उपेक्षा होती है।

तर्जनात्मक वाक्य

तर्जनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति किसी दूसरेको हानि पहुँचानेका भय दिखाकर उग्र शब्दोंमें सम्बोधन करे। ये तर्जनात्मक वाक्य चार प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें माता, पिता, गुरु और स्वामी अपने शिष्य या सेवकको अनुचित कार्य करनेसे रोकनेके लिये, अनुचित कार्य कर देने या पुनः न करने देनेके लिये, या अनुचित कार्यमें बार-बार प्रवृत्त होनेपर उसे शारीरिक या बहिष्करण दण्ड देनेके लिये उद्धत शब्दोंमें सम्बोधन करते हैं। ऐसे तर्जनात्मक वाक्योंका उत्तर प्रायः दैन्यपूर्ण आत्मनिवेदन और क्षमाप्रार्थना होती है। इन तर्जनात्मक वाक्योंके साथ प्रायः ताड़नका भी प्रयोग होता है।

दूसरे प्रकारके तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जहां दो प्रतिद्वन्द्वी अपने स्वत्वकी रक्षाके लिये अथवा अपना स्वत्व नष्ट होनेपर प्रतिहिंसाकी भावनासे तर्जन करते हैं। ये तर्जनात्मक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एकमें केवल गाली-गलौज होकर रह जाती है और इसमें भाग लेनेवाले दोनों प्रतिद्वन्द्वी कायर होते हैं जो केवल मौखिक युद्ध तक तो करते हैं और कभी-कभी बाँह भी समेट लेते हैं पर इससे आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकारके तर्जनात्मक वाग्युद्ध प्रहसनोंमें बहुत उपयुक्तताके साथ प्रयुक्त हो सकते हैं। इस श्रेणीके दूसरे तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जो ओज, आवेश, क्रोधके साथ तर्जनयुक्त वाक्योंसे बढ़ते-बढ़ते मारपीट और युद्ध तक पहुँच जाते हैं।

तीसरे प्रकारके तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जिनका प्रयोग वीर लोग युद्धमें अपने शत्रुओंको ललकारते समय करते हैं। यह इस प्रकारका तर्जन सात्त्विक तर्जन कहा जाता है और उत्साह उसका प्रेरक होता है। प्रायः सभी प्रकारके तर्जनात्मक वाक्योंमें क्रोधकी भावना अवश्य रहती है। यह क्रोध जितना अधिक सात्त्विक अथवा उदात्त होगा उतना ही अधिक तर्जनात्मक वाक्य भी उदात्त और शिष्ट होगा। जैसे घोड़ा चुरा ले जानेवाले इन्द्रको रघुने कहा था—"हे इन्द्रदेव! आप मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञके लिये अश्वको छोड़ दीजिए। आप तो वेदका मार्ग दिखाने वाले महात्मा हैं। ऐसा ओछा काम करना आपको शोभा नहीं देता।" इस पर भी जब इन्द्र न माने तब रघुने तर्जन

करते हुए कहा—"यदि आपने यही निश्चय किया हो तो उठाइए शस्त्र और कीजिए युद्ध, रघुको जीते बिना आप घोड़ा लेकर नहीं जा सकते।" किन्तु ज्यों-ज्यों क्रोधमें प्रति-हिंसा, दम्भ और अभिमानका सम्मिश्रण होता रहता है त्यों त्यों तर्जनात्मक वाक्य अत्यन्त निम्न कोटिके हो जाते हैं और उनमें गाली भर जाती है।

तर्जनात्मक वाक्योंमें एक और प्रकारके मदपूर्ण तर्जनात्मक वाक्य होते हैं जिनमें यह आवश्यक नहीं होता कि प्रतिपक्षी सामने हो, जैसे—किसी शत्रुका पत्र पढ़कर, सन्देश पाकर अथवा किसीके द्वारा अपने विरुद्ध शत्रुका आचार सुनकर मदपूर्ण तर्जनात्मक वाक्यका प्रयोग करना। ये वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एकमें आत्म-विश्वास होता है—जैसे, करे न चढ़ाई, हम किस बातमें कम हैं। आप जैसे सेनापतियोंके रहते हम उसके जैसे दस शत्रुओंको ललकार सकते हैं। इसमें आत्मविश्वासके साथ प्रतिपक्षीके प्रति उपेक्षा भी भरी रहती है। दूसरे प्रकारके मदपूर्ण तर्जनात्मक वाक्य वे हैं जिनमें आत्मप्रशंसा और अभिमान भरा रहता है, जैसे—मैं उसको समझता क्या हूँ, मैं उसे चुटकीमें मसल दूँगा। मेरे बाणोंके आगे उसकी सेना एक क्षण भी ठहर नहीं सकती आदि।

अधिकारात्मक वाक्य

अधिकारात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें दो स्नेही मित्र एक दूसरेपर इतना अधिकार समझते हैं कि एककी बात दूसरा टाल नहीं सकता, जैसे—"जैसे भी हो यह काम तुम्हें करना ही होगा। मेरे लिये तुम इतना कर दो, इसमें मेरे मानका प्रश्न है अतः तुम्हें करना ही होगा" आदि।

ये अधिकारात्मक वाक्य कभी-कभी धर्मबन्धनसे समर्थन करके भी प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे कष्टमें पड़ी हुई कोई अपरिचिता भी किसी समर्थ व्यक्तिको राखी भेजकर कहलावे—"यह राखी भेजती हूँ, आजसे तुम मेरे भाई हो, रक्षक हो। मुझे इस विपत्तिसे बचाना तुम्हारा धर्म है।"

प्रार्थनात्मक वाक्य

कुछ ऐसे वाक्य होते हैं जिनमें किसी व्यक्तिसे कुछ कार्य करनेकी कुछ प्रार्थना की जाती है। वे वाक्य परिस्थिति-के अनुसार चार प्रकारके हो जाते हैं—अनुनयात्मक, अभ्यर्थनात्मक, अनुरोधात्मक, और आग्रहात्मक।

अनुनयात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई व्यक्ति अपनेसे बड़े—अपने स्वामी अथवा राजा—से किसी विशेष पुरस्कार, प्रतिकार या कृपाकी भिक्षा माँगता है। प्रायः अनुनयात्मक वाक्य अपनेसे अतिरिक्त किसी दूसरेके हितकी साधनाके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। जैसे—"मेरा अनुनय है इस बार इसे छोड़ दीजिए, क्षमा कर दीजिए या इसकी भूमि लौटा दीजिए"। किन्तु कभी-कभी अपने लिये भी अनुनय किया जा सकता है। उस समय यह दैन्य प्रार्थनायुक्त हो जाता है। इस प्रकारके वाक्यमें गिड़गिड़ाकर कहनेकी प्रवृत्ति होती है और अपने विशिष्ट अहितकी, आशंका भी प्रकट की जा सकती है, जैसे—"इस बार छोड़ दीजिए सरकार, आप हमारे माई बाप हैं, आप दया न कीजिएगा तो सारा घर बिगड़ जायगा" आदि।

अभ्यर्थनात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें कोई विशिष्ट पुरुष किसी मंगल कार्यके लिये शासकों या जनतासे किसी विशेष व्यवहार या सहायताके लिये कहे। जैसे—"गुजरातमें दुर्भिक्ष पड़ गया है, पशु समाप्त हो गए हैं, मनुष्य भूखसे व्याकुल घूम रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मैं अभ्यर्थना करता हूँ कि आप लोग अपनी रोटीका चौथाई भाग उन पीड़ित भाइयोंके लिये भेजें जिन्होंने एक माससे अन्नका दर्शन नहीं किया है।"

अथवा "आपलोगोंने जिन्हें अपना अतिथि बनाकर बुलाया उन्होंने आपका वैभव लूटकर आपको निःसत्व करके अपने भण्डार भरे और अपने शरीर पाले। आज वह समय आ गया है कि आप अपने पैरों पर खड़े होकर इस अन्यायके विरुद्ध खड़े हों और अपना छीना हुआ अधिकार लौटा लें।" इनमेंसे पहले प्रकारके वाक्योंमें करुणा और भावुकता प्रधान होती है। दूसरे प्रकारमें आवेश और उत्तेजनाका प्राधान्य होता है।

अनुरोधात्मक वाक्य वे हैं जहां सम्बोध्यसे कुछ सम्बन्ध अवश्य हो किन्तु उस सीमा तक न हो कि उसे आज्ञा दे सकें या अधिकारसे वशमें कर सके। अपने नेताओं अथवा शासकों तथा बड़ोंसे अनुरोध किया जाता है कि जो काम कहा जाय वह करें। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि अनुरोधको सम्बोध्य मान ही ले। इन अनुरोधात्मक वाक्योंका प्रयोग साधारण परिचितोंके लिये भी किया जा सकता है। जैसे—'तुम्हारे मामीका अनुरोध है कि

विवाहमें अवश्य सम्मिलित होना, आशा है तुम इस अनुरोधको टालोगे नहीं।',

आग्रहात्मक वाक्य तीन प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें शुद्ध हठ भरा रहता है, जैसे—स्त्रियाँ प्रायः अपने पतियोंसे कहती हैं—तुम मेरे लिये चन्द्रहार नहीं लाए!' बालक कहता है "आप मिठाई नहीं लाए!" दूसरे प्रकारके आग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें कोई कष्टमें पड़ा हुआ व्यक्ति किसी अपने समर्थ किन्तु कंजूस मित्रसे किसी विशेष सहायताके लिये बार-बार हठ पूर्वक विनय करता है, जैसे—"भाई इस बार जैसे भी हो तुम दो सौ रुपए दे ही दो। और कोई मेरा नहीं है। तुम्हें देना ही होगा। तुम्हारे रहते मैं मांगने किससे जाऊँ।" इस प्रकारके वाक्योंमें दैन्य, हठ, विवशता, चाटुकारी, प्रार्थना तथा अनुरोध सबका सम्मिश्रण होता है। तीसरे प्रकारके आग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें बड़े-बड़े नेता, राजा या महापुरुष जनतासे किसी विशेष त्याग या सहायताके लिये आग्रह करते हैं। इनमें अधिकारकी मात्रा अधिक रहती है। जैसे—"सेठजी! युद्धकोषके लिये आपको एक लाख रुपया देना ही होगा।" सेठके टालमटोल करनेपर भी अधिकारके बलपर उतना ही लिख लिया जाता है और प्राप्त कर लिया जाता है। इन आग्रहात्मक वाक्योंके अतिरिक्त कुछ सिद्धान्तपूर्ण आग्रहात्मक वाक्य होते हैं जो किसी विशेष व्यक्तिके सिद्धान्तकी रक्षाके लिये उसके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इनमें सत्याग्रह भी होता है दुराग्रह भी और इनमें प्रतिज्ञाकी प्रवृत्ति होती है। जैसे—"जबतक गोवध बन्द नहीं होगा तबतक मैं अन्न ग्रहण न करूँगा।" यह सत्याग्रहात्मक वाक्य है। दुराग्रहात्मक वाक्य वे हैं जिनमें केवल अपनी सनक या अपनी धारणाको अपने व्यक्तित्वके बलपर सेवासे मनवानेका आग्रह होता है, जैसे—"जबतक अन्त्यज मन्दिरोंमें प्रवेश नहीं करेंगे तबतक मैं जल ग्रहण नहीं करूँगा।" सत्याग्रहात्मक वाक्योंमें सार्वभौम लोकमङ्गलकी कामना होती है और दुराग्रहात्मक वाक्योंमें किसी विशेष व्यक्ति, वस्तु या वर्गके प्रति पक्षपात होता है।

प्रार्थनात्मक वाक्य वे हैं जो किसी दूसरेसे कुछ काम करा लेनेके लिये कहे जाते हैं। सम्बोध्यके पद और मर्यादाके अनुसार उनकी शब्दावली कम या अधिक विनयशील होती चलती है।

व्यग्रतासूचक वाक्य

व्यग्रता—सूचक वाक्य वे हैं जिनमें कोई व्यक्ति भय, आशंका या विपत्तिके समय अथवा किसी दूसरेको कोई कुसंवाद सुनानेके प्रयोगमें लाता है। इन वाक्योंमें अधीरता, अक्रमता, असम्बद्धता, शीघ्रता और व्याकुलता भरी रहती है। जैसे—वेणीसंहारके पताकास्थानकमें—

दुर्योधन······मेरी दोनो जङ्घाएँ।

(घबराया हुआ कञ्चुकी आता है)

कञ्चुकी—देव! टूट गई, टूट गई।

दुर्योधन—किसने तोड़ी।

कञ्चुकी—भीमने।

दुर्योधन—किसकी।

कञ्चुकी—आपकी।

दुर्योधन—क्या बकता है।

कञ्चुकी—मैं ठीक कह रहा हूँ, देव। भीमवायुने आपके रथकी ध्वजा तोड़ फेंकी है।

ऐसे व्यग्रतासूचक वाक्य कभी-कभी भयङ्कर स्वप्न देख लेनेपर भी मुँहसे अनायास निकल पड़ते हैं। किन्तु वे प्रारम्भमें भय और अचेतनतासे भरे हुए होते हैं किन्तु धीरे-धीरे चेतना होनेपर वे ठीक हो जाते हैं जैसे—

(स्वप्न देखकर)

कौन, कौन, तुम, मेरे, शत्रु (चिल्लाकर) आह! कोई है। लाओ तो मेरी तलवार। (आँखें मलते हुए) ऐं! मैं क्या देख रहा था, स्वप्न। बड़ा भयङ्कर स्वप्न था।

उन्मादसूचक वाक्य

कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनमें असम्बद्ध प्रलाप भरा रहता है। इनमें सम्बद्ध-असम्बद्ध, सज्ञान और अज्ञानयुक्त वाक्योंका गड़बड़-घोटाला होता है। मद्यप, अफीमची और उन्मत्त लोगोंकी बातें ऐसे ही वाक्योंमें होती हैं। विक्षिप्त और सनकी भी इसी श्रेणीके होते हैं। अन्तर यही होता है कि ये जो कहते हैं उसमें कुछ सज्ञानता अवश्य रहती है।

हास्यात्मक वाक्य

कुछ ऐसे वाक्य भी हैं जो केवल प्रहसनोंमें ही काम आते हैं, जैसे यह प्रत्युत्पन्नमतित्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी।

"अपनी नाक तो देखो जैसे किसीने सिंघाड़ा छीलकर टाँग दिया हो।"

"पहले अपनी नाक संभालो जिसपर रथका चक्र घूम गया हो।"

दूसरे वे हैं जो मूर्ख बनानेके लिये प्रयुक्त किए जाते हैं। ये कई प्रकारके होते हैं। एक तो वे हैं जिनमें सत्यका रूपक धारण करके असत्य भाषण किया जाता है और जिसे सत्य समझकर सम्बोध्य जो आचरण करता है उसके आधारपर उसे मूर्ख बनाया जाता है। जैसे—

"अरे आप यहाँ बैठे हैं, आपकी गाय अमुक व्यक्ति खोल ले गया है।"

(यह सुनकर वह व्यक्ति घरकी ओर झपटता है और कहनेवला हँस देता है।)

दूसरे प्रकारके मूर्ख बनानेवाले वाक्य वे हैं जिनमें सम्बोध्यको झूठी प्रशंसा करके अथवा उसे कोई झूठा सुसंवाद सुनाकर उससे द्रव्य ऐंठा जाय, जैसे किसी रसिक वृद्धसे कहा जाय—

'लाइए, खिलाइए, मिठाई। आपका विवाह निश्चित हो गया।"

'सच क्या?'

'हाँ, हाँ, यह लो पत्रिका।'

(पत्रिका दे देते हैं। वृद्ध बहुत प्रसन्न होते हैं और जेबसे कुछ रुपए निकाल कर देते हैं।)

इस प्रकारके मूर्ख बनानेवाले वाक्य सम्बोध्यकी प्रकृतिके अनुसार और सम्बोधककी योग्यताके अनुसार बहुत प्रकारके होते हैं।

उपेक्षात्मक वाक्य

कुछ वाक्य उपेक्षात्मक होते हैं जिनमें किसीके वचन या क्रियाके प्रति उपेक्षा प्रकट की जाती है। ये दो प्रकारके होते हैं। एकमें निरन्तर दोष करनेवाले व्यक्तिके प्रति ऊबसे भरी हुई उपेक्षा भरी होती है, जैसे—

'क्या करें भाई! हमने तो बहुत समझाया, अब नहीं मानता तो जो उसकी इच्छा हो वह करें। हमारी ओरसे भाड़में जाय।"

दूसरे उपेक्षात्मक वाक्य वे होते हैं जिनमें आत्म-सम्मानकी बात अधिक होती है, जैसे—

"व धनी होंगे अपने घरके। मैंने कभी उनके आगे हाथ नहीं पसारा। वे अपने घरके बड़े हैं तो मैं भी अपने घरका बड़ा हूँ।"

व्यंगात्मक वाक्य

कुछ वाक्य व्यङ्ग्यात्मक होते हैं। ये भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनमें ताना भरा हुआ होता है। जैसे—

'उड़ा लो मौज बेटा अपने चाचाके बलपर। करलो मौज और चार दिन, फिर देखेंगे कहाँसे मोटर आती है। बड़ी नाक हो तो अपनी कमाईका व्यय करो। दूसरेके बिरते पर क्या धार्ता कर रहे हो 'बाप न मारी मेढ़की बेटा तीरन्दाज़"।

दूसरे प्रकारके व्यङ्ग्यात्मक वाक्य वे हैं जहाँ किसीको चिढ़ानेकी प्रवृत्ति हो जैसे—

"आँखके काने नाम नयनसुख, बनके रहना भाई यह काटता भी है।"

कभी-कभी इस चिढ़ानेकी प्रवृत्तिमें किसी वक्ताके कथनकी ज्योंकी त्यों मुँह बनाकर आवृत्ति कर दी जाती है। जैसे—

वक्ता—कलसे मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा।

दूसरा—(मुंह बनाकर) कलसे मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा। क्या करोगे चोरी करोगे? या डाका डालोगे।

चाटुकारितायुक्त वाक्य

चाटुकारितायुक्त वाक्य वे हैं जिनमें सम्बोध्यकी झूठी और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती है। ऐसे वाक्योंके वक्ता या तो सम्बोध्यके आश्रित रहते हैं। अथवा उससे किसी प्रकारके पुरस्कारकी आशा रखते हैं जैसे—

"आपके समान दाता तो इस विश्वमें उत्पन्न ही नहीं होते। कर्ण और दधीचि भी आपके सामने कुछ नहीं हैं। आप न होते तो संसार दाने-दाने को तरस गया होता।"

इन वाक्योंके अतिरिक्त ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, आलस्य, विषाद, चिन्ता, स्मृति, उत्सुकता, दीनता, दर्प, व्रीडा, रोष, चपलता वितर्क, भय, संकोच, आश्चर्य या विस्मय आदि अनेक भावोंके अनुसार भी वाक्योंका प्रयोग किया जाता है विशेषतः प्रेम-प्रसंगमें रूठना, मनाना, उपालम्भ प्रेम-प्रदर्शन आदिके लिए नायक और और नायिकाकी प्रकृति, परिस्थिति, अवसर, मर्यादा, और

भावके अनुसार अनेक प्रकारके वाक्योंका यथाप्रसंग प्रयोग किया जा सकता है, इनकी मीमांसा आगे करेंगे।

वाक्योंके प्रयोगमें नाटककारका कौशल दो बातोंमें देखा जा सकता है। एक तो भावके अनुकूल वाक्यविन्यास और दूसरे पात्रके अनुकूल भाषा-शैलीकी योजना। बहुतसे नाटककारोंने अज्ञानवश अपने सम्पूर्ण नाटककी भाषाशैली सब पात्रोंके लिये एक-सी रक्खी है। यह प्रयोग अत्यन्त गर्हित और अवाञ्छनीय है क्योंकि इससे पात्रोंकी भाषा अस्वाभाविक हो जाती है और अस्वाभाविक होनेके कारण उसमें रस नहीं मिलता। संवादोंके विषयमें नाटककारको पांच सिद्धान्त स्मरण रखने चाहिएं—

* पात्रानुकूलं कथाचरित्र-विस्तारक-लोकबोध्योत्तरप्रत्युत्तरसम्पन्नोचितपरिमाणयुक्तः संवादः॥

१—संवाद स्वाभाविक हो अर्थात् पात्रकी प्रकृतिके अनुरूप हो।

२—संवाद उतना ही हो, जितनेसे कथाका विस्तार और नाटकीय चरित्रोंका विकास हो।

३—भाषा लोकबोध्य हो, उसमें दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्दोंके प्रयोगों और विषयोंका विवेचन न हो।

४—संवादोंमें जोड़-तोड़के उत्तर-प्रत्युत्तर हों जिनसे संवादमें सजीवता आवे, केवल विभिन्न व्यक्तियोंके वक्तव्य मात्र न हों।

५—संवाद लम्बे न हों, केवल उतने ही हों जितने उस परिस्थितिमें आवश्यक, अनिवार्य और स्वाभाविक हो।

इनके अतिरिक्त नाटककारको कुछ नाट्य-परिस्थितियोंका भी परिपालन करना चाहिए। वे यह हैं—

१—संवाद निरन्तर दो या तीन व्यक्तियोंके बीचमें ही नहीं चलते रहना चाहिए। उसमें थोड़ी-थोड़ी देर पश्चात् नये पात्रोंके प्रवेश और पुरानेके निष्क्रमणका भी विधान होना चाहिए और नीरसता दूर करनेके लिये उनमें आंगिक व्यापार होता रहना चाहिए, जैसे, उठना बैठना, घूमना, फल चुनना, कुछ उठाना रखना आदि।

२—संवादोंमें आङ्गिक और सात्त्विक अभिनयके लिये भी पूर्ण अवकाश मिलना चाहिए अर्थात् वे केवल वाचिक मात्र न हों।

संवादोंकी भाषामें पूर्ण वाक्य होना आवश्यक नहीं है। स्वभावतः जिस प्रकारसे उत्तर-प्रत्युत्तर देनेमें शब्द, वाक्यांश या वाक्यका प्रयोग होता हो वही करना चाहिए। भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें विभिन्न प्रकारके पात्रोंके लिये विभिन्न प्राकृतोंका निर्देश किया है। कुछ वर्तमान अंग्रेजी नाटककार भी अपने नाटकोंमें विभिन्न प्रकारकी लोक-भाषा, उच्चारणशैली तथा रूढ़ोक्तियोंका प्रयोग करनेका निर्देश देते हैं। किन्तु नाटक तो सब वर्गके लोगोंके लिये समान सुखकर होता है। यदि उसमें विभिन्न पात्रोंकी प्रकृतिके अनुसार हम तत्तद्देशीय भाषा और विभाषा और उपभाषाका प्रयोग करने लगेंगे तो दर्शकोंके समझनेमें और रसानुभूतिमें भी कठिनाई होगी। अतः संवादोंकी भाषाके विषयमें केवल एक ही सिद्धान्त होना चाहिए कि भाषा आदिसे अन्ततक एक ही हो। किन्तु पात्रोंकी योग्यता और परिस्थितिके अनुसार उसकी शैलीमें परिवर्तन होता रहे। परिस्थितिका अर्थ यह है कि भाषा सापेक्ष होती है। वह एक तो सम्बोध्यकी प्रकृतिके अनुसार रूप धारण करती है और दूसरे भावके अनुसार। कोई विद्वान् पण्डित अपने गुरुसे कहता है—"चलिए, मेरा स्थान पवित्र कीजिए" वही अपने मित्रसे कहता है—"चलो भाई तुम्हें हमारे घर चलना ही होगा।" वही अपने सेवकसे कहता है "चलो घर"। इसी प्रकार वही पण्डित साधारण अवस्थामें कहता है "मनुष्यके विचार सदा स्वार्थकी ओर प्रवृत्त होते है। यदि ईश्वरकी कृपा न हो तो वह अतिशीघ्र नर पिशाचका रूप धारण कर ले" किन्तु यही व्यक्ति जब क्रोधमें आता है तो अपनी यह संस्कृतनिष्ठ शैली भूलकर कहने लगता है—"अरे गधे, तुझे कितनी बार समझाया पर तेरी बुद्धिमें गोबर भरा हुआ है, तू कुछ नहीं समझता।"

इस सम्पूर्ण विवेचनका यह निष्कर्ष निकला कि पात्रोंकी प्रकृति और नाटकीय परिस्थितियोंके अनुसार संवाद स्वाभाविक रूपसे चलता है और विभिन्न भावोंके अनुसार अपना रूप स्थिर करता चलता है। उसका परिमाण आवश्यकता और स्वाभाविकतापर अवलम्बित है। उसमें अबोध्य दार्शनिकता और लाक्षणिकता न हो और वह पात्रोंको सात्त्विक और आंगिक अभिनयके लिये अवकाश।

इसका यह अर्थ नहीं है कि संवादमें किसी प्रकारका अलंकार न हो। किन्तु जैसे अन्य काव्यकार कवियोंने प्रयत्नपूर्वक अलंकारोंका धुआँधार प्रयोग किया है उस

प्रकार नाटकोंमें नहीं किया जा सकता यद्यपि संस्कृतिके कवियोंमें भास, भवभूति और शूद्रकने तथा योरोपके शेक्सपियर, गेटे, रासीन आदि मध्यकालीन कवियोंने आलंकारिक भाषाका ही प्रयोग श्रेष्ठ समझा था किन्तु इस युगमें आलंकारिक भाषामें रचा हुआ नाटक अच्छा नहीं समझा जाता। उसका कारण यह है कि पहले भावावेश पूर्ण अभिनयप्रणाली योरोपमें थी और भवभूतिके उत्तररामचरितको देखनेसे प्रतीत होता है कि हमारे देशमें भी वैसी ही भावुकतापूर्ण अभिनय-प्रणाली रही होगी इसीलिये नाटकोंमें काव्यात्मकता या आलंकारिकता बहुत मिलती है। पर इस युगमें जो काव्यात्मकताका अत्यन्त अभाव दिखाई दे रहा है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि नाटकमें ऐसे लोगोंको भी सन्तोष मिलना चाहिए जो काव्य-रसिक हों, भाषाकी सुन्दरता और कलाका रस लेना चाहते हों। यों भी सुन्दर भाषाके प्रति, उक्तिवैचित्र्य और वाग्वैदग्ध्यके प्रति साधारण जनका भी आकर्षण होता है अतः भाषामें आकर्षण तथा कहनेके ढंगमें नवीनता आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

संवादके काव्यतत्त्वकी इतनी मीमांसा कर चुकनेपर यह समझ रखना चाहिए कि संवादका काम केवल इतना ही नहीं है कि वह रंगपीठपर उपस्थित पात्रोंको बोलता हुआ उपस्थित करे। संवादसे पात्रोंके स्वभाव, उनकी प्रकृति, उनकी प्रवृत्ति सबकी अभिव्यक्ति की जाती है। संवादसे ही एक पात्र दूसरे पात्रके सामने संतुलित होता है और एक दूसरेका अधिक विशद चित्रण होता है।

योरोपीय नाटकों का संवाद

योरोपमें नाटकीय संवाद तीन रूपोंमें रूढ़ हो गया है। एक तो यह कि बीसवीं शताब्दीतक संवाद केवल पद्यात्मक रहा यद्यपि कभी कभी एलिज़ाबेथीय नाटकोंमें साधारण जनता और प्रहसनके पात्रोंसे गद्य भी कहलाया गया है। आजकल तो संवाद गद्यमें ही लिखा जाने लगा है यद्यपि कुछ ऐसे लेखक अब भी हैं जो पद्यमें ही नाटकीय संवाद लिखते हैं। दूसरे, संवाद बड़े लम्बे लम्बे होते रहे हैं और वास्तविक जीवनके व्यावहारिक संवादोंकी अपेक्षा अधिक जोड़-तोड़के और तुले हुए होते रहे हैं अर्थात् एक कोई बात कहता है तो दूसरा भी उसी आवेशमें वैसे ही बलसे उसी जोड़की बात कहता है। प्राचीन योरोपीय नाटकोंमें विशेषतः यूनानी नाटकोंमें एक एक पात्रका एक एक वक्तव्य उतना ही बड़ा होता था जितना समवेत गीत (कोरल सौंग)। एलिज़ाबेथीय रंगपीठोंपर भी सारी आलंकारिकता संवादोंमें उँडेल दी जाती थी। फ्रांसीसी और अंग्रेजी नाटकोंमें तो इसकी भरमार थी। दूसरी ओर पुनरुज्जीवन (रेस्टोरेशन) कालमें संवाद छोटे और अधिक संतुलित होने लगे। एक पात्रके मुखसे एक पद या पंक्ति और उसकी जोड़में दूसरेके मुखसे भी एक कड़ी या एक पंक्ति पर्याप्त और सुन्दर प्रतीत समझी जाने लगी जैसे स्टिकोमिथियामें, ऐज़ यू लाइक इटमें या मौलिक नाटकोंमें संवाद हैं। इन संवादोंमें जोड़-तोड़के, वाग्वैदग्ध्य-पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तरोंकी शृङ्खला बनी रहती है। तीसरे, उनमें स्वाभाविकताका पूर्ण अभाव है। शेक्सपियरके चरित्रोंमें जितना ही अधिक भावावेश आता है उतनी ही विषम उनकी वाणीकी लय हो जाती है और उसीके अनुकूल जीवनके एक एक मानव-प्रकारके अनुरूप शैली और प्रवाह बन जाता है यद्यपि वही पात्र दूसरे स्थलोंमें शुद्ध आलंकारिक शैलीमें बोलने लगता है। जौर्ज बर्नर्ड शौके अधिकांश नाटकोंमें बड़े लंबे-चौड़े शास्त्रार्थ हैं जिससे जी भी ऊब जाता है और जो कभी कभी तीखे भी होते हैं। इसीलिये शौके नाटक शास्त्रार्थी नाटक कहलाते हैं। औस्कर वाइल्डके नाटकोंमें इस बातका ध्यान ही नहीं रक्खा गया है कि किससे क्या कहलाया जाय और किस शैलीमें कहलाया जाय। वहाँ सम्राट् और उनके दास सब एकसी साहित्यिक तथा आलंकारिक शैलीमें बातें करते हैं। किन्तु जितने भी अच्छे प्रभावशाली नाटक हैं उन सबमें इस बातका ध्यान रक्खा जाता है कि प्रत्येक पात्रकी योग्यता और प्रकरण या अवसरकी आवश्यकताके अनुकूल यथासंभव स्वाभाविक बातचीत हो जिसमें जोड़-तोड़के उत्तर या तुल्यतर्क हो, श्लिष्ट फबतियाँ हों और इस प्रकार संवाद चलाया जाय कि आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय-व्यापारकी अपेक्षा केवल संवादसे ही नाटकीय द्वन्द्वोंका निर्वाह हो।

❀ स्वरूपे साहित्यिकः वार्त्तावृत्तिश्च स्वाभाविकी।

[रूप नाट्यका साहित्यिक हो, किन्तु ढंग हो बातचीतका।]

बहुतसे लोगोंका ऐसा विचार है कि नाटकीय संवाद लिखना बड़ा सरल कार्य है और ऐसा करते समय वे लच्छेदार शब्दोंसे सजाकर कुछ व्यक्तियोंके बीचकी बातचीत छेड़कर उसमें साहित्यिक आनन्द लेने लगते हैं और उसीको अपनी सफलताकी पराकाष्ठा समझ बैठते हैं किन्तु यह बड़ी भारी भूल है। वे यह नहीं समझते कि नाटकीय संवादका रूप तो साहित्यिक रहे किन्तु ढंग स्वाभाविक बातचीतका हो, व्याख्यानका नहीं। उसमें व्याख्याता, उपदेष्टा, दार्शनिक और काव्य-शास्त्रियोंका कोई स्थान नहीं क्योंकि जहाँ नाटककारने इनमेंसे कोई भी रूप धारण किया कि उसने नाटककी हत्या की। इसलिये नाटककारको स्वयं प्रत्येक पात्रका स्वाभाविक रूप ग्रहण करके यह समझना चाहिए कि यदि मैं उस स्थितिमें स्वयं होता तो मैं स्वाभाविकताकी रक्षा करता हुआ बातचीतको प्रभावशील कैसे बनाता। ऊपर जो कहा गया है कि नाटकीय संवादका रूप साहित्यिक होना चाहिए उसका तात्पर्य यही है कि साधारण बातचीतमें जो बहुधा असङ्गति, आवृत्ति-पुनरावृत्ति, खंडित वाक्यत्व और निरर्थक बीच-बीचकी बातें होती चलती है उनका नाटकमें समावेश नहीं हो सकता क्योंकि यदि स्वाभाविकताकी रक्षाके लिये ऐसी निरर्थक और ऊटपटाँग बातें ही भरी जाने लगें तो नाटकसे रस या वह आनन्द नहीं प्रकट हो सकता जिसके लिये दर्शक शुल्क देकर वहाँ आते हैं। रंगपीठपर वास्तवमें दो व्यक्तियोंमें बातें होती हैं पर वे उनके लिये नहीं होतीं, वे होती हैं दर्शकोंके लिये। अतः जो बातचीत हममें परस्पर होती हैं उनमें और जो दूसरोंके लिये की जाती हैं उनमें कुछ अन्तर अवश्य हो जाता है। अतः संवादकी स्वाभाविकता ऐसी व्यवस्थित हो कि उससे दर्शकोंपर उचित प्रभाव पड़नेमें बाधा न रहे।

❀ संवादे सम्बन्ध-निर्वाहः।

[हो संबंध-निबाह बातमें।]

हम कह चुके हैं और आगे गुणविवेचनमें भी बतावेंगे कि नाटकीय संवादका सबसे बड़ा गुण यह होना चाहिए कि वह समझमें आ सके और ऐसे ढंगसे संवाद चलाया जाय कि उसकी कड़ी बनी रहे। ऐसा न हो कि कुछ दूर चलकर लोगोंको पूर्वापर-सम्बन्ध समझनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई हो। अतः उसे सावधानीके साथ ऐसे शब्द, वाक्य, उक्तियाँ, व्यापार दूर रखने चाहिएँ जिनसे किसी प्रकारकी श्लिष्टता या दुर्बोधता उत्पन्न हो। फिर नाटककारको संवाद लिखते समय समयका भी ध्यान रखना चाहिए। उसे थोड़े ही समयमें अतः थोड़े ही शब्दोंमें पूरी नाटककी कथा इस ढंगसे कहनी है कि कुतूहलका निर्वाह करते हुए उसका निर्दिष्ट परिणाम सिद्ध हो जाय। उपन्यासकारके पास जितने विस्तारका अवकाश रहता है, नाटककारके पास उसका अत्यन्त अभाव होता है अतः उसे अपनी पूर्णताको संक्षेपमें साधना चाहिए। कोई बात छूटे भी नहीं और किसीका भी आवश्यकतासे अधिक विस्तार न हो। जो भी बात कहलाई जाय, जो वाक्य, वाक्यांश या उक्ति कहलाई जाय उसका नाटकमें कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए। अतः उसे इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि न तो कहीं अनावश्यक शीघ्रता हो जाय और न कहीं निरर्थक विस्तार ही हो। कभी-कभी प्रहसन लिखनेवाले लोग अथवा वीरताके नाटक लिखनेवाले लोग संवादमें हास्य उत्पन्न करनेकी इच्छासे अथवा लोगोंमें उत्साह भरनेकी कामनासे संवादोंका अनावश्यक विस्तार कर डालते हैं और समझते हैं कि दर्शकोंको इससे आनन्द मिलेगा किन्तु यह भूल है। दर्शककी एकाग्रता परिमित होती है और किसी भी वस्तुकी अति अरुचिकर होती है चाहे वह कितनी भी मधुर हो।

इसलिये संवाद-योजना करते समय नाटककारको केवल भाषाका ही नहीं वरन् वक्ता-पात्रकी योग्यता, सम्बोध्य-पात्रकी योग्यता, आवश्यकता, अनुपात और संगति सबका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

संवादके लक्षण

संवादमें कितने लक्षण होने चाहिएँ इसकी व्याख्या करते हुए भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें कहा है—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणे तथा।
हेतुसंशयदृष्टान्ताः प्राप्ताभिप्राय एव च॥

निदर्शनं निरुक्तं च सिद्धिश्चाथ विशेषणम् ।
गुणातिपातातिशयौ तुल्यतर्कः पदोच्चयः ॥
दृष्टं चैवोपदिष्टं च विचारस्तद् विपर्ययः ।
भ्रंशश्चानुनयो माला दाक्षिण्यं गर्हणं तथा ।
अर्थापत्तिः प्रसिद्धिश्च पृच्छा सारूप्यमेव च ॥
मनोरथश्च लेशश्च क्षोभोऽथ गुणकीर्त्तनम् ।
ज्ञेयाननुक्तसिद्धिश्च प्रियं वचनमेव च ।
षट्त्रिंशल्लक्षणान्येव काव्यबन्धेषु निर्दिशेत् ॥
अलङ्कारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद् भूषणमिति स्मृतम् ॥ ६ ॥

यत्राल्पैरक्षरैः श्लिष्टैर्विचित्रमुपवर्ण्यते ।
तमप्यक्षरसङ्घातं विद्याल्लक्षणसंज्ञितम् ॥ ७ ॥
सिद्धैरर्थैः समं कृत्वा ह्यसिद्धोर्थः प्रयुज्यते ।
यत्र श्लिष्टं विशिष्ट्यर्थं सा शोभेत्यभिधीयते ॥ ८ ॥

यत्र स्वल्पार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।
साध्यन्ते निपुणैरर्थास्तदुदाहरणं स्मृतम् ॥ ९ ॥
यत् प्रयोजनसामर्थ्यात् वाक्यमिष्टार्थसाधकम् ।
समासोक्तं मनोग्राहि स हेतुरिति संज्ञितः ॥१०॥
अपरिज्ञाततत्त्वार्थं वाक्यं यत्र समाप्यते ।
अनेकत्वाद्विचाराणां स संशय इति स्मृतः ॥११॥
सर्वलोकमनोग्राहि पक्षपक्षार्थ-साधकः ।
हेतोर्निदर्शनकृतः स दृष्टान्त इति स्मृतः ॥१२॥

दृष्ट्वैवावयवान् कांश्चिद् भावो यत्रानुमीयते ।
प्राप्तिं तामपि जानीयाल्लक्षणं नाटकाश्रयम् ॥१३॥
अभूतपूर्वो योऽप्यर्थः सादृश्यात्परिकल्पितः ।
लोकस्य हृदयग्राही सोऽभिप्राय इति स्मृतः ॥ ४॥
यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परापेक्षाप्युदाकार्थे तन्निदर्शनमुच्यते ॥१५॥

निरवद्यस्य वाक्यस्य पूर्वोक्ता तु प्रसिद्धये ।
यदुच्यते तु वचनं निरुक्तं तदुदाहृतम् ॥ ६॥
बहूनां च प्रयुक्तानां नाम यत्राभिकीर्त्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं सा सिद्धिरभिधीयते ॥१७॥

सिद्धान बहून् प्रधानार्थान् उक्त्वा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयुक्तं वचनं विज्ञेयं तद्विशेषणम् ॥१८॥
गुणाभिधानैर्विविधैर्विपरीतार्थयोजितैः ।
गुणातिपातो मधुरो निष्ठुरार्थो भवेदयम् ॥१९॥

बहून् गुणान् कीर्तयित्वा समान्यजनसम्भवान् ।
विशेषः कीर्त्यते यस्तु ज्ञेयः सोऽतिशयो बुधैः ॥२०॥
रूपकैरुप मानैर्वा तुल्यार्थाभिः प्रयोक्तृभिः ।
अप्रत्ययार्थ सस्पर्शस्तुल्यतर्कः प्रकीर्तितः ॥२१॥
बहूनां च प्रयुक्तानां पादानां बहुभिः पदैः ।
उच्चयः सदृशार्थो यः स विज्ञेयः पदोच्चयः ॥२२॥
यथादेशं यथाकालं यथारूपं च वर्ण्यते ।
यत्प्रत्यक्षं परोक्षं वा दृष्टं तद्वर्णतोऽपि वा ॥२३॥
परिगृह्य च शास्त्रार्थं यद्वाक्यमभिधीयते ।
विद्वन्मनोहरं स्वन्तमुपदिष्टं तदुच्यते ॥२४॥
पूर्वदेश-समानार्थैरप्रत्यक्षार्थ-साधनैः ।
अनेकोपोहसंयुक्तो विचारः परिकीर्तितः ॥२५॥

विचारस्यान्यथाभावस्तथा दृष्टोपयोगतः ।
सन्देहात्कल्प्यते यस्तु स विज्ञेयो विपर्ययः ।२६॥
वाच्यमर्थं परित्यज्य दृष्टादिभिरनेकधा ।
अन्यस्मिन्नेव पतनादिह भ्रंशः स इष्यते ॥ ७॥
उभयोः प्रीतिजननो विरुद्धाभिनिविष्टयोः ।
अर्थस्य साधकश्चैव विज्ञेयोऽनुनयो बुधैः ॥२८॥
ईप्सितार्थप्रसिध्यर्थं कीर्त्यते यत्र सूरिभिः ।
प्रयोजनान्यनेकानि सा मालेत्यभिसंज्ञिता ॥२९॥

दृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत्परस्यानुवर्तनम् ।
क्रियते वान्यचेष्टाभिस्तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम् ॥३०॥
यत्र संकीर्त्तयन् दोषं गुणमर्थेन दर्शयेत् ।
गुणातिपाताद् दोषाद्वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ।।३१॥

अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसंयुक्तं सार्थापत्तिरुदाहृता ।।३२॥
वाक्यैः सातिशयैरुक्ता वाक्यार्थस्य प्रसाधकैः ।
लोकप्रसिद्धैर्बहुभिः प्रसिद्धिरिति कीर्तिता ।।३३॥
यत्राकारोद्भवैर्वाक्यैरात्मानमथवा परम् ।
पृच्छ्यते चाभिधत्तेऽर्थं सा पृच्छेत्यभिसंज्ञिता ॥ ४॥

दृष्टश्रुतानुभूतार्थकथनाभिः समुद्भवम् ।
सादृश्यक्षमजनितं सारूप्यमिति संज्ञितम् ॥३५॥
हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम् ।
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥३६॥
यद्वाक्यं वाक्कुशलैरुपायेनाभिधीयते ।
सदृशार्थाभिनिष्पन्नः स लेश इति कीर्तितः ॥ ७॥

परदोषैर्विचित्रार्थैर्यत्रात्मा परिकीर्त्यते ।
अदृष्टान्योऽपि वा कश्चित् स तु दोष इति स्मृतः ॥३८॥
लोके गुणातिरिक्तानां गुणानां यत्र नामभिः ।
एकोऽपि शब्द्यते तत्तु विज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥३९॥
प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।
वचनेन विजानातु सिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥३०॥
यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥४१॥
एतानि वा काव्यविभूषणानि
षट्त्रिंशदुद्देश्य निदर्शनानि ।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि बलानुरूपम् ॥४ ॥

[भूषण अक्षर-संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्टि उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, सिद्धि और प्रियवचन जाता है, वह प्राप्ति कहलाती है। जहाँ समानताके कारण किसी नये मनोहर अर्थकी कल्पना कर ली जाती है, वहाँ अभिप्राय होता है। जहाँ प्रसिद्ध अर्थोंकी गिनती की जाती है और पिछले अर्थकी अपेक्षा अगले अर्थको महत्त्व दिया जाता है वहाँ निदर्शना होता है। जहाँ पिछले अस्पष्ट वाक्यके स्पष्टीकरणके लिये कोई वचन कहा जाता है, उसे निरुक्ति कहते हैं। जहाँ बहुतसे प्रयुक्त नामोंका वर्णन करके कोई इष्ट अर्थ निकाला जाता है, वहाँ सिद्धि होती है। जहाँ बहुतसे सिद्ध और प्रधान अर्थवाले शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करके कोई विशेषतायुक्त वचन व्यक्त किया जाता है, वहाँ विशेषण होता है। जहाँ अनेक प्रकारके गुणवाले और विपरीत अर्थवाले शब्दोंसे मधुर और निष्ठुर दोनों अर्थ निकलें वहाँ गुणातिपात होता है। जहाँ सामान्य मनुष्योंमें होनेवाले बहुतसे गुणोंका वर्णन करके किसी एककी बड़ाई की जाय, वहाँ अतिशय होता है। जहाँ समान अर्थवाले रूपकों और उपमानोंसे ऐसे अर्थ व्यक्त किए जायँ जिनमें सहसा विश्वास न हो सके उसे तुल्यतर्क कहते हैं। जहाँ बहुतसे शब्दोंसे

हुए कोई दूसराही माधुर्ययुक्त अर्थ प्रकट हो, वह अर्थापत्ति कहलाती है। जहाँ वाक्य और अर्थको सजानेवाले अतिरंजित और लोक-प्रसिद्ध वाक्योंसे कोई बात कही जाय, वह लोक-प्रसिद्ध कहलाती है। जहाँ मूल वाक्योंसे अपनी या दूसरेकी कोई बात पूछी या समझी जाय, उसे पृच्छा कहते हैं। जहाँ देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई बातों को इस ढंगसे कहा जाय कि वह प्रत्यक्ष-सी जान पड़े, उसे सारूप्य कहते हैं। जहाँ अपने मनकी कोई छिपी हुई बात किसी दूसरेको लक्ष्य करके व्यक्त कर दी जाय, वह मनोरथ कहलाता है। जहाँ शास्त्रार्थकी कलामें कुशल लोग कौशलसे इस प्रकार कहते हैं कि उससे समान अर्थ ही प्रकट होता हो, वह लेश कहलाता है। जहाँ दूसरोंके दोषोंसे विचित्र प्रकारसे अपना वर्णन किया जाय या किसी अन्य अदृष्ट व्यक्तिका वर्णन हो, उसे दोष कहते हैं। समाजमें जब हम एक ही व्यक्तिका उसके वास्तविक गुणोंके अतिरिक्त गुणोंका नाम ले-लेकर वर्णन करते हैं, उसे गुण-कीर्तन कहते हैं। जहाँ किसी वाक्यके प्रारम्भ मात्रमें उसका पूरा अर्थ प्रतीत हो जाता है वह सिद्धि कहलाती है। जहाँ प्रसन्न मनसे किसी पूज्य व्यक्तिकी पूजा करनेके लिये या प्रसन्नता व्यक्त करनेके लिये कोई वाक्य प्रयुक्त होता है, प्रयुक्ति कहलाता है। नाटककारोंका धर्म है कि ऊपर जो १६ काव्यके विभूषण कहे गए हैं उनका प्रयोग वे जहाँ आवश्यक हों वहाँ अवश्य करें।]

नाट्यशास्त्रके एक दूसरे ग्रन्थमें विभूषण, अक्षर संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्ति, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, यांचा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त भाषण, संशय, आशीर्वाद, प्रिय, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन, ये छत्तीस लक्षण लिखे हैं और यह कहा है कि रसके अनुसार इनका प्रयोग होना चाहिए। संवादके वाक्योंकी व्याख्या करते हुए हम ऊपर बतला आये हैं कि भावोंके अनुसार अनेक प्रकारसे वाक्य कहे जा सकते हैं जिनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती। कभी-कभी एक ही प्रकारके भाव मनुष्यके सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावके अनुसार भिन्न भिन्न-रूप धारण कर लेते हैं। सात्त्विक प्रकृतिवाला किसी बातपर खीझकर यह कहेगा—"क्षमा कीजिए, मैं आपसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता", राजसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर कहेगा—"अब यदि आप ऐसा कहेंगे तो मैं सहन नहीं करूँगा।" तामसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर हाथ चला देगा और कहेगा—"फिर तो कह।" इस प्रकार जितने भी संवाद होते हैं उनमें वक्ता और संबोध्यकी प्रकृतिके अनुसार वाक्यकी रचना करनी चाहिए चाहे उन वाक्योंमें सम्बोधन, प्रश्न, उत्तर, सहमति, सन्देश, निर्देश, आदेश, उपदेश, अभ्यर्थना, प्रार्थना, दैन्यप्रदर्शन, चाटुकारी, विषाद, क्षोभ तर्जन, आक्रोश, शाप, क्रोध, व्यंग्य, विनोद, हास, परिहास, उपहास, उल्लास, प्रेमालाप, वार्तालाप, मंत्रणा, षड्यन्त्र, कूटालाप, मिथ्यालाप, विलाप, प्रलाप, स्वप्नालाप, यांचा, मुग्धालाप, वाचालता, शास्त्रार्थ, कलह, छिद्रान्वेषण, आश्चर्य, भय, व्याकुलता, करुणा, घृणा, सन्देह, उत्साह, क्षमा, संताप आदि कोई भी दशा या भाव क्यों न हो।

चन्द्रालोककारने भी ऐसे कुछ लक्षण गिनवाए हैं—

अल्पाक्षरा विचित्रार्थ ख्यातिरक्षरसंहतिः।
उपाकान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः ॥१॥
शोभाख्यातोऽपि यद्दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते ॥२॥

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थ-निषेध-कृत्।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ॥३॥
हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यैकस्यावधारणम्।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ॥४॥

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरनिपातिताः ॥५॥

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम।
ईदृशैश्चरितै राजन् सत्यं दोषाकरो भवान्। ६॥
स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती साध्यसाधने।
चन्द्रांशु-सूत्र-ग्रथितां नभःपुष्प-स्रजम्वह ॥७॥
सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥८॥
युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तराश्रयात् ।
नवत्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णैर्वर्षसि सन्ततम् ॥९॥
कार्यः फलोपलम्भश्चेद्व्यापारादन्यतोऽथवा।
अतावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥१०॥

परदोषैर्विचित्रार्थैर्यत्रात्मा परिकीर्त्यते ।
अदृष्टान्योऽपि वा कश्चित् स तु दोष इति स्मृतः ॥३८॥
लोके गुणातिरिक्तानां गुणानां यत्र नामभिः ।
एकोऽपि शब्द्यते तत्तु विज्ञेयं गुणकीर्तनम् ॥३९॥
प्रस्तावेनैव शेषोऽर्थः कृत्स्नो यत्र प्रतीयते ।
वचनेन विजानातु सिद्धिः सा परिकीर्तिता ॥३०॥
यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितु वचः ।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥४१।

एतानि वा काव्यविभूषणानि
षट्त्रिंशदुद्देश्य निदर्शनानि ।
काव्येषु सोदाहरणानि तज्ज्ञैः
सम्यक् प्रयोज्यानि बलानुरूपम् ॥४ ॥

[भूषण अक्षर-संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्ति, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दृष्टि उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, क्षोभ, गुणकीर्तन, सिद्धि और प्रियवचन ये छत्तीस लक्षण काव्य-बन्ध अर्थात् रूपक काव्य-रचनामें प्रयोग करने चाहिएँ। जो वाक्य बहुतसे अलंकारों और गुणोंसे सजा हुआ हो और विचित्र अर्थोंसे जो भरा हुआ हो उसे भूषण कहते हैं। जिस वाक्यमें थोड़े ही श्लेष-भरे अक्षरोंसे कुछ विचित्र बात कह दी जाती है वहाँ अक्षर-संघात होता है। जहाँ सिद्ध अर्थोंके साथ असिद्ध अर्थ निकाला जाता है और वह विशिष्ट अर्थश्लेष भरा होता है, वहाँ शोभा होती है। जहाँ थोड़े ही अर्थवाले वाक्योंके प्रयोगसे चतुर लोग अपनी बात कह जाते हैं, उसे उदाहरण कहते हैं। जहाँ अपने मन का अर्थ व्यक्त करनेवाला संक्षेपमें कहा हुआ आकर्षक ऐसा वाक्य कहा जाय जिसमें अपना प्रयोजन सिद्ध करने की समर्थता हो, वह हेतु कहलाता है। जहाँ कोई वाक्य इस प्रकार समाप्त किया जाय कि उसमें एक ही बात अनेक प्रकारसे विचारी गई हो, वह संशय कहलाता है। सब लोगोंको अच्छा लगनेवाला, अलग अलग पक्षोंके अर्थको स्पष्ट करनेवाला, कारणको स्पष्ट करनेवाला वाक्य, दृष्टान्त कहलाता है। जहाँ किसी बातके कुछ अंगोंको देखकर उसके भावका अनुमान कर लिया जाता है, वह प्राप्ति कहलाती है। जहाँ समानताके कारण किसी नये मनोहर अर्थकी कल्पना कर ली जाती है, वहाँ अभिप्राय होता है। जहाँ प्रसिद्ध अर्थोंकी गिनती की जाती है और पिछले अर्थकी अपेक्षा अगले अर्थको महत्त्व दिया जाता है वहाँ निदर्शना होती है। जहाँ पिछले अस्पष्ट वाक्यके स्पष्टीकरणके लिये कोई वचन कहा जाता है, उसे निरुक्ति कहते हैं। जहाँ बहुतसे प्रयुक्त नामोंका वर्णन करके कोई इष्ट अर्थ निकाला जाता है, वहाँ सिद्धि होती है। जहाँ बहुतसे सिद्ध और प्रधान अर्थवाले शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करके कोई विशेषतायुक्त वचन व्यक्त किया जाता है, वहाँ विशेषण होता है। जहाँ अनेक प्रकारके गुणवाले और विपरीत अर्थवाले शब्दोंसे मधुर और निष्ठुर दोनों अर्थ निकलें वहाँ गुणातिपात होता है। जहाँ सामान्य मनुष्योंमें होनेवाले बहुतसे गुणोंका वर्णन करके किसी एककी बड़ाई की जाय, वहाँ अतिशय होता है। जहाँ समान अर्थवाले रूपकों और उपमानोंसे ऐसे अर्थ व्यक्त किए जायँ जिनमें सहसा विश्वास न हो सके उसे तुल्यतर्क कहते हैं। जहाँ बहुतसे शब्दोंसे युक्त बहुतसे वाक्योंका प्रयोग हो और सबका अर्थ भी समान ही हो, उसे पदोच्चय कहते हैं। जो बात देश काल और रूपके अनुसार प्रत्यक्ष या परोक्ष कही जाय उसे दृष्ट कहते हैं। जहाँ किसी शास्त्रके अर्थको ग्रहण करके विद्वत्तापूर्ण मनोहर वाक्य कहा जाता है, उसे उपदिष्ट कहते हैं। जहाँ पहले कही हुई बातोंके समान अर्थोंसे भरी और प्रत्यक्ष अर्थ साधनेवाली, अनेक प्रकारके तर्क-वितर्कसे युक्त वाक्य हो, उसे विचार कहते हैं। जहाँ पहलेसे चली हुई बातसे भिन्न और संदेहसे युक्त अर्थ प्रकट किया जाय, वहाँ अर्थ-विपर्यय होता है। जहाँ वाच्य या प्रत्यक्ष अर्थको छोड़कर अनेक प्रकारसे कुछ दूसरे ही अर्थकी प्रतीति करायी जाय वहाँ भ्रंश होता है। जहाँ दो व्यक्तियोंमें परस्पर प्रीति उत्पन्न करनेवाले, एक दूसरेके विरोधको शान्त करनेवाले अर्थकी साधना हो, वहाँ अनुनय होता है। जहाँ इच्छित अर्थ की अभिव्यक्तिके लिये अनेक प्रयोजनोंकी गिनती करा दी जाय, वह माला कहलाती है। जहाँ प्रसन्न होकर दूसरेके कथनानुसार क्रिया की जाय या चेष्टाएं की जायं, वह दाक्षिण्य कहलाता है। जहाँ दोषोंकी गिनती करते हुए अर्थसे गुण प्रकट किया जाता हो वहाँ गर्हण होता है। जहाँ किसी दूसरे अर्थकी अभिव्यक्ति करते

हुए कोई दूसराही माधुर्ययुक्त अर्थ प्रकट हो, वह अर्थापत्ति कहलाती है। जहाँ वाक्य और अर्थको सजानेवाले अतिरंजित और लोक-प्रसिद्ध वाक्योंसे कोई बात कही जाय, वह लोक-प्रसिद्ध कहलाती है। जहाँ मूल वाक्योंसे अपनी या दूसरेकी कोई बात पूछी या समझी जाय, उसे पृच्छा कहते हैं। जहाँ देखी हुई, सुनी हुई, अनुभव की हुई बातों को इस ढंगसे कहा जाय कि वह प्रत्यक्ष-सी जान पड़े, उसे सारूप्य कहते हैं। जहाँ अपने मनकी कोई छिपी हुई बात किसी दूसरेको लक्ष्य करके व्यक्त कर दी जाय, वह मनोरथ कहलाता है। जहाँ शास्त्रार्थकी कलामें कुशल लोग कौशलसे इस प्रकार कहते हैं कि उससे समान अर्थ ही प्रकट होता हो, वह लेश कहलाता है। जहाँ दूसरोंके दोषोंसे विचित्र प्रकारसे अपना वर्णन किया जाय या किसी अन्य अदृष्ट व्यक्तिका वर्णन हो, उसे दोष कहते हैं। समाजमें जब हम एक ही व्यक्तिका उसके वास्तविक गुणोंके अतिरिक्त गुणोंका नाम ले-लेकर वर्णन करते हैं, उसे गुणकीर्तन कहते हैं। जहाँ किसी वाक्यके प्रारम्भ मात्रमें उसका पूरा अर्थ प्रतीत हो जाता है वह सिद्धि कहलाती है। जहाँ प्रसन्न मनसे किसी पूज्य व्यक्तिकी पूजा करनेके लिये या प्रसन्नता व्यक्त करनेके लिये कोई वाक्य प्रयुक्त होता है, प्रयुक्ति कहलाता है। नाटककारोंका धर्म है कि ऊपर जो १६ काव्यके विभूषण कहे गए हैं उनका प्रयोग वे जहाँ आवश्यक हों वहाँ अवश्य करें।]

नाट्यशास्त्रके एक दूसरे ग्रन्थमें विभूषण, अक्षर संहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्ति, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, यांचा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त भाषण, संशय, आशीर्वाद, प्रिय, कपट, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्तपन, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति, परिदेवन, ये छत्तीस लक्षण लिखे हैं और यह कहा है कि रसके अनुसार इनका प्रयोग होना चाहिए। संवादके वाक्योंकी व्याख्या करते हुए हम ऊपर बतला आये हैं कि भावोंके अनुसार अनेक प्रकारसे वाक्य कहे जा सकते हैं जिनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती। कभी-कभी एक ही प्रकारके भाव मनुष्यके सात्त्विक, राजस और तामस स्वभावके अनुसार भिन्न भिन्न-रूप धारण कर लेते हैं। सात्त्विक प्रकृतिवाला किसी बातपर खीझकर यह कहेगा—"क्षमा कीजिए, मैं आपसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता", राजसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर कहेगा—"अब यदि आप ऐसा कहेंगे तो मैं सहन नहीं करूँगा।" तामसी प्रकृतिका व्यक्ति क्षुब्ध होकर हाथ चला देगा और कहेगा—"फिर तो कह।" इस प्रकार जितने भी संवाद होते हैं उनमें वक्ता और संबोध्यकी प्रकृतिके अनुसार वाक्यकी रचना करनी चाहिए चाहे उन वाक्योंमें सम्बोधन, प्रश्न, उत्तर, सहमति, सन्देश, निर्देश, आदेश, उपदेश, अभ्यर्थना, प्रार्थना, दैन्यप्रदर्शन, चाटुकारी, विषाद, क्षोभ तर्जन, आक्रोश, शाप, क्रोध, व्यंग्य, विनोद, हास, परिहास, उपहास, उल्लास, प्रेमालाप, वार्तालाप, मंत्रणा, षड्यन्त्र, कूटालाप, मिथ्यालाप, विलाप, प्रलाप, स्वप्नालाप, यांचा, मुग्धालाप, वाचालता, शास्त्रार्थ, कलह, छिद्रान्वेषण, आश्चर्य, भय, व्याकुलता, करुणा, घृणा, सन्देह, उत्साह, क्षमा, संताप आदि कोई भी दशा या भाव क्यों न हो।

चन्द्रालोककारने भी ऐसे कुछ लक्षण गिनवाए हैं—

अल्पाक्षरा विचित्रार्थं ख्यातिरक्षरसंहतिः।
उपाक्रान्तेनानुगतः शूरः शौरिरयं पुनः ॥१॥
शोभाख्यातोऽपि यद्दोषो गुणकीर्त्या निषिध्यते।
मुधा निन्दति संसारं कंसारिर्यत्र पूज्यते ॥२॥

अभिमानो विचारश्चेदूहितार्थ-निषेध-कृत्।
इन्दुर्यदि कथं तीव्रः सूर्यो यदि कथं निशि ॥३॥
हेतुस्त्यक्त्वा बहून् पक्षान् युक्त्यैकस्यावधारणम्।
नेन्दुर्नार्कोऽयमौर्वाग्निः सागरादुत्थितो दहन् ॥४॥

प्रतिषेधः प्रसिद्धानां कारणानामनादरः।
न युद्धेन भ्रुवोः स्पन्देनैव वीरनिपातिताः ॥५॥

निरुक्तं स्यान्निर्वचनं नाम्नः सत्यं तथानृतम्।
ईदृशैश्चरितै राजन् सत्यं दोषाकरो भवान् ॥६॥
स्यान्मिथ्याध्यवसायश्चेदसती आम्यसाधने।
चन्द्रांशु-सूत्र-ग्रथितां नभःपुष्पस्रजं वह ॥७॥
सिद्धिः ख्यातेषु चेन्नाम कीर्त्यते तुल्यतोक्तये।
युवामेवेह विख्यातौ त्वं बलैर्जलधिर्जलैः ॥८॥
युक्तिर्विशेषसिद्धिश्चेद्विचित्रार्थान्तरान्वयात्।
नवत्वं नीरदः कोऽपि स्वर्णवर्षी [illegible] ॥९॥
कार्यः फलोपलम्भश्चेद्व्यापारादन्यतोऽथवा।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥१०॥

इत्यादि लक्षणं भूरि काव्यस्याहुर्महर्षयः ।
स्वर्णभ्राजिष्णुभालत्वप्रभृतीव महीभुजः ॥११॥

[कुछ थोड़ेसे अक्षरोंमें कोई पूरी घटना चमत्कारी अर्थके साथ कही जाय उसे अक्षर-संहति कहते हैं। जैसे, उदाहरणमें उषाकान्त अनिरुद्धका स्मरण करा देनेसे ही बाणासुरकी कथा स्मृतिमें आ गई।

किसी विषयमें आरोपित बड़े-बड़े दोषोंको, किसी गुणका वर्णन कर, मिटा देनेको शोभा लक्षण मानते हैं। जैसे, संसारकी कुटिलता, नश्वरता असत्यादि दोषोंके होते हुए भी यहीं कंसारि प्रभु कृष्णकी उपासनाका महत्त्व दिखला देनेसे इसका श्रेय कितना गौरवान्वित हो गया।

किसी विशेष कार्यके लिये कोई कल्पना करना और साथ ही उसका खण्डन कर देना अभिमान किया कहलाती है। जैसे, कोई विरहिणी कहती है, यदि यह चन्द्र होता तो मैं उत्तप्त क्यों होती, यदि उसे सूर्य समझूँ तो रात्रिका यह अन्धकार कैसे ?

जहाँ बहुत पक्षोंकी कल्पना करके युक्तिपूर्वक कोई एक बात निश्चय कर ले उसे हेतु कहते हैं और वह लगभग पहेली सी हो जाती है। जैसे विरहिणी कहे कि फिर न तो यह चन्द्र है न सूर्य ही है, यह वास्तवमें समुद्रसे निकला बड़वानल है जो मुझे जला रहा है।

प्रसिद्ध कारणोंका तिरस्कार करके जो एक बात कह दी जाय उसे प्रतिषेध लक्षण कहते हैं। जैसे, बड़े-बड़े वीरोंको बिना युद्ध के ही केवल भौंहें चलाकर मार गिराया।

गुणोंके अङ्गाङ्गि भावोंकी तुलना दिखलाते हुए उसे एक विशेषणात्मक नाम देनेको विस्तृत कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है सत्य और मिथ्या। जो व्याकरणसे सहज सिद्ध हो उसे सत्य कहते हैं और इसके विपरीतको मिथ्या। जैसे, दोषाकार और राजन्।

मिथ्याध्यवसाय उसे कहते हैं जहाँ साध्य और साधन दोनों मिथ्या हों। जैसे, चन्द्रकी किरणोंके सूत्रोंसे गुही हुई आकाशपुष्पकी मालाका धारण करना।

प्रसिद्ध बातोंमें यदि तुलनात्मक गुण दिखलाये जायँ तो वह सिद्धि कहलाती है। जैसे दोनों ही समान रूपसे संसारमें विख्यात हैं। वह यदि जलनिधि है तो आप भी बलनिधि हो।

दोनों के अर्थात् उपमान और उपमेयके सम्बन्धको दिखलाते हुए उपमेयमें विशेष चमत्कार दिखलानेको युक्ति कहते हैं, जैसे, आप कोई ऐसे विचित्र नवीन जलद हैं जो बारंबार स्वर्ण की ही वृष्टि करते हैं।

किसी व्यापार या वस्तु द्वारा जो प्रतीत फल हो उसके उपालम्भ देनेको कार्य कहते हैं। जैसे, यह चन्द्रका उदय रमणियोंकी मानरात्रिके समाप्त होनेकी सूचना देनेके निमित्त ही है।]

आचार्योंने काव्यके अनेक लक्षण बतलाए हैं। जैसे, कनक, तेजस्विता, उन्नत ललाटत्व आदि अनेक गुण राजाओंमें होते हैं वैसे ही काव्यमें भी अनेक गुण होते हैं।

किन्तु ये लक्षण न होकर काव्यकी शोभाके साधन हैं और अलंकारोंमें इनमेंसे बहुतोंका विवेचन आ गया है। और फिर नाट्य-काव्यका क्या लक्षण होना चाहिए यह हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं इसलिये उसका पिष्ट-पेषण करनेकी आवश्यकता नहीं।

प्रायः प्रत्येक युगमें वाक्य-रचना या वार्तालापका प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपसे होता चला आया है। संस्कृत नाटकोंमें सहमति देते समय 'अथकिम्' (और क्या) कहनेका प्रचलन था। आजकल इसके बदले 'जी हाँ' कहते हैं। इसी प्रकार कई अवस्थाओंमें यही सहमति "हाँ, ठीक है, यह तो है ही, बहुत ठीक, यही होना चाहिए, वही तो, बहुत अच्छा, अच्छा, जी हाँ, जैसी आज्ञा" आदि न जाने कितने रूपोंमें व्यक्त करते हैं। अतः इसके लिये कोई ऐसे निश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते कि अमुक अवस्थामें अमुक उक्तिके उत्तरमें अमुक ही शब्द या वाक्य प्रयोग किया जाय। यहाँ भी वक्ता और संबोध्यकी योग्यता और परिस्थितिका विचार करना आवश्यक है। समाजमें जिन विभिन्न वर्गोंके लोग परस्पर एक दूसरेसे मिलते हैं वे अपने अपने वर्गोंमें मिलते हुए जिन शब्दों या वाक्योंका प्रयोग करते हैं, उनका प्रयोग वे अन्य वर्गोंके साथ मिलते समय नहीं करते। इसी प्रकार विभिन्न जातियोंके परस्पर सम्पर्कमें आनेसे कुछ नये शब्दों और वाक्योंका प्रयोग प्रचलित हो जाता है जैसे प्रत्येक बातपर धन्यवाद कहनेका प्रयोग भारतवर्षमें अंग्रेजोंके

'थैंक यू' के आधारपर चलने लगा है। अतः आजके नाटकमें हमें यदि दो व्यक्तियोंके शीलका परिचय देना होगा तो वहाँ "मैं आपका कृतज्ञ हूँ" न कहलाकर धन्यवाद ही कहलाना होगा। नाटककारको इस सम्बन्धमें इतना ही जान लेना चाहिए कि वह जिस युगका नाटक लिखे उसी युगकी भावनाओंके अनुरूप वाक्य-प्रकृतिका प्रयोग करे।

❀ आंगिकाभिनयशीलौ भावाभिनयानुसंवादिनौ ॥

[अनुसंवादी भावाभिनयीमें केवल आंगिक अभिनय है।]

बहुतसे ऐसे नाटक भी होते हैं जिनमें केवल आंगिक अभिनय ही होता है। ये दो प्रकारके होते हैं—एक तो अनुसंवादी, दूसरे भावाभिनय। अनुसंवादीमें तो अन्य नाटकोंके समान ही संवाद होते हैं और नेपथ्यसे पात्रोंके अनुकूल पाठक वाचिक अभिनयके साथ पाठ करते हैं और अभिनेता रंगमंचपर केवल आंगिक और सात्त्विक अभिनय करता है। किन्तु भावाभिनय या मूकाभिनयमें कथा-मात्र दे दी जाती है और अभिनय क्रमका निर्देश कर दिया जाता है।

❀ गीतिनाट्ये छन्दोबद्ध-संवादः।

[गीतिनाट्यमें छन्दबंध संवाद।]

कुछ ऐसे भी नाटक हैं जिनमें सब संवाद गीतमय होते हैं। इन गीतनाट्योंके लिये छन्दोबद्ध संवाद लिखा जाता है जैसे अभिनवभरतके गौतम बुद्धमें। उसमें नाटककारको यह ध्यान रखना होता है कि किस अवसरपर किस प्रकारका संवाद किस छंदमें किस रागमें और किस लयमें हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि नाटककारको गद्य और पद्यकी रचनाके नियमोंके साथ-साथ संगीतके तत्त्वोंका भी ज्ञान आवश्यक है। इसलिये हम शब्द-शक्ति, अलंकार, गुण दोष रीति, वृत्ति आदिका विवेचन करके आगे छन्दः शास्त्रका आवश्यक निरूपण करेंगे और फिर संगीतशास्त्रके आवश्यक तत्त्व राग, लय और तालकी मीमांसा अगले रूपक-रचना खंडमें करेंगे।

अलंकार

❀ सहृदयसामाजिकरलं कारयतीत्यलंकारः ॥

[अलं कहा दे सामाजिकसे अलंकार वह कहलाता है।]

जिन आचार्योंने काव्यमें अलंकारकी कल्पना की है उन्होंने अलंकारकी परिभाषा यही बताई है कि जिससे सजावट की जाय उसीको अलंकार कहते हैं। 'अलंक्रियतेऽनेन इति अलङ्कारः।' जैसे शरीरपर अलंकार या आभूषण पहननेसे शरीरका स्वाभाविक सौन्दर्य और भी अधिक निखर जाता है, वैसे ही शब्दों और वाक्योंमें अलंकार या सजावट भर देनेसे शब्द और वाक्य सुन्दर और आकर्षक हो जाते हैं। यद्यपि कभी-कभी अलंकारके बिना भी स्वाभाविक सुन्दरता आकर्षक होती है और शब्द तथा वाक्य भी कभी-कभी स्वाभाविक रूपमें अधिक मनोहर और सरस लगते हैं, किन्तु यदि उनमें अलंकारोंकी सुन्दरता जोड़ दी जाय तो उनका प्रभाव और भी अधिक व्यापक हो जाता है। नाटककी दृष्टिसे आजकलके नाट्याचार्य आलंकारिक-भाषाको नाटकके लिये उपयुक्त नहीं समझते, क्योंकि नाटकको लोकका अनुकरण माननेके कारण वे समझते हैं कि नाटकमें संवाद अर्थात् भाषा भी स्वाभाविक बोलचालकी होनी चाहिए जिसमें कभी-कभी केवल काकु ध्वनिसे ही बड़े गंभीर अर्थका द्योतन हो जाय।

❀ योग्योचितभावालङ्करणमलङ्कारः।

[योग्य उचित ही भाव-सजावट अलङ्कार कहलाती।]

अलंकारके अचार्योंने अलंकारको जो केवल सजावट-मात्र माना है और उन्हें सुन्दर शरीरपर पहने हुए गहनेके समान सहज सौन्दर्यवर्धनका साधन माना है वह अभिनव-भरतके मतसे ठीक नहीं, क्योंकि इसी भ्रमके कारण बहुतसे ऐसे भी अलंकार उसमें आ गए हैं जिनसे सौन्दर्य-वृद्धिके बदले असौन्दर्यकी वृद्धि होती है। वास्तवमें अलंकारका अर्थ यह है कि वह जब प्रयोग कर दिया जाय तब फिर कुछ भी कहना या जोड़ना शेष न रहे। अर्थात् किसी बातको कहनेके समय जो शैली, जो उपमान आदि प्रयुक्त हों वे ऐसे हों कि उन्हें देखकर सहृदय लोग 'अलं' अर्थात् 'बस' कह दें अर्थात् उनसे यह सूचित हो कि अब किसी दूसरे ढंगसे या इससे अधिक किसी दूसरे प्रकारसे कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गई है। अलंकारका यही तत्त्व भाषाके संबंधमें विशेषतः नाटककी भाषाके सम्बन्धमें भली भाँति समझ रखना चाहिए कि उन्हें बदलनेकी आवश्यकता न हो और उनके द्वारा नाटककारका उद्दिष्ट प्रभाव पूर्णतः बना रहे। किसी दोहे या छन्दको सुनकर जब सहृदय लोग वाह-वाह कह उठते हैं या उर्दूवाले जिस उक्तिपर 'कलम तोड़ दी' कह उठते हैं उनका तात्पर्य यह है कि उस उक्तिमें जो बात

जिस ढंगसे कही गई है वह बात उससे अच्छे ढंगसे, उससे अच्छी सजावटसे नहीं कही जा सकती। किसी बातको इस प्रकार सजानेका विधान अलङ्कार कहलाता है जिससे उचित तथा योग्य प्रकारसे भावका अलङ्करण किया जाय।

कुछ आचार्योंने इसी बातको थोड़ा घुमा-फिराकर इस प्रकार कहा है कि शब्द और अर्थके द्वारा उपस्थित रसके गुणोंकी विशेषता जिस शैलीसे प्रकट की जाय उसे अलंकार कहते हैं। कुछका कहना है कि शोभा बढ़ानेवाले तथा रस आदिका उत्कर्ष करनेवाले शब्द और अर्थके अस्थिर धर्मको अलंकार कहते हैं। एक परिभाषामें शैलीको अलंकार बताया गया है। दूसरीमें अस्थिर धर्मको अलकार बताया है। किन्तु वास्तवमें न तो शैली ही अलंकार है न धर्म ही। अलंकार वह निश्चल योजना है जिसके अंतर्गत काव्यका स्वरूप उसके विविध अंग अंगोंके प्रकरण, प्रकरणोंके अंतर्गत कथा, वर्णन, संवाद और उन सबमें व्याप्त एक विशेष उद्देश्यकी अभिव्यक्ति सब आ जाते हैं और यह सब पूरी योजना जिन अनेक भाषाके विधानोंसे पूरी होती है उन सबकी समष्टि अलंकार कहलाती है। उसमें रसके गुणोंकी शब्द और अर्थके द्वारा किसी शैलीसे विशेषता नहीं प्रकट की जाती, जैसे रंगमंचके नटपर विभिन्न केन्द्रोंसे पड़नेवाले विभिन्न रंगोंके प्रकाश, विभिन्न अवसरोंपर उसकी विभिन्न चेष्टाओं भावभंगियों और मुद्राओंको स्पष्ट करते चलते हैं उसी प्रकार अलंकार भी काव्यके विभिन्न पात्रों, अवसरों और कार्योंको अधिक स्पष्ट रूपसे व्यक्त करनेमें और संवेदनशील बननेमें सहायक बनते हैं। यदि ऐसा न करके वे केवल भाषाचमत्कारसे ही पाठक या श्रोताके मनमें कुतूहल उत्पन्न करते तो वे अलंकार न हो पाते क्योंकि अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं। जब वे साध्य हो जाते हैं और लेखक या कवि उन्हींका चमत्कार प्रदर्शन करनेमें अपना कौशल दिखाता है तो वह काव्यकी रचना नहीं करता वह अलंकार-शास्त्रकी रचना करता है। इसलिये काव्यके रचयिताको अलंकार ढूँढ़ने नहीं पड़ते। यदि वह कुशल लोक-निरीक्षक होगा तो काव्यके प्रत्येक अवसरपर उसकी भाषा स्वयं इस प्रकार ढल जायगी कि वह ऐसा अदृष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सके कि पढ़नेवाला या सुननेवाला कह उठे कि लेखकने 'अलं' कर दिया। इसीलिये मम्मटने व्यंजना और लक्षणायुक्त काव्योंको ही श्रेष्ठ माना है और केवल अक्षरों तथा शब्दोंका खिलवाड़ करनेवाले कवियोंकी रचनाओंको अधम काव्य बतलाया है।

ये अलंकार शब्दमें भी हो सकते हैं, अर्थमें भी हो सकते हैं तथा शब्द और अर्थ दोनोंमें हो सकते हैं इसीलिये इनके तीन भेद बताए गए हैं—शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और उभयालङ्कार। अभिनवभरतका मत है कि जैसे कोई स्त्री केवल बालोंको सजा ले और शिरके सब आभूषण पहन ले किन्तु शेष शरीरपर मैले-कुचैले कपड़े पहने रक्खे तो वह न तो सुन्दर कही जायगी और न उसके शिरके अलङ्कार अलङ्कार कहलायँगे। इसी प्रकार यदि हम यह वाक्य कहें—

'गुरुजीके चरणकमल पकड़-पकड़कर छात्र लोग उछल-कूद कर रहे थे।'

यहाँ जिस व्यक्तिने छात्रोंको गुरुके चरणस्पर्श करते देखा है उसने वाक्यके द्वारा गुरुके प्रति श्रद्धा और भक्ति न प्रकट कर ऐसा दिखाया है मानो छात्रगण गुरुका उपहास कर रहे हैं। अतः 'चरणकमल'में आए हुऐ रूपक अलंकारसे वाक्यमें सुन्दरता नहीं आई वरन् यहाँ अलंकार भी निस्तेज और व्यर्थ हो गया है। अतः अलंकार तो किसी उक्तिकी सजावटकी उस समष्टिको कहते हैं जिससे वक्ताके भावकी श्रोताके मनमें तीव्रतर व्यञ्जना हो। अतः शब्दके अर्थमें अलंकार नहीं, वरन् वाक्यकी ध्वनिमें होता है। किन्तु वाक्यमें भी यह सौन्दर्य या प्रभाव शब्दों और उनके अर्थोंसे ही आता है अतः शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारकी विवेचन कर लेना अनुचित न होगा।

शब्दालंकार

शब्दालङ्कार वह है जिसमें केवल शब्दोंका सौन्दर्य हो। ये पाँच प्रकारके माने गए हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। आधुनिक ग्रन्थकारोंने इनमेंसे वक्रोक्ति और श्लेषको अर्थालङ्कारमें ही परिगणित किया है। चित्रालंकार वह है जिससे वर्णों तथा शब्दोंके निबंधसे खड्ग, रथ आदि अनेक प्रकारके चित्र बनाए जाते हैं। इसे केवल शब्द-व्यायाम समझना चाहिए। इससे अर्थमें भी दुरूहता आती है और माधुर्यका भी नाश हो जाता है।

अर्थालंकार

अर्थालंकारोंकी संख्या बहुत अधिक है। साम्य, विरोध, शृंखला, न्याय और वस्तु भेदसे वे पाँच श्रेणियोंमें बाँटे गए हैं।

(१) साम्यमूल—पदार्थोंकी समानताके कारण किसी वर्णनमें जो चमत्कार उत्पन्न किया जाता है वह साम्य-मूलक कहा जाता है। इसे सादृश्यमूल, साधर्म्यमूल तथा औपम्यगत भी कहते हैं। इस सिद्धान्तके अन्तर्गत लग-भग आधे अलंकार आ जाते हैं अतः स्पष्ट करनेके लिये इसके कुछ उपभेद किए जाते हैं—

(क) अभेद-प्रधान—जब दो समान पदार्थोंमें किसी प्रकारका भेद न देखाकर उन्हें एक ही बताया जाय। इस उपभेदके अन्तर्गत रूपक, परिणाम, उल्लेख, भ्रांति, संदेह और अपह्नुति अलंकार आते हैं।

(ख) भेद-प्रधान—जब दो पदार्थोंको समान बताते हुए भी उन दोनोंकी भिन्नता या अपेक्षता प्रकट की जाय। इसके अन्तर्गत, प्रतीप, तुल्य-योगिता, दीपकावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना, सहोक्ति, विनोक्ति और व्यतिरेक अलंकार हैं।

(ग) भेदाभेद-प्रधान—जब दो पदार्थोंमें पूरी समानता होनेपर भी यह प्रकट किया जाय कि वे दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। इस भेदमें उपमा, अनन्वय, उपमानोपमेय और स्मरण अलंकार हैं।

(घ) प्रतीति-प्रधान—जब दो पदार्थोंमें समानताकी प्रतीति मात्र हो। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इसके अन्तर्गत हैं।

(ङ) गम्य-प्रधान—जिनमें दो पदार्थोंकी कुछ समान बातें व्यंग्यसे ध्वनित होती हों। इसमें अप्रस्तुत-प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा और आक्षेप आते हैं।

(च) अर्थवैचित्र्य-प्रधान—जिनमें समानताका भाव रहते हुए भी शब्द या वाक्यके अर्थमें कुछ विचित्रता हो। समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर और श्लेष इस उप-भेदमें माने जाने चाहिएँ।

२—विरोध-मूल—जब दो पदार्थोंके कार्य-कारणमें विच्छेद होनेसे पारस्परिक विरोध प्रकट हो तब विरोध-मूलक सिद्धांत होगा। इसके अन्तर्गत विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, असंभव, असङ्गति, विषम, विचित्र और व्याघात अलंकार हैं।

३—शृंखलामूल—जब दो या उससे अधिक वस्तुओंका क्रमसे वर्णन हो और वे शृंखलाके समान एक दूसरेसे सम्बद्ध हों। इसके अनुसार कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार अलंकारोंका निर्माण हुआ है।

४—न्यायमूल—जब तर्क, लोक-प्रमाण या दृष्टांत आदिसे युक्त वाक्य-द्वारा चमत्कार या रोचकता उत्पन्न की जाय। इसके अन्तर्गत भी बहुतसे अलंकार हैं इसलिये इसके भी तीन उपभेद किए जाते हैं—

वाक्य-न्याय-मूल, लोक-न्यायमूल और तर्क-न्यायमूल

(क) वाक्य-न्यायमूल—जब वाक्योंमें शब्दोंके विशेष क्रमसे अथवा दो वाक्योंको विशेष सम्बन्धसे मिलाकर रोचकता या चमत्कार लाया जाय। इसके अन्तर्गत यथा-संख्य, पर्याय, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीप, काव्यार्थापत्ति, सम्भावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित और चित्र अलंकार आते हैं।

(ख) तर्क-न्याय-मूल—जब कारण आदि देकर तर्कसे कुछ विशेषता स्थापित की जाय। काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, प्रौढोक्ति, छेकोक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु और निरुक्ति अलंकार इसी सिद्धान्तपर व्युत्पन्न हुए हैं।

(ग) लोक-न्याय-मूल—जब प्रचलित लोक-व्यवहारके प्रयोगसे चमत्कार उत्पन्न हो जैसे-परिवृत्ति, समाधि, प्रत्यनीक, सम, तद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, अतद्गुण, सामान्य, विशेष, उन्मीलित, मीलित और भाविक अलङ्कारोंमें होता है।

इन अलंकारोंके अतिरिक्त विषाद, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेख, मुद्रा, रत्नावली, गूढ़ोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, उदात्त और अत्युक्तिका उल्लेख है। इनमेंसे अधिकांश ऐसे हैं जिनमें व्यंग्यसे छिपाकर या उल्टी बातें कही जाती हैं। ये अलंकार वस्तुमूलक कहे जा सकते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि कुछ आचार्योंके मतमें शब्द तथा अर्थके संबंधसे भाषाकी सौंदर्य-वृद्धिके अस्थिर धर्मको अलंकार कहते हैं और ये इन्हीं दोके संबंधसे दो विभागोंमें बाँटे गए हैं—अर्थालंकार और शब्दालंकार। जिनमें शब्द

और अर्थ दोनोंका सम्मिलन होता है वे उभयालंकार कहलाते हैं जैसे साहित्य-दर्पणकार और वाक्य-प्रकाशकारने वक्रोक्तिको शब्दालंकार माना है पर भाषा-भूषणकारने इसे अर्थालंकार माना है।

दो वस्तुओंमें (उपमान और उपमेय) भेद रहते हुए भी सादृश्य दिखलाने या समान धर्म बतलानेको उपमालंकार कहते हैं। इसके चार अंग हैं—

उपमेय—जिसकी उपमा दी जाय अर्थात् जो वर्ण्य या वर्णनीय हो।

उपमान—वह वस्तु जिससे उपमा दी जाय अर्थात् जिसके समान दूसरी वस्तु बतलाई जाय।

वाचक—उपमा प्रकट करनेवाले शब्द जैसे—से, समान, तुल्य आदि।

धर्म—साधारण या सामान्य धर्म (गुण, क्रिया रूप, आदि) जो दोनोंमें दिखलाया जाय। कुछ लोगोंने नाम-साम्य भी उपमा ही माना है पर यह निरर्थक और त्याज्य है जैसे—अर्जुनके समान अर्जुन वृक्ष देखो।

जहाँ समताके चारों अंग वर्तमान हों वहाँ पूर्णोपमा अलंकार होता है जैसे—श्रीकृष्णका शरीर नवघनके समान साँवला है।

जिन उपमाओंमें इन चारों भागोंमें-से एक, दो या तीन न हों वे लुप्तोपमा कहलाते हैं। जैसे—

१—श्रीकृष्ण नवघनके समान हैं—धर्मलुप्तोपमा।

२—देखो, श्रीकृष्ण नवघन हैं—धर्मवाचकलुप्तोपमा।

३—देखो, श्रीकृष्ण (नवघनके समान साँवले हैं क्योंकि) मोरोंके नृत्यका कारण बन गए हैं—धर्मवाचक उपमान-लुप्तोपमा। इस प्रकार लुप्तोपमाके बहुतसे भेद हो सकते हैं—

जिसमें उपमेय ही उपमान भी होता है अर्थात् एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनों रूपोंमें कही जाय उसे अनन्वय कहते हैं। जैसे—रामके समान राम हैं।

जिसमें उपमेय उपमान के समान और उपमान उपमेयके समान बतलाया जाय अर्थात् दोनोंमें पारस्परिक सादृश्य होना माना जाय वह उपमानोपमेय कहलाता है। जैसे—मुख मुख कमलके समान तथा कमल मुख के समान है।

प्रतीपका अर्थ है प्रतिकूल या उलटा अर्थात् उपमेयको उपमानके समान न कहकर उलटे उपमानको उपमेयके सदृश बतलाना। उपमेय तथा उपमानके सादृश्यमें आधिक्य तथा कमी आदिके संबधसे प्रतीप अलंकार पाँच प्रकार का माना गया है—

(क) जब उपमान, उपमेयके समान बताया गया हो जैसे—कमल नेत्रके समान है।

(ख) जब उपमानकी समानता न कर सकनेपर उपमेय तिरस्कृत हो जैसे—अपने मुख (के सौंदर्य) का क्या गर्व करती हो ? चंद्रको तो देखो।

(ग) जब उपमेयकी समानता न कर सकनेपर उपमान तिरस्कृत हो जैसे—तुम्हारी आँखोंके तीक्ष्ण कटाक्षके सामने कामके बाण तुच्छ हैं।

(घ) जब उपमानको उपमेयके समान बतानेमें संकोच प्रकट किया जाय जैसे—तुम्हारे इन सुन्दर नेत्रोंकी उपमा मीनसे कैसे दी जा सकती है।

(ङ) जब उपमेयके सामने उपमान व्यर्थ-सा जान पड़े जैसे—तुम्हारे नेत्रके आगे मृगके नेत्र कुछ नहीं है।

जहाँ बिना किसी भेदके उपमेयमें उपमानका आरोप हो अर्थात् दोनों एक ही मान लिए गए हों और निषेध-वाचक शब्द न आया हो वहाँ रूपक होता है। रूपकके दो भेद हैं—तद्रूप और अभेद और उनके भी अधिक, सम और न्यूनके अनुसार तीन तीन और भेद हैं।

१. न्यूनतद्रूप जैसे—समुद्रसे उत्पन्न न होने पर भी यह दूसरी लक्ष्मीके समान सुन्दर है।

२.अधिक तद्रूप जैसे—दिन-रात प्रकाश देनेके कारण यह मुख-चन्द्र आकाशके चन्द्रसे बढ़कर है।

३. समतद्रूप जैसे—जब नेत्र कमल हैं ही तब कमल किस कामका।

४. अधिक अभेद—यह कनकलता स्त्री चलती हुई कितनी अच्छी लगती है। (इसमें चलना विशेषता है)।

५. न्यून-अभेद—ये विद्रुम-अधर समुद्रसे उत्पन्न नहीं हैं।

६. सम-अभेद—तुम्हारा विमल मुख-कमल बड़ा सरस और सुगंधियुक्त है।

जब उपमेयका कार्य उपमानसे कराया जाय या दोनोंका एक रूपसे कार्य कराया जाना दिखाया जाय तब परिणाम अलंकार होता है। रूपकसे इसमें यही भेद है कि इसमें उपमानद्वारा कार्य होना दिखलाकर विशेष चमत्कार उत्पन्न किया जाता है जो रूपकमें नहीं होता है। जैसे—श्रीरामचन्द्रजी अपने कर कमलोंसे धनुषबाण घुमा रहे हैं।

जहाँ एक ही वस्तुका अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाय वहाँ उल्लेख अलंकार होता है। इसके दो भेद हैं—

१—जब एक वस्तुको अनेक लोग अनेक रूपोंमें देखें जैसे—श्रीरामचन्द्रजीको नारियोंने शृंगाररस, विद्वानोंने विराट्मय, जनकने आत्मीय, रानियोंने शिशु और योगियोंने परम तत्त्वके रूपमें देखा।

२—जब एक ही वस्तुको गुणोंके अनुसार एक ही व्यक्ति कई रूपोंमें देखे जैसे—आप युद्धमें अर्जुन, तेजमें सूर्य और विद्यामें बृहस्पतिके समान हैं।

पहले देखी या अनुभव की हुई वस्तुके सामने कोई वस्तु देख लेनेपर उस पहले देखी हुई वस्तुका स्मरण हो जानेका जहाँ वर्णन हो वहाँ स्मरण अलंकार होता है जैसे—चन्द्रको देखकर प्रेयसीका मुख स्मरण होने लगा है।

जहाँ उपमानमें उपमेयका भ्रम हो जाय वहाँ भ्रम या भ्रान्तिमान अलंकार होता है जैसे—मुखको चंद्र समझकर ये चकोर साथ लग गए हैं।

जहाँ किसी वस्तुको देखकर उसके वास्तविक रूपका निश्चय न हो वहाँ सन्देह अलंकार होता है जैसे—यह प्रियाका मुख है या चन्द्र है या नया खिला हुआ कमल है ?

जिसमें उपमेयका निषेध करके उपमानकी स्थापना की जाय वहाँ अपह्नुति होती है।

(१) शुद्धापह्नुति जहाँ किसी एक धर्म या गुणके कारण उपमेयका निषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है जैसे—ये स्तन नहीं है, गेंदेके फूल हैं।

(२) हेत्वापह्नुति—जब उपमेयका निषेध करते हुए हेतु या कारण दिया जाय जैसे—चन्द्रको देखकर स्त्री कहती है कि चन्द्रमें तो गर्मी नहीं होती और रात्रिको सूर्य नहीं दिखाई देते अतः हो न हो यह बड़वानल ही है।

(३) पर्यस्तापह्नुति—जब एकके गुणका दूसरेपर आरोप किया जाय—जैसे, यह मुख-सुधाधरका प्रकाश है, सुधाधर (चन्द्र) नहीं है।

(४) भ्रांत्यापह्नुति—दूसरेकी भ्रांतिको मिटानेके लिये जब अपह्नुतिका प्रयोग हो—जैसे हे सखी ! मुझे ज्वर नहीं है, यह तो कामदेव तपा रहा है।

(५) छेकापह्नुति—जहाँ युक्तिसे बात छिपाई जाती है जैसे—मेरे ओठोंपर प्रियके दाँतके घाव नहीं हैं, वरन् जाड़ेके पवनसे ओठ फट गए हैं।

(६) कैतवापह्नुति—जब एकके बहाने दूसरा कार्य होना कहा जाय जैसे प्रियाके तीक्ष्ण कटाक्षोंके बहाने काम-देव अपने बाण चला रहा है।

भेदका ज्ञान होते हुए भी उपमेयमें उपमानकी प्रतीति होनेको उत्प्रेक्षा कहते हैं। मनु, जनु, आदि उत्प्रेक्षाके वाचक शब्द हैं। इसके पाँच भेद हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, गम्योत्प्रेक्षा और सापह्नवोत्प्रेक्षा। वस्तूत्प्रेक्षाके उक्त-विषया और अनुक्तविषया तथा हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षाके सिद्ध-विषया और असिद्धविषया ये दो दो भेद होते हैं। उत्प्रेक्षामें वाचक शब्द न हो तो गम्योत्प्रेक्षा और अपह्नुति तथा उत्प्रेक्षाके मेलसे सापह्नवोत्प्रेक्षा होती है।

१. वस्तूत्प्रेक्षा जिसमें एक वस्तु दूसरेके तुल्य दिख-लाई जाय जैसे—नेत्र विशेष रूपसे बड़े और सरस हैं मानो वे कमल हों।

२. हेतूत्प्रेक्षा—जिसमें जिस वस्तुका कारण न हो उसको उसी वस्तुका कारण मानना जैसे—उसके पैर मानों कठोर आँगनमें चलनेके कारण ही लाल हो गए हों।

३. फलोत्प्रेक्षा—जिसमें जो जिसका फल नहीं है वह उसका फल माना जाय जैसे—तुम्हारे पैरोंकी समानता करनेके लिये कमल एक पाँवसे जलमें खड़ा होकर तप करता है।

जिसमें लोक-सीमाका उल्लंघन प्रधान रूपसे दिखलाया जाय वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। जहाँ उपमेयसे निश्चयपूर्वक उपमान अभिन्न प्रतीत होता हो वहाँ भी अतिशयोक्ति अलंकार होता है। उत्प्रेक्षासे इसमें यह भेद है कि इसमें अनिश्चित रूपसे कथन रहता है। इसके सात भेद बताए गए हैं।

(१) रूपकातिशयोक्ति—जहाँ केवल उपमानका ही वर्णन किया जाय जैसे—एक धनुष (भ्रू) और दो बाण (कटाक्ष) लिए हुए चंद्रमा (मुख) कनकलता (सुनहरे शरीर) पर शोभित है।

(२) सापह्नवातिशयोक्ति—जब एकका गुण दूसरेपर आरोपित किया जाय जैसे—अमृत तो तुम्हारे मुखमें है पर पागल लोग चन्द्रमामें बतलाते हैं।

(३) भेदकातिशयोक्ति—जब अत्यन्त भेद दिखलाया जाय जैसे—उसका हँसना, चलना और बात-चीत करना सबसे निराला (कुछ और ही) है।

आक्षेप उसे कहते हैं जिसमें व्यंग्य या ध्वनिकी सूचना विशेष निषेधात्मक वर्णनद्वारा मिले। यह आक्षेप तीन प्रकार का होता है—

(१) जिसमें निषेधका आभास हो जैसे—मैं दूती होकर नहीं आई हूँ, नायिकाका शरीर अग्निसे भी अधिक तप्त है, यही कहने आई हूँ।

(२) पहले कुछ कहकर उसका निषेध करना जैसे—हे चन्द्र! तू दर्शन दे पर तेरा कुछ काम नहीं क्योंकि (चन्द्रमुखी) स्त्रीका मुख तो पास है ही।

(३) इस प्रकार कहना कि निषेध गुप्त रहे जैसे—(हे प्रिय) जाओ! पर परमेश्वर मुझे वहीं जन्म दे जिस देशको तुम जा रहे हो।

जब केवल विरोधका आभास मात्र हो, वास्तवमें विरोध न हो वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है जैसे—विष्णु परदार-प्रिय हैं। परदारका ठीक अर्थ लक्ष्मी होनेसे विरोध दूर हो जाता है।

कारणके बिना किसी कार्यका होना या कारण और कार्य-संबंधमें कुछ विशेष कल्पनाका होना विभावना कहलाता है। यह ६ प्रकारकी होती है—

१—अपूर्ण कारणसे पूर्ण कार्यका होना जैसे—देखो कामदेवने केवल कुसुमबाण हाथमें लेकर ही संसारको जीत लिया।

(२) बिना कारणके कार्यका होना जैसे—बिना महावर लगाए तुम्हारे चरण लाल दिखाई दे रहे हैं।

(३) बाधा होते हुए भी कार्य पूरा होना जैसे—रात-दिन श्रुतिके पास रहनेपर भी नेत्र मोहमें पड़े हुए हैं।

श्लेषसे श्रुतिका वेद अर्थ लेनेसे मोहके मार्गमें रुकावट पड़नेपर भी कार्य पूरा हो गया।

(४) ऐसे कारणसे किसी कार्यका होना जो उसका कारण नहीं हो सकता जैसे—अभी कबूतरको हमने कोयलकी बोली बोलते हुए सुना है।

तात्पर्य यह है कि कबूतरके समान कंठवाली एक रमणी कोयल जैसी मीठी बोली बोलती है।

(५) जिस कारणसे जैसा कार्य होना चाहिए वैसा न होकर उससे उलटा होना जैसे—हे सखी! चंद्रमा मुझे ताप ही देता है।

(६) कार्यसे कारणकी उत्पत्तिका आभास मिले जैसे—नेत्ररूपी मछलीसे यह आश्चर्यजनक नदी प्रवाहित हो रही है।

नेत्रसे अश्रु का निकलना ठीक होते हुए भी मछलीसे नदी नहीं प्रवाहित होती।

जहाँ कारण होते हुए भी कार्य नहीं होता वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है जैसे—शरीरके भीतर कामका दीप जलते हुए भी स्नेह (प्रेम और तेल) कम नहीं हुआ।

इसके दो भेद हैं—उक्तगुण तथा अनुक्तगुण।

जब किसी सम्भावनाके न रहते हुए भी कोई कार्य हो जाय वहाँ असंभव अलंकार होता है जैसे—कौन जानता था कि आज गोपसुत (कृष्ण) पहाड़ उठा लेगा।

असंगति अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) जब कार्य कहीं या कभी और कारण कहीं या कभी हो जैसे, कोयल (वसंत-आगमनसे प्रसन्न होकर) मत्त हुई और आमकी मंजरी झूमने लगी (वायुके कारण)।

(२) जिस स्थानपर कार्यका होना उचित है वहाँ न होकर दूसरे स्थानपर होना जैसे—तुम्हारे शत्रुकी स्त्रीने हाथमें तिलक (तिलोदक) ले लिया है।

विषम अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) दो अनमेल वस्तुओंका साथ होना। जैसे, कहाँ तो स्त्रीका कोमल शरीर और कहाँ यह विरहाग्नि!

(२) कार्य और कारणके रंग (बाह्य रूप) भिन्न-भिन्न हों जैसे—तेरे काली तलवारलतासे श्वेत कीर्ति उत्पन्न हुई।

पाँचवी विभावनासे इसमें यही विभिन्नता है कि उसमें कार्य और कारण भिन्न होते हैं, किन्तु विषममें कार्य और कारणमें भिन्नता न होते हुए केवल बाहरी रूप ही भिन्न होता है।

(३) अच्छे कार्यका बुरा फल हो जैसे—सखीने जो कपूर लगाया, उसने शरीरको ताप ही दिया।

सम अलंकार (विषमका उल्टा) तीन प्रकारका होता है—।

(१) एक दूसरेके योग्य वस्तुओंका साथ होना जैसे—अपने योग्य समझकर हारने स्त्रीके वक्षस्थलपर जाकर डेरा डाल लिया।

(२) कार्य और कारणमें सब प्रकारकी समानता हो

जैसे—यदि लक्ष्मी नीचगामिनी हो तो आश्चर्य नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति ही जलसे है।

(३) पूर्ण उद्यमके बिना काम करते ही फलकी प्राप्ति होना जैसे—उसने यश पानेकी इच्छा की और वह उसे मिल गया।

इच्छानुकूल फल पानेके लिये जहाँ उससे उल्टा प्रयत्न दिखाया जाता है वहाँ विचित्र अलंकार होता है जैसे—पवित्र मनुष्य उच्चता (उन्नति) प्राप्त करनेके लिये नम्रता ग्रहण करते हैं।

अधिक अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब आधारसे आधेयकी अधिकता या विशेषता दिखलाई जाय जैसे—तुम्हारा यश सात द्वीप और नौ खंडों में भी नहीं समा रहा है। यहाँ आधेय यशकी विशेषता दिखलाई गई है।

(२) जब आधेयसे आधार बढ़कर अर्थात् अधिक हो जैसे—वह शब्द-सिंधु कितना बड़ा है जिससे तुम्हारे गुणोंका वर्णन किया जाता है।

इसमें आधार शब्द-सिन्धुकी विशेषता प्रदर्शित होती है। इस अलंकारके लिये आधार-आधेय स्पष्ट होने चाहिएँ।

जब आधेयसे आधार छोटा हो तब अल्प अलंकार होता है जैसे—जो अँगूठी उँगलीमें पहनी जाती थी वह अब हाथमें पहनी जाने लगी।

यहाँ आधेय सुँदरीकी अपेक्षा आधार हाथका अधिक सूक्ष्म होना दिखलाया गया है।

जहाँ दो वस्तुओंके किसी गुणका एक दूसरेके कारण उत्पन्न होना वर्णन किया जाय वहाँ अन्योन्य अलंकार होता है जैसे—चन्द्रमासे रात्रिकी और रात्रिसे चन्द्रमाकी शोभा है।

विशेष अलंकार तीन प्रकारका होता है—

(१) जब आधेयका कोई आधार न हो जैसे—आकाश-स्थित कंचन-लतामें एक स्वच्छ फूल लगा हुआ है।

आकाश-गंगाकी लता तथा चन्द्रमाको (आकाश-) पुष्प माना है जो बिना आधार (वृक्षके तने) के आकाशमें रहता है।

(२) जब थोड़े आरम्भकी फल-सिद्धि बहुत हो जैसे—नेत्रोंने तुम्हें देखते ही कल्पवृक्ष देख लिया।

(३) एक ही वस्तुका अनेक स्थानोंपर वर्णित होना जैसे—वही सुन्दरी मेरे हृदयमें, बाहर और दसों दिशाओंमें वास कर रही है।

व्याघात अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब ऐसी किसी वस्तुसे विपरीत कार्यका होना दिखलाया जाय जिससे कोई निश्चित कार्य ही हुआ करता हो जैसे—जिनसे (फूलोंसे) संसारको सुख मिलता है उन्हींसे कामदेव हमें मार रहा है।

(२) जब किसी तर्कको उलटकर उसके विरोधी पक्षका समर्थन किया जाय जैसे—यदि आप सचमुच हमें बालक समझते हैं तब क्यों छोड़े जा रहे हैं।

जहाँ किसी कारणसे उत्पन्न कार्य किसी अन्य कार्यका कारण बतलाया जाय और क्रमशः इस प्रकार दो या दोसे अधिक कारण हों वहाँ कारणमाला अलंकार होता है जैसे, नीतिसे धन, धनसे त्याग और त्यागसे यशकी प्राप्ति होती है। कारणमालाको गुंफ-परंपरा भी कहते हैं।

जब कई वस्तुओंका क्रमशः ग्रहण और त्यागके रूपमें उल्लेख हो और पहले कथित वस्तुके प्रति पीछे कही हुई वस्तुका विशेषण भावसे स्थापन किया जाय वहाँ एकावली अलंकार होता है जैसे—आँखें कानतक, कान बाहुतक और बाहु घुटनेतक पहुँचते हैं। पूर्व-कथित आँखों, कानों तथा बाहुओंके प्रति पीछे कहे हुए कानतक, बाहुतक और घुटनेतक विशेषण रूपमें लाए गए हैं।

एकावलीका दूसरा भेद वह है जिसमें पूर्वकथितके प्रति उत्तरोत्तरकथितका विशेषण भावसे निषेध किया जाय। जैसे—जहाँ वृद्धगण न हों वह सभा शोभा नहीं देती और वे वृद्ध भी ठीक नहीं हैं जो धर्मकी बात नहीं करते और वह धर्म नहीं जिसमें सत्य न हो।

दीपक और एकावली नामक अलंकारोंके मिला देने पर माला-दीपक अलंकार होता है जैसे—स्त्रीका हृदय कामदेवका मन्दिर है और तुम स्त्रीके हृदयके मन्दिर हो।

यहाँ भिन्न-भिन्न कारणोंसे नायिकाका हृदय तथा नायिका दोनों ही कामदेवके वासस्थान हुए इसमें दीपक हुआ और पूर्वकथितके प्रति उत्तरकथितकी विशेषभावसे स्थापना की गई इसमें एकावली हुई।

क्रमशः गुणोंको उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए जब कई वस्तुओंका वर्णन किया जाय वहाँ सार अलंकार होता

है जैसे—मधु से अमृत अधिकतर मधुर है और कविता उससे भी अधिक मधुर है।

जब कुछ वस्तुओंका उल्लेख करके पुनः उसी क्रमसे उनके गुण, क्रिया आदिका वर्णन किया जाय तब यथासंख्य अलंकार होता है जैसे—उसने शत्रु, मित्र तथा विपत्तिको दमन, प्रसन्न और नष्ट कर दिया है।

क्रम ठीक न रहनेसे क्रम-भंग दोष होता है।

पर्याय अलंकार दो प्रकारके होते हैं—

(१) जब अनेक वस्तुओंका एकके ही आश्रित होनेका वर्णन हो जैसे—पैरोंमें पहले चपलता थी पर अब मंदता आ गई है।

(२) जब एक वस्तुके क्रमशः अनेक आश्रय लेनेका वर्णन हो जैसे—स्त्रीकी मुख-शोभा कमलको छोड़कर चन्द्रमामें आ बसी है।

रात्रिमें कमल मुरझा जानेसे उसकी उपमा स्त्री-मुखसे न दी जाकर चंद्रसे दी जाती है। इसके विपरीत दिनमें कमलसे उपमा दी जाती है।

जहाँ थोड़ा देकर अधिक लेनेका वर्णन हो वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है जैसे—अरी (नायक) एक बार बाण चलाकर (नायिकाका) शोभायुक्त कटाक्ष ग्रहण कर रहा है।

जब उसीके समान एक दूसरेको व्यंग्यसे वर्जित करनेके अभिप्रायसे किसी बातका दूसरे स्थानपर होना कहा जाय वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है जैसे—स्नेह (तेल-प्रेम) का हृदयमें नाश नहीं हुआ वरन् दीपकमें जाकर हुआ।

तात्पर्य यह है कि परिसंख्यामें किसी वस्तु, गुण आदिको उनके उपयुक्त स्थानोंसे हटाकर किसी एक विशेष स्थानपर स्थापित किया जाता है जैसे—रामके राज्यमें नदियोंमें ही कुटिलता थी, मनुष्योंमें नहीं।

जब दो बातोंमें यह निश्चय न हो कि ऐसा होगा या वैसा वहाँ विकल्प अलंकार होता है जैसे—नायिका कहती है कि मेरे दुःखका अंत या तो यम करेंगे या मेरे पति।

समुच्चय अलंकार दो प्रकारका होता है।

(१) जब अनेक भाव एक साथ ही उत्पन्न हों जैसे—तुम्हारे शत्रु भागते हैं, गिरते हैं और फिर डरके मारे भागते हैं।

(२) अनेक कारण मिलकर एक कार्य करना चाहें जिसके लिये एक ही पर्याप्त हो जैसे—यौवन, विद्या, धन और कामदेव मद उत्पन्न करते हैं। इनमें एक ही मद उत्पन्न करनेको बहुत है तिस पर भी अनेक कारण कहे गए हैं।

जब कई एक क्रियाओं या भावोंका क्रमशः एकमें ही (कर्तामें) वर्णन किया जाय वहाँ कारक दीपक अलंकार होता है जैसे—देखकर जाती है, आती है, हँसती है और ज्ञानकी बातें पूछती है।

अन्य कारणके मिल जानेसे जहाँ कार्य सुगम हो जाय वहाँ समाधि अलंकार होता है जैसे—स्त्रीकी ज्यों ही इच्छा हुई (कि पति से मिलें त्यों ही) सूर्यास्त हो गया।

जब प्रबल शत्रुसे परास्त न होकर (उससे पार न पाने-पर) कहीं मित्रोंका अहित करना दिखाया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है जैसे—नेत्रोंके समीपस्थ कानोंपर कमलोंने धावा बोल दिया।

कमलोंने नेत्रोंसे सौन्दर्यमें परास्त होकर उसके समीपस्थ कानोंको उनका मित्र मानकर उनका अहित किया अर्थात् कर्णफूल बनकर, जो कमलके आकारका होता है, कानोंको नीचे खींचने लगे।

मित्र-पक्षका हित करना भी इसी अलंकारके अन्तर्गत माना जाता है।

'जब इस प्रकार हुआ तब ऐसा क्यों न होगा' कहकर जहाँ वर्णन किया जाय वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होता है जैसे—जब मुखने चन्द्रमापर (सौन्दर्यमें) विजय पा लिया तब कमलकी क्या बात है (अर्थात् निःसंदेह वह प्राप्त होगा)।

कैमुतिक न्यायसे जब कोई बड़ी बात हो गई तब छोटीके होनेमें सन्देह न रहना ही इस अलंकारकी विशेषता है।

जब किसी कही हुई बातका युक्तिके साथ समर्थन किया जाय वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है जैसे—हे मदन! जिस शिवने तुम्हें परास्त किया था उसको मैंने हृदयमें धारण किया है, (इसलिये मुझे अब मत सताओ नहीं तो तुम्हारा नाश निश्चय है)।

इस अलंकारमें एक पद या एक वाक्यके अर्थके कारण दिखलाए जानेसे दो भेद—पदार्थ-हेतु और वाक्यार्थ-

हेतु माने गए हैं। जब विशेष बातसे सामान्यका समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है जैसे—रामजीकी कृपासे पर्वत भी जलमें उतराने लगे, महान् पुरुष क्या नहीं कर सकते।

जिस प्रकार विशेषसे सामान्यका समर्थन होता है उसी प्रकार विशेषका सामान्यसे भी होता है और ये दोनों साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा किए जाते हैं।

जब विशेष बातका सामान्य तथा पुनः विशेषसे समर्थन किया जाय तब विकस्वर अलंकार होता है जैसे—कृष्णजीने गोवर्धन पर्वत धारण किया, सत्पुरुष सब भार (कष्ट) सहन करते हैं जिस प्रकार शेषनाग सहन करते हैं।

भारती-भूषणमें इसके दो भेद किए गए हैं। एकमें अन्तिम विशेष बात उपमानके रूपमें आती है, दूसरेमें उपमान रूपमें नहीं आती।

उत्कर्षका हेतु जो नहीं होता वही हेतु जब कल्पित कर लिया जाता है तब प्रौढ़ोक्ति अलंकार होता है जैसे—तेरे केश बादलसे पूर्ण अमावास्याकी रात्रिके अंधकारसे भी घने काले हैं।

'यदि ऐसा हो तो ऐसा हो' कहकर जब वर्णन किया जाता है तब सम्भावना अलंकार होता है जैसे—यदि शेषनाग वक्ता होते तो तुम्हारे गुणों (के कथन) का पार पा सकते।

जब एक असंभव बातका होना दूसरी असंभव बातपर निर्भर हो तब मिथ्याध्यवसित अलंकार होता है जैसे—यदि हाथमें पारा हो तो नववधू प्रीति करे।

जो कुछ कहना हो उसे स्पष्ट न कहकर उसका प्रतिबिंब मात्र कहा जाय वहाँ ललित अलंकार होता है जैसे—पुल बाँधकर अब क्या करोगे, अब तो जल उतर गया।

प्रहर्षण (आनन्द) अलंकारके तीन भेद होते हैं—

(१) बिना यत्नके इच्छित फलका प्राप्त होना जैसे—जिसके लिये हृदय तड़पता था वही दूती बनकर आ पहुँची है।

(२) बिना प्रयत्नके जब इच्छासे अधिक फलकी प्राप्ति हो जैसे—दीपक जलानेकी तैयारी कर ही रहे थे कि सूर्योदय हो गया।

(३) जब वांछित पदार्थके प्राप्त्यर्थ उद्योगकी तैयारी करते ही वह पदार्थ मिल जाय जैसे—(पृथ्वीमें गड़े हुए धनको देखनेके लिये) निधि-अंजनकी ओषधि खोजते समय आदि कारण (धन) ही मिल गया।

जब इच्छाके विरुद्ध फल हो वहाँ विषाद अलंकार होता है जैसे—नीवीपर हाथ डालते ही कुक्कुटकी ध्वनि (सवेरा होनेकी सूचना) सुनाई पड़ी।

जब एकके गुण या दोषसे दूसरेमें गुण या दोषका होना दिखलाया जाय वहाँ उल्लास अलंकार होता है जैसे—गंगाजीको यह आशा है कि सज्जन स्नान करके उन्हें पावन कर देंगे।

गुणसे गुण, दोषसे दोष, गुणसे दोषतथा दोषसे गुणका होना दिखलानेके कारण यह अलंकार चार प्रकारका होता है।

जब एक वस्तुके गुण या दोषसे दूसरी वस्तुका गुण या दोष न प्राप्त करना कहा जाय वहाँ अवज्ञा अलंकार होता है जैसे—चन्द्रमाकी किरणोंके लगनेपर भी कमल नहीं खिलता। गुणसे गुण तथा दोषसे दोष न प्राप्त होनेके भेदसे यह दो प्रकारका होता है।

जब दोषमें भी गुण मान लिया जाय वहाँ अनुज्ञा अलंकार होता है जैसे—वह विपत्ति आवे जिससे भगवान सदा हृदयमें रहें।

जब गुणमें दोषकी और दोषमें गुणकी कल्पना की जाय वहाँ लेश अलंकार होता है जैसे—इसी मीठी बोलीके कारण सुग्गा पींजरेमें बन्द हुआ।

जब किसी पदके एक अर्थमें से ही दूसरा अर्थ भी निकलता हो उसे मुद्रा अलंकार कहते हैं जैसे—कोई नायिका कहती है कि हे अलि! वहाँ क्यों नहीं जाता जहाँ रसीली-बास है। साथ ही नायिकाके कहनेका यह भी तात्पर्य है कि सखी! वहाँ क्यों नहीं जाती जहाँ उस रसीली (अन्य नायिका) का वासस्थान है क्योंकि तुम्हारा प्रिय वहीं है।

जब प्रस्तुत पदके मुख्य अर्थके साथ क्रमसे अन्य नाम भी निकलें वहाँ रत्नावली अलंकार होता है जैसे—हे रसिक तुम चतुर्मुख (चतुरों में मुख्य), लक्ष्मीपति (धनी) तथा सब मानोंके धाम (मानी) हो।

इस प्रस्तुत अर्थके साथ-साथ चतुर्मुखसे ब्रह्मा, लक्ष्मीपतिसे विष्णु और मानोंके धामसे शिवके नाम भी निकलते हैं।

जब कोई वस्तु अपना रंग छोड़कर समीपवर्ती

वस्तुका रंग ग्रहण करे वहाँ तद्गुण अलंकार होता है जैसे—बेसरका मोती ओठ (की लालिमा) से मिलकर माणिक (लाल) की शोभा देता है।

पूर्वरूप अलंकार दो प्रकार का होता है—

(१) जब समीपवर्तीका गुण लेकर पुनः उसे छोड़कर अपना पूर्वरूप धारण कर ले जैसे—(नीलकंठ) शिवजीके गलेमें पड़नेसे शेष श्याम हो गया पर पुनः उनके उज्वल यशके कारण श्वेत हो गया।

(२) जब समीपवर्तीके गुण समाप्त हो जानेपर वह गुण दूर न हो जैसे—दीपक बुझा देनेपर भी उसके कमरबंदके मणियोंके कारण उजाला बना रहा।

जब समीपवर्तीके गुणका कुछ प्रभाव ही न हो वहां अतद्गुण अलंकार होता है जैसे—हमारे अनुरक्त हृदयमें रहनेपर भी प्रियमें अनुराग नहीं उत्पन्न हुआ।

जब संगसे गुण अधिक बढ़े वहाँ अनुगुण अलंकार होता है जैसे—हृदयकी प्रसन्नता (हास्य) से मोतीकी माला अधिक श्वेत हो उठती है।

अधिक समानताके कारण जब भेद अर्थात् भिन्नता स्पष्ट न हो वहाँ मीलित अलंकार होता है जैसे—स्त्रीके लाल रंगके पैरोंमें लगा हुआ महावर ऐसा मिल गया है कि अलग नहीं जान पड़ता।

जब समानताके कारण विशेष भेद न जान पड़े वहाँ सामान्य अलंकार होता है जैसे—अपलक नेत्र, कान और कमलमें तनिक भी अन्तर नहीं जान पड़ता।

जब किसी एक कारणसे समानतामें भेद प्रकट हो वहाँ उन्मीलित अलंकार होता है जैसे—कीर्तिके सामने हिमालय छूनेसे पहचाना जाता है।

समतामें भी जब विशेष भेदसे भिन्नता प्रकट हो जाय वहाँ विशेषक अलंकार होता है जैसे—स्त्री-मुख और कमलका अन्तर सन्ध्याके समय चंद्रदर्शनके अनन्तर ही समझमें आया।

जब किसी गूढ़ अभिप्रायसे कोई बात कही जाय वहाँ गूढोत्तर अलंकार होता है जैसे—हे पथिक! यहाँ उस बेंतकी झाड़ीमें उतरने योग्य झरना है।

इसमें गुप्त रूपसे संकेतस्थान बतलाना भी इष्ट है।

जब एक ही वाक्यमें प्रश्न और उत्तर दोनों मिलें वहाँ चित्र अलंकार होता है जैसे—का शीतलवाहिनी गंगा। उत्तर है—काशीतल-वाहिनी गंगा।

इस अलंकारका एक भेद और है कि जब कई प्रश्नोंका एक ही शब्दसे उत्तर निकले। घोड़ा अड़ा क्यों, पान सड़ा क्यों? उत्तर—फेरा न था।

जब दूसरेका अभिप्राय समझकर ऐसी चेष्टा की जाय जिससे उसपर यह प्रकट हो जाय कि उसका अभिप्राय समझ लिया गया तब सूक्ष्म अलंकार होता है जैसे—मैंने उसकी ओर देखा तब उसने अपना शीशमणि बालोंमें छिपा लिया।

प्रेमीके मिलनेका समय केवल दृष्टि से ही पूछनेपर नायिकाने उसके अभिप्रायको समझकर शीशमणिको बालोंमें छिपाकर यह बतलाया कि रात्रिमें मिलूँगी।

जब दूसरेके मनकी बात जानकर क्रिया-द्वारा अपना भाव प्रकट किया जाय वहाँ पिहित अलंकार होता है जैसे—सबेरे पतिको शैया पर आते ही स्त्री हँसकर उसका पावँ दाबने लगी।

अर्थात् स्त्री यह भाव प्रकट करती है कि तुम रात्रि भर कहीं दूसरे स्थानपर रहे हो इससे थक गए हो। उसी थकावटको दूर करनेके लिये मैं तुम्हारा पाँव दाबती हूँ।

जब बहानेसे किसी प्रत्यक्ष सत्य कारणको छिपाकर कुछ और कहा जाय वहाँ व्याजोक्ति अलंकार होता है जैसे—हे सखी! सुग्गेने दाँतोंको अनार समझकर मेरे अधरपर यह घाव कर दिया है (प्रियने नहीं)।

जब कोई गुप्त बात किसी औरके बहाने किसी दूसरेके प्रति कही जाय वहाँ गूढोक्ति अलंकार होता है। जैसे—हे सखी! कल मैं महादेवजीके पूजनको जाऊँगी।

यहाँ नायिका सखीको कहनेके बहाने पास खड़े हुए प्रेमीको सुना रही है कि कल महादेवजीके मन्दिरमें भेंट होगी।

जब प्रकट रूपसे कुछ कहकर श्लेषद्वारा उसे छिपाया जाय वहाँ विवृतोक्ति अलंकार होता है जैसे—सैनसे दिखाकर कहती है कि महादेवजी (प्रिय) की पूजा करो।

जब किसी कृत्यका मर्म दूसरे कृत्यसे छिपाया जाय वहाँ युक्ति अलंकार होता है जैसे—पतिके विदा होते ही

आँसू निकल आए पर उन्हें पोंछते समय उसने जँभाई ली अर्थात् उसने जँभाई लेनेको ही आँसू निकलनेका कारण प्रकट करना चाहा।

लोक-प्रवादमें प्रचलित उक्तिका जब प्रयोग किया जाय तब लोकोक्ति अलंकार होता है जैसे—विरहका दुःख छातीपर पत्थर रखकर सहूँगी।

जब प्रचलित उक्तिका सार्थक प्रयोग किया जाय वहाँ छेकोक्ति अलंकार होता है जैसे—जो गायोंको फेर लावे उसे ही अर्जुन समझो।

विराट्की गायोंको अर्जुन कौरवोंसे छीनकर फेर लाए थे। यह अब एक साधारण उक्ति हो गई है जिसका तात्पर्य है कि जो कठिन काम कर सके उसे ही वीर समझना चाहिए, केवल बात बनानेसे काम नहीं चलेगा।

जब कही हुई बातका श्लेष (या क्रोध आदिसे विकृत) स्वरसे दूसरा अर्थ लगाया जाय वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है जैसे—आइए रसिकशिरोमणि! घर घर आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यहाँ नायिका क्रोधके कारण व्यंग्य से उल्टा कह रही है। उसका तात्पर्य यह है कि तुम झूठे प्रेमी हो और सभी तुम्हारी बुराई करते हैं।

जब किसीका वर्णन उसकी अवस्था, स्वभाव आदिके अनुसार ही किया जाय वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार होता है जैसे—वह हँसकर देखती है, फिर सिर झुका लेती है और इतराकर मुख घुमा लेती है।

जब भूत या भविष्यकी बातोंका वर्तमानके समान प्रत्यक्ष रूपमें वर्णन हो वहाँ भाविक अलंकार होता है। जैसे—आज भी वह लीला वृंदावन में (प्रत्यक्ष सी होती हुई) मुझे दिखलाई पड़ती है।

भूतकालमें देखी हुई लीलाकी स्मृति ऐसी तीव्र है कि नायिकाको वह उस समय भी होती हुई सी जान पड़ती है।

जब किसीके थोड़े गुणका परिचय देकर उससे बहुत बढ़ा-चढ़ा वर्णन प्रकट किया जाय वहाँ उदात्त अलंकार होता है जैसे—उसकी थोड़ी सी ही बात सुनकर तुम जब उसके वश हो जाते हो तो भगवान् ही बचावे। 'अली कली ही तैं बिंध्यो' इसका सुन्दर उदाहरण है।

उदात्त दो प्रकार के होते हैं—(१) जब किसीके उसी प्रशंसनीय चरित्रका उल्लेख हो जो अन्यके साथ सम्बन्ध रखता हो। (२) जब (संभाव्य) विभूतिका बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाय।

जब किसीके गुण आदिका अत्यन्त बढ़ाकर वर्णन हो वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है जैसे—राजन्। तेरे दानसे भिखमंगे भी कल्पतरु हो गए।

अन्य लक्षणकारोंका मत है कि यह वर्णन अद्भुत और झूठ होना चाहिए।

जब किसी शब्दका सयुक्ति किन्तु मनमाना अर्थ किया जाय वहाँ निरुक्ति अलंकार होता है जैसे—हे उद्धव! कृष्णजी कुब्जाके वशमें हो गए, वे सचमुच निर्गुण हैं।

यहाँ निर्गुणका अर्थ गुणोंसे रहित अर्थात् मूर्ख लिया गया है। पर निर्गुणका प्रधान अर्थ है—जो सत्व, रज और तम तीनों गुणोंसे परे हो। यहाँ दूसरा अर्थ जो लिया गया है वह मनमाना होते हुए भी युक्तियुक्त है।

जब प्रसिद्ध अर्थका निषेध इस प्रकार किया जाय कि कुछ विशेष अर्थ निकले तब प्रतिषेध अलंकार होता है जैसे—कृष्णजीके हाथकी यह मुरली नहीं है, कोई बड़ी बला है।

जब किसी शब्दके साधारण अर्थपर विशेष बल दिया जाय वहाँ विधि अलंकार होता है जैसे—कोयल तभी कोयल है जब ऋतुमें वह (अपनी मीठी) बोली सुनाता है।

हेतु अलंकार दो प्रकारका होता है—

(१) जब कारण और कार्य एक साथ होते कहे जायँ जैसे—मानिनीका मान मिटानेको चन्द्रमा उदित हुआ।

(२) जब कार्य और कारण एकमें ही सम्मिलित कहे जायँ जैसे—तुम्हारी कृपा ही मेरी ऋद्धि और समृद्धि है।

शब्दालंकार—

अनुप्रास अलंकार तब होता है जब किसी पदमें एक ही अक्षर बार-बार आकर उस पदकी अधिक शोभा बढ़ावें।

इसके पाँच भेद हैं।

छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास, अन्त्यानुप्रास, लाटानुप्रास और

अन्त्यानुप्रास। छेकानुप्रास उसको कहते हैं जिसमें कई व्यंजनोंकी, स्वरके एक न रहते हुए भी, (कुछ ही अन्तर पर) प्रत्येककी दो बार आवृत्ति हो जैसे—आँखोंमें अंजन, कानोंमें कनफूल फबते हैं।

जब शब्दों और पदोंकी आवृत्ति हो पर (अन्वयके भेदसे) अर्थमें भेद हो तो लाटानुप्रास होता है जैसे—

प्रिय समीप जिसके, नहीं घाम चाँदनी ज्योति।
प्रिय समीप जिसके नहीं, घाम चाँदनी ज्योति।

जब एक ही अक्षरकी कई बार आवृत्ति हो तब वृत्यनुप्रास होता है।

अन्त्यानुप्रास उन सभी छन्दोंमें होता है जिनमें पहले और तीसरे या दूसरे और चौथे चरणोंके अन्तमें तुक मिल जाता हो। सभी तुकान्त छन्दोंमें अन्त्यानुप्रास होता है।

जब केवल शब्दोंके सुननेमें आवृत्ति हो पर अर्थ भिन्न हो वहाँ यमक होता है। जैसे—कनकसे कनकका मद अधिक होता है।

अनेक कवियों, लेखकों और महापुरुषोंने सहस्रों वर्षोंमें जो अपने अद्भुत भाषा प्रयोग किए हैं वे सब अलंकार बन गए हैं अतः उनका ज्ञान तो नाटककारको होना ही चाहिए किन्तु नाटककारको इनका दास नहीं होना चाहिए।

भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें केवल चार अलंकार ही नाटकके लिये उपयोगी माने हैं—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। इन अलंकारोंके भी उन्होंने जो भेद किए हैं वे अन्य आचार्योंकी व्याख्यासे नहीं मिलते अतः उनपर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। वे कहते हैं—

चत्वारोऽलंकाराः—

उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलङ्कारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः ४३ ॥
यत्किञ्चित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ ४४ ॥
एकस्यैकेन सा कार्यानेकेनाप्यथवा पुनः।
अनेकस्य तथैकेन बहूनां बहुभिस्तथा ॥ ४५ ॥
तुल्यं ते शशिना वक्त्रमिति त्वेककृता भवेत्।
एकस्य बहुभिः सा स्यादुपमा नाटकाश्रया ॥४६ ॥
शशाङ्कवत् प्रकाशन्ते ज्योतींषीति भवेत्तु या।
एकस्यानेकविषया सोपमा परिकीर्तिता ॥४७॥
श्येनबर्हिणभासानां तुल्यार्थ इति या भवेत्।
एकस्य बहुभिः सास्यादुपमा नाटकाश्रया ॥४८॥
तुल्यं ते शशिना वक्त्रमित्येकेऽनेकसंश्रया।
बहूनां बहुभिर्ज्ञेया घना इव गजा इति ॥४९॥
प्रशंसा चैव निन्दा च कल्पिता सदृशी तथा।
किञ्चिच्च सदृशी ज्ञेया ह्युपमा पञ्चधा बुधैः ॥५०॥

प्रशंसा यथा—

दृष्ट्वा तु तां विशालाक्षीं तुतोष मनुजाधिपः।
मुनिभिः साधितां कृच्छ्रात् सिद्धिं मूर्तिमतीमिव ॥५१॥
सा तं सर्वगुणैर्हीनं सस्वजे कर्कशच्छविम्।
वने कण्ठगतं वल्ली दावदग्धमिव द्रुमम् ॥ ५२ ॥

कल्पिता यथा—

क्षरन्तो दानसलिलं लीलामन्थरगामिनः।
मतङ्गजा विराजन्ते जङ्गमा इव पर्वताः ॥ ५३ ॥

सदृशी यथा—

यत्त्वयाद्य कृतं कर्म परचित्तानुरोधिनी।
सदृशं तत्तवैव स्यादतिमानुषकर्मणः ॥ ५४ ॥

किञ्चित्सदृशी यथा—

सम्पूर्णचन्द्रवदना नीलोत्पलदलेक्षणा।
मत्तमातङ्गगमना संप्राप्तेयं सखी मम ॥ ५५ ॥
उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेया समासतः।
शेषाय लक्षणैर्नोक्तास्ते ग्राह्या काव्यलोकतः ॥ ५६ ॥
नानाद्रव्यानुपन्नाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ॥ ५७ ॥
स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किञ्चित्सादृश्यसम्पन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥ ५८ ॥

यथा—

पद्माननास्ताः कुमुदप्रहासा विकासिनीलोत्पलचारुनेत्राः।
वापीस्त्रियो हंसकुलैर्नदद्भिर्विरेजुरन्योन्यमिवाह्वयन्त्यः ॥
नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकः।
एकवाक्येन संयोगो यस्तद्दीपकमुच्यते ॥ ६० ॥

यथा—

सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥ ६१ ॥

शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम् ।
विशेषदर्शनञ्चास्य गदतो मे निबोधत ॥ ६२ ॥
पादान्तयमकं चैव काञ्चीयमकमेव च ।
समुद्गयमकं चैव विक्रान्तयमकं तथा ॥ ६३ ॥
यमकं चक्रवालं च सन्दष्टयमकं तथा ।
पदादियमकं चैव आम्रेडितमथापि च ॥ ६४ ॥
चतुर्व्यवसितञ्चैव मालायमकमेव च ।
एतादृशविधं ज्ञेयं यमकं नाटकाश्रयम् ॥ ६५ ॥
चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात्सममक्षरम् ।
तद्वै पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ६६ ॥

यथा—

दिनक्षयात् संहृतरश्मिमण्डलं
दिवीवलग्नं तपनीयमण्डलम् ।
विभाति ताम्रं दिवि सूर्यमण्डलं
यथा तरुण्याः स्तनभारमण्डलम् ॥ ६७ ॥

पादस्यान्ते यथा चादौ स्यातां तत्र समे पदे ।
तत्काञ्चीयमकं चैव विज्ञेयं सूरिभिर्यथा ॥ ६८ ॥

माया मायाचन्द्रवतीनां द्रवतीनां ।
व्यक्ता व्यक्तासारजनीनां रजनीनाम् ।
फुल्ले फुल्ले सम्भ्रमरेवा भ्रमरे वा ।
रामा रामा विस्मयते च स्मयते च ॥ ६९ ॥

अर्थेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव समाप्यते ।
समुद्गयमकं नाम तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा ॥ ७० ॥

केतकीमुकुलपाण्डुरदन्तः
शोभते प्रवरकानन हस्ती ।
केतकीमुकुल पाण्डुरदन्तः
शोभते प्रवरकानन हस्ती ॥ ७१ ॥

एकैकं पादमुत्क्रम्य द्वौ पादौ सदृशौ यदि ।
विक्रान्तयमकं नाम तद्विज्ञेयमिदं यथा ॥ ७२ ॥
स पूर्वं वानरो भूत्वा द्विशृङ्ग इव पर्वतः ।
अभवद्दन्तवैकस्मात् द्विशृङ्ग इव पर्वतः ॥ ७३ ॥

पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः ।
चक्रवच्चक्रवालं तु विज्ञेयं नामतो यथा ॥ ७४ ॥

शैलायथा शत्रुभिराहता हता
हताश्च बाणैरनुपुङ्खपुङ्खे ।
खगैश्च सर्वैर्युधि सञ्चिताञ्चिता ।
श्वेताधिरूढा हि हता हता नराः ॥ ७५ ॥

आदौ द्वौ यत्र पादौ तु भवेतामक्षरैः समौ ।
सन्दष्टयमकं नाम विज्ञेयं तद्बुधैर्यथा ॥ ७६ ॥

पश्य यस्य रमणस्य मे गुणा
येन येन वशगां करोति माम् ।
येन येन हि समेति दर्शनं
तेन तेन वशगां करोति माम् ॥ ७७ ॥

आदौ पादस्य यत्र स्यात् समावेशः समाक्षरः ।
पादादियमकं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ७८ ॥
विष्णुः सृजति भूतानि विष्णुः संहरति प्रजाः ।
विष्णुः प्रसूते त्रैलोक्यं विष्णुर्लोकाधिदैवतम् ॥ ७९ ॥

पादस्यान्ते पदं यच्च द्विर्द्विरेकमिहोच्यते ।
पादन्त्याम्रेडितं नाम विज्ञेयं निपुणं यथा ॥ ८० ॥

विजृम्भितं निःश्वसितं मुहुर्मुहुः
यथाभिधानं स्मरणं पदे पदे ।
यथाचते ध्यानमिदं पुनः पुनः
तथागता ते रजनी विना विना ॥ ८१ ॥

सर्वे पादाः समायत्र भवन्ति नियताक्षराः ।
चतुर्व्यवसितं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा ॥ ८२ ॥

साधारणानामसमेव कालः
साधारणानामसमेव कालः ।
साधारणानामसमेव कालः
साधारणानामसमेव कालः ॥ ८३ ॥

नानारूपैः स्वरैर्यत्र यथैकं व्यञ्जनं भवेत् ।
तन्मालायमकं नाम विज्ञेयं पण्डितैर्यथा ॥ ८४ ॥
हली बली लली माली शूली जाली नली बली ।
बली बलोऽचलोलाक्षो मुसली त्वाभिरक्षतु ॥ ८५ ॥

अनी हि नानारतिविग्रहः प्रिया
मदः प्रगल्भोऽतनुरङ्गं मदोगतम् ।
मदेन नाद्यापि समेत्य केन वा
न चेदुदेत्यत्नकरः पुनो रिपुः ॥ ८६ ॥

स पुष्कराक्षः क्षतजीक्षिताक्षः
क्षरन् क्षतेव्यः क्षतजन् दुरीक्षः।
क्षतैर्गवाक्षैरिव [संवृताक्षः
साक्षात्सहस्त्राक्ष इवावभाति ॥ ८७ ॥
एभिरर्थक्रियापेक्षैः कार्यं काव्यं तु लक्षणैः।
[अध्याय १७]

[उपमा, रूपक, दीपक और यमक—ये ही चार अलंकार नाटकके लिये ठीक जानने चाहिएँ।]

ऊपर भरतने जिन चार अलंकारोंको नाटकके लिये योग्य माना है, उनमेंसे उपमाके सम्बन्धमें वे कहते हैं कि उपमा कई प्रकारकी हो सकती है—एकका एकके समान, एकका अनेकके समान, अनेकका एकके समान या अनेकका अनेकके समान होना। भरतने ऊपर ही यह भी बताया है कि यह उपमा पाँच प्रकारकी होती है—प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित्-सदृशी। अलंकारके आचार्योंमेंसे किसीने भी उपमाके ये भेद नहीं बताए हैं। आगे चलकर भरतने यह कहा है कि उपमाके इतने भेद हमने संक्षेपसे बता दिए हैं, शेष भेद काव्य जगत्से ग्रहण कर लेने चाहिएँ। इसके पश्चात् उन्होंने रूपकके भेद बताए हैं और फिर दीपकका लक्षण देकर उन्होंने यमकके पादान्त यमक, काञ्ची यमक, समुद्ग यमक, विक्रान्त यमक, चक्रवाल यमक, संदष्ट यमक, पदादि यमक, आम्रेडित यमक, चतुर्व्यवसित यमक और माला यमक नामसे यमकके बहुतसे भेद किए हैं। इनके जो उदाहरण भरतने दिए हैं वे मूल रूपमें दे दिए गए हैं।

भरतने एक विशेष बात सत्रहवें अध्यायके अन्तमें निर्दिष्ट की है जिसमें उन्होंने विभिन्न रसोंके लिये विभिन्न अलंकारोंके प्रयोगका वर्णन किया है। वे कहते हैं:—

लघ्वक्षरप्रायकृतं उपमारूपकाश्रयम्
काव्यं कार्यं तु काव्यज्ञैः वीररौद्राद्भुताश्रयम् ॥१०९॥
रूपदीपकसंयुक्तं आर्यावृत्तसमाश्रयम्।
शृङ्गारे रसकार्ये तु काव्यं स्यान्नाटकाश्रयम् ॥११३॥

[छोटे छोटे अक्षरोंसे युक्त तथा उपमा और रूपकके प्रयोगसे रचित काव्य वीर, रौद्र और अद्भुत रसके अभिव्यञ्जनके लिये रचने चाहिएँ और शृंगाररसकी रचनाओंके लिये रूपक और दीपकसे युक्त आर्या छन्दमें रचना करनी चाहिए।]

आश्चर्यकी बात यह है कि भरतने उपमा, रूपक, दीपक और यमक अलंकारोंको नाटकाश्रय मानकर भी यह नहीं निर्देश किया कि यमकका प्रयोग किन नाटकोंमें करना चाहिए। सम्भवतः पीछे विचारकर भरतने यही समझा हो कि यमकके प्रयोगसे अर्थमें भ्रान्ति हो सकती है इसलिये इसे छोड़ दिया जाय।

इस विवरणसे जान पड़ता है कि भरत यह नहीं चाहते थे कि पीछेके आचार्योंने प्रबन्ध काव्यों तथा अन्य काव्योंके लिये जो चमत्कारपूर्ण अलंकार नये नये निकाले थे, उनका प्रयोग किया जाय क्योंकि उन्होंने सत्रहवें अध्यायके अन्तमें स्पष्ट रूपसे कहा है—

मृदुललित पदार्थं गूढशब्दार्थहीनं
बुधजनसुखयोग्यं बुद्धिमन्नृत्तयोग्यम्।
बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥

[कोमल, सुन्दर शब्दसे युक्त, गूढ़ अर्थात् अस्पष्ट शब्द और अर्थोंसे हीन, विद्वानोंको सुख देनेवाला, बुद्धिमानोंके द्वारा खेला जा सकनेवाला, बहुतसे रसोंको व्यक्त करनेका मार्ग खोल देनेवाला, ठीक सन्धियोंसे सधा हुआ नाटक ही दर्शकोंके लिये उपयोगी होता है।]

इसका तात्पर्य यह है कि भरतने इसमें तीन बातें स्पष्ट कर दीं। एक तो यह कि संवाद कहीं भी ऐसा न हो जिसका अर्थ समझनेमें दर्शकोंको कठिनाई हो, दूसरा यह कि उन संवादोंसे दर्शकोंको रसकी अनुभूति हो और तीसरा यह कि बुद्धिमान लोग उसे खेल सकें। अतः संवादकी योजना करते समय नाटककारको अलंकारोंके फेरमें न पड़कर सदा इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि इसमें कोई ऐसी बात न आने पावे जो दर्शकोंकी समझमें न आ सके, अस्वाभाविक हो और जिसके अनुसार अभिनय करनेमें अभिनेताओंको असुविधा हो। अतः नाटककारको लोकवार्ताका अध्ययन करके विभिन्न प्रसंगोंमें जिस वाक्यका प्रयोग उचित प्रतीत होता हो अर्थात् जो कहा जाता है, कहा जाना चाहिए और कहा जा सकता है, उसीका प्रयोग करना चाहिए।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि नाटककारको काव्यशास्त्रका अध्ययन करना ही नहीं चाहिए। काव्यशास्त्रका अध्ययन तो किसी प्रकारके भी कविकर्मके लिये

आवश्यक और अनिवार्य है, किन्तु उद्देश्य यही है कि उसे बलपूर्वक अलंकार खोज-खोजकर नाटकमें नहीं रखने चाहिए, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति भाषाको अधिक दुरूह, लाक्षणिक, पांडित्यपूर्ण और आलंकारिक बनानेकी हो जायगी, जिससे नाटक अस्वाभाविक, कृत्रिम, क्लिष्ट और दुर्बोध हो जाता है।

संवादके गुण

* प्रसादकुतूहले ।

[हैं प्रसाद कौतूहल केवल दो ही रूपकके गुण सुन्दर ।]

चन्द्रालोकमें जयदेवने कहा है:—

यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते ।
सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृतः ॥
समताऽसमासत्वं वर्णाद्यैस्तुल्यताऽथवा ।
समाधिरर्थमहिमा लसद्घनरसात्मना ॥
माधुर्यं पुनरुक्तस्य वैचित्र्यं चारुतावहम् ।
ओजः स्यात्प्रौढिरर्थस्य संक्षेपो वाऽतिभूयसः ।
सौकुमार्यमपारुष्यं पर्यायपरिवर्तनात् ।
उदारता तु वैदग्ध्यमग्राम्यत्वात् पृथङ्मता ॥
शृंगारे च प्रसादे च कान्त्यर्थव्यक्तिसङ्ग्रहः ।
अमी दश गुणाः काव्ये पुंसि शौर्यादयो यथा ॥
तिलकाद्यमिव स्त्रीणां विदग्धहृदयङ्गमम् ।
व्यतिरिक्तमलङ्कारं प्रकृतेर्भूषणं गिराम् ॥
विचित्रलक्षणो न्यासो निर्वाहः प्रौढिरौचिती ।
शास्त्रान्तररहस्योक्तिः सङ्ग्रहो दिक् प्रदर्शिता ॥

[जिस कथित वाक्य-समूहका भीतरी अर्थ विना प्रयास तथा कठिनताके जलके समान निर्मल और सरल-रूपसे पढ़ने और सुननेके साथ ही झलकने लगे वहाँ प्रसाद गुण होता है। (किन्तु दण्डी "किसी पदार्थके प्रसिद्ध गुणके कथन करनेको" ही प्रसाद मानते हैं। यह ठीक नहीं है। उर्दूवाले जिसे ज़बानकी सफ़ाई और सादगी कहते हैं अर्थात् जिस उक्तिका लक्ष्य और व्यंग्य अर्थ समझनेमें कठिनाई न हो वही प्रसादका लक्षण है।)

समता गुण वहाँ होता है जहाँ एक एक शब्द पृथक्-पृथक् बजाए हुए वाक्यार्थ प्रकट करते हों, जिनमें परस्पर ध्वन्यात्मक समानता पाई जाय और समास-क्रम होनेसे कुछ क्लिष्ट भी न प्रतीत हो।

जिन गहरी रसमयी उक्तियों (रसीली बातों) को सुनकर समझदारों और आलंकारिकोंके हृदय गद्गद् हो जाते हैं और उनके शरीरपर आनन्दांकुर उठने लगते हैं ऐसे अर्थ-महिमान्वित गुणको समाधि कहते हैं।

माधुर्य गुण वहाँ मानते हैं जहाँ शब्दोंकी पुनरुक्ति होते हुए भी उसमें विचित्रता और सुन्दरता स्थायी रहे और उसमें सानुनासिक ध्वनि भी हो।

संक्षेपमें या विस्तारके साथ जो वीर, वीभत्स, रौद्र और भयानक भावोंका उन्हींके उपयुक्त शब्दोंमें अर्थोंसे भरे वाक्य कहे जायँ वहाँ ओज होता है।

कर्णकटु और कठोर शब्दोंका प्रयोग बचाते हुए सरल शब्दोंके अर्थ प्रकट करते हुए जो बात कही जाय उसे सौकुमार्य माना है।

जहाँ भाव तथा भाषामें वैदग्ध्य या चतुरता होती है वहाँ उदारता गुण होता है पर उसमें फूहड़पन नहीं होना चाहिए। दण्डी कहते हैं "व्यङ्ग्योक्त्यर्थ प्रत्यायकत्वं तत्त्वमिति" अर्थात् यह लगभग व्यंग्योक्तिके अर्थकी ही छाया है।

वामनने जो दश गुण माने हैं उनपर विचार करते हुए ग्रन्थकार इन आठ गुणोंको कहकर कहता है कि यदि मान लिया जाय कि शेष दो गुण कान्ति और अर्थ-व्यक्ति भी हैं तो ये दोनों क्रमसे माधुर्य और प्रसादमें ही आ जाते हैं। दण्डीका मत है कि "प्रसिद्धिविरोधाभावः कान्तिः, निषिद्धलाक्षणिक रूपनेयार्थत्वाभावाऽर्थव्यक्तिः"।

स्त्रियोंके शरीरकी शोभा बढ़ानेवाले धातुनिर्मित भूषणोंके अतिरिक्त अन्य और भी विशेष साधन हैं जैसे अञ्जन, तिलक, केशमार्जनादि वैसे ही रूपक, उपमादि अनेक अलंकारोंके रहते हुए भी ये उपर्युक्त गुण भी काव्यकी शोभा बढ़ाते हैं।

जहाँ विचित्र सूत्रोंका प्रयोग किया गया हो वहाँ न्यास गुण होता है। वर्णोंके ध्वनि-साम्यकी शृंखला जहाँ पूरी उतर जाय वहाँ निर्वाह गुण होता है। अन्य अर्थवालेके पदसे ईप्सित लक्ष्य करानेको प्रौढ़ि कहते हैं। प्राचीन कवि-सम्मत प्रयोग करनेको औचित्य कहते हैं। रूपकोंमें अन्य शास्त्रके प्रकृत प्रसंगोंको छेड़छाड़को रहस्योक्ति कहते हैं। एक ही अर्थके कई शब्दोंके एकत्र प्रयोग करनेको संग्रह कहते हैं और किसी अभिप्रायसे कही गई बातको दिक्प्रदर्शिता कहते हैं।]

भरतने नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें निम्नलिखित गुण माने हैं—

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥ ९६ ॥

विचार्यग्रहणं वृत्त्या स्फुटं चैव स्वभावतः ।
स्वतः सुप्रतिबन्धश्च श्लिष्टं तत्परिकीर्त्यते ॥९७॥
ईप्सितेनार्थजातेन सम्बद्धानां परस्परम् ।
श्लिष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते ॥९८॥
अप्यनुक्तो बुधैर्यत्र शब्दोऽर्थो वा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसम्बोधात् प्रसादः परिकीर्त्यते ॥९९॥
अन्योऽन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
अलङ्कारगुणाश्चैव समासात् समता यथा ॥१००॥
उपमास्वभिदिष्टानां अर्थानां यत्नतस्तथा ।
प्राप्तानां चातिसंयोगः समाधिः परिकीर्त्यते ॥१०१॥
बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यं उक्तं वापि पुनः पुनः ।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥१०२॥
अवगीतविहीनोऽपि स्यादुदात्तावभासकः ।
यत्र शब्दार्थसम्पत्तिस्तदोजः परिकीर्तितम् ॥१०३॥
सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्टसन्धिभिः ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ॥१०४॥
यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तरं प्रयोगस्य साऽर्थव्यक्तिरुदाहृता ॥१०५॥
अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तैः सौष्ठवसंयुतैः ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ॥१०६॥
यो मनःश्रोत्रविषयः प्रसादजनको भवेत् ।
शब्दबन्धः प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते ॥१०७॥

भरतने भी श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति, ये दस गुण माने हैं और ये सब ऊपर चन्द्रालोकमें दिए हुए गुणोंसे मिलते जुलते ही हैं। अतः इनका अधिक विवेचन करना अनावश्यक है।

यद्यपि ये सभी काव्यके गुण माने गए हैं किन्तु वास्तविक बात यह है कि जिस प्रकारसे सहृदय लोग समझते हैं वही गुण है। किन्तु अभिनवभारतका मत है कि नाट्यमें अनेक प्रकारके पात्रोंके अनेक प्रकारकी बातें करनी पड़ती हैं अतः ऊपर जो अनेक गुण दिए गए हैं न तो उनका निर्वाह किया जा सकता है न वाञ्छनीय ही है। नाटकमें केवल दो ही गुण आवश्यक हैं—एक तो प्रसाद गुण अर्थात् ऐसी भाषा जिसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ समझनेमें दर्शकोंको कोई कठिनाई न हो। दूसरा विशिष्ट गुण है कुतूहल। अर्थात् नाटकका व्यापार-ग्रथन और संवादग्रथन ऐसा हो कि दर्शक प्रति क्षण यह जाननेको समुत्सुक रहे कि आगे क्या होगा। यदि इन दो गुणोंका पूर्णतः पालन किया जाय तो नाटक अवश्य सफल और सुन्दर होगा।

नाट्य संवादके दोष

गुणके वर्णनके साथ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि फिर दोष कौन कौनसे होते हैं—

दोष

ॐक्लिष्टत्वग्राम्यत्वाश्लीलत्वानि दोषरूपाणि ॥

[क्लिष्ट, ग्राम्य अश्लील वाक्य हैं नाट्यकाव्यके दोष।]

काव्यके दोष गिनाते हुए चन्द्रालोकमें जयदेवने कहा है—

स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।
शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥ १ ॥
भवेच्छ्रुतिकटुर्वर्णैः श्रवणोद्वेजने पटुः ।
संविन्दते व्याकरणविरुद्धं च्युतसंस्कृतिः ॥ २ ॥
अप्रयुक्तं दैवतादि शब्दे पुल्लिङ्गतादिकम् ।
असमर्थं तु हन्त्यादेः प्रयोगो गमनादिषु ॥ ३ ॥
स हन्ति हन्त कान्तारे कान्तः कुटिलकुन्तलः
निहतार्थं लोहितादौ शोणितादि प्रयोगतः ॥ ४ ॥
व्यनक्त्यनुचितार्थं यत् पदमाहुस्तदेव तत् ।
इयमद्भुतशाल्यकेलिकौतुकवानरी ॥ ५ ॥
निरर्थकं तुहीत्यादि पूरणैकप्रयोजनम् ।
अर्थे विदधदित्यादौ दधदाद्यमवाचकम् ॥ ६ ॥
धत्ते नभस्तलं भास्वानरुणं तरुणैः करैः ।
एकाक्षरं विना भूभ्रूक्ष्मादिकं स्वतलादिवत् ॥ ७ ॥
अश्लीलं त्रिविधं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलात्मना ।
आह्लादसाधनं वायुः कान्तानार्यो भवेत् कथम् ॥ ८ ॥
स्यात्र्यर्थमिद सन्दिग्धं नपा यान्ति पतत्रिणः ।
स्यादप्रतीतं शास्त्रैकगम्यं वीताऽनुमादिवत् ॥ ९ ॥

शिथिलं शयने लिल्ये मच्चित्तं ते शशिश्रियि ।
मस्तपिष्टकटीलोष्ठगल्लादि ग्राम्यमुच्यते ॥ १ ॥
नेयार्थं लक्षणात्यन्तप्रसरादमनोहरम् ।
हिमांशोर्हारधिक्कारजागरे यामिकाः कराः ॥ ११ ॥
क्लिष्टमर्थो यदीयोऽर्थ श्रेणिनिःश्रेणिमृच्छति ।
हरिप्रिया-पितृवधूप्रवाहप्रतिमं वचः ॥ १२ ॥
अविमृष्टविधेयांशः समासपिहिते विधौ ।
विशन्ति विशिखप्रायाः कटाक्षाः कामिनां हृदि ॥ १३ ॥
अपराधीन इत्यादि विरुद्धमतिकृन्मतम् ।
अन्यसङ्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ ॥ १४ ॥
रसाद्यनुचिते वर्णे प्रतिकूलाक्षरं विदुः ।
न मामङ्गद जानासि रावणं रणदारुणम् ॥ १५ ॥
यस्मिन्नुपहतो लुप्तो विसर्ग इह तत्तथा ।
कुसन्धिः पटवागच्छ विसन्धिर्नृपती इमौ ॥ १६ ॥
हतवृत्तमनुक्तोऽपिच्छन्दोदोषश्चकास्ति चेत् ।
विशाललोचने ! पश्याम्बरं तारातरङ्गितम् ॥ १७ ॥
न्यूनं त्वत्खड्गसम्भूतयशःपुष्पं नभस्तटम् ।
अधिकं भवतः शत्रून् दशत्यसिलताफणी ॥ १८ ॥
कथितं पुनरुक्ता वाक् श्यामाम्बुजश्यामलोचना ।
विकृतं दूरविकृतैरैयरुः कुञ्जराः पुरम् ॥ १९ ॥
पतत्प्रकर्षं हीनाऽनुप्रासादित्वे यथोत्तरम् ।
गम्भीरारम्भदम्भोलिपाणिरेषः समागतः ॥ २० ॥
समाप्तपुनरात्तं स्यादेष पीयूषभाजनम् ।
नेत्रानन्दी तुषारांशुरुदेत्यम्बुधिबान्धवः ॥ २१ ॥
अर्थान्तरपदापेक्षि क्रीडानृत्येषु सस्मितम् ।
मोघारम्भं स्तुमः शम्भुमर्धरम्भोरुविग्रहम् ॥ २२ ॥
अभवन्मतयोगः स्यान्न चेदभिमतोऽन्वयः ।
येन बद्धोऽम्बुधिर्यस्य रामस्यानुचरा वयम् ॥ २३ ॥
द्विषां सम्मदमाच्छिद्य यः शत्रून् समपूरयत् ।
अस्थानस्थसमासं न विद्वज्जनमनोरमम् ॥ २४ ॥
मिथः पृथग्वाक्यपदैः संकीर्णं यत्तदेव तत् ।
वक्त्रेण भ्राजते रात्रिः कान्ता चन्द्रेण राजते ॥ २५ ॥
ब्रह्माण्डं त्वद्यशः पूरगर्भितं भूमिभूषण ।
आकर्णय पयः पूर्णसुवर्णकलशायते ॥ २६ ॥
भग्नप्रक्रममारब्धशब्दनिर्वाहहीनता ।
अक्रमः कृष्ण पूज्यन्ते त्वामनाराध्य देवताः ॥ २७ ॥

अमतार्थान्तरं मुख्येऽमुख्येनार्थे विरोधकृत् ।
व्यक्तहारमुरः कृत्वाशोकेनालिङ्गिताऽङ्गना ॥ २८ ॥
अपुष्टार्थो विशेष्ये चेन्न विशेषो विशेषणात् ।
विशन्ति हृदयं कान्ताकटाक्षाः खञ्जनत्विषः ॥ २९ ॥
कष्टः स्पष्टावबोधार्थमक्षमो वाच्यसन्निभः ।
व्याहतश्चेद्विरोधः स्यान्मिथः पूर्वापरार्थयोः ॥ ३० ॥
सहस्रात्र मित्रं ते वक्त्रं केनोपमीयते ।
कुतस्तत्रोपमा यत्र पुनरुक्तः सुधाकरः ॥ ३१ ॥
दुष्क्रमग्राम्यसंदिग्धास्त्रयो दोषाः क्रमादमी ।
त्वद्भक्तः कृष्ण ! गच्छेयं नरकं स्वर्गमेव वा ॥ ३२ ॥
एकं मे चुम्बनं देहि तव दास्यामि कञ्चुकम् ।
भूत किं सेव्यतां चन्द्रमुखीचन्द्रकिरीटयोः ॥ ३३ ॥
अनौचित्यं कीर्तिलतां तरङ्गयति यः सदा ।
प्रसिद्ध्या विद्यया वापि विरुद्धं द्विविधं मतम् ॥ ३४ ॥
न्यस्तेयं पश्य कन्दर्पप्रतापधवलद्युतिः ।
केतकी शेखरे शम्भोर्धत्ते चन्द्रकलातुलाम् ॥ ३५ ॥
सामान्यपरिवृत्तिः स्यात् कुण्डलच्छविविग्रहा ।
विशेषपरिवृत्तिः स्याद्वनिता मम चेतसि ॥ ३६ ॥
द्वे स्तः सञ्चराऽवाच्यविरुद्धान्योन्यसङ्गती ।
ध्वाङ्क्षाः सन्तश्च तनयं स्वं परञ्च न जानते ॥ ३७ ॥
सरोजनेत्र पुत्रस्य मुखेन्दुमवलोकय ।
पालयिष्यति ते गोत्रमसौ नरपुरन्दरः ॥ ३८ ॥
पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकदम्बके ।
यथानुसारमभ्यूहेद्दोषान् शब्दार्थसम्भवान् ॥ ३९ ॥
दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ।
निवारयति यस्त्रेधा दोषाङ्कुशमुशन्ति तम् ॥ ४० ॥
दोषे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥४१॥
मुखं चन्द्रश्रियं धत्ते श्वेतश्मश्रुकराङ्कुरैः ।
अत्र हास्यरसोद्देशे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम् ॥४२॥
तव दुग्धाब्धिसम्भूतेः कथं जाता कलङ्किता ।
कर्मणां समयाद्विद्याविरुद्धोऽदोषतां गतः ॥४३॥
दधार गौरी हृदये देवं दिनकराङ्कितम् ।
अत्र श्लेषोदयान्नैव त्याज्यं हीति निरर्थकम् ॥४४॥
[शब्द और अर्थ-द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावोंकी दुष्टता जो हृदयमें प्रवेश होते समय ही नष्ट कर दे उसे दोष कहते हैं ।

अक्षरोंका कर्णकटु दोष वहाँ होता है जहाँ कानको अप्रिय लगनेवाले अक्षरोंको सुननेके साथ ही चित्त उद्विग्न हो जाय।

व्याकरणके विरुद्ध जो प्रयोग किए गए हों वे संस्कृतत्व-से च्युत दोष मानते हैं जैसे "संविन्दते" यह योग ही व्याकरण-विरुद्ध है या नागरीमें 'उपरोक्त' शब्द, जो होना चाहिए 'उपर्युक्त'।

जो कविमंडली-द्वारा वर्ज्य प्रयोग हैं उनको लाना अप्रयुक्त दोष कहलाता है जैसे "दैवतादि' शब्दोंको पुल्लिंगमें प्रयोग करना या जैसे मोती और दहीको हिन्दीमें स्त्रीलिंग कहना।

हन्ति शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त होता है मारना और चलना। यदि आरंभमें ही चलनेके अर्थमें इसका प्रयोग किया जाय तो असमर्थता दोष माना जायगा।

किसी वस्तुके लिये सर्वसाधारण प्रचलित शब्द होते हुए भी उसके स्थानपर अप्रचलित शब्द प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है जैसे संध्या-कालके रंगका वर्णन करते हुए उसे लोहित न कहकर शोणित कहना।

जिस पदके श्रवण मात्रसे किसी अनुचित अर्थात् अपनी मर्यादासे हीन अर्थकी ध्वनि निकले उसे अनुचितार्थत्व कहते हैं जैसे "यह अद्भुत रसके वृक्षकी शाखाओंपर विहार करनेवाली वानरी-रूपिणी नायिका है।" यह पूर्ण रूपक होते हुए भी अश्लीलता-युक्त है। या जैसे केशवने सूर्यके लिये कहा है—

'चढ्यो गगनतरु धाइ, दिनकर-वानर अरुणमुख।

'तु, ही आदि' अकारण ही वाक्य या पद-पूर्तिके निमित्त जो शब्द प्रयुक्त होते हैं वे पद-पूरक कहलाते हैं जैसे—तो, रहिए मैं भी जाऊँ, हाँ।

शुद्ध 'विद्युत्' के अर्थका काम यदि 'द्युत्' से लिया गया या 'द्युत्' का काम 'विद्युत्' से लिया जाय तो वह अवाचक दोष कहलाता है। घनोंका अर्थ बादल होता है किन्तु यहाँ इसका अर्थ करना पड़ा, 'बना देना है' यही अवाचक दोष है। जैसे सूर्य अपनी प्रभा [illegible] प्रकाशमय प्रकट अर्थात् [illegible] बना देता है।

एक [illegible] सुन्दर होना चाहिए [illegible]

होता है। उसीके आधारपर अर्थ ठीक होते हुए भी नभस्तलको 'खतल' कहना अच्छा नहीं लगता।

अश्लील तीन प्रकारका होता है—व्रीडात्मक, जुगुप्सात्मक और अमंगलात्मक। "आनन्दसाधनं वायुः कान्तानाशे कथं भवेत्" इसमें साधन, वायु और नाश शब्दों से तीनों प्रकारकी अश्लीलता प्रकट होती है। यदि इन्हीं के स्थान पर यह कहा जाय कि "कान्ता वियोगे पवनः आल्हाददायकः कथं भवेत्" तो कितना अच्छा प्रतीत होता।

द्व्यर्थक शब्दोंसे सन्दिग्ध दोष होता है जैसे, "नद्यां यान्ति पतत्त्रिणः। इसमें न+द्यां हो सकता है [आकाश में नहीं] और नद्यां अर्थात् नदीमें।

अप्रतीत उस शब्दको कहते हैं जो भिन्न शास्त्रोंमें किसी विशेष अर्थमें प्रयुक्त होता है किन्तु साहित्यमें जिसका प्रयोग नहीं होता जैसे वीत और अनुमा आदि शब्द जो न्यायशास्त्रमें प्रचलित हैं।

शैथिल्य दोष तो सुननेमें समझमें आता है। जो रचना टेढ़े-मेढ़े शब्दोंमें की जाय अथवा जहाँ व्याकरणके अप्रचलित प्रयोगों-द्वारा भाव प्रकट किए गए हों जैसे शयने इत्यादि।

ग्राम्य दोष वहाँ होता है जहाँ हीन समाजमें प्रयुक्त होनेवाले शब्दोंका उच्च कोटिके साहित्यमें स्थान दिया जाय जैसे मस्त, पिट, कटी, लोट; गल्ल आदि।

आवश्यकतासे अधिक और अश्लील शब्दोंके द्वारा प्रकट की गई लक्षणा मनोहर नहीं होती। ऐसे प्रयोगोंमें नेयार्थ दोष होता है जैसे उदाहरणमें हार, धिक्कार आदि शब्द।

क्लिष्ट अर्थ उसे कहते हैं जिसमें व्यर्थ एक शब्दका सम्बन्ध दूसरे से, दूसरेका तीसरेसे दिखलाते हुए वह अर्थ निकले जो किसी एक शब्दसे निकल सकता हो। इस जटिल अर्थ-परम्पराको क्लिष्ट कल्पना कहते हैं जैसे उदाहरणसे स्पष्ट है।

वाक्यमें प्रधान या विधेय शब्दको यदि किसी दूसरे शब्दके साथ समासके द्वारा लपेटकर इस प्रकार कहा जाय कि उसका वह प्रधानत्व नष्ट हो जाय तब उस दोषको अविमृष्ट-विधेय कहते हैं। जैसे उदाहरणमें—[illegible]प्राण।

विरुद्धमतिकृत् उसको कहते हैं जो समासके भेदसे दूसरा अर्थ प्रकट करने लगे जैसे—असमीन=अ (न)

+पराधीन किन्तु यहाँ यह भी हो सकता है—अपर+के+अर्घ न।

वक्तव्यके दो भिन्न गुणोंका एक ही समासमें समावेश करनेको अन्यसंगत दोष कहते हैं जैसे पयोधरके साथ उत्तुंग और हारशोभि।

जिस रसमें जैसे अक्षर अनुकूल जान पड़ें उनका प्रयोग न करना प्रतिकूलाक्षर दोष कहा जाता है जैसे उदाहरणमें शृंगार, करुण, शान्त रसादिमें कोमल शब्द आने चाहिएँ और वीर, वीभत्स रौद्रादिमें कठोर।

उपहत विसर्ग और लुप्त विसर्ग दो प्रकारसे होते हैं और दोनोंके उदाहरण वि+सर्ग ही क्रमसे है।

सन्धि-दोष भी दो होते हैं एक कुसन्धि और दूसरा विसन्धि अर्थात् भद्दी सन्धि जैसे—

पटो+आगच्छ=पटआगच्छ और नृपति इमौ।

हतवृत्त दोष उसे कहते हैं कि मात्रा, छन्द, क्रम सब शास्त्रोक्त ठीक होते हुए भी सुननेमें वह अरुचिकर हो और पाठ करनेमें कठोरसा लगे जैसे उदाहरणमें यति-स्थलपर दोनों पदोंमें शब्दका अंग बँट जाता है।

न्यूनता दोष उसे कहते हैं कि कोई रूपक बाँधनेमें उसका कोई अंग कहनेको रह जाय जैसे उदाहरणमें "खड्गसे सम्भूत (उत्पन्न) यश-रूपी पुष्प" ऐसा कहनेसे न्यूनता होती है किन्तु खड्गरूपी लता इतना और कहनेसे यह दोष मिट जाता है।

अधिकताका दोष इसीका उलटा है अर्थात् जहाँ न कहनेकी बात कह दी जाय जैसे असिका फणित्व प्रसिद्ध होते हुए भी उसको लताकी उपमा देना।

कथित दोष वह है जो पुनरुक्ति द्वारा प्रकट किया जाय जैसा उदाहरणसे स्पष्ट है।

विकृत वह है कि किसी शब्दको अनेक सूत्रों—द्वारा उसका भयानक परिवर्त्तन करके कहना जैसे उदाहरणका "ऐयरः" यह बीसों सूत्र लगनेपर होता है।

पतत्प्रकर्ष दोष वहाँ होता है जहाँ प्रारम्भ किए गए अनुप्रासकी हीनता क्रमसे अलग हो जाय जैसा कि उदाहरणमें 'अम्भ' का अनुप्रास अन्तवाले 'पाणि' शब्दमें नहीं आया।

समाप्तपुनरात्त उसे कहते हैं कि क्रिया-द्वारा वाक्य समाप्त कर देनेपर भी फिर कोई विशेषण कह दिया जाय। इससे वाक्यमें दोष आ जाता है जैसे—उदाहरणमें 'एष... उदेति' यहाँ वाक्य समाप्त होनेपर फिर 'अम्बुधि-बान्धव' विशेषण पीछेसे लगा दिया गया है।

जिस पूरे पद्यमें कथित विशेषणकी पुष्टि करनेके लिये एक पृथक पद लिखकर उसमें उसका कारण दिखलाया जाय उस दोषका नाम अर्थान्तर-पदापेक्षि है जैसे उदाहरणके पूर्वार्धमें 'मोघारम्भं सस्मितम्' कहा किन्तु शम्भुकी यह अवस्था क्यों हुई इसकी पुष्टि इस बातसे पृथक् पदमें की गई है कि वे अर्धनारीश्वर ठहरे तो बिना पार्वतीके भी योग दिए नृत्य पूरा नहीं हो सका और वहाँ उनका मान ऐसा हुआ कि वे मना न सके। अतः विफल मनोरथ होनेसे वे हँस पड़े।

पद-द्वारा जिस अर्थकी ध्वनि पाई जाय तदनुकूल उस पदका अन्वय करनेमें उसके शब्द यदि अनुचित जान पड़ें तो वहाँ अभवन्मतयोग होता है जैसे उदाहरणमें यस्यके स्थानपर तस्य कहा जाता तो अन्वय शुद्ध हो जाता।

'द्विषां......समपूरयत्' पर्यन्त वीररस वर्णनात्मक वाक्य होनेसे यह लम्बे समाससे युक्त होता तो कर्णप्रिय होता किन्तु उसके अभावमें शिथिल हो गया है और वहीं 'विद्वज्जनमनोरमम्' में अनावश्यक समास कर दिया गया है, इसे अस्थानस्थ समास कहते हैं अर्थात् जहाँ आवश्यकता हो वहाँ न लिखना और जहाँ न हो वहाँ लिखना।

जो बात मिलाकर कही जाय वह संकीर्णता दोषमें परिगणित होगी जैसे—'कान्ताके मुखसे रातकी वही शोभा है जो चन्द्रसे रात्रि की, इसके बदले यह कहना कि 'मुखसे रात चमकती है; चन्द्रसे कान्ता शोभा देती है' कहना संकीर्णता है। इसी प्रकार यह कहना—

'हे भूमिभूषण! तुम्हारे यशसे गर्भित यह ब्रह्मांड जलसे भरे हुए सोनेके कलशके समान हो रहा है, आप यह बात सुनिए।' यह भी वैसा ही दोषपूर्ण है।

अपना कोई आन्तरिक अभिप्राय जब समुचित शब्दोंमें प्रकट न किया जा सके वहाँ ममप्रकम-दोष होता है जैसे उदाहरणमें पूर्वकी पूराका व्यतिक्रम दिखानेका तात्पर्य था किन्तु शब्द और धातु यथास्थान न होनेके कारण वह कल न रहा।

प्रतिपाद्य मुख्य रसके विरोधी रसका उद्दीपन कराना ही अमतार्थान्तर दोष कहलाता है जैसे उदाहरणमें 'शोकसे

गलेका हार उतार दिया है किन्तु निष्ठुर नायकने उस नायिकाको रति-प्रस्तुता जानकर आलिंगन कर लिया।' यहाँ करुणमें शृंगार दिखाकर कितना रस-विपर्यय कर दिया गया।

विशेष्यमें बताई हुई विशेषता यदि उसके विशेषण-द्वारा न प्रकट हो तो उसे अपुष्टार्थ दोष माना है। जैसे—'खंजन जैसे कान्ताके कटाक्ष हृदयमें प्रविष्ट हो जाते हैं। यहाँ प्रवेश करना क्रिया इस उदाहरणके विशेषण शब्दसे प्रकट नहीं होती अतः अर्थ अपुष्ट रह गया।

जिस वाक्यके सुननेके साथ ही उसका अर्थ स्पष्ट हृदयंगम न हो जाय उसमें कष्ट दोष माना जाता है। मूर्खोंको तो कुछ भी समझमें नहीं आता, इसलिये जहाँ पण्डितोंको भी सोचना पड़े कि यह प्रहेलिका कैसी है वहाँके लिये यह दोष है।

व्याहत दोष उसे कहते हैं जिसमें एक ही वाक्यमें आगे-पीछेके अर्थमें विरोध पड़ जाय। दोनों दोष इसी एक उदाहरणमें स्पष्ट हो जाते हैं। 'सहस्रपत्रके मित्रके सदृश तेरे मुखकी उपमा किससे दें। सहस्रपत्रके मित्र अर्थात् सूर्य यह कष्ट कल्पना हुई और सूर्यके सदृश उपमा देते हुए भी यह कहना कि किससे उपमा दें अर्थात् सूर्यत्व कोई उपमा नहीं हुई यही व्याहत दोष हुआ।

अपनी ही बातको कहकर काट देने, या बात समाप्त हो जानेपर फिर उसमें बात निकालना उसको पुनरुक्त दोष कहते हैं जैसे—उसकी उपमा ही क्या जिसके रहते चन्द्र व्यर्थ प्रतीत होता हो।

क्रमसे तीन प्रकारके दोष बतलाते हैं—दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्ध। प्रथम उदाहरणमें दुष्क्रमत्व अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध कहना दिखलाया है क्योंकि कृष्ण-भक्तिसे स्वर्ग मिलता ही है तो उसमें नरककी सम्भावना ही क्या करनी है। दूसरा प्रत्यक्ष ग्रामीण भाव है। तीसरेमें यह सन्दिग्ध प्रश्न-सा है कि चन्द्रमुखीकी उपासना करूँ या चन्द्रमौलि की।

अनौचित्य दोष वहाँ कहलाता है जहाँ किसी विशेष्यमें उस विशेषताका आरोपण किया जाय जो उसका स्वाभाविक अंग न हो जैसे लतामें तरंगका उठना उसका फलना-फूलना कहा जा सकता है।

विरुद्ध दोष है लोकप्रसिद्धसे विरुद्ध कहना या शास्त्र-विरुद्ध चलना। यह दो प्रकारका होता है। उदाहरण—कामदेवके प्रतापसे शुभ्र प्रकाशवाली यह केतकी रक्खी है। यहाँ प्रतापको शुभ्र कहना कवि-संप्रदायके विरुद्ध है। प्रताप रक्तवर्ण होना चाहिए। फिर शंभुके शिरपर चढ़ाई हुई केतकी चन्द्रिका सी शोभा देती है, यहाँ शास्त्र-विरुद्ध हुआ क्योंकि शिवजीको केतकी चढ़ानेकी प्रथा ही कहीं नहीं है।

किसी अपेक्षित गुणको प्रकट करनेके लिये कोई एक बेढंगा शब्द कह दिया जाय जिससे अर्थ ही न प्रतीत हो उसे सामान्य-परिवृत्ति कहते हैं जैसे 'कुण्डलच्छविविग्रहा'। कुण्डल यद्यपि सोनेका बनता है किन्तु इससे 'सुवर्ण' ऐसा अर्थ नहीं जाना जा सकता। दूसरा विशेष परिवृत्ति दोष है—जैसे, वनिता शब्द स्त्रीत्वका वाचक हो सकता है किन्तु पत्नीत्वका नहीं, अतः जहाँ पत्नी अर्थ प्रकट कराना है वहाँ वनिता कह देनेसे ही यह दोष हो जाता है।

सहचराऽचारु और विरुद्धान्योन्यसंगति ये दो दोष हैं। पहलेका अर्थ यह है कि दृष्टान्त-प्रयोगमें समान गुण प्रदर्शित करके दोनोंका जोड़ ठीक मिलाना चाहिए, हीनाधिक होनेसे उसमें दोष हो जाता है जैसे, कौवे और साधु अपनी और पराई सन्तानका भाव नहीं रखते। यह तुलना कितनी निकृष्ट है। इसे सहचराचारु दोष कहते हैं। विरुद्धान्योन्यसंगतिका उदाहरण यह है कि हे कमलनेत्रे! अपने पुत्रके मुखचन्द्रको देखो। चन्द्र और कमलका विरोध जगत्-प्रसिद्ध है क्योंकि चन्द्रका जो प्रफुल्लता-काल है वह कमलका संकोच-काल है, अतः वे एक दूसरेको देख ही नहीं सकते। इसी प्रकार 'यह नरेन्द्र तेरे गोत्रका पालन करेगा'। गोत्र पर्वतको कहते हैं। यह पुराण-प्रसिद्ध बातके विरुद्ध हुआ। क्योंकि इन्द्र तो गोत्रभिद् (पर्वत तोड़नेवाले) कहलाते हैं।

पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य, वाक्य-कदम्ब आदिमें शब्द और अर्थसे उत्पन्न दोषोंपर उपर्युक्त विधिसे विचार करना चाहिए।

जानते हुए भी जो दोष आगए हैं और विशृंखला उत्पन्न किए हुए हैं उनका जिन तीन प्रकारसे परिहार करते हैं उन्हें दोषांकुश कहते हैं—१. दोषमें गुणका रोपण करना, २. दोषको मिटा ही देना तथा ३. आए हुए दोषको अनिवार्य बना देना जैसे—

१. आपका मुख दाढ़ी-मूछोंके सफेद खड़े बाल-रूपी

किरणों-द्वारा चन्द्रवत् प्रतीत होता है। यहाँ हास्य रसका स्वरूप आ जानेसे उदाहरणकी ग्रामीणता गुणमें बदल गई है।

२. क्षीरसागरसे उत्पत्ति होते हुए भी यह तेरा कलंकी-पनाक हाँसे आया। चन्द्रमाकी उत्पत्ति क्षीरसागरसे बतलाई गई है, उसके अनुसार वह निष्कलंक है और जिसकी उत्पत्ति अत्रिमुनिकी आँखसे है वह सकलंक है। किन्तु कवि-समाजमें चन्द्र एक ही है और वह सकलंक माना गया है चाहे वह कहींसे भी उत्पन्न हो, अतः शास्त्र-प्रमाणसे विरुद्ध होते हुए भी वह दोष मिट गया।

३. तीसरेमें 'हि', व्यर्थ प्रतीत होते हुए भी श्लेष गुण दिखानेसे आवश्यक हो गया। देवं + हि + मकरांकितम् अथवा देवं हिमकरांकितम्। मकर-केतन काम और चन्द्र-भाल शिव दोनों हि-मकर-अंकितका ध्यान पार्वतीजीके हृदयमें हो सकता है।]

भरतने भी नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें दोष गिनाते हुए गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत—ये दस दोष गिनाए हैं। इनके लक्षण नीचे दे दिए जाते हैं—

अत ऊर्ध्वं तु वक्ष्यामि काव्यदोषाँस्तथाविधान्।
अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्॥
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः ८६

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम्।
अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥९०॥

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।
भिन्नार्थमभिज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥९१॥

विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः॥९२॥

एकार्थस्याभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम्।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते॥९३॥

न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्।
वृत्तदोषो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत् ॥९४॥

अनुपतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति कीर्तितम्।
शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात्॥९५॥

एते दश तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः॥९६॥

[अगूढ, २ अर्थान्तर, ३ अर्थहीन, ४ भिन्नार्थ, ५ एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ, ७ न्यायादपेत, ८ विषम, ९ विसन्धि और १० शब्दच्युत ये काव्य-दोष हैं।

जहाँ गूढ़ अर्थवाला मूल शब्द न कहकर उसका ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढ़ता नष्ट हो जाय वहाँ अगूढत्व दोष होता है। जहाँ जिस वस्तुका वर्णन न करना हो उसका अनावश्यक वर्णन कर देना अर्थान्तर कहलाता है। जहाँ संवादमें असम्बद्ध बातें भरी हों और उसके भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हों वहाँ अर्थहीन दोष होता है। भिन्नार्थ दोष दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जिनमें असभ्य और ग्राम्य (फूहड़) शब्द या वाक्य हों, दूसरे वे जिनमें कुछ ऐसे वाक्य बीच-बीचमें आ गए हों जो कवि-द्वारा वर्णनीय और इष्ट अर्थमें बाधा देते हों। जहाँ केवल एक ही अर्थवाले वाक्योंका प्रयोग हो (अर्थात् जहाँ केवल वाच्यार्थसे युक्त पदोंका ही प्रयोग हो, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका अभाव हो) वहाँ एकार्थ दोष होता है। वाक्यके एक चरणमें समाससे (संक्षेपमें) बात कही जाय वहाँ अभिप्लुतार्थ दोष होता है। जहाँ ज्ञान-विज्ञानसे विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाय वहाँ न्यायादपेत दोष होता है। जहाँ छन्दमें दोष हो उसे विषम कहते हैं। विसन्धि दोष तब होता है जब एक एक शब्द कह कहकर उसकी विशेषता भी बतलाई चली जाय। जहाँ आवश्यक शब्द छोड़ दिया गया हो वहाँ शब्दच्युत दोष होता है। इतने नाट्काश्रय दोष समझने चाहिएँ और इनसे उलटी बातोंको ही गुण समझना चाहिए।]

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें जो काव्यके दोष गिनाएँ हैं वे ही प्रायः अन्य आचार्योंने भी गिनाएँ हैं किन्तु वे दोष नाटकके लिये कभी कभी गुण होकर भी आ सकते हैं जैसे जयदेवने भी अन्तमें कहा है कि दोष लाकर उसे अनिवार्य कर देना और ऐसे पात्रमें उसका आरोप करना कि उस दोषयुक्त वाक्यके प्रयोगसे ही उसके चरित्रका स्पष्ट रूप प्रकट हो। अतः अनेक प्रकारके व्यक्तियोंका नाटकमें चित्रण करते समय कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि पात्रकी प्रकृतिके अनुसार दोषयुक्त वाक्य भी कहलाया जाय। किन्तु भरतने जो नाट्काश्रय दोष बताए हैं वे विचारणीय हैं। इस बातमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि नाटकमें अनावश्यक, असंबद्ध, निरर्थक,

गलेका हार उतार दिया है किन्तु निष्ठुर नायकने उस नायिकाको रति-प्रस्तुता जानकर आलिंगन कर लिया।' यहाँ करुणमें शृंगार दिखाकर कितना रस-विपर्यय कर दिया गया।

विशेष्यमें बताई हुई विशेषता यदि उसके विशेषण-द्वारा न प्रकट हो तो उसे अपुष्टार्थ दोष माना है। जैसे —'खंजन जैसे कान्ताके कटाक्ष हृदयमें प्रविष्ट हो जाते हैं। यहाँ प्रवेश करना क्रिया इस उदाहरणके विशेषण शब्दसे प्रकट नहीं होती अतः अर्थ अपुष्ट रह गया।

जिस वाक्यके सुननेके साथ ही उसका अर्थ स्पष्ट हृदयंगम न हो जाय उसमें कष्ट दोष माना जाता है। मूर्खोंको तो कुछ भी समझमें नहीं आता, इसलिये जहाँ पण्डितोंको भी सोचना पड़े कि यह प्रहेलिका कैसी है वहाँके लिये यह दोष है।

व्याहत दोष उसे कहते हैं जिसमें एक ही वाक्यमें आगे-पीछेके अर्थमें विरोध पड़ जाय। दोनों दोष इसी एक उदाहरणमें स्पष्ट हो जाते हैं। 'सहस्रपत्रके मित्रके सदृश तेरे मुखकी उपमा किससे दें। सहस्रपत्रके मित्र अर्थात् सूर्य यह कष्ट कल्पना हुई और सूर्यके सदृश उपमा देते हुए भी यह कहना कि किससे उपमा दें अर्थात् सूर्यत्व कोई उपमा नहीं हुई यही व्याहत दोष हुआ।

अपनी ही बातको कहकर काट देने, या बात समाप्त हो जानेपर फिर उसमे बात निकालना उसको पुनरुक्त दोष कहते हैं जैसे—उसकी उपमा ही क्या जिसके रहते चन्द्र व्यर्थ प्रतीत होता हो।

क्रमसे तीन प्रकारके दोष बतलाते हैं—दुष्क्रम, ग्राम्य और सन्दिग्ध। प्रथम उदाहरणमें दुष्क्रमत्व अर्थात् शास्त्र-विरुद्ध कहना दिखलाया है क्योंकि कृष्ण-भक्तिसे स्वर्ग मिलता ही है तो उसमें नरककी सम्भावना ही क्या करनी है। दूसरा प्रत्यक्ष ग्रामीण भाव है। तीसरेमें यह सन्दिग्ध प्रश्न-सा है कि चन्द्रमुखीकी उपासना करूँ या चन्द्रमौलि की।

अनौचित्य दोष वहाँ कहलाता है जहाँ किसी विशेष्यमें उस विशेषताका आरोपण किया जाय जो उसका स्वाभाविक अंग न हो जैसे लतामें तरंगका उठना उसका फलना-फूलना कहा जा सकता है।

विरुद्ध दोष है लोकप्रसिद्धसे विरुद्ध कहना या शास्त्र-विरुद्ध चलना। यह दो प्रकारका होता है। उदाहरण—कामदेवके प्रतापसे शुभ्र प्रकाशवाली यह केतकी रक्खी है। यहाँ प्रतापको शुभ्र कहना कवि-संप्रदायके विरुद्ध है। प्रताप रक्तवर्ण होना चाहिए। फिर शंभुके शिरपर चढ़ाई हुई केतकी चन्द्रिका सी शोभा देती है, यहाँ शास्त्र-विरुद्ध हुआ क्योंकि शिवजीको केतकी चढ़ानेकी प्रथा ही कहीं नहीं है।

किसी अपेक्षित गुणको प्रकट करनेके लिये कोई एक बेढंगा शब्द कह दिया जाय जिससे अर्थ ही न प्रतीत हो उसे सामान्य-परिवृत्ति कहते हैं जैसे 'कुण्डलच्छविविग्रहा'। कुण्डल यद्यपि सोनेका बनता है किन्तु इससे 'सुवर्ण' ऐसा अर्थ नहीं जाना जा सकता। दूसरा विशेष परिवृत्ति दोष है—जैसे, वनिता शब्द स्त्रीत्वका वाचक हो सकता है किन्तु पत्नीत्वका नहीं, अतः जहाँ पत्नी अर्थ प्रकट कराना है वहाँ वनिता कह देनेसे ही यह दोष हो जाता है।

सहचराऽचार और विरुद्धान्योन्यसंगति ये दो दोष हैं। पहलेका अर्थ यह है कि दृष्टान्त-प्रयोगमें समान गुण प्रदर्शित करके दोनोंका जोड़ ठीक मिलाना चाहिए, हीनाधिक होनेसे उसमें दोष हो जाता है जैसे, कौवे और साधु अपनी और पराई सन्तानका भाव नहीं रखते। यह तुलना कितनी निकृष्ट है। इसे सहचराचार दोष कहते हैं। विरुद्धान्योन्यसंगतिका उदाहरण यह है कि हे कमलनेत्रे! अपने पुत्रके मुखचन्द्रको देखो। चन्द्र और कमलका विरोध जगत्-प्रसिद्ध है क्योंकि चन्द्रका जो प्रफुल्लता-काल है वह कमलका संकोच-काल है, अतः वे एक दूसरेको देख ही नहीं सकते। इसी प्रकार 'यह नरेन्द्र तेरे गोत्रका पालन करेगा'। गोत्र पर्वतको कहते हैं। यह पुराण-प्रसिद्ध बातके विरुद्ध हुआ। क्योंकि इन्द्र तो गोत्रभिद् (पर्वत तोड़नेवाले) कहलाते हैं।

पद, पदांश, वाक्यांश, वाक्य, वाक्य-कदम्ब आदिमें शब्द और अर्थसे उत्पन्न दोषोंपर उपयुक्त विधिसे विचार करना चाहिए।

जानते हुए भी जो दोष आगए हैं और विशृंखला उत्पन्न किए हुए हैं उनका जिन तीन प्रकारसे परिहार करते हैं उन्हें दोषांकुश कहते हैं—१. दोषमें गुणका रोपण करना, २. दोषको मिटा ही देना तथा ३. आए हुए दोषको अनिवार्य बना देना जैसे—

१. आपका मुख दाढ़ी-मूछोंके सफेद खड़े बाल-रूपी

किरणों-द्वारा चन्द्रवत् प्रतीत होता है। यहाँ हास्य रसका स्वरूप आ जानेसे उदाहरणकी ग्रामीणता गुणमें बदल गई है।

२. क्षीरसागरसे उत्पत्ति होते हुए भी यह तेरा कलंकी-पनाक हाँसे आया। चन्द्रमाकी उत्पत्ति क्षीरसागरसे बतलाई गई है, उसके अनुसार वह निष्कलंक है और जिसकी उत्पत्ति अत्रिमुनिकी आँखसे है वह सकलंक है। किन्तु कवि-समाजमें चन्द्र एक ही है और वह सकलंक माना गया है चाहे वह कहींसे भी उत्पन्न हो, अतः शास्त्र-प्रमाणसे विरुद्ध होते हुए भी वह दोष मिट गया।

३. तीसरेमें 'हि', व्यर्थ प्रतीत होते हुए भी श्लेष गुण दिखानेसे आवश्यक हो गया। देवं + हि + मकरांकितम् अथवा देवं हिमकरांकितम्। मकर-केतन काम और चन्द्र-भाल शिव दोनों हि-मकर-अंकितका ध्यान पार्वतीजीके हृदयमें हो सकता है।]

भरतने भी नाट्यशास्त्रके सत्रहवें अध्यायमें दोष गिनाते हुए गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ अभिप्लुतार्थ, न्यायादपेत, विषम, विसन्धि और शब्दच्युत—ये दस दोष गिनाए हैं। इनके लक्षण नीचे दे दिए जाते हैं—

अत ऊर्ध्वं तु वक्ष्यामि काव्यदोषाँस्तथाविधान्।
अगूढमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्॥
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दशकाव्यदोषाः ८९

पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम्।
अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते ॥९०॥

अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सावशेषार्थमेव च।
भिन्नार्थमभिज्ञेयमसभ्यं ग्राम्यमेव च ॥९१॥
विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।
भिन्नार्थं तदपि प्राहुः काव्यं काव्यविचक्षणाः॥९२॥
एकार्थस्याभिधानं यत् तदेकार्थमिति स्मृतम्।
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पादेन समस्यते ॥९३॥
न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणपरिवर्जितम्।
वृत्तदोषो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत् ॥९४॥
अनुपतिष्ठाशब्दं यत् तद्विसन्धीति काशितम्।
शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात् ॥९५॥
एते दशैव तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ॥९६॥

[अगूढ, २ अर्थान्तर, ३ अर्थहीन, ४ भिन्नार्थ, ५ एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ, ७ न्यायादपेत, ८ विषम, ९ विसन्धि और १० शब्दच्युत ये काव्य-दोष हैं।

जहाँ गूढ़ अर्थवाला मूल शब्द न कहकर उसका ऐसा पर्याय कह दिया जाय कि उसकी गूढ़ता नष्ट हो जाय वहाँ अगूढत्व दोष होता है। जहाँ जिस वस्तुका वर्णन न करना हो उसका अनावश्यक वर्णन कर देना अर्थान्तर कहलाता है। जहाँ संवादमें असम्बद्ध बातें भरी हों और उसके भी बहुतसे अर्थ किए जा सकते हों वहाँ अर्थहीन दोष होता है। भिन्नार्थ दोष दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जिनमें असभ्य और ग्राम्य (फूहड़) शब्द या वाक्य हों, दूसरे वे जिनमें कुछ ऐसे वाक्य बीच-बीचमें आ गए हों जो कवि-द्वारा वर्णनीय और इष्ट अर्थमें बाधा देते हों। जहाँ केवल एक ही अर्थवाले वाक्योंका प्रयोग हो (अर्थात् जहाँ केवल वाच्यार्थसे युक्त पदोंका ही प्रयोग हो, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थका अभाव हो) वहाँ एकार्थ दोष होता है। वाक्यके एक चरणमें समाससे (संक्षेपमें) बात कही जाय वहाँ अभिप्लुतार्थ दोष होता है। जहाँ ज्ञान-विज्ञानसे विरुद्ध अप्रामाणिक बात कही जाय वहाँ न्यायादपेत दोष होता है। जहाँ छन्दमें दोष हो उसे विषम कहते हैं। विसन्धि दोष तब होता है जब एक एक शब्द कह कहकर उसकी विशेषता भी बतलाई चली जाय। जहाँ आवश्यक शब्द छोड़ दिया गया हो वहाँ शब्दच्युत दोष होता है। इतने नाटकाश्रय दोष समझने चाहिएँ और इनसे उलटी बातोंको ही गुण समझना चाहिए।]

जयदेवने अपने चन्द्रालोकमें जो काव्यके दोष गिनाएँ हैं वे ही प्रायः अन्य आचार्योंने भी गिनाएँ हैं किन्तु वे दोष नाटकके लिये कभी कभी गुण होकर भी आ सकते हैं जैसे जयदेवने भी अन्तमें कहा है कि दोष लाकर उसे अनिवार्य कर देना और ऐसे पात्रमें उसका आरोप करना कि उस दोषयुक्त वाक्यके प्रयोगसे ही उसके चरित्रका स्पष्ट रूप प्रकट हो। अतः अनेक प्रकारके व्यक्तियोंका नाटकमें चित्रण करते समय कभी-कभी आवश्यक हो जाता है कि पात्रकी प्रकृतिके अनुसार दोषयुक्त वाक्य भी कहलाया जाय। किन्तु भरतने जो नाटकाश्रय दोष बताए हैं वे विचारणीय हैं। इस बातमें कोई दो मत नहीं हो सकते कि नाटकमें अनावश्यक, असंबद्ध, निरर्थक,

असभ्य, ग्राम्य, धारा-बाधक तथा अप्रामाणिक, अस्पष्ट वार्त्ता या वर्णन नहीं होने चाहिए। इसलिये अभिनव-भरतका मत है कि—

❀ असंबद्धनिरर्थकासभ्यद्वेष्यार्थबाधकाप्रामाणिकाबोध्यास्पष्टार्थपदवाक्यनिषेधः।

[असंबद्ध हों और निरर्थक या असभ्य या द्वेष्य कहीं।
धाराबाधक अप्रामाणिक या अबोध्य अस्पष्ट कहीं।
नाटकमें ऐसे दोषोंसे युक्त वाक्य-पद रहें नहीं॥]

असंबद्ध या असंगत वाक्य वहाँ होते हैं जहाँ उनमें पूर्वापर-संबन्ध न हो जैसे—

[गंगाजीके तटपर. राम, सीता और लक्ष्मण]

राम— (केवटसे) नाव ले आओ।

केवट—जबतक आप पैर नहीं धुलवा लेंगे तबतक नहीं लाऊँगा।

×लक्ष्मण—(रामसे) यह कौन सी नदी है।

×राम—गंगा है। जानते हो कैसे यहाँ आई। इसे भगीरथ लाए थे। (केवटसे) अच्छा पैर धोनेका प्रबन्ध करो।

उपर्युक्त संवादमें लक्ष्मण और रामकी परस्पर बातचीत यहाँ असंबद्ध है। नावपर चढ़ जानेपर यह बात कहलाई जाय तो संबद्ध होती।

निरर्थक बातचीत वह कहलाती है जहाँ नाटककी कथा या नाटकके चरित्रोंसे कुछ भी संबद्ध न रखनेवाली बातें कहलाई जायँ जैसे उपर्युक्त प्रसंगमें ही निम्नलिखित प्रकारकी बातें हों।

राम—(केवटसे) तुम्हारी नाव बड़ी अच्छी है। कितनेमें बनवाई? इसमें तो बीस मनुष्यतक बैठते होंगे। अयोध्यामें हमारे यहाँ अच्छी नावें बनती हैं। वहाँसे मँगाओ तो अच्छा होगा। हाँ, हमें पार चलना है, एक नाव तो मँगाओ।

रामके उपर्युक्त कथनमें अन्तिम वाक्यको छोड़कर सब निरर्थक या अप्रासंगिक है। इसी प्रकार बहुतसे नाटककार अवसर मिलते ही अपने दार्शनिक ज्ञानका भंडार खोलकर अपने विशिष्ट पात्रोंसे दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने लगते हैं।

जिस देशमें जो वाक्य या शब्द शिष्ट लोग प्रयोग न करते हों और जिनका प्रयोग व्रीडाजनक तथा फूहड़ समझा जाता हो, जिसे सुनकर शिष्ट लोग नाक-भौं सिकोड़ते हों उसे असभ्य कहते हैं जैसे—शौच, लघुशंका, मैथुन, स्तनस्पर्श, चुंबन, आलिंगन आदिकी बातें करना या गुप्तांगों अथवा अनुत्तमांगोंका वर्णन करना जैसे—मेरा हथियार (लिंग) देखा है, क्यों हवा खोल रहे हो (अपान वायु क्यों छोड़ रहे हो), आ जा मेरी जाँघपर बैठ जा या माँ-बहनकी गाली आदि असभ्यता-सूचक हैं। इन्हींके अन्तर्गत वे ग्राम्य प्रयोग भी आते हैं, जिनका प्रयोग निम्न कोटिके अशिष्ट जंगली तथा गँवार लोग करते हैं जैसे—'आजा मेरी कट्टो' कहकर प्रेयसीको संबोधन करना आदि। भारतीय आचारके अनुसार रंगमंचपर चुंबन, आलिंगन आदि वर्जित समझे गए हैं और इन क्रियाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द भी त्याज्य समझे गए हैं किन्तु योरोप तथा अमरीका आदि देशोंमें रंगमंचपर चुम्बन और आलिंगन दोष नहीं माने जाते इसलिये वहाँ चुम्बन या आलिंगनके लिये प्रार्थना करना दोष नहीं है किन्तु प्रार्थना करनेका ढंग फूहड़ या ग्राम्य नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस देशमें जो शिष्टाचार प्रचलित हो उसका नाटककारको अवश्य निर्वाह करना चाहिए। यदि असभ्य शब्दों या वाक्योंका व्यवहार कराया गया तो निम्न श्रेणीके दर्शकोंका कौतूहल तो तृप्त हो जायगा किन्तु उन असभ्य शब्दों या वाक्योंका प्रचार भी वेगसे होने लगेगा। इसीके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि जिन श्लिष्ट शब्दोंसे अशिष्ट ध्वनि निकलती हो उनका प्रयोग भी नहीं करना चाहिए जैसे किसी आए हुए राजपुरुष (सिपाही) से यह कहना—*क्या पकड़ने आए हो? (क्या मुझे बन्दी बनाने आए हो*. अथवा ध्वनिसे 'क्या मेरा लिंग ग्रहण करने आए हो')। कभी कभी नाटककार इस प्रकार प्रमादसे वाक्य लिखे जाते हैं जिनमें सहसा ऐसा ग्राम्यार्थ निकल आता है कि रसभंग तो होता ही है, फूहड़पन भी प्रकट होता है। एक नाटकमें दो मित्रोंके बीच यह संवाद हो रहा था—

सुरेन्द्र—तुमने इनकी कोठी न देखी हो तो हमारी तो देखी ही होगी।

विनोद—हाँ, हाँ आपकी तो देखी है, जिसके आगे नीलकंटेकी झाड़ियाँ लगी हैं!

उपर्युक्त संवादमें विनोदने जैसे ही कहा—हाँ, हाँ, आपकी तो देखी है। बस इसीपर सारा भवन हास्यसे गूँज उठा और कई मनचले चिल्ला भी उठे—अवश्य देखी होगी।

अतः नाटककारको अत्यन्त सावधानीके साथ असभ्यता-सूचक तथा असभ्यता-व्यंजक शब्द तथा वाक्य हटा देने चाहिएँ।

धाराबाधक शब्द या वाक्य उन्हें कहते हैं जो किसी नाटकीय प्रसंगके बीचमें प्रयुक्त हो जानेपर उसके स्वाभाविक प्रभावमें बाधा डालते हों जैसे—

वसन्तलाल—मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इस संकटसे मुझे इस बार उबार लीजिए। जीवन भर आपका ऋणी रहूँगा।

रामप्रसाद—मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ। मैं तो स्वयं बड़े संकटमें हूँ। सारा व्यापार ठंडा हुआ पड़ा है। आजकल हाथ बँधे हुए हैं। तुमने आजका समाचार पत्र पढ़ा है? लड़ाईका क्या समाचार है।

उपर्युक्त संवादमें रामप्रसादकी उक्तिमें अन्तिम दो वाक्य समाचारपत्र पढ़नेके संबंधमें धाराबाधक हैं।

अप्रामाणिक उन बातोंको कहते हैं जो इतिहास शास्त्र, पुराण, विज्ञान, लोक विश्वास आदिमें असिद्ध हों जैसे सूर्यका पश्चिममें निकलना, ध्रुवतारेका चलना, अशोकके युगमें बन्दूकका प्रयोग, बौद्ध दर्शनका विचार करते हुए उसमें आत्मा और परमात्माका सन्निवेश करना, रावणका राज्य लंकाके बदले सप्तसिन्धुमें वर्णित कर देना, मरुभूमिमें चनेके खेत या केलेका वर्णन करना अथवा यह कहना कि गंगाजीके स्नानसे कुछ नहीं होता आदि। किन्तु विदूषक, मूर्ख, अज्ञ तथा जड़ पात्रोंद्वारा इनका भी प्रयोग हास्यरसमें कराया जा सकता है किन्तु ऐसी सभी अप्रामाणिक बातोंका परिहार भी उसीमें कर देना चाहिए अन्यथा दर्शक उसे सत्य मानकर उस अप्रामाणिक बातको प्रामाणिक ही समझ बैठेंगे।

द्वेष्य वाक्य वे हैं जिनसे संसारके किसी विशेष वर्ग, जाति, वृत्ति, धर्म, सम्प्रदाय या उनके विशिष्ट व्यक्तियोंका अपमान, विरोध, अनादर या द्वेष प्रकट होता हो जैसे नाटकमें स्त्रियोंकी निन्दा, यहूदियोंको गाली देना, व्यापारियोंकी खिल्ली उड़ाना, सनातन धर्मको बुरा कहना, कबीर-पंथियोंको ढोंगी बताना आदि। अर्थात् किसीकी धार्मिक या सामूहिक भावनाओंको ठेस पहुँचानेवाली उक्तियाँ नाटकमें नहीं होनी चाहिए।

अबोध या क्लिष्ट शब्द या वाक्य वे होते हैं जिनका साधारणतः प्रचलन न हो जैसे नाटकमें 'अवच्छेदकावच्छिन्न' की नैयायिक पद्धतिसे विवाद।

अस्पष्ट शब्द या वाक्य उन उक्तियोंको कहते हैं जहाँ शब्द तो सरल हों किन्तु संवादका अर्थ ही स्पष्ट समझनेमें न आवे जैसे—

[जगदीश और विश्वेश्वरका प्रवेश]।

जगदीश—मैं भी तुम्हारे साथ चलनेको तैयार हूँ।

विश्वेश्वर—पर हमें यह समझ लेना चाहिए कि उसके पास लड़ाकू बहुत हैं, हम लोग पार न पा सकेंगे।

जगदीश—तो कोई ऐसा उपाय सोचा जाय कि हमारा काम सिद्ध हो जाय।

विश्वेश्वर—हां सोच तो लेना चाहिए।

जगदीश—तो चलो वहाँ चला जाय।

विश्वेश्वर—चलो।

इस उपर्युक्त संवादमें उपाय सोचनेकी बात तो कही जाती है पर सोचा कुछ नहीं जाता, यही इसकी अस्पष्टता है।

इन उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त चन्द्रालोकमें वर्णित दोषोंमेंसे सभी ऐसे हैं जिनका प्रयोग विभिन्न रसोंमें विभिन्न प्रकारके पात्रोंकी प्रकृतिके अनुकूल कराया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त अभिनवभरतका मत है कि—

❀ अमंगलमपि त्याज्यम्।

[है अमंगल भ निषिद्ध।]

अर्थात् अमंगलसूचक शब्दोंका प्रयोग भी नाटकमें नहीं होनी चाहिए। यों तो वध, मृत्यु आदि रंगमंचपर दिखानेका हम निषेध कर आए हैं किन्तु ऐसी घटनाओंकी सूचना देते समय भी अमंगल-सूचक शब्दोंका प्रयोग नहीं कराना चाहिए। हमारे यहाँ इस लिये किसीकी मृत्यु पर कहते हैं कि उसका स्वर्गवास या बैकुंठवास हो गया, उसे गंगालाभ हुआ, वह चल बसा, उसका शरीर पूरा हो गया, वह उतर गया, जाता रहा, पंचत्वको प्राप्त हो गया आदि। इसी प्रकार होली जलानेको होली मँगलाना, दीपक बालनेको दीपक जगाना या संझा जगाना, आग जलानेको आग चेताना या आग जगाना, दूकान बन्द करनेको दूकान बढ़ाना, किवाड़ बन्द करनेको किवाड़ देना, सधवाकी चूड़ी टूट जानेको चूड़ी मौलना, फूल तोड़नेको फूल उतारना कहते हैं क्योंकि मरना, जलाना, फूटना, टूटना, बन्द करना, टूटना आदिको विनाशसूचक तथा अमंगल-

सूचक समझा जाता है। अतः उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नाटकीय संवादमें उपर्युक्त दोष यदि न रहें तो वे अवश्य प्रभावशाली होंगे।

संवादकी स्वाभाविकता

❀ माह्यः परिस्थितिस्वभावानुरूपो हि संवादः ॥

[स्थिति स्वभाव अनुरूप सदा हो नाटकीय संवाद।]

पात्र-योजनाके प्रसंगमें हम विस्तारसे संसारके मनुष्योंके अनेक प्रकारोंका विवेचन कर चुके हैं किन्तु संवादकी दृष्टिसे एक नये प्रकारसे भी उनकी मीमांसा कर लेना वांछनीय होगा। संसार भरके सब लोगोंको हम छः प्रकारसे विभाजित कर सकते हैं—

१—अपना अहित करके तथा कष्ट सहकर भी दूसरोंका हित करनेवाले (महापुरुष)।

२—दूसरोंके हितका ध्यान रखते हुए अपना हित करनेवाला (सत्पुरुष)।

३—दूसरोंके हित या अहितसे दूर रहकर केवल अपना हित देखनेवाला (साधारण पुरुष)।

४—दूसरोंका अहित करके अपना हित साधनेवाला (दुष्ट)।

५—अकारण दूसरोंका अहित करनेवाला या दूसरोंको पीड़ा देनेवाला (राक्षस)।

६—अपने या दूसरोंके हित और अहितमें उदासीन रहनेवाला (विरक्त, उदासीन, मोहजित् या स्थितप्रज्ञ)।

नाटककारको संवाद लिखनेसे पूर्व यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह नाटकके किस पात्रको किस रूपमें चित्रित करना चाहता है। उसीके अनुसार उस पात्रसे वचन कहलाना उचित होगा। बहुतसे नाटककार संवादका यह प्रसिद्ध और आवश्यक तत्त्व न जाननेके कारण अत्यन्त उदात्त-चेता इतिहास-प्रसिद्ध पात्रोंसे अत्यन्त साधारण बातें स्वाभाविक समझकर कहला देते हैं किन्तु उन्हें यह समझ रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिका कर्म, विचार और वचन सब उसके स्वभावपर निर्भर हैं। अतः स्वाभाविक संवादका यह तात्पर्य नहीं है कि किसी विशेष अवस्थामें अधिकांश मनुष्य जो करते हों, कहते हों या सोचते हों वही स्वाभाविक है वरन् स्वाभाविक संवाद वही है जो किसी व्यक्ति विशेषकी प्रकृतिके अनुकूल हो अर्थात् जब कोई व्यक्ति एक सी परिस्थितियोंमें सदा एकसा ही आचरण करता हो, एकसा सोचता हो और एकसा कहता हो वही उसका स्वाभाविक रूप है। किन्तु पात्र-योजनाके प्रसंगमें हम कह आए हैं कि यह स्वाभाविकता होते हुए भी कुछ ऐसी विशेष परिस्थितियाँ आ पड़ती हैं जिनमें मनुष्यका आचरण, विचार और उद्गार भिन्न हो जाता है अतः ऐसी विशेष परिस्थितियोंको छोड़कर शेष स्थलोंमें संवाद लिखते समय पात्रोंकी प्रकृति और उनकी मर्यादाका ध्यान रखना चाहिए। यही संवादकी स्वाभाविकता है अर्थात् विभिन्न अवस्थाओंमें जो कहा जाता है, कहा जाना चाहिए और कहा जा सकता है वही कहलाना संवादकी श्रेष्ठता है और वही संवादकी स्वाभाविकता है।

संवादकी परिस्थितियाँ

❀ मनःस्थितिप्रेरितास्संवादाः ॥

[मनकी स्थितिसे प्रेरित होते नाटकके संवाद।]

जीवनकी समस्त परिस्थितियोंमें पड़कर मानव-मन जैसा चिन्तन करता है और उसका जैसा संस्कार होता है उसीके अनुसार वह मनुष्य बोलता है। जो कम पढ़ा-लिखा, समाजकी उच्च श्रेणीके लोगोंसे सम्पर्क नहीं रखता उसकी बातचीतमें सरलता, रूखापन तथा उक्ति-चातुर्यका अभाव होगा। जो सुसंस्कृत समाजके पढ़े-लिखे लोग होंगे उनकी वाणीमें लाक्षणिकता, सरसता तथा उक्ति-चातुर्यकी विशेषता होगी। इसी प्रकार मूर्खकी वाणीमें असंगति, प्रमाद, अज्ञान तथा असंबद्धता होगी, धूर्तकी बातचीतमें पगपगपर छल, कपट, झूठ, चाटुकारी और प्रवंचनाकी अधिकता होगी, दम्भीके वचनोंमें परनिन्दा तथा आत्म-श्लाघाकी प्रचुरता होगी और सत्पुरुषके वचनोंमें सत्यता, निश्छलता, विवेक तथा पर-प्रशंसाका आधिक्य होगा। जंगली लोगोंकी बातचीत संक्षिप्त होगी, सभ्य पुरुषकी बात अधिक विस्तृत होगी। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जितना सभ्य और चतुर होता है उतनी ही उसकी वाणीमें सरसता और बहुरूपता होती है, जितना ही असभ्य और मूर्ख होता है उतनी ही उसकी बातचीतमें नीरसता और एकरूपता व्याप्त रहती है अर्थात् सामाजिक संस्कारके

अनुसार मानसिक संस्कार बनता है और मानसिक संस्कारके अनुसार वाणीका संस्कार बनता है।

इस प्रकार यदि हम मनुष्य की साधारण प्रवृत्तियोंका परीक्षण करें तो हमें तीन प्रवृत्तियाँ मिलेंगी—

१—स्वार्थ प्रवृत्ति

२—परार्थ प्रवृत्ति

३—वर्ग प्रवृत्ति

स्वार्थ-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे आत्मरक्षा, सब प्रकारसे अपने प्रिय परिजनकी रक्षा, सब प्रकारसे जीविकाकी रक्षा, सब प्रकारसे सम्पत्तिका उपार्जन और उसका संरक्षण, सब प्रकारसे अपने लिये एक या अनेक संगीनी या संगिनी (स्त्रीका अपने लिये पुरुष संगी और पुरुष का अपने लिये स्त्री संगिनी) प्राप्त करना, सब प्रकारसे यश प्राप्त करना, सब प्रकारसे अपनी आन या मर्यादाका रक्षण, मित्र-संग्रह, सेवकसंग्रह, जन-संग्रह (सेना या सहायकके रूपमें) तथा मनोविनोद।

इन उपर्युक्त भावनाओंको तुष्ट और पुष्ट करनेके लिये मनुष्य बल, बुद्धि, सेवा, याचना, धन, संपत्ति और जनका प्रयोग करता है। जो सद्वृत्तिवाला मनुष्य होगा वह इन उपर्युक्त साधनोंके प्रयोगमें अच्छे तथा लोक-हितकर प्रकारसे अपनी विभिन्न भावनाओंकी तृप्ति करेगा, जो दुर्वृत्त होगा वह बुरे तथा अहितकर उपायोंसे तृप्ति करेगा। अतः उनके संवादोंमें उनकी प्रकृतिके अनुसार भावोंका उद्गार कराना चाहिए।

परार्थ-प्रवृत्तिके अन्तर्गत निम्नलिखित भावनाएँ आती हैं—

सब प्रकारसे किसी एक व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश, मनुष्यमात्र, जीवमात्र अथवा सृष्टिमात्रकी रक्षा, सहायता, सेवा अथवा उनका विनाश तथा पीड़न।

वर्ग—प्रवृत्तिके अन्तर्गत इतनी भावनाएँ आती हैं—अपने वर्ग या समाजकी प्रशंसासे प्रसन्न होना, निन्दासे अप्रसन्न होना तथा अपने वर्गकी आकांक्षा, प्रवृत्ति तथा उद्योगमें सहयोग देना वह चाहे अच्छा हो या बुरा।

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनमें आलस्य अथवा विरागके कारण प्रवृत्ति-शून्यता होती है।

इनके अतिरिक्त भोजन प्राप्त करने, निद्रा लेने, भय-भीत होने और काम-वासनामें प्रवृत्त होनेकी भावना सब प्रकारके स्वस्थ मनुष्योंमें होती है।

ऊपर जिन अनेक प्रवृत्तियोंका विवरण दिया गया है उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उन अवस्थाओंके अनुसार आचरण और वाणीमें भेद हो जाता है। इन अवस्थाओंमें तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं, शेष उन्हींसे उत्पन्न हैं। एक है राग या प्रेम, दूसरी है घृणा, तीसरी है उदासीनता या उपेक्षा। संसार भरके मनुष्यों, प्राणियों तथा वस्तुओंके प्रति या तो हमारा राग या प्रेम होता है अर्थात् वे हमें अच्छे लगते हैं, या हमें उनसे घृणा होती है अर्थात् वे हमें बुरे लगते हैं या हम उनसे उदासीन रहते हैं (अर्थात् वे चाहे अच्छे हों या बुरे, हम उससे उदासीन रहते हैं)।

इस प्रेम या रागसे हम किसी गुणके कारण किसीपर रीझते हैं, उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, उसमें गुण ढूँढ़ते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे अपनानेके लिये प्रयत्न करते हैं उसके न मिलनेपर व्याकुल होते हैं, इस प्रयत्नमें बाधा पड़नेपर व्यग्र और आकुल होते हैं, उसकी उदासीनता पर कुढ़ते हैं, उसपर खीझते हैं, दूसरा उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता हो तो उससे ईर्ष्या या वैर करते हैं, प्रतिस्पर्द्धीको हराने तथा मार्गसे हटानेका प्रयत्न करते हैं और उस प्रिय या इष्ट व्यक्ति अथवा वस्तुके प्राप्त हो जानेपर हर्षित होते हैं।

घृणाके कारण हम किसी व्यक्ति या वस्तुसे दूर रहते हैं, उसमें दोष ढूढ़ते हैं, उसकी निन्दा करते हैं उसे दूर रखनेका प्रयत्न करते हैं, पास आनेपर व्याकुल, असंतुष्ट और रुष्ट होते हैं, कोई उसे स्वीकार करता हो तो प्रसन्न होते हैं कि चलो अच्छा हुआ हमसे पिंड छुटा, उसके ग्रहण करनेवाले व्यक्तिको प्रोत्साहित करते हैं और उस व्यक्ति या वस्तुके विनाशसे प्रसन्न होते हैं।

उदासीनताकी अवस्था आलसी, अकर्मण्य, विरक्त, मोहजित् अथवा स्थितप्रज्ञमें होती है।

संसारमें ६ प्राप्य पदार्थ हैं जिनके निमित्त संसारमें सभी मानव-चेष्टाएँ होती हैं। वे हैं—१. सम्पत्ति या राज्य, २. स्त्री और परिवार ३. विद्या, ४ आयुष्य, (शरीरकी स्वस्थता और कुशलता), ५. यश और ६. मोक्ष या ईश्वर-प्राप्ति। इन छः पदार्थोंके अनुसार परीक्षण करनेपर तथा संसार भरके लोगोंके मनके भावोंके अध्ययन करनेपर ऊपर बताई हुई

अवस्थाओंमें मनकी निम्नलिखित वृत्तियोंके युग्म प्राप्त होते हैं—

१. अनुराग—व्यक्ति, जीव, वस्तु क्रिया या भाव (प्रियचिन्तन, आलस्य, निद्रा, या तन्मयता)के प्रति
घृणा—व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया, या भावके प्रति।
२. जीविका प्राप्त करनेकी,
जीविका छोड़ने की
३. जीविकाके रक्षण करनेकी,
जीविका नष्ट करनेकी।
४. दूसरेको जीविका दिलानेकी,
दूसरेकी जीविका हरण करनेकी।
५. सेवक, मित्र, सहायक या समाज संग्रह करनेकी,
सेवक, मित्र, सहायक या समाज त्याग करनेकी।
६. सेवक, मित्र, सहायक या समाज बढ़ानेकी,
सेवक मित्र, सहायक या समाज घटानेकी।
७. अपने शरीरकी रक्षा करने की (रोग, ऋतु जल अग्नि, आघात तथा सर्पादिसे)
अपने शरीरको अरक्षित करनेकी या संकटमें डालनेकी।
८. शरीरका संवर्धन करनेकी (व्यायाम, पौष्टिक भोजन आदिसे)
शरीरका ह्रास करनेकी (उपवास आदिसे।)
९. यश प्राप्त करनेकी,
यश नष्ट करनेकी।
१० यश बढ़ानेकी,
यश घटानेकी।
११. दूसरेका यश बढ़ाने की (स्तुति या प्रशंसासे)
दूसरेका यश घटानेकी (निन्दा या अय स्तुतिसे),
१२. अपनी मर्यादा बनाए रखनेकी,
अपनी मर्यादा नष्ट करनेकी।
१३. धन, संपत्ति, वस्तु या राज्य संग्रह करनेकी।
धन, संपत्ति, वस्तु या राज्य त्याग देनेकी
१४. धन, संपत्ति, वस्तु या राज्यकी रक्षा करनेकी,
धन, संपत्ति वस्तु या राज्यका नाश करनेकी।
१५. दूसरेको धन, संपत्ति, वस्तु या राज्य देनेकी
दूसरेको धन, संपत्ति, वस्तु या राज्य लेनेकी।
१६. परिवार संग्रह करनेकी,
परिवार त्याग देनेकी।
१७. परिवारके पालन और रक्षणकी,
परिवारके अपालन और अरक्षणकी।
१८. परिवारकी उन्नतिकी,
परिवारकी अवनतिकी।
१९. भयभीत होनेकी,
निर्भीक होनेकी।
२०. आलस्य ग्रहण करनेकी,
आलस्य त्याग करनेकी
२१. कल्पना करनेकी,
व्यवहार करनेकी।
२२. दूसरेका हित करनेकी,
दूसरेका अहित करनेकी।
२३ मनोविनोदकी,
कुढ़ते रहनेकी।
२४ सत्साहसका कार्य करनेकी,
दुःसाहसका कार्यकरनेकी।

ऊपर जिन मनोवृत्ति-युग्मोंका उल्लेख किया गया है वे सब मनकी चार अवस्थाओंसे प्रभावित होते हैं—

१. स्वभावसे जो नित्यके अभ्याससे सध गया हो।

२ आवेशसे जिसमें विचार करनेका अवसर न मिला हो।

३. विवेकसे जिसमें भली प्रकार सब पक्षोंका विचार करके निर्णय किया गया हो।

४. अज्ञानसे जिसमें अनजाने कोई काम कर दिया गया हो। इसके अन्तर्गत, निद्रा, पागलपन, अपस्मार, रोग आदि अवस्थाओंकी क्रियाएँ भी आ जाती हैं। ये चारों अवस्थाएँ भी मनुष्यकी प्रकृतिपर अवलंबित हैं और यह प्रकृति सत्संग-कुसंग, सुविद्या-कुविद्या, सुसंस्कार-कुसंस्कार, पिछले जन्मोंके सुकर्म या कुकर्मोंके अनुसार बनती है।

संवादके लिये ऊपर दिए हुए चौबीस वृत्ति-युग्मोंकी व्याख्या कर लेनी चाहिए। इस क्रममें सबसे पहले अनुराग और घृणापर विचार करना उचित है।

*** विनाशभीरुत्वमनुरागः।**

[जिसके विनाशसे भय होता, उससे होता अनुराग सदा।]

जब किसी व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावके विनाश, लोप, असन्निधि, अभाव, अथवा उसपर संभावित या संभूत संकटसे मन व्याकुल होता है तो समझ लेना

चाहिए कि उस व्यक्ति, जीव, वस्तु, क्रिया या भावसे उसका अनुराग है।

ॐअस्वाभाविकोऽस्वाभाविकश्च। निःस्वार्थे स्वाभाविकः स्वार्थेऽस्वाभाविकश्च।

[स्वभाविक या अस्वाभाविक, होता है अनुराग।
बिना स्वार्थका स्वाभाविक है, अस्वाभाविक स्वार्थ]

यह अनुराग दो प्रकारका होता है स्वाभाविक और अस्वाभाविक।

जिस अनुरागमें प्रिय या इष्टसे कुछ प्राप्त करने, जीवन-यापन करनेकी सुविधा प्राप्त करने अथवा अन्य किसी प्रकारके भौतिक सुख या लाभकी प्राप्तिकी भावना होती है वह अस्वाभाविक होती है, जिसमें स्वार्थकी भावनाके बिना केवल उस इष्ट या प्रियको पास रखने, उसका कुशल चाहने, उससे संपर्क बनाए रखने तथा उसे अमंगलसे बचाए रखनेकी भावना हो वहाँ स्वाभाविक अनुराग होता है।

इस अनुरागकी कई श्रेणियाँ होती हैं जिनमेंसे ये मुख्य हैं—

परस्परिक मानव अनुराग—

१. स्त्रीका पुरुषके प्रति—

माधुर्य भावसे (पत्नी या प्रेमिका-भावसे), सखी या मित्र-भावसे, कन्या-भावसे, पौत्री भावसे, मातृभावसे, भगिनी भावसे, दूती भावसे, सेविका भावसे, वेश्या भावसे, शिष्या भावसे, प्रशंसिका भावसे, उपासिका भावसे, स्वामिनी भावसे, साधुनी भावसे, गुरु भावसे।

२. पुरुषका स्त्रीके प्रति—

पति भावसे, प्रेमी भावसे, मित्र भावसे, पिता भावसे, पुत्र भावसे, पौत्र भावसे, भ्रातृ भावसे, स्वामी भावसे, जार भावसे, सेवक भावसे, गुरु भावसे, शिष्य भावसे, प्रशंसक भावसे, साधु भावसे, पड़ोसी भावसे नागरिक भावसे,

३. पुरुष और स्त्रीका परस्पर अनुराग (प्रेमी-प्रेमिकाके रूपमें)

४. पुरुषका पुरुषके प्रति—

क. पिता या पितामहका पुत्र या पौत्रोंके प्रति (वात्सल्य)

ख. पुत्रका पिताके प्रति (आदर) या पौत्रका पितामह या मातामहके प्रति।

ग. गुरुका शिष्यके प्रति (वात्सल्य)

घ. शिष्यका गुरुके प्रति (श्रद्धा)

ङ. मित्रका मित्रके प्रति (स्नेह)

च. एक सहपाठी, सहधर्मी या सहकर्मीके प्रति (विश्वास पूर्ण आत्मीयता)

छ. राजाका परिजनके प्रति तथा प्रजाके प्रति

ज. राजाका दूसरे राजाके प्रति।

झ. एक देशवासीका दूसरे देशवासीके प्रति

ञ. परिजनका राजाके प्रति

ट. सेवकका स्वामीके प्रति

ठ. स्वामीका सेवकके प्रति

ड. एक पुरुषका किसी बालक या युवकके प्रति (वासनात्मक)

ढ. साधारण मनुष्यका महापुरुषके प्रति (आदर)

५. स्त्रीका स्त्रीके प्रति

(क) माताका पुत्रीके प्रति

(ख) पुत्रीका माताके प्रति या पितामहीके प्रति

(ग) शिष्याका गुरु (स्त्री) या गुरुपत्नीके प्रति

(घ) स्वामीका सेवकके प्रति।

(ङ) सेवकका स्वामीके प्रति

(च) गुरु स्त्रीका शिष्य या शिष्याके प्रति

(छ) सखीका सखीके प्रति

(झ) स्वामिनीका दासीके प्रति

(ञ) दासीका स्वामिनीके प्रति

(ट) पड़ोसिनका पड़ोसिनके प्रति

(ठ) गृहस्थिनका साधुनीके प्रति

(ड) साधुनीका गृहस्थिनके प्रति

जीवोंसे अनुराग भी दो प्रकार होता है—स्वार्थपूर्ण तथा निःस्वार्थ पूर्ण।

गौ, भैंस, बकरी आदिसे दूधके कारण तथा मांस-भक्षिजन मांसके लोभसे अपने पालित जीवसे अनुराग करते हैं। कुत्ते, बिल्ली आदिसे गृहरक्षाके निमित्त अथवा चूहोंसे बचनेके लिये अनुराग होता है।

तोता, मैना आदि पक्षियोंसे उनके सौन्दर्य, मधुरव आदिके कारण निःस्वार्थ अनुराग होता है। कभी कभी यह अनुराग वात्सल्य भावतक पहुँच जाता है। अश्व, गज, वृषभ आदिसे स्वार्थपूर्ण अनुराग होता

है और इसमें भी कभी कभी परम सखा—भावका अनुराग हो जाता है जैसे राणाप्रतापका चेतक घोड़ेसे था।

जीव भी सेवा, भोजनदान तथा सद्व्यवहारसे मनुष्यसे स्नेह करने लगते हैं और अपने पोषकके लिये प्राणतक उत्सर्ग कर देते हैं। उनकी यह भावना स्वामिभक्ति भी कही जा सकती है और मैत्री भी। यह अनुराग एकपक्षी भी हो सकता है और उभयपक्षी भी। कुत्ते, हाथी, और घोड़ेकी स्वामिभक्ति और मृगकी सहचर-वृत्तिके अनेक उदाहरण मिलते हैं। प्रायः पक्षी बड़े स्वार्थी होते हैं। इनमेंसे शुक तो इतना स्वार्थी होता है कि अवसर पाते ही उड़ जाता है। कबूतरसे दूतका काम लिया जाता है। वह प्रायः लौटकर अपने अड्डेपर आ जाता है। मोरके साथ भी यही बात है, किन्तु अन्य पक्षी अविश्वस्त होते हैं। कुछ जीव बन्दर, सिंह आदि मनुष्यके इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये शिक्षित किए जाते हैं किन्तु वह प्रदर्शन मात्र-के लिये, व्यवहारके लिये नहीं।

वस्तुओंके प्रति जो अनुराग होता है वह एकपक्षीय ममत्व है किन्तु उन वस्तुओंमें कुछ ऐसी हैं जिनसे हमारा मनोविनोद तथा स्वार्थ—साधन भी होता है। पुस्तक, वाद्य-यन्त्र, तूलिका तथा जीविकाके यन्त्रोंमें हमारा सखा भाव रहता है, शेषमें स्वामित्वकी आत्मीयता होती है। कुछ वस्तुएँ जो शोभाके लिये संग्रह की जाती हैं उनका केवल प्रदर्शन-महत्व होता है जो वैभवसिद्धि तथा आत्मविज्ञापनमें योग देती हैं। इन वस्तुओंके प्रति भी जो ममत्व या अनु-राग होता है वह उसी स्तरका होता है जैसा किसी प्रिय व्यक्तिके प्रति क्योंकि उन वस्तुओंके कारण अपने अहंकी तृप्ति होती है।

सिद्धान्त, विचार या भावोंके प्रति भी लोगोंका अनुराग हो जाता है जैसे सत्यके प्रति, अहिंसाके प्रति, लोकसेवाकी भावनाके प्रति अथवा भक्ति-भावना आदिके प्रति।

क्रियाओंके प्रति भी अनुराग हो जाता है जैसे व्यायाम करने, व्याख्यान देने, स्नान करने, शृङ्गार करने, युद्ध करने, मल्लयुद्ध देखने, लिखने, पढ़ने, कथा सुनाने, पाठपूजा करने कथा सुनने आदिका। इनमें व्यायाम करनेके यन्त्र, व्याख्यानके विषय, स्नानके पदार्थ, शृङ्गार-सामग्री, युद्धका लक्ष्य, लेख, पाठ्य अथवा कथाके विषय आदिसे कोई सम्बन्ध या अनुराग नहीं होता केवल उस क्रियामें आसक्ति होती है। यह मनोविनोदके अन्तर्गत नहीं आता केवल क्रियामें अनुराग या आसक्ति है। यह आसक्ति ही अति होनेपर व्यसन बन जाती है।

घृणा

अनुरागके समान ही घृणाकी भी कई श्रेणियाँ होती हैं।

स्त्रीकी पुरुषके प्रति—शत्रुसे सम्बन्ध, कुरूपता, कुव्यवहार, अकर्मण्यता, कठोरता, कुरोग, विश्वासघात, परस्त्रीमें आसक्ति आदिके कारण।

पुरुषकी स्त्रीके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, कुरूपता, कर्क-शता, कुरोग, अकर्मण्यता, विश्वासघात, पर-पुरुषमें आसक्ति आदि के कारण।

पुरुषकी पुरुषके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, अपकार, विश्वास-घात, निन्दा, अपमान, अत्याचार।

स्त्रीकी स्त्रीके प्रति—शत्रुसे संबद्धता, कुरूपता, कुरोग, विश्वासघात, निन्दा, अपने प्रियसे प्रेम, अभिमान, कर्कशता आदि।

पुरुष या स्त्रीकी किसी जीवके प्रति—हानिकारक या निरर्थक होनेके कारण।

किसी जीवकी किसी पुरुष या स्त्रीसे घृणा—घातक होने या कष्टकर होनेके कारण।

किसी वस्तुसे घृणा—हानिकर या अरुचिकर होनेके कारण।

किसी क्रियाके प्रति—अरुचिकर होनेके कारण।

किसी भाव, सिद्धान्त या विचारके प्रति—अपने भाव, विचार या सिद्धान्तसे भिन्न होनेके कारण या किसी वैरी-द्वारा प्रतिपादित होनेके कारण।

शेष वृत्तियाँ स्वयंसिद्ध और स्पष्ट हैं।

इन सभी वृत्तियोंके निर्वाहमें मनके आठ भाव निरन्तर योग देते रहते हैं। वे हैं—रति, हास, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, आश्चर्य और घृणा। काव्यशास्त्रियोंने इन्हीं भावोंको स्थायी भाव बताया है और यह कहा है कि ये भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावके संयोगसे अर्थात् उचित मेलसे रसकी निष्पत्ति या सिद्धि करते हैं। रसके प्रकरणमें हम इनकी विस्तृत मीमांसा करेंगे। यहाँ केवल संचारी भावोंकी व्याख्या कर देना आवश्यक है क्योंकि संवाद लिखनेके लिये इनका ज्ञान आवश्यक है।

ॐ वृत्तिपोषकस्थिरभावास्तु संचारिणः ॥

[सभी वृत्तियोंके पोषक हैं अस्थिर या संचारी भाव ।]

ऊपर जिन चौबीस वृत्ति युग्मोंका विवरण दिया गया है उनका निर्वाह या संरक्षण आठ स्थायी भावोंके द्वारा होता है किन्तु उनका पोषण उन सहायक भावोंके द्वारा होता है जो अस्थिर होते हैं अर्थात् जो कुछ कालके लिये आते हैं, फिर लुप्त हो जाते हैं, एक साथ कई आते हैं या एक एक किसी विशेष क्रमसे आते हैं। नाट्य-ग्रन्थोंमें तथा साहित्य ग्रन्थोंमें ऐसे संचारी भाव तेंतीस गिनाए गए हैं। भावोंकी परिभाषा उन ग्रन्थोंमें यह बताई गई है—

वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः ।

अर्थात्, वाणी (वाचिक अभिनय), अंग-चेष्टा (आंगिक अभिनय) तथा सात्विक अनुभूतिके प्रदर्शन (सात्विक अभिनय) के द्वारा जो काव्यार्थकी भावना करावें उसे भाव कहते हैं किन्तु अभिनवभरतका मत है कि—

ॐ वाह्य प्रतिक्रिया-स्वानुभूतिसंभूतमनोविकार एव भावः ॥

[मन, अनुभूति और बाहरकी प्रतिक्रियासे भाव उपजते ।]

जीवनमें हम कुछ तो स्वयं सोचते, विचारते या इच्छा करते हैं और कुछ ऐसे विचार हैं या मनके विकार हैं जो बाह्य जगत्की क्रियाओं, परिस्थितियों, वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारोंके प्रभावसे हमारे मनमें कोई विशेष विकार उत्पन्न कर देते हैं। ये सभी भाव कहलाते हैं। इनमेंसे संचारी भावकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। इन भावोंमेंसे ही आठ ऐसे हैं जो अभ्यास और संस्कारके कारण मानवमानसमें स्थिर हो गए हैं—इन्हींको स्थायी भाव कहते हैं। इसीलिये अभिनवभरतका मत है—

ॐ संस्काराभ्याससिद्धाः स्थायिभावाः ।

[संस्कार और अभ्याससे, सिद्ध हुए हैं स्थायी भाव ।]

किन्तु मनकी एक अवस्था स्थितप्रज्ञताकी ऐसी भी हो जाती है जब मनमें कोई भाव नहीं रह पाता। इस 'शान्ति' को भी कुछ आचार्योंने भाव या मनोविकार मान लिया है पर यह भ्रमात्मक है। इस पर हम रस-प्रकरणमें विस्तारसे विचार करेंगे।

तेंतीस संचारी भाव ये माने गए हैं— निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिंता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, आलस्य, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता। किन्तु अभिनवभरतका मत है कि सत्रह और भी संचारी भाव हैं—लोभ, ईर्ष्या, लालसा, कामना, आसक्ति, कुतूहल, श्रद्धा, विश्वास, विनोद, प्रतिहिंसा, प्रवंचना, आशा, निराशा, मान, उपेक्षा, स्पर्द्धा और विजय। इस प्रकार कुल पचास संचारी भाव होते हैं किन्तु आगे हम स्पष्ट कहेंगे कि वास्तवमें स्थायी भाव बत्तीस ही होते हैं। इन सब भावोंके साथ अनेक क्रियाएँ तथा अनेक लक्षण प्रकट होते हैं। कुछ लोगोंने मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा आदि भावोंको भी संचारी माना है किन्तु रसतरंगिणीकारके अनुसार असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति, धृति, औत्सुक्य और चपलतामें ही इनका समावेश हो जाता है। देवने 'छल'को चौंतीसवाँ संचारी माना है। यह अभिनवभरतके प्रवंचनाके अन्तर्गत आ जाता है। पहले हम काव्यशास्त्रोक्त संचारी भावों और उनके साथ प्रकट होनेवाले लक्षणोंका विवरण दे रहे हैं। इसके पश्चात् स्थायी भावोंके साथ प्रकट होनेवाले संचारी भावों और क्रियाओंकी व्याख्या करेंगे।

१. निर्वेद—तत्वज्ञान, साधुसंगति, ईर्ष्या, पराजय, अपमान, असफलता आदिके कारण जब मनुष्य अपनेको धिक्कारने लगता है और संसारके सब पदार्थों और जीवोंको व्यर्थ, निकृष्ट, नश्वर, अविश्वस्त, घृणित और अनिष्टकर समझने लगता है तब वह निर्वेद भाव कहलाता है। निःश्वास छोड़ना, उदास रहना, रोना, चिढ़ना, दैन्य, मुँह सूखना, एकान्तवास करना, सबसे दूर रहना इसके लक्षण हैं।

रति (संभोग), भूख, प्यास, परिश्रम, मनस्ताप आदि कारणोंसे जो अनुत्साह, शिथिलता, तथा अशक्ति उत्पन्न होती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें मनुष्यको कुछ अच्छा नहीं लगता है। विवर्णता, कंप, अनुत्साह और शरीर तथा वचनोंकी क्षीणता, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

दूसरोंके द्वारा अथवा अपने ही दुर्व्यवहारसे अपनी इष्ट-हानि या अपने प्रियकी इष्ट-हानिका पूर्वाभास मिलनेकी शंका कहते हैं। इसमें इष्टहानिके भयसे व्याकुलता

बिना सोचे-विचारे कोई काम करना उन्माद कहलाता है। यह सन्निपात आदि शारीरिक रोगोंसे भी हो सकता है और ग्रह-योग आदि अन्य कारणोंसे भी। इसमें व्यक्ति बिना कारण रोता, गाता, हँसता, बकता तथा अन्य ऐसे ही काम करता है।

किसी आरंभ किए हुए काममें सफलता न प्राप्त कर सकनेके कारण धैर्य खो जानेको विषाद कहते हैं। इसमें व्यक्ति श्वासोच्छ्वास छोड़ता है, हृदयमें दुःखका अनुभव करता है और सहायकोंको ढूँढ़ता है।

किसी सुखदायक वस्तु या इष्ट व्यक्तिकी आकांक्षासे अथवा प्रेमास्वादके अभावमें या घबराहटके कारण समय न बिता सकनेको औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास, हड़बड़ी, हृदयकी वेदना, पसीना आना और भ्रम आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

राग, द्वेष, मात्सर्य आदिके कारण एक स्थितिमें न रह सकनेको चपलता कहते हैं। उसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छंद आचरण आदि लक्षण पाए जाते हैं।

आचार्यों-द्वारा गिनाए हुए इन तेंतीस संचारी भावोंमें श्रम, जड़ता, उग्रता, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध अपस्मार, मोह, मति, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, और चपलता ये तो भावानुगत शारीरिक या बौद्धिक दशाएँ और क्रियाएँ हैं अतः इन्हें संचारी भाव नहीं मानना चाहिए। अतः शेष १९ ही संचारी भाव हैं। इसके साथ अभिनवभरत-द्वारा सुझाए हुए १७ संचारी भाव या पोषक भाव मिला देनेसे कुल ३२ संचारी भाव होते हैं।

ॐ द्वात्रिंशत्संचारिभावाः।

[हैं बत्तिस संचारी भाव।]

अभिनवभारतके मतसे केवल निम्नलिखित ३२ संचारी भाव हैं—१ निर्वेद, २ ग्लानि ३ शंका, ४ धृति, ५ हर्ष, ६ दैन्य, ७ चिन्ता, ८ त्रास, ९ असूया, १० अमर्ष, ११ गर्व, १२ व्रीड़ा, १३ आलस्य, १४ विषाद, १५ औत्सुक्य, १६ लोभ, १७ ईर्ष्या, १८ लालसा, १९ कामना, २० आसक्ति, २१ कुतूहल, २२ श्रद्धा, २३ विश्वास, २४ विनोद, २५ प्रतिकार, २६ प्रवंचना, २७ आशा, २८ निराशा, २९ मान, ३० उपेक्षा, ३१ स्पर्द्धा और ३२ विजय।

इनमेंसे प्रथम पन्द्रह संचारी भावोंका वर्णन ऊपर हो चुका है, शेष सत्रहका विवरण नीचे दिया जाता है। इनके साथ तथा स्थायी भावोंके साथ जो अनेक क्रियाएं, चेष्टाएं या दशाएं होती हैं उनका विवरण आगे दिया जायगा।

लोभ—किसी व्यक्ति या वस्तुके सौन्दर्य अथवा उसके किसी अन्य गुणके कारण अपने लिये, अप्राप्यण होने पर, उसे देख देखकर उसपर रीझने तथा जब उसका स्मरण हो तब उसका साक्षात्कार करनेकी इच्छाको लोभ कहते हैं। ललचाई दृष्टिसे देखना, बारबार उस व्यक्ति या वस्तुको देखना, रह रहकर उसकी प्रशंसा करना, दूसरोंसे उसकी प्रशंसा सुनकर मुग्ध होना, उसे पाससे न जाने देनेके लिये बहाने बनाना आदि इसके लक्षण हैं।

ईर्ष्या—जिस व्यक्ति या वस्तुको हम अपना समझते हों, उसके भोगमें किसी दूसरेका हस्तक्षेप होनेपर हस्तक्षेप करनेवाले व्यक्तिके प्रति जो मनमें कुढ़न, डाह या जलन होती है अथवा अपने किसी समबुद्धि, समसामर्थ्य, सहधर्मी तथा सहकर्मीके अनुचित ढंगसे अभ्युदयपर जो मनमें अपने छोटे होनेकी ग्लानि हो जाती है वह ईर्ष्या कहलाती है। चिन्ता, उदासी; निन्दा करना, शाप देना, अमंगल मनाना, कोसना, तन्त्रमन्त्र या टोटके करना या कराना, गाली देना, प्रतिद्वन्दीको नीचा दिखाने तथा उसके कार्यों और भावोंमें दोष दिखानेका प्रयत्न करना, अपनेको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेका यत्न करना या अपने प्रतिद्वन्द्वीको मार्गसे हटानेके सब उपाय करना इसके लक्षण हैं। असूया और ईर्ष्यामें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि असूयामें गर्व, दुष्ट स्वभाव और क्रोधसे दूसरेकी उन्नति न सहन कर सकनेका भाव होता है किन्तु ईर्ष्यामें अपनी योग्यता, समर्थता, स्वत्व और अधिकारिताके ज्ञान और अस्तित्वके साथ मनस्ताप होता है।

लालसा—सुन्दर या लोक-हितकारी व्यक्तिके या अपने किसी अभ्युदय-प्राप्त इष्टको देखने या उससे मिलनेकी उत्कट इच्छा अथवा कोई सुन्दर या विलक्षण वस्तु देखनेकी तीव्र इच्छाको लालसा कहते हैं। इसमें उसे प्राप्त करने या अपनानेकी भावना नहीं रहती। दूसरोंसे दिखानेके लिये आग्रह करना, विशेष तैयारी करना, दूसरोंको प्रेरित करना, उन उद्दिष्ट वस्तुओं या व्यक्तियोंका वर्णन सुनना और सुनाना आदि इसके लक्षण हैं।

कामना—अपने या अपने इष्टके लिये मंगल और अभ्युदय चाहनेकी भावना को कामना कहते हैं। मनौती मानना, ईश्वरसे प्रार्थना करना, साधु-सन्यासियोंकी सेवा करना, दान पुण्य व्रतादि करना, तन्त्रमन्त्र-टोटके करना, यज्ञ कराना, उपचार कराना इसके लक्षण हैं।

आसक्ति—जब किसी अप्राप्य व्यक्ति, दृश्य या वस्तुके प्रति इतनी ममता हो जाती है कि उसे आँखोंसे ओझल होने या दूर होनेमें मानसिक व्यथा हो वहाँ आसक्ति संचारी होता है। आसक्तिके लक्ष्यतक पहुँचनेमें निरन्तर प्रयास, उस प्रयासमें झूठ बोलना, बहाने बनाना, इष्टके साक्षात्कारके लिये अनेक उपाय करना, घबराहट, हड़बड़ी आदि इसके लक्षण हैं।

कुतूहल—अद्भुत व्यक्ति या वस्तुको देखने अथवा उनको कथा सुननेके लिये जो मनमें चाव और गुदगुदी होती है उसे कुतूहल कहते हैं। हर्षसे आंखें चमकना, हड़बड़ो, दूसरोंको दिखानेके लिये आग्रह, एकाग्रता, उनकी कथा सुननेके लिये दूसरोंसे अनुनय-विनय आदि इसके लक्षण हैं।

श्रद्धा—स्वहितकारी या लोकहितकारी, अपनेसे अवस्था विद्या, त्याग अथवा गुणमें बड़े व्यक्तियोंके गुण श्रवण करने या दर्शन करनेके कारण मनमें उनके प्रति जो अस्थायी सात्विक आदर उत्पन्न हो जाता है उसे श्रद्धा कहते हैं। वाह वाह या धन्य धन्य कहना, हर्षपूर्ण सिर हिलाना, उल्लाससे आँखें चमकाना आदि उसके लक्षण हैं। इसका एक स्थायी रूप भी होता है जो अपनेसे निरंतर सम्बन्ध व्यक्तिके प्रति होता है।

विश्वास—किसी व्यक्तिकी अवस्था या उसका आचरण देख-सुनकर अथवा किसी घटनाको देख-सुनकर उसके परिणाममें निश्चयताके भावको विश्वास कहते हैं। 'वह अवश्य ऐसा करेगा', 'इसका परिणाम यही होगा' आदि कहना, निश्चिन्तता, दृढ़ता आदि इसके लक्षण हैं।

विनोद—किसी व्यक्तिको दुर्बलता या मूर्खतासे लाभ उठाकर उसकी मूर्खतासे जी बहलानेकी विनोद कहते हैं। इसमें किसीको कष्ट देने और स्वार्थ सिद्ध करनेकी बात नहीं होनी चाहिए। चाटुकारी, व्यंग्य तथा श्लेषयुक्त बातें करना तथा दूसरेसे ऐसी चेष्टा या काम कराना जिससे उसकी मूर्खता, अज्ञान या अल्पज्ञता प्रकट हो आदि उसके लक्षण हैं।

प्रतिकार—अपने साथ भलाई करनेवालेके साथ भलाई और बुराई करनेवालेके साथ बुराई करनेकी भावनाको प्रतिकार कहते हैं। आभार मानना, प्रशंसा करना, कृतज्ञता प्रकट करना, सेवा या सहायता करना, षड्यन्त्र करना, बुराई करना, हानि पहुँचानेका प्रयत्न करना आदि इसके लक्षण हैं।

प्रवंचना—मूर्ख या सीधे व्यक्तिको ठगनेकी भावनाको प्रवंचना कहते हैं। झूठ बोलना, स्वयं सज्जन बननेका ढोंग करना, विश्वास दिलाना, अत्यंत नम्रता दिखाना, चकमा देना, उल्टी बातें समझाना, सचाईकी मुद्रा मुखपर धारण करना आदि इसके लक्षण हैं।

आशा—अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी घटनाके परिणामकी सफलतामें अनिश्चित विश्वासको आशा कहते हैं। संसारके मनस्वी और कर्मठ लोगोंकी क्रियाओंमें इसी संचारी भावकी प्रेरणा समय-समय पर मिलती रहती है। उल्लास, हर्ष, निश्चिन्तता, आत्मविश्वास, दृढ़ता, निर्भयता, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

निराशा—अपने या किसी इष्ट व्यक्तिके कार्य या किसी स्वसंबद्ध घटनाके परिणामकी असफलतामें अनिश्चित विश्वासको निराशा कहते हैं। उदासी, अकर्मण्यता, चिन्ता, भय, आदि इसके लक्षण हैं।

मान—अपने इष्ट या परम आत्मीयके द्वारा अपनी उपेक्षा या अपमान देखकर उससे रूठनेके भावको मान कहते हैं। इष्ट या आत्मीयके बुलानेपर न बोलना, उसका कहा न मानना उसके आनेपर मुँह फेर लेना, उठकर चला जाना, व्यंग बोलना आदि उसके लक्षण हैं।

उपेक्षा—किसी व्यक्ति, वस्तु या कार्यके प्रति रुचि न दिखानेको तथा उसके प्रति उदासीन रहनेकी भावनाको उपेक्षा कहते हैं। चुपचाप सुनना, टाल देना, सुनी-अनसुनी कर देना, हाँ हूँ करके छोड़ देना आदि इसके लक्षण हैं।

स्पर्द्धा—अपने सहकर्मीकी उन्नति देखकर उसके समकक्ष या उससे आगे बढ़नेकी भावनाको स्पर्द्धा कहते हैं। उत्साह, परिश्रम, कर्मठता आदि इसके लक्षण हैं।

विजय—ऐसा कार्य करनेकी भावना जो पहले किसीने न की हो विजय कहलाता है। नम्रता, त्याग, परिश्रम, उदारता, वीरता, कष्टसहन, दुःसाहस करना आदि इसके लक्षण हैं।

इन बत्तीस संचारी भावोंके ज्ञानके बिना कोई भी नाटककार ठीक-ठीक संवाद-निर्वाह नहीं कर सकता क्योंकि किसी दृश्य या अंकके ग्रथनसे नाटककार जो विशिष्ट परिणाम उपस्थित करना चाहता है वह तबतक ठीक और उचित नहीं हो सकता जबतक पात्रोंकी उक्तियों, चेष्टाओं तथा व्यापारोंमें तत्संबंद्ध संचारी भावोंका समावेश नहीं हो जाता।

अब यहाँपर यह बता देना भी आवश्यक है कि विभिन्न स्थायी भावोंके कितने रूप होते हैं और उनके साथ कितने संचारी भाव और कितनी क्रियाएँ आती हैं। हम पीछे कह आए हैं कि स्थायी भाव आठ हैं—

॥ रतिहासोत्साहशोकभयक्रोधाश्चर्यघृणेति स्थायिभावाः।

[रति, हास, शोक, उत्साह, क्रोध, भय घृणाश्चर्य हैं स्थायिभावा।]

॥ घनासक्तिरेव रतिः।

[घनासक्ति ही रति कहलाती।]

१. रति – किसीकी ओर स्थायी तथा घनी आसक्तिको कहते हैं। यह पाँच प्रकारकी होती है। वात्सल्य, श्रद्धा, मैत्री, भक्ति और प्रेम।

(क) वात्सल्य माता, पिता और घरके बड़े-बूढ़ोंकी अपने बच्चोंके प्रति, गुरुकी शिष्यके प्रति और साधुओंकी चेलोंके प्रति जो आसक्ति होती है उसे वात्सल्य कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है—साधारण और असाधारण। साधारण वात्सल्य उस आसक्तिको कहते हैं जहाँ अपने बच्चों, शिष्यों या चेलोंके मंगलकी भावना या उनके संरक्षणकी भावना होती है तथा दूसरोंके बच्चोंको देखकर, उनके प्रति स्नेह उमड़ता है। किन्तु जहाँ, बच्चों, शिष्यों और चेलोंको सदा सामने रखने, उन्हें इधर उधर जाने न देने, उनके आँखसे ओझल हो जाने तथा उनपर किसी प्रकारके संकट पड़नेपर जहाँ उत्कंठापूर्ण व्याकुलता होती है वहाँ असाधारण वात्सल्य होता है। इस वात्सल्यमें घबराहट, उत्कंठा, उन्माद, मूर्च्छा, रोना, अपने बालकोंकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना, दूसरोंके आगे उनके लिये दैन्य दिखाना, प्रार्थना करना, असत्य बोलना, अपमानित होना, भर्त्सना सहना, अकर्तव्य या अकार्य कर बैठना (किसी दूसरे बालककी बलि दे देना आदि) तथा आकुलताका अधिक व्यवहार दिखाई देता है।

(ख) श्रद्धा—अपने माता, पिता या गुरुके प्रति तथा किसी साधु, सन्त, वीर या महापुरुषके प्रति ऐसी आसक्ति होती है कि उनकी आज्ञा मानने, उनकी सेवा करने, उन्हें सुखी, अनुकूल तथा प्रसन्न रखने और उनका निर्विरोध अनुगमन करनेमें आनन्दकी भावना होती है वहाँ श्रद्धा कहलाती है। यह भी दो प्रकारकी होती है—स्वार्थी श्रद्धा और निःस्वार्थ श्रद्धा। जहाँ श्रद्धेयसे कुछ प्राप्त न करने तथा सात्त्विक निष्काम भावसे आसक्ति हो वहाँ निःस्वार्थ श्रद्धा होती है। यह भी दो-दो प्रकारकी होती हैं—संबंधश्रद्धा, निःसंबंध श्रद्धा। संबंधश्रद्धा वहाँ होती है जहाँ श्रद्धेयसे अपना प्रत्यक्ष संबंध हो और उनके साथ रहना हो। निःसंबंध श्रद्धा वहाँ होती है जहाँ परोक्षमें तथा प्रत्यक्ष न होनेपर भी आसक्ति बनी रहे।

इस श्रद्धामें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार छोड़कर सेवा, आज्ञापालन, इष्टके कष्टमें पड़ जानेपर व्याकुलता, दैन्य, प्रार्थना, भिक्षा, आदरपूर्ण भय, सम्मान, आत्म-निवेदन, ममता, कष्ट-सहन, नम्र वचन, विनय, उत्सुकता, मंगल कामना, प्रशंसा, स्तुति, इष्टकी निन्दा न सहना, सत्य व्यवहार आदि अनेक मानसिक भावनाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

(ग) मैत्री—समान अवस्था, गुण, व्यवसाय तथा विचारके लोगोंमें जो परस्पर गाढ़ी, आत्मीयता और विश्वस्तता उत्पन्न हो जाती है उसे मैत्री कहते हैं। यह मैत्री प्रायः सहपाठी-सहपाठिनियों और पड़ोसी-पड़ोसिनियोंमें अधिक होती है। प्रायः समवेत कार्यों (खेल, नाटक, जन-आन्दोलन, सेना आदि) के कार्यकर्त्ताओंमें परस्पर बड़ी गहरी मैत्री हो जाती है यहाँ तक कि एक दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करने तथा एक दूसरेके हितके लिये और एक दूसरेकी बात रखनेके लिये वे अपने माता-पिता आदि सगे-संबंधियोंका परित्याग करनेको भी तैयार हो जाते हैं। एक व्यसनवाले (जुआड़ी-शराबी आदि) में भी मैत्री हो जाती है पर वह स्थायी नहीं होता। इसमें हँसी-ठट्ठा, परस्पर विनोद, साथ घूमना, वार्त्तालाप, प्रेममें गाली देना, एक साथ उठना-बैठना, खाना-पीना-सोना, प्रतिज्ञा, मित्रके लिये आत्मत्याग, सेवा-शुश्रूषा, उत्कंठा, व्यग्रता,

सत्य तथा असत्य संभाषण, निन्दा न सहना, मित्रका क्रोध सहना आदि मनोदशाएँ और चेष्टाएँ होती हैं।

(ग) भक्ति—अपने पूज्यके प्रति निष्काम अनुराग या आसक्ति अथवा ईश्वर, ईश्वरके अवतार या देवताके प्रति अथवा देवविग्रहमें देव-भावनाके साथ जो आत्मसमर्पण-युक्त निष्काम अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं। ऐसा व्यक्ति अपने इष्टके विरुद्ध कुछ नहीं सुनना चहता है। निरन्तर उसका श्रवण, स्मरण, कीर्त्तन, अर्चन, बन्दन, पादसेवन, दास्य, सखाभाव और आत्मसमर्पण ये उसके लक्षण हैं। इस आसक्तिमें तर्क-वितर्क नहीं होता, शुद्ध निष्ठा होती है।

(घ) प्रेम—स्त्री और पुरुषकी एक दूसरेके प्रति आसक्तिको प्रेम कहते हैं। स्त्रीका पुरुषके प्रति, तथा पुरुषका स्त्रीके प्रति प्रेम स्वाभाविक होता है किन्तु पुरुष और पुरुष अथवा स्त्री और स्त्रीके बीच प्रेम स्वाभाविक अस्वाभाविक दोनों होता है। यह स्वाभाविक और अस्वाभाविक प्रेम भी दो प्रकारका होता है—स्वार्थपूर्ण और निःस्वार्थपूर्ण। जहाँ इष्टके प्रति आसक्ति किसी उद्देश्यसे अर्थात् उससे कुछ प्राप्त करनेकी या उसका उपभोग करनेकी होती है वहाँ स्वार्थी प्रेम होता है और जहाँ बिना किसी उद्देश्यके और इष्टसे कुछ प्राप्त करनेकी इच्छाके बिना ही आसक्ति हो वहां निःस्वार्थ या सत्य प्रेम होता है। यह स्वार्थी और निःस्वार्थ प्रेम भी तीन प्रकारका होता है—कभी एकपक्षीय कभी उभयपक्षीय, कभी बहुपक्षीय। एकपक्षीय प्रेममें एक व्यक्ति दूसरेके प्रति आसक्ति रखता है पर दूसरा उसके प्रति आसक्ति नहीं रखता। यह भी दो प्रकारका होता है—अभिव्यक्त तथा अनभिव्यक्त। जब आसक्त व्यक्ति, अपने प्रेमकी बात अपने इष्टसे कह देता है तब वह अभिव्यक्त कहलाता है। जब वह प्रेम करते हुए भी अपना प्रेम अपने इष्टको नहीं जनाता तब अनभिव्यक्त कहलाता है। उभयपक्षीयमें दो व्यक्तियोंकी परस्पर एक दूसरेके प्रति आसक्ति होती है। बहुपक्षीयमें एक व्यक्तिकी आसक्ति बहुतसे व्यक्तियोंके प्रति और बहुतसे व्यक्तियोंकी एकके प्रति होती है अर्थात् एक नायिकाका बहुतसे नायकोंके प्रति या एक नायकका बहुतसी नायिकाओंके प्रति, या अनेक नायिकाओंका एक नायकके प्रति या अनेक नायकोंका एक नायिकाके प्रति अनुराग होता है। ईश्वरको प्रेमी या प्रेमिका मानकर जो माधुर्य भावसे भक्ति की जाती है वह प्रेमके ही अन्तर्गत है क्योंकि उसमें मानसिक दशाएँ और चेष्टाएँ प्रेमकी ही होती हैं।

पारस्परिक प्रेम अर्थात् पुरुष या स्त्रीके परस्पर एक दूसरेके प्रति प्रेम, परस्पर दर्शन, गुणश्रवण, चित्र दर्शन, अधिक संपर्क, समवृत्ति, उपकार, विशिष्ट गुण अथवा दैव-योग आदिके कारण होता है। इसमें सभी संचारी भाव, होते हैं और निम्नलिखित चेष्टाएँ होती हैं—

मिलनोत्कंठा शृंगार, अभिसार, उत्सुकता, व्याकुलता, प्रेम-निवेदन, प्रेमालाप, पत्रव्यवहार, दूतीकर्म, लोकापवाद, भय, उपालंभ, चोरीसे मिलना दीर्घ निःश्वास, चाटुकारी, शिष्टताका अतिरेक, स्वप्न, अनिद्रा, अपने काममें अरुचि, कविता लिखना, चित्र बनाना, लजाना, झेंपना, वस्तुओंका आदान-प्रदान, एक साथ घूमने जाना, जलपानगृह या मनोविनोदके स्थलों या मन्दिरोंमें जाना, लोक और समाजकी मर्यादाओंका उल्लंघन करना, चिन्ता, पागलपन, दुःसाहस या पराक्रमके कार्य करना, प्रियको लक्ष्य करके कविता बनाना, लेख लिखना, प्रियके नामसे कविता या लेख लिखकर छपवादेना, चित्र लेना, कला-कौशल द्वारा प्रियको प्रभावित करनेकी चेष्टा करना; प्रेमी या प्रियकी चर्चा ध्यानसे सुनना या करना, प्रियकी वस्तुको छाती या आँखोंसे लगाना, उससे आत्मीयता स्थापित करना, मूर्च्छा, प्रलाप, रोगका बहाना करना, प्रियसे मिलनेके झूठे बहाने निकालना, भाग निकलना, रूठना, मनाना, एक दूसरेका शृंगार करना, सेवा करना आदि। यद्यपि चुंबन, आलिंगन आदि चेष्टाएँ योरोप तथा अमेरिकाके रंगपीठोंपर दिखाए जाते हैं और वहाँके नाटककार उसका विधान भी करते हैं किन्तु ऐसी किसी भी क्रीड़ाकर अथवा भारतीय संस्कृतिके अननुकूल चेष्टाका विधान नहीं करना चाहिए। जापान तथा चीनमें भी रंगपीठपर ऐसी क्रियाएँ और चेष्टाएँ वर्जित हैं यहाँतक कि जापानमें तो साधारण जीवनमें भी चुंबन नहीं लिया जाता।

एकपक्षीय प्रेमकी जिन दो अवस्थाओंका वर्णन किया जा चुका है उनमें संचारी तो सभी होते हैं किन्तु चेष्टाएँ निम्नलिखित ही होती हैं—

दर्शन करने या मिलनेकी उत्कंठा और व्यग्रता, प्रेम-

निवेदन, प्रार्थना, दैन्य, प्रलोभन, आत्मसमर्पण, आत्म-हत्याकी धमकी, विषपान, धरना देना, हतोत्साह होना, पागल होना, मूर्च्छा, लोकापवाद, घूमघूमकर प्रेमका प्रचार, प्रियकी कठोरताका विज्ञापन करना, पत्र-व्यवहार, दूतीकर्म तपस्या, मन्त्र-तंत्र, बलपूर्वक उठा ले भागना, यातना देना, गाली, भर्त्सना (झिड़की), उपालंभ, समझाना, तर्क-वितर्क, संन्यास लेना, तर्जन, अपमान, प्रशंसा, कविता लिखना, प्रियको संबोधित करके गुप्त सांकेतिक भाषामें लिखकर पत्रोंमें छपवाना, प्रियके नामसे लेख छपवा देना, चोरीसे चित्र (फोटो) लेना, अनेक बहानोंसे प्रियके पास पहुंचना, प्रियकी सफलता या उसके जन्मदिवस आदि अवसरोंपर बधाई और उपहार भेजना, प्रियके रोगी हो जानेपर सेवाकी उत्सुकता दिखाना, सबसे उसकी प्रशंसा करना, प्रियके सामने कौशलसे उसके रूप, गुण या शीलकी प्रशंसा करना आदि ।

बहुपक्षीय प्रेममें भी सभी संचारी होते हैं और निम्न-लिखित क्रियाएँ होती हैं—

परस्पर विरोध, आरोप-प्रत्यारोप, हठ, परिहास, प्रवंचना, उपालंभ, तर्क-वितर्क, मिथ्या कथन, सपत्नीका आदर, मान, प्रभुत्व-प्रदर्शन, तपस्या, उपेक्षा, आत्महत्याकी चेष्टा कलह, मारपीट, व्यवहार (मुकदमेबाजी), गालीगलौज, परस्पर निन्दा, लोकापवाद, नायिकाको उठा ले भागना, हत्याकी चेष्टा, तथा वे सभी चेष्टाएँ हो सकती हैं जो पारस्परिक या एकपक्षीय प्रेममें होती हैं ।

प्रेममें निम्नलिखित व्यवहार भी संभव हैं—

दो या अधिक नायकोंका एक नायिकाके संबंधमें परस्पर समझौता करके निर्णय कर लेना और एक द्वारा नायिका-ग्रहण ।

दो या अधिक नायिकाओं-द्वारा परस्पर समझौता करके अथवा आत्मत्यागकी भावनासे अपना स्वार्थ छोड़कर प्रिय नायकको किसी एकके लिये छोड़ देना ।

कई नायिकाओंका परस्पर मिलकर एक नायकको अपना लेना ।

एक नायिकाका कई नायकोंको वैवाहिक रीतिसे अपनाना । नेपाल और तिब्बतमें ऐसे संबंध होते हैं ।

अपने पतिकी अविवाहिता प्रेयसीसे विरोध या स्नेह या उपेक्षा । प्रियको सपत्नीसे विमुख करनेके लिये तन्त्र, मन्त्र, टोटके, षडयन्त्र आदि करना ।

अपने पतिकी वेश्यासे व्यवहार—विरोध, विद्रोह अथवा उपेक्षा प्रियको, वेश्यासे विमुख करनेके उपाय अथवा स्वयं वेश्याकी सेवा करके उसके मनमें अपने प्रति करुणा उत्पन्न करना ।

वेश्याका अपने जारकी पत्नीसे व्यवहार—विरोध, दोष निकालना, घरसे निकलवाने, विष देने, आत्महत्याके लिये उत्तेजित करनेका प्रयत्न ।

अविवाहिताका अपने प्रेमीकी पत्नीसे व्यवहार—अत्यन्त मृदु, चाटुकारी, स्नेह, प्रेमीकी प्रशंसा, प्रेमीके सामने उसकी पत्नीका पक्ष लेना ।

नायक-द्वारा अपनी पत्नी, वेश्या, प्रेयसी (परपत्नी अथवा कुमारी) से व्यवहार—ऊपर वर्णित सभी व्यवहार इसके अन्तर्गत हैं ।

नागरी प्रेयसी (अविवाहिता और विवाहिता) द्वारा नायकके प्रति व्यवहार—कला, रूप या गुणसे उसे अपनानेकी चेष्टा, पत्रव्यवहार, पढ़ने या किसी अन्य कार्यमें नायककी सहायता माँगना, उसकी प्रशंसा करना किन्तु अपनी सखियोंमें उसकी निन्दा करना कि कहीं वे न उसे फँसा लें ।

समान रूप, गुण, विद्या, बल, व्यवसाय, विचार, कौशल (खेलकूद, कला आदि), वीरता आदिके कारण, अधिक सम्पर्क या पड़ोसके कारण, राजनीतिक कारणोंसे, दैवसंयोगसे तथा किसीके द्वारा बचाए जानेके कारण भी प्रेम हो जाता है यहाँतक कि गुरु और शिष्योंमें, चिकित्सक और चिकित्सितामें, विद्वान् और विदुषीमें, अभिनेता-अभिनेत्रीमें, लेखक-लेखिकामें, सहपाठी-सहपाठिनीमें प्रेम हो जाता है । ये सब प्रेम प्रायः निर्बाध होते हैं अतः इनमें वह तीव्रता और आकुलता नहीं होती जो सहसा दर्शन या गुणग्रहण आदिके कारण होता है । यह बात उस सोद्देश्य प्रेमके लिये भी है जहाँ धन, उच्चकुल या उच्चपद प्राप्त करने, ऋणदानसे बचने, कृपणताके कारण या दरिद्रता आदिके कारण हो जाते हैं । कभी कभी कुतूहलवश भी विवाह होते हैं जैसे परस्पर दो परिवारोंका कलह बचानेके लिये, अपने संरक्षक आश्रयदाता या उपका-

रकके प्रति कृतज्ञता दिखानेके लिये उससे या उसके पुत्रसे प्रेम आदि।

२. हास—हँसनेके भावको हास कहते हैं अर्थात् किसीके मूर्खतापूर्ण, मर्यादाहीन सनकसे भरे अनवसरोचित कार्यको देखकर या वचनोंको सुनकर अथवा किसीकी अव्यवस्थित वेशभूषा या रूपसज्जा देखकर अथवा किसी बातसे चिढ़नेवाले व्यक्तिको चिढ़ते देखकर, कृपणकी कृपणता देखकर, दिखावटी या बनावटी शोक-प्रदर्शनपर, बहु पत्नीवालेकी दुर्दशा देखकर, किसीको पांडित्य छाँटनेके लिये असंबद्ध प्रलाप करते तथा झूठा ज्ञान छाँटते देखकर, कल्पित या झूठी विपत्तिकी कल्पना करके, दैन्य, रोदन या शोक करते देखकर चाटुकारिता, धूर्तता, भोजन-भट्टता, दुष्टके पराजयके समय उसकी पुरानी गर्वोक्तिका स्मरण दिलाते हुए ताना या व्यंग्योक्ति सुनकर किसी दुष्टको बहकानेके या चकमा देनेके लिये असत्य भाषण या धूर्तता देखकर असमर्थ होनेपर भी किसी कार्यको करनेका दंभ करके उसमें असफल होकर, कायर होनेपर वीरताका स्वाँग, साधु, पंडित या तपस्वी बननेके ढोंग, हकले, बहरे और गूँगेकी वाचिक और आंगिक क्रियाएँ, देखकर, कुरूप, बौने या स्थायी विकलांग व्यक्तिका अपनेको सुरूप, सर्वांगसुन्दर बतानेपर जो मनोविनोद होता है उसे हास कहते हैं। इस विनोदकी अवस्थामें मनुष्य मन ही मन हँसता है, मुस्कराता है, शब्दयुक्त हँसता है, ठठाकर हँसता है, हँसते हँसते लोटपोट हो जाता है, हँसतेहँसते रो देता है। कभी कभी अपनी मूर्खतापर भी मनुष्यको हँसी आ जाती है, इसे आत्मस्थ हास कहते हैं। वास्तवमें मनोविनोद या हासकी उपर्युक्त अवस्थाओंमें व्याप्त कारण मूर्खता ही है अतः—

❀ मौर्ख्योद्भावित-विनोदभावः हासः॥

[मौर्ख्य-उद्भावित विनोदी भाव ही है हास।]

किसीको मूर्खता, अज्ञता, अल्पज्ञता, मौर्ख्यजन्य विवशताके कारण जो भाव मनमें गुदगुदी उत्पन्न करके द्रष्टाको हँसनेके लिये प्रेरित करता है उसे हास कहते हैं। संसारके प्रसिद्ध हास्यलेखक तथा अभिनेता चार्ली चेपलिनका मत है कि मैं मानव-स्वभावके सम्बन्धमें कुछ थोड़ीसी साधारण बातें जानता हूँ और उन्हींका प्रयोग करके मैं अपनी रचनाओंमें हासकी सृष्टि करता हूँ। पहली बात तो यह है कि जिन्हें हासका आलम्बन बनाना हो उनके लिये जो पद नाटकमें निर्धारित किया हो उससे अत्यन्त प्रतिकूल उनका रूपविन्यास और वेशविन्यास किया जाय और फिर कुछ ऐसे विधान किए जायँ कि जहाँ किसी प्रकारकी कोई आशंका न हो वहाँ दर्शक मूर्ख बना दिए जायँ। जैसे—एक स्थानपर किसी मूर्तिका उद्घाटन हो रहा है। उस मूर्तिपर एक वस्त्र पड़ा हुआ है। बड़ी गंभीरतासे उद्घाटन-भाषण तथा अन्य प्रारंभिक संस्कार होते हैं। किन्तु जैसे ही उद्घाटन होता है वैसे ही देखा क्या जाता है कि मूर्तिकी गोदमें विदूषक या अन्य कोई व्यक्ति बैठा सो रहा है। इससे भी दर्शकोंमें हासका विस्फोट हो जाता है। चार्ली चेपलिनका यह भी मत है कि नाटकमें एक या दो तो बड़े हास होने चाहिएँ जिनमें हँसते-हँसते लोग लोटपोट हो जायँ और नाटक भरमें निरन्तर मुसकान और विनोदपूर्ण हर्षकी लहरियाँ उठती रहें। अभिनवभरतका मत है कि जिस नाटकमें आद्यन्त हास्य ही व्यापक हो वहाँके लिये तो यह ठीक है किन्तु गंभीर नाटकोंमें दर्शकोंके भावोंका खिंचाव और तनाव ढीला करनेके लिये जब हासका प्रयोग किया जाय तब उसमें एक दोके बदले सातआठ हासके विस्फोट हों तब भी बुरा नहीं है क्योंकि भावोंका तनाव शिथिल होते रहना सदा उचित और आवश्यक होता है विशेषतः उन भावुक दर्शकोंके लिये जो तनिक-से करुण-प्रदर्शनमें रो देते हों या आह भर बैठते हों।

हासका निर्वाह अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि वह या तो फूहड़ हो जाता है या दूसरोंके आत्म-सम्मान या भावनाको ठेस पहुँचाकर उनके मनको कष्ट दे सकता है। यूनानके प्रसिद्ध प्रहसनकार अरिस्तोफनेसके 'बर्रे' और 'बादल' प्रहसनोंमें ऐसे बहुतसे स्थल हैं। इसलिये हासकी सृष्टि करते समय मनुष्यकी साधारण व्यापक मूर्खताओं अथवा मनुष्यकी व्यापक मानसिक दुर्बलताओंका प्रयोग करके हासकी सृष्टि करनी चाहिए जिसमें कभी किसी विशेष व्यक्ति, वर्ग, समाज, राष्ट्र या जातिके अपमानकी व्यंजना न हो पावे।

३. शोक—

❀ इष्टनाश-संकटजन्यमनस्तापः शोकः।

[इष्टपर संकट पड़नेसे ताप ही है शोक।]

अपने इष्ट (शरीर, प्रिय, सम्बन्धी, मित्र, वस्तु, सम्पत्ति आदि) पर आनेवाले संकटकी आशंकासे, कल्पनासे

या आए हुए संकटके कष्टसे मनमें जो संताप होता है उसे शोक कहते हैं। इसमें इष्ट-वियोगकी संभावना, भावी इष्ट-वियोगकी दुश्चिन्ता, ज्ञात तथा अपरिहार्य विपत्ति, स्वामी या गुरुका अपराध करनेपर उनके दण्ड या क्रोधके भयसे, अपने इष्टके रोगी होने, चोट खाने, जिस यान या भवनमें इष्ट हो उसपर विपत्ति आने या संकट पड़नेपर (जैसे उस रेलगाड़ीके उलटने या लड़नेपर जिसमें अपना इष्ट जाता हो या आता हो, इष्ट जिस नाव या पोतमें जा रहा हो उसके डूबने) या उस भवनमें आग लग जानेपर जिसमें अपना इष्ट हो, असाध्य रोगका अपने परिवारवालोंके भविष्यके लिये, दरिद्रता, जीविका या व्यापार या संपत्तिका नाश या उनके नाशकी संभावना या आशंका, इष्टनिवासमें आग, आँधी, जलप्रलय, युद्ध आक्रमण, लड़ाई-झगड़ा, महामारी, दुर्भिक्ष, व्याघ्र, सर्प आदिका उपद्रव या उनकी आशंका, व्यवहार (मुकदमे) में हारना, राजदंड, समाजदंड, अपयश, किए हुए पापके फूट जानेसे अथवा अपनी और अपने इष्टकी असफलतासे, परीक्षामें अनुत्तीर्ण होने या किसी उद्योगमें असफल होनेपर (व्यवसायमें असफलता अथवा किसी वैज्ञानिक प्रयोग या किसी साहसकार्यमें बाधा पड़नेपर), इष्टके दुर्व्यसनग्रस्त होने (जुआरी, चोर, कामी आदि होने) पर, इष्टके अपहरण किए जाने, खो जाने, साथ छूट जाने या अपने इष्टके द्वारा लोकनिन्दाका करनेपर जो मनस्ताप होता है उसीको शोक कहते हैं।

शोककी अवस्थामें निम्नलिखित मनोदशाएँ और क्रियाएँ होती हैं—आशंका, शंका, त्रास, भय, समुत्कंठा, उत्सुकता, उद्वेग, व्यग्रता, उन्माद, मूर्च्छा, प्रलाप, विलाप, आक्रोश, जड़ता, अपस्मार, उदासी, चिन्ता, दुश्चिन्ता, मनौती मनाना, गुण-स्मरण, भ्रान्ति, उन्मनता (भोजन, शयन आदि कुछ अच्छा न लगना), पश्चात्ताप, विह्वलता, साहस, धैर्य, उन्माद, अधीरता, कूद पड़ना, दौड़ पड़ना, पछाड़ खाकर गिर पड़ना, सिर या छाती पीटना, हाथ पैर पटकना, लोट-पोटकर रोना-पीटना, सान्त्वना देना, निःश्वास, अश्रुपात, कम्प, स्वेद, रोमांच, स्तम्भ, वैवर्ण्य, प्रमाद, स्वरभंग, व्याकुलता, तर्जन, क्षोभ, वैराग्य, शैथिल्य, भोजनत्याग, अनिद्रा, कातरता, भगवानकी दुहाई देना या स्मरण करना, अनशन-साधन, तथा दैन्य आदि।

४. उत्साह—

❀ असामान्य कार्यवृत्तिरुत्साहः।

[असामान्य करनी करनेकी वृत्ति कहाती है उत्साह।]

असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणाको उत्साह कहते हैं। स्पर्द्धा, हर्ष, पररक्षण, परहित, यश-प्राप्ति तथा विजयकी भावनासे मनमें जो असाधारण कार्य करनेकी प्रेरणा होती है उसे उत्साह कहते हैं। यह उत्साह चार प्रकारका होता है—स्वाभाविक, पर-प्रेरित, आकस्मिक तथा साहाय्यपुष्ट।

(क) जब कोई व्यक्ति निरन्तर सब कार्योंमें असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करे तब उसका उत्साह स्वाभाविक कहलाता है।

(ख) जब कोई व्यक्ति दूसरेके प्रेरित करनेपर तथा दूसरेके ललकारने पर असाधारण कार्य करनेकी वृत्ति प्रदर्शित करे वह परप्रेरित उत्साह कहलाता है।

(ग) जब सहसा कोई संकट पड़ जानेपर अथवा सहसा किसी अवसरपर अनायास ही साधारण मनुष्य भी असाधारण कार्य-वृत्ति दिखाता है उसे आकस्मिक उत्साह कहते हैं।

(घ) साहाय्यपुष्ट उत्साह वहाँ होता है जहाँ कोई व्यक्ति स्वयं समर्थ न होते हुए अपने पद, राज्यशक्ति, जनशक्ति अथवा मित्रोंके सहयोगके बलपर असाधारण कार्य-वृत्ति प्रदर्शित करता है।

इस उत्साहके निम्नलिखित रूप हैं—

वीरता, उदारता, आत्मत्याग, सेवा, और विजय।

अपने शरीर, सम्पत्ति, परिवार, परिजन, आश्रित मित्र, प्रजा, जातिबन्धु, देशवासी, मानवमात्र, प्राणिमात्र आदिके संरक्षणके लिये जो निर्भयता, साहस और धैर्यके साथ शारीरिक बल तथा युद्ध-कौशलका प्रयोग किया जाता है अथवा किसी बली या पराक्रमीका विरोध किया जाता है उसे वीरता कहते हैं।

उदारता—दीन, दुखी, पीड़ित, अनाथ, रोगी, निराश्रित, तथा संकटापन्न व्यक्तिको अयाचित सहायता देना अपने आश्रितोंके हितके लिये अकृपण होकर धन-संपत्ति लगाना तथा लोकहितके कार्योंमें निस्संकोच खुले मनसे दान देना या लोकहितके कार्यमें अपनी सम्पत्ति लगानेको उदारता कहते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक उदारता वहाँ होती है जहाँ कोई व्यक्ति अपने

आर्थिक सामर्थ्यके बाहर दान दे। यदि कोई लक्षपति सौ रुपया दान देदे तो वह वास्तविक उदारता नहीं कहलाती है किन्तु यदि कोई एक रुपया नित्य कमाता हो और वही कमाया हुआ रुपया किसी व्यक्तिकी सहायताके लिये या लोकहितके लिये दे दे तो वह सात्विक उदारता कहलाती है। देश, काल और पात्रका विचार करके दान देनेकी वृत्ति ही उदारता कहलाती है। जहाँ यश या पद प्राप्त करने अथवा भय या स्वार्थ साधनेकी भावनासे दान दिया जाता है वह उदारता नहीं कहलाती।

आत्मत्याग—अपने इष्ट, आश्रित, देशवासी अथवा शरणागतकी रक्षाके लिये अथवा धर्म या नैतिक सिद्धान्तके पोषणके लिये अपने प्राण, परिवार, सम्पत्ति आदिको संकटमें डालनेकी वृत्तिको आत्मत्याग कहते हैं। अपनेको या दूसरोंको कष्ट देनेवाले मनुष्यों, शासकों, अत्याचारियों, जीवों, भूत-प्रेत-राक्षसों आदिसे दूसरेको बचानेके लिये अपनेको बलिदान करनेकी वृत्ति भी आत्मत्याग ही कहलाती है।

सेवा—संकटापन्न, रोगी, दुखी, पीड़ित, अनाथ, निराश्रित तथा दीन व्यक्तियोंकी निस्संकोच होकर सेवा-सुश्रूषा करना, उन्हें भोजन-वस्त्र दिलानेका प्रबन्ध करना, उनका पोषण करना, उनकी चिकित्साकी व्यवस्था करना, मेले-ठेलेमें लोगोंका पथ-प्रदर्शन करना, डूबतेको बचाना, जलते हुए घरसे प्राणियोंको निकालना आदि कार्य करनेकी वृत्तिको सेवा-भाव कहते हैं। यह सेवा भी निःस्वार्थ और स्वार्थी दो प्रकारकी होती है। माता, पिता, गुरु तथा स्वामी आदिकी सेवामें स्वार्थ-भावना भी हो सकती है किन्तु जहाँ किसी प्रकारके प्रतिफलकी इच्छाके बिना सेवा की जाती है वही निःस्वार्थ सेवा कहलाती है।

विजय—विद्या, बुद्धि, शक्ति, कौशल, साहस आदिकी प्रतिद्वन्द्विताओंमें अपने प्रतिद्वन्द्वीको परास्त करनेकी वृत्तिको विजयोत्साह कहते हैं। यह भावना प्रतिद्वन्द्विता करनेवालोंमें ही नहीं वरन् प्रतिद्वन्द्वियोंके साथियों और पक्षपातियोंमें भी होती है। इस विजय-वृत्तिका एक दूसरा रूप भी होता है जहाँ प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती वरन् मनुष्य स्वयं किसी ऐसे काम करनेमें प्रवृत्त हो जाता है जैसा किसीने पहले कभी न किया हो। नया ग्रन्थ लिखना, हिमालयके शिखरपर चढ़ना, दक्षिणी ध्रुवतक पहुँचना, नये आविष्कार करना तपस्या करना आदि इसी विजय-भावनाके परिणाम हैं। इसमें धैर्य, शारीरिक शक्ति, बौद्धिक शक्तिका प्रदर्शन, ललकार, चुनौती, हुंकार, शस्त्रकौशल, शास्त्र-कौशल, कष्टसहन, आत्मतुष्टि, दान, रोकनेवालोंकी उपेक्षा, सहानुभूति, दया, अवज्ञा, हर्ष, उल्लास, परहितकी व्याकुलता, सहानुभूति, तर्जन, तर्क-वितर्क, शील, निर्ममता, दमन, संघर्ष, उत्पीड़न, क्षमा, धीर-वृत्ति (पराजयमें विचलित न होना), डटे रहना, आश्चर्य, सन्तोष, तन्मयता, साहस, अश्रान्ति, वीर-संदेश, प्रतिज्ञा, दृढ़ता, सर्वस्व-त्याग, निर्भयता, अलोभ, शंका, आशंका, अमर्ष, गर्व, औत्सुक्य, लालसा, कामना, कुतूहल, विश्वास, आशा, आत्मसम्मान, स्पर्द्धा, विजय आदि संचारी भाव तथा क्रियाएँ होती हैं।

५—भय

* इष्टविप्रियजन्याधैर्यं भयम्।

[इष्ट-कष्टसे जो अधीरता होती वह कहलाती भय।]

अपने इष्ट, जीविका, संपत्ति, यश, देह, आदि स्वसंबद्ध अथवा इष्टसंबद्ध जन या स्थान या, वस्तुपर आघात करनेवाले भूत-प्रेत, राक्षस, जीव, मनुष्य (चोर, डाकू, हत्यारे, दुष्ट, सेना, राजा, शत्रु), अग्नि, वर्षा, आँधी, भूकम्प आदिसे आघात होनेपर या आघातकी संभावना होनेपर या इन संभावनोंके अनिश्चय अथवा संदेहकी दशामें जो अधीरता या घबराहट होती है उसे भय कहते हैं।

इसमें व्यग्रता, कंप, स्वेद, रोमांच, भय, स्तंभ, घिग्घी बँधना, वैवर्ण्य, व्याकुलता, मूर्च्छा, गिर पड़ना, भागना, आश्रय माँगना, चिल्लाना, पुकारना आर्त्तनाद, रोना, दैन्य दिखाना, अनुनय-विनय, प्रार्थना, उत्पीडककी प्रेरणासे डरके मारे अपनी इच्छा न होते हुए भी दूसरेका अहित करनेको उद्यत हो जाना, अपनी इच्छाके विपरीत कार्य करनेको भी उद्यत हो जाना, असत्य बोलना, विषाद, चिन्ता, संदेह, आवेग, जिज्ञासा, त्रास, अमर्ष, ग्लानि, उत्कंठा, अविश्वास, भ्रान्ति, दुराशा, निराशा, आशा, आतंक, निरुत्साहिता, उदासी, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होना आदि संचारी भाव और चेष्टाएँ इसमें होती हैं।

६—क्रोध

❀ असहनावेगो क्रोधः।

[असहनका आवेग क्रोध है।]

अपना या अपने इष्टका अहित करनेवाले या अहित करनेकी इच्छा करनेवाले अथवा अपना कहना न सुनने और करनेवालेके प्रति उसकी यह अवहेलना न सहन कर सकनेके कारण मनमें जो विक्षोभ होता है उसे क्रोध कहते हैं। यह क्रोध दो प्रकारका होता है—स्वाभाविक, और अस्वाभाविक। पद या अवस्थामें अपनेसे छोटे या बराबरवाले लोगोंके प्रति जो क्रोध होता है उसे स्वाभाविक कहते हैं। बड़ोंके प्रति क्रोधको अस्वाभाविक क्रोध कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—क्षोभ (खीझ) और दुःशीलता, बढ़ बढ़ कर बोलना और जीभ लड़ाना।

दूसरोंपर अत्याचार करनेवालेके प्रति अत्याचार-निवारणार्थ जो क्रोध होता है उसे सात्विक क्रोध कहते हैं।

अपने पदके अनुसार नीतिरक्षणके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे राजस् क्रोध कहते हैं।

अपने स्वार्थके लिये अथवा निरर्थक दूसरोंको पीड़ित करनेके लिये जो क्रोध किया जाता है उसे तामस क्रोध कहते हैं।

क्रोधकी तीन अवस्थाएँ भी होती हैं—सम्मोह, सुविचारित तथा अनिद्ध। जब मनुष्य क्रोधमें अन्धा होकर कर्त्तव्या-कर्त्तव्यका विचार छोड़कर आचरण करने लगता है, उस क्रोधकी अवस्थाको सम्मोह कहते हैं। जब क्रोध होनेपर मनुष्य भली प्रकार विचारकर आचरण करता है उसे सुविचारित क्रोध कहते हैं। जब मनुष्य मनही मन क्रोध करके रह जाता है, उसने विवश होकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तब उस क्रोधकी अनिद्ध अवस्था कहलाती है।

अपना या अपने इष्टका अहित करनेवालोंके अन्तर्गत अपने शत्रु, प्रतिद्वन्द्वी अपयश करनेवाले, देशद्रोही, समाजद्रोही, धर्मद्रोही तथा अपने पुत्र, स्त्री, पशु, वाहन, संपत्ति हरण करनेवाले सभी आते हैं। इनके अतिरिक्त सामान्यतः व्यक्तिके [illegible] क्षति या वस्तुका अनिष्ट करने और [illegible] व्यक्तिके प्रति भी क्रोध होता है। अपने [illegible] [illegible], [illegible] अथवा अनुचित कर्मचारी [illegible] प्रति भी क्रोध होता है। ये सभी स्वाभाविक हैं।

किन्तु जब कोई अपने गुरुजनोंके प्रति इस बातपर रुष्ट होता है कि वे अनैतिक कार्यकी अनुज्ञा नहीं देते वहाँ क्षोभ होता है किन्तु यदि गुरुजन भी हत्या आदि दुष्कृत्य करें तो उनपर क्रोध करना स्वाभाविक ही कहलायगा।

तर्जन, ओठ और नथनों का फड़काना, भौंहें तरेरना, दुर्वचन कहना, चिल्लाना, उग्रता, डाटना, भर्त्सना, मूर्ख बनाना, व्यंग्य बोलना, जानवरोंसे उपमा देना, गाली देना, मुक्के, लात, जूते या डंडेसे मारना-पीटना, बाँधना, यातना देना, दुःशीलताका व्यवहार करना, अमर्यादित बातें कहना, दोष बखानना, दूसरेके माता-पितामें दोष निकालना, जाति-दोष दिखाना, धक्के देना, कोठरीमें बन्द करना, भोजन-पानी न देना, उठाकर पटकना, कुटिल तथा व्यंग्यपूर्ण हँसी हँसना, शंका, अविश्वास, गर्व, अमर्ष, अवज्ञा, आतंक, विरोध, भ्रान्ति, असन्तोष, वैर, ऐंठ, दूसरेको तुच्छ समझना, अपनेको सब कुछ समझना, चिढ़ना, ईर्ष्या, प्रतिहिंसा, उत्तेजित होना आदि इसके लक्षण हैं।

७—आश्चर्य

❀ कौतूहलजन्यसुखौत्सुक्यमाश्चर्यम्॥

[हो कौतूहल-जन्य भाव ही सुखकर तो आश्चर्य।]

किसी अनोखे, अद्भुत, असंभव, अश्रुतपूर्व, अदृष्टपूर्व अलौकिक या असाधारण किन्तु सुखकर व्यक्ति, वस्तु या क्रियाके सद्भाक्षात्कारसे अथवा अप्रत्याशित स्थलपर या दशामें इष्ट या परिचितका मिलन या अभिज्ञान ही आश्चर्य कहलाता है। यदि हमने सहसा जंगलमें गैंडा (शार्दूल) देख लिया तो वहाँ भय होगा आश्चर्य नहीं, किन्तु उसी गैंडेको जन्तुशालामें देखनेसे आश्चर्य होता है। अतः आश्चर्यके लिये कुतूहलजनक व्यक्ति या वस्तुका अदुःखकर होना अत्यन्त आवश्यक है।

कुतूहल, जिज्ञासा, उत्कंठा, देखते रहनेकी लालसा, उल्लास, हर्ष, सन्तोष, स्तंभ, विस्मय, आँख फाड़ना, मुँह बाना, ठोड़ीमें हाथ लगाकर चकित होकर देखना आदि इसके लक्षण हैं।

८—घृणा

❀ विप्रियत्वजन्यविरतिर्घृणा॥

[विप्रियत्वसे समुद्भूत ही विरति घृणा कहलाती।]

अप्रिय, क्रूर, कुदर्शन, कुत्सित, दुर्गन्धित, दुःश्रवण,

दुःस्पर्श, दुःस्वादु, अरुचिकर, अश्लील अभव्य तथा अशुद्ध वस्तु, व्यक्ति, स्थान तथा क्रियाके प्रति जो विराग, अरुचि, चिढ़ जुगुप्सा और ग्लानि होती है उसे घृणा कहते हैं। अपना तथा लोकका अप्रिय करनेवाले तथा समाज और नीतिसे विरुद्ध आचरण करनेवालोंसे विरति भी घृणा ही हैं। अपने शत्रु के अच्छे कामोंमें भी लोग दुर्गुण ही देखते हैं, उसका कारण-भाव घृणा ही है।

इसमें दूर रहना, बात न करना, मुँह मोड़ना, निन्दा करना, ग्लानि, त्रास, चिढ़ना, नष्ट करनेका उद्योग करना, ईर्ष्या, क्रोध, तर्जन, घृणापूर्ण हास, उदासीनता, कुढ़ना, नाक मूँदना, भागना, मौन रहना इसके लक्षण हैं।

साधारण मनुष्यकी एक और दार्शनिक या विरागकी स्थिति होती है जब उसके धन, परिवार आदिका नाश हो जाता है। इस अवस्थामें वह या तो विरक्त होकर साधु-संगति और एकान्तवास करता है या आत्मघात करता है। यह अवस्था दरिद्रता, प्रिय-द्वारा विश्वासघात तथा कुष्ठ आदि घृणित रोग होनेपर भी हो जाती है।

उन्मत्त (पागल), मद्यपी, योगी, जड़, दार्शनिक, तथा अवधूत आदि कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जिनकी मानसिक वृत्तियाँ अनिश्चित या अतिनिश्चित रहती हैं। अतः उनके लिये परिस्थितिके अनुकूल आवश्यक संवाद रचना चाहिए।

इन आठ स्थायी भावोंका और बत्तीस संचारी भावोंका यहाँ परिचय देना इसलिये आवश्यक हो गया कि नाटककारको संवाद लिखनेमें पगपगपर इनकी आवश्यकता पड़ती है और इन्हींके आधारपर संवाद-रचना और रंग-निर्देश-विधान करना पड़ता है। इनके संबंधमें हम विस्तारसे रस-प्रकरणमें विचार करेंगे।

❀ स्वाभाविककृत्रिमप्रभावकसाहित्यिकाश्च संवादाः।
[स्वाभाविक, कृत्रिम, प्रभाव-कर साहित्यिक संवाद।]

संवाद चार प्रकारसे लिखे जाते हैं—स्वाभाविक, कृत्रिम, प्रभावशाली (या भावुकतापूर्ण) और साहित्यिक। नीचे चारों रूपोंमें संवाद प्रस्तुत किए जाते हैं—

१ स्वाभाविक—

[नायिका मुँह फुलाए दूसरी ओर मुँह किए बैठी है। नायक आता है और पास पहुँचता है।]

नायक—(नायिकाके कन्धेपर हाथ रखकर] क्या बात है जी! कुछ रुष्ट हो क्या।

नायिका—मुझे न छेड़िए। मेरा जी अच्छा नहीं है।

नायक—(पास बैठकर) क्या हुआ? (नाड़ी देखनेको हाथ पकड़ते हुए देखूँ तो।

नायिका—(हाथ छुड़ाकर) छोड़िए, मुझे कुछ नहीं हुआ। (उठनेको तैयार होती है।)

(नायक हाथ पकड़ लेता है।)

नायक—तुम्हें मेरे सिरकी सौगन्ध जो तुम हँस न दो।

नायिका—(हँसकर) बस यही आपकी बात तो हमें अच्छी नहीं लगती। बात-बातमें सिरकी सौगन्ध क्यों खाते हैं।

नायक—(नायिकाकी कमरमें हाथ डालकर, ठोड़ी छूकर) अच्छा बताओ, अब रुष्ट तो नहीं हो, सच कहो।

नायिका—कह दिया नहीं, नहीं, नहीं छोड़िए भी तो। (छुड़ा लेती है।) चलिए खाना ठंडा हो रहा है।

नायक—चलिए, सेवक तैयार है।

[हाथमें हाथ डालकर दोनोंका रसोईघरकी ओर प्रस्थान]

२ कृत्रिम—

[नायिका अपने मुखपर सान्ध्य कमलकी उदासीनता लिये द्वारकी ओर अपनी पीठ करके बैठी है। नायक अपने विलम्बसे आनेके अपराधकी भावनासे भीति-गम्भीर बनकर प्रवेश करता है और शनैः शनैः नायिकाके पार्श्वतक पहुँच जाता है।]

नायक—(नायिकाके कन्धेपर हाथ रखकर) क्या हुआ प्रिये! क्या मुझ दासके किसी अक्षम्य अपराधपर आप रोषाविष्ट हो बैठी हैं?

नायिका—अपने स्पर्शसे मुझे विचलित न कीजिए। मेरा शरीर प्रकृत अवस्थामें नहीं है।

नायक—(पास बैठकर) शरीरको किस विकारने आक्रान्त किया है? (नाड़ी देखनेको हाथ पकड़ते हुए) लाओ नाड़ी-परीक्षा करके देखूँ तो।

नायिका—(हाथ छुड़ाकर) क्षमा चाहती हूँ। मेरा शरीर किसी प्रकारके विकारसे आक्रान्त नहीं है।

(उठकर जानेको प्रस्तुत होती है। नायक कर-ग्रहण करके बैठा लेता है।)

नायक—तुम्हें मेरे उत्तमांगकी शपथ है यदि तुम्हारा मुख-कमल प्रातःकालीन अरुणकी छाया लेकर विकसित न हो उठे!

नायिका—(हास-सहित) आपकी यह प्रवृत्ति मुझे विचलित कर देती है। बार बार अपने उत्तमांगकी शपथका आश्रय आप क्यों लेते हैं।

नायक—(नायिकाके कटिप्रदेशको अपने करसे आवेष्टित करके) सत्य कहना प्रिये! अब तो रोषावेशका कोई चिह्न नहीं रहा?

नायिका—आवृत्ति-पुनरावृत्ति करके मुद्रित कर रही हूँ—नहीं, नहीं, नहीं। (छुड़ा लेती है।) आइए, भोजन अपनी उष्णता परित्याग कर चुका है।

नायक—चलिए सेवक अनुगमनके लिये प्रस्तुत है। (हाथमें हाथ डालकर महानसकी ओर प्रस्थान)

३ प्रभावक—

[नायककी बाट देखते-देखते नायिका थक गई है। घर घर दिए जग उठे हैं। अबतक तो नायकको आ ही जाना चाहिए था। अब नहीं सहा जाता। नायिका मुँह फुलाकर बैठ गई है। आज आवें तो सही। नायक आता है। नायिकाकी चढ़ी हुई भौंहें और सामने दिखाई देनेवाले गालपर चढ़ाहुआ क्रोध देखते ही उसके मुँहका रंग उड़ जाता है। अपराधीकी भाँति अत्यन्त भीत तथा दीन मुद्रामें वह नायिकाके पास तक पहुँच जाता है।]

नायक—(नायिकाके कन्धेपर हाथ रखकर) आज चन्द्रमापर बादल क्यों छाए हुए हैं?

नायिका—बादल नहीं हैं, राहु है। बचे रहिएगा।

नायक—(पास बैठकर) इन्द्रका वज्र जबतक जीवित है तबतक राहुमें क्या साहस है कि इधर ताक भी सके। (नाड़ी देखनेके लिये हाथ बढ़ाकर) देखूँ तो।

नायिका—अब क्या देखिएगा? मेरे साथ नाड़ी भी छूट चुकी है।

नायक—इसीसे तो पकड़ना चाहता हूँ। मेरे [illegible] (हँसकर) नाड़ी तो ठीक चल रही है। ओ! सिरकी सौगन्ध, कहीं [illegible] नहीं है न? [illegible] [illegible] [illegible] पड़ गया।

नायिका—(हँसकर) [illegible] यह [illegible] मुझे अच्छी [illegible] बात [illegible] अपने सिरकी सौगन्ध क्यों खाते हैं। आजसे सिरकी सौगन्ध खाई तो मैं आसन पाटी लेकर पड़ जाऊँगी, सौगन्ध ले लो जो कभी मुँहसे बात भी निकालूँ या इस कोठरीमें पैर भी धरूँ।

नायक—(नायिकाकी कमरमें हाथ डालकर) अच्छा सत्य बताओ मुझपर रुष्ट तो नहीं हो? तुम रूठ जाती हो तो पैरों तलेसे धरती निकल जाती है, आकाश घूमतासा दिखाई पड़ने लगताहै, हृदय काँपने लगता है, ऐसा जान पड़ता है मानो सारी सृष्टि शून्य हो गई हो और मैं उसमें एक अकेला—अकेला खड़ा हूँ।

नायिका—यह आप क्या कह रहे हैं। मेरे रहते आप अकेले क्यों रहेंगे। मैं सच कहती हूँ मैं रूठी नहीं हूँ, तनिक भी नहीं रूठी हूँ। अपने प्राणसे, अपने आत्मासे कोई रूठ सकता है। चलिए थाली आपकी प्रतीक्षा कर रही है।

नायक—चलो, जहाँ ले चलोगी वहीं चलूँगा। तुम अरुन्धती बनो, मैं वशिष्ठ बनकर तुम्हारा सहचर बनूँगा। चलो। [हाथमें हाथ डालकर प्रस्थान]

४. साहित्यिक

[नायिका मान धारण करके खिन्नवदना होकर बैठी है। नायकका आगमन।]

नायक (नायिकाके पार्श्वमें पहुँचकर उसके स्कन्धका स्पर्श करके) आपके मुखमण्डल पर सान्ध्य अरुणिमाका अभिषेक क्यों हो रहा है देवि! आज नेत्रोंपर विराजमान इन्द्र-धनुष क्या मुझपर शरवर्षाके लिए सन्नद्ध हो रहे हैं।

नायिका—आपका स्पर्श मेरे हृदयकी ज्वालाको प्रभंजन बनकर उत्तेजित कर रहा है। मेरा शरीर अपनी प्रकृतिमें नहीं है।

नायक—(पार्श्वस्थ होकर) किस विकारने आपके शरीरमें आत्मीयता स्थापित करनेकी धृष्टता की है। (नाड़ीगति देखनेको मणिबन्ध ग्रहण करता है।) देखूँ त्रिदोषमेंसे कौन-सा दोष कुपित होनेकी तर्जना कर रहा है।

नायिका—(हाथ छुड़ाकर) क्षमा कीजिएगा, मेरा शरीर प्रकृतिस्थ है, कोई विकार उसमें आत्मीयता स्थापित करनेकी धृष्टता नहीं कर सकता। यह त्रिदोषका कोप नहीं, मनस्तापका कोप है।

[उदास गमनोद्यत। नायक कर ग्रहण करता है।]

नायक—तुम्हें मेरे सिरकी शपथ है यदि अपने मुख-कमलको हास्यसे मंडित न करो।

नायिका—(हँसकर) आपकी इस प्रगल्भतासे मैं परास्त हो जाती हूँ। प्रत्येक प्रसंगमें अपने शिरकी शपथका प्रयोग मुझे विक्षिप्त कर देता है।

नायक—(नायिकाकी कटिमें हाथ डालकर अपने हाथसे उसका मुख ऊपर उठाते हुए) मुझे आश्वासन दो नागरी कि इन सुन्दर भ्रूलताओंपर चढ़ा हुआ चाप उतर गया।

नायिका—कितनी बार आश्वासन दूँ कि वह चाप उतर ही नहीं गया, शून्यमें विलीन हो गया, लय हो गया। चलिए स्थालीपाक आपके विरहमें प्राणहीन हो रहा होगा।

नायक—दासको आज्ञा शिरोधार्य है। चलिए। [दोनोंका हाथमें हाथ डाले भोजनशालाकी ओर प्रस्थान]

ऊपर एक ही प्रसंग चार ढंगसे लिखा गया है। इनमेंसे स्वाभाविक सर्वोत्तम है, प्रभावक मध्यम है, साहित्यिक मध्यमाधम है और कृत्रिम अधम है। कुछ नाटककारोंने बलपूर्वक अपने नाटकोंके संवादमें लाक्षणिक तथा गूढव्यंग्य भाषाके प्रयोग किए हैं, वे सब त्याज्य हैं। इसलिये अभिनवभरतका मत है कि—

॥ स्वाभाविको श्रेष्ठः प्रयोजने प्रभावकोऽपि।

[स्वाभाविक संवाद श्रेष्ठ है किन्तु प्रभावक भी ले सकते ।]

अर्थात् स्वाभाविक संवाद सर्वश्रेष्ठ है किन्तु प्रभावक शैलीका भी प्रयोग उसके साथ करना चाहिए, क्योंकि स्वाभाविक शैलीमें अभिनेताको आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनय करनेका अवसर कम रहता है और जबतक अपनी अभिनय-कलाका प्रदर्शन करनेका अवसर पूर्णतः नहीं मिलता तबतक अभिनेताकी रुचि संवादमें नहीं होती, रुचि न होनेसे वह तन्मयताके साथ अभिनय नहीं करता और तन्मयताके साथ अभिनय न करनेसे नाटकका उद्दिष्ट प्रभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये नाटककारको संवाद लिखते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें किस स्थलको शुद्ध स्वाभाविक रक्खा जाय और किस स्थलको प्रभावक बना दिया जाय। करुण, वीरतापूर्ण, रौद्र और भयानक प्रसंगोंमें तथा उन्मत्त और प्रमत्तके प्रलापोंमें इस प्रभावक शैलीका प्रयोग अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। शृंगार, हास्य, अद्भुत तथा बीभत्समें स्वाभाविक शैलीका ही प्रयोग अभीष्ट है।

पीछे हम संवादके भाषा तत्त्वका निरूपण करते हुए कह आए हैं कि यदि नाटककार विभिन्न प्रदेशके व्यक्तियोंका समावेश करता है तो नाटककारको अपने संवादका वाक्य-विन्यास करना तो चाहिए उसी भाषामें जिस भाषामें नाटक लिखा गया हो किन्तु उनका उच्चारण और वाक्यस्वरत्व (वाक्य कहनेका ढंग) इस प्रकार विकृत कर देना चाहिए कि अर्थ समझनेमें भी बाधा भी न हो और जिस देशका पात्र है उस देशके उच्चारण और ध्वनिसे पात्रके देश और उसकी विशेषता व्यक्त हो सके। एक वाक्य लीजिए—

'मैं लक्ष्मीजीका दर्शन करके लौट रहा हूँ।'

इसे पंजाबी कहेगा—

मैं लछमीजीका दरसण करके लौट हा ऊँ।

बंगाली इसीको कहेगा—

हाम लोक्खीजीका दोरशोन कोरके लोट राहा हाय।

यहाँ शब्दविकारसे वक्ताके देशका परिचय भी मिल जाता है और अर्थ समझनेमें भी बाधा नहीं होती।

यही ध्यान विभिन्न मर्यादाके पात्रोंके संवादमें रखना चाहिए। एक साधारण अपढ़ श्रमिक और सभ्य नागरिककी बातें लीजिए—

नागरिक—बताओ कितना लोगे।

श्रमिक—जो मिल जाय सरकार।

नागरिक—काम तुमने किया है, जो ठीक हो वह बताओ।

श्रमिक—बस आप ही जो ठीक समझिए, दे दीजिए।

इस बातचीतसे यह निष्कर्ष निकला कि कुशल विद्या-सम्पन्न व्यक्ति भी जब अपढ़ लोगोंसे बातचीत करता है तो अपनी भाषा सरल कर लेता है।

कुछ नाटककारोंका यह मत है कि यदि एक ही देशके विभिन्न प्रदेशोंके लोग नाटकमें एकत्र किए जायँ तो उनसे प्रादेशिक बोलियाँ बुलवाई जायँ। अभिनवभरत इससे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि प्रादेशिक बोलियोंमें अनेक शब्द या प्रयोग ऐसे होते हैं जो एक ही देशके लोग भी परस्पर नहीं समझते अतः—

॥ इष्टं सर्वबोध्यभाषाप्रयोगः।

[सर्व-बोध्य भाषा प्रयोग ही इष्ट होगा।]

देश भरमें जिन शब्दोंका तथा जिस भाषाका व्यापक प्रयोग होता हो और जिसे सब साधारणतया समझते हों

उन्हींका प्रयोग नाटकमें करना चाहिए, प्रादेशिक भाषाओं का या प्रादेशिक शब्दोंका नहीं।

❀ प्रादेशिके सति व्याख्या कर्त्तव्या।

[यदि प्रादेशिक इष्ट हो, व्याख्या करो तुरंत।]

किन्तु यदि प्रादेशिक भाषा इष्ट ही हो तो उसका प्रयोग करके कूटार्थ शब्दोंके प्रयोगके समान ही तत्काल या अवसर देखकर उसकी व्याख्या कर देनी चाहिए। इस सबका निष्कर्ष यह है—

❀ पात्रानुरूपा वाक्।

[वाणी होवे पात्रोंके अनुरूप।]

जैसा पात्र हो उसकी योग्यता, संस्कार, शिक्षा, संगति, पद तथा मातृ-भाषासे प्रभावित उसकी वाणी नाटककी भाषाका संस्कृत या विकृत उच्चारण रूप हो।

❀ वैविध्यं समवेतोत्तरे॥

[एक साथ जो उत्तर हों उनमें विभिन्नता हो हीं।]

प्रायः यह देखा गया है कि जहाँ कहीं किसी एक प्रश्नके उत्तरमें अथवा किसी विशेष परिस्थितिमें एक साथ कई श्रेणीके व्यक्ति बोलते दिखाए जाते हैं वहाँ उनसे एक ही प्रकारके शब्द कहलाए जाते हैं जैसे—

[राजा मूर्च्छित होते हैं।]

मन्त्री, सेनापति, रानी—(एक साथ) क्या हुआ महाराज !

अथवा—

राजा—आप लोगोंकी क्या सम्मति है ?

सब सरदार—हम लोगोंको लड़ना चाहिए।

उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें यह आवश्यक नहीं है कि मन्त्री, सेनापति और रानी तीनों मिलकर यही वाक्य कहें—'क्या हुआ महाराज ?' संभावना, पद और स्वाभाविकताके नाते अधिक उचित यह है कि मन्त्री कहे—'महा राज मूर्च्छित हो रहे हैं, वैद्यको बुलवाइए'; सेनापति यह कहे—'जान पड़ता है मूर्च्छा आ रही है'; और रानी कहे—'अरे यह क्या ! क्या हुआ आर्यपुत्र !' संभवतः सभी देशके नाटककार इस बात का अनुभव तो करते होंगे, किन्तु उनके पास कोई ऐसा साधन नहीं था कि लिखित नाटकमें तीन प्रकारके वाक्य एक साथ बुलवानेका संकेत हो सकता। किन्तु योरोपके वर्त्तमान नाटककारोंने ऐसा विधान किया है। जौर्ज बर्नर्ड शौने अपने 'यू नेवर कैन टेल्' (तुम कभी नहीं बता सकते) नामक नाटकके प्रथम अंकमें ऐसी परिस्थितिको इस प्रकार अंकित किया है—

श्रीमती क्लैंडन- डौली फ़िलप-	सब एक साथ	-तुम्हारा तत्पर्य क्या है। -बताओ तो तुम्हें हुआ क्या है, बताओ ?
ग्लोरिया— श्रीमती क्लैंडन- फिलिप—	सब साथही चिल्ला उठते हैं।	उसे स्वीकार कर लिया। -डौली। -ओह ! मैं कहता हूँ।

इस प्रकार एक परिस्थितिकी विभिन्न प्रतिक्रियाके फल-स्वरूप विभिन्न व्यक्ति स्वाभाविक रूपसे एक साथ भिन्न उत्तर देते हैं।

किन्तु कभी कभी कुछ उत्तर एक साथ भी हो सकते हैं जैसे—

राजा—तुम लोगोंमेंसे कौन युद्धमें जानेको प्रस्तुत हैं।

सब—हम सब प्रस्तुत हैं।

कभी कभी जयजयकारके समय या समवेत पुकार करते समय या नारे लगाते समय एक साथ एक ही बात कही जा सकती है जिसमें चाहे समवेत स्वरसे सभी एक साथ एक ही बात कहें अथवा एक बातका एक अंश एक व्यक्ति कहे—'महाराजकी' और शेष व्यक्ति एक साथ कह उठें 'जय'।

इन सब परिस्थितियोंमें नाटककारको स्वयं विचार कर लेना चाहिए कि समवेत उत्तर अथवा वक्तव्यमें किस प्रकार भिन्न रूपसे या एक रूपसे क्या बात कहलाई जाय।

❀ एकपीठे बहुव्यापारप्रयोगः।

[एक पीठपर साथ बहुत व्यापार।]

अभिनवभरतने अपने देवता नाटकमें एकही दृश्यमें कई दृश्यपीठ या व्यापारस्थल देकर उनपर एक साथ कई कई व्यापार कराए हैं किन्तु उनमें किसी प्रकारका संवाद-संघर्ष नहीं होता और कई स्थलोंकी घटनाएँ एक साथ गुँथी चली जाती हैं। इसके लिये अभिनवभरतने विभिन्न स्थलोंके लिये १, २, ३, ४, अंकोंका निर्देश किया है और एक साथ दो स्तम्भोंमें विभिन्न स्थानोंके व्यापार और संवाद दे दिए हैं जैसे 'देवता'के प्रथम अंकमें—

समय—सन्ध्या

[दूरपर समयसूचक सात घंटे बजते हैं। परदा उठता है। देवशंकरके वासस्थानपर मायाके बी० ए० परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके उपलक्ष्यमें सुहृज्जलपानका आयोजन किया गया है। मायाकी कई सखियाँ १ संख्यक स्थानपर जलपान कर रही हैं। मायाके भाई जटाशंकर २ संख्यक स्थानपर पुरुष अतिथियोंका आतिथ्य-सत्कार कर रहे हैं। इन अतिथियोंमें ६ तथा ८ संख्यक घरमें रहनेवाले नये पड़ोसी वसन्तलाल और 'रजनी'के सम्पादक, संवाददाता तथा प्रकाशक गदाधर भट्ट भी हैं। वसन्तलालकी पुत्री मोहिनीको भी निमन्त्रण मिला है। पीछे मन्द मधुर वाद्य चल रहा है। मोहिनी ८ संख्यक स्थानसे उतरकर १ संख्यक स्थानपर पहुँचती है।]

समवेत अभिनय

स्थान १

माया—(मोहिनीका परिचय कराते हुए) इनका नाम है मोहिनी। ये हमारे नये पड़ोसी वसन्तलालजीकी कन्या है। यहीं कन्या-पाठशालामें पढ़नेवाली हैं।

मोहिनी—(सबकी ओर आँखें घुमाकर हाथ जोड़ती है।) नमस्कार। (बैठ जाती है)

[माया सबके गिलासोंमें जल डालती है, बाहर झाँकती है, ९ संख्यक स्थानतक दौड़ जाती है। शान्ता बहनका स्वागत करके अपने साथ

स्थान २

[जटाशंकर भोजन परोस रहा है—

जटा० (संपादकजीके पास पहुँचकर) संपादकजी संकोच न कीजिएगा।

गदाधर—संकोच क्यों करूँगा ? (केला मुँहमें भरते हुए) ब्राह्मण होकर संकोच करना और वह भी भोजनमें ? यह ब्राह्मणत्वका अपमान करना है। हाँ, (वसन्तलालकी ओर इंगित करके) इनका परिचय तो आपने दिया ही नहीं।

जटा०—ये हैं श्री वसन्तलालजी ! अभी थोड़े दिनोंसे यहाँ आए हैं। वह, सामनेवाले घरमें रहते हैं।

वसन्त०—(अपने जूठे हाथोंकी हथेली मिलाकर उँगलियाँ अलग करके) नमस्कार। (जटाशंकरकी ओर देखकर गदाधरका परिचय पूछते हुए) और आप ?

जटा०—आप रजनीके संपादक, संवाददाता और प्रकाशक सब कुछ हैं।

वसन्त०—इतना सब काम आप अकेले कर लेते हैं ?

गदा०—जी हाँ, आप हिन्दीकी संपादन-कला नहीं जानते। अक्षर जोड़नेसे लेकर पत्र बाँटने तकका सब काम संपादकको आना चाहिए। समय पड़नेपर उसे झाड़ू भी लगानी पड़ सकती है। और सस्ता कितना ? महीनों आप काम देखनेके बहाने उसे जोत सकते हैं, फिर सूखे भूखेका प्रलोभन देकर उसे फँसाए रख सकते हैं और यदि आप पत्र-संचालक हों तो बचे हुए समयमें आप उससे अपने बच्चे भी पढ़वा सकते हैं।

२ संख्यक स्थान के पासमें होती हुई

१ संख्यक स्थान तक ले आती है।

माया—ये हैं मेरी गुरुजी शान्ता बहन। इन्हींकी कृपासे मैं इतना पढ़ पाई हूँ।

[सब खड़ी होकर हाथ जोड़ती हैं।]

शान्ता—(मायाके गालपर स्नेह-चपेटा लगाकर) चल! मेरी क्या कृपा है। यह तो तेरे परिश्रमका फल है।

माया—बैठिए (बैठाकर जलपानकी सामग्री आगे रखती है।)

शान्ता—अरे इतना!

माया—अभीसे इतना! अभी और ला रही हूँ।

(जलपान कर चुकनेपर)

माया—चलिए और लोगोंसे भी आपका परिचय करा दूँ। (सब उठती हैं। मोहिनीसे) आना फिर।

मोहिनी—जी हाँ आऊँगी। (सब जाती हैं)

शान्ता—(मोहिनीकी ओर इंगित करके) इस कन्याको मैंने कहीं बड़ोदेमें देखा है।

वसन्त—और आपको भी यह सब करना पड़ता है।

गदा—यह सब न करें तो निकाल न दिए जायँ।

वसन्त (सहसा मायाके साथ शान्ता बहनको १ संख्यक स्थान की ओर आते देखकर) क्षमा कीजिएगा। कुछ जी सा घबरा रहा है। (उत्तरकी प्रतीक्षा किए बिना ही उठकर झटपट पग बढ़ाकर ७ से चढ़कर ६ संख्यक स्थानमें प्रवेश करके ८ में चला जाता है।)

जटा०—क्या बात हुई?

गदा०—भोजनमें तो कोई ऐसी वस्तु थी ही नहीं कि जी घबरा दे। होगा कुछ, कौन जाने।

[सब भोजन करते रहते हैं। इतनेमें कनु भाई अंग्रेजी महिलाका-सा वेष बनाकर, रंगीन छतरी लगाए हुए आता है और

२ संख्यक स्थानपर पहुँच जाता है सब उसे महिला समझकर खड़े हो जाते हैं।]

आदि

इसका नाट्यप्रयोग विश्वमें पहले पहल अभिनव-भरतने अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनके बम्बई अधिवेशन (दिसम्बर १९४७) में 'देवता' नाटक खेलकर किया था। इसमें विभिन्न स्थलोंपर चलनेवाले संवादों और व्यापारोंका ऐसा कौशलपूर्ण मेल किया गया है कि जितनी देरतक एक स्थानमें संवाद होता है उतनी देरतक अन्य स्थानोंमें कुछ मौन व्यापार या क्रिया होती है जिससे किसी प्रकारका संवाद-संघर्ष नहीं होता। इसे एकदृश्यात्मक-बहुस्थल-बहुव्यापारीय नाटक (मोनोसेटिंग-मल्टीस्पोलमल्टी ऐक्शन-प्ले) कहते हैं। इसका ग्रथन वही नाटककार कर सकता है जो नाट्यशास्त्रका पंडित हो और रंगशालाके समस्त भेद जानता हो।

ॐ नाट्यकृत्स्वातन्त्र्यं संवादे।

[नाट्यकारको है स्वतन्त्रता संवादोंके रूपमें।]

कुछ आचार्योंका मत है कि नाटकके अमुक भावमें अमुक बात ही पात्रसे कहलाई जानी चाहिए किन्तु अभिनव-भरतका मत है कि नाटककारको इस प्रकार किसी नियममें बाँधना अत्यन्त अनुचित है क्योंकि एक-सी भाव-दशामें विभिन्न परिस्थितियों, संस्कारों तथा देशाचारोंके अनुसार वाचिक प्रतिक्रिया अनेक रूपसे व्यक्त हो सकती है। इसलिये केवल

इस दृष्टिसे संवाद-ग्रथन करना चाहिए कि वह संवाद उस विशेष परिस्थितिमें स्वाभाविक तथा आवश्यक प्रतीत हो और उसके द्वारा नाट्यकार-द्वारा इष्ट प्रभाव उत्पन्न किया जा सके। नाटककारको संवाद-शैलीमें नियमबद्ध कर देनेसे एक बड़ी हानि यह भी होगी कि नाट्यका साहित्यिक विकास तथा काव्यात्मक विलास रुक जायगा, उसमें नीरसता आ जायगी और बँधी हुई उक्तियोंमें रचे हुए नाटक अत्यन्त अभव्य लगने लगेंगे।

संवादके संबंधमें इतना विचार पर्याप्त होगा। आगे हम रंग-निर्देशपर विचार करके नाट्यमें कविता और गीतके समावेशकी विवेचना करेंगे।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीताराम-विरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचना-खण्डे संवाद-योजना-प्रकरणे काव्यतत्त्वं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

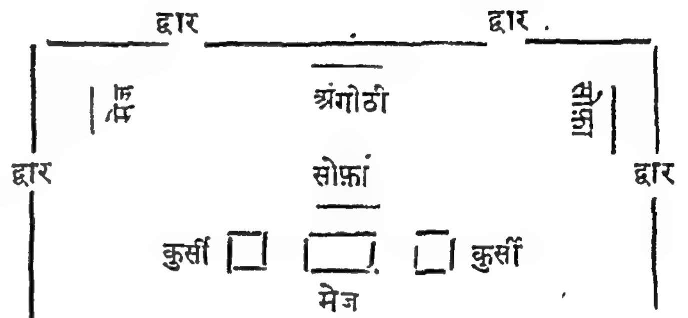
रंगनिर्देश

❀ अभिनय-रंगालोक-संगीत-नेपथ्य-कर्मार्थे रंगनिर्देशः ।

[अभिनय, रंग, प्रकाश और संगीत, तथा नेपथ्य कर्म।
इनके प्रबन्धकोंको देना निर्देश नाट्यका परम धर्म ॥]

पीछे कहा जा चुका है कि भाषाका प्रयोग नाटकमें सम्वाद और रङ्गनिर्देश दो कार्योंके लिये होता है। ये रङ्ग-निर्देश अभिनय, रङ्गव्यवस्था, प्रकाशव्यवस्था संगीत-व्यवस्था तथा नेपथ्यव्यवस्थाके लिये होता है। आजकल बहुतसे नाटककारोंकी प्रवृत्ति बहुत लम्बे-लम्बे रङ्गनिर्देश देनेकी है जिससे वे रङ्गपीठपर उपस्थित किए जानेवाले दृश्यपीठों तथा अन्य पदार्थोंका इतना विस्तृत विवरण देते हैं कि उससे रङ्ग-व्यवस्थापकका हाथ बहुत बँध जाता है और कभी कभी तो यह अवस्था होती है कि उस विस्तृत सामग्रीसे डरकर लोग नाटक ही नहीं खेलते। अतः रङ्गनिर्देशका सर्वप्रथम सिद्धान्त यह है कि अभिनयके लिये केवल उन्हीं बातोंका निर्देश किया जाय जो नाटकीय कथा-प्रवाहके लिये, रस और भावका प्रभाव बढ़ानेके लिये तथा आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनयके द्वारा पात्रोंके चरित्रों और व्यापारोंको विकसित करनेमें अभिनेताकी सहायता दें।

योरपके बहुतसे नाट्याचार्योंने रङ्गनिर्देशके साथ रेखाचित्र या रङ्गपीठका मानचित्र देनेका भी विधान चलाया है जिससे वे रंगपीठपर प्रस्तुत की जानेवाली सब वस्तुओंका तथा प्रवेश और निष्क्रमणके विभिन्न द्वारोंका भी निर्देश कर देते हैं जैसे निम्नलिखित मान-चित्रमें जो अभिनवभरतके 'अपराधी' नामक एकांकी नाटकके लिये बनाया गया था—



ऐसा मानचित्र प्रायः उन एकाङ्की नाटकोंके साथ दिया जाने लगा है जिनमें एक ही दृश्य हो और वह दृश्य भी किसी भवनके विशेष कक्षमें हो। इस प्रकारके नाटकोंको ही योरपवालोंने 'ड्राइंग-रूम प्लेज़' या 'बैठकबाज़े नाटक' कहना प्रारम्भ किया है। इस प्रकारके मानचित्र साधारण विद्यालयों तथा नाट्यमण्डलियोंके लिये बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इनमें जो इस प्रकारके निर्देश दिए जाते हैं—

"अमुक दाहने द्वारसे निकल जाता है। अमुक पीछेके मध्य द्वारसे आकर दाहिने द्वारसे निकलनेका प्रयत्न करता है" आदि—

ये अभिनेताओं और नाट्य-प्रयोक्ताओंके लिये बड़े सहायक होते हैं किन्तु वर्तमान सामाजिक नाटककारोंने जो लम्बे-चौड़े वर्णनात्मक रंगनिर्देश दिए हैं वे न तो रंग-व्यवस्थापकके ही लिये बहुत सहायक हो सकते हैं और न उनसे नाटकके प्रयोगमें ही बहुत सहायता मिल सकती है जैसे जॉर्ज बर्नर्ड शॉके 'सीज़र एँड

क्लिओपैट्रा' (सोज़र और क्लिओपात्रा) में प्रथम अंकके प्रथम दृश्यमें रंग-विधान तथा अभिनयका निर्देश—

[वैसा ही अन्धकार है जिसमें 'रा' देवताका मंदिर और सुरियाका महल लुप्त हो जाता है। वैसी ही शान्ति। शून्य। धीरे धीरे कालिमा और नीरवता, रजत कुहासे और विचित्र पवनोंमें परिवर्त्तित हो जाती हैं और वहाँका वायु, मैमनौनकी मधुर ध्वनिको छिपते हुए चन्द्रके प्रकाशमें फैला देती है। समीर उस मरुभूमिपर फैल जाता है और दूरपर विस्तृत क्षितिज स्पष्ट होने लगता है। उस क्षितिजकी रेखाके बीच मरुभूमिमें ऊँचे मंचपर विराजमान एक विशाल मूर्त्ति स्फिन्क्स-प्रतिमाके रूपमें व्यक्त होती है। प्रकाश और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है यहाँतक कि उस मूर्त्तिकी उठी हुई आँखें स्पष्ट रूपसे ठीक सामने और ऊपर अपरिमित निर्भय सजगताके रूपमें देखती हुई स्पष्ट होती हैं। उसके विशाल पंजोंके बीचमें लाल रंगका एक ढेर दिखाई देता है और उस लाल पौपीके ढेरपर एक कन्या शान्त लेटी हुई है। उसकी रेशमी कुर्त्ती स्वप्न-हीन निद्रालु साँसोंके साथ कोमलतासे क्रमशः उठती-गिरती हैं और उसके गुँथे हुए बाल ज्योत्स्नाके प्रकाशमें पक्षीके पंखोंके समान चमक उठते हैं।

सहसा दूरसे अस्पष्ट भयानक ध्वनि सुनाई पड़ती है (संभवतः यह किसी मिनोतौरकी गरज होगी जो दूर होनेके कारण मन्द प्रतीत होती है) और मैमनौनका संगीत बन्द हो जाता है। नीरवता। तीव्र स्वरवाली भेरी (बिगुल) की मन्द ध्वनिके पश्चात् शान्ति। एक मनुष्य दक्षिणकी ओरसे पंजोंके बल चोरकी भांति प्रवेश करता है। रात्रिकी रहस्यपूर्णतासे आकुल तथा आश्चर्यान्वित होता हुआ रुक जाता है और स्फिन्क्सके बाईं ओर खड़ा होकर कुछ सोचने लगता है। उसके हृदयके भाव उसके विशाल कंधोंके कारण छिप जाते हैं।]

उपर्युक्त रंगनिर्देश विस्तृत, अस्पष्ट, काव्यमय, भावमय, अस्वाभाविक तथा रंगमंचकी प्रकृतिके विरुद्ध हो गया है। जान पड़ता है कि नाटककार किसी उपन्यासकी दृश्य-योजना प्रस्तुत कर रहा है, नाटककी नहीं। इसमें रंग-व्यवस्थापक प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-व्यवस्थापक, नेपथ्य विधायक तथा अभिनेताके लिये केवल इतना ही पर्याप्त होता—

[शान्तिपूर्ण अन्धकार। धीरे धीरे अत्यन्त मन्द प्रकाश होता है। मैमनौनके तंबूरेकी मधुर ध्वनि। धीरे धीरे प्रकाश बढ़ता जाता है और मरुभूमिमें ऊपर उठी हुई सजग आँखोंवाली स्फिन्क्सकी मूर्ति दिखाई देने लगती है जिसके विशाल अगले पंजोंके बीच लाल पौपीके ढेरपर एक कन्या सोई हुई है जिसकी साँससे उसकी रेशमी कुर्त्ती हिल रही है और उसके बाल प्रकाशमें चमक रहे हैं।

सहसा दूरसे किसी भयावने जीवकी भयानक ध्वनि सुनाई पड़ती है। संगीत बन्द। दूरपर एक भेरी (बिगुल) की ध्वनि। दाहनी ओरसे एक व्यक्ति पंजोंके बल प्रवेश करता है, रुक जाता है, स्फिन्क्सके बाईं ओर खड़ा होकर सोचने लगता है।]

शौके समान ही इब्सनने भी अपने नाटकमें इसी प्रकारके लंबे-चौड़े रंगनिर्देश दिए हैं—अपने 'हेडा गैब्लर' नाटकके प्रथम अंकके प्रारंभमें वह लिखता है—

[सुन्दर और कलात्मक ढंगसे सजाई हुई एक लंबी-चौड़ी बैठक, जो गहरे रंगोंमें रँगी हुई है। पीछे एक चौड़ा द्वार जिसमें पीछेकी ओर पर्दे पड़े हुए हैं और जिसके पीछे एक छोटासा सुन्दर कमरा आगेवाली बैठकके ढंगसे ही सजा हुआ है। सामनेवाले कमरेके दाएँ हाथवाली दीवारमें मुड़नेवाले कपाटोंका द्वार है जो बड़े कमरेकी ओर खुलता है। उसके सम्मुखवाली दीवारपर बाईं ओर एक काँचके किवाड़ोंका द्वार है जिसमें भीतरकी ओर पर्दे पड़े हुए हैं। काँचमेंसे बाहरका बरामदा तथा पतझड़के समयकी पत्तियोंसे ढके हुए पेड़ दिखाई पड़ते हैं। एक अंडाकार मेज़ आगे ही रक्खी हुई है। उसपर चादर बिछी है। उसके चारों ओर कुर्सियाँ रक्खी हुई हैं। सामने दाईं ओरकी दीवारके पास काली चीनी मिट्टीकी बनी हुई एक चौड़ी अँगीठी रक्खी हुई है जिसके आगे एक ऊँचे पीठकी आरामकुर्सी, गद्देदार पावदान और दो चौकियाँ, एक लंबी पीठवाली बेंच, एक कुर्सी, उसके आगे छोटी गोल मेज़ पीछेकी ओरके दाएँ हाथके कोनेमें रक्खी है। सामने बाईं ओर दीवारसे हटकर एक सोफ़ा और काँचके द्वारसे कुछ पीछेकी ओर एक प्यानो रक्खा है। द्वारके दोनों ओर दीवारसे लगी हुई और अनेक प्रकारकी सजावटोंसे लदी हुई टाँटें हैं। भीतरके कमरेकी पीछेवाली दीवारके साथ एक सोफ़ा और उसके आगे एक मेज़ और एक दो कुर्सियाँ हैं।

सोफ़ेके ऊपर भव्य सेनापतिके वेशमें एक भव्य वृद्ध मनुष्य-का चित्र टँगा हुआ है। मेज़के ऊपर एक दूधिया रंगके काँचकी ढाँपसे ढका हुआ लटकन-दीप लटक रहा है। बैठकमें स्थान स्थानपर बहुतसे काँच और पीतलके फूल-दानोंमें फूलोंके गुच्छे सजाए हुए हैं। दोनों कमरोंमें नीचे पृथ्वीपर क़ालीन बिछे हुए हैं। प्रातःकालका प्रकाश काँचके द्वारसे सूर्य भीतर झाँकता है।

कुमारी जूलिना टैस्मैन सिरपर टोप लगाए हाथमें पार्सल लिए हुए मध्य भागकी ओरसे आती है। उसके पीछे पीछे कागजमें लिपटा हुआ फूलदान लिए हुए बेस्टा चली आ रही है।]

इस रंगनिर्देशको देखकर स्पष्ट हो जायगा कि जो नाटककार समस्त विश्वके मानवोंके व्यक्ति-स्वातंत्र्यकी रक्षाके लिये युद्ध करता है वही नाटककार रंगाध्यक्षकी स्वतन्त्रताका अपहरण करके उसे अपने जटिल रंगनिर्देशमें उलझाए रखनेके लिये कितना सजग है। उपर्युक्त रंगनिर्देशमें केवल वस्तुओं तथा द्वारोंकी ही विस्तृत सूची नहीं है वरन् उन सब वस्तुओंके रंग, रूप और आकारकी भी व्याख्या है। साधारण नाट्य-समाजके लिये इतनी वस्तुओंका प्रदर्शन तो दूर रहा, उनका संकलन करना भी कठिन है। यदि इन रंगोंसे युक्त वस्तुओंकी इस व्याख्यासे नाटकीय व्यापारमें कोई विशेषता आ जाती तब भी एक बात थी किन्तु यहाँ ऐसी भी कोई बात नहीं है। अतः अभिनव-भरतका मत है—

* रंगनिर्देशस्तु नाट्य-व्यापार-सहायक-सज्जा-संकेतः ॥

[नाट्यकार्य-अनुकूल सरल सज्जाका है संकेत निर्देश।]

इसका तात्पर्य यह है कि नाट्यमें जो व्यापार जिस परिस्थितिमें दिखलाया जानेवाला हो उस परिस्थितिके अनुकूल रंगपीठ-पर सामग्रियोंका संकलन करके उद्दिष्ट प्रकारसे सजानेके आडंबरहीन शब्द-संकेत या निर्देशको ही रंगनिर्देश कहते हैं। अभिनवभरतने अपनी 'अलका' नाटि-काके प्रथम अंकके प्रथम दृश्यमें इसी प्रकारका रंगनिर्देश दिया है—

स्थान—यक्ष हेममालीका भवन

समय—प्रातःकाल

[गोल द्वारपर अशोक किशलय और पारिजातके फूलोंकी वन्दनवार टँगी है। कर्णिकारकी शाखाएँ कलात्मक ढंगसे सजाई गई हैं। स्थान-स्थान पर शंख और पद्म अंकित हैं। दो स्फटिक शिलाएँ द्वारके दोनों ओर पीठासन बनाकर लगाई हुई हैं।]

इसमें सजावटके ढंगका कुल कौशल रंग-व्यवस्थापक-की रुचि, कौशल तथा सुविधापर छोड़ दिया गया है। संसारके वर्तमान प्रसिद्ध नाटककारोंमें गाल्सवर्दी एक ऐसा नाटककार है, जिसके रंगनिर्देश शॉ या इब्सनके समान जटिल नहीं होते। उसकी भी एक अपनी सरलता है। अपने 'दि सिल्वर बौक्स' (चाँदीका डब्बा) नाटकके प्रथम अंकके द्वितीय दृश्यके प्रारम्भमें वह लिखता है—

"बार्थ्विककी पाकशालामें—

[जैक अभी पड़ा सो रहा है। पर्दोंके बीचसे प्रातःकालका प्रकाश आ रहा है। साढ़े आठ बज गए हैं। फुर्तीला युवक ह्वीलर हाथमें कूड़ेकी टोकरी लिए हुए प्रवेश करता है और श्रीमती जोन्स धीरे धीरे कोयलेका तसला लिए हुए प्रवेश करती हैं।]

इसका यह अर्थ नहीं है कि गाल्सवर्दीने सभी स्थानोंपर इसी सरलताका निर्वाह किया है। कहीं कहीं वह भी शॉ और इब्सनके समान रंगनिर्देशमें अतिशय जटिल और उदार हो गया है जैसे 'विन्डोज़' (खिड़कियाँ) नाटकमें—

प्रथम अंक—[मार्च महोदयका भोजनालय—जिसकी फ्रांसीसी खिड़कियाँ उन उपवनोंमेंसे एककी ओर खुली हुई हैं जो निःसीम प्रतीत होते हैं क्योंकि दूरतक ऐकेशियस और सुमैक्स नामक झाड़ोंकी मोटी ओट दूसरे मकानका दृष्टिपथ रोक रहे हैं। उस कमरेकी बाहरी दीवार फ्रांसीसी तथा दूसरे प्रकारकी खिड़कियोंसे ही भरी हुई है और उनके तथा पेड़ोंकी झुरमुटके बीचका अन्तर श्रीमान् और श्रीमती मार्चके चरित्रोंका अन्तर है जिनके बीच मेंगे और जौनी बिन्दु और रेखाके रूपमें आकर पड़े हुए हैं। उदाहरणके लिये इसका रूप तो श्रीमती मार्चने दिया है किन्तु श्रीमान् मार्चने अभी घास नहीं काटी है और वहाँ पर बहुतसे डेफोडिल उग आए हैं जो श्रीमती मार्च अपनी भोजन-शालाके शृंगारके लिये चाहती हैं किन्तु जिसके विषयमें श्रीमान् मार्च कहते हैं—ईश्वरके लिये ज़रा उन्हें उगने तो दो। इसलिये इनमेंसे आधेके लगभग तो जलपानकी मेज़पर चौड़े फूलदानमें लगे हुए हैं और शेष

आधे अभीतक घासके बीचमें हैं जो चिरगृहस्थीके लिये आवश्यक संधिके रूपमें हैं। एकेशियाके झाड़के तले एक गद्दा पड़ा हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि मैरी यहाँ पर उस सूर्यके प्रकाशकी ओर आँखें गड़ाकर लेटती है जो वृक्षोंके बीचसे छनकर आ रहा है। लम्बी घासके बीचमेंसे एक मार्ग है जिसके किनारे सिगरेटके टुकड़े लगे हुए हैं, जो यह सिद्ध करता है कि जौनी इधर पृथ्वीकी ओर या तारोंकी ओर देखता हुआ चलता है। पर यह सब तो इधर-उधरकी बातें हैं क्योंकि एक दो गज खिड़कीसे बाहर निकले हुए छज्जेके अतिरिक्त यह सब पीछेके कपड़ेपर चित्रित किया हुआ है। मार्च परिवार अभी कलेवा करके गया है। गोल मेज़ नीली चादरसे ढकी हुई है और उसके ऊपर सात डलियोंमें भरा हुआ सामान रक्खा है। उस कमरेमें पुरानी ओककी लकड़ीका बना सामान है। एक द्वार है जो रंगपीठके बाईं ओर आगेको है। रंगपीठको दाईं ओर एक अँगीठी है जिसमें आग जल रही है और उसके आगे एक ऊँची आड़ लगी हुई है जिसके ऊपर कोई बैठ भी सकता है। बीचमें अँगीठीके नीचे दीवारमें एक ढकनेसे ढकी हुई झिंगी बनी हुई है जिसमेंसे तश्तरियाँ इत्यादि पीछेके कमरेमें सरकाई जा सकती हैं। दीवारके सहारे रंगपीठकी बाईं ओर ओककी बनी हुई पुरानी सिंगारपेटी रक्खी हुई है और एक छोटी सी लिखनेवाली मेज़ पीछेके बाएँ कोनेको ओर रक्खी है। श्रीमती मार्च अब भी कहवेके बर्तनके पीछे बैठी हुई अपनी कलाईमें बँधी हुई सुनहरी पेंसिलसे अपनी नित्यकी वस्तुओंकी सूची एक कागज़पर लिख रही हैं।] इत्यादि।

इस प्रकारका निरर्थक, आडम्बरपूर्ण तथा अनपेक्षित रंगनिर्देश देना अत्यन्त निषिद्ध है।

संस्कृत नाटकोंमें केवल प्रवेश और निष्क्रमणका तो रंगनिर्देश होता था, शेष दृश्य-विधानका वर्णन पात्र-द्वारा ही हो जाता था क्योंकि उन दिनों दृश्यका वर्णन भी चित्राभिनय द्वारा हो जाता था। अपने प्रसिद्ध अभिज्ञान-शाकुन्तलके प्रसिद्ध चतुर्थ अंकके प्रारंभमें कालिदास केवल इतना रंगनिर्देश देते हैं—

ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ।
[फूल चुननेका नाट्य करती हुई दोनों सखियाँ प्रवेश करती हैं]

इसी अंकमें विष्कम्भक समाप्त होते ही चन्द्रके अस्त होने और सूर्यके निकलनेके दृश्यके साथ नाट्य-व्यापार प्रारंभ होता है और उसका वर्णन शिष्य कर देता है। उसी वर्णनको आजका रंग-व्यवस्थापक तथा प्रकाश-व्यवस्थापक चाहे तो तदनुकूल दृश्यविधान तथा प्रकाश-विधानके लिये प्रयोग कर सकता है। कालिदासने लिखा है—

[ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः]

शिष्यः—वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन कण्वेन। प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति [परिक्रम्यावलोक्य च] हन्त प्रभातम्। तथा हि—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना—
मविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजो द्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥

[सोकर उठे हुए एक शिष्यका प्रवेश]

शिष्य—बाहरसे लौटे हुए पूज्य कण्वने मुझे यह देखनेको कहा है कि अभी कितनी रात रह गई है। इसलिये चलूँ बाहर चलकर देखूँ। (घूमकर और देखकर) अरे यह तो दिन निकल आया। क्योंकि एक ओर ओषधियोंके पति चन्द्रमा अस्ताचलको चले जा रहे हैं और दूसरी ओर अपने सारथी अरुणको आगे किए हुए सूर्य निकल रहे हैं। इन दो तेजस्वियोंका एक साथ उदय और अस्त देखकर संसारको यही शिक्षा मिलती है कि दुःखके पीछे सुख और सुखके पीछे दुःख लगा ही रहता है।]

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें उर्वशीके विरहमें व्याकुल राजा सामने बादल, बिजली, जंगली सूअर, पर्वत, नदी, हाथी, मृग, रक्ताशोक, मृग, कोकिल, हंस, भौंरा और चकवा देखता है और उनको संबोधन करके उनका वर्णन करता जाता है पर वास्तवमें रंगपीठपर कुछ भी नहीं है। इसीलिये केवल इतना कहनेसे ही नाटककारका काम चल गया—

[ततः प्रविशति आकाशबद्धलक्ष्यः उन्मत्तवेषो राजा।]

[आकाशकी ओर एकटक देखते हुए राजाका प्रवेश।]

उन दिनों भारतीय रंगपीठपर दृश्यपीठोंके द्वारा रंग-सज्जा करनेका विधान नहीं था इसीलिये रंग-व्यवस्थापकके लिये बहुत बड़े रंगनिर्देश नहीं होते थे।

शेक्सपियरने भी अपने नाटकोंकी रंगव्यवस्थाके लिये निर्देश अत्यन्त सूक्ष्म ही रक्खे हैं। अपने 'दि टेम्पेस्ट' (झंझा) नामक नाटकके प्रारंभमें वह केवल इतना ही लिखता है—

"दृश्य १- समुद्रमें जलपोतपर। बादलकी कड़क और बिजलीकी चमकके साथ आँधी।"

शेष क्या सजावट करनी चाहिए यह रंग-व्यवस्थापकके लिये छोड़ दिया गया है। यही ठीक भी है।

रंगव्यवस्थाके लिये जो निर्देश दिए जायँ वे अत्यन्त, सरल भाषामें अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे दिए जायँ जिससे नाटकीय व्यापारके प्रसारमें अपेक्षित सहायता मिले और जिसमें रंगव्यवस्थापककी इतनी स्वतन्त्रता भी रहे कि वह अपनी सुविधाके अनुसार रंगपीठको नाटकीय व्यापारके अनुरूप सजा सके।

आजकल कुछ ऐसे नाटक भी चले हैं जिनमें दो, तीन या अधिक अंक तो होते हैं किन्तु वे सब एक ही स्थानपर दिखाए जाते हैं जैसे इब्सनके 'दि डौल्स हाउस' (गुड़ियोंका घर) 'पिलर्स औफ़ सोसाइटी' (समाजके स्तम्भ) और 'हेडा गेब्लर' में, किन्तु इन नाटकोंके रचयिताओंने कभी कभी इस दृश्य-विधानमें प्रस्तुत दृश्यके साथ उसके पीछेका दृश्य दिखलानेका जो संकेत किया है वह व्यवसायिक नाटकोंके लिये भले ही सुविधाजनक हो किन्तु अव्यावसायिक नाट्यसमितियोंके लिये अत्यन्त कष्टकर होता है। इब्सनने अपने 'लोकशत्रु' (ऐन एनिमी औफ़ दि पीपिल) नामक नाटकमें सम्पादकीय कार्यालयके पीछे मुद्रण-भवनका दृश्य दिखानेका निर्देश देकर दृश्य-विधान जटिल बना दिया है यद्यपि नेपथ्य-निर्देशसे भी उसका काम चल सकता था। नीचे उक्त नाटकके तृतीय अंकके दृश्य-विधानको देखकर यह स्पष्ट हो जायगा कि कार्यालयके पीछेका दृश्य कितना अनावश्यक है और रंग-व्यवस्थापकके लिये कितनी कठिनाई उत्पन्न करेगा—

[लोकदूत (पीपिल्स मैसेंजर) पत्रका सम्पादकीय कार्यालय। प्रवेश-द्वार पिछली दीवारके बाईं ओर है। दाईं ओर काँचके किवाड़ोंका द्वार है जिसमेंसे पीछेका मुद्रण-भवन दिखाई देता है। दाईं ओरकी दीवारमें दूसरा द्वार है। कमरेके मध्यमें एक बहुत बड़ी मेज़ है जिसपर बहुतसे कागज, समाचार-पत्र और पुस्तकें बिखरी पड़ी हैं। मेजके आगे बांई ओर एक खिड़की है जिसके आगे एक डेस्क और ऊँचा स्टूल रक्खा हुआ है। एक जोड़ी आराम कुर्सियाँ दीवारसे लगी रक्खी हुई हैं। कमरा सील और दुर्गन्धसे भरा तथा कष्टदायक है। सामान पुराना है, कुर्सियाँ टूटा-फूटी हैं। मुद्रण-भवनमें अक्षर-जुड़ैये (कंपोजिटर) काम कर रहे हैं और एक मुद्रक हथटेकपर बैठा कुछ लिख रहा है। दाईं ओरसे डा० स्टौकमानकी पुस्ती (पांडुलिपि) हाथमें लिए हुए विलिंगका प्रवेश]

इस दृश्यमें सामने बीचमें बड़ी मेज़के होते हुए और उस कागज, समाचारपत्र आदिका ढेर होते हुए भी नाटककार यह चाहता है कि पीछे मुद्रणशालामें छापनेवाले और अक्षर-जोड़नेवाले अपना काम करते दिखाई पड़ें। यदि नाटककार केवल इतना ही रंगनिर्देश कर देता—'लोकदूत समाचार-पत्रका कार्यालय' तो इतना ही पर्याप्त होता। रंग-व्यवस्थापक स्वयं सब प्रकारकी व्यवस्था अपनी सुविधाके अनुसार कर लेता। इसलिये अभिनव-भरतका मत है—

ॐ सौविध्यकरो रंगनिर्देशो कार्यः।

[सबको सुविधा देनेवाला, करो रंग-निर्देश।]

रंगनिर्देश इतना सरल किन्तु इतना पूर्ण हो कि किसी प्रकारकी नाट्यसमितिके लिये भी उसके अनुरूप रंग-व्यवस्था करनेमें कठिनाई न हो।

जहाँ नाटककार एक नाटकमें कई दृश्योंका विधान करता है वहाँ उसे इस प्रकार रंगनिर्देश करना चाहिए अर्थात् दृश्यक्रम ऐसा रखना चाहिए कि एक दृश्य यदि गहरा अर्थात् रंगपीठके पीछेतक सजा हुआ हो तो दूसरा दृश्य इतने आगे हो कि परदा डालकर तीसरे दृश्यके लिये पीछे सजावट की जा सके और दूसरे दृश्यमें इतना संवाद भी होना चाहिए कि तीसरे दृश्यको सजानेके लिये समय भी मिल जाय। इसके लिये नाटककारको यह ध्यान रखना चाहिए कि रंगपीठ-पर भारी भरकम वस्तुएँ—बड़ी चौकी, छापेकी मशीन आदि रखनेका निर्देश नहीं करना चाहिए और यदि ऐसी वस्तुएँ मंचपर मँगाई भी जायँ तो आगेके दृश्योंके लिये ऐसा रंगनिर्देश भी कर देना चाहिए कि वे ही वस्तुएँ उलट पलट कर, विभिन्न कपड़ोंसे ढक देनेपर

फिर काम आ सकें, उन्हें मंचपरसे हटाना न पड़े। क्योंकि मंचके दोनों पार्श्वोंमें अभिनेता, प्रेरक, रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक तथा कभी-कभी संगीतवालोंका भी जमघट बना रहता है जिससे मंचकी भारी सामग्री उठाने-रखनेमें बाधा होती है।

साधारण रंगमंचके अतिरिक्त चक्रिल रंगमंच (रिवौल्विंग स्टेज) पर तो तीन गहरे दृश्य भी एक साथ लगाए जा सकते हैं अतः उनमें कोई कठिनाई नहीं होती। उन मंचोंके लिये विशेषतः लिखे हुए नाटकोंमें तो असुविधा नहीं होती किन्तु यदि साधारण रंगपीठोंपर वे नाटक खेले जायँ तो निश्चित असुविधा होगी। इसलिये नाटककारको नाटकोंका ग्रथन ऐसा करना चाहिए कि सर्वसाधारणको भी उसका प्रयोग करनेमें कठिनाई न हो।

आजकल रंग-व्यवस्थापकोंकी सुविधाके लिये नाटककारोंने या तो कई अंकोंका पूरा नाटक एक ही स्थानपर होता दिखाया है जैसे अभिनवभरतके 'विश्वास' नाटकमें अथवा अलग अलग पूरे अंक ही अलग-अलग स्थानोंमें दिखाए गए हैं। इससे रंग-व्यवस्थापकको यह सुविधा हो गई है कि वह एक अंकके लिये भली भाँति दृश्य सजा सकता है और दो अंकोंके बीचकी विश्राम-अवधिमें दूसरे अंकके लिये रंग-संस्कार कर सकता है।

❀ त्रिधा रंग-निर्देशाः। पीठ-नेपथ्योपादानानि॥

[तीन ढंगके रंग-निर्देश, मंच, पृष्ठ या उपादान।]

रङ्ग-व्यवस्थापकोंके लिये दिए हुए ये निर्देश तीन प्रकारके होते हैं—एकमें तो यह निर्देश किया जाता है कि रंगपीठपर दृश्य खुलनेसे पूर्व रंगव्यवस्थापकको कैसे दृश्य-पीठ लगाने चाहिएँ, किस प्रकारकी सजावट होनी चाहिए, कितने प्रकारके पीठासनों तथा अन्य पदार्थोंको किस प्रकारसे रंगपीठपर स्थापित करना चाहिए। इसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं।

दूसरे प्रकारके निर्देश वे हैं जिसमें नेपथ्यसे परदा उठने या गिरने, बदलने, आँधी, पानी, वर्षा आदिकी व्यवस्था करनेका निर्देश होता है। अर्थात् इन निर्देशोंमें दो बातोंका निर्देश किया जाता है कि परदा कब उठे या गिरेगा और नाटककी आवश्यकताके अनुसार नेपथ्यसे कौन कौनसी वस्तुओं या प्रभावोंकी व्यवस्था हो।

लिये उन सब उपादानोंका प्रबन्ध करनेका निर्देश होता है जो दृश्यके भीतर नेपथ्यसे प्रकट किए जाने वाले हों जैसे—(पीछेसे) कोलाहल, घण्टानाद, ऊँटका स्वर आकाश-वाणी, आदि। इन्हींके अन्तर्गत वे बातें भी समझनी चाहिएँ जिनका रंगनिर्देश स्पष्ट रूपसे रंग-व्यवस्थापकके लिये नहीं किया जाता किन्तु उसे भी रंग-व्यवस्थापकके हेतु निर्देशके अन्तर्गत ही समझना चाहिए जैसे—मनोहर भीतर जाकर एक लोटा जल लाता है। भीतरसे ढाल, तलवार कलश, फूल-माला, आरतीकी सामग्री अथवा अन्य पदार्थ लाता है।

यद्यपि यह निर्देश अभिनेताके ही लिये किया गया है किन्तु यह रंगव्यवस्थापकका काम है कि वह उक्त सब पदार्थ ऐसे सुविधाजनक स्थान पर रक्खे कि वे अभिनेताको भीतर आते ही सुविधापूर्वक प्राप्त हो सकें। अभिनवभरतने अपने महाकवि कालिदास नाटकके अन्तमें अलग नेपथ्य-व्यवस्थापकके लिये दृश्य क्रमसे इस प्रकारके निर्देश दे दिए हैं—

प्रथम दृश्य—श्रीधर, विचित्रशक्ति और मकणके प्रस्थानके पूर्व नेपथ्यमें तीन बार घण्टा बजता है टन्, टन् टन्।

पाँचवा दृश्य—कालिदासके भीतर जाते ही देरतक वृक्ष काटनेकी ध्वनि होती है।

द्वितीय अंक, पंचम दृश्य—चोर-चोरका शब्द और ऊँटकी बोली।

तृतीय अंक, द्वितीय दृश्य—श्वान, शृगाल आदिके शब्द पुष्पवर्षा। आदि

अतः रंगव्यवस्थापकके लिये जो निर्देश दिए जायँ वे बड़े स्पष्ट और सीधी भाषामें हों। इधर बहुतसे नाटककारोंने रंग-निर्देशमें भी रहस्यवाद घुसेड़ना प्रारम्भ किया है जैसे एक नाटककार लिखते हैं—"उस कमरेमें एक चारपाई पड़ी थी विधवाकी करुण आहके समान, एक मोढ़ा पड़ा था किसी जर्जर वृद्धको अन्तिम साँसका संकेत देता हुआ और एक कोनेमें रक्खा हुआ था एक घड़ा सांख्य पुरुषके समान"।

इस प्रकारके रंग-निर्देश निरर्थक और निष्प्रयोजन होते हैं। रंगव्यवस्थापक अपने दर्शकोंको खटिया बिछाकर भी यह कैसे विश्वास दिला सकता है कि विधवाकी करुण आह ऐसी होती है, मोढ़ेमेंसे जर्जर वृद्धकी अन्तिम साँस निकल रही है या कोनेमें रक्खा हुआ घड़ा महदादि सृष्टि

देकर एक

ओर शून्यमें निर्लिप्त होकर बैठा है। ये सब दार्शनिक और भावात्मक उद्गार काव्यके लिये बहुत अच्छे हैं किन्तु रंगनिर्देशकी दृष्टिसे बहुत ही भ्रामक और निषिद्ध हैं। यदि इसके बदले नाटककार लिखता—"कमरेमें एक सूनी टूटी चारपाई पड़ी है, अत्यन्त जीर्ण और टूटा हुआ मोढ़ा पड़ा हुआ है और कोनेमें रीता घड़ा रक्खा है" तो रंग-व्यवस्थापककी समझमें भी सब कुछ आ सकता था। और दर्शकोंको भी। अंतः नाटककारको अपनी सब काव्य-शक्ति सम्वादमें लगा देनी चाहिए, रंग-निर्देशमें नहीं।

❀ जीवजन्त्वग्नि-विस्फोटकाण्ड-निर्देशो निषिद्धः।

[जीव, अग्नि विस्फोटक वस्तु निषिद्ध।]

इसी रंग-निर्देशके संबंधमें नाटककारको यह स्मरण रखना चाहिए कि रंगपीठपर सर्प, वानर, श्वान, बिल्ली, सिंह आदि जीव-जन्तु, प्रज्वलित अग्नि अथवा विस्फोटक पदार्थोंको लानेका निर्देश नहीं देना चाहिए क्योंकि सर्प, सिंह आदि भय उत्पन्न कर सकते हैं और छूट जानेपर उपद्रव कर सकते हैं, अग्नि और विस्फोटक पदार्थसे अनेक दुष्कांड हो सकते हैं। हाँ, यदि इन्द्रजालके द्वारा अग्नि कांड दिखाया जाय तब निषेध नहीं है। पालतू जीवोंके मंचपर आने। नाटकमें दर्शकोंका मन नहीं लगेगा, वे इन्हीं जीवोंकी लीला देखते रह जायँगे। इस प्रकारके प्रयोगसे कई बार अनेक स्थानोंपर अत्यन्त भीषण दुर्घटनाएं घट चुकी हैं अतः ऐसे सब पदार्थोंका त्याग ही श्रेयस्कर है।

अभिनेताओंके लिये रङ्ग-निर्देश

❀ पंचधाभिनय-निर्देशः। क्रिया-सत्त्व-भाव-व्यापार-स्वर-वाक्यानुसारतः

[पाँच ढंगके हैं अभिनय-निर्देश।
क्रिया, सत्व, व्यापार, भाव, स्वर, वाक्य।]

अभिनेताओंके लिये जो रंगनिर्देश दिए जाते हैं वे पाँच प्रकारके होते हैं—

एक वे जिनमें क्रिया या व्यापारका निर्देश किया जाता है जैसे—"वह आता है, जाता है, उठता है, घूमता है, मारता है, बैठता है, लेटता है, अंगड़ाई लेता है, लाठी उठाता है, अमुक वस्तु उठाता है आदि।

२. दूसरे निर्देश वे हैं जिनमें अभिनेताओंको सात्विक अभिनयके लिये निर्देश दिए जाते हैं जैसे—विस्मयके साथ, हँसते हुए, सिसकियाँ लेते हुए, क्रोधसे इत्यादि।

३. तीसरे वे हैं जिनमें भावोंके साथ साथ विशिष्ट प्रकारकी चेष्टाओंके लिये भी निर्देश दिए जाते हैं। जैसे—'खिड़कीमेंसे झाँककर घृणा, द्वेष रोष, और विस्मयके भाव प्रकट करता है और फिर जड़की भाँति आँखें फाड़कर उधर देखता रह जाता है'। ऐसे निर्देशोंमें क्रिया और भाव दोनोंके निर्देशोंका सम्मिश्रण रहता है।

४. चौथे प्रकारके निर्देश वे हैं जिनमें केवल स्वर-संबंधी निर्देश होते हैं जैसे—बराते हुए, कानाफूसी करते हुए, बड़े ऊँचे स्वरमें चिल्लाकर कराहते हुए अथवा गुनगुनाते हुए।

५. पाँचवें प्रकारके निर्देश वे हैं जिनमें संकेत या आंगिक चेष्टाओंके द्वारा वाक्यकी व्यंजना करनेका निर्देश किया जाता है जैसे अभिनव-भरतके 'अजन्ता' नाटकमें—

राजकुमारी—(पिंडोलसे) पिताजी इधर ही चले आ रहे हैं।

पिंडोल—(मुँहमें पान भरे होनेके कारण इस प्रकार चेष्टा करता है मानो यह पूछ रहा हो कि किधरसे आते हैं (ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ ?

इसी प्रकारके निर्देश गूंगोंके लिये भी किए जाते हैं। इन निर्देशोंमें वह वाक्य भी दे दिया जाता है जिसका भाव चेष्टाओंके द्वारा व्यक्त कराना हो।

अभिनय-निर्देशके संबंधमें भी बर्नर्ड शौने एक नई निर्देशयुक्त संवाद-शैली चलाई है जिनमें एक एक वाक्य पर क्रियाओं और चेष्टाओंका अत्यन्त विशद विवरण रहता है यद्यपि कहीं कहीं, विशेषतः लम्बे संवादोंमें, इस प्रकारके निर्देशसे अभिनेताको अपनी कला दिखानेका अवसर मिल जाता है किन्तु यह प्रणाली भी इसलिये मान्य नहीं है कि इसमें अभिनेताको स्वयं अनुभूतिके अनुसार वाक्याभिनय करनेकी स्वतन्त्रता नहीं रह जाती। इस शैलीका परिचय बर्नर्ड शौके 'विधुरोंके घर' (विडोअर्स हाउस) के तृतीय अंकके प्रथम दृश्यमें मिल सकेगा—

[लिकचीज़— (प्रसन्नतासे) क्या वह नहीं जानती थी कि तुम यह करोगे ?

सार्टोरियस—(स्वाध्याय-शालाके द्वारपर कोनेमें) आपके पश्चात् श्रीमान् जी ?

(कोकेन आदरसे सिर झुकाता है और स्वाध्यायशाला-में प्रवेश करना चाहता है।)

लिकचीज़—(द्वारपर सार्टोरियससे अलग) मेरे जैसा प्रबन्धक मनुष्य तुम्हें कभी मिला न होगा।

सार्टोरियस—(वह चकचक करता हुआ स्वाध्यायशाला में प्रवेश करता है और पीछे पीछे सार्टोरियस।)

(ट्रेंच अकेला बैठा हुआ चारों ओर देखता है और ध्यानसे थोड़ी देर सुनता है, तब वह पंजोंके बल पियानो वाद्यके पास पहुँच जाता है और अपने दोनों हाथ मिलाकर उसपर सिर रख लेता है और ध्यानपूर्वक ब्लांकेका चित्र देखता है। ब्लांके स्वयं स्वाध्यायशालाके द्वारपर आ जाती है। ट्रेंचकी मुद्रा देखकर वह धीरेसे द्वार बन्द करके उसके पास तक पहुँच जाती है और उसे ध्यानसे देखती है। वह सिर उठाता है, आलेमेंसे चित्र उठा लेता है और उसे चूमना चाहता है। किन्तु ज्योंही वह यह देखनेके लिये सिर घुमाता है कि कोई उसे देख तो नहीं रहा है त्योंही ब्लांके पीछे खड़ी मिलती है। वह चित्र हाथसे छोड़ देता है और ब्लांकेकी ओर देखने लगता है।)

ब्लांके—(कड़ियाँपनके साथ) हूँ! तो तुम यहाँ फिर आ गए! तुमने फिर इस घरमें प्रवेश करनेकी नीचता की। (ट्रेंच घबरा जाता है। वह एक पग पीछे हटता है। ब्लांके भी उसके साथ ही बढ़ती है।) तुम कैसे नीच मनुष्य हो जी! तुम चले क्यों नहीं जाते। (लज्जासे,लाल और पराजित हुआसा वह शीघ्रतासे मेज़परसे अपना हैट उठाने का प्रयत्न करता है किन्तु जब वह द्वारकी ओर बढ़ता है तो ब्लांके जानबूझकर उसका द्वार रोककर खड़ी हो जाती है।) मैं नहीं चाहती कि तुम यहाँ रुको। (कुछ क्षण तक दोनों आमने-सामने खड़े होते हैं और ब्लांके कुछ नई पाशविक उत्तेजनाके साथ ट्रेंचको भड़काती हुई, ताना देती हुई, तिरस्कृत करती हुई उसे अपनी ओर बढ़नेको निमन्त्रित सी करती है। सहसा ट्रेंचके मनमें यह भाव आता है कि यह सब क्रिया भयानक वासनायुक्त है और इस बहाने ब्लांके अपना प्रेम प्रदर्शित करना चाह रही है। उसकी आँखें चमक उठती हैं और उसके मुखकी ओरपर लाल सीका भाव प्रकट होता है किन्तु वह उदासीनताका भाव व्यक्त करते हुए अपनी कुर्सीपर सीधे चला जाता है और अपने हाथ बाँधकर बैठ जाता है। ब्लांके भी उसके पीछे-पीछे आती है।) पर, हाँ, एक बात तो मैं भूल ही गई थी। तुम्हें यह भी पता चल गया है कि यहाँ तुम कुछ रुपया भी कमा सकते हो। लिकचीज़ने तुमसे कहा होगा और तुम, तुम इतने उदासीन और इतने स्वतन्त्र बनते हो कि तुम मेरे पिताजीसे कुछ भी लेनेको तैयार नहीं थे। (प्रत्येक वाक्यके पश्चात् वह यह देखनेके लिये ठहर जाती है कि मैंने किस प्रकार मार्मिक वाक्य-प्रहार किया है।) मैं समझती हूँ कि तुम मुझे इस बातके लिये सहमत करने यहाँ आए होगे कि दोनोंसे मित्रता करलो जाय—उनके भवनोंको फिरसे बनवाकर······बड़ी उदारताका काम है, हूँ! क्यों? (ट्रेंच स्थिर भावसे खड़ा रहता है और किसी प्रकारका भाव व्यक्त नहीं करता।) हाँ जब मेरे पिताजी तुमसे यह करायँगे और जब लिकचीज उसे लाभदायक व्यापार बनानेका उपाय ढूँढ़ लेगा। मैं अपने पिताजीको जानती हूँ और तुम्हें भी और इसीलिये तुम यहाँ आते हो? इस घर में—जहाँ आनेका तुम्हें निषेध है—जहाँसे तुम निकाल दिए गए थे। (ट्रेंचका मुँह काला-सा पड़ जाता है और ज्यों ही वह देखती है त्यों ही उसकी आँखें चमक उठती हैं) अच्छा तो तुम्हें यह बात स्मरण है। तुम समझ रहे हो कि यह सत्य है। तुम 'ना' नहीं कर सकते। (वह बैठ जाती है और अपना स्वर धीमा तथा कोमल करती हुई उसपर कृपा दिखानेका नाट्य करती है।) तो मैं तुम्हें बतला देना चाहती हूँ कि तुम्हारी बड़ी दयनीय स्थिति है हैरी! (हैरी शब्द सुनकर अपने हाथोंके बन्धन ढीले कर देता है और प्रत्याशित विजयकी एक धुँधली सी मुसकान उसके मुखपर छा जाती है।) और तिसपर भी तुम सभ्य बनते हो, कुलीन भी बनते हो, इतने प्रतिष्ठित लोगोंके सम्बन्धी भी और विशेष रूपसे यह भी दिखा देना चाहते हो कि तुम्हारे पास कहाँसे रुपया आता है—आश्चर्य होता है तुमपर। मैं तो समझती थी कि तुम्हारे प्रतिष्ठित कुलने तुम्हें और कुछ न सही तो कमसे-कम आत्म-सम्मानकी भावना तो दी ही होगी। सम्भवतः इस समय तुम अपनेको भलेमानुस समझ रहे होगे। (कोई उत्तर नहीं) तो मैं तुम्हें स्पष्ट बता देना चाहती हूँ कि तुम तनिक भी भलेमानुस नहीं लग रहे हो। तुम अत्यन्त ओछे भाँड़ जान पड़ते हो। ऐसे,जैसा कोई मूर्ख जड़ हो। तुम्हें न तो यह ज्ञान है कि क्या कहना चाहिए और न

यही कि क्या करना चाहिए। पर हाँ, यह भी मैं समझती हूँ कि इस प्रकारका अशिष्ट व्यवहार करके कोई अपना बचाव करे भी किन शब्दोंसे! (वह आँखें गड़ाकर ट्रेंचकी ओर देखती है और वह भी अपने ओठ इस प्रकार सिकोड़ लेता है मानो सीटी बजानेवाला हो। इससे वह चिढ़ जाती है और नम्र होनेका नाट्य करती हैं।) मुझे भय है कि तुम्हारा मार्ग रोक रही हूँ डा० ट्रेंच। (वह खड़ी हो जाती है।) मैं तुम्हारी स्वतन्त्रतामें और अधिक बाधा नहीं देना चाहती! तुम तो इतने निश्चिन्त दिखाई दे रहे हो कि मैं तुम्हें अकेला छोड़नेके लिये क्षमा-याचना करनेकी भी आवश्यकता नहीं समझती। (वह द्वारपर जानेका बहाना करती है पर वह टससे मस नहीं हुआ। इसपर वह लौटती है और उसकी कुर्सीके पीछे आकर खड़ी हो जाती है) हैरी! मैं तुमसे एक प्रश्नका उत्तर चाहती हूँ। (अत्यन्त आत्मीयतासे उसके ऊपर झुक जाती है।) मेरी ओर देखो तो। (कोई उत्तर नहीं) सुन रहे हो? (उसके दोनों गाल पकड़कर उसका सिर अपनी ओर घुमा लेती हैं) मेरे मुँहकी ओर देखो। (वह अपनी आँखें बन्द कर लेता है और मुँह बिचकाता है। वह उसके पास सहसा घुटने टककर अपनी छाती उसके कंधेसे सटाकर बैठती है।) हैरी! अभी अभी जब तुम सोचते थे कि तुम अकेले हो तब मेरा चित्र लेकर क्या कर रहे थे? (ट्रेंच अपनी प्रसन्नताभरी आँखें खोल देता है। ब्लांके उसके गलेमें हाथ डालकर गाढ़ आलिंगन करती है और अत्यन्त कोमलताके साथ कहती है) मेरी किसी भी वस्तुको छूनेका तुमने किस प्रकार साहस किया? (स्वाध्यायशालाका द्वार खुलता है और कुछ स्वर सुनाई पड़ते हैं।)

ट्रेंच—सुनो कोई आ रहा है।

(एक छलांगमें ही ब्लांके अपनी कुर्सीको यथासंभव पीछे घसीटकर उसपर बैठ जाती है। कोकेन, लिकचीज़ और सार्टोरियस स्वाध्यायशालामेंसे आते हैं। सार्टोरियस और लिकचीज़ ट्रेंचके पास आते हैं। कोकेन, ब्लांकेके पाससे चिढ़ानेका भाव प्रकट करते हुए निकल जाता है।)

उपर्युक्त संवाद अत्यन्त जटिल मनोवेगों, अनुभावों तथा चेष्टाओंका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है किन्तु ऐसे संवादोंमें भी कुछ शब्द-कार्पण्यसे काम लिया जा सकता था। इस संबंधमें संस्कृतके नाटककारोंने—विशेषतः कालिदासने—जिस संयम और विवेकसे काम लिया है वह सबके लिये अनुकरणीय होगा इसीलिये हम कालिदासके तीनों नाटकोंमें प्रयुक्त कुछ अभिनय-निर्देश नीचे दे रहे हैं जिनसे यह ज्ञात होगा कि महाकवि कालिदासने अभिनेताको कितनी स्वतन्त्रता दी है और कितना आवश्यक मात्र निर्देश दिया है।—

प्रविशति—भीतर आता है।
सस्मितम्—मुस्कराकर
सविनयम्—नम्रतासे
कर्णं दत्त्वा—सुनती हुई
निष्क्रान्तः—बाहर चला जाता है
अवलोक्य—देखकर
सविस्मयम्—आश्चर्यसे
रथवेगं निरूप्य—रथका वेग देखकर
सहर्षम्—प्रसन्नतासे
शरसंधानं नाट्यति—धनुषपर बाण चढ़ानेका अभिनय करता है।
आकर्ण्य—सुनकर
ससंभ्रमम्—घबराहटके साथ
रथं स्थापयति—रथ रोकता है।
हस्तमुद्यम्य—हाथ उठाकर
सप्रणामम्—प्रणाम करके
स्तोकमन्तरं गत्वा—कुछ दूर चलकर
अवतीर्य—उतरकर
परिक्रम्य—घूमकर
विलोकयन्स्थितः—देखता हुआ खड़ा रहता है।
वृक्षसेचनं रूपयति—वृक्ष सींचनेका नाट्य करता है।
शिथिलयति—(चोली) ढीली करती है।
अग्रतोऽवलोक्य—सामने देखकर
सस्पृहम्—चाहके साथ।
पदान्तरे स्थित्वा सदृष्टिक्षेपम्—वहाँसे हटकर खड़ी होकर आँखें ऊपर उठाकर देखती हुई।
सत्वरमुपसृत्य—झटसे आगे बढ़कर।
अभिमुखो भूत्वा—उसकी ओर मुँह करके।
उपविशति—बैठता है
आत्मगतम्—मनमें
प्रकाशम्—सुनाकर

निरुध्य—रोककर
निःश्वस्य—लंबी साँस भरकर
दंडकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः—डंडेके सहारे खड़ा होता है
प्रणम्य—प्रणाम करके
उपेत्य—पास जाकर
विहस्य—हसकर
उपगम्य—पास पहुँचकर
आसनादुत्थाय—आसनसे उठकर
अपवार्य—ओट करके
विचिन्त्य—सोचकर
सगर्वम्—अभिमानसे
सखेदं परिक्रम्य—उदासीके साथ घूमकर।
उपवीज्य सस्नेहम्—स्नेहके साथ पंखा झलकर!
वाचयति—बाँचती है।
अभ्युत्थातुमिच्छति—स्वागतके लिये उठना चाहती है।
सलज्जा तिष्ठति लजाती हुई बैठती है।
बलादेनां निवर्त्तयति—बलपूर्वक उसे लौटाता है।
मुखमस्याः समुन्नतयितुमिच्छति—उसका मुँह ऊपर उठाना चाहता है।
शकुन्तला परिहरति नाट्येन—शकुन्तला नाट्य-कौशलसे मुँह फेरती है।
पदान्तरे स्खलितं निरूप्य—पैरमें ठोकर लगी समझकर।
पुष्पोच्चयं रूपयति—पुष्प चुननेका नाट्य करती है!
आश्लिष्य—गले लगाकर।
परिक्रामन्ति – घूमती हैं।
पर्याकुलास्तिष्ठति—व्याकुल होते हैं।
हस्तमुरसि कृत्वा—हृदयपर हाथ रखकर।
नासूयम्—चिढ़के साथ।
भीता वेपते—डरके मारे काँपती है।
ताडयित्वा—पीटकर।
भीति नाटितकेन—भयका नाट्य करते हुए।
चूतांकुरं क्षिपति—आमकी मंजरी फेंकती है।
ध्यात्वा—सोचकर।
प्रविश्य पत्रहस्ता—हाथमें पत्र लिए प्रवेश करके।
मोहमुपगतः—मूर्छित हो जाता है।
-कोपने।
रथाधिरोहणं नाटयति–रथपर चढ़नेका नाट्य करता है।
बालकमुपलालयन्—बच्चेको प्यार करते हुए।
क्रीडनकमादत्ते—खिलौना देती है।
सबहुमानम्—बड़े आदरके साथ।
सख्यः परिष्वजन्ते—सखियाँ गले मिलती हैं।
हस्तौ स्पृशतः—हाथ मिलाते हैं।
त्रासं रूपयित्वा – भयका नाट्य करके।
ग्रहणं नाटयति—पकड़नेका नाट्य करता है। आदि।

प्रकाश-व्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देश

❀ रसभावोद्दीपकालोकः कार्यः।

[हो प्रकाश रस भाव आदिका ही उद्दीपक।]

भारतीय या पाश्चात्य नाटकोंमें पहले प्रकाश-व्यवस्थाके लिये निर्देश नहीं होते थे। जो होते थे वे इतने तक ही परिमित थे—'रात्रिका समय, घना अन्धकार, हाथमें दीपक लिए हुए एक वृद्धाका प्रवेश।' अथवा 'प्रातःकाल का समय है।' या 'सध्याके झुटपुटेका समय।' प्रकाश-विधानमें विविधिता उत्पन्न करनेके साधन भी अधिक नहीं थे इसलिये प्रकाशसे नाटकीय प्रभावमें योग देनेकी बात उस समय उठ भी नहीं सकती थी किन्तु जबसे रंगशाला-में बिजलीका प्रयोग होने लगा तबसे प्रकाश-विधान भी रंग-व्यवस्था और नाट्य-प्रभावका अत्यन्त विशिष्ट तथा आवश्यक अंग माना जाने लगा है और रंगालोकता (स्टेज-लाइटिंग) एक अलग कला ही मान ली गई है और रस तथा भावके अनुकूल रंगीन प्रकाश डालकर प्रभाव उत्पन्न किया जाने लगा है। इसीलिये आजकलके नाटक-कार अपने नाटकोंमें प्रकाशका भी निर्देश कर देते हैं जैसे अभिनवभरतने अपने उत्तर कालिदासमें कर दिया है—

[प्रथम अङ्क-प्रथम दृश्य—श्वेत प्रकाश कालिदासके प्रवेशके साथ पूर्ण अन्धकार तथा गोल प्रकाश। श्रीधरके प्रवेशके साथ पूर्ण प्रकाश।

पाँचवाँ दृश्य—लाल प्रकाश। विद्योत्तमाके गिरते ही पूर्ण अन्धकार तथा प्रकाश-निक्षेपक द्वारा गोल केन्द्रित प्रकाश।

षष्ठ अंक, तृतीय दृश्य—चौबतिया दीपक। श्रुतधिके प्रवेश होते ही पूरा लाल प्रकाश।]

❀ आलोकार्थे काल-विशिष्ट-जटिल निर्देशाः ।
[काल, विशिष्ट, जटिल होते हैं तीन प्रकाश-निदेश ।]

यह प्रकाश-निर्देश तीन प्रकारसे किया जाता है - एक तो समय-सूचना-द्वारा, दूसरे विशिष्ट सूचना द्वारा और तीसरे आलोक-विधानके विस्तृत निर्देशके द्वारा ।

समय-सूचनात्मक निर्देशमें केवल इतना ही कहा जाता है—'प्रातःकाल.—सूर्योदय हो रहा है । सन्ध्या—सूर्यास्त हो रहा है । मध्याह्न, अर्धरात्रि आदि ।' इसमें व्यवस्थापककी कल्पना, अनुभूति तथा ज्ञानपर प्रकाश छोड़ दिया गया है कि वह उचित साधनों द्वारा दर्शकोंको निर्दिष्ट समयका बोध करा दे । भारतीय नाट्यशास्त्रके अनुसार तो चित्राभिनय-द्वारा इन सब कालोंका भी अभिनयके द्वारा स्पष्टीकरण हो जाता था किन्तु आजकल प्रत्यक्षानुभूतिके लिये विभिन्न प्रकाशों-द्वारा विभिन्न कालोंका ज्ञान करा दिया जाता है ।

दूसरे प्रकारके विशिष्ट सूचनात्मक निर्देशोंमें इस प्रकार निर्देश दिए जाते हैं—'खुली चाँदनी, चन्द्रमा धीरे धीरे ऊपर चढ़ रहा है । सन्ध्याकाल—दाहिनी खिड़कीसे सूर्यका प्रकाश धीरे धीरे ऊपर उठता जाता है । मन्दिरमें एक दीपक टिमटिमा रहा है । मेजपर बिजलीका दीप प्रकाशमान है । श्वेत परदेके पीछेसे उसपर नीलाभ प्रकाश पड़ रहा है और इसलिये आगेके व्यक्ति केवल छाया स्वरूप दिखाई पड़ रहे हैं । . अशोकके मुखपर केन्द्रित लाल प्रकाश । बाईं ओरसे लाल प्रकाश, दाईं ओरसे पीला प्रकाश, आदि ।' इन विशिष्ट-सूचनात्मक निर्देशोंसे नाटककारका यह उद्देश्य है कि प्रकाश-व्यवस्थापक या रंग-व्यवस्थापक उस विशिष्ट प्रकाशकी व्यवस्था अवश्य करे क्योंकि उससे नाटककी कथा संबद्ध है ।

तीसरे प्रकारके विस्तृत आलोक-विधानके निर्देश नवीन ढंगके हैं जिनमें इस प्रकार निर्देश दिया जाता है—

'बैंगनी प्रकाश पीछेके जंगलके परदेपर डाला जाय । दाहिनी ओरसे ऊपरसे लाल प्रकाश पात्रोंपर पड़े । हिंसा-प्रदर्शनके समय प्रकाश-निक्षेपकसे प्रतिनायकके मुखपर गोल स्थल-प्रकाश और हिंसा करते हो धीरे धीरे सब प्रकाश इतने मन्द हो जायँ कि रंगपीठके सब पात्र छाया मात्रा दिखाई देते रह जायँ ।'

त्रासदों तथा गीति-नाट्यों या नृत्य-नाट्योंमें इस प्रकारके विस्तृत आलोक-विधान अधिक प्रयोगमें आते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका निश्चय प्रभाव होता भी है ।

ऊपर जो तीन प्रकारके प्रकाश-निर्देशोंका विवरण दिया गया है उनसे स्पष्ट हो गया होगा कि ये प्रकाश दो प्रकारके होते हैं—चल और अचल । ये दोनों भी दो दो प्रकारके होते हैं – नाट्यगत तथा व्यवस्थागत ।

चल प्रकाशका अर्थ है वे प्रकाश जो चलते हों जैसे—चन्द्रमा ऊपर चढ़ रहा है, दीपक लेकर तान्त्रिक प्रवेश करता है, जिधर जिधर नायक चलता है उधर उधर उसके मुखपर प्रकाशनिक्षेपकका प्रकाश पड़ता रहता है । इनमें दीपक लेकर तान्त्रिकका चलना तो नाट्यगत चल प्रकाश है किन्तु चन्द्रमाका ऊपर चढ़ना, प्रकाशनिक्षेपकसे नायककी गतिके अनुसार उसके मुखपर प्रकाश डालते रहना यह व्यवस्थागत चल-प्रकाश कहलाता है क्योंकि ये दोनों कार्य प्रकाश-व्यवस्थापकके अधीन हैं पात्रोंके अधीन नहीं ।

अचल प्रकाश उसे कहते हैं जो एक स्थानपर स्थिर हों । यदि नाट्यके अन्तर्गत कोई ऐसा प्रकाश है जिसका प्रयोग कोई पात्र करता है तो वह नाट्यगत अचल प्रकाश कहलाता है जैसे रमेश मेजपर पहुँचकर मेजबत्ती जगा लेता है और उसके प्रकाशमें बैठकर पढ़ता है ।

व्यवस्था-गत अचल प्रकाश वे हैं जिनका विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये प्रकाश-व्यवस्थापक प्रयोग करता है । ऐसे व्यवस्थागत अचल प्रकाश दस प्रकारसे प्रयुक्त किए जाते हैं—

❀ दशधा व्यवस्थालोकः । शीर्ष-कोण-पार्श्व तल-पक्ष-स्थल-चाकचिक्य-छाया-शाखा-चित्रदीपाश्च ॥
[दस प्रकारके हैं प्रकाश जो शीर्ष, कोण या पार्श्व और तल । पक्ष, स्थल या चाकचिक्य छाया शाखा या चित्रयन्त्र ॥]

१—शीर्षदीप (हेड लाइट)—ये बत्तियाँ रंगपीठकी छतमें आगे, बीचबीचमें और पीछेतक एक एक पंक्तिमें कई कईके क्रमसे लगाई जाती हैं । आजकल सब परदोंके बीच ऊपर प्रकाश लगानेकी प्रथा नहीं है क्योंकि उससे पार्श्वके प्रकाशोंकी चमकका प्रभाव नष्ट हो जाता है । इन्हींमें आगेकी ओर कोनोंपर अत्यन्त तीव्र केन्द्रित प्रकाश देनेवाले महा-दीपोंको उज्ज्वल आलोक (लाइम लाइट) कहते हैं । इनमें

ध्यान केवल इतना ही रक्खा जाता है कि ये प्रकाश दर्शकोंको न दिखाई दें। इनमें भी कुछ अधिक प्रकाशकी बत्तियाँ होती हैं जिन्हें अग्रदीप (पाइलेट लाइट) कहते हैं। प्रायः मन्दक (डिमर) का संबंध इन्हींसे होता है। मन्दक उस यन्त्रको कहते हैं जिससे प्रकाश कम या अधिक किया जाता है।

२. कोण-महादीप (ग्राउंड स्पौट)—रंगपीठके आगे दोनों कोनोंमें अधिक प्रकाशवाले चमकदीप लगा दिए जाते हैं जिनपर आवश्यकतानुसार रंगीन मक्खन-कागज (बटर पेपर) लगाकर अलग अलग रंग डाल लिए जाते हैं। ये रंगपीठके आगेवाली पखवाईके पीछे दोनों कोनोंमें या पखवाइयोंके बीच बीचमें रक्खे जाते हैं।

३. पार्श्वदीप (विंग स्पौट)—रंगपीठके दोनों पार्श्वोंमें दीवटोंपर बिजलीके चमकदीप लगा दिए जाते हैं जो सामनेके पात्रोंके मुखके भाव स्पष्ट करनेमें सहायक होते हैं। प्रायः नृत्यके समय इनपर रंगीन काँचोंवाली चर्खी लगी रहती है जिनके घुमानेसे अदल-बदलकर विभिन्न रंग आते रहते हैं।

४. तलदीप (फुट लाइट)—रंगपीठके आगे एक रेखामें दर्शकोंकी ओर आड़ करके कुछ बिजलीकी बत्तियाँ प्रकाश डाला जाता है उसे छायादीप कहते हैं। उसमें यह ध्यान रक्खा जाता है कि दीपका प्रकाश तो रहे पर दीपकी लौ या चमक पर्देसे छनकर बाहर न दिखाई दे।

९. शाखा-दीप (पर्च-स्पौट)—बहुतसी नाट्य-शालाओंमें यह प्रणाली है कि प्रेक्षागृहमें भी आगेकी ओर दोनों पक्षों में कुछ ऐसे छज्जे निकले रहते हैं जिनमें बैठकर प्रकाश-व्यवस्थापक बड़े बड़े दीपोंसे रंगपीठको आलोकित करते रहते हैं या रंगमंचपर ही आलोक-प्रबन्धकके पास ऊँचे पर कोई वर्त्तन-दीप (मूविंग स्पौट) लेकर बैठता है और पात्रोंकी गतिके अनुसार उनपर प्रकाश डालता रहता है।

१०. चित्रदीप—(प्रोजेक्टर)—आजकल जिन नाट्य-शालाओंमें चलचित्र दिखाए जाते हैं उनमें उन्हीं यन्त्रोंसे बीचसे ही रंगपीठको आलोकित किया जाता है और रंगीन प्रकाश डाले जाते हैं। इनके अतिरिक्त चन्द्र, सूर्य, तारे, जलमें पड़ती हुई किरणोंके लिये अलग विधान किया जाता है। नाटककार भी अपने प्रकाश-निर्देशमें उनका संकेत कर सकता है।

※ एकदृश्ये बहुप्रकाशनिर्देशो निषिद्धः।

प्रकाश बदलकर ही दृश्य-परिवर्तन और समय-परिवर्तन-की सूचना दे देते हैं जैसे—

प्रथम दृश्य—

"हल्का नारंगिया रंगका प्रकाश धीरे धीरे गहरा होता चलता है, फिर सुनहरा पीला होकर धीरे-धीरे धूपके रंगका हो जाता है।"

दूसरा दृश्य—

"मन्दककी सहायतासे प्रकाश धीरे धीरे कम हो जाता है और बाईं ओरसे नारंगिया और हल्के लाल रंगके दो दीपोंसे ऐसा प्रकाश दिया जाता है कि तीसरे पहरका भान हो। वह प्रकाश दृश्य समाप्त होनेतक धुँधला पड़ जाता है और उस समय अत्यन्त मन्द हो जाता है जब भिक्षुणी हाथमें तेलका दीप लिए हुए वहाँ आ पहुँचती है।'

यद्यपि हमारे शास्त्रोंमें शृंगारका वर्ण श्याम, हास्यका श्वेत, करुणका कपोत, रौद्रका रक्त, वीरका गौर, भयानकका श्याम, बीभत्सका नील, अद्भुतका पीला माना गया है पर प्रकाशसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आजकल विशिष्ट प्रकारके दृश्योंके लिये भी विभिन्न प्रकारके रंगके प्रकाशका प्रयोग किया जाता है जैसे— उत्सव, शृंगार-लीला अथवा हर्षके दृश्योंमें आकाश-नील रंग-का प्रकाश, भयानक और रोमाञ्चकारी दृश्योंके लिये गहरा लाल या बैंगनी, षड्यन्त्रवाले दृश्योंके लिये गहरा नीला या परदेके पीछे-प्रकाश देकर छाया मूर्तिका प्रदर्शन, नीरवता-के दृश्योंमें पीला, नारंगिया या गुलाबी रंगका प्रकाश, जंगल, वन-विहार अथवा खुले मैदानके दृश्योंमें हरा या पीला प्रकाश।

कभी कभी नाटककार यह भी निर्देश करते हैं कि अमुक स्थानके अमुक सम्वादतक अमुक प्रकाश रहे और उसके बाद दूसरा हो जाय। ये सब निर्देश ठीक नहीं है। एक दृश्यसे निरन्तर एक ही प्रकारका प्रकाश रहना चाहिए। हाँ, यह सम्भव है कि किसी कमरेके दृश्यमें रातके समय एक साधारण दीप जल रहा हो और किसी एक खिड़कीसे चाँदनीका प्रकाश आ रहा हो। इस प्रकार प्रत्येक नाटक-कारको रस और कालका विचार करके प्रकाशका निर्देश देनी चाहिए।

जर्मनीकी कुछ नाट्य-समितियोंने मोमबत्तीके प्रकाश-में गंभीर नाटक खेलनेकी सम्मति दी है। उन्होंने बताया है कि 'विलियम टैल' नाटक और 'मृत्युकी छाया' शीर्षक नाटक मोमबत्तियोंके प्रकाशमें अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं क्योंकि उनके उदास प्रकाशमें नाटकका भाव अधिक उद्दीप्त हो गया था।

इसी प्रकार यह देखा गया है कि रात्रिके दृश्यमें एक तैल-दीप रात्रिकी निःस्तब्धता और भयानकताको एक साथ मूर्तिमान कर देता है। इसी प्रकार कई दीपोंवाली आरती भी रातको मन्दिरकी गंभीरता और भव्यताको बड़ी प्रभावशाली बना देती है।

❀ एकमुखो हि प्रकाशः।

[एक ओरसे ही प्रकाश हो।]

अभिनवभरतका प्रकाश-सिद्धान्त यह है कि केवल एक ओरसे प्रकाश डाला जाय और उसीमें पात्रोंके मुखका जितना भाग आलोकित हो वही अधिक प्राकृतिक प्रतीत होगा और उसी आधे मुखपर व्यक्त होनेवाले भावोंसे ही पूरे मुखके भावोंका बोध हो जायगा अथवा प्रकाशकी व्यवस्था इस प्रकार हो कि पात्रका पूरा मुख भी उससे आलोकित किया जा सके।

यूनानी नाटकोंके संबंधमें यह प्रसिद्ध है कि वहाँके नाटक दिनमें होते रहते थे। प्रत्न संस्कृतके नाटकोंके संबंधमें भी यह विवरण नहीं मिलता कि वे दिनमें होते थे या रातको। अधिक संभव यही है कि वे दिनमें होते होंगे किन्तु अभिनव-भरतका स्पष्ट मत यही है कि नाटक रातमें होने चाहिएँ और यदि दिनमें भी हों तो ऐसे भवनोंमें हों जो स्वच्छ वायुके साथ-साथ अँधेरे किए जा सकें क्योंकि वेश-भूषा और रंग-सज्जा दोनोंकी शोभा दिनके प्रकाशमें मन्द पड़ जाती है किन्तु बिजलीके कृत्रिम प्रकाशमें वे सब अधिक सुन्दर और शोभन हो जाती हैं।

संगीत-व्यवस्थापकके लिये रंगनिर्देश

संगीत व्यवस्थापकके लिये पुराने नाटकोंमें भी रंग-निर्देश होते थे जैसे मालविकाग्निमित्रमें नेपथ्यसे मृदंग और वीणाकी विशेष प्रकारकी ध्वनि सुनाई पड़नेका वर्णन है। किन्तु आजकलके नाटकमें चार प्रकारसे संगीतयोजना की जाती है—एक तो गीतोंके साथ वाद्ययोजनाके रूपमें, दूसरे विशिष्ट रसोंके अनुकूल पीछेसे उस रसका प्रभाव उत्तेजित करनेवाली वाद्य-ध्वनिके रूपमें जिसे आजकल पृष्ठ-संगीत

कहते हैं और जिसका प्रयोग प्रायः करुण और भयानक दृश्योंमें किया जाता है; तीसरे प्रकारका संगीतविधान वह है जहाँ नेपथ्यसे किसी विशेष प्रभावके लिये घण्टा, झाँझ, घड़ियाल, विजयघण्ट अथवा नगाड़ेका प्रयोग किया जाता है। चौथे वे सब गीत हैं जो रंगपंठपर उपस्थित पात्रोंको कोई विशेष सूचना देने अथवा उनपर विशेष प्रभाव डालनेके निमित्त नेपथ्यसे गवाए जाते हैं जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलके पंचम अंकमें नेपथ्यसे हंसपादिका गाती है और विदूषक कहता है

[भो वयस्य ! संगीतशालान्तरेऽवधानं देहि। कलविशुद्धाया गीतेः स्वरसंयोगः श्रूयते। जाने तत्र भवती हंसपदिका वर्णपरिचयं करोतीति।

[हे मित्र ! संगीतशालाकी ओर ध्यानसे सुनिए। वहाँ अत्यन्त सुस्वर गीत सुनाई दे रहा है। जान पड़ता है हंसपदिका अभ्यास कर रही है।]

गीत सुनकर राजा कहते हैं—अच्छा उलाहना दिया है !]

नाटककारको स्पष्ट रूपसे यह निर्देश कर देना चाहिए कि किस दृश्यमें, कहाँ, कितनी देर तक, किस प्रकारके वाद्यसे, किस विशेष राग या तालमें संगीतकी योजना की जाय। आजकल सभी चलचित्रों तथा नाटकोंमें संगीतके प्रभावका बड़ा महत्त्व समझा जाने लगा है और इसमें सन्देह नहीं कि उसके प्रयोग से रसानुभूतिमें निश्चित सहायता मिलती है।

ये रंग-निर्देश इस प्रकार किए जा सकते हैं—

गीत देकर यह निर्देश कर दिया जाय—राग भैरवी, तीन ताल। इसके साथ कुछ नाटककार गीतकी स्वरलिपि भी दे देते हैं। यद्यपि यह कुछ बुरा नहीं है किन्तु संगीत-व्यवस्थापकको भी यह स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह भावानुकूल निर्दिष्ट रागमें या रागकी स्वेच्छित धुनमें गीतको बाँध ले।

सामान्य-संगीतार्थे राग-ताल-गति-भावनिर्देशो गन्तव्यः।

[हो सामान्य-संगीत कार्यमें राग-ताल-गति-भाव-निर्देश।]

[विभिन्न रसोंके अनुकूल पृष्ठ-संगीतकी योजनाके लिये जो निर्देश दिए जायँ वे भी स्पष्ट हों जैसे—

'बुद्ध जिस समय यशोधराके शयन-कक्षमें प्रविष्ट हो रहे हों उस समय तीव्र मूर्च्छनाके साथ मन्द लयमें शंकराकी तान बेलेपर बजाई जाय और जब वे चलने लगें तब गति तीव्र हो जाय और वंशीके स्वर भी उसके साथ सुनाई देने लगें।'

रंगपीठपर जो गीत गाए जाते हैं उनका विवेचन अगले अध्यायमें किया जायगा।

रसों या भावोंके अनुसार राग।

किस अवसरके लिये कौन-सा राग उचित होता है इसके संबंधमें संगीतके आचार्योंका यह मत है कि अलग-अलग भावोंमें अलग-अलग राग गाने चाहिएँ।

शृंगारमें -मालश्री, भैरवी, पंचम, मेघ श्री, द्रविड-गौड़, गुर्जरी, तोड़िका, सैन्धवी गौड़ी, गौड़, *धल्लासिका*, वल्लारी, शावेरी, सुस्थावती, हुञ्जिका, छाया, गौडकिरी और तुरुष्क गौड़।

हास्यमें—कौशिकी, कामोदी, बंगाल और कामोद।

करुणमें—भैरव, रामकिरी, गुणकिरी, पटमंजरी, सावेरी, कौशिकी, कामोदी, बंगाल, कामोद, सैन्धवी, भूपति, देशी, आभीरी और गान्धार।

वीर में—सैन्धवी, धानश्री, श्रीवेधगुप्त, द्रविड़ गौड़, तोड़िका, गौड़ी, शंकराभरण, गौड़ी, गौड़, धल्लासिका, हर्षपुरी (विनयके समय श्रीकंठिका, तारा, श्रीकंठिका, छाया, तुरुष्क गौड़ और मेवरंगी।

रौद्रमें—कोलाहल और तारा।

विरक्तिके भावमें—भूपाली और देशी।

भयानक, बीभत्स तथा अद्भुतमें किसी रागका विधान नहीं मिलता है। केवल पुलिन्दिका एक ऐसी रागिनी है जिसका सब रसोंमें गानेका विधान मिलता है।

संगीत शास्त्रके ग्रन्थोंमें इस प्रकारकी व्यवस्था यद्यपि कुछ रागोंके सम्बन्धमें दे दी गई है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य राग-रागिनियोंका प्रयोग नहीं किया जा सकता। संगीतके आचार्योंने विभिन्न राग-रागिनियोंके मेलसे न जाने कितने मिश्र राग बना लिए हैं और यह देखा गया है कि उनका प्रभाव भी दर्शकोंपर अत्यन्त सटीक पड़ता है। इसलिये नाटककारको या तो स्वयं सरगम या स्वरलिपिके साथ गीत देना चाहिए या

केवल इतना ही संकेत करना चाहिए कि अमुक भावके रागमें गीत गाया जा रहा है। शेष कार्य अर्थात् उस गीतको राग और तालमें बाँधनेका भार संगीता-प्रयोक्ता-पर छोड़ देना चाहिए।

कोमल और कर्कश वाद्य-निर्देश।

नाटककारको पृष्ठ-संगीतके लिये निर्देश देते समय यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि वह ध्वनि किस भावकी हो और किस प्रकारकी हो अर्थात् वह कोमल हो या कर्कश। तारोंके वाद्य, मंजीर तथा वंशीकी ध्वनि कोमल कहलाती है, मृदंग, ढोल, भेरी, बिगुल, शंख, झाँझ, घंटे आदिकी ध्वनि कर्कश कहलाती है। सब देशोंमें सब वाद्योंका मिलना सम्भव नहीं है और यदि वाद्य मिल भी जाय तो बजानेवाला नहीं मिल सकता अतः नाटककारको इस सम्बन्धमें वाद्योंका नामनिर्देश करनेके बदले संगीत व्यवस्थापकपर कुल भार छोड़कर केवल इस प्रकार निर्देश करना चाहिए—

"भीतर कोमल वाद्य-ध्वनि हो रही है।

करुण ध्वनि सुनाई पड़ रही है।

करुण वाद्य बज रहा है। कर्कश वाद्य-ध्वनि सुनाई पड़ती है।

बहुतसे ढोल बजनेकी ध्वनि सुनाई पड़ती है।

घंटा बजता है।

पूजाके समयके मंगल वाद्य सम्मिलित बज रहे हैं आदि।

संगीत-निर्देशके सम्बन्धमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि करुण, विप्रलम्भ शृंगार, विरक्ति तथा हासमें मन्द तथा अतिमन्द लयमें संगीत होता है, संयोग शृंगार और अद्भुत रस में मध्य लयमें संगीत होता है और वीर, भयानक, रौद्र तथा वीभत्समें तीव्र तथा तीव्रतर लयमें संगीत होता है। इसलिये यदि नाटककार चाहे तो संगीत-व्यवस्थापकके लिये लयका निर्देश कर सकता है।

इसके अतिरिक्त, भारतीय रागोंके सम्बन्धमें ऋतु तथा कालमें गानेका भी विधान है। यह विधान अन्य देशोंके संगीतमें नहीं है किन्तु हमारे देशमें उसकी एक विशिष्ट परंपरा है इसलिये भारतीय नाटककारको उस रूढ़िके अनुसार विभिन्न दृश्योंमें उद्दिष्ट ऋतु तथा कालके अनुसार गीत लिखकर उसीके अनुकूल रागका निर्देश करना चाहिए।

संगीतदर्पणके अनुसार मधुमाधवी, देशाख्या, भूपाली, भैरवी, वेलावली, मल्लारी, वल्लारी, सोमगुर्जरी, धानश्री, मालश्री, मेघ, पंचम, देवकारी, भैरव, ललिता और वसन्त नामके राग और रागिनियोंको उषःकालसे लेकर एक पहर दिन चढ़ेतक गाना चाहिए। गुर्जरी, कौशिक, शावेरी, पटमंजरी, रेवा, गुणक्रिरी, भैरवी, रामक्रिरी और सोरठीको दिनके एक प्रहरके पीछे दूसरे प्रहरतक गाना चाहिए। वैराटी, तोड़ी, कामोदी, कुडरिका, गान्धारी, देशी, शङ्कराको तीसरे प्रहरमें गाना चाहिए। श्री, मालव, गौरी त्रिवेणी, नटकल्याण, सारंगनट, नाट, केदारी, कर्णाटी आभीरी, बड़हंसी, और पहाड़ी राग दिनके तीसरे प्रहरके पश्चात्से लेकर आधी राततक गाए जा सकते हैं। किन्तु राजाकी आज्ञासे सब राग-रागिनियाँ सब समय गाई जा सकती हैं।

पञ्चमसारसंहिताका मत है कि विभाषा ललिता, कामोदी, पट-मंजरी, रामकेलि, रामकिरी, बराड़ी, गुर्जरी, देशकारी, शुभगा, आभीरी, पंचमी, गड़ा, भैरवी और कौमारी नामक पन्द्रह रागिनियाँ पूर्वाह्णमें; वराटी, मालवी, केन्द्रा, रेवती, धानश्री, वेलावली और मरहट्टा नामकी सात रागिनियाँ मध्याह्नमें; गान्धारी, दीपिका, कल्याणी, प्रवारी, वरी, अथावरी, कान्दुला गौरी, केदारी और पाहिड़ा रागिनियाँ अपराह्णमें गानी चाहिएँ किन्तु दश दंड रात्रिके पश्चात् सभी राग गाए जा सकते हैं।

कर्णाटकी संगीतके दाक्षिणात्य आचार्योंका मत है कि देशाख्या, भैरवी, देवरक्तदंशी, माहुसा और नक्तरंजिका नामकी रागिनियोंको जो प्रातःकाल गाता है वह अत्यन्त सुखी होता है, इन्हें सायंकाल कभी नहीं गाना चाहिए। इसी प्रकार शुद्धनट्टा, सारंगी, नट्ट, वराटिका, छाया, गौड़ी, ललिता, मल्लारिका, गौरी, तोड़िका, गौड़, मालवगौड़ रामकिरी, कर्णाट और बंगाली नामकी राग-रागिनी चन्द्रसे उत्पन्न हैं इसलिये इन्हें प्रातःकाल कभी नहीं गाना चाहिए. सायंकालमें गानेसे अत्यन्त लक्ष्मी प्राप्त होती है।

इसीके साथ यह भी विधान है कि सपत्नीक श्रीराग शिशिरमें, सपत्नीक भैरव ग्रीष्ममें, सपत्नीक पञ्चम शरदमें सपत्नीक मेघ वर्षामें और सपत्नीक नट्टनारायण हेमन्तमें गाना चाहिए।

साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि कोई लोभ या मोहसे कुसमय भी राग गा दे तो गुर्जरी रागिनी गा लेनेसे दोषका परिहार हो जाता है।

❀ प्रसंगानुकूल संगीत-निर्देशः नाट्ये।

[हो प्रसंग अनुकूल नाट्यमें संगीती निर्देश]

इस प्रकार राग-रागिनियोंके समयका विस्तृत विधान है किन्तु नाटक प्रायः रातको होते हैं इसलिये समयका यह बन्धन मान्य नहीं समझा सकता। किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं कि नाटकमें जिस समयका वर्णन किया गया हो उस समयके अनुकूल रागका निर्देश कर देना चाहिए।

पात्रोंके लिये संगीत-योजनाकी निम्नलिखित अवस्थाएँ हो सकती हैं—

१. अपने प्रियसे मिलनेकी उत्कंठामें।
२. प्रियसे मिलनेपर उसकी आज्ञा या अनुरोधसे।
३. प्रियके विरहमें।
४. युद्ध अथवा अन्य किसी पराक्रमके उत्साहमें अथवा उत्साहको उत्तेजित करनेमें।
५. विरक्ति तथा भक्तिके आवेशमें।
६. मनोविनोदके लिये।
७. अभ्यासके लिये। मंगलकार्य अथवा देवपूजन या उत्सव आदिमें।

यह संगीत-योजना निम्नलिखित प्रकारसे की जा सकती है—

१—केवल गीत, एक व्यक्तिका, कई व्यक्तियोंका समवेत अथवा दो दलों या व्यक्तियोंमें परस्पर गीत-संवाद या गीत-प्रतिद्वन्द्विताके रूपमें।

२—केवल वाद्य (एक व्यक्ति-द्वारा या कई व्यक्तियों-द्वारा समवेत।)

३—केवल नृत्य (एक व्यक्ति-द्वारा या कई व्यक्तियों-द्वारा समवेत)

४—केवल गीत और वाद्य (एक ही व्यक्ति गाता भी हो और वाद्य भी बजाता हो अथवा एक दल हो जिसमें कुछ गाते हों कुछ बजाते हों।)

५—केवल गीत और नृत्य (एक ही व्यक्ति गीत गाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति गाकर नृत्य करते हों अथवा उनमें कुछ गाते हों, कुछ नृत्य करते हों।)

६—केवल वाद्य और नृत्य (एक ही व्यक्ति वंशी जैसा वाद्य बजाकर नृत्य करता हो अथवा कई व्यक्ति हों जिनमें कुछ वाद्य बजाते हों, कुछ नृत्य करते हों।

७—स्वनयन्त्र (ग्रामोफोन), खस्वनग्राह (रेडियो) आदि यन्त्रोंके द्वारा गीत या वाद्य।

इन उपर्युक्त प्रकारोंमें पुरुषों नपुंसकों तथा स्त्रियोंके गीत और नृत्य भिन्न भिन्न होते हैं। रौद्र और भयानक रसोंमें (पशुबलि अथवा नरबलिके दृश्योंमें) अत्यन्त उद्धत, गतिशील और भयोत्पादक संगीतकी योजना की जानी चाहिए, विवाहोत्सव आदिमें ललित, स्थायी तथा कोमल संगीतकी व्यवस्था हो।

पीछे बताया जा चुका है कि नृत्य-नाट्यों तथा गीत-नाट्योंमें अभिनेतागण केवल अभिनय तथा नृत्य करते हैं, शेष सब संगीत-कार्य संगीत-मंडली करती है। उसके गीतों, नृत्यों तथा भावोंके लिये विशेष संगीत-निर्देश दे देना चाहिए जिससे संगीत-व्यवस्थापकको नाटककारके उद्दिष्ट प्रभावकी साधनामें सहायता प्राप्त हो सके।

कुछ विशेष प्रभाव नेपथ्य-वाद्यों अथवा नेपथ्य-गीतोंसे उत्पन्न किया जा सकता है जैसे अभिनवभरतके 'सिद्धार्थ' नाटकमें महाभिनिष्क्रमणके समय सिद्धार्थ केवल अभिनय करते हैं और नेपथ्यसे अभिनयके भावोंको व्यक्त करानेवाला गीत कोमल करुण रागमें गाया जाता है। इस प्रकारके मूक अभिनयके साथ ऐसी गीत-योजना तथा वाद्य-योजनाका बड़ा प्रभाव होता है।

पक्ष-वाद्य या पृष्ठ-संगीत

❀ पक्ष संगीतं श्लाघ्यमवसरे।

[अवसरपर है श्लाघ्य पक्ष संगीत]

पक्ष-वाद्य तथा पृष्ठ-संगीत (बैक ग्राउंड म्यूज़िक)की एक नई कला अलग पल्लवित हुई है। कुछ वर्त्तमान नाट्याचार्योंका तो यहांतक विचार है कि प्रत्येक नाटकमें आदिसे अन्त तक रस और भावके अनुसार निरन्तर मन्द वाद्य बजता रहना चाहिए। अभिनव-भरत इससे सहमत नहीं है क्योंकि संगीतका अपना अलग विशेष प्रभाव होता है। यदि उसमें विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न हो जायगा तो यह अधिक संभव है कि अभिनय तथा संवादमें दर्शकोंकी रुचि कम हो जाय अथवा उसके कारण रसानुभूतिमें बाधा पड़ जाय। अतः

नाटककारको विचारकर विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये पक्ष-संगीतकी योजना करनी चाहिए और वहाँ इस प्रकारके निर्देश देने चाहिएँ जैसे—

"तुमको अर्पित शतशत प्रणाम।
शतशत प्रणाम, शतशत प्रणाम"।
(गौतम बुद्ध नृत्य-नाट्यसे)।

उपर्युक्त गीत गाते समय अन्तिम पंक्तिको अनेक व्यक्ति स्वर-कंपनके साथ क्रमशः स्वर चढ़ाकर और 'अन्तिम प्रणाम' को खींचकर स्वर धीरे धीरे मन्द करके करुण भाव उत्पन्न करें और फिर तीव्र कंपनके साथ झाँझ और अत्यन्त तीव्र लयमें कंपनके साथ सब वाद्य झनझना और घनघना उठें।"

पराश्रित गीत और वाद्य (प्ले बैक)

कभी कभी कुछ अभिनेता न गा सकते हैं न बजा सकते हैं। उसके लिये नाटकीय विधान यह है कि रंगमंच पर अभिनेता केवल रागकी शब्दावली या स्वरावलीके अनुसार मुँह चलाता या वाद्य हाथमें लेकर उसपर उँगली चलानेका नाट्यमात्र करता है, वास्तवमें कोई दूसरा ही व्यक्ति नेपथ्यमें गाता और बजाता है। इस पराश्रित गीत या वाद्यकी प्रणालीका अत्यन्त प्रचार हो चला है किन्तु अभिनवभरत इससे सहमत नहीं हैं। यह शैली चलचित्रमें भले ही उपयुक्त हो किन्तु रंगपीठपर आगेके दर्शक इसे तत्काल भाँप लेते हैं और उसका उपहास होता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि नाटककारको यह समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त विधानोंमेंसे किस विधानका किस अवसरपर कौनसा प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये किस प्रकार प्रयोग किया जाना चाहिए और उसीके अनुसार उसे निर्देश भी देना चाहिए।

नेपथ्यविधायकके लिये रंगनिर्देश

❀ नेपथ्यकर्मार्थे संयत-स्पष्टसंक्षिप्तनिर्देशो कार्यः।
[संयत, स्पष्ट और थोड़ेमें, हो नेपथ्य-कर्म-निर्देश।]

वास्तवमें नेपथ्य-विधायकके लिये कोई विशेष रंग-निर्देश नहीं होते किन्तु कभी कभी अभिनेताओंके लिये ही इस प्रकारसे निर्देश किए जाते हैं जिन्हें नेपथ्य-विधायकके लिये ही समझना चाहिए। प्रायः नाटकोंमें इस प्रकारके आदेश मिलते हैं—

"वह भीतर जाता है और कपड़े बदल आता है, नई मूँछ-दाढ़ी लगाकर आता है अथवा कुबड़ेका वेश बनाकर आता है।" इसका अर्थ यह है कि नेपथ्य-विधायकको रूप-विन्यास और वेश विन्यासकी सब सामग्री लेकर वहाँ प्रस्तुत रहना चाहिए जिससे अभिनेताके भीतर आते ही उसका रंगोचित संस्कार कर सके। प्रायः यह देखा गया है कि जब ऐसे निर्देशके अनुसार अभिनेता भीतर आता है तो न उसे नेपथ्य-विधायक या शृंगारीका ही दर्शन होता है न यथोचित सामग्री ही मिल पाती है और इस विभ्रममें वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, उसका मनोभाव क्षुब्ध हो जाता है जिससे उसके अभिनयपर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

नेपथ्य-विधानके लिये निर्देश देनेकी जो विशेष आवश्यकता पड़ गई है उसका कारण यह है कि आजकल बहुत-से लोग बिना समझे-बूझे जो मनमें आता है वह वस्त्र उसे पहना देते हैं। दुष्यन्तको चूड़ीदार पाजामा और अचकन पहने शकुन्तला नाटकमें अभिनय करते देखा गया है। अतः नाटककारको अपने नाटकके प्रारम्भ या अन्तमें प्रत्येक पात्रकी वेशभूषाका पूरा विवरण दे देना चाहिए क्योंकि प्रत्येक नाट्य-समितिके पास इतने सर्वज्ञ लोग नहीं मिल सकते जो यह बताते चलें कि अमुक वेश ठीक है या नहीं। अभिनवभरतने अपने महाकवि-कालिदास नाटकके पीछे अलङ्करण-व्यवस्था शीर्षक देकर सब पात्रोंकी वेशभूषाका विवरण इस प्रकार दे दिया है—

कालिदास—पीताम्बर, उत्तरीय, मणिबन्ध, भुजबन्ध, कुंडल, उष्णीष।

विक्रमादित्य – पीताम्बर, उत्तरीय, राजमुकुट, मणिबन्ध, भुजबन्ध, कुंडल, मुक्ताहार, घुँघराले काकपक्ष, करवाल, धनुष-बाण, तूणीर आदि।

इस प्रकारका अलंकरण-निर्देश कर देनेसे नेपथ्य-व्यवस्थापकको तो सुविधा होती ही है, नाटकमें भी सरसता आ जाती है।

संस्कृतके नाटककारोंने प्रत्यक्ष रंग-निर्देशके रूपमें नेपथ्य-विधान अर्थात् अलंकरण-विधानका परिचय नहीं दिया है किन्तु वे दूसरे पात्रोंके द्वारा वर्णन कराकर पूरे नेपथ्य-विधानका परिचय दे देते थे। भासने अपने मध्यम-

व्यायोगमें ब्राह्मणके पुत्रोंसे ही घटोत्कचका वर्णन करा दिया है—

तरुणरविकरप्रकीर्णकेशो भ्रुकुटिपुटोज्ज्वलपिंगलायताक्षः।
सतडिदिव घनः सकण्ठसूत्रो युगनिधने प्रतिमाकृतिर्हरस्य ॥

ग्रहयुगल निभाक्षः पीनविस्तीर्णवक्षः।
कनक-कपिल-केशः पीतकौशेयवासः।
तिमिर-निवह-वर्णः पाण्डुरोद्वृत्तदंष्ट्रो
नव इव जलगर्भो लीयमानेन्दुलेखः॥
कलभदशनदंष्ट्रो लाङ्गलाकार-नासः।
करिवरकरबाहुर्नील-जीमूत-वर्णः ।
हुत-हुतवहदीप्तो यः स्थितो भाति भीम—
स्त्रिपुर-पुर-निहन्तुः शङ्करस्येव रोषः॥

[प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंके समान जिसके बाल बिखरे हुए हैं, भौंहोंके नीचे उजली, पीली, बड़ी बड़ी आँखें हैं और गलेमें कंठसूत्र पहने हुए ऐसा जान पड़ता है जैसे बादलमें बिजली हो। इस वेशमें यह ऐसा भयंकर दीख पड़ता है जैसे प्रलयके समयके रुद्रकी प्रतिमा हो। दो ग्रहों-के समान जिसकी आँखें चमकती हैं, मोटी और चौड़ी छातीवाला, सुनहरे और कपिश (नीले-पीले) बालोंवाला, पीताम्बर धारी, काला-कलूटा, पीले पीले उठे हुए दाँतों-वाला यह कौन है जो ऐसे नये जलभरे बादलके समान दिखाई पड़ रहा है जो चन्द्रमाको निगले जा रहा हो।

हाथीके बच्चेके दाँतोंके समान दाढ़ोंवाला, हल-के समान नाकवाला, हाथीकी सूँड़के समान (खुरदरी, मोटी, लंबी) भुजाओंवाला, काले बादलके रंगवाला, आहुति दी हुई अग्निके समान जलता हुआ यह कौन है जो त्रिपुरासुरको मारनेके लिये उद्यत महादेवजीके क्रोधके समान दिखाई दे रहा है।]

उपर्युक्त वर्णनमें भासने ब्राह्मणके पुत्रोंके मुखसे घटोत्कचका रूप, रंग, आकार, प्रकार, बाल, दाँत, आँख, हाथ, नाक, वस्त्र, कंठसूत्र सभीका विवरण दे दिया है और नेपथ्य-व्यवस्थापकके लिये पूर्ण सज्जाविधान समझा दिया है।

आजकलके बहुतसे नाटककार रंगनिर्देशके अन्तर्गत ही वेष तथा अलंकरणका विधान दे देते हैं जैसे गाल्सवर्दीके 'विण्डोज़' (खिड़की) नाटकके प्रथम अंकमें मार्च परिवारके सदस्योंके विवरणमें मार्च परिवारका परिचय

[……श्रीमती मार्च सुदर्शन हैं—४८ वर्षकी उनकी अवस्था है, सुभूषित हैं…श्रीयुत मार्च भी…५० वर्षके सुदर्शन व्यक्ति हैं, लाल भूरी मूछें और केश हैं जो कुछ तो स्वभावसे ही हिलते रहते हैं और कुछ बारबार हाथ फेरनेसे हिलाए जाते हैं। जौनी…नितान्त साधारण युवक है—लंबा मुँह, लंबा शरीर और स्वच्छ-सुथरा। मेरी भी लंबी…है, सुन्दर और गोरी है।]

इसमें नाटककारने कुछ तो नाट्यप्रयोक्ताके लिये निर्देश दिया है कि वह इस प्रकारके पात्र लावे और कुछ बालोंके संबंधमें स्पष्ट निर्देश करके 'सुभूषित' और 'स्वच्छ सुथरा' कहकर उनकी सजावटका भार अभिनेता और नेपथ्य-व्यवस्थापककी रुचि, कला तथा सुविधापर छोड़ दिया है और यही उचित भी है।

कुछ ऐसे भी नाटककार हैं जो पूरा नखशिख वर्णन करके पूरा खटराग खड़ा कर देते हैं जैसे—

[विल्सनके सिरपर ऊँचा काला जैकबाइट हैट है, आँखोंपर सुनहरी कमानीका चश्मा है, नीले सर्जके कोटके नीचे श्वेत ट्वीडकी कमीज, उसपर मध्यकालीन काटकी जाकट, श्वेत बुँदकीदार लाल रंगकी टाई, कड़ा श्वेत कालर, श्वेत धारीवाले नीले फ़लालैनका पैंट, जेबमें पीला रूमाल, बटन-होलमें पीला गुलाब, फुलबूट पहने हुए हाथमें चाँदीका सिगरेट-घर लिए हुए मुँहसे सीटी बजाता हुआ आइवी (लता) के नीचे खड़े होकर अपनी प्रेयसीकी प्रतीक्षा कर रहा है और बीच-बीचमें 'टैटलर' पत्र निकालकर कुछ पढ़ भी लेता है यद्यपि सड़कके लैम्प-का प्रकाश दूर है और समाचार-पत्रके अक्षर स्पष्ट दिखाई भी पड़ते हैं या नहीं इसमें सन्देह है।]

इस विवरणमें जैकबाइट हैटकी बात तो मान्य हो सकती है, किन्तु सुनहरी ही कमानीका चश्मा, नीले ही सर्जका कोट, श्वेत ट्वीडकी ही कमीज़, लाल बुँदकी ही टाई, नीले ही फ़लालैनका पैंट, और 'टैटलर' ही पत्रका जुगाड़ कोई भी नेपथ्य-व्यवस्थापक कैसे कर सकता है। अतः इस संबंधमें अभिनवभरतका यही मत है कि वेष तथा अलं-करणके लिये प्रारंभ या अन्तमें विवरण दे देना चाहिए और नेपथ्य-व्यवस्थापकके हाथ इस प्रकार नहीं बाँध देने चाहिए कि वह हतप्रभ हो जाय।

नाट्य-प्रयोक्ताके लिये रंग-निर्देश अनावश्यक

❀ निरर्थकः प्रयोक्तृ-प्रयोजनार्थनिर्देशः ।

[*नाट्य-प्रयोक्ताके लिये, हैं निर्देश निरर्थ ।*]

कुछ नाट्य-निर्देश नाट्यप्रयोक्ताके लिये भी नाटककार कर देता है जिनमें वह इस प्रकार निर्देश देता है—

नायिका बड़ी लद्धड़-सी लड़की है जिसके बाल गोल कंघीसे एक कानसे दूसरे कानतक कसे हुए हैं। उसका मुँह गोल, भरा हुआ, गुलाबी और भोला-सा है। उसके ओठ मोटे हैं—कुछ खुले हैं जो उसके भूँतरे बालों और गोल नीली आँखोंके साथ अविरल आश्चर्यकी मुद्रा बनाए रखते हैं।'

नाटककारने नाट्यप्रयोक्ताके लिये एक नई समस्या ही खड़ी कर दी है। वह कहाँ घूमघमकर ऐसी नायिका ढूँढ़ता फिरेगा जिसके भूँतरे बाल हों, खुले हुए ओठ हों, नीली आँखें हों और ये सब लक्षण मिलकर उसके मुखपर अविरल आश्चर्यकी मुद्रा अंकित किए हों। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसी नायिका मिले ही नहीं। अतः नायिका या नायक आदिका रूप-निर्देश करना अत्यन्त असंगत, व्यर्थ और अवांछनीय है। इसी प्रकार यह निर्देश करना कि 'अमुक पात्र काना, लँगड़ा, लूला, नाटा, मोटा, लंबा, दुबला, लाल बालों-वाला, भूरे बालोंवाला है' अत्यन्त अनावश्यक है क्योंकि जबतक पात्रकी विकलांगता या विशेषांगता नाटकीय कथा-वस्तु को प्रभावित नहीं करती तबतक इस प्रकारका निर्देश व्यर्थ है। किन्तु जहाँ इस प्रकारकी विकलांगता अथवा विशेषांगतासे नाटकसे संविधानका संबंध हो वहाँ इस प्रकारका निर्देश आवश्यक है जैसे अभिनवभरतके 'विश्वास' नाटकमें लँगड़ा ब्रह्मेश्वर।

जौर्ज बर्नर्ड शौ तथा जेम्स बारी आदि कुछ योरोपीय नाटककारोंने अपने नाटकोंको पठनीय बनानेके उद्देश्यसे उनमें वर्णनकी रोचकता उत्पन्न करके पाठकोंको नाटकमें उपन्यासका रस देनेका जो प्रयोग किया है वह नाटककी दृष्टिसे उचित और श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक नाट्य-समिति प्रायः अपने परिमित सदस्योंमें ही नाटककी भूमिका बाँट लेते हैं और यह उनपर अतिचार करना है कि उन्हें विशिष्ट आकार-प्रकार, स्वरूप, विशेष गुणयुक्त पात्र खोजने और प्रस्तुत करनेको विवश किया जाय। इसी प्रकार यह निर्देश देना कि जाड़ेके दिन हैं या लू चल रही है या गुलाबका फुलेल महँक रहा है नितान्त व्यर्थ है। यदि नाटककारको इसका भान कराना है तो वह पात्रोंके संवादमें—'आः। जाड़ा लग रहा है, शरीर अकड़ा जा रहा है, 'कितनी सनसनाती हुई लू चल रही है, एक लोटा जल मंगाओ, यहाँ गुलाबके फुलेलकी गन्ध बड़ी गमक रही है, 'आदि वाक्य कहलाकर उस उद्देश्यकी पूर्त्ति कर सकता है अतः नाटककारको इस प्रकारके निर्देश नहीं देने चाहिएँ जिनसे नाट्यप्रयोक्ताको पात्र चुननेमें कठिनाई हो।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामचतुर्वेदविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचनाखंडे संवाद-योजना-प्रकरणे रंगनिर्देशो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

संवाद-योजना

छन्दस्तत्त्व (कविता और गीत)

पद्यका प्रयोजन

नाटकमें गद्य संवादके अतिरिक्त प्राचीन नाटककारोंने पद्यका भी प्रयोग किया है। यद्यपि आजकल नाटकीय संवादमें पद्यके प्रयोगको अस्वाभाविक और अयुक्त माना जाता है और अभिनवभरतने भी उसका निषेध कर दिया है किन्तु नाटककारको यह छूट तो है ही कि वह ऐसे पात्रोंकी योजना करे जो कवितामें ही बातचीत करते हों या कवि हों या कवियोंका उद्धरण देते हों जैसे अभिनव-भरतने अपने मंगल-प्रभात नाटकमें मेवराज कविकी सृष्टि करके प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी पात्र हो सकते हैं जो किसी दूसरे कविकी रचनाएँ ही प्रेम, मस्ती या उन्मादकी अवस्थामें अथवा सज्ञान अवस्थामें कहते हों। अतः यह विचारणीय है कि कविता या छन्दोबद्ध वाक्योंका प्रयोग नाटकमें किस प्रकार किन अवसरोंपर किया जाय।

❀ छन्दयतत्याह्लादयति छन्दः ॥

[मन प्रसन्न जो करदे वह है छन्द ।]

व्याकरणकी व्युत्पत्तिके अनुसार 'छन्दयति आह्लादयति चदि, अमुन्, चस्य, क्षस्य' अर्थात् जो प्रसन्न करे उसीको छन्द कहते हैं। बहुतसे कोषकारोंने छन्दको पद्यका पर्याय माना है। साहित्यदर्पणकारने भी 'छन्दोबद्धं पदं पद्यम्' अर्थात् 'विशिष्ट छन्दमें बँधे हुए पदको ही पद्य' कहा है। यह छन्द लघु, गुरु स्वर या मात्राकी नियमित वर्ण-योजनासे बनते हैं। सभ्य या असभ्य सभी देशोंमें छन्दोबद्ध रचनाएँ होती पाई गई हैं। अभीतक भी जंगली जातियाँ गीत गा-गाकर नाचती और उत्सव मनाती हैं। इससे जान पड़ता है कि मनुष्य-मात्रमें स्वभावतः पद्य या छन्दके प्रति आकर्षण होता है।

यूनानी नाटकोंमें पहले सब संवाद समवेत गानोंके साथ होते थे, इसलिये उन्होंने अपने लिये कुछ विशेष छन्दोंका प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था जो रसके अनुकूल होते थे। हमारे यहाँके संस्कृत नाटकोंमें भी गद्यके साथ-साथ संवादमें पद्य रखनेकी प्रथाका ही निर्वाह किया गया। अंग्रेजीमें एक नये प्रकारके पद्यका आविष्कार हुआ जिसे 'ब्लैंक वर्स' या लयात्मक गद्य कह सकते हैं। उसमें लयका ध्यान रक्खा जाता है, तुक, वर्णसंख्या या मात्रासंख्याका नहीं। शेक्सपियरके अधिकांश नाटक इसी लयात्मक गद्यमें लिखे गए हैं, गीतोंका प्रयोग केवल वहीं हुआ है जहाँ किसी गायक या गायिकाके द्वारा गीतका आयोजन है। इसके अतिरिक्त उन नाटकोंमें गीतका प्रयोग हुआ है जिनका अभिनय गीताश्रित हो जैसे नृत्यनाट्य (डान्स-बैले) ऑपेरा, शैडो ड्रामा आदि।

छन्दमें रस और भावकी अनुकूलता

❀ रसभावानुकूलश्छन्दप्रयोगो कार्यः।

[रस या भाव वर्धित करना ही है छन्दोंका कार्य।]

यदि नाटकोंमें किसी विशेष प्रयोजनके लिये पद्य-रचना करनी ही हो अर्थात् किसी ऐसे पात्रका अवतारण कर दिया गया हो जो छन्दमें ही बात करता हो, छन्दका प्रेमी हो अथवा [illegible] हो, तो वहाँ छन्द-रचना ऐसी करनी चाहिए जो रस और भावके अनुकूल हो संतुलित हो, उसके पढ़नेमें लय-भंग न हो, यति-भंग न हो, किसी प्रकारके अश्लील और ग्राम्य शब्द न आवें और सरलतासे सबकी समझमें आ सके। अर्थात् काव्यके जो गुण पीछे बताए जा चुके हैं उससे युक्त हों और दोषोंसे रहित हो।

❀ अश्लील-ग्राम्यक्लिष्टत्व-दोषरहितश्छन्दः श्लाघ्यम्।

[ग्राम्य और अश्लील क्लिष्टपद-रहित छन्द है श्लाघ्य।]

इधर कुछ नाटककारोंने एक यह नई शैली निकाली है कि वे नाटक तो सुबोध लिखते हैं किन्तु गीत इतने दार्शनिक और लाक्षणिक बना देते हैं कि उनके अर्थ समझनेमें बड़ी कठिनाई होती है। यह शैली अत्यन्त अनुपयुक्त है। नाटकके गीतोंका लक्ष्य तो यही है कि दर्शक उसका अर्थ जानें इसलिये उनमें भी किसी प्रकारका दोष होना वांछनीय नहीं है। अतः जो बात पद्योंके सम्बन्धमें कही गई है वही गीतोंके सम्बन्धमें भी ग्राह्य होनी चाहिए किन्तु नाटककारको गीतोंकी रचना करते समय तीन बातों पर ध्यान देना चाहिए—पात्रोंकी मर्यादा, उनकी मनःस्थिति, तथा रस, भाव और परिस्थितिके अनुकूल गीतोंकी रचना। जिन रागोंमें गाए जानेका निर्देश नाटककार दे वे पात्रकी तात्कालिक प्रकृतिके अनुकूल हों जैसे यदि कोई गोपी विरहाकुल होकर श्रीकृष्णके वियोगमें गाती है—

"निस दिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहत पावस ऋतु हमपर जबतें स्याम सिधारे।"

तो यह गीत यदि खमाच, भैरव, अथवा भीमपलासी रागमें बाँध दिया गया तो इसका कुछ भी प्रभाव न होगा और रस-दोष हो जायगा, किन्तु यदि आसावरीमें यह गीत गाया गया तो निश्चित रूपमें उसका प्रभाव ठीक पड़ेगा और दर्शक भी गीतके शब्दों और रागकी ध्वनियोंके मेलसे उत्पन्न रसकी तीव्रतम अनुभूति कर सकेंगे। संगीत-शास्त्रके पंडितोंने बतलाया है कि तीनों जगतके लोगोंका चित्त जिससे रंजित या प्रसन्न होता हो उसे राग कहते हैं। संगीतदर्पणमें बताया गया है—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः।
रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः॥
किन्तु देशीषु रज्यन्ते ज्ञातिश्रितवर्त्तिनाम्।
ते रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः॥

अपरञ्च

यस्य श्रवण मात्रेण रज्यन्ते सकलाः प्रजा।
सर्वानुरञ्जनाद्धेतोस्तेन राग इति स्मृतः ॥ ८५ ॥

रागका विवरण जाननेसे पहले संगीतकी कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है। प्रायः सभी संगीतशास्त्रोंके आचार्य यह मानते हैं कि महादेव और पार्वतीसे ही रागोंकी उत्पत्ति हुई है। महादेवजीके मुखसे श्री, वसन्त, भैरव, पंचम और मेघ राग उत्पन्न हुए और पार्वतीजीके मुखसे नट्ट नारायण राग उत्पन्न हुआ। इस प्रकार छः रागोंकी उत्पत्ति हुई। कहा जाता है कि संगीत शास्त्रकी रचना हनूमान, कोहल (कोलाचल या कोलाचार्य) शार्दूल, कम्बलाचार्य, अश्वतर, वायुऋषि, हाहा और हूहू गन्धर्व, रावण, रम्भा अप्सरा, बाणासुरकी पुत्री ऊषा, फाल्गुन और शेषनाग आदि बहुतसे लोगोंने की है। संगीतमें गाना, बजाना और नृत्य (आंगिक चेष्टा द्वारा भावप्रदर्शन) तीनोंका मेल है अर्थात् जो गीत गाया जाय, उसके स्वरोंके अनुसार वाद्य बजाया जाय और उसीके भावके अनुसार नृत्य किया जाय (अंगोंके द्वारा भाव-प्रदर्शन किया जाय)। यह संगीत दो प्रकारका कहा है—(१) मार्गी और (२) देशी। ब्रह्माजीने नाट्यशास्त्रके रचयिता भरतजीको मार्गी संगीत सिखाया था जिसे भरतने अप्सराओं और गन्धर्वोंको सिखाकर शिवजीको सुनवाया था। उस संगीतको सुनकर महादेवजीने भरतको ताण्डव-पद्धति या पुरुष नृत्य और नृत्त सिखाया और पार्वतीजीने लास्य (कोमल या स्त्रियोचित) नृत्य और नृत्त सिखलाया। मार्गी संगीत दैवी है और देशी संगीत मानवीय। देशी संगीत देश-भेदके अनुसार अलग अलग ढंगका है। कहा जाता है कि संगीतके आदि आचार्य महेश्वर रुद्रने प्राकृतिक आकाशसे उत्पन्न सा-रे-गा-मा-प-ध-नी, सात स्वरोंमें से सा और प अर्थात् षड्ज और पंचमको छोड़कर रे-ग-म-ध-नीको कोमल किया और संगीत-शास्त्रकी रचना की। हम अगले खंडमें संगीत-योजनाके प्रकरणमें इसकी विस्तारसे व्याख्या करेंगे। यहाँ तो हम यही समझाने चले हैं कि छन्द क्या है, विभिन्न देशोंमें उनका क्या स्वरूप है और किस प्रकार इनका प्रयोग होता है। संगीतका प्रकरण केवल इसलिये छेड़ दिया गया कि छन्द और संगीतका बड़ा गहरा सम्बन्ध है जो आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा।

छन्दकी परिभाषा

❀ गति संयमश्छन्दः ॥

[गतिका संयम छन्द कहाता।]

संसार भरकी सब भाषाएँ तीन रूपोंमें पाई जाती हैं—पद्य, गद्य और गीत। हमारे यहाँ वेदको भी छन्दस् कहा है, किन्तु वेदकी भाषा भी तीनों रूपोंमें मिलती है। वेदके पद्य भागको ऋक् या मन्त्र कहते हैं, गीत भागको साम और गद्य भागके कुछ अंशको यजुः और कुछको ब्राह्मण कहते हैं। किन्तु विचित्र बात यह है कि संपूर्ण वैदिक साहित्यमें केवल सात छन्दोंका ही प्रयोग हुआ है—१ गायत्री, २ उष्णिक्, ३ अनुष्टुप्, ४ बृहती ५ पंक्ति, ६ त्रिष्टुप् और ७ जगती। इनमेंसे गायत्रीमें ३ चरण होते हैं जिनमें २४ अक्षर या स्वरवर्ण होते हैं, उष्णिक्में २८, अनुष्टुप्में ३२, बृहतीमें ३६, पंक्तिमें ४०, त्रिष्टुप्में ४४ और जगतीमें ४८ अक्षर होते हैं। कात्यायनने आगे चलकर इनके भी बहुतसे भेद कर डाले हैं। इन्हीं सात प्रकारके ही वैदिक छन्दोंमेंसे पीछेके कवियोंने जो बहुतसे छन्द बना लिए उन्हें लौकिक छन्द कहते हैं। इसीलिये हमारे यहाँ छन्दोंके दो भेद हुए—वैदिक और लौकिक।

लौकिक छन्द पहले-पहल किसने चलाए इस सम्बन्धमें यही कथा प्रसिद्ध है कि एक बार महर्षि वाल्मीकि, तमसा नदीमें स्नान करने चले जा रहे थे। उन्होंने सहसा देखा कि एक व्याधने क्रौंचके जोड़ेमेंसे एकको बाणसे बींध दिया, दूसरा भी उसीके साथ चिल्लाकर समाप्त हो गया। इसपर वाल्मीकिको इतनी करुणा आई कि उन्होंने अत्यन्त क्रोधसे व्याधको शाप दिया—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

[हे निषाद! तुम अनन्त वर्षोंतक शान्ति न पाओ क्योंकि तुमने काममोहित क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एकको मार डाला है।] यह श्लोक सुनकर वनदेवताको बड़ा आश्चर्य हुआ—

चित्र आम्नायादन्योऽयं नूतनश्छन्दसामवतारः।

[बड़ी विचित्र बात है। यह तो वैदिक छन्दोंसे अलग एक नया ही छन्द बन गया है।]

स्वयं वाल्मीकिको भी आश्चर्य हुआ कि—

'किमिदं व्याहृतं मया ।' [वाल्मीकि रामायण १,२, १६]

[यह मैंने क्या कह डाला]

इससे प्रायः यही माना जाता है कि लौकिक छन्दोंका आविष्कार महर्षि वाल्मीकिने ही किया । किन्तु वाल्मीकि रामायणके आधुनिक टीकाकार श्रीरामानुज यह नहीं मानते। उनका कहना है कि वाल्मीकिसे पहले भी लौकिक छन्दोंका प्रयोग हुआ करता था किन्तु वे कौनसे छन्द थे और किन्होंने उनका प्रयोग किया, इस विषयमें वे मौन हैं। परन्तु यदि हम वेदको ही सर्व-प्राचीन ग्रन्थ मान लें तो हमें यह समझनेमें कोई आपत्ति नहीं होगी कि छन्दका महत्त्व लोगोंने बहुत पहले समझ लिया और वैदिक या ऋषियोंने उसी रूपमें मन्त्रोंके दर्शन भी कर लिए थे।

छन्दकी परिभाषा

इन सब छन्दोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि स्मृतिमें स्थिर रखनेके लिये, पढ़नेमें स्निग्धता, माधुर्य और गति प्राप्त करनेके लिये ही छन्दोंकी सृष्टि की गई इसलिये छन्द उस शब्द-योजनाको कहते हैं जो किसी विशेष नियमसे अक्षर या मात्राओंके बन्धनमें बँधी हुई चलती हो। इसी-लिये अभिनवभरतने ऊपर ही परिभाषा दे दी है कि शब्दों की गतिका संयम ही छन्द कहलाता है। यों छन्द शब्दका अर्थ भी है शासन, अर्थात् शब्दोंके प्रवाहपर शासन करना ही छन्द कहलाता है। हमारे यहाँ यों तो लौकिक छन्दःशास्त्रपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उनमें महर्षि पिङ्गलका बनाया हुआ ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है। पिङ्गलाचार्यने अपने महाग्रन्थमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतत्तर सहस्र दो सौ सोलह प्रकारके वर्णवृत्तोंका उल्लेख किया है जिनमेंसे लगभग पचास छन्द ही लौकिक संस्कृत काव्योंमें प्रयुक्त हुए हैं।

❀ मात्रा-वर्ण-यति-गति-पद-पदान्त-नियमनं संयमः ॥

[मात्रा, वर्ण और यति-गतिका, पद-पदान्तका नियमन संयम।]

ऊपर कहा गया है कि गतिके संयमको छन्द कहते हैं। इस गतिके संयममें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि छन्दमें कितने पद हों, प्रत्येक पदमें कितनी मात्रा या कितने वर्ण हों, कहाँ यति हो, गणोंकी संगति किस प्रकार हो और चरणोंके पदोंमें किस प्रकारका मेल हो। अतः छन्दः-शास्त्रोंको भली प्रकार समझनेके लिये इन सब पारिभाषिक शब्दोंको भली भाँति समझ लेना चाहिए।

मात्रिक और वर्णिक वृत्त

❀ मात्रिक वर्णिकौवृत्ती ॥

[छन्द-भेद दो मात्रिक वर्णिक।]

छन्द दो प्रकारके होते हैं, एक मात्रिक, दूसरा वर्णिक। मात्रिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप मात्राओं गिनतीसे की जाय और वार्णिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप वर्णोंकी या अक्षरोंकी गिनतीसे की जाय।

मात्रा

❀सस्वराः ह्रस्ववर्णा एक मात्रिकाः, दीर्घाश्च द्विमात्रिकाः।

[सस्वर ह्रस्व एक मात्राके, दीर्घ सभी दो मात्राके।]

सस्वर ह्रस्व वर्ण एक मात्रावाले और दीर्घ वर्ण दो मात्रावाले कहलाते हैं—अ, इ, उ, ऋ तथा इ, उ ऋ मात्रावाले क से ह तक मात्राके अक्षरोंकी एक मात्रा मानी जाती है (कि, कु, कृ आदि) और आ, ई ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः तथा आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, की मात्रावाले क से ह तकके (का, की, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः आदि) सभी अक्षरोंकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं।

❀ संयुक्ताद्यं सानुस्वारं विसर्गसहितमक्षरं गुरु एव ॥

[संयुक्ताक्षरसे पहले या हो अनुस्वारके सग आता या विसर्गके साथ वर्ण हो वह भी गुरु ही कहलाता।]

जहाँ दो अक्षर मिले हुए हों उनसे पहले आनेवाला अक्षर भी दीर्घ गिना जाता है जैसे 'मर्म' शब्दमें 'र्म' अक्षर 'र् और म' से मिला हुआ संयुक्त वर्ण है इसलिये उससे पहले आनेवाला 'म' अक्षर दीर्घ अर्थात् दो मात्राका गिना जायगा। इसी प्रकार जिन अक्षरोंपर अनुस्वार हो जैसे चंद्र, कंठ, पंख, उन्हें भी दीर्घ समझना चाहिए और उनकी भी दो मात्राएँ गिननी चाहिए। अतः उपर्युक्त शब्दोंके 'चं', 'कं' और 'पं' में दो दो मात्राएँ ही गिननी चाहिए। यही नियम विसर्गके साथ भी है जैसे दुःख शब्दमें 'दुः' को दीर्घ समझना चाहिए और उसमें दो मात्राएँ गिननी चाहिए।

❀ ल्ह न्ह म्हापवाद: हिन्द्याम् ।

[हिन्दीमें हैं, ल्ह न्ह म्ह अपवाद ।]

किन्तु हिन्दीमें ल्ह 'न्ह' और 'म्ह' संयुक्त होते हुए भी पूर्ण संयुक्त नहीं उच्चरित होते, स्पर्श-संयुक्त उच्चरित होते हैं अतः इनके पहले आनेवाला अक्षर दीर्घ नहीं होता । जैसे 'कुल्हाड़ा', 'तुम्हारा', 'कुम्हार' में 'कु' तु' और 'कु', की एक ही मात्रा गिनी जायगी ।

पादान्तकी दीर्घता अस्वीकृत

❀ पादान्तदीर्घत्वमग्राह्यमभिनवभरतेन ।

[अभिनवभरत न ग्राह्य समझते पादान्तोंको दीर्घ मानना]

कुछ संस्कृतके आचार्योंने यह कहा है कि श्लोकके चरणोंके अन्तमें आनेवाले लघुको भी विकल्पसे अर्थात् कभी कभी दीर्घ ही समझना चाहिए किन्तु अभिनव-भरत इसे नहीं मानते हैं । विकल्पका प्रयोग करना अच्छे कविका गुण नहीं है ।

लघु और गुरु

❀ एक मात्रिको लघुर्द्विमात्रिको गुरुः ।

[लघु है एक मात्रावाला और दीर्घ दो मात्राका]

पारिभाषिक शब्दावलीमें एक मात्रावाले अक्षरको लघु और दो मात्रावाले अक्षरको गुरु कहते हैं । दोनोंको संकेतमें व्यक्त करनेके ये चिह्न हैं—

लघु = ।

गुरु = ऽ या ।।

मात्राको कला भी कहते हैं ।

उच्चारणके अनुसार लघुत्व-गुरुत्व

❀ उच्चारणाश्रितं लघुत्वं गुरुत्वं च ।

[उच्चारणपर ही आश्रित है वर्ण-लघुत्व-गुरुत्व ।]

यह स्मरण रखना चाहिए कि लघु या गुरुका निर्णय उच्चारणपर निर्भर है । कभी कभी कुछ अक्षर लिखे तो जाते हैं दीर्घ, पर उच्चरित किए जाते हैं लघु ही, जैसे—

अवधेसके द्वारे सकारे गई सुत गोदकै भूपति लै निकसे ।

इसमें रेखाङ्कित अक्षर 'के' रे, रे, कै देखनेमें तो दीर्घ या गुरु हैं किन्तु उच्चारणमें ह्रस्व या लघु हैं अतः इन्हें लघु ही मानना चाहिए और इनकी एक ही मात्रा गिननी चाहिए ।

मात्रिक और वर्णिक छन्दमें अन्तर

हम ऊपर बता आए हैं कि छन्द दो प्रकारके होते हैं—मात्रिक और वर्णिक । जिस छन्दमें प्रत्येक चरणकी नाप मात्रा गिनकर होती है उसे मात्रिक और जिसमें प्रत्येक चरणकी नाप उसके वर्ण या अक्षर गिनकर होती है उसे वर्णिक कहते हैं ।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी एक चौपाई लीजिए

माँगी नाव न केवट आना । = १० वर्ण

ऽऽ ऽ। । ऽ।। ऽऽ = १६ मात्राएँ

कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ।। = १२ वर्ण

।।।।ऽ। ।।। ऽ ऽऽ = १६ मात्राएँ

चरन कमल रज कहँ सब कहई । = १५ वर्ण

।।। ।।। ।। ।।। ।।ऽ = १६ मात्राएँ

मानुस करनि मूरि कछु अहई ।। १३ वर्ण

ऽ।। ।।। ऽ। ।। ।।ऽ = १६ मात्राएँ

इसके चार चरणोंमेंसे प्रत्येकमें सोलह-सोलह मात्राएँ किन्तु वर्ण १०, १२, १५ और १३ हैं इसलिये यह मात्रिक छन्द है वर्णिक नहीं ।

अब उन्हींका दूसरा तोटक छन्द लीजिए—

'जय राम रमा रमणं शमनं

भवताप भयाकुल पाहि जनं ।

अवधेष सुरेश रमेश विभो,

शरणागत माँगत पाहि प्रभो ।

इसके प्रत्येक चरणमें बारह बारह वर्ण हैं अतः यह वर्णिक छन्द है ।

शुभ अशुभ और दग्धाक्षर वर्ण

❀ झहरभषाः दग्धाक्षराः ।

[झहरभष हैं दग्ध अक्षर]

हमारे यहाँ छन्दश्शास्त्रियोंने मात्रिक और वर्णिक भेदोंतक ही नहीं छोड़ा है । उन्होंने यह भी विचार किया है कि अक्षरोंमें कौन अक्षर शुभ हैं, कौनसे अशुभ हैं और कौनसे दग्धाक्षर अर्थात् अत्यन्त त्याज्य हैं । इसका कारण यही है कि

'किमिदं व्याहृतं मया ।' [वाल्मीकि रामायण १,२, १६]

[यह मैंने क्या कह डाला]

इससे प्राय: यही माना जाता है कि लौकिक छन्दोंका आविष्कार महर्षि वाल्मीकिने ही किया । किन्तु वाल्मीकि रामायणके आधुनिक टीकाकार श्रीरामानुज यह नहीं मानते। उनका कहना है कि वाल्मीकिसे पहले भी लौकिक छन्दोंका प्रयोग हुआ करता था किन्तु वे कौनसे छन्द थे और किन्होंने उनका प्रयोग किया, इस विषयमें वे मौन हैं। परन्तु यदि हम वेदको ही सर्व-प्राचीन ग्रन्थ मान लें तो हमें यह समझनेमें कोई आपत्ति नहीं होगी कि छन्दका महत्त्व लोगोंने बहुत पहले समझ लिया और वैदिक या ऋषियोंने उसी रूपमें मन्त्रोंके दर्शन भी कर लिए थे ।

छन्दकी परिभाषा

इन सब छन्दोंको देखनेसे प्रतीत होता है कि स्मृतिमें स्थिर रखनेके लिये, पढ़नेमें स्निग्धता, माधुर्य और गति प्राप्त करनेके लिये ही छन्दोंकी सृष्टि की गई इसलिये छन्द उस शब्द-योजनाको कहते हैं जो किसी विशेष नियमसे अक्षर या मात्राओंके बन्धनमें बँधी हुई चलती हो । इसी-लिये अभिनवभरतने ऊपर ही परिभाषा दे दी है कि शब्दों की गतिका संयम ही छन्द कहलाता है । यों छन्द शब्दका अर्थ भी है शासन, अर्थात् शब्दोंके प्रवाहपर शासन करना ही छन्द कहलाता है । हमारे यहाँ यों तो लौकिक छन्दःशास्त्रपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं किन्तु उनमें महर्षि पिङ्गलका बनाया हुआ ग्रन्थ ही सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है । पिङ्गलाचार्यने अपने महाग्रन्थमें एक करोड़ सड़सठ लाख सतत्तर सहस्र दो सौ सोलह प्रकारके वर्णवृत्तोंका उल्लेख किया है जिनमेंसे लगभग पचास छन्द ही लौकिक संस्कृत काव्योंमें प्रयुक्त हुए हैं ।

॥ मात्रा-वर्ण-यति-गति-पद-पदान्त-नियमनं संयमः ॥

[मात्रा, वर्ण और यति-गतिका, पद-पदान्तका नियमन संयम ।]

ऊपर कहा गया है कि गतिके संयमको छन्द कहते हैं। इस गतिके संयममें इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि छन्दमें कितने पद हों, प्रत्येक पदमें कितनी मात्रा या कितने वर्ण हों, कहाँ यति हो, गणोंकी संगति किस प्रकार हो और चरणोंके पदोंमें किस प्रकारका मेल हो । अतः छन्दः-शास्त्रोंको भली प्रकार समझनेके लिये इन सब पारिभाषिक शब्दोंको भली भाँति समझ लेना चाहिए ।

मात्रिक और वर्णिक वृत्त

॥ मात्रिक वर्णिकौवृत्तौ ॥

[छन्द-भेद दो मात्रिक वर्णिक ।]

छन्द दो प्रकारके होते हैं, एक मात्रिक, दूसरा वर्णिक। मात्रिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप मात्राओं गिनतीसे की जाय और वर्णिक छन्द उसे कहते हैं जिसके प्रत्येक चरणकी नाप वर्णोंकी या अक्षरोंकी गिनतीसे की जाय ।

मात्रा

॥ सस्वराः ह्रस्ववर्णा एकमात्रिकाः, दीर्घाश्च द्विमात्रिकाः॥

[सस्वर ह्रस्व एक मात्राके, दीर्घ सभी दो मात्राके ।]

सस्वर ह्रस्व वर्ण एक मात्रावाले और दीर्घ वर्ण दो मात्रावाले कहलाते हैं—अ, इ, उ, ऋ तथा इ, उ ऋ मात्रावाले क से ह तक मात्राके अक्षरोंकी एक मात्रा मानी जाती है (कि, कु, कृ आदि) और आ, ई ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः तथा आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, की मात्रावाले क से ह तकके (का, की, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः आदि) सभी अक्षरोंकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं ।

॥ संयुक्ताद्यं सानुस्वारं विसर्गसहितमक्षरं गुरु एव ।

[संयुक्ताक्षरसे पहले या हो अनुस्वारके संग आत या विसर्गके साथ वर्ण हो वह भी गुरु ही कहलाता ।

जहाँ दो अक्षर मिले हुए हों उनसे पहले आनेवाल अक्षर भी दीर्घ गिना जाता है जैसे 'मर्म' शब्दमें 'र्म' अक्ष 'र् और म' से मिला हुआ संयुक्त वर्ण है इसलिये उस पहले आनेवाला 'म' अक्षर दीर्घ अर्थात् दो मात्रा गिना जायगा । इसी प्रकार जिन अक्षरोंपर अनुस्वार जैसे चंद्र, कंठ, पंख, उन्हें भी दीर्घ समझना चाहिए उनकी भी दो मात्राएँ गिननी चाहिए । अतः उपर शब्दोंके 'चं', 'कं' और 'पं' में दो दो मात्राएँ ही गि चाहिए । यही नियम विसर्गके साथ भी है जैसे दु शब्दमें 'दुः' को दीर्घ समझना चाहिए और उसमें मात्राएँ गिननी चाहिए ।

मात्रिक छंद—

मात्रा	नाम	छंदभेद
१	चान्द्र	१
२	पाक्षिक	२
३	राम	३
४	वैदिक	४
५	याज्ञिक	८
६	रागी	१३
७	लौकिक	२१
८	वासव	३४
९	आंक	५५
१०	दैशिक	८९
११	रौद्र	१४४
१२	आदित्य	२३३
१३	भागवत	३७७
१४	मानव	६१०
१५	तैथिक	९८७
१६	संस्कारी	५९७
१७	महासंस्कारी	२५८४
१८	पौराणिक	४१८१
१९	महापौराणिक	६७६५
२०	महादैशिक	१०९४६
२१	त्रैलोक	१७७११
२२	महारौद्र	२८६५७
२३	रौद्रार्क	४६३६८
२४	अवतारी	७५०२५
२५	महावतारी	१२१३९३
२६	महाभागवत	१९६४ ८
२७	नाक्षत्रिक	३१७८११
२८	यौगिक	५१४२२९
२९	महायौगिक	८३२०४
३०	महातैथिक	१३४६२६९
३१	अश्वावतारी	२१७८३०९
३२	लाक्षणिक	३५२४५७८

ये भेद केवल मात्रिक समके हैं। मात्रिक अर्द्धसम और मात्रिक विषमके भी इसी प्रकार अनेक भेद हो सकते हैं।

वर्णवृत्त

जैसे मात्रिक छन्द १ मात्रासे ३२ मात्रा तकके होते हैं वैसे ही वर्णिक भी एक वर्णसे २६ वर्ण तकके होते हैं।

वर्णसंख्या	नाम	भेद
१	उक्था	२
२	अत्युक्था	४
३	मध्या	८
४	प्रतिष्ठा	१६
५	सुप्रतिष्ठा	३२
६	गायत्री	६४
७	उष्णिक्	१२८
८	अनुष्टुप्	२५६
९	बृहती	५१२
१०	पंक्तिः	१०२४
११	त्रिष्टुप्	२०४८
१२	जगती	४०९६
१३	अतिजगती	८१९२
१४	शर्करी	१६३८४
१५	अतिशर्करी	३२७६८
१६	अष्टिः	६५५३६
१७	अत्यष्टिः	१३१०७२
१८	धृतिः	२६२१४४
१९	अतिधृतिः	५२४२८८
२०	कृतिः	१०४८५७६
२१	प्रकृतिः	२०९७१५२
२२	आकृतिः	४१९४३०४
२३	विकृतिः	८३८८६०८
२४	संस्कृतिः	१६७७७२१६
२५	अतिकृतिः	३३५५४४३२
२६	उत्कृतिः	६७१०८८६४

कुछ वर्ण-विषम छन्द भी होते हैं जिनका प्रयोग महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृतमें मिलता है।

रस या वर्णनके अनुसार छन्दोयोजना

हम ऊपर कह आए हैं कि छन्दोंकी योजना अथवा गीतोंकी योजना रस और भावके अनुसार होनी चाहिए

हमारे यहाँ प्रत्येक अक्षर भी सार्थक शब्द है। इन अक्षर शब्दोंमेंसे जो शुभ मंगलकारी वस्तुवाची या श्रेष्ठ देव-वाची हैं वे शुभ माने गए हैं, जिनके अर्थोंमें अन्य अर्थोंके साथ साथ अमंगलकारी वस्तु भी ध्वनित होती है वे अशुभ और जिनके अर्थोंमें अग्नि, दैत्यराज, दैत्यगुरु, विनाश आदि आते हैं उन्हें दग्धाक्षर बताया गया है और उनका प्रयोग काव्यके प्रारंभमें वर्जित और निषिद्ध माना गया है। इस विचारके अनुसार तीनों प्रकारके अक्षरोंकी तालिका नीचे दी जाती है—

शुभ अक्षर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ च छ ज ड द ध न य श स च।

अशुभ अक्षर—ङ झ ञ ट ठ ढ ण त थ प फ ब भ म र ल व ष ह।

दग्धाक्षर—झ ह र भ ष

अपवाद

❀ देववाचित्वदीर्घत्वापवादेन दग्धाक्षर प्रयोगो वर्ज्यः।

[देव शब्द या दीर्घ छोड़कर दग्धाक्षर हैं वर्ज्य।]

यदि उपर्युक्त दग्धाक्षरोंमेंसे किसी वर्णका प्रयोग पद्यके प्रारंभमें करना ही पड़े तो उसे दीर्घ कर दे जैसे झा, झी, झू, झे, झो, झौ आदि या उस दग्धाक्षरसे प्रारंभ होने वाला शब्द देववाची कर दिया जाय जैसे हरि, रघुपति, भरत, आदि

मात्रिक और वर्णिक वृत्तके उपभेद

❀ समार्द्धसमविषमाः।

[हैं सम और अर्द्धसम या तो विषम चरणके वृत्त।]

जिन छन्दोंके चारों चरणोंके वर्ण या उनकी मात्राएँ समान हों उन्हें समवृत्त कहते हैं। जिनके-पहले तीसरे और दूसरे-चौथे चरणोंकी मात्राएँ या वर्ण समान हों उन्हें अर्द्धसम कहते हैं। जिन छन्दोंके चारो चरणों-की मात्राओं या वर्णोंकी संख्या भिन्न-भिन्न हों उन्हें विषम कहते हैं।

गण और उनके फल

हमारे आचार्योंने वर्णोंके क्रमको छन्दमें व्यवस्थित करनेके लिये तीन तीन अक्षरोंके आठ गण या अक्षर-समूह बना दिए हैं जिनके प्रयोग और फलका विवरण इस प्रकार दिया गया है—

मो भूमिः श्रियमातनोति यजलं वृद्धिर्र चाग्निर्मृतिम्।
सो वायुः परदेशदूरगमनं तव्योमशून्यं फलम्॥
जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्।
नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिति प्राहुर्गणानां बुधाः॥

[श्रुतबोध]

गण	देवता	फल	लक्षण
मगण	भूमि	धन	ऽऽऽ (तीनों गुरु)
नगण	स्वर्ग	सुख	।।। (तीनों लघु)
भगण	चन्द्रमा	यश	ऽ।। (गुरु लघु लघु)
यगण	जल	वृद्धि	।ऽऽ (लघु गुरु गुरु)
जगण	सूर्य	रोग	।ऽ। (लघु गुरु लघु)
रगण	अग्नि	मृत्यु	ऽ-ऽ (गुरु लघु गुरु)
सगण	वायु	प्रवास	।।ऽ (लघु लघु गुरु)
तगण	आकाश	शून्य	ऽऽ। (गुरु गुरु लघु)
गुरु	ऽ		
लघु	।		

स्मरण रखनेके लिये यह सूत्र अधिक सहायक होगा—
यमाताराजभानसलगं।

इस सूत्रमें सब गणोंके नाम भी क्रमशः यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण, सगण लघु और गुरु आगए साथ ही प्रत्येक गणसे प्रारंभ होनेवाले अक्षरको लेकर उसके आगेके दो अक्षर मिलाकर उनकी मात्राओंको देखकर जाना जा सकता है कि अमुक गणमें गुरु लघु मात्राओंका क्या क्रम है। मान लीजिए आपको भगण जानना है तो ऊपरके सूत्रसे भगणका बोधक 'भा' ले लीजिए और उसके आगेके दो अक्षर ले लीजिए न और स। ये तीनों मिलकर हुए 'भानस' अर्थात् इसमें ऽ।। एक गुरु और दो लघु वर्ण होंगे।

इन्हीं नियमोंके अनुसार हमारे यहाँ अनेक कवियोंने अनेक प्रकारके छन्दोंका आविष्कार किया और इन्हीं छन्दोंमें कविता और गीतका निर्माण किया गया। ये छन्द एक मात्रावाले या एक वर्णवाले अक्षरोंसे प्रारंभ होकर ३२ मात्रा और २६ अक्षरों तक के हैं।

मात्रिक छंद—

मात्रा	नाम	छंदभेद
१	चान्द्र	१
२	पाक्षिक	२
३	राम	३
४	वैदिक	४
५	याज्ञिक	८
६	रागी	१३
७	लौकिक	२१
८	वासव	३४
९	आंक	५५
१०	दैशिक	८९
११	रौद्र	१४४
१२	आदित्य	२३३
१३	भागवत	३७७
१४	मानव	६१०
१५	तैथिक	९८७
१६	संस्कारी	५९७
१७	महासंस्कारी	२५८४
१८	पौराणिक	४१८१
१९	महापौराणिक	६७६५
२०	महादैशिक	१०९४६
२१	त्रैलोक	१७७११
२२	महारौद्र	२८६५७
२३	रौद्रार्क	४६३६८
२४	अवतारी	७५०२५
२५	महावतारी	१२१३९३
२६	महाभागवत	१९६४ ८
२७	नाक्षत्रिक	३१७८११
२८	यौगिक	५१४२२९
२९	महायौगिक	८३२०४
३०	महातैथिक	१३४६२६९
३१	अश्वावतारी	२१७८३०९
३२	लाक्षणिक	३५२४५७८

ये भेद केवल मात्रिक समके हैं। मात्रिक अर्द्धसम और मात्रिक विषमके भी इसी प्रकार अनेक भेद हो सकते हैं।

वर्णवृत्त

जैसे मात्रिक छन्द १ मात्रासे ३२ मात्रा तकके होते हैं वैसे ही वर्णिक भी एक वर्णसे २६ वर्ण तकके होते हैं।

वर्णसंख्या	नाम	भेद
१	उक्था	२
२	अत्युक्था	४
३	मध्या	८
४	प्रतिष्ठा	१६
५	सुप्रतिष्ठा	३२
६	गायत्री	६४
७	उष्णिक्	१२८
८	अनुष्टुप्	२५६
९	बृहती	५१२
१०	पंक्तिः	१०२४
११	त्रिष्टुप्	२०४८
१२	जगती	४०९६
१३	अतिजगती	८१९२
१४	शर्करी	१६३८४
१५	अतिशर्करी	३२७६८
१६	अष्टिः	६५५३६
१७	अत्यष्टिः	१३१०७२
१८	धृतिः	२६२१४४
१९	अतिधृतिः	५२४२८८
२०	कृतिः	१०४८५७६
२१	प्रकृतिः	२०९७१५२
२२	आकृतिः	४१९४३०४
२३	विकृतिः	८३८८६०८
२४	संस्कृतिः	१६७७७२१६
२५	अतिकृतिः	३३५५४४३२
२६	उत्कृतिः	६७१०८८६४

कुछ वर्ण-विषम छन्द भी होते हैं जिनका प्रयोग महाराष्ट्री प्राकृत और संस्कृतमें मिलता है।

रस या वर्णनके अनुसार छन्दोयोजना

हम ऊपर कह आए हैं कि छन्दोंकी योजना अथवा गीतोंकी योजना रस और भावके अनुसार होनी चाहिए

अर्थात् छन्दोंकी शब्दावलीसे ही नहीं वरन् उनकी गति या लयसे भी रस और भाव समझनेमें सुविधा हो जैसे हिन्दीमें छप्पय और घनाक्षरीका प्रयोग वीर, भयानक और रौद्रके लिये किया गया है। महाकवि क्षेमेन्द्रने अपने सुवृत्ततिलक ग्रन्थमें छन्दोयोजनाके संबंधमें एक विशेष पद्धतिकी स्थापना की है—

आरम्भे सर्गबन्धस्य कथाविस्तारसंग्रहे।
समोपदेशवृत्तान्ते सन्तः शंसन्त्यनुष्टुभम् ॥
शृंगारालम्बनोदारनायिका—रूप—वर्णनम्।
वसन्तादि तदङ्गं च सच्छायमुपजातिभिः ॥
रथोद्धता विभावेषु भव्या चन्द्रोदयादिषु।
षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते ॥
वसंततिलकं भाति सङ्करे वीररौद्रयोः।
कुर्यात् सर्गस्य पर्यन्ते मालिनीं द्रुततालवत् ॥
उपपन्न-परिच्छेदकाले शिखरिणी मता।
औदार्यरुचिरौचित्य-विचारे हरिणी मता ॥
साक्षेपक्रोधधिक्कारे परं पृथ्वीभरक्षमा।
प्रावृट्प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता विराजते ॥
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलक्रीडितं मतम्।
सावेगपवनादीनां वर्णने स्रग्धरा मता ॥
दोधकतोटकनर्कुटयुक्तं मुक्तकमेव विराजति सूक्तम्।
निर्विषयस्तु रसादिषु तेषां निर्नियमश्च सदा विनियोगः ॥
शेषाणामप्यनुक्तानां वृत्तानां विषयं विना।
वैचित्र्यमात्रपात्राणां विनियोगो न दर्शितः ॥
इत्येष वश्यवचसां सर्ववृत्त-प्रसंगिनाम्।
अदोविभागः सद्वृत्तिविनिवेशे विशेषवित् ॥

[सर्गके प्रारंभमें, कथाका विस्तार कम करनेके लिये, उचित उपदेश और वृतान्त कहनेमें सज्जन लोग अनुष्टुपका प्रयोग करते हैं। उपजाति छन्दमें शृंगार, उसके आलम्बन तथा नायिकाके रूपवर्णन और वसन्त तथा उसके अंगोंका वर्णन किया जाता है। विभाव अर्थात् चन्द्रोदयादि उद्दीपनमें रथोद्धता छंदका और षाड्गुण्य नीतिका वर्णन वंशस्थ छन्दमें शोभा देता है। वीर और रौद्रके मेलमें वसन्ततिलका और सर्गके अन्तमें द्रुत तालवाली मालिनीका प्रयोग किया जाना चाहिए। परिच्छेद या विभाजन करनेके लिये शिखरिणीका प्रयोग हो तथा उदाहरण रुचि और औचित्यका विचार करनेमें हरिणीका प्रयोग हो। राजाओंके द्वारा आक्षेप, क्रोध तथा धिक्कार, और वर्षा, प्रवास तथा दुःखमें मन्दाक्रान्ता छन्द, राजाओंका शौर्य वर्णन करनेमें शार्दूल-विक्रीडित, आँधीका वर्णन करनेमें स्रग्धरा तथा दोधक, मुक्तक सूक्तियोंके लिये तोटक और नर्कुटका प्रयोग होना चाहिए]

महाकवि क्षेमेन्द्रने कालिदासकी छन्दोयोजनाका विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि—

सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति।
सदश्वदमनस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ॥
सुवर्णार्हप्रबन्धेषु यथास्थान-निवेशिनाम्।
रत्नानामपि वृत्तानां भवत्यभ्यधिका रुचिः ॥

[जैसे अच्छा घुड़सवार अच्छी कांबोजीघोड़ी को अपने वशमें करके उसपर सवारी करता है वैसे ही कालिदास भी मन्दाक्रान्ताको अपने वशमें किए हुए हैं। सुन्दर वर्णवाले प्रबन्ध-काव्योंमें छन्दोंका प्रयोग वैसी ही कलाके साथ करना चाहिए जैसे सोनेमें रत्न यथास्थान जड़े जाते हैं।]

रीति-ग्रन्थकारोंने काव्य-दोष गिनाते हुए हतवृत्तता नामक दोष भी लिखा है। उनका कहना है कि जो-जो वृत्त रसके स्वभावसे विपरीत पड़ता हो उसका प्रयोग उस रसके लिये करना ही हतवृत्तत्व दोष है। इसका तात्पर्य यह है कि रसका छन्दसे संबंध अवश्य है। यद्यपि इस विषयपर एक ऐसे पृथक् निबन्धकी आवश्यकता है जिसमें विभिन्न रसोंके अनुगुण छन्दोंकी योग्यता विस्तारके साथ समझाई जाय किन्तु इस समय हम केवल यही विचार करना चाहते हैं कि महाकवि कालिदासने अपने काव्योंमें किन रसों, भावों तथा वर्णनोंके लिये किन छन्दोंका प्रयोग किया है।

छन्द — विषय-भाव या रस

१. उपजाति—वंशवर्णन, तपस्या तथा नायका-नायिकाका सौन्दर्य।
२. अनुष्टुप्—लम्बी कथाको संक्षिप्त करने तथा उपदेश देनेमें।
३. वंशस्थ—वीरता-प्रकरणमें, चाहे युद्ध हो या युद्धकी तैयारी हो रही हो।
४. वैतालीय—करुण रसमें।
५. द्रुतविलम्बित—समृद्धिके वर्णनमें।
६. रथोद्धता—जिस कर्मका परिणाम खेदके रूपमें परिणत

हो चाहे वह खेद रति-जनित हो, दुष्कर्म-जनित हो या पश्चात्ताप-जनित हो। अतएव काम-क्रीड़ा, आखेट आदिका वर्णन इस छन्दमें है।

७. मन्दाक्रान्ता—प्रवास, विपत्ति तथा वर्षाके वर्णनमें।

८. मालिनी—सफलताके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें।

९. प्रहर्षिणी—हर्षके साथ पूर्ण होनेवाले सर्गके अन्तमें। यदि मध्यमें भी कहीं इसका प्रयोग है तो वहाँ भी दुःखकी धारामें हर्ष या हर्षकी धारामें हर्षातिरेक ही वर्णित है।

१०. हरिणी जब नायकका अभ्युत्थान हो या सौभाग्यका वर्णन हो।

११. वसततिलका—कार्यकी सफलतापर। ऋतु-वर्णनमें भी पुरुषोंकी सफलता या ऋतुकी सफलता तभी सिद्ध हो सकती है जब उसका उपभोक्ता उन वस्तुओंका उपभोग कर रहा हो।

इस प्रकार सफलताके लिये, प्रस्थान या प्राप्तिमें पुष्पिताग्रा, निराशाके साथ निवृत्तिमें तोटक, कृतकृत्यतामें शालिनी, तथा वीरता-प्रदर्शनमें औपच्छन्दसिक, क्रीडाके वर्णनमें (चाहे कामक्रीडा हो या अन्य) रथोद्धता, संयोगसे स्वयं-प्राप्त विपत्ति या संपत्तिमें स्वागता, घबराहटमें मत्तमयूर, प्रपञ्चोंका परित्याग करनेमें नाराच तथा वीरता आदिके वर्णनमें शार्दूलविक्रीडितका प्रयोग किया गया है।

ॐ अभिनवभरतस्य सहमतिः।
[अभिनवभरत यहाँ सहमत हैं।]

ऊपर क्षेमेन्द्रने जो विवरण दिया है और जिन-जिन छन्दोंमें जिस-जिस प्रकारके वर्णनकी योजना की है उससे अभिनवभरत पूर्णतः सहमत हैं किन्तु छन्दोंकी संख्या और उनका प्रस्तार अपरिमित है। कौन कवि किस छन्दमें किस प्रकारकी कविता रचे या गीत लिखे यह कविकी व्यक्तिगत चतुरता और सूक्ष्म दृष्टिपर अवलंबित है। इस संबंधमें मनुष्यका कान सबसे अधिक प्रामाणिक है। किसी भी छन्दको पढ़ते हुए कानके द्वारा हृदयपर जिस प्रकारका प्रभाव पड़े वैसे ही प्रभावके वर्णनके लिये वह छन्द उपयुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार संगीतके आचार्योंने विभिन्न रागोंका विभिन्न रसोंके उपयुक्त बताया है वैसा विवेचन पिंगलाचार्यने नहीं किया और फिर जिस उदारतासे उन्होंने छन्दोंके लगभग डेढ़ करोड़ भेद गिना दिए हैं, उन्हें ध्यानमें रखते हुए यह संभव भी नहीं था कि उनमेंसे प्रत्येकके संबंधमें वे रसका भी निर्देश कर देते। ऐसी स्थितिमें अन्तःकरण-प्रवृत्तिको कानके साक्ष्यसे प्रमाण मानकर चलना ही श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

हिन्दीमें जितने छन्द प्रयुक्त हुए हैं वे सब संस्कृत पिंगलपर ही अवलंबित हैं इसलिये नीचे हम हिन्दीके सम, अर्द्धसम तथा विषम मात्रिक तथा वर्णिक छन्दोंके लक्षण भानुके काव्य-प्रभाकरके आधारपर दे रहे हैं—

मात्रिक सम—

चौपाई—चौपाईके प्रति पदमें १६ मात्राएँ होती हैं अन्तमें जगण और तगणका निषेध है—

इस जीवनका एक सहारा। राम नाम ही है ध्रुवतारा।
राम नाम जो नित्य सुनावे। भव सागरसे वह तर जावे॥

किसी साधु, सन्यासी, सन्त या भिक्षु पात्रोंसे तानपूरे, चिकारे या इकतारेके साथ भजन या विरागके गीत गवानेके लिये इस छन्दका प्रयोग किया जा सकता है। भैरवी, सोहनी तथा विहागमें अथवा वियोगिनी रागिनियोंमें यह गवाया जा सकता है।

कुण्डल—कुण्डलके प्रत्येक पदमें २२ (१२, १०) मात्राएँ होती हैं, अन्तमें दो गुरु होते हैं।

भजले मन राम नाम, साथ दे न कोई।
इतने दिन बीत गए, व्यर्थ वही खोई॥
चंचल मन एक बात, मानता न कोई।
इसके ही कारणसे, पाप-गाँठ ढोई॥

इस छन्दका प्रयोग भी साधु-सन्तोंके द्वारा उद्बोधन अथवा प्रातःकालकी जागरण-वेलामें उद्-बोधनके लिये प्रयुक्त कराया जा सकता है। प्रातःकालके सब रागों और रागिनियोंमें इसका प्रयोग हो सकता है।

रोला—रोलामें ११, १३ के विश्रामसे २४ मात्राएँ होती हैं। किसी किसीका मत है कि इसके अन्तमें २ गुरु आवश्यक हैं किन्तु अभिनवभरत यह नहीं मानते—

लो कुठार तुम बाँध, गलेमें हाथ जोड़ लो,
और दुष्टता छोड़, कुपथसे पाँव मोड़ लो॥
चलो रामके पास, किए सीताको आगे।
यही समझ लो भाग्य, तुम्हारे फिरसे जागे॥

यह छन्द उपदेश या आदेश भरे पाठ्य पदोंके लिये व्यवहृत किया जा सकता है। गीतोंके लिये उपयुक्त नहीं है।

दिक्पाल—दिक्पालमें १२, १२ विश्रामसे २४ मात्राएँ होती हैं पाँचवी और सत्रहवीं मात्राएँ लघु होनी चाहिए—

तुम कौन हो, कहाँसे आए यहाँ बताओ।
पिछली कथा कहानी, अपनी हमें सुनाओ॥
सब जान बूझ कर भी, इसमें फँसे हुए हो।
तुम शुद्ध मुक्त होकर, इसमें कसे हुए हो॥

इसका प्रयोग भी साधु-सन्तोंकी पाव्यवाणीके लिये किया जा सकता है, गीतके लिये नहीं!

विष्णुपद—विष्णुपदमें १६ और १० के विश्रामसे २६ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु होना चाहिए—

यश अपयश सब मिले भाग्यसे, सबका भला करो।
जैसे बने करो जनसेवा, भवसे शीघ्र तरो॥
जगमें एक स्वार्थका नाता किसका काम करें।
सेवासे है मेवा मिलती, जीवन-मन्त्र धरें॥

आशीर्वाद, मंगलकामना और विनयके लिये इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

गीतिका—गीतिकामें १४, १२ के विश्राम से २६ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें लघुगुरु होते हैं तथा तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्राएँ सदा लघु होती हैं—

हे प्रभो रघुबीर अपनी भक्ति मुझको दीजिए।
शुद्ध करके मन हमारा, पाप सब हर लीजिए॥
आपके पदपद्ममें मन, भृंग बनकर जा बसे।
मुक्त होकर यह न भवके पाशमें फिर जा फँसे॥

प्रार्थनाके अतिरिक्त, तर्जना, ललकार, विवाद, चुनौतीके लिये भी प्रयोग किया जा सकता है।

सरसी—सरसीमें १६, ११ के विश्रामसे २७ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु लघु होना चाहिए—

मुझपर दया करो हे भगवन्! घट-घट-व्यापी आप।
कैसे मैं चरणोंमें पहुँचूँ, मनमें मेरे नाथ।
शरणागतके रक्षक हो बस, यही भरोसा आज।
अबकी बार न यदि तर पाया, होगा बड़ा अकाज।

अत्यन्त विनयके लिये इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।

सार—सारमें १६, १२ के विश्रामसे २८ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें दो गुरु होते हैं—

परम मनोरम राम नाम है, इस रसना की वाणी।
जिसके जपनेसे होता है, मुक्त पातकी प्राणी।
शंकरने सब रामचरितको, मथकर इसे निकाला।
हनूमानने यही बनाई, अपने उरकी माला।

स्थान, वस्तु व्यक्ति या घटनाका वर्णन करनेके लिये इसका प्रयोग करना चाहिए।

हरिगीतिका—हरिगीतिकामें १६, १२ के विश्रामसे २८ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें लघु गुरु होना चाहिए। पाँचवीं बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्रा लघु होती हैं—

तुमने रची किसके लिये यह कल्पना महिमामयी।
सब जीव आकर व्यर्थ फँसते, उलझते करुणामयी।
यह फन्द अपना तुम समेटो, और इतना काम हो।
मुक्त हों सब आपका भी, सुयश और सुनाम हो॥

प्रार्थना तथा कथा-वर्णनमें इसका प्रयोग वांछनीय है।

चवपैया—चवपैयामें १०, ८, १२ के विश्रामसे ३० मात्राएँ होती हैं। अन्तमें एक सगण' और गुरु हो तो अच्छा है—

भे प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसिल्या हितकारी।
हर्षित महतारी, मुनिमनहारी, अद्भुत रूप निहारी॥
लोचन अभिरामा, तनुघनश्यामा, निज आयुध भुजचारी।
भूषण बनमाला, नयन विशाला शोभासिंधु खरारी॥

देवस्तुति या वर्णनमें इस छन्दका प्रयोग हो सकता है।

शोकहर—शोकहरमें ८, ८, ८, ६ के विश्रामसे ३० मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु होना चाहिए—

मैं बहु दीना, सब गुणहीना, करिअ अधीना निज चरणा।
मम मति भोरी, कहौं बहोरी, लखु मम ओरी जगतरणा।
क्लेश नसैये, मुहिं अपनैये, अब न घिनैये भयहरणा।
जय जय शंकर, जय जय शंकर, जय जय शंकर, तव शरणा।

आर्त्त या करुण पुकार तथा दैन्यपूर्ण कष्ट-निवेदनके लिये इसका प्रयोग होना चाहिए।

बीर—बीरमें ८, ८, १५ के विश्रामसे ३१ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें गुरु लघु होते हैं। वीरतापूर्ण काव्योंमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। अल्हा इसी ढंगपर गाया जाता है—

सुमिरि भवानी जगदंबा को, श्री शारदका चरन मनाय।
आदि सरस्वति तुमको ध्यावौं, माता कंठ बिराजौ आय॥

जोति बखानौं जगदंबा कै, जिनकी कला बरनि ना जाय।
शरदचन्द सम आनन राजै, अति छबि अंग अंग रहि छाय।

त्रिभंगी—त्रिभंगीमें १०, ८, ८ और ६ के विश्रामसे ३२ मात्राएँ होती हैं। इसमें जगणका निषेध है और अन्तमें गुरु होता है। हास्यरसमें हास्यात्मक वर्णनके लिये इसका प्रयोग उचित है।

रावणको मारा, बलिको तारा, दानव-गणको नष्ट किया।
देवोंको लेकर, सागर मथकर, अमृत सारा बाँट दिया॥
वसुदेवनन्द हित, शेष-तल्प तज, व्रजमण्डलमें जन्म लिया।
उस पालक हरिने बालक बनकर, दशरथका कुल पूत किया॥

दुर्मिल—दुर्मिलमें १०, ८, १४ के विश्रामसे ३२ मात्राएँ होती हैं। जगणका प्रयोग नहीं होना चाहिए तथा अन्तमें सगण और दो गुरु होने चाहिएँ। प्रार्थना और विनयके लिये इसका प्रयोग हो सकता है।

जै जय रघुनन्दन, असुर निकंदन, कुलमंडन यशके धारी।
जनमन सुखकारी, विपिन-विहारी, नारि अहिल्यहिं सो तारी॥
शरणागत आयो, ताहि बचायो, राज विभीषनको दीनों।
दशकंध-विदारी, पंथ-सुधारी, काज सुरन जनको कीनों॥

मात्रिक सम (दंडक)

करखा—करखामें ८, १२, ८, ९ की यतिसे ३७ मात्राएँ होती हैं। अन्तमें यगण होता है। वीरतापूर्ण या उदात्त पराक्रमकी प्रशंसाके लिये इसका प्रयोग होना चाहिए।

नमो नरसिंह बलवंत नरसिंह प्रभु, संतहित काज,अवतार धारो।
खम्भते निकसि भू हिरनकश्यप झटक्क दै नखन सों संविदारो॥
ब्रह्म रुद्रादि, सिर नाय जय जय कहत, भक्तप्रह्लादको गोद लीनो
प्रीति सों चाढ़ि, दै राज सुख साज सब, नारायणदासको अभय दीनो।

यदि २०, १७ पर यति मानी जावे तो पद हंसाल दंडक कहलायगा।

झूलना—झूलनामें १०, १०, १०, ७ के विश्रामसे ३७ मात्राएँ होती हैं। इसमें भी अन्तमें यगण होता है—उदात्त गुणोंकी प्रशंसाके लिये इसका प्रयोग होना चाहिए।

जयति हिम बालिका, असुर कुल घालिका,
कालिका मालिका सुरस हेतू।
हमुख हेरम्बकी अम्ब जगदंबिके,
प्राणप्रिय-वल्लभा वृषभकेतू॥

सिद्धि औ ऋद्धि सुख, खनि धन-धान्यकी,
दानि शुभगाङ्गना-सुत-निकेतू।
भुक्ति-मुक्ति-प्रदे, वाणि महारानी,
प्रणत ईश्वरी कहँ शरण दे तू॥

मात्रिक अर्द्ध सम

बरवै—बरवैके पहले और तीसरे चरणमें बारह बारह मात्राएँ होती हैं तथा दूसरे और चौथे में सात-सात। अन्तमें जगण होता है। शृंगार तथा करुण वर्णनोंमें यह अत्यन्त सुन्दर लगता है।

बाम अंग शिव शोभित शिवा उदार।
सरद-सुवारिद में जनु तड़ित बिहार॥

इसे ध्रुव और कुरंग भी कहते हैं।

दोहा—दोहेके पहले और तीसरे चरणमें तेरह तेरह और दूसरे तथा चौथे चरणमें ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ होती हैं। विषम चरणोंके आदिमें जगण नहीं होना चाहिए। अन्तमें लघु होता है—

श्री रघुवर राजिवनयन, रमारमण भगवान।
धनुष-बाण धारण किए, बसहु सु मम उर आन॥

इसका प्रयोग सब स्थानोंमें किया जा सकता है।

सोरठा—सोरठेके विषम चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह और सम चरणोंमें तेरह तेरह मात्राएँ होती हैं। सम चरणोंमें जगणका निषेध है। सोरठा दोहेका उलटा होता है—

भाख्यो जाकों पाँव, भेद न तासों राखिए।
जो वह माँगे जीव, तनमें नैकु न राखिए॥

इसका प्रयोग उपदेश, उदाहरण, निर्देश, व्यंग्यात्मक कथन तथा विशिष्ट लक्षण-प्रदर्शनमें करना चाहिए।

उल्लाला—उल्लालाके विषम चरणोंमें पन्द्रह और सम चरणोंमें तेरह-तेरह मात्राएँ होती हैं—

कह कवित कहा बिन रुचिर मति,मति सुकहा बिन हीं बिरति।
कह बिरतिउ लाल गुपालके, चरणनि होय जु प्रीति अति॥

यह प्रायः छप्पयमें वीरतापूर्ण वर्णनोंमें प्रयुक्त होता है।

मात्रिक विषम—

कुण्डलिया—में ६ चरण होते हैं। पहले एक दोहा होता है, उसके पश्चात् एक रोला। प्रत्येक चरणमें २४ मात्राएँ होनी चाहिए तथा प्रत्येक चरणका आदि

अन्त एक सा होना चाहिए। इसका प्रयोग प्रायः अन्योक्तिमें तथा नीति-निर्देशके लिये करना चाहिए—

दोहा रोला जोरिकै, छैपद चौबिस मत्त।
आदि अन्त पद एक सो, कर कुण्डलिया सत्त॥
कर कुंडलिया सत्त, मत्त पिंगल धरि ध्याना।
कविजन-वाणी सत्त, करै सबको कल्याना॥
कह पिंगलको दास, नाथ जू मो तन जोहा।
छन्दप्रभाकर माहिं लसै, रोला अरु दोहा॥

अमृतध्वनि—अमृतध्वनिका प्रयोग वीररसके वर्णनमें होता है किन्तु इसमें शब्दोंके विषम मेलसे अर्थ अस्पष्ट हो जाता है। फिर भी चमत्कारपूर्ण, वीरतापूर्ण वर्णनमें इसका प्रयोग हो सकता है।

अमृत धुनि दोहा प्रथम, चौबिस कल सानन्द।
आदि अंत पद एक धरि, स्वच्छचितरचछन्द॥
स्वच्छच्चितरचछन्द-ध्वनि लखि पद्दलि धरी।
साजजमकतिवाजज्झमक, सुजामम्मद्धरि॥
पद्धरि सिर विद्वज्जन, कर शुद्धध्वनि गुनि।
चित्तथिर करि सुद्धि द्धरि कह यों अमृत धुनि॥

छप्पय—छप्पयमें ६ चरण होते हैं। आरम्भके चार चरण रोलाके और अन्तके दो उल्लालाके। वीरता-पूर्ण वर्णनके लिये इसका प्रयोग किया जाय।

रोलाके पद चारि, मत्त चौबीस धारिए।
उल्लाला पद दोय, अंत माहीं सुधारिए॥
कहुँ अट्ठाइस होई, मत्त छब्बिस कहुँ देखो।
छप्पयके सब भेद, मीत इकहत्तर लेखो॥
लघु गुरुके क्रमतें भई, बानी कवि-मंगल-करन।
प्रगट कवितकी रीति भल, भानु भए पिंगलसरन॥

वर्णिक सम—

इनके प्रयोगका वर्णन हम पीछे संस्कृत छन्दःशास्त्रके प्रकरणमें कर आए हैं।

विद्युन्माला—इसमें ८ वर्ण होते हैं—दो मगण और दो गुरु—

मोमे गंगा थारो भक्ति। बाढ़ै ऐसी दीजै शक्ति॥
थारी बारी वीचीजाला। देखै लाजै विद्युन्माला॥

अनुष्टुप्—इसके चारों चरणोंमें पाँचवाँ वर्ण लघु और छठा वर्ण गुरु होता है। सभी चरणोंमें सातवाँ वर्ण भी लघु होता है। अन्य वर्णोंके लिये कोई नियम नहीं होता—जैसे रामचरितमानसमें।

वर्णानामर्थ-संघानां, रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ, वन्दे वाणी-विनायकौ।

चम्पकमाला—चम्पकमालामें १० वर्ण होते हैं—एक भगण, एक यगण, एक सगण तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है—

भूमि सगी ना मान वृथा हीं। कृष्ण सगो है या जग माहीं॥
ताहि रिझैये ज्यों ब्रजबाला। डारि गलेमें चम्पकमाला॥

इन्द्रवज्रा—इसमें ११ वर्ण होते हैं, दो तगण, एक जगण और अन्तमें दो गुरु—

गोष्ठे गिरिं सव्य करेण धृत्वा रुष्टेन्द्रवज्राहति मुक्तवृष्टौ॥
यो गोकुलं गोपकुलं च सुस्थं, चक्रे स नो रक्षतु चक्रपाणिः॥

उपेन्द्रवज्रा—उपेन्द्रवज्रामें भी ११ वर्ण होते हैं, जगण, तगण, जगण और दो गुरु—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

दोधक—दोधकमें तीन भगण और दो गुरु होते हैं—

भागु न गो दहि दे नँदलाला। पाणि गहे कहतीं ब्रजबाला।
दोध करैं सब आरत बानी। या मिसि लै घर जायँ सयानी॥
देव! सदोध कदम्ब तलस्थ। श्रीधर तावक नाम पदं मे॥
कंठतलेऽसुविनिर्गमकाले। स्वल्पमपि क्षणमेष्यति योगम्॥

भुजंगी—भुजंगी छन्दमें तीन यगण और लघु गुरु होता है—

यचौ अन्तमें गान कै शंकरा। सती नाथ सों नानुकंपाकरा॥
करेंगे कृपा शीघ्र गंगा धरा। भुजंगी कपाली त्रिशूलंधरा॥

वंशस्थविर—इसमें १२ वर्ण होते हैं—जगण, तगण, जगण और रगण—

जुती जुरावै निज पंव भावती॥
सुती कहावै गति नीक पावती॥
प्रथा जु वंशस्थ विलंघि धावती।
नसाय तीनों कुलको लजावती॥

तोटक—तोटक भी १२ वर्णोंका वृत्त है किन्तु इसमें चारों सगण होते हैं—

ससि सों सखियाँ बिनती करतीं।
टुक मंद न हो पग तो परतीं॥

हरिके पद अंकनि ढूँढ़न दे ।
छिन तो टक लाय निहारन दे ॥
जयराम सदा सुखधाम हरे ।
रघुनायक सायक चाप धरे ॥
भव वारण दारण सिंह प्रभो ।
गुण सागर नागर नाथ विभो ॥

स्रग्विणी—१२ वर्णोंके इस वृत्तमें सभी रगण होते हैं—

रार री राधिका श्याम सों क्यों करे ।
सीख मों मान ले मान काहे धरे ॥
चित्तमें सुन्दरी क्रोध ना आनिए ।
स्रग्विणी मूर्तिको कृष्णकी धारिए ॥

भुजंगप्रयात—भुजंगप्रयातमें चारों यगण होते हैं—

याचौं मैं प्रभूतें यही हाथ जोरी ।
फिरै आपुतें ना कबौं बुद्धि मोरी ॥
भुजंगप्रयातोपमा चित्त जाको ।
जुरै ना कदा भूलि कै संग ताको ॥

सुन्दरी—सुन्दरीमें नगण, भगण और रगणका क्रम रहता है—

नभ भरी विधु भासन आगरी ।
सुख प्रभा बहुभूषित नागरी ॥
भजन जो सखि बालमुकुन्द री ।
जगन सोहत यद्यपि सुन्दरी ॥

नवमालिनी—इसमें नगण, जगण, भगण, और यगणके क्रमसे १२ वर्ण होते हैं—

निजभय छाँड़ि चीन्ह हनु लीजै ।
अहि महि नाथ आशु बलि दीजै ॥
किमि हनु तो प्रवेश इहि काला ।
प्रभु नवमालिनी सुमन माला ॥

राग—तेरह वर्णोंके इस वृत्तमें रगण, जगण, रगण, जगण और गुरुका क्रम होता है—

रे जरा जगौ न नींद गाढ़ सोय रे ।
पाप देह मानुषो न जन्म खोउ रे ॥
है अनंद राग जासु मुक्ति पाउरे ।
राम राम राम राम राम गाउ रे ॥

वसन्ततिलका—इसमें चौदह वर्ण होते हैं, तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु—

तैं भोज जोग गुनि कै कहु लाभ हानी ।
यौं मंजु बात सुनि कै कह देव-वानी ॥
ह्वै है सुदानि जग पै लह विश्व माँगे ।
हौं सर्ववसन्ततिलका लखि मोद पागे ॥

वासन्ती—वासन्तीमें मगण, तगण, नगण, मगण और दो गुरुके क्रमसे वर्ण होते हैं—

माता! नौ मैं गंग! चरण तोरे त्रैकाला ।
नासौ वेगी दुःख विपुल औरे जंजाला ॥
जाके तीरा राम पहिर भूर्जाकी छाला ।
भूकन्याको देत सुमह वासन्तीमाला ॥

मालिनी—मालिनीमें दो नगण, एक मगण और दो यगण होते हैं—

न नमिय यह धारों पार्थ! शिक्षा सुधन्या ।
कबहुँ तजि हमारी मालिनी मूर्ति अन्या ।
जिनकर यह नेमा मित्र मैं देखि पावौं ।
तिन हित सब कामैं छाँड़ि कै शीघ्र धावौं ॥

चामर—चामरमें रगण, जगण, रगण, जगण और रगणके क्रमसे १५ वर्ण होते हैं—

रोज रोज राधिका सखीन संग जाइ कै ।
खेल रास कान्ह संग चित्त हर्ष लाइ कै ॥
बाँसुरी समान बोल सप्त ग्वाल गाइ कै ।
कृष्ण ही रिझावहीं सुचामरै डुलाइकै ॥

सीता—सीता में रगण, तगण, यगण, भगण और रगणके क्रमसे १५ वर्ण होते हैं—

रे तु माया रंच हूँ जानी न सीता राम की ।
हाय क्यों भूलो फिरै ना सीख मेरी कान की ॥
जन्म बीता जात मीता अन्त रीता जावरे ।
राम सीता राम सीता राम सीता गावरे ॥

पंचचामर—१६ वर्णोंके इस वृत्तमें जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुरुका क्रम होता है—

जु रोज रोज गोपतीय कृष्ण संग धावतीं ।
सुगीत नाथ पाँत्र सों लगाय चित्त गावतीं ॥
कबौं खवाय दूध औ दही हरी रिझावतीं ।
सुधन्य छाँड़ि लाज पंच चामरै डुलावतीं ।

शिखरिणी—शिखरणीमें १७ वर्ण यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और लघु गुरुके क्रम से होते हैं—

यमीना सो भोला, गुनत जु पिए मोह मदिरा।
महापापी पावें, अधम गति जानौ श्रुति गिरा॥
यमी को सम्भू सो, जिन मदन जीत्यो झट यहाँ।
जबै कीन्हें ध्याना, गिरि शिखर नीके बट छहाँ॥

मन्दाक्रान्ता – इसमें मगण, भगण नगण दो तगण और दो गुरु होते हैं—

मोभा नीति तगि कहत क्यों,? अज्ञता रे अजाना।
सर्व व्यापी समुझि मुहिं जो, आत्मज्ञानी सुजाना॥
मेरी भक्ती सुलभ तिहिं को, शुद्ध है बुद्धि जाकी।
मन्दाक्रान्ता करत मुहिंको, धन्य है प्रीति ताकी॥

चञ्चरी—चञ्चरीमें १८ वर्ण रगण, सगण, दो जगण, भगण और रगणके क्रमसे होते हैं—

री सजै जु भरी हरि गुण से रहै नित वाणि तू।
औ सदा लहमान संत समाजमें जग माँहि तू॥
भूलि के जु बिसारि रामहिं आनको गुण गाइ है।
चम्पकै समना हरीजन चञ्चरी मन भाइ है॥

शार्दूलविक्रीड़ित—इसमें १९ वर्ण मगण, सगण, जगण, सगण, दो मगण और गुरुके क्रमसे होते हैं—

मोसों जो सत तू गरूर तजि के पूछै मतो ज्ञान को।
कैहौं मैं भज ले विदेहतनया तासों बड़ो आन को॥
शक्ती आदि अकंथ्य जासु महिमा राखैं वचा पीडिते।
संहारयो जन लागी दुष्ट असुरै शार्दूल-विक्रीडिते॥

गीतिका—गीतिकामें सगण, दो जगण, मगण, रगण, सगण और लघु-गुरुके क्रमसे २० वर्ण होते हैं—

सज जीभ री ! सु लगै सुहीं सुन यो कहा चित लायके।
नय काल लक्ष्मण जानकी सह रामको नित गायके॥
पद मो शरीरहिं राम के सुचि धाम को लय धावहू।
कर बीन लै अति दिन ह्वै नित गीत कान सुनावहू॥

स्रग्धरा—स्रग्धरामें २१ वर्ण मगण रगण, भगण, नगण और ३ यगण के क्रम से होते हैं—

मारे भौने ययू यो, कहहु सुत ! कहाँ ते लिए आवते हो।
भा का आनन्द आजी, तुम फिरी फिरिकै, माथ जो नावते हो
बोले माता ! विलोक्यो, फिरत सह चमू बागमें स्रग्धरे ज्यौं।
काढ़ी मालाऽरु मारे विपुल रिपु बली, अश्व लो जीतिके ज्यौं

मदिरा—इसमें ७ भगण और अन्तमें गुरु होता है—

भासत गौरि गुसाँइन को वर राम धनू दुइ खंड कियो।
मालिनको जयमाल गुहो हरि के हिय जानकी मेलि दियो॥
रावण की उतरी मदिरा, चुप चाप पयान जु लंक कियो।
राम बरी सिय मोद भरी नभ में सुर जै जयकार कियो॥

मत्तगयन्द—इसमें ७ भगण और दो गुरु होते हैं—

भासत गंग न तो सम आन, कहू जगमें मम पाप हरैया।
बैठि रहे मनु देव सबै, तजि तो पर तारन भारहिं मैया॥
या कलि में इक तूहि सदा, जनकी भव पार लगावति नैया।
है तु अरी ! जग केहरि सी अघ मत्त गयंदहिं नास करैया॥

वर्णिक अर्द्धसम

पुष्पिताग्रा—इसके विषम चरणोंमें दो नगण, एक रगण और एक भगण होता है तथा सम चरणोंमें एक नगण, दो जगण, एक रगण और एक गुरु होता है—

प्रभु सम नहिं अन्य कोई दाता।
सुधन जु ध्यावत तीन लोक त्राता॥
सकल असत कामना विहाई।
हरि नित सेवहु मित्त चित्त लाई॥

वर्णिक विषम

उद्गता—उद्गताके पहले चरणमें सगण और लघु, दूसरेमें नगण, सगण, जगण और गुरु, तीसरेमें भगण, नगण, जगण और लघु गुरु और चौथे चरणमें सगण, जगण, सगण, जगण और गुरु होता है—

सब त्यागिए असत् कामा।
शरण गहिए सदा हरी॥
दुःख भव जनित जाँय टरी।
भजिए अहो निशि हरी हरी हरी॥

इसका तात्पर्य यही है कि छन्द की गति भाव के साथ चलनी चाहिए और यह भाव छन्द पढ़ने से ही तत्काल स्पष्ट हो जाता है। आजकल बहुत से कवि इस विषय में बड़े उदासीन और असावधान हैं जिसका परिणाम यह है कि काव्य के पठन और श्रवण से छन्द की गति के कारण जो काव्य-ध्वनि व्यक्त होनी चाहिए वह नहीं हो पाती।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रतिदिन नये नये संगीताचार्यों और गवैयोंके द्वारा गीतोंकी लयोंके इतना रूप निकले हैं और निकलते जा रहे हैं

कि कवि या नाटककार अपने युगमें प्रचलित लयोंको ही अपने गीतोंकी टेकका आधार मानकर चलता है क्योंकि वही लय-टेक उन युगके मनुष्योंकी रुचिको पुष्ट और तुष्ट करती रहती है अतः इस सम्बन्धमें न तो यही नियम बनाना उचित है कि अमुक छन्दका अमुक रस या विषयके वर्णनोंमें प्रयोग हो और न यही कहा जा सकता है कि केवल इतने ही छन्दोंमें कविको कविता या गीत लिखने चाहिएँ। इस सम्बन्धमें नाटककार या कविको यह स्वतन्त्रता अवश्य देनी चाहिए कि वह नये छन्दका भी आविष्कार करे किन्तु यह प्रतिबन्ध भी होना चाहिए कि उसकी शब्दावली तथा गति निश्चयपूर्वक रस और भावके अनुकूल हो। इसके अतिरिक्त नाटककारको—यदि वह संगीतशास्त्रका पंडित हो तो—रागका निर्देश कर देना चाहिए किन्तु उसकी सरगम नहीं देनी चाहिए। सरगम बाँधनेकी स्वतन्त्रता संगीतकारको ही मिलनी चाहिए।

अन्य देशोंमें छन्दकी योजना—

संसारमें कोई भी देश नहीं है जहाँ भाषाका प्रयोग कविता या गीतके रूपमें न होता आया हो और यह प्रयोग इतने प्राचीन कालसे होता चला आया है कि किसी देशमें प्रामाणिकताके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि छन्दका प्रयोग कबसे होने लगा है। कुछ विद्वानोंका तो यह विचार है कि भाषाका प्रारम्भिक रूप छन्दोबद्ध ही था, क्योंकि लिखनेकी सुविधाएँ उस समय प्राप्त नहीं थीं, गद्यको स्मृतिसिद्ध रखना सम्भव नहीं था, इसलिये अनिवार्य रूपसे सम्पूर्ण सुरक्षित रक्खा जानेवाला वाङ्मय छन्दोबद्ध ही था और इसके अन्तर्गत काव्यके अतिरिक्त आयुर्वेद, गणित और ज्योतिष जैसे विषय भी सम्मिलित थे। इसीलिये यूनानी दार्शनिक अरस्तूने काव्यकी परिभाषा बताते हुए यह संकेत कर दिया था कि केवल पद्यबद्ध कर देनेसे कोई रचना कविता नहीं कही जा सकती।

विभिन्न देशोंमें जिस प्रकारसे छन्दोबद्ध रचनाएँ होने लगीं उनमें अन्तर केवल इतना ही था कि किसीमें लय प्रधान होने लगा और एक ही स्वर लयकी रक्षाके लिये दूर तक खींचा जाने लगा, किसीमें शब्दोंके बीच-बीचमें मौन रहकर मात्रा और तालकी गति ठीक कर ली जाने लगी और किसीमें कुछ अधिक मात्रावाले शब्दोंको शीघ्रताके साथ कहकर कम मात्राओंमें ही बाँधकर उच्चरित कर लिया जाने लगा किन्तु संस्कृत छन्दोंमें ये सब अव्यवस्थित नियम नहीं हैं। उसमें शब्दोंकी मात्राएँ इस क्रमसे बँधी होती हैं कि न तो किसी अक्षरको अनावश्यक रूपसे लम्बा करके उसकी मात्रा पूरी की जाती है न मौन रहकर शब्दोंके दारिद्र्यका परिचय दिया जाता है और न थोड़ी मात्राओंमें अधिक शब्दोंको निकालनेका 'नट-कुण्डली न्याय' सिद्ध किया जाता है। यूरोपीय लेखकोंने छन्दके तीन अंग बताए हैं—एक तो यह कि गुरु और लघु या लम्बे और छोटे मात्राक्षरों या ध्वनिमात्राओं (सिलेबल्) को एक विशेष क्रमसे इस प्रकार रक्खा जाय कि वे एक विशेष नियमसे अपनी आवृत्ति करके छन्दका एक रूप बना लें, दूसरा यह कि इस प्रकारके विभिन्न रूपोंके कई पद बनाकर एक विशेष छन्दका रूप धारण कर लें और तीसरे, इन सब विभिन्न प्रकारके रूपोंको मिलाकर छन्दकी एक विशेष गति निर्धारित कर ली जाय। इनमेंसे पहलेको अंग्रेजीमें केडेन्स, दूसरेको ग्रूपिंग और तीसरेको मेज़र कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ध्वनि और मौनके सापेक्ष्य प्राधान्यके एक विशेष क्रमिक रूपको ही छन्द कहते हैं। हम ऊपर कह आए हैं कि यूरोपवाले अपने छन्दोंमें मात्राक्षरोंके अनुसार छन्दका रूप निर्धारित करते हैं। एक पंक्ति लीजिए—

फ़ुल फ़ैदम फ़ाइव दाइ फ़ादर लाइज़्

इस पंक्तिको यदि हम छन्दके ध्वनिमात्रा न्यायसे विश्लिष्ट करें तो वह इस प्रकार अंकित किया जा सकेगा—

फ़ुल फ़ै दम् फ़ाइव दाई फ़ा दर लाइज़्
◡ — ◡ — ◡ — ◡ —

हमारे छन्दः शास्त्रके अनुसार इसे हम मात्रा-संकेतोंमें इस प्रकार लिखेंगे—

। ऽ । ऽ । ऽ । ऽ

यदि इसके अनुसार हमें हिन्दीमें छन्द बनाना हो तो उसका एक चरण इस प्रकारका होगा—

अजा चली गयी कहीं

किन्तु उसके वास्तविक लयका रूप होगा—

किसके दमसे इसका दम है।

क्योंकि अंग्रेजी छन्दके अनुसार लघुमें भी कई अक्षरोंका समावेश हो सकता है और दीर्घमें भी इसी प्रकार कई अक्षर आ सकते हैं। वहाँ लयकी दीर्घता और

ह्रस्वता छन्दकी विभिन्न ध्वनिमात्राओंको ह्रस्व या दीर्घ पढ़ने के ढंगपर अवलम्बित है, वर्णों या मात्राओंकी गिनतीपर नहीं। यही बात यूरोपकी अन्य भाषाओंके सम्बन्धमें भी है। जापानी भाषामें, जहाँ ध्वनिका कोई भी एक तत्त्व अधिक दीर्घताके साथ या बलके साथ प्रयुक्त नहीं होता वहाँ केवल एक ध्वनिमात्राकी आवृत्ति ही होती है और उसीके सहारे किसी पद्यकी ध्वनि-मात्राएँ गिन ली जाती हैं। चीनमें ध्वनियोंका आरोह-अवरोह इतने अधिक प्रकारका है कि वहाँ पद्यकी बनावटके लिये किसी ध्वनिका आरोह या अवरोह ही अथवा उसका उदात्त या स्वरित रूप ही ध्वनिमात्राके रूपमें पद्यकी रचनाके लिये उपयुक्त समझ लिय जाता है।

यूरोपके प्राचीन लेखकोंने छन्दकी प्रकृति और उसके उद्देश्यकी व्याख्या करते हुए छन्दकी निम्नलिखित परिभाषाएँ बताई हैं—

एक—एक प्रकारसे एक-एक कर चलनेवाली ध्वनियोंके समूहको छन्द कहते हैं।

दो—नियमित अवकाशपर एक प्रकारकी या परस्पर मिलती हुई ध्वनियोंकी आवृत्तिको छन्द कहते हैं।

तीन—छन्द वह रीति है जिसके द्वारा दो अवधियोंके शब्द एक प्रकारसे ध्वनित किए जायँ। (अरस्तू)

चार—एक जैसे ध्वनिसमूहोंकी आवृत्ति ही छन्द है। (ब्लेयर)

पाँच—दो पद्योंके अन्तमें दो ध्वनिमात्राओंकी मिलती हुई एकसी ध्वनिवाले पदको छन्द कहते हैं। (शूत्से)

छः—एक प्रकारसे व्यवस्थित ध्वनिवाली मात्रा-ध्वनियोंको विशेप क्रमसे रखनेको छन्द कहते हैं। (एडविन गेस्ट)

उपर्युक्त सभी परिभाषाओंमें कोई तात्त्विक भिन्नता नहीं है किन्तु इन सबने अपनी परिभाषाओंमें यह बतानेकी चेष्टा नहीं की कि इन सब प्रकारकी मात्रा-ध्वनियोंकी आवृत्ति करने या एकसे ध्वनि-समूहोंको एक विशेष रूपसे सजानेकी आवश्यकता क्यों पड़ गई, उससे लाभ क्या हुआ या मनुष्यके मानसको और उसके बुद्धि-तत्वको इस प्रकारकी व्यवस्थाने किस प्रकार उल्लसित या प्रभावित किया।

[illegible] लेखकोंने थोथी परिभाषाके फेरमें न पड़ कर यह भी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है कि छन्दका कार्य क्या है। इन सब लेखकोंने छन्दके दो प्रधान कार्य बताए हैं—

एक—छन्द स्वतः सुन्दर होता है। भाषा मानव-जीवनका अत्यन्त ललित और मनोहर तत्त्व है। उसके प्रत्येक अंशमें उसकी विशिष्ट मोहकता होती है। समुचित अन्तरपर यदि इस प्रकारके अंश बारबार आते रहें तो वे सहसा अपने ध्वनि-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्यसे हमारे मन और ध्यानको आकृष्ट करते रहेंगे। वे ही अंश यदि गद्यमें साधारणतः एक बार कहकर पार कर दिए जायँ तो वे अत्यन्त शीघ्र हमारी स्मृतिसे मिट जाते हैं। यही कारण है कि गीतकी टेक और कविताके पद दोहराने और तेहरानेकी प्रथा अभीतक गायकों और कवियोंमें चली आती है। अतः छन्दमें केवल अर्थ-सौन्दर्य ही प्रधान नहीं रह जाता, उसका ध्वनि-सौन्दर्य भी विशेष प्रभावकारी होता है और उसका सीधा सम्बन्ध इसीलिये संगीतसे जुड़ जाता है।

दो—जब हम कोई पद्य लिखते हैं तब उसमें यति और तुकके अनुसार छन्दके विभिन्न चरणों या चरणांगोंका उचित अवसान ज्ञात होता चलता है और उससे तालका क्रम भी निकलता है। इसीलिये म्फ़िरमुंस्कीने छन्दके उद्देश्यके अनुसार उसकी यह परिभाषा की है, कि छन्द वह ध्वन्यात्मक आवृत्ति है जो पद्यकी छन्दोबद्ध रचनामें व्यवस्था उत्पन्न करती है।

छन्दका यह कार्य केवल यति अथवा तुक बैठानेतक ही समाप्त नहीं हो जाता। उसके भीतर भी अनुप्रास आदिके द्वारा लयात्मकता या माधुर्य स्थापित किया जा सकता है। फ्रांसीसी पद्योंमें स्वरित (ऐक्सेण्टेड) और अस्वरित (अनऐक्सेण्टेड) मात्रा—ध्वनियोंमें उतना अन्तर नहीं है जितना जर्मन और अंग्रेजी भाषामें इसलिये इन भाषाओंमें पढ़नेके ढंगपर ही कानके अभ्याससे छन्दका भास होता है।

पश्चिमी विद्वानोंमें सबसे पहले आरस्तूने अपने 'र्‍हेता-रिक' (भाषणशास्त्र) में इस विषयकी चर्चा की थी और उसने जो परिभाषा दी थी वह हम ऊपर कह आए हैं। क्विन्तिलियनने कहा है कि दो या कई वाक्योंका एक समान तुकान्त करनेकी कवि-कुशलताको छन्द कहते हैं। सबसे पहले दांतेने ही यह सिद्धान्त स्थिर किया कि छन्दका

काम यह है कि वह पद्यकी लयात्मक रचनाको व्यवस्थित करे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दीके अंग्रेज छन्दःशास्त्रियोंने इसी सिद्धान्तको पुष्ट किया। जार्ज पोट्टेनहम और विलियम वेब्बसे लेकर मिलटन और ड्रायडेनसे होते हुए एडविन गेस्ट और सेंट्सबरीतक सब यही मानते हैं कि छन्द केवल लयका सहायक है। इनका कहना है कि छन्द स्वरोंका स्वरूप स्थिर करता है और इस प्रकार छन्दको पुष्ट करता तथा उसकी सहायता करता है। फ्रांसीसी छन्दःशास्त्रियोंका यह विचार है कि छन्दका काम तो केवल भाषाको अलंकृत करना है। मार्मोन्तेलन (१७२३-९९) बड़े विस्तारसे यह बताया है कि छन्दके द्वारा विचारकी अभिव्यक्तिको विशदता और सुकुमारता प्राप्त होती है और विचित्र बात यह है कि फ्रांसीसी लोग छन्दके इस बाह्य सौन्दर्य-प्रभावसे मुक्त नहीं हो पाए। यहाँतक कि ग्रामोंने डंकेकी चोट यह घोषणा की है कि छन्द कानके लिये है आँखके लिये नहीं। जर्मनीके आचार्योंने भी छन्दके संगीत तत्त्वको अधिक महत्त्व दिया है। पीछेके जर्मन छन्दःशास्त्री शूल्से और श्लेगेलने यह भी कहा कि छन्द स्मृतिके लिये बड़ा सहायक होता है। काण्टका शिष्य होनेके कारण शूल्सेने छन्दको दार्शनिक रूपसे समझाते हुए बताया कि ध्वनिका रूप तभी सुन्दर हो सकता है जब उसमें अर्थोंकी विभिन्नता हो। यह रमणीयता या सौन्दर्यका सिद्धान्त हमारे यहांके रमणीयतावाले सिद्धान्तसे ज्योंका त्यों मिल जाता है जिसमें यह बताया गया है कि 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् क्षण क्षणपर जिसमें नवीनता उत्पन्न हो उसे ही रमणीयता या सौन्दर्य कहते हैं। श्लेगलका मत है कि छन्दकी सौन्दर्यवृत्ति यह है कि वह हमारा ध्यान आकृष्ट करे और हमारे मनको सौन्दर्य-भोगके लिये बाधित करे। हेगेल का भी यह मत है कि छन्दमें शब्दोंके प्रति ध्यान आकृष्ट कराकर उनके प्रत्यक्ष रूपकी रक्षा की जाती है। गेटेने कहा है कि शब्दोंका यह प्रत्यक्ष रूप हृदयसे निकलता है बुद्धिसे नहीं और इन्द्रियोंको प्रभावित करता है। अमेरिकाके सिडनी लैनियर और हेनरी लौंजका यह मत है कि कविता तो संगीतका एक प्रकार है अतः लौंजका मत है कि पद्य रचनामें छन्द वही काम करता है जो संगीतरचनामें स्वर करते हैं।

यूरोपीय छन्दःशास्त्र—

यूरोपीय छन्दःशास्त्र जाननेके लिये हमें उनकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिए। पहली तो बात यह है कि उनके यहां प्रत्येक पदमें कुछ चरण या फुट होते हैं जिनमें दो ध्वन्यक्षर (सिलैबिल) होते हैं। इन दो ध्वन्यक्षरोंमें से या तो दोनों दीर्घ (— —) या एक लघु और एक गुरु (◡—) या दोनों लघु (◡ ◡) अथवा इन्हींके उलटे पलटे मेलके ध्वन्यक्षर होते हैं और इन्हींके अनुसार छन्दोंका नामकरण भी होता है। दूसरी बात है ध्वन्यक्षरोंपर बल, जिसे अंग्रेजीमें स्ट्रैस या एम्फैसिस कहते हैं। कविता पढ़ते समय किसी विशेष ध्वन्यक्षरपर यह बल देनेसे छन्दकी गति बनती चलती है। इस बलको साधारणतः वे लोग एक्सैन्ट कहते हैं।

लघु और गुरु ध्वन्यक्षरोंसे जो अनेक प्रकार के काव्य-चरण बनते हैं वे छः हैं—

आयम्बस (◡'—) कम्प्लीट'
ट्रौकी ('—◡) वौकिंग (वौक्' इंग)
स्पौन्डी ('— '—) ओट् केक'
एनापैस्ट (◡◡'—) लै मो नेड'
डैक्टिल ('—◡◡) हरं' री ईंग
एम्फीब्राक (◡'—◡) डी फा' इंग

ऊपर जो छन्द दिए गए हैं इनके लक्षणोंमें — चिह्न गुरुका या लम्बे खिंचावका बोधक है और ◡ चिह्न लघु या झटकेसे बोलनेका चिह्न है। जहाँ ' चिह्न है उसका अर्थ यह है कि इस ध्वन्यक्षरपर बल देना चाहिए।

किसी पद्यकी पंक्तिका नाम उसके चरणोंकी संख्याके अनुसार ही ज्ञात होता है। जैसे—

मोनोमीटर = एक चरणवाला।
डायमीटर = दो चरणोंवाला।
ट्रायमीटर = तीन चरणोंवाला।
टैट्रामीटर = चार चरणोंवाला।
पैन्टामीटर = पाँच चरणोंवाला।
हैक्सामीटर = छै चरणोंवाला।

इसका तात्पर्य यह है कि ऊपर जो हमने छै प्रकारके चरण गिनाए हैं वे जितनी बार एक पंक्तिमें आवें, उस क्रमसे उस पंक्तिका नाम समझा जायगा। जैसे आयम्बिक पैन्टामीटरकी एक पंक्तिमें लघु और गुरुके ध्वन्यक्षर

क्रमशः पाँच बार आवेंगे। हमारे छन्दःशास्त्रमें जिसे चरण कहते हैं उसे योरोपीय छन्दःशास्त्रमें पंक्ति कहते हैं और जिसे वे लोग चरण कहते हैं वे हमारे नियमके अनुसार वास्तवमें गण हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हमारे यहाँ गणोंमें तीन अक्षर होते हैं, उनके यहाँ दो ध्वन्यक्षर होते हैं। हम ऊपर ही बता चुके हैं कि उनके यहाँ ध्वन्यक्षर वह ध्वनि-समूह माना जाता है जो एक लघु या एक गुरुके उच्चारणकालमें समा सके। योरोपीय छन्दःशास्त्रमें यह भी छूट है कि वे उपर्युक्त नियमके अनुसार छन्दकी पंक्ति बाँधते हुए अन्तमें ध्वन्यक्षर जोड़ भी सकता है और अपनी पंक्तियोंको छोटा-बड़ा भी कर सकता है।

भावके अनुसार भी उनके यहाँ छन्दोंकी गति चलती है जैसे वीर गतिका छन्द। प्रायः आयम्बिक पैन्टामीटर का प्रयोग वीरत्वपूर्ण वर्णनोंके लिये प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार प्रेम, सरस वर्णन तथा भावात्मक वर्णनोंके लिये आयम्बिक टैट्रामीटरका प्रयोग किया जाता है, जैसे स्कौटने अपनी वर्णनात्मक रचनाओंके लिये इसका प्रयोग किया है। यद्यपि उसने उसकी एकरसता भंग करनेके लिये बीच-बीचमें त्रिपदी (ट्रायमीटर) का भी प्रयोग किया है। बैलड अथवा प्रबन्ध-काव्यमें प्रायः दो या चार पंक्तियोंके छोटे-छोटे छन्द होते हैं जिनमें प्रायः दो आयम्बिक टैट्रामीटर और दो आयम्बिक ट्रायमीटर बीच-बीचमें देकर लिखे जाते हैं। कुछ लोग प्रबन्ध-काव्य लिखते हुए ट्रौकी छन्दका भी प्रयोग करते हैं और दुःखात्मक-काव्य (एलीजियक स्टैन्ज़ा) लिखनेके लिये आयम्बिक पैन्टामीटर अथवा आयम्बिक टैट्रामीटरका प्रयोग करते हैं।

प्रायः योरोपके बड़े कवियोंने कुछ गिने-गिनाए सधे हुए छन्दोंका ही प्रयोग किया है। पर इधर कुछ लोग स्वतन्त्र छन्द भी लिखने लगे हैं जिनमें दो से चौदह तक पंक्तियोंवाले छन्द हैं और जिनकी प्रत्येक पंक्ति स्वतन्त्र रूपसे बड़ी छोटी होती है। इनमेंसे कुछके तो नाम भी रख लिए गए हैं—जैसे—ट्रियोलेट, राउन्डिल, रौन्द्यू, बैलाडे, टर्ज़ारीमा, राइम रौयल, विलानिल आदि। योरोपीय कवियोंका प्रायः यह सिद्धांत रहा है कि छंदकी गति वह रक्खी जाय जो पढ़ने और सुननेमें मधुर तथा स्वाभाविक लगे।

कुछ ऐसे भी छंद हैं जिसमें पंक्ति और लय एक विशेष क्रमसे सजे हुए रहते हैं और जिनकी सब पंक्तियाँ निश्चित लम्बाईकी रहती हैं जैसे सौनेट, पिन्डारिक ओड, बैलाडे, रौन्द्यू, ट्रियोलेट, विलानिल। इस प्रकार योरोपीय कवियोंने भी भावके अनुसार छन्दकी गति रक्खी है।

अरबी छन्दःशास्त्र

अरबी भाषाकी छन्दोयोजना कुछ भिन्न प्रकारकी होती है। वहाँ शब्द-बलके आधारपर छंदकी लय बैठाई जाती है। प्रायः प्रत्येक छंदमें दो मिसरे या पद्यार्ध होते हैं और दूसरे मिसरेके अन्तिम शब्दमें 'मिसरा तरह' होता है जिसमें सस्वर और स्वरान्त व्यञ्जन होता है और जो सब प्रकारकी काव्य-रचनाओंके लिये अनिवार्य समझा जाता है। ग़ज़लके प्रत्येक मिसरेमें उस प्रकारका अन्त स्वभाविक और आवश्यक है। प्रारम्भमें अरबी कवितामें कई प्रकारके छन्द थे जिनमें से दो 'मुतक़ारिब' और 'रमल' तो निश्चय ही सासानी प्रभावके कारण समुन्नत हुए होंगे। कहा जाता है कि लगभग ७८२ ईस्वीमें ख़लील बिन अहमदने 'अरूद' या छन्दः शास्त्रकी प्रथम रचना की थी। सम्भवतः उसने ही 'फल' धातुसे विभिन्न प्रकारके छन्दोंके रूप बाँधनेकी रीति निकाली थी। इस प्रकार 'तवील' अर्थात् सबसे अधिक पुराने चलते छन्दका रूप इस प्रकार था—

'फ़ऊलुन मफ़ाइलुन फ़ऊलुन मफ़ाइलुन'

इसी प्रकार पीछेकी कविताओंमें प्रयुक्त होनेवाला 'हज़ाज' नामक छन्द इस गतिसे चलता था—

मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन मफ़ाइलुन

इसकी गति 'शिवताण्डव स्तोत्र' के—जटाकटाह-सम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरीके अनुसार चलती है। सुरियों या हीरियोंके प्रभावमें ख़लीलसे बहुत पहले ही छन्दवाची बहुतसे शब्द चल पड़े थे जिनमें 'बैत' (घर या डेरा) बहुत अधिक प्रचलित था और अब भी जैसे ब्राह्मणोंके विवाहोंमें शास्त्रार्थ और श्लोक-पाठ होता है वैसे ही कायस्थोंके यहाँ अभीतक बैतबाजी या उर्दू कविता-प्रतियोगिता होती रही है। छठीं शताब्दीमें ख़लीलने १६ छन्द गिनवाए हैं जिनमेंसे अधिकांशका प्रयोग काव्योंमें होता रहा। इन सब छन्दोंका विशेष प्रयोग और विवरण फ़ारसी कवितामें अभीतक पाया जाता है।

फ़ारसी छन्दःशास्त्र

सातवीं शताब्दी (ईसा पूर्व)— ज़रथुस्त्रसे बहुत पहले—ईरानमें छन्दःशास्त्र प्रयुक्त होता था। गाथाओंमें इस प्रकारकी लय होती थी जिनमें प्रत्येक पदके अक्षरों-की गणना की जाती थी। अवेस्ताके बहुतसे यास्तों (स्तोत्रों) के अधिकांश छन्द अष्टाक्षरी हैं। वर्तमान फ़ारसी-के सबसे पुराने उदाहरण नवीं शताब्दीसे ही प्राप्त होते हैं जिनके अधिकांश छन्द अरबीसे लिए गए हैं। प्रत्येक मिसरे या पदमें कई 'अरकाम' या चरण और 'उसूल' या ध्वन्यक्षर (सिलेबिल) होते हैं। 'उसूल, तीन प्रकारके होते हैं—सबब, वतद और फ़ासिला; और इन तीनोंके भी दो दो भेद होते हैं—खफ़ीफ़ (कोमल) और थक़ील (कठोर)। 'खफ़ीफ़ सबब' वह अक्षर होता है जिसमें स्वरित व्यंजन के पीछे स्वरहीन व्यंजन आता है जैसे—काम्। 'थक़ील सबब वह अक्षर होता है जिसमें दो स्वरित व्यंजन एक साथ आते हैं, जैसे—फ़रा। खफ़ीफ़ वतदमें दो स्वरित अक्षर और एक स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—चमन्। 'थक़ील वतद' में स्वरहीन अक्षर बीचमें आता है, जैसे—पारसा। 'खफ़ीफ़ फ़ासिले' में दो स्वरित अक्षर होते हैं और उनके पीछे 'तनवीन' (अनुनासिक) की ध्वनिके साथ स्वरहीन अक्षर आता है, जैसे—जबलँ। 'थक़ील, फ़ासिले' में तीन स्वरित अक्षर आते हैं और उनके पीछे एक स्वरहीन अक्षर 'तनवीन' के ध्वनिके साथ आता है जैसे बरकतँ।

'अरकान' या पद या तो सालिम (पूरे) होते हैं या 'ग़ैरे सालिम' (अपूर्ण) होते हैं। पूर्ण पद या सालिम अरकानमें किसी प्रकारका परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं होता किन्तु अपूर्ण पदमें परिवर्तन, परिवर्द्धन या परिहरण सब कुछ हो सकता है। इस अपूर्ण पदको 'मुज़ाहफ़' कहते हैं और परिवर्तनको 'ज़िहाफ़'।

अरबी छन्द शास्त्रकी व्याख्या करते समय हम बता आए हैं कि 'फ़ल' धातुसे सब प्रकारके छन्दोंका नामकरण हुआ है और सबका रूप निम्नलिखित आठ मानोंपर स्थिर किया गया है—

(१) फ़ऊलुन (। ऽ ऽ) ◡ — —
(२) फ़ाइलुन (ऽ । ऽ —◡—
(३) मफ़ाइलुन (। ऽ ऽ ऽ) ◡— — —
(४) मुस्तफ़्इलुन (ऽ ऽ । ऽ) — —◡—
(५) मुफ़ाइलतुन (ऽ ।। ऽ) ◡—◡◡—
(६) मुतफ़ाइलुन (।। ऽ । ऽ) ◡◡—◡—
(७) फ़ाइलातुन (ऽ । ऽ ऽ)—◡— —
(८) मफ़ऊलात (ऽ ऽ ऽ ।) — — —◡

इन आठोंके आधार पर १९ बहर या छन्द हैं—तवील, मदीद, बसीत, वाफ़िर, कामिल, हज़ाज, रजाज़, मुतकदब, रमल, मुन्सरिह, मुदारि, मुज्तथथ, सरी, जदीद, क़रीब, खफ़ीफ़, मुसाकिल, मुतक़रिब और मुतदारिक। इनके और भी बहुतसे भेद हैं। जो लगभग ८० के हैं। उपर्युक्त १९ में से पहले ५ तो शुद्ध अरबीके छन्द हैं। फ़ारसीके बहुत कम कवियोंने उनका प्रयोग किया है। चौदहवें, पन्द्रहवें तथा सत्रहवें छन्द फारसीके हैं, शेष ग्यारह अरबी-फ़ारसी दोनों में प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक छन्दके अन्तमें क़ाफ़िया या तुक मिलता है।

उर्दूका छन्दः-शास्त्र

श्रीरामनरेश त्रिपाठीने कविता कौमुदीमें चतुर्थ भागमें उर्दू छन्दःशास्त्रके सम्बन्धमें लिखा है

'फ़ारसी का ही छन्दः शास्त्र उर्दू मे भी काम देता है। प्रायः सब छन्द भी वही हैं जो फ़ारसीमें व्यवहृत होते हैं। हिन्दीकी अपेक्षा उर्दू का पिंगल बहुत आसान है। हिन्दीमें तो सैकड़ों हजारों प्रकारके छन्द हैं पर उर्दू में छन्दोंकी संख्या अधिकसे अधिक ५० होगो। हिन्दीकी तरह इसमें अक्षरों और मात्राओंकी गिनती नहीं करनी पड़ती। चार पाँच शब्द हैं, जिनको हेरफेर कर रखनेसे नये छन्द बन जाते हैं। छन्दको उर्दू में बहर कहते हैं। मशहूर बहरें कुल उन्नीस हैं। उनमेंसे पांच बहरें खास अरबीके लिये हैं। बाक़ी अरबी और फारसी दोनोंमें काम देती हैं। उर्दू के पुराने शायर मुश्किल बहरोंमें भी कुछ कह लेनेका प्रयत्न कर लेते थे। पर अब मुश्किल बहरोंका प्रचार उठता जाता है और शायर लोग सहल भापाके साथ आसान बहरोंका भी प्रयोग करने लगे हैं।

यहाँ मुख्य- मुख्य बहरें दी जाती हैं—

(१)—मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन फ़ऊलुन।

उदाहरण—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़कर बनको सिधारे॥

हिन्दीमें इस बहरका नाम 'सुमेरु' है।

२—फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलुन।

उदाहरण—

दिल इबादतसे चुराना और जन्नतकी तलब।
कामचोर इस कामपर किस मुँहसे उजरतकी तलब॥

हिन्दीमें इसे गीतिका कहते हैं।

३—मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन।

उदाहरण—

ख़मोशी इसलिये दीवानगीमें हमने हासिल की।
ख़ुदा जाने वो क्या पूछें हमारे मुँहसे क्या निकले॥

हिन्दीमें इसे विधाता छन्द कहते हैं।

४—फ़ायलुन मफ़ाईलुन फ़ायलुन मफ़ाईलुन।

उदाहरण—

इश्कसे तबीअतने ज़ीस्तका मज़ा पाया।
दर्दकी दवा पाई दर्द बेदवा पाया॥

५—मफ़ऊल मफ़ाईलुन मफ़ऊल मफ़ाईलुन।

उदाहरण—

खुरशेद जो निकला है इस वक्त य लरजाँ है।
कोठे पै खड़ा शायद वह माहेलक़ा होगा॥

हिन्दीमें इसे 'दिग्पाल कहते हैं।

६—मफ़ऊल मफ़ाईल मफ़ाईल मफ़ाईल।

उदाहरण—

(१)

तू जिसको कमर समझा है शीशेमे है वो बाल।
आइनेमें बाला है नहीं ऐ गुलेतर नाफ़॥

(२)

जिसको तेरी आँखोंसे सरोकार रहेगा।
बिलफ़र्ज जिया भी तो वो बीमार रहेगा॥

हिन्दीमें इसे बिहारी छन्द कहते हैं।

७—मफ़ाईलुन मफ़ाईलुन मफ़ाईल।

उदाहरण—

मुहब्बत कौड़ियोंके हो अगर मोल।
बनी आदम न ले यह दर्देसर मोल॥

हिन्दीमें इसे शास्त्र छन्द कहते हैं।

८—फ़ायलातुन मुफ़ायलुन फ़ेलुन।

उदाहरण—

शामसे कुछ बुझासा रहता है।
दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिसका॥

९—मफ़ऊल फ़ायलान मफ़ाईल फ़ायलुन।

उदाहरण—

हाजत नहीं है शमाकी मेरे मज़ार पर।
हर शब है सोज़े आहसे रोशन चिराग़े दिल॥

१०—फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलुन।

उदाहरण—

सुबह गुज़री शाम होने आई मीर।
तू न चेता और बहुत दिन कम रहा॥

हिन्दीमें यह 'पीयूषवर्ष' छन्द कहलाता है।

११—फ़ऊलुन फ़ऊलुन फ़ऊलुन फ़ऊलुन।

उदाहरण—

समाया है जबसे तू आँखोंमें मेरी।
जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है॥

हिन्दीमें इसे 'भुजंगप्रयात' कहते हैं।

१२—फ़ऊल फ़ेलुन, फ़ऊल फेलुन, फ़ऊल फ़ेलुन, फ़ऊल फ़ेलुन।

उदाहरण—

कहाँ है हममें अब ऐसे सालिक कि राह ढूँढ़ी कदम उठाया।
जो हैं तो ऐसे ही रह गए हैं किताब देखी क़लम उठाया॥

इसे हिन्दीमें "यशोदा" छन्द कहते हैं।

१३—मफ़ऊल, मफ़ाईलुन मफ़ऊल फ़ऊलुन, मफ़ऊल फ़ऊलुन।

उदाहरण—

सौदाये मुहब्बत जो नहीं है तो ऐ दिल,
तो फिर मुझें बतला।
क्यों चाक किये अपने गरेबाँको है फिरता,
आँखों प है वहशत॥

हिन्दीमें इसे "खरारी" छन्द कहते हैं।

१४—मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन मुतफ़ायलुन।

उदाहरण—

पसे मर्ग मेरी मज़ार पर जो दिया किसीने जला दिया।
उसे आह दामने बादने सरेशाम ही से बुझा दिया॥

हिन्दीमें यह "हरिगीतिका" छन्द कहलाता है।

१५— फ़ायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलात

उदाहरण—

पूछते हैं वह कि ग़ालिब कौन है।
कोई बतलाओ कि हम बतलायँ क्या ॥

हिंदीमें इसे "आनन्द-वर्धक" कहते हैं।

१६—मफ़ऊल फ़ायलातुन मफ़ऊल फ़ायलातुन।

उदाहरण—

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसिताँ हमारा।

हिन्दीमें यह "दिग्पाल" छन्द कहलाता है।

१७—फ़ऊलुन फ़ऊलुन फ़ऊलुन फ़ऊल।

उदाहरण—

कहे एक जब सुन ले इन्सान दो।
कि हक़ने ज़ुबाँ एक दी कान दो ॥

हिन्दीमें यह "भुजंगी" छन्द कहलाता है।

१८—मफ़ऊल मफ़ायलुन फ़ऊलुन या मफ़ाईल।

उदाहरण—

हर शाख़ पे हैं शिगूफ़ाकारी।
समर है क़लमका हम्देबारी ॥

१९—मफ़ायलुन मफ़ायलुन मफ़ायलुन मफ़ायलुन।

उदाहरण

य थोड़ी थोड़ी मै न दे कलाई मोड़ मोड़कर।
भला हो तेरा साक़िया पिलादे ख़ुम निचोड़ कर ॥

इन छन्दोंके नियमोंको स्वरसे पढ़नेपर उसीमें उसकी गति भी निकल आती है। जो लोग उर्दू नहीं जानते, वे उर्दूके शेरोंको शुद्ध-शुद्ध पढ़ नहीं सकते क्योंकि उर्दूके शायर आवश्यकता पड़नेपर दीर्घ अक्षरोंको ह्रस्व कहकर पढ़ा करते हैं पर लिखनेमें वे उन्हें शुद्ध लिखते हैं। केवल हिन्दी जाननेवाला उन्हें शुद्ध-शुद्ध पढ़ तो लेगा, संभव है अर्थ भी समझ ले, पर वह उसे शुद्ध बहर नहीं पढ़ सकेगा। जैसे—

गुलिस्ताँमें जाकर हरेक् गुल्को देखा।
न तेरी सी रंगत न तेरी सी बू है ॥

बहरके अनुसार पढ़नेके लिये यह इस तरह लिखा जाना चाहिए—

गुलिस्ताँमें जाकर हरेक गुलको देखा।
न तेरीसि रंगत न तेरी सि बू है ॥

हिन्दीमें यह भुजंगप्रयात छन्द है। भुजंगप्रयातकी गति जानकर जब यह पढ़ा जायगा तो जीभ आपसे आप इसे ठीक कर लेगी। ऊपर जो बहरोंके लक्षण दिए गए हैं, उन्हें पढ़नेका अभ्यास कर लेनेपर उर्दूकी कविता पढ़नेमें गतिकी गड़बड़ कम हो जायगी।

यहाँ उर्दू पद्यके खास खास विषयोंका वर्णन किया जाता है।

ग़ज़ल ग़ज़लका अर्थ है जवानीका हाल बयान करना अथवा माशूक़की संगति और इश्क़का ज़िक्र करना। इसलिये एक ग़ज़लमें प्रेमके भिन्न-भिन्न भावोंके शेर लानेका नियम रक्खा गया है। किसी शेरमें आशिक अपनी मनोवेदना प्रकट करता है, जिससे माशूक़पर उसका कुछ प्रभाव पड़े। किसी शेरमें वह माशूक़की प्रशंसा करता है, जिससे वह प्रसन्न हो। किसी शेरमें वह माशूक़की वफ़ा और जफ़ाका ज़िक्र करता है और किसीमें रक़ीबकी शिकायत करता है, मतलब यह है कि जिस बातके कहनेसे माशूक़के प्रसन्न होने या और कोई खास नतीजा निकलनेकी आशा होती है, वही बातें ग़ज़लमें आती हैं। कभी कभी सौन्दर्य, प्राकृतिक छटा और वैराग्यकी बातें भी ग़ज़लमें कही जाती हैं। अब तो देश-भक्तिकी बातें भी ग़ज़लोंमें कही जाने लगी हैं क्योंकि ग़ज़लोंका स्वर बहुत लोकप्रिय हो चला है। इसलिये उर्दूके शायर ग़ज़लोंसे देशसेवाका काम भी लेने लगे हैं। पर ग़ज़लोंका जन्म केवल प्रेमचर्चाके लिये हुआ था। अरबमें ग़ज़ल नामका एक आदमी था। उसने अपनी सारी उम्र इश्क़बाज़ीमें बिता दी। वह सदा इश्क़ और हुस्न की ही बातें किया करता था और उन्हीं विषयोंके शेर पढ़ा करता था। उसी समयसे, जिस कवितामें इश्क़ और हुस्नका ज़िक्र हो, लोग उसे ग़ज़लकी यादमें ग़ज़ल कहने लगे। आजकल ग़ज़लोंका बहुत प्रचार है। मशायरोंमें तो ख़ासकर ग़ज़लें पढ़ी जाती हैं। थिएटरों- में ग़ज़लोंका बोलबाला है। वेश्याएँ प्रायः ग़ज़ल ही गाती हैं। आजकलके सभा समाजोंमें भी स्वदेशी ग़ज़लों- का अधिकार होता जाता है और अब तो हिन्दीके कवि- भी हिन्दी-भाषामें ग़ज़लें लिखने लगे हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि धीरे-धीरे ग़ज़लोंकी सर्वप्रियता बढ़ती जा रही है।

ग़ज़लमें शेरोंकी संख्या ताक़ (दो से न बँटनेवाली)

होती है। साधारण नियम यह है कि एक ग़ज़लमें पाँचसे कम और ग्यारहसे ज्यादे शैर नहीं होने चाहिए। पर कुछ पुराने शायरोंने कमसे कम तीन शैर और अधिकसे अधिक पच्चीस शैर तककी ग़ज़लें मानी हैं। आजकल सोलह, उन्नीस और इक्कीस शैर तककी ग़ज़लें लिखी जाती हैं। यदि कोई कवि ग़ज़लके नियमोंकी पाबन्दी और महावरोंका उचित प्रयोग करता हुआ पचास शैरकी ग़ज़ल लिखे तो यह उसके लिये गौरवकी बात है, नियमकी अवहेलना नहीं।

क़सीदा—क़सीदा उन शैरोंको कहते हैं जिनमें किसी व्यक्ति, वस्तु या विषयकी प्रशंसा या निन्दा हो। जैसे ग़ज़लके लिये प्रेमकी रीति भाँतिसे जानकार होना आवश्यक है, वैसे ही क़सीदेके लिये दरबारी क़ायदे-क़ानून और लोक-व्यवहारसे अभिज्ञ होना बहुत ज़रूरी है, जिससे शायर प्रत्येक विषयका ठीक-ठीक वर्णन कर सके और कोई बात मर्यादाके बाहर न जा सके। ग़ालिब कहते हैं कि जो शायर क़सीदा नहीं लिख सकता, उसकी गिनती शायरोंमें करनी ही नहीं चाहिए। बात बिल्कुल सच है। क़सीदे से ही कविकी बहुज्ञताका पता चलता है। उर्दूमें सौदा, इन्शा और ज़ौक़का क़सीदा लिखनेमें बड़ा नाम है।

मसनवी—मसनवी किसी प्रसिद्ध व्यक्तिके पद्य-बद्ध जीवन-वृत्तान्त या कल्पित कथाको कहते हैं।

मसनवी उर्दूमें बहुत कम हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध 'गुलज़ार नसीम' है, जो पंडित दयाशंकर 'नसीम'की लिखी हुई है। फ़ारसीमें शाहनामा, सिकन्दरनामा और यूसुफ़ ज़ुलेख़ा नामकी मसनवियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मरसिया—मरशिया शोक-गीतको कहते हैं। प्रायः सब मरसियोंमें हसन हुसेनका शोक-प्रद वृत्तान्त कहा गया है। अनीस और दबीरके मरसिये बहुत प्रसिद्ध हैं।

छन्द और विषयके संबन्धमें कुछ और मुख्य बातें—

रुबाई—रुबाई चार मिसरोंका छन्द है। इसमें नीति या उपदेशकी बड़ी-बड़ी बातें थोड़े शब्दोंमें, सुन्दर, महावरेदार भाषामें कही जाती हैं। अरबी और फ़ारसीमें रुबाइयोंका बड़ा प्रचार है। फारसीमें उमर ख़ैयामकी रुबाइयाँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि संसारकी प्रायः सब प्रसिद्ध भाषाओंमें उनके अनुवाद हो चुके हैं।

[illegible]लस—मुसल्लसको हिन्दीमें तिपदा या तिकड़ी कहना चाहिए। इसमें तीन मिसरे समान वज़नके होते हैं। जैसे—

या तो अफ़सर मेरा शाहाना बनाया होता।
या मेरा ताज गदापाना बनाया होता।
वर्ना ऐसा जो बनाया न बनाया होता॥

मुख़म्मस—मुख़म्मसको पँचकड़ी समझिये। इसमें पाँच-पाँच कड़ियोंका एक-एक छंद होता है। पाँचवीं कड़ीका तुक मिलता हुआ रहता है। जैसे—

(१)

मुझे तो कहते हो रंग तेरा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।
जमानेकी तरह ढंग जिसका घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है॥
न आज मानूँगा कलका वादा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।
किसे भरोसा कि दमका नक्शा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है।
घड़ीकी सूरत लगा है खटका घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है॥

(२)

मैं हूँ मरीजे तपे मुहब्बत अयाँ है ये ताबियोंकी सूरत।
मैं दिलजला हूँ हमें अयादत न जी के बचनेकी आई नौबत।
जो कोई दम पाये गर्म सोहबत तो फूँके जा सूरे सहरे उल्फ़त।
न कीजो हमदम जरा भी ग़फ़लत कि मिस्ले अखबर है दमकी हालत।
जो दममें जिन्दा तो पलमें मुर्दा घड़ीमें कुछ है घड़ीमें कुछ है॥

मुसद्दस—मुसद्दस छः मिसरों या तीन शैरोंका होता है। पहलेके चार मिसरोंके तुक एक होने चाहिए। शेष दोके तुक अलग होते हैं।

उर्दूमें 'हाली'का मुसद्दस बहुत प्रसिद्ध है। अनीस और दबीरके मरसिये भी मुसद्दसमें हैं।

तारीख़—किसी घटना या किसीके जन्म-मरणका जब सन् कहना होता है, तब उर्दूमें उस ढंगसे नहीं कहा जाता जैसे हिन्दीमें है। हिन्दी-कवितामें अंकके स्थानपर उसी संख्यावाले पदार्थका नाम लिखा जाता है। जैसे, संवत् १९८२ कहना होगा तो दृग, वसु, अङ्क, मयङ्कसे मतलब निकल आवेगा पर उर्दूमें एक-एक अक्षरके लिए अलग संख्याकी कल्पना कर ली गई है। कोई सन् कहना होता है तो कुछ ऐसे अक्षरोंके शब्द बताकर लिखते हैं कि जिनसे घटनाका अर्थ भी निकल आता है और अक्षरोंकी संख्याएं जोड़नेसे सन् भी। प्रत्येक अक्षरके लिये जो अंक नियत हैं उनकी सूची यहाँ दी जाती है—

अलिफ़ =१	काफ़=२०	रे=२००
बे =२	लाम=३०	शीन=३००
जीम =३	मीम=४०	ते =४००
दाल =४	नून =५०	से =५००
हे (छोटी)=५	सीन =६०	खे =६००
वाव =६	ऐन =७०	ज़ाल=७००
ज़े =७	फ़े =८०	ज़्वाद=८००
हे (बड़ी) =८	स्वाद=९०	ज़ोय=९००
तोय =९	क़ाफ़=१००	ग़ैन=१०००
ये (बड़ी) =१०		

जैसे, 'कुनम शुक्रे खुदा', यह तारीख एक बार नासिख़ने क़त्ल होते-होते बच जानेपर कही थी। इसमें इतने अक्षर हैं—काफ़, नून, मीम, शीन, काफ़, रे खे, दाल, अलिफ़। सबके अंक जोड़नेपर हिजरी सन् १२३५ आयेगा।

यहाँतक तो उर्दू के पिंगलका बाहरी परिचय दिया गया, अब उसकी भीतरी बातें सुनिए—

शैर—अरबी भाषाका शब्द है और इसका अर्थ है बाल। सौंदर्यके लिये बाल आवश्यक पदार्थ है। सुन्दर चेहरेपर ज़ुल्फ़ या अलक या लटका लहराना कितना मनोहर होता है, यह मनुष्य जातिसे छिपा नहीं है। बालोंसे सुन्दरता खिल उठती है। प्रेमिका कितनी ही सुन्दरी हो, पर सिर मुँड़ाए हो तो वह प्रेमीको पसन्द नहीं आ सकती। शैरका भी यही हाल है। कविता एक सुन्दरी है। शैर उसके केश हैं। या साहित्य (अदब) माशूक़ है और शैर उसके गेसू हैं।

साहित्यिक परिभाषामें शैर एक ऐसा साँचा है, जिसमें विचार ढाले जाते हैं। ढालनेवाला शायर कहलाता है।

शैरकी मिसाल भौंसे दी जाती है। क्योंकि माशूक़के चेहरेपर दो भवें एक शैरके मिसरोंकी तरह होती हैं। "लुग़त"में शैरका अर्थ "जनाना" भी लिखा है।

मिसरा

मिसरा एक चरण या एक पंक्तिको कहते हैं।

मतला

किसी ग़ज़लमें जो सबसे पहला शैर होता है, उसे मतला कहते हैं।

मक़ता

ग़ज़लमें सबसे अन्तिम शैर को मक़ता कहते हैं।

क़ाफ़िया

क़ाफ़ियेको हिन्दीमें तुक कहते हैं। हिन्दीकी तरह उर्दूमें तुक मिलानेकी कड़ाइयाँ नहीं हैं। उर्दूमें लगा, सदा, हुआ, बजाका भी तुक मिला हुआ समझा जाता है। क्योंकि इन शब्दोंमें सबके अन्तमें "आ" है।

रदीफ़

रदीफ़ क़ाफ़ियेके बाद आती है और वह सब शैरोंमें अपनी जगहपर क़ायम रहती है। कभी बदलती नहीं। जैसे—

इशरते क़तरा है दरियामें फ़ना हो जाना।
दर्दका हदसे गुज़रना है दवा हो जाना॥

इसमें फ़ना और दवा क़ाफ़िया और "हो जाना" रदीफ़ है। यह 'हो जाना' सारी ग़ज़लके प्रत्येक शैरके दूसरे मिसरेमें आवेगा। कभी-कभी एक ही अक्षरकी रदीफ़ होती है। और कभी-कभी आधेसे अधिक मिसरातक रदीफ़ हो जाता है। जैसे—

मुझे तो प्यार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता।
वो बुत बेज़ार ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता॥

इसमें "प्यार" और "बेज़ार" 'क़ाफ़िये" और "ऐसा है कि मैं कुछ कह नहीं सकता" कुलका कुल रदीफ़ है।

कभी-कभी रदीफ़ रहती ही नहीं। जैसे—

हर शाख़में है शिगूफ़ाकारी।
समरा है क़लमका हम्दे बारी॥

इसमें कारी और बारीका क़ाफ़िया तो है, पर रदीफ़ नहीं।"

चीनियोंकी छन्दोयोजना

चीनमें अन्य देशोंकी छन्दोयोजनासे भिन्न एक विचित्र प्रकारसे लयपर तथा छन्दके बदले ध्वनि-प्रसारपर अधिक बल देते हैं। इसीलिये चीनी भाषामें पद्यके लिये कोई शब्द ही नहीं है। 'शि:' शब्द कभी तो पद्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है और कभी काव्यात्मक के अर्थमें; किंतु वास्तवमें यह शब्द एक विशेष प्रकारके छन्दका बोधक है। वहाँ लिखित छन्दको ही पद्य कहते हैं और उसका कारण यह है कि चीनी भाषाका प्रत्येक अक्षर एक प्रारम्भिक और एक अन्तिम व्यंजनसे बना शब्द होता है। और

अंतिम अक्षर तो स्वर या अनुनासिक मात्र ही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि इस प्रकारके लयदार अक्षर कई सहस्र हैं, जिसका परिणाम यह है कि आप किसी प्रकार भी लयसे पिण्ड नहीं छुड़ा सकते।

जिस प्रकार हमारे यहां वर्णवृत्त हैं उसी प्रकार चीनमें भी अक्षर-वृत्त हैं जहाँ अक्षरसे तात्पर्य उस चिह्नसे है जो कभी-कभी वाक्यका भी बोधक होता है। कभी कभी तो जब चीनी पद्य सस्वर पढ़ा जाता है तब एक एकके बदले कभी कभी दो-दो अक्षर एक ध्वनिमें मिलाकर पढ़े जाते हैं जिसमें पहलेपर कुछ हलका बल देकर तथा दूसरेको स्वरित करके मिला दिया जाता है। वास्तवमें चीनी पद्यमें यही स्वर अर्थात् किसी ध्वनिको हल्केसे उच्चरित करना अथवा किसी ध्वनिको अधिक खींचकर बोलना ही चीनी छन्दकी कला है। तात्पर्य यह है कि चीनी पद्यमें लय तो आवश्यक है किन्तु स्वर ऐच्छिक है।

चीनी लोग चार प्रकारके पद्य मानते हैं—(१) शिः (२) फुः, (३) त्ज़उ और (४) चउ। इनमेंसे 'शिः' अधिक प्रचलित है। प्रायः सम्पूर्ण लोकगीत और चारण-गीत तथा साहित्यिक पद्य प्रारम्भसे आजतक इसी छन्दमें लिखे गए हैं। इसके भी तीन विशेष भेद हैं—चतुराक्षरी पंक्तिवाला—शिः चिङ्, जो पीछे पंचाक्षरी और सप्ताक्षरी पंक्तियोंमें रचा जाने लगा। यह भी जब संगीतके लिये लिखा जाता है तब यो फुः कहा जाता है। चीनीकाव्य-साहित्यकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह गीति-प्रधान है, प्रबन्ध-प्रधान नहीं। इसीलिये पूरे चीनी-काव्य-साहित्यमें एक भी महाकाव्य नहीं है और प्रायः साधारण कवितामें चारसे बारह तक पंक्तियाँ होती हैं। चीनकी सबसे बड़ी कथात्मक कविता, जिसमें च्याओ चुङ् चिङ्की पत्नीकी कथा है, उसमें तीन सौ पचास पंक्तियाँ हैं।

शिः और फुःमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि शिःमें तो भाव (येन फुः) प्रधान होता है और फुःमें प्रकृति अथवा वस्तुओंका वर्णन प्रधान होता है। दूसरा भेद यह होता है कि शिः पद्योंकी रचना संगीतके लिये होती है और फुःकी रचना पाठ्य साहित्यके लिये। त्ज़उ भी नये ढंगका संगीतोपयोगी छन्द है। और इसका चलन नवीं शताब्दीमें हुआ। इसकी रचनाशैलीको 'तइ येन त्ज़उ' अथवा रागके अनुसार शब्द भरना कहलाता है। यहाँतक कि पीछेके त्ज़उ लेखक पुराने चले आते हुए गीत-रागों अथवा तर्जोंमें बाँधकर ही त्ज़उ लिखते रहे। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसमें कोई भी पंक्ति सम नहीं थी, सब विषम थीं और यह छन्द अत्यन्त भावात्मक गीतोंके लिये ही काममें आता रहा। चऊको त्ज़ऊका संगीतहीन रूप समझना चाहिए। इस दृष्टिसे चीनी पद्यके केवल दो ही ढंग रह जाते हैं—एक ओर केवल शिः और फुः और दूसरी ओर त्ज़ऊ और चउ। इन सबमें लयकी प्रधानता होती है किन्तु शिः और फुःमें पंक्तियाँ सम होती हैं और त्ज़ऊ और चउमें विषम।

जापानी छन्दोयोजना—

जापानकी छन्दोयोजना समझनेसे पहले उस भाषाकी कुछ विशेषताएँ समझ लेनी चाहिएं। जापानी भाषामें पाँच ह्रस्व स्वर हैं अ, इ, उ, , ए, ओ। विशेष बात यह है कि काव्यमें और शुद्ध उच्चारणमें प्राकृतके समान स्वर अलग-अलग बोले जाते हैं, जैसे - सुउमार, बअरणो, किई। इसे हम सूमार, बाणोया की नहीं पढ़ सकते। साधारण बातचीतमें कभी-कभी अन्तिम ऊ को या बीचके इ को भी छोड़कर पढ़नेकी चलन है, जैसे इमासऊ को इमास अथवा इमाशिताइको इमाशता। प्रत्येक जापानी अक्षरका अन्त सस्वर होता है। इसीलिये जापानमें लयका प्रयोग कवितामें अधिक नहीं प्रचलित हो सका और जापानीमें अक्षरोंपर बल देने या उन्हें स्वरित करनेकी भी कोई विशेष रीति नहीं रही। वहाँ केवल लघु और गुरु शब्द-समूहके अनुसार ही लयका निर्माण होता है। जापानी छन्दोंमें प्रसिद्ध छन्द है नगउता, जिसमें क्रमशः पाँच और सात अक्षरोंकी योजना होती है और जिसकी अन्तिम पंक्ति सात अक्षरोंकी होती है। कुछ कविताओंमें सन्तुलित वाक्यांश, टेक शब्द, दीपक शब्द और श्लेषका अधिक प्रयोग होता है। प्रायः शास्त्रीय कविताका रूप ४—७—५—७—७ अक्षरोंका होता था। यहाँ तक कि जापानीमें इस प्रकारकी कविताको ही तङ्का कहने लगे। एक पद्य लीजिए—

इमा ज़ो शिरू
ओमोइ—इदे—यो तो
चि गि रि शि वा

वासुरेमु तो ते नो
नासाके नारिकेरि
[अब निश्चय मैं जानता
कि जब कहा हमने 'स्मरण करो'
और प्रतिज्ञा भी हमने यह की
तब उसका था अर्थ 'हम भूलेंगे'
और हमारे वे विचार सचमुच थे एक]

यह तङ्का छन्द लिखनेकी शैली आजतक ज्योंकी त्यों चली आ रही है, यद्यपि आज उसका अधिक प्रचलन नहीं है। तेरहवीं शताब्दीमें कुछ कवियोंने इस तङ्काको सुधारकर रेङ्गा (शृङ्खलाबद्ध कविता) नामका छन्द निकाला जिसमें दो या अधिक कवि बारी-बारीसे चौदह (७—७) और सत्रह (५—७—५) अक्षरोंके छन्द बनाते थे और जिसका मुख्य विषय पहला कवि उपस्थित करता था।

जापानी छन्दोंमें सबसे छोटा छन्द है होक्कु या हैक्कु, जिसमें तङ्काके प्रथम भागके समान सत्रह (५—७—५) अक्षर होते हैं। इस छन्दके आचार्य हुए इरशा महोदय और इन्हीं चार छन्दोंमें अर्थात् नगउता, तङ्का, रेङ्गा और हैक्कूके अतिरिक्त और किसी छन्दमें जापानी कविताकी रचना नहीं हुई।

इन सब वर्णनोंसे यह समझनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जायगा कि जिस विस्तार और सूक्ष्मताके साथ हमारे देशमें छन्दपर विचार किया गया है उतनी सूक्ष्मता और विचारके साथ अन्य किसी देशमें नहीं हुआ। हमारे यहाँ सच पूछिए तोछन्द एक नया शास्त्र ही बन गया था जिसमें केवल पद्यरचना मात्र ही उद्देश्य नहीं था वरन् जिसमें प्रत्येक ध्वनिकी विशेषता, उसके विभिन्न प्रयोग और उन प्रयोगोंके परिणामतककी कल्पना कर ली गई थी।

कविता और गीत

ॐ कविता पाठ्या गीतं गेयम्।
[कविता पाठ्य गीत है गेय।]

प्रायः छन्दमें बँधी हुई प्रत्येक रचनाको सब लोग साधारणतः कविता कहते हैं किन्तु केवल छन्दमें बँधने-मात्रसे कोई रचना कविता नहीं हो जाती। हमारे यहाँ तो गद्यको भी कहा गया है कि उसमें छन्दका प्रवाह होना चाहिए—

गद्यं वृत्तानुगन्धि स्यात्।

यहाँतक कि गद्यके जो भेद मुक्तक, चूर्णक, वृत्तगन्धि और उत्कलिका प्राय हैं उनमें वृत्तगन्धि नामक शैली लययुक्त ही होती है। यह वृत्तगन्धित्व बाणकी कादम्बरीमें अनेक स्थलोंपर अत्यन्त भव्य रूपमें प्राप्त है। इसका एक उदाहरण हिन्दीमें अभिनवभरत द्वारा लिखित 'वह अँधेरी रात' कहानीसे उद्धृत किया जाता है—

"वह महीना माघका, पछुवाँ पवन, बादल भरा आकाश बिजलीकी कड़क, घनघोर अँधियारा, अँधेरा पाख, पथरीली कँटीली झाड़ियोंवाली भयंकर अटपटी-सी गैल, बीहड़ बन, सियारोंका रुदन चीत्कार, कोलाहल, निरंतर भुनभुनाते कीट, भुनगे और मच्छर डाँस, ऐसी विकट वेला, विकट पथपर चल रहे हम तीन, धुकधुक कर रहे थे हृदय जिनके। झाड़ आगे, झाड़ियाँ दाएँ, उधर बाएँ बड़ा-सा खड्ड, बिजलीकी चमकमें फाड़कर मुँह कह रहा था बस उधर रहना, इधर बढ़ना न तुम पग एक।"

ब्लैंक वर्स (अतुकान्त पद्य)

इसके अतिरिक्त १७ वीं शताब्दीमें योरोपमें एक शैली ही चली जिसे ब्लैंक वर्स (रिक्त पद्य या अतुकान्त पद्य) कहते हैं। इसका प्रचलन 'सरे'ने सन् १५४० में सम्भवतः इतालवी कवि 'वर्सी स्कियोलनी'से प्रभावित होकर अंग्रेजीमें प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। पूर्व एलिज़ाबेथीय लोगोंने तुकहीन लम्बी पुरानी कविताओंके अनुवादके लिये इसका प्रयोग किया था। सन् १५५७ में इसका प्रयोग नाटकमें हुआ और प्रसिद्ध कवि मार्लोवेने अपने टैम्बरलेन (तैमूरलंग) नामक कवितामें खुलकर इसका प्रयोग किया और तबसे शेक्सपियर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैली, टेनीसन, ब्राउनिंग, स्विनबर्न आदि बड़े-बड़े कवियोंने बड़े धड़ल्लेसे इसमें रचनाएँ कीं। इसकी विशेषता यह थी कि इसमें लय प्रधान था, तुक और मात्राओं अथवा एक चरणके लघु-गुरु ध्वन्यक्षरोंकी कोई गणना नहीं थी। हिन्दीमें भी 'निराला'ने बँगलाके माध्यमसे इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। और अब तो खुलकर इसका प्रयोग होने लगा है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी रचनाको काव्यकी संज्ञा प्राप्त करनेके लिये विशेष गुणसमन्वित होना चाहिए जिसका उल्लेख हम पीछे 'काव्यतत्त्व'में कर आए हैं किन्तु गीत बननेके लिये लय और मात्राका ऐसा उचित समन्वय होना ही चाहिए जिसमें वह रागकी नपी-तुली तानोंमें ठीक बैठाया जा सके। यों तो बारह मात्रामें नपी हुई तालमें

हम 'आओ' शब्दको ही किसी रागमें बाँधकर अलापसे बारह मात्राएँ भर सकते हैं; जैसे—

आ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ओ ऽ

किन्तु यह रागकी दृष्टिसे ठीक होते हुए भी और गीत-की दृष्टिसे भी ठीक होते हुए उचित नहीं है। उसकी पूर्णता निम्नलिखित पंक्तिसे ही हो पावेगी—

आ ओ प्रिय तुम आओ

ऽ ऽ । । । । ऽ ऽ

गीतकी इस प्रकारकी छन्दोयोजनामें तीन बातोंका ध्यान रखना पड़ता है—अवसर, रस या भाव और गति।

गीतका अवसर

अवसरका अर्थ यह है कि किस ऋतुमें किस विशेष परिस्थितिमें किस पात्रके द्वारा गीत गवानेका आयोजन किया जा रहा है। जहाँ तक गीतिनाट्यकी बात है, उसमें तो पूरा नाटक ही गीतमें होता है इसलिये उसमें केवल रस या भाव और गतिका ही ध्यान रक्खा जाता है किन्तु गद्य नाटकमें गीतके प्रयोगके लिये अवसरकी अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है। इधर कुछ वर्षोंसे ऐसी प्रणाली चल पड़ी थी कि विवाहके मंगल अवसरसे लेकर अन्तिम संस्कारतक सबमें गीत गवाना आवश्यक-सा समझा जाने लगा था और अभीतक भी हमारे बहुतसे नाटककार गीतके लिये अवसरकी चिन्ता नहीं करते। वे सभी अवसरोंपर गीतका प्रयोग लोकाराधनके लिये आवश्यक ही समझते चले आए किन्तु यह अत्यन्त अनुचित और भ्रामक धारणा है। नन्दिकेश्वरने नटन-प्रयोगकालके संबंधमें अपने अभिनय-दर्पणमें कहा है—

द्रष्टव्ये नाट्यनृत्ये च पर्वकाले विशेषतः ॥१२॥
नृत्तं स्यन्न नरेन्द्राणामभिषेके महोत्सवे।
यात्रायां देवयात्रायां विवाहे प्रियसंगमे ॥१३॥
नगराणामगाराणां प्रवेशे पुत्रजन्मनि।
शुभार्थिभिः प्रयोक्तव्यं माङ्गल्यं सर्वकर्मसु ॥१४॥

[पर्व, राज्याभिषेक, महोत्सव, यात्रा, देवयात्रा, विवाह, प्रियमिलन, नगर और भवनमें प्रवेश, पुत्र-जन्म तथा सभी मंगल अवसरोंपर नाट्य और नृत्यका प्रदर्शन करना चाहिए।]

किन्तु नाटकमें गीतके लिये इतने ही अवसर पर्याप्त हैं। नाटकमें निम्नलिखित अवसरोंपर भी पात्रों—द्वारा गीतका प्रयोग किया जा सकता है—

१. एक पात्र अकेले बैठे हुए मन बहलानेके लिये गाता हो।

२ अकेला व्यक्ति गीत या वाद्य सीख रहा हो या सिखा रहा हो।

३ पर्व या उत्सवपर कई व्यक्ति एक साथ गा रहे हों।

४ पर्व, मंगलकार्य, उत्सव या देवकार्यपर बहुत लोगोंके बीच एक या अनेक-द्वारा गीत।

५ प्रेम-मिलन अथवा प्रेमाचारके अवसरोंपर, वियोगमें भी जी बहलाते या प्रियकी स्मृतिमें गाया जा सकता है।

६ चक्की पीसने, पुरवट चलाने आदिके अवसरपर श्रम मिटानेके लिये गीत।

७ देवताओंकी स्तुति तथा मंगलगान।

८ नाट्यारम्भका गीत।

९ विशेष ऋतुके अनुकूल उस ऋतुके दृश्योंमें गीत।

१० भिक्षा माँगते समय।

११ किसी काव्यसे कथा-गीत गाना जैसे आल्हा आदि।

१२ सेना या किसी सैन्य-कल्प दलके अभियानके समय अथवा युद्धके समय सेनाको उत्साह दिलानेके लिये गीत।

१३ उपदेशके लिये गाना जैसे सन्त लोग गाते थे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि रौद्र, भयानक और बीभत्स रसोंमें गीतका प्रयोग निषिद्ध और निन्द्य है।

हमारे नाट्याचार्योंने इसीलिये चार वृत्तिके अथवा प्रकृतिके नाटकोंकी योजना की है जिनमेंसे कैशिकी वृत्ति-के नाटकमें ही गीत, वाद्य तथा नृत्यका अधिक आयोजन करनेका विधान किया है। आरभटी वृत्तिके नाटकोंमें मार-काट अधिक होती है, इसलिये उसमें गीतकी योजनाका निषेध है। रस या प्रभावके अनुरूप गीतकी शब्द-योजना करना दूसरा तत्त्व है और तदनुकूल राग या तालमें बाँधना भी उसका आवश्यक तत्त्व है। इस सम्बन्धमें रंग-निर्देशके प्रकरणमें हम सब समझा आए हैं।

कविताके प्रयोग-स्थल

❀ स्वाभाविको काव्यप्रयोगः स्यात्।

[स्वाभाविक हो काव्य-प्रयोग।]

संस्कृतके नाटककारोंने अत्यन्त उदारताके साथ अपने पात्रोंसे गद्य-संवादोंके साथ श्लोक भी कहलाए हैं और

यह श्लोक-प्रयोग व्यापक रूपसे सब प्रकारके नाटकोंमें किया गया है किंतु हम प्रारम्भमें ही इस शैलीको अस्वाभाविक बताते हुए इसका विरोध कर आए हैं। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे स्थल हैं जहां नाटकमें भी कविताका प्रयोग किया जा सकता है, जैसे निम्नलिखित स्थलोंमें—

(१) किसी कविका उद्धरण देते समय—

जैसे—जाने दो भाई 'जो तोकूँ काँटा बुवे ताहि बोइ तू फूल।'

(२) किसी बातके या घटनाके समर्थनमें किसी कविकी उक्ति—

जैसे—चिंता करनेसे क्या होगा, यह कोई अपने बसकी बात है—

तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

(३) किसी विशेष भावके पोषणमें—

जैसे—ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, ता पुनि बीछि मार।
ताहि पियाई बारुनी, कहहु कौन उपचार॥

(४) नाटकमें वर्णित दो या कई कवियोंकी काव्य-प्रतिद्वन्द्विताके अवसरपर

जैसे—एक कवि—

चंद्रमा क्या है कि घंटा पीठपर नभके टँगा है।

दूसरा कवि—

है बड़ा सा एक रसगुल्ला कि जो रसमें पगा है।

(५) पहेली-बुझौवल, चरणपूर्त्ति, अन्त्याक्षरी-प्रतिद्वंद्वितामें।

जैसे—बताओ तो क्या है—

तरवरसे एक तिरिया उतरी, उसने खूब रिझाया।
बापका उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया॥

या अन्त्याक्षरीमें

एक—

मन तें कहाँ रहीम प्रभु, दृगतें कहाँ दिवान।
देखि दृगन जो आदरैं, मन तेहि हाथ बिकान॥

अब 'न' से कहो

दूसरा—

नरकी अरु नलनीरकी, गति एकै करि जोय,
ज्यों ज्यों ऊँचौ ह्वै चढ़ै त्यों त्यों नीचौ होय।

(६) देव-स्तुति या राज-स्तुतिमें।

(७) पागलपनमें किसी कविकी कविता कहना या गीत अलापना।

(८) प्रेमातिशयमें अथवा प्रेमकी अभिव्यक्तिके लिये।

(९) भयके कारण किसी देवताकी स्तुति करते समय जैसे लोग हनुमान-चालीसा या गायत्री पढ़ते हैं।

(१०) रणाङ्गणमें वीरोंको उत्तेजित करनेके लिये जैसे—चारणोंके गीत

(११) प्रसंगवश किसी कविकी कविताका पारायण करते समय।

उपर्युक्त ऐसे अवसर हैं जिनमें स्वाभाविक रूपसे कविताका प्रयोग किया जा सकता है। इनमेंसे कुछमें पुराने कवियोंकी कविताका प्रयोग हो सकता है और कुछमें नाटककारकी रची हुई कविताका। इन कविताओंके प्रयोगमें भी उनके औचित्य और अवसरका ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि इनके बिना उस कविताका कोई प्रयोजन और महत्त्व नहीं है। यह कविता ऐसी होनी चाहिए जो ठीक-ठीक सबकी समझमें आ सके, अर्थात् उसमें इतनी अधिक लाक्षणिकता न हो कि दर्शकोंको उसका समझना कठिन हो जाय। कविताके संबंधमें शेष बातें हम पीछे समझा आए हैं।

गीतका प्रयोग

नाटकमें गीतका प्रयोग संगीतके साथ साथ आता है और इसलिये नाटककारका यह धर्म है कि वह गीतका निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रक्खे कि कितनी मात्रामें, किस लयमें, किस राग और कालमें गीत बाँधे जायँ। इसके लिये संगीत-शास्त्रका इतना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्थामें, किस भावके अनुसार किस राग और तालमें गीत होना चाहिए। आजकल पृष्ठ-संगीत-द्वारा भी नाट्कीय प्रभाव उत्पन्न करनेका आयोजन किया जाता है इसलिये नाटककारको यह भी जानना चाहिए कि किस समय कौनसे वाद्य-द्वारा, किस गीतसे, किस रागसे, कितने समयमें पृष्ठ-संगीतका प्रयोग करना उपयुक्त है। इस सम्बन्धमें रंगनिर्देशके प्रकरणमें हम सब कुछ कह आए हैं।

कविता और गीत

कविता और गीतकी छन्दःप्रवृत्तिके सम्बन्धमें एक विशेष बात यह स्मरण रखनी चाहिए कि गीतोंमें एक टेक

होती है वह चाहे एक पंक्तिकी हो या दो की। मीराका एक गीत लीजिए—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई
अब तो बात फैल गई जानत सब कोई।

इस गीतमें पहली पंक्ति टेक कहलाती है जिसे प्रति दो कड़ी कहकर दुहराया जाता है। कुछ गीत ऐसे हैं जिनमें दो कड़ीकी टेक होती है जैसे—अभिनवभरतका यह गीत—

कोयल मीठे बोल न बोल
डाली डाली कूक कूक कर विषकी गाँठ न खोल ॥
बोल-बोलमें तोल-तोलकर तू मत मिश्री घोल।
दुनिया अन्धी है, बहुधन्धी वह क्या लेगी मोल ॥
चुप! सुनता है एक अहेरी आया राह टटोल।
जाल डालकर फाँस चलेगा फाँसी होगा बोल ॥

इस गीतकी पहली दो पंक्तियाँ टेकका काम करती हैं।

इसके अतिरिक्त आजकल अंगरेज़ीके सौनेटके ढंगपर भी गीत लिखे जाने लगे हैं पर उनमें भी पहली पंक्तिका प्रयोग टेकके समान ही किया जाता है। एक या दो कड़ी गाकर टेक दुहराने, तिहराने या चौहरानेकी प्रथा सब देशोंके गीतोंमें है।

हम ऊपर कह आए हैं कि गीतका प्रयोग करते समय हमें रस, भाव और गतिका ध्यान रखना चाहिए। अवसरकी व्याख्या भी हम पीछे कर आए हैं। रस और भावके सम्बन्धमें इतना ही समझना पर्याप्त होगा कि कोमल रसों और भावोंमें कोमल, सरस और सरल पदावलीका तथा कठोर भावों अथवा अकोमल रसोंमें कर्कश, कर्णकटु तथा कठोर शब्दोंका प्रयोग करना चाहिए जिससे उस भाव या रसका रूपक खड़ा करनेमें सहायता मिले। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामायणमें दोनोंके उदाहरण दिए हैं। जब सीताजी उपवनमें आती हैं तब—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं।
मनसा विस्व विजय करि लीन्हीं ॥

और जब धनुष टूटता है तब सहसा गोस्वामीजीकी वाणी उनकी कड़क लेकर गरज उठती है—

भरि भुवन घोर कठोर रवि ससि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज, डोल महि-अहि कोल कूरम कलमले ॥

अथवा कवितावलीका इसी प्रसंगका वर्णन लीजिए—

डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बय समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल बिकल दिगपाल चराचर ॥

होमरने अपने 'इलियाद' और 'ओदैसी' में इस प्रकारको रसानुकूल तथा भावानुकूल शब्दयोजनाका जैसा चमत्कार उत्पन्न किया है वैसा विश्व-साहित्यमें केवल भारतमें ही देखनेको मिलता है। जहाँतक गीतको भावानुकूल या रसानुकूल बनानेकी बात है, इस सम्बन्धमें हम रंगनिर्देश-प्रकरणमें संगीत-निर्देशके अन्तर्गत सब कुछ समझा आए हैं।

गतिके सम्बन्धमें यह जान लेना अपेक्षित है कि शृंगार और करुणमें गीत मन्द तथा मध्य लयमें गाए जाने चाहिए, वीर, रौद्र तथा अद्भुतमें तीव्र लयमें। भयानक और बीभत्समें गीतका प्रयोग नहीं होना चाहिए। हास्यमें आवश्यकताके अनुसार सब लयोंका प्रयोग किया जा सकता है।

छन्दोयोजनाके साथ शब्दयोजना तथा संगीत-योजनाका तत्त्व संमिश्रण करनेसे गीतका ठीक रूप स्थिर किया जा सकता है जिसके लिये नियम नहीं बनाए जा सकते। यह केवल अभ्यास और अध्ययनपर ही अवलम्बित है।

गीतके रूप और प्रयोग

ॐ स्वाभाविकी गीतयोजना श्लाघ्या।

[स्वाभाविक हो गीत-योजना]

गीतका प्रयोग नाटकमें कई प्रकारसे किया जा सकता है—

(१) अकेला व्यक्ति बिना वाद्यके गाता हो।
(२) अकेला व्यक्ति वाद्यके साथ गाता हो।
(३) अकेला व्यक्ति बारी-बारीसे गाता और बजाता हो।
(४) अकेला व्यक्ति नृत्य (भावप्रदर्शन) और नृत्त (काललय) और वाद्यके साथ गाता हो।
(५) एक व्यक्ति दूसरेके नृत्यके साथ गाता हो।
(६) दो या अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गाते हों।
(७) दो या अधिक व्यक्ति संवादात्मक गीत गाते हों।

अर्थात् ऐसा गीत जिसमें एक कड़ी एक कहता हो दूसरी कड़ी दूसरा।

(८) बहुतसे लोग मिलकर ऐसा गीत गाते हों जिसमें एक व्यक्ति एक पंक्ति कहता हो, शेष उसका अनुवर्त्तन करते हों।

(९) गानेवालोंके दो दल बारीबारीसे एक ही पंक्ति गाते हों।

(१०) संगीतकी शिक्षा देते समय गुरु सिखाता हो और शिष्य शिक्षाके अनुसार गाते हों।

(११) लोकगीत—जिसमें स्त्रियाँ अथवा पुरुष, विशेष अवसरके उपयुक्त ढोल-मजीरा आदि कोई वाद्य लेकर विशेष योजना और उपचारके साथ नाचते या गाते हों।

(१२) नृत्यगीत जैसे गुजरातमें गरबा नृत्य

(१३) श्रमगीत—जैसे पुरवट चलाने, चक्की पीसने या सड़क कूटनेके समय पुरुष और स्त्री श्रम मिटानेके लिये गीत गाते हैं।

(१४) पर्वोत्सव गीत—विवाह तथा धार्मिक पर्व आदि उत्सवोंपर गाए जानेवाले गीत

(१५) स्तोत्रगीत—विशेष देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये विशेष अवसरोंपर जो गीत गाए जाते हैं जैसे देवीके गीत।

(१६) ऋतुगीत—जैसे सावनमें हिंडोला या कजली और चैतमें चैती आदि

(१७) भिक्षागीत—जिनका प्रयोग भिक्षुक लोग करते हैं। यह भी सवाद्य और अवाद्य होता है।

(१८) कथागीत—जैसे आल्हा।

(१९) कोलाहल गीत—जिसमें बहुतसे लोग मेले आदिके दृश्यमें एक साथ गाते, नाचते दिखाये गए हों।

(२०) विलापगीत या सियापा—जो किसीके निधनपर विशेष रागमें उसके गुण-कीर्तनके साथ छाती पीटकर रोते हुए गाए जाते हैं। पंजाबके खत्रियोंमें सियापा गानेवाली-स्त्रियोंका एक शिक्षित मण्डल ही रहता है।

(२१) अभियान-गीत जो सेनाकी संचरण गतिके अनुसार गाया जाता है।

(२२) युद्धमें योद्धाओंको उत्साह देनेके लिये गीत।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष अवस्थाएँ हैं जिनमें गीतका प्रयोग होता है, जैसे—सभागीत, किसी मंगलोत्सवपर किसी अच्छे गवैये या गायिकाको बुलाकर गीतका आयोजन करना। इसी प्रकार गोष्ठी-गीत भी है जिसमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजनके लिये किसीका गीत गाते या सुनते हैं। इन्हींके साथ आजकल स्नानघर-संगीत तथा स्वेच्छासे राग अलापना या गुनगुनाना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे संगीतकी अवस्थाओंमें गिना जाने लगा है और इनका प्रयोग भी नाटकोंमें यथास्थान किया जाने लगा है।

नीचे हम अभिनवभरतके सिद्धार्थ नृत्य-नाट्यको पूरा उद्धृत करते हैं जिससे स्पष्ट हो जायगा कि कहाँ, किस प्रकारसे, किस शैलीमें, किस रागमें तथा किस लयमें गीतोंकी रचना करनी चाहिए।

सिद्धार्थ
नृत्य-नाट्य

पुरुष — पात्र —	स्त्री
शुद्धोदन	मायादेवी
गौतम बुद्ध	यशोधरा
राहुल	सुजाता
मार	रति
काम	अरति
क्रोध	तृष्णा
मोह	
वृद्ध	दासियाँ
रोगी	
यती	
पाँच भिक्खु	
चारण	
निर्वापक	भावनटी
नेपथ्य-गायक	नेपथ्य-गायिका

[नृत्य-नाट्यका परिचय]

[योरपमें ऑपेरा तथा डान्स-बैलेके नामसे जो नाट्य-प्रणाली प्रचलित है उसमें पहले गीत-रहित नृत्यके साथ कथाका नाट्य होता था। पीछे उनमें गीत भी जोड़ दिया गया। उसकी प्रयोग-प्रणाली यह है कि कथा-भागको एक भावनटी आकर नृत्यके द्वारा समझाती है और उसका विवरण कुछ गायक तथा गायिकाएँ रंगपीठके एक

और बैठकर गीतके द्वारा देते रहते हैं। पात्रोंके जो संवाद होते हैं उनमेंसे पुरुषोंके संवाद पुरुष-गायक द्वारा और स्त्रियोंके संवाद गायिका-द्वारा ही गाए जाते हैं, अभिनेता-गण केवल गाए जानेवाले शब्दोंके साथ तत्तद्भाव-व्यंजक अभिनय करते चलते हैं। पीछेकी यवनिका रंग-दृश्यके भावके अनुकूल होती है और सब गीतोंके राग भी रस और भावके अनुसार ही होते हैं। हिन्दी साहित्यमें यह सर्वप्रथम नृत्य-नाट्य है और बम्बईके एक्सेलसियर थिएटरमें अत्यन्त कुशल भारतीय नृत्याचार्योंके सहयोगसे सितम्बर सन् १९४७ में निरन्तर एक सप्ताहतक खेला जाता रहा।

नृत्य-नाट्यके गीतोंमें अधिक लाक्षणिकता और चमत्कारोक्तियोंके लिये अवकाश नहीं होता क्योंकि इसका वर्णन रूप शुद्ध कथात्मक होता है जो अत्यन्त सरल होना चाहिए और शेष संवाद होते हैं जिसके प्रत्येक पदका अभिनय किया जाता है।

[पूजन-नृत्य होता है, केवल वाद्य और नृत्य]

[श्वेत पटीके आगे प्रस्तावना]

भावनटी—

(राग-मालकौंस, मन्द लय)

जय जल-थल-नभके दिव्य देव
ले शक्ति-मन्त्र तुम जाग उठो।
पशु-बलसे पीड़ित जगतीका
ले मुक्ति मन्त्र तुम जाग उठो॥
इतिहास जगे ले-ले करवट सब स्वर्ण-पृष्ठ खुलते जाएँ।
निर्मल गाथासे धीरोंकी मल-मलिन हृदय धुलते जाएँ॥

[छन्द-परिवर्त्तन]

जय स्वातन्त्र्य-विधायक गान्धी, मालवीय जय वीर सुभास।
जय रानी लक्ष्मीबाई जय, जय विप्लवके विमल विलास।
जाग भवानी वीर शिवाकी, यवन-सैन्य कँप उठे अशेष।
जय प्रताप जय देवि पद्मिनी, जय गोविन्दसिंह वीरेश॥
दर्प प्रतापीके प्रताप फिर, शत्रु-हृदयमें शूल जगा।
गुप्तोंके दुर्दान्त पराक्रम, धर्म-ह्रासका त्रास भगा॥
दुर्जय शक-सेनाके अंकुश जय विक्रमके विक्रम-मान।
पुष्यमित्रकी जय, जिसने था वेधा यवनोंका अभिमान॥
जय अशोक,अतुल,शांतिनिधि,शांतिदूत, सुखशांतिनिधान।
विष्णुगुप्तके अतुल शिष्य जय चन्द्रगुप्त शासक मतिमान॥

—स्थायी—

(राग-देशका-आलाप)

खुला पृष्ठ, अत्यालोकित नभ,
भासमान त्रैलोक्य समान।
जय गौतम, सिद्धार्थ, शाक्यमुनि,
बुद्ध, तथागत, दयानिधान॥

[तीव्र लय]

मानवताकी मर्यादाएँ, टूटीं, छूटीं कड़ियाँ मनकी।
नरने शोणितसे हाथ रँगे, कुछ व्यथा नहीं मानव-तनकी॥
जो तनमन बनकर साथ रहे, वे तन-तनकर हो रहे अलग।
माताएँ बिछुड़ीं पुत्रोंसे, हो गए बन्धुसे बन्धु विलग॥
ममता, करुणा, सौहार्द, स्नेह, बन गए स्वप्न,हो गए विलय।
जगको तर्जन करता आया, निर्मम पैशाचिक महाप्रलय॥

[बुद्धकी छाया-मूर्ति दिखाई देती है।]

[अत्यन्त मन्द लय]

(भैरव राग)

हे शान्ति-दयाके देवदूत,
आओ करुणाके दिव्य धाम।
आओ जग-मंगल-महामूर्ति,
तुमको अर्पित शतशत प्रणाम॥

[अनेक कंपित स्वर नेपथ्यसे क्रमशः आरोहमें गा उठते हैं]

शत शत प्रणाम ! शत शत प्रणाम !! शत शत प्रणाम !!!

[यवनिका-पतन]

प्रथम अंक

प्रथम-दृश्य

—यशोधरा-वरण—

[गुलाबी पटीके आगे आरम्भ]

भावनटी—

(राग केदार, द्रुत लय)

धन-धान्य-पूर्ण पुर कपिलवस्तु,
फूला हिमगिरिकी छायामें।
राजा शुद्धोदनकी रानी
मायाकी भूला मायामें॥
आषाढ़ जगा, जग उठा लोक,
फैला कण-कणमें नव विलास।

पावसकी पावन बूँदोंमें,
जागा जगतीका मधुर हास ॥
पुरमें घर-घर, हिंडोल सजे,
वन-उपवनमें भूली डाली !
मायादेवीके आँगनमें,
पुर-वधुओंकी छाई लाली ॥

(राग वागेश्वरी)

श्यामल बादलके दलके दल,
रिमझिम-रिमझिम बरसाते जल ।
गोरी-गोरी पुर-बालाएँ,
थिरकीं आँगनमें मचल-मचल ॥

(भैरव राग, मध्य लय)

वीणा गूँजी, ठनका मृदंग,
वंशी कूकी, मंजीर बजी ।
नूपुर, किंकिणि, घुँघरू छमके,
झमकीं बालाएँ साज-सजी ॥

[मायादेवी लेटी हुई हैं । उनके सामने आषाढ़का अगीत नृत्य होता है । नृत्यके समाप्त होनेतक मायादेवीको नींद आ जाती है ।]

नेपथ्य-गायक—

(विहाग, मन्द लय)

उत्सवकी मायासे थक कर, माया देवीके मुँदे पलक ।
निद्रा प्रहरी बनकर आई, नयनोंपर तन्द्रा गई झलक ॥
देखो रानीके नयन-कमल, निद्राकी छायामें मुकुलित ।
नर्तन-उत्सव पड़ गया मन्द, प्रस्थान किया सबने हर्षित ॥
निद्राने स्वप्निल जाल बुना, मायाका मानस जाग उठा ।
जगतीका संचित पुण्य-पुञ्ज, मानो लेकर अनुराग उठा ॥

[चन्द्रमा दिखाई पड़ता है, उसमेंसे एक छः सूँड़ोंवाला हाथी आकर मायादेवीकी दाहिनी कोखके पास पहुँचकर लुप्त हो जाता है ।]

पूनोके पूर्ण सुधाकरके, खुल गए चन्द्रिकामय कपाट ।
षट्‌शुण्डयुक्त गौराभ हस्ति निकला उसमेंसे अति विराट् ।
वह थलचर भी नभचर बनकर देवीके पास पहुँच आया ।
करके प्रदक्षिणा तीन बार, दाहिनी कोखमें जा छाया ॥

[यवनिका-पतन]

द्वितीय-दृश्य

[गुलाबी पटीके आगे कथा-प्रसंग]

भावनटी—

(भैरव राग, मध्य लय)

रजनी अलसाई, भोर हुई, ऊषा आई, आकाश हँसा ।
तारे सोए, लाली छाई, आ गया अरुण, सविता विकसा ॥
वीणामें भैरव राग छिड़ा, सोया जग जागा आँखें मल ।
जड़ प्रकृति हँसी, हँस झूम उठी,छागए सुमनके दलके दल ॥
नद पवन-तालपर नाच उठे, जगका जीवन हो उठा सरस ।
आ गई ज्योति, छाया मंगल, करुणा-वरुणालय गया बरस ॥
पल-घटिकाओंमें दिन बीते, सप्ताह-पक्ष भी बीत चले ।
संसृतिकी पीड़ाके विषघट,सब छलक-छलक कर रीत चले ॥
दस मास अवधि हो गई पूर्ण, मायाको यह दोहद आया ।
मैं चलूँ देवदह नगर पुण्य, कुछ पितृगेह मनमें माया ॥

(राग तोड़ी, द्रुत लय)

परिचारक-सेना लिए साथ, वे चलीं पितृ-गृह परम मगन ।
लुम्बिनी शालवन मिला बीच,आमूल शिखर थे लदे सुमन ॥
वे रीझ उठीं वनलक्ष्मीपर, वनदेवीका पा अभिनन्दन ।
सब रुका सैन्यबल क्षण भरमें, बन गया लुम्बिनी नन्दनवन ॥

[मन्द लयमें]

(भैरवी)

सुन्दर सरस शाल-तरुके तल,
मायादेवी हुईं विशोक ।
बुद्ध तथागत प्रकट हो गए,
हुआ हर्षमय सारा लोक ॥
दिशा-दिशामें गूँज उठा रव,
चमक उठा जल-थल-पाताल !
राजपुत्रका जन्म श्रवणकर,
फूल उठे नर-नारी बाल ॥

[लाल पटीपर पुत्र-जन्मोत्सवके उपलक्ष्यमें लोक-नृत्य]

[पुरुषोंका उद्धत नृत्य होता है, स्त्रियोंका उल्लासमय लास्य नृत्य होता है. उसके पश्चात् बालकों और बालिकाओंका सम्मिलित वेगचारी नृत्य होता है ।]

[यवनिका-पतन]

श्रोर बैठकर गीतके द्वारा देते रहते हैं। पात्रोंके जो संवाद होते हैं उनमेंसे पुरुषोंके संवाद पुरुष-गायक द्वारा और स्त्रियोंके संवाद गायिका-द्वारा ही गाए जाते हैं, अभिनेता-गण केवल गाए जानेवाले शब्दोंके साथ तत्तद्भाव-व्यंजक अभिनय करते चलते हैं। पीछेकी यवनिका रंग-दृश्यके भावके अनुकूल होती है और सब गीतोंके राग भी रस और भावके अनुसार ही होते हैं। हिन्दी साहित्यमें यह सर्वप्रथम नृत्य-नाट्य है और बम्बईके एक्सेलसियर थिएटरमें अत्यन्त कुशल भारतीय नृत्याचार्योंके सहयोगसे सितम्बर सन् १९४७ में निरन्तर एक सप्ताहतक खेला जाता रहा।

नृत्य-नाट्यके गीतोंमें अधिक लाक्षणिकता और चमत्कारोक्तियोंके लिये अवकाश नहीं होता क्योंकि इसका वर्णन रूप शुद्ध कथात्मक होता है जो अत्यन्त सरल होना चाहिए और शेष संवाद होते हैं जिसके प्रत्येक पदका अभिनय किया जाता है।

[पूजन-नृत्य होता है, केवल वाद्य और नृत्य]

[श्वेत पटीके आगे प्रस्तावना]

भावनटी—

(राग-मालकौंस, मन्द लय)

जय जल-थल-नभके दिव्य देव
ले शक्ति-मन्त्र तुम जाग उठो।
पशु-बलसे पीड़ित जगतीका
ले मुक्ति मन्त्र तुम जाग उठो॥
इतिहास जगे ले-ले करवट सब स्वर्ण-पृष्ठ खुलते जाएँ।
निर्मल गाथासे धीरोंकी मल-मलिन हृदय धुलते जाएँ॥

[छन्द-परिवर्तन]

जय स्वातन्त्र्य-विधायक गान्धी, मालवीय जय वीर सुभास।
जय रानी लक्ष्मीबाई जय, जय विप्लवके विमल विलास।
जाग भवानी वीर शिवाकी, यवन-सैन्य कँप उठे अशेष।
जय प्रताप जय देवि पद्मिनी, जय गोविन्दसिंह वीरेश॥
दर्प प्रतापीके प्रताप फिर, शत्रु-हृदयमें शूल जगा।
गुप्तोंके दुर्दान्त पराक्रम, धर्म-ह्रासका त्रास भगा॥
दुर्दम शक-सेनाके अंकुश जय विक्रमके विक्रम-मान।
पुष्यमित्रकी जय, जिसने था बेधा यवनोंका अभिमान॥
जय अशोक,अतुलय,शांतिनिधि,शांतिदूत, तुम्बशांतिनिधान।
विष्णुगुप्तके अतुल शिष्य जय चन्द्रगुप्त शासक मतिमान॥

—स्थायी—

(राग-देशका-आलाप)

खुला पृष्ठ, अत्यालोकित नभ,
भासमान त्रैलोक्य समान।
जय गौतम, सिद्धार्थ, शाक्यमुनि,
बुद्ध, तथागत, दयानिधान॥

[तीव्र लय]

मानवताकी मर्यादाएँ, टूटीं, छूटीं कड़ियाँ मनकी।
नरने शोणितसे हाथ रँगे, कुछ व्यथा नहीं मानव-तनकी॥
जो तनमन बनकर साथ रहे, वे तन-तनकर हो रहे अलग।
माताएँ बिछुड़ीं पुत्रोंसे, हो गए बन्धुसे बन्धु विलग।
ममता, करुणा, सौहार्द, स्नेह, बन गए स्वप्न,हो गए विलय।
जगको तर्जन करता आया, निर्मम पैशाचिक महाप्रलय॥

[बुद्धकी छाया-मूर्ति दिखाई देती है।]

[अत्यन्त मन्द लय]

(भैरव राग)

हे शान्ति-दयाके देवदूत,
आओ करुणाके दिव्य धाम।
आओ जग-मंगल-महामूर्ति,
तुमको अर्पित शतशत प्रणाम॥

[अनेक कंपित स्वर नेपथ्यसे क्रमशः आरोहमें गा उठते हैं]

शत शत प्रणाम ! शत शत प्रणाम !! शत शत प्रणाम !!!

[यवनिका-पतन]

प्रथम अंक

प्रथम-दृश्य

—यशोधरा-वरण —

[गुलाबी पटीके आगे आरम्भ]

भावनटी—

(राग केदार, द्रुत लय)

धन-धान्य-पूर्ण पुर कपिलवस्तु,
फूला हिमगिरिकी छायामें।
राजा शुद्धोदनकी रानी
मायाको भूला मायामें॥
आषाढ़ जगा, जग उठा लोक,
फैला कण-कणमें नव विलास।

पावसकी पावन बूँदोंमें,
जागा जगतीका मधुर हास ॥
पुरमें घर-घर, हिंडोल सजे,
वन-उपवनमें झूली डाली !
मायादेवीके आँगनमें,
पुर-वधुओंकी छाई लाली ॥

(राग वागेश्वरी)

श्यामल बादलके दलके दल,
रिमझिम-रिमझिम बरसाते जल ।
गोरी-गोरी पुर-बालाएँ,
थिरकीं आँगनमें मचल-मचल ॥

(भैरव राग, मध्य लय)

वीणा गूँजी, ठनका मृदंग,
वंशी कूकी, मंजीर बजी ।
नूपुर, किंकिणि, घुँघरू छमके,
झमकीं बालाएँ साज-सजी ॥

[मायादेवी लेटी हुई हैं । उनके सामने आषाढ़का अगीत नृत्य होता है । नृत्यके समाप्त होनेतक मायादेवीको नींद आ जाती है ।]

नेपथ्य-गायक—

(बिहाग, मन्द लय)

उत्सवकी मायासे थक कर, माया देवीके मुँदे पलक ।
निद्रा प्रहरी बनकर आई, नयनोंपर तन्द्रा गई झलक ॥
देखो रानीके नयन-कमल, निद्राकी छायामें मुकुलित ।
नर्तन-उत्सव पड़ गया मन्द, प्रस्थान किया सबने हर्षित ॥
निद्राने स्वप्निल जाल बुना, मायाका मानस जाग उठा ।
जगतीका संचित पुण्य-पुञ्ज, मानो लेकर अनुराग उठा ॥

[चन्द्रमा दिखाई पड़ता है, उसमेंसे एक छः सूँड़ोंवाला हाथी आकर मायादेवीकी दाहिनी कोखके पास पहुँचकर लुप्त हो जाता है ।]

पूनोके पूर्ण सुधाकरके, खुल गए चन्द्रिकामय कपाट ।
षट्‌शुण्डयुक्त गौराभ हस्ति निकला उसमेंसे अति विराट् ।
वह थलचर भी नभचर बनकर देवीके पास पहुँच आया ।
करके प्रदक्षिणा तीन बार, दाहिनी कोखमें जा छाया ॥

[यवनिका-पतन]

द्वितीय-दृश्य

[गुलाबी पटीके आगे कथा प्रसंग]

भावनटी—

(भैरव राग, मध्य लय)

रजनी अलसाई, भोर हुई, ऊषा आई, आकाश हँसा ।
तारे सोए, लाली छाई, आ गया अरुण, सविता विकसा ॥
वीणामें भैरव राग छिड़ा, सोया जग जागा आँखें मल ।
जड़ प्रकृति हँसी, हँस झूम उठी, छागए सुमनके दलके दल ॥
नद पवन-तालपर नाच उठे, जगका जीवन हो उठा सरस ।
आ गई ज्योति, छाया मंगल, करुणा-वरुणालय गया बरस ॥
पल-घटिकाओंमें दिन बीते, सप्ताह-पक्ष भी बीत चले ।
संसृतिकी पीड़ाके विषघट, सब छलक-छलक कर रीत चले ॥
दस मास अवधि हो गई पूर्ण, मायाको यह दोहद आया ।
मैं चलूँ देवदह नगर पुण्य, कुछ पितृगेह मनमें भाया ॥

(राग तोड़ी, द्रुत लय)

परिचारक-सेना लिए साथ, वे चलीं पितृ-गृह परम मगन ।
लुम्बिनी शालवन मिला बीच, आमूल शिखर थे लदे सुमन ॥
वे रीझ उठीं वनलक्ष्मीपर, वनदेवीका पा अभिनन्दन ।
सब रुका सैन्यबल क्षण भरमें, बन गया लुम्बिनी नन्दनवन ॥

[मन्द लयमें]

(भैरवी)

सुन्दर सरस शाल-तरुके तल,
मायादेवी हुईं विशोक ।
बुद्ध तथागत प्रकट हो गए,
हुआ हर्षमय सारा लोक ॥
दिशा-दिशामें गूँज उठा रव,
चमक उठा जल-थल-पाताल !
राजपुत्रका जन्म श्रवणकर,
फूल उठे नर-नारी बाल ॥

[लाल पटीपर पुत्र-जन्मोत्सवके उपलक्ष्यमें लोक-नृत्य]

[पुरुषोंका उद्धत नृत्य होता है, स्त्रियोंका उल्लासमय लास्य नृत्य होता है. उसके पश्चात् बालकों और बालिकाओंका सम्मिलित वेगचारी नृत्य होता है ।]

[यवनिका-पतन]

तीसरा दृश्य

नेपथ्य-गायक—

(राग भूपाली, मध्यलय)

अपने पिछले संचित कृतसे, ले आए थे वे सभी ज्ञान।
फिर भी जग-करनी करनेको सीखीं विद्याएँ ससम्मान॥
सब वेद, शास्त्र,स्मृति,कथा-पुंज, दर्शन-पुराणका सार लिया।
सब कला-शिल्प-कौशल लेकर शस्त्रोंपर भी अधिकार किया॥
कोई न ज्ञानका अंग बचा, जो नहीं जान वे पाए हों।
कोई न सृष्टिका मर्म बचा, पहचान न वे जो पाए हों॥
इस बीच घोषणा हुई वहाँ, हो रहा स्वयंवर आसपास।
है राजकन्यका यशोधरा, ठाने मंगलमय वरण-रास॥

[यवनिका उठती है।]

[स्वयंवरका अखाड़ा। यशोधरा ऊँचे आसनपर बैठी है। एक दासी हाथमें विजयमाल लिए खड़ी है।]

चारण—

(राग देश, मन्दलय)

श्री-सुषमा-शोभासे विलसित, है यशोधराकी यही आन।
रण-कौशलमें जो विजयी हो, उसको अर्पित है देह-मान॥
हो धर्मयुद्ध रणनीति-सहित, पुलकित है पावन विजय माल।
यह विजय-माल धारण कर ले, देखें वह किसका धन्य भाल॥

[अनेक राजकुमार आते हैं। असि नृत्य, बाण नृत्य तथा कुन्तल-नृत्य होता है। राजकुमारी असन्तोष प्रकट करती है।]

चारण—

यह भी कैसा रण-कौशल है, सबने शोणितसे स्नान किया।
निर्वीर्य हुआ है क्षत्रिय-कुल, सबने झूठा अभिमान किया॥

गौतम—

वह कायर है निर्वीर्य परम, अपमान सहे जो शूर होकर।
क्षत्रियका क्षत्रियपन कैसा जो बैठे क्षत्रियपन खोकर॥

[गौतम आगे आकर असि-नृत्य करते हैं। कई राजकुमार उनके सामने असि नृत्य करते हैं और हार जाते हैं।। गौतमका कौशल देखकर दासीके हाथसे विजय-माल लेकर यशोधरा नीचे उतरती है और गौतमके पास तक बढ़ जाती है।]

गौतमका कौशल देख सभा, हो गए नमित सब विजित भाल।
कन्याके करसे सरक गई, गौतमके ऊपर विजय-माल॥
श्री यशोधराके नयनोंसे गौतमके पावन नयन मिले।
दो हृदय मिले, दो चित्त मिले, बिछुड़े मानसके अयन मिले॥

[यवनिका-पतन]

—यशोधरा वरण नामक प्रथम अंक समाप्त—

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

—महाभिनिष्क्रमण—

[बुद्ध उद्यानमें घूम रहे हैं, फूलोंको देखते हुए और सूँघते हुए।]

नेपथ्य-गायक—

(कालिंगड़ा राग, मध्यलय)

सविताका स्वागत करनेको, जागा उपवन, जागीं कलियाँ।
गौतम भी शैया त्याग उठे, चल दिए देखने रँगरलियाँ॥
उनके पगपर डालियाँ झुकीं, बरसाए सौरभ युक्त सुमन।
गौतमने उनको छू-छू कर, उनका सबका रक्खा था मन॥
सेवन्ती, पाटल पारिजात, यूथिका, मल्लिका, कर्णिकार।
माधवी, केतकी, जपाकुसुम, मौलश्री, सुरभित गंध-भार।
चाँदनी, कुन्द, चम्पा, गेंदा, अतिमुक्त लताके सरस सुमन।
उत्पल सिताभ, रक्ताभ, नील, शुभ आम्रमंजरी श्रान्ति-शमन॥
कचनार कुटज, सरसों कदम्ब, वैजन्ती रक्ताशोक सिरस।
मोगरा, चमेली, वनज्योत्स्ना, लेते हैं भौंरे जिनका रस॥
गौतमने फूलोंका ले रस, कर घ्राण तृप्त सम्मान किया।
मालिनने भूपर शीघ्र धरा, गौतमने गज-दान दिया॥

[तीव्र लय]

फड़ फड़ फड़ फड़, कैं कैं कैं कैं
नभमें यह गूँजा भैरव स्वर,
गौतम चौंके, आगे देखा
लथपथ पक्षी आया भूपर॥
श्रद्धासे संचित सुपर्नोंको, पटका, झटपट चल दिए उधर।
था पड़ा हंस नाराच-विद्ध, व्याकुल,पीड़ित,गत-प्राण जिधर॥
पहुँचे समीप, बैठ नीचे, पक्षीको झट अंकस्थ किया।
कौशलसे बाण निकाल लिया, पटसे शोणित-पथ बन्द किया।
पंखोंके नीचे छिपा हृदय, अबतक भी धुक धुक था करता।
मर्माहत खगके नयनोंसे, था स्रोत वेदनाका बहता॥

नभचरकी पीड़ा कैसी थी, यह समझ न पाए थे गौतम।
इसलिये चुभाया शर करमें तब समझ गए वे व्यथा स्वयम् ॥
उनके नयनोंसे बही धार, फूटा करुणाका मूल स्रोत।
धरणीधर, धरणीपति समेत, काँपा धरणीका महापोत ॥
अपने कोमल करतलसे फिर गौतमने खगको सहलाया।
पुचकार और चुमकार लिया, प्यारे पक्षीको बहलाया ॥
शोणित-पथ जब हो गया बन्द, पक्षीकी मन्द पड़ी धड़कन।
फिर चोंच बढ़ाकर फैला कर, सो गया अंकमें सुस्थिर मन ॥

[देवदत्तका प्रवेश]

देवदत्त—

लाओ यह हंस मुझे दे दो, मैंने वेधा है बाण मार।
इसका स्वामी केवल मैं हूँ, क्यों उठा लिया है अनधिकार ॥

गौतम—

माना मैंने, तुमने मारा, पर मैंने इसकी व्यथा हरी।
मैंने फिरसे इसके तनमें, जीवनकी नूतन शक्ति भरी ॥
अधिकार मारनेमें क्या है, यदि प्राण भरो तो बात एक।
संधान किया, शर छोड़ दिया, इसमें कैसी अधिकार-टेक ॥

देवदत्त—

जो लक्ष्य करे अपने शरसे, आखेट उसीका होता है।
हो शक्ति भरी जिसके धनुमें, संसार उसीका होता है ॥
छोड़ो, दे दो यह हंस मुझे, मैं रीता लौट न जाऊँगा।
यदि शक्ति-परीक्षा करनी हो, वह भी मैं कर दिखलाऊँगा ॥

गौतम—

अपने नयनोंमें नीर भरे, कोमल स्वरमें जो खग बोले।
तुम इसका कोमल तन देखो, इसपर तुमने हैं शर तोले ॥
हैं काम क्रोध-मद-लोभ-मोह, अरि प्रबल तुम्हारे ही तनमें।
यदि शक्ति दिखानी हो तुमको, तो उनसे रण ठानो मनमें ॥

[शुद्धोदनका प्रवेश]

शुद्धोदन

यह कैसे इतना मचा कलह, क्या हुआ न्यायका उल्लंघन।
किसने सत्पथ कर दिया भंग, कैसे टूटा मनका बन्धन ॥

देवदत्त—

मैंने देखा वह राजहंस, मैंने उसपर शर सन्धाना।
पर गौतमने ले लिया उसे, व्यवहार किया है मनमाना ॥

गौतम -

यह सत्य कि मैंने उठा लिया, पर कैसे देदूँ इसे इन्हें।
यदि मर जाता तो इनका था, जी जानेपर क्यों मिले इन्हें ॥

शुद्धोदन—

गौतमका कहना सत्य, न्याय्य, इसने सचमुच है पुण्य किया।
पक्षीके जीवनने निश्चय, गौतमको ही अधिकार दिया ॥

[शुद्धोदनका प्रस्थान]

देवदत्त—

[क्रोधित मुद्रामें]

यह आज पराजय-पर्व सही, पर यहीं नहीं है पूर्ण अंत।
जीवनमें अवसर आने दो, फिर दिखला दूँगा फल तुरंत ॥

[प्रस्थान]

[यवनिका-पतन]

——

द्वितीय दृश्य

निर्घोषक—

(भैरवी, मन्द लय)

हे कपिलवस्तुके नागरिको ! तुम सुनो हर्षका समाचार।
श्री महाराज शुद्धोदनको है, पौत्र हुआ आनन्दसार ॥
अब सजें वीथियाँ, पण्य, हाट, घर-घर मंगल-उत्सव छाएँ।
बन्दनवारें हों द्वार-द्वार, घर-हाट ध्वजाएँ फहराएँ ॥

[राहुलके जन्मपर उत्सव और बालानृत्य हो रहा है। गौतम बैठे हुए देख रहे हैं।]

(नृत्य-गीत, राग भैरवी)

प्राणोंमें अमृत घोल रे बोल ॥
मन्द-मन्द मलयानिल डोले,
विमल कमलके बना हिंडोले,
सुधा उँडेले जा वसुधा पर,
तू प्रियतम अनमोल ॥ रे बोल……
मैं चातक तू स्वातीका घन,
अर्पण है मेरा जीवन-धन,
अपनी करुणाके सागरमें,
मेरी करुणा घोल ॥ रे बोल……
मानसकी लहरोंमें पाला,
हंस बीनता मुक्ता-माला;
व्याध फाँस ले चला जालमें
अपने हाथों खोल ॥ रे बोल…

[हंसका नाम आनेसे बुद्ध कुछ अनमने हो जाते हैं। उसी समय छन्दक आकर सिर झुकाता है।]

जय देव ! आपका यह सेवक चरणोंमें करता विनय-नमन,
है समुपस्थित रथ सेवामें, है आज नगरमें अभिनन्दन ॥
सबने साजा है पर्व-वेष, पुर-शोभाका हो क्या वर्णन।
उसको लखकर लज्जित होता, देवाधिराजका नन्दन वन ॥
घर-घरपर मंगल-कलश सजे, नट नर्तकियोंका मेला है।
वन-उपवनमें, पुरके बाहर, फैला समाजका रेला है ॥
वापी-तडागमें सुरभित जल, सबके मनको है लुभा रहा।
शुक कारंडव, कल राजहंस पक्षी-कुल कल-कल मचा रहा ॥

[गौतम उठते हैं और चल देते हैं, पीछे-पीछे छन्दक जाता है।]

[यवनिका-पतन]

तृतीय दृश्य

निर्घोषक—

(राग आसावरी)

सावधान ! हे कपिलवस्तुके, जन-गण-नायक सावधान।
हैं आज जा रहे भ्रमण-हेतु युवराज हमारे, सावधान ॥
पथमें, पथके ढिग इधर-उधर, हो जहाँ तलक दृष्टि-प्रसार।
कोई न अमंगल चिह्न मिले, कोई न मिले संयुत-विकार ॥
सुन्दर नर-नारी-मय पथ हों, हो गीत-वाद्यका मंगल-रव।
सब हों हर्षिततन, हर्षितमन, हो नृत्य मधुर, हो ध्वनि अभिनव

[रथपर बुद्ध प्रवेश करते हैं, रथकी गतिका नाट्य होता है।]

नेपद्द गायक -

सारथी छन्दक बना था और रथ भी था सुसज्जित।
गजरथवर कर रहा था देवरथको भी विलज्जित ॥
राजपथ-पर अग्रगामी रथ सुसंयत चल रहा था।
और गौतमके हृदयमें आगमन यह खल रहा था ॥

[एक वृद्ध दिखाई पड़ जाता है]

गौतन—

(राग देश)

[illegible] ! कैसे इस मनुजको, काँपती है देह थर-थर।
क्या इसे है शीत लगता, हिल रहा है क्यों निरन्तर ॥
झुर्रियाँ क्यों पड़ गई हैं, केश भी काले न क्यों कर।
हाथमें लाठी लिए क्यों, झुक गया क्या भार ले कर ॥

छन्दक—

जिन्दगी गति ही यही है देहकी आश्चर्य है क्यों।
सत्य है यह, एक दिन सबकी दशा होगी यहाँ यों ॥

गौतम—

वृद्ध क्या मैं भी बनूँगा और यह होगी दशा तब ?

छन्दक—

हाँ प्रभो ! इस देहका परिपाक होवेगा तभी जब ॥

नेपथ्य-गायक -

सुन वचन, युवराजके मनमें उदासी छा गई थी।
है न जीवन-योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥

[रोगी दिखाई पड़ता है]

गौतम—

कौन है यह ? क्यों हुआ है पीत-मुख, निर्बल, विकल-तन।
वेदनासे ले रहा है अंकमें कोई उसे जन ॥

छन्दक—

रोगसे आक्रान्त है यह, देहका व्यापार अस्थिर।
अंत है इसका सुनिश्चित, विश्वका भी अंत सुस्थिर ॥

नेपथ्य-गायक—

सुन वचन, युवराजके मनमें उदासी छा गई थी।
है न जीवन-योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥

गौतम—

और वह क्या ! गिर गया क्यों क्या दशा उसकी हुई है ?

—छन्दक -

देहका यह अन्त निश्चित, देहकी महिमा यही है ॥

नेपथ्य-गायक—

सुन वचन, युवराजके मनमें उदासी छा गई थी।
है न जीवन-योग्य जीवन, भावना यह आ गई थी ॥

[एक प्रसन्न-मुख मुंडित यतीका प्रवेश]

गौतम —

कौन है यह ? क्यों रँगे हैं वस्त्र, क्यों है सिर मुड़ाया ?
क्या किया अपराध इसने, क्या किसीका धन उड़ाया ?

छन्दक—

यह यती है छोड़कर जगके सभी बन्धन चला है।
मुक्त है यह, शोक-दुखने भी नहीं इसको छला है ॥

नेपथ्य-गायक—

सुन वचन युवराजके मुखपर नई मुस्कान छाई।
यही जीवन—योग्य जीवन, भावना मनमें समाई ॥

गौतम—

'चलो छंदक लौटकर' मैं पा गया हूँ जन्मका धन ॥
अब नहीं इच्छा भ्रमणकी, कस रहा है विश्वबंधन ॥

—नेपथ्य-गायक—

चल पड़ा यान, हट गया मोह, मिट गया धुंध, कट गई व्यथा।
गौतमके मनमें आ छाई फिर जग-जीवनकी मर्म-कथा॥

[यवनिका-पतन]

चतुर्थ दृश्य

[नारंगिया रंगकी पटीपर]

(राग बागेश्वरी)

मणि-जटित स्वर्ण-पर्यंक बिछा,
झालरें मोतियोंकी झूलीं।
सुमनोंके कोमल बिस्तर-पर,
सुरभित सुमनावलियाँ फूलीं॥
उपधान सुकोमल सेमलका,
सिरहाने शोभा देता था।
इन्द्राणीके सुख-वैभवका,
सौभाग्य छीन वह लेता था॥

(राग भीमपलासी)

उसपर लेटी थी यशोधरा,
तन्द्राका सुख आधार लिए।
थीं खड़ी दासियाँ सावधान,
सेवाके सब संभार लिए॥
थी एक व्यजन करती धीरे,
थी चवँर डुलाती एक वहाँ।
मृदु गंध-घ्राणके पात्र लिए,
थी खड़ी चारिका एक वहाँ॥

(राग भैरव)

कब आँखोंका आदेश मिले,
इस आशामें एक लगा रहीं।
निद्राको सुमधुर करनेको,
मृदु वाद्य तीन थीं बजा रहीं॥

[उपर्युक्त विवरणके अनुसार दृश्य खुलता है। मृदु वाद्य बज रहा है। धीरे धीरे गौतम आते हैं और चुपचाप बैठ जाते हैं।]

नेपथ्य-गायिका—

(राग देश)

इतनेमें आए बुद्ध वहाँ,
चिन्ताकी छायासे व्याकुल।
मानों सब कुछ हो व्यर्थ वहाँ,
सब वैभव करता हो आकुल॥
झुककर अभिवादन कर-करके,
सब एक-एककर चली गईं।
गौतमने भी मनमें सोचा,
क्या बुरा हुआ ये भली गईं॥
लख यशोधराके मुख-शशिको,
चातक गौतमने आह भरी।
दुधमुँहे बाल राहुलको लख,
गौतमने एक कराह भरी॥
क्षण भरमें सिहरी यशोधरा,
चौंकी, जागी आँखें मल कर।
देखा सम्मुख नयनाभिराम,
बैठे हैं कुछ उन्मन होकर॥
शंकित, पीड़ित, अति भीत, त्रस्त,
कम्पित रोमांचित, कुण्ठित स ।
वह समझ न पाई गौतममें,
परिवर्तन-कारण मोहित सो॥

यशोधरा—

(आसावरी)

क्या हुआ आपको जनवल्लभ!
क्या व्यथा देहमें व्याप्त हुई।
या मानसमें मेरे कारण,
चिन्ता कोई पर्याप्त हुई॥

गौतम—

है नहीं देहमें कहीं व्यथा,
सब अंग स्वस्थ, कैसा विकार!
तुम मेरे मानसकी रानी,
कैसे बन सकतीं व्यथा-भार!

यशोधरा—

क्या कहीं किसीने करुण-कथा,
कोई कहकर यह व्यथा भरी।
या कहीं किसीसे भूल हुई,
या मिला नहीं आदर प्रहरी॥

गौतम—

है नहीं किसीने करुण कथा,
कोई कहकर कुछ व्यथा भरी।

है नहीं किसीसे भूल हुई,
है सजग खड़ा बाहर प्रहरी ॥

यशोधरा—

परिजनसे हो पाया प्रमाद,
तो उन्हें दण्ड मिल जावेगा।
मैं अभी नृत्य-मंगल करती,
कुम्हलाया मन खिल जावेगा ॥

गौतम—

कुछ बात नहीं, कुछ हुआ नहीं,
आकुल न बनो, चिन्ता न करो।
नर्त्तनका कोई पर्व नहीं
संशय अपने मनमें न धरो ॥
है नहीं देहमें कहीं व्यथा,
सब अंग स्वस्थ, कैसा विकार!
तुम मेरे मानसकी रानी,
कैसे बन सकतीं व्यथा--भार

नेपथ्य-गायिका—

दोनों कर-कमलोंके करतल,
हो गए ध्वनित, आदेश मिला।
नूपुरकी कोमल छुन छुनमें,
नर्तकियोंका नव-नृत्य खिला ॥

[नृत्य होता है। यशोधरा सो जाती है। गौतम जागते रहते हैं। नर्तकियाँ भी सो जाती हैं। अन्धकार होता है]

[बुद्ध सहसा चौंककर उठते हैं। खिड़की खोलते हैं — आकाश-वाणी होती है।]

(समवेत स्वर तथा तीव्र लयमें सोहनी)

मानवताकी मर्यादाएँ टूटीं, छूटीं कड़ियाँ मनकी।
नरने शोणितसे हाथ रँगे, कुछ व्यथा नहीं मानव-तनकी ॥
जो तन-मन बनकर साथ रहे वे तन-तन कर हो रहे अलग।
माताएँ बिछुड़ीं पुत्रोंसे, हो गए बन्धुसे बन्धु विलग ॥
ममता, करुणा, सौहार्द्र, स्नेह,
बन गए स्वप्न, हो गए विलय।
उगता नर्तन करता आता,
निर्मम पैशाचिक महाप्रलय ॥

(अत्यन्त मन्द लयमें एक करुणायुक्त पुरुष-स्वरमें)

शान्ति दयाके देवदूत!
आओ करुणाके दिव्य धाम।
आओ जग-मंगल—महामूर्ति,
तुमको अर्पित शत शत प्रणाम ॥

[समवेत कंपन-स्वरमें क्रमशः आरोहके साथ]

शत शत प्रणाम—शत शत प्रणाम—॥
है सकल विश्व अति रोग व्यथित,
है जराग्रस्त, नश्वर पल-पल।
जागो इन सबका कर विनाश,
ले आर्य सत्यका ध्रुव संबल ॥

[आकाशवाणी हो चुकनेपर गौतम सोई नारियोंको देखते हैं।]

नेपथ्य-गायिका—

(राग भैरव)

थे केश किसीके अस्त-व्यस्त,
कोई थी मुँह खोले सोई।
थी बहती मुँहसे लार कहीं,
खर्राटे भरती थी कोई ॥
कोई वीणापर झुकी हुई,
कोई मृदंगपर थी उड़की।
कोई निज करमें वंशी ले,
थी वहीं अचेतन सी लुढ़की ॥
थी नहीं चेतना वस्त्रोंकी,
था नहीं ज्ञान कुछ भी अपना।
कोई बर्राती 'पड़ी' 'पड़ी',
थी देख रही मानो सपना ॥
यह देख वहाँ बीभत्स दृश्य,
भर गया घृणासे उनका मन!

[छन्दकका प्रवेश]

छन्दकसे इंगित कर बोले,
ले आओ हय चलना है वन ॥

[छन्दक चला जाता है।]

छन्दकको यह आदेश दिया,
फिर घूम गए देखा ऊपर।
राहुलको लेकर यशोधरा,
थी सोई स्वप्नातुर होकर ॥
ममताने पग आगे ठेले,
गौतमका मन हो गया विमन।

है दोष नहीं इनका कोई,
क्यों इनको तजकर जाऊँ बन ॥
राहुलके भोले मुख-शशिपर,
लहराती लटमें मन उलझा।
बढ़ गए उठाने हाथोंमें,
तत्काल बुद्धिका भ्रम सुलझा ॥
पैरोंको पीछे लिया खींच,
मनको विरागसे लिया बाँध।
संयमके ढीले बन्धनको,
अविचल विचारसे लिया साध ॥

गौतम—

यह यशोधरा, भोला राहुल,
हैं मायाके कोमल बन्धन।
साधककी ये हैं बाधाएँ,
इनका न उचित है अभिनन्दन ॥

नेपथ्य-गायक—

ममता-विरागके झूलेमें,
क्षण भर गौतमका मन झूला।
पर क्षणमें उनका उन्मन मन,
आया पथपर पथका भूला ॥

गौतम—

(कानडा, मध्यलय)

सब मिथ्या है, सब माया है,
यह सब मनका है कटु विकार ॥
ये विघ्न तपस्यामें मेरी,
इनपर न करूँगा मैं विचार ॥

नेपथ्य—गायक—

[मन्द लय]

तत्काल हुए गौतम सुस्थिर,
हो गया सिद्ध विश्वास अचल।
सो गई विकलता अस्थिरता,
संकल्प हुआ सुस्थिर अविकल ॥

[छन्दक आता है। घोड़ा तैयार होनेकी सूचना देता है और गौतम एक बार राहुलकी ओर देखकर और दूसरी बार यशोधराको देखकर छन्दकके साथ चल देते हैं।]

[अँधेरा हो जाता है।]

नेपथ्य गायक-गायिका

रजनीकी उस अँधियारीमें
कंथकपर चढ़कर चले बुद्ध।
खुल गए नगरके रुद्ध द्वार,
हो गया विश्वका चित्त शुद्ध ॥
उस एक रात्रिमें गए दूर,
योजनपर योजन किए पार।
थी नदी अनोमा मिली मध्य,
कैसे लाँघें यह था विचार ॥
दी एड़ रगड़कर कंथकको,
मारी छलाँग, हो गया पार।
गौतमने सोचा यहीं आज,
लूँगा प्रव्रज्या जीत मार ॥

[छाया रूपमें गौतम और छन्दक दिखाई देते हैं।]

करवाल कोशसे खींच लिया,
सब केश उसीसे दिए काट।
छन्दकको सौंपे आभूषण,
नव संन्यासीका बना ठाट ॥
वस्त्राभूषण करमें लेकर छन्दक लौटा होकर उदास।
पग डगमग मगमें पड़ते थे, कम पड़ता जाता था हुलास ॥

[प्रकाश होता जाता है। प्रातःकालके मंगल वाद्य बजते हैं। यशोधरा उठकर गौतमको ढूँढ़ती हैं। दासियाँ भी उठती हैं और व्याकुल होकर घूमती हैं। छन्दक आकर सब आभूषण देता है और सब समाचार सुनाता है।]

सुनते ही अकरुण समाचार,
हो गई अचेतन यशोधरा।
विह्वल होकर गिर पड़ी तुरत,
फिर लगी सींचने तत धरा ॥
तत्क्षण छन्दकने आभूषण,
उनके करमें रक्खे लाकर।
नयनोंमें उलझे अश्रु-बिन्दु,
बन चले वारिधर, नद, निर्झर ॥

यशोधरा—

(भीमपलासी)

मैं तुम्हारे ही स्वरोंमें गीत अपने गा रही हूँ।
और अपनी कल्पनामें मैं तुम्हें उलझा रही हूँ ॥

तुम कहाँसे भावनामें
बन गए श्रद्धा चिरन्तन,
ज्योति बनकर छा गए हो
चिर विभामय नित्य नूतन
मैं तुम्हारे लोचनोंमें प्यास अपनी पा रही हूँ॥
जा रहे पल-पल विफलसे
कल नहीं मेरे हृदयमें,
तुम जहाँ गति देखते हो
मूर्च्छना है मन्द लयमें।
स्वर भरे आसावरीके किन्तु दीपक गा रही हूँ॥
तुम कहाँको चल दिए
मुझको अचल सन्देश देकर,
ले लिया पथ कष्टमय
विश्रामका आदेश देकर।
पर तुम्हारे नामसे ही मैं हृदय बहला रही हूँ॥
[यवनिका-पतन]

तृतीय अंक

प्रथम दृश्य

—बुद्धत्व-लाभ—

[पीली पर्दीपर]

भावनटी—

(राग बहार)

भवभीति दूर करनेके हित,
गौतमने था संन्यास लिया।
ऋषियों-मुनियोंके आश्रममें,
जगमुक्ति-हेतु अभ्यास किया॥

(कानड़ा)

तब आलार-कालामके घर गए,
और वैभव यहाँ योगका सब लिया।
[illegible] भी भावनाएँ सभी ध्यानमें,
पर न उसने और [illegible] कुछ भी दिया॥
ज्ञानकी खोजमें घूमते ही रहे,
[illegible], पर, जिसका खोज पार नहीं।
[illegible], भजन ध्यान सारे सभी,
[illegible] पाए नहीं॥

फिर समापत्ति उद्दक सिखाते रहे,
किन्तु यह मार्ग भी कुछ अपर्याप्त था।
दुःख-संकट सभीका हटा जो सके,
पंथ ऐसा न उनको कहीं प्राप्त था॥
देश उरुवेलमें वे गए अन्तमें,
और देखा कि है दिव्य भूतल यहाँ।
साधना और तप ही बना लक्ष्य जब,
तब मिलेगा भला देश ऐसा कहाँ!
साधु कौंडिन्य आदिक सभी आगए,
और करने लगे सत्य सेवा सभी।
थी लगी एक आशा उन्हें अन्ततक,
शुद्ध होंगे अभी, बुद्ध होंगे अभी॥
पर गए वर्ष छः बीत, पीले पड़े,
हो गई देह काली, न खाया-पिया।
छोड़कर वे तपस्या उठे अन्तमें,
तब परिव्राजकोंने उन्हें तज दिया॥
[यवनिका उठती है]
[पीपलका वृक्ष दिखाई पड़ता है, बुद्ध आते हैं।]

नेपथ्य-गायक—

(मन्द लयमें राग कानड़ा)

दोहा

तब गौतम वट वृक्षके-तले पधारे अन्त।
आज बुद्ध बनना मुझे, लेकर भाव दुरन्त॥

उस बोधि-वृक्षके नीचे ही,
बैठे गौतम आसन मारे।
आँधी प्रतिमा, चमकी बिजली
आकाश हँसा, चमके तारे॥
वैशाख पूर्णिमाके विहान,
पा गए बुद्धि, हो गए बुद्ध।
जग गई ज्योति, हो गई तृप्ति,
मैं हुआ शुद्ध, मैं हुआ बुद्ध॥
सत्कर्मोंका अति शत्रु मार,
सद्भावोंका वैरी महान।
लख दिव्य तपोनिधि शुद्ध बुद्ध,
आया उस थलपर वैर ठान॥

[मार आकर अनेक प्रकारके उद्धत नृत्यके द्वारा छल, बल, कौशल करता है।]

(भैरव)

छल-बल-कौशल करके अपना,
जब अपने मनमें गया हार।
रति, अरति और तृष्णाको फिर,
लाया मायाके हेतु मार॥

[रति, अरति और तृष्णा बुद्धको हाव-भावपूर्वक अगीत नृत्यसे रिझाती हैं किंतु हारकर चल देती हैं।]

रति, अरति और तृष्णा भागीं,
तब काम, क्रोध, अनुराग चले।

[काम, क्रोध और मोह अपनी भयंकरता प्रकट करते हैं]

गौतमका लख कर दिव्य रूप,
वे भी क्षण भरमें भाग चले॥

[काम क्रोध और मोह जाते हैं।]

हो उठा मारका क्रोध प्रबल,
वह दाँत पीस कर हुआ क्रुद्ध।
लेकर स्वशक्तिका महा-सैन्य,
वह करने आया महायुद्ध॥

—तीव्र लय—

चल पड़े प्रबल उनचास पवन,
घिर चले प्रबल प्रलयंकर घन।
छा गया अँधेरा मचा प्रलय,
ओले-पत्थर-झंझा-गर्जन॥
पाषाण-शिलाएँ चूर-चूर,
बरसे, गरजे शस्त्रास्त्र वहाँ।
हो धुआँधार बरसे बादल,
अब कहाँ धरणि, आकाश कहाँ॥
घनघोर महा गर्जन प्रचंड,
विध्वस्त सृष्टि सब खंड-खंड।
ग्रह-पिंड भग्न, जल मग्न विश्व,
छाया अखण्ड वह काल-दण्ड॥

[मन्द लय]

सब हुआ, किन्तु स्थिर रहे बुद्ध,
हो गया पराजित स्वयं मार।
अपना-सा मुँह ले चला लौट,
वह विश्वजयी भी गया हार॥

[उरुवेलाके सेनानीकी कन्या सुजाता हाथमें थाली लिये आती है]

[आसावरी]

उरुवेलाके सेनानीकी कन्याने ऐसा व्रत ठाना।
पहले पहले सुत होनेपर मनमें चलदल पूजन माना॥
ऐसा सुन्दर संयोग बना, पा गई सुजाता मनका धन।
ले मधुर खीर, थालीमें धर, आई करने पीपल-पूजन॥
देखा तरुके नीचे कोई वनदेव सदृश आसन पर है।
खिल गई सुजाता मन ही मन समझी वनदेव मनोहर है।

[सुजाता थाली आगे बढ़ाती है, प्रणाम करती है। बुद्ध ग्रहण करते हैं। खीर पीकर पात्र उठाकर फेंकते हैं, वह लुप्त हो जाता है। सुजाता थाली उठाकर प्रसन्नतासे चल देती है।]

[यवनिका-पतन]

द्वितीय दृश्य

स्थान—ऋषिपत्तन या मृगदाव [सारनाथ]

नेपथ्य-गायिका—

(बहार, मन्दलय)

इसिपतन मृगदाव, इसिपतन मृगदाव।
थे जहाँपर घूमते मृग, ले हृदयका चाव॥ इसि०॥
था निकट वाराणसीके देश वह रमणीय।
बुद्ध प्रमुदित हो गए कर व्यक्त मनका भाव॥ इसि०॥

[बुद्ध प्रवेश करते हैं।]

बुद्ध—

शुभ्र काशीका मनोहर यह सुरम्य प्रदेश।
और घूमेगा यहींसे धर्म-चक्र स्वभाव॥ इसि०॥

[पंच वर्गीय भिक्षु आते हैं।]

आ गए कौंडिन्य आदिक भिक्षु पाँचों दिव्य।
हो गई श्रद्धा हरी फिर बढ़ गया सद्भाव॥

(भैरव, तीव्र लय)

नेपथ्य-गायक—

झुकाकर शीश पधारे भिक्षु
कहा लो शरण हमें हे देव!
भूलकर बहुत हुए पथ-भ्रष्ट
आज फिर गई पुरानी टेव॥
वरद मुद्रामें दे वरदान
बोलने लगे वचन यह बुद्ध।

बुद्ध—

सुनो हे आदि संघके भिक्षु,
यही उपदेश हमारा शुद्ध ॥
चलाता हूँ मैं मध्यम मार्ग,
धर्मका चक्र अतीव उदार ।
आठ अंगोंसे सज्जित मार्ग,
सत्य हैं केवल इसमें चार ॥

(छन्दकी गति बदलती है । भैरव, मन्द लय)

है दुःख, दुःख-समुदय, निरोध,
दुखके निरोधके सब उपाय ।
ये आर्य-सत्य हैं शुद्ध नित्य,
जिनके प्रकाशसे दुःख जाय ॥
सम्यक् समाधि, व्यायाम, वृत्ति,
स्मृति, कर्म, दृष्टि, संकल्प, वचन ।
अष्टांग मार्ग सुस्थिर विशेष,
हो जायँ नष्ट जिनसे बन्धन ॥
हैं तीन रत्न केवल महान,
मैं बुद्ध, धर्म, यह संघ नवल ।
इनकी जो लेता शरण जीव,
उसको न सताता मार प्रबल ॥
निर्वाण-प्राप्तिका यह उपाय,
अति शुद्ध सरल निश्छल उदार ।
बुद्धत्व-प्राप्तिका सहज पंथ,
इसमें न कहीं संशय-विकार ॥

[पाँचों भिक्षु सिर झुका लेते हैं ।]

बुद्धं सरनं गच्छामि
धम्मं सरनं गच्छामि
संघं सरनं गच्छामि

[समवेत स्वरमें सब इसे ही दुहराते हैं ।]

[यवनिका-पतन]

तृतीय दृश्य

[illegible]—

(गीत-नृत्य, भैरव राग)

हो हो हो साज सजाओ रे, सजाओ रे ।
गली-गलियोंमें साज सजाओ रे ॥
आज आया अपने नैनोंका [illegible] ।
आज आया सुहाग [illegible] [illegible] ।
घर-घरमें बाजे बजाओ रे ॥
हो हो हो साज सजाओ रे ॥
आज खुली जगतीके बंधनकी फाँसें,
आज मिली जगतीको जीवनकी साँसें ।
घर-घरमें बाजे बजाओ रे ॥
हो हो हो साज सजाओ रे ॥

[पीछेसे सुनाई पड़ता है ।]

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस्स ।
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा संबुद्धस्स ॥

[ऊपर अटारीपर यशोधरा और राहुल खड़े हुए देखते हैं]

नेपथ्य-गायिका—

चढ़ गई अटापर यशोधरा,
थे नैन सजल, था हृदय विकल ।
कोलाहल वह जिस ओर उठा,
घूमी, देखा होकर विह्वल ॥
देखा गौतमका भिक्षु रूप
आँसूकी धारा बरस पड़ी ।
पटसे नयनोंको लिया पोंछ,
टक बाँध देखती रही खड़ी ॥

यशोधरा—

देखो राहुल पहचानो तो,
हैं पिता यही देखो इनको ।
अपनी श्रद्धा अर्पण करके,
सारा जग अपनाता जिनको ॥

नेपथ्य-गायिका—

भोला-भाला बालक राहुल,
रह गया ठिठक आँखें पसार ।
मैं सुनता था हूँ राजपुत्र,
क्या मैं भिक्षुकका हूँ कुमार ॥
निःशब्द हो गई यशोधरा,
थे अधर मौन, थी साँस मौन ।
किस व्यथित हृदयसे बतलावे,
ये भिक्षु आज ये बने कौन ॥

[नेपथ्यमें सुनाई पड़ता है]

बुद्धं सरनं गच्छामि
धम्मं सरनं गच्छामि
संघं सरनं गच्छामि

[बुद्ध आते हैं। साथमें शुद्धोदन भी है]

(राग शंकरा, मन्दलय)

जय बुद्धदेव जय शान्तिमूर्ति,
स्वागत विकासके अग्रदूत ।
जय शुद्ध, बुद्ध, अतिशय प्रबुद्ध
जब जीव-दयाके बल अकूत ॥

[यशोधरा राहुलको लेकर नीचे आती है। राहुलके हाथमें पूजनकी थाली है। यशोधरा राहुलका हाथ पकड़कर आरती करती है और राहुल-सहित आरती लिए हुए झुक जाती है। बुद्ध वरद मुद्रामें हाथ उठाते हैं, सब झुक जाते हैं।]

बुद्धं सरनं गच्छामि
धम्मं सरनं गच्छामि
संघं सरनं गच्छामि

[यवनिका-पतन]

["बुद्धत्व-प्राप्ति नामक तृतीय अंक पूर्ण"]

इस उपर्युक्त नृत्यनाट्यसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि कहाँ गीतकी गति, लय, शब्द-योजना तथा उसका राग किस रूपमें उपस्थित किया जाना चाहिए। बहुतसे नाटककार मृत्युके दृश्यमें अथवा आश्चर्य और वीभत्सतापूर्ण दृश्योंमें भी अनावश्यक स्थलपर गीतकी योजना करने लगते हैं। गीतके प्रयोगके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिए कि नाटकमें अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितिमें ही गीतका प्रयोग करना चाहिए। अनावश्यक रूपसे नाट्यकथाकी धारा तोड़कर गीतका आयोजन करनेसे रसानुभूतिमें बाधा पड़ती है और दर्शकोंकी जो भाव-धारा उद्दीप्त होकर किसी विशेष दिशामें बढ़ती चलती है वह सहसा विच्छिन्न होकर लुप्त हो जाती है और दुबारा उस भावधाराके लिये भूमिका बनाना कठिन हो जाता है। अतः अवसर, रस भाव तथा गतिका ध्यान रखकर स्वाभाविक अवस्थामें ही गीतका प्रयोग करना श्रेयस्कर है। नाटकमें छन्दोयोजना, कविता और गीतके प्रयोगके सम्बन्धमें इतना ही पर्याप्त होगा।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीतारामविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपकरचना-खण्डे संवाद-योजना-प्रकरणे छन्दस्तत्त्वं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

नाट्यवृत्ति

पिछले अध्यायोंमें विस्तृत रूपसे विवेचन किया जा चुका है कि नाटकमें कितने तत्त्व होते हैं और किन-किन अंगों अथवा उपाङ्गोंसे उन तत्त्वोंका निर्माण होता है। इतना विवेचन हो चुकनेपर हमें यह समझनेमें सुविधा हो जायगी कि इन अंगोंसे पुष्ट तत्त्वोंके आधारपर कितने प्रकारके नाटक रचे जा सकते हैं। हमारे यहाँ इस 'प्रकार' या 'रचना-शैली' या 'रचनाके ढंग' को ही 'वृत्ति' कहते हैं।

कुछ नाटकोंमें हम गीत, नृत्य, तथा शृंगार चेष्टाओंकी बहुलता पाते हैं। किसीमें युद्ध, मारकाट, लड़ाई-झगड़े और इन्द्रजाल आदिका प्रयोग होता है। किसीमें केवल संवाद ही प्रधान होता है। किसीमें नायकके विशेष उदात्त गुण ही विस्तारसे दिखाए जाते हैं। हमारे यहाँके नाट्याचार्योंने केवल इन्हींके आधारपर भेद निश्चित किए हैं। किन्तु यदि हम विदेशी नाटकोंका अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होगा कि और भी अनेक प्रकारकी शैलियोंमें नाटक रचे जा सकते हैं। योरपमें रहस्यवादी नाटक (मिस्टरी प्लेज़) या नीतिवादी नाटक (मौरेलिटी प्लेज़) भी वास्तवमें नाट्य-वृत्तियाँ ही हैं। इसी प्रकार यूनानमें त्रासद और प्रहसन नामसे जो दो प्रकारके नाटक लिखे जाने लगे थे वे भी वास्तवमें दो वृत्तियोंके आधारपर ही अवलंबित थे। चीनमें भी जो दो प्रकारकी नैतिक और सार्वजनिक नाटक-पद्धतियाँ थीं उन्हें भी दो अलग नाट्य-वृत्तियाँ ही समझनी चाहिएँ। इन्हीं वृत्ति-भेदोंके आधार-पर ही सब देशोंमें अलग-अलग प्रकारके भेद-उपभेदोंके साथ अनेक नाटक रचे गए।

रूपक-रहस्यमें डा० श्यामसुन्दरदासने वृत्तिकी विवेचना इस प्रकार की है—

"वृत्ति शब्दका साधारण अर्थ है बरताव, काम अथवा

। नाट्य-शास्त्रमें नायक, नायिका आदिके विशेष प्रकारके
ाव अथवा ढंगको वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा
, ये तीन साहित्य-विद्याके अंग माने गए हैं। काव्य-
ांसामें इनका वर्णन राजशेखरने इस प्रकार किया है—'तत्र
विन्यासक्रमः प्रवृत्तिः, विलास-विन्यास-क्रमो वृत्तिः, वचन-
ासक्रमो रीतिः।'—अर्थात् विशेष प्रकारकी वेश-
नाको प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शनको वृत्ति और वचन-
तुरीको रीति कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण' के टीकाकार
ागीशने—'वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः'—जिसके कारण
वर्त्तमान हो, जो रसास्वादनका प्रधान कारण हो,
वृत्ति है, इस प्रकारका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ
लाया है।

"अब देखना चाहिए कि विलास विन्यासक्रमो वृत्तिः'
 वाक्यमें विलास शब्दका क्या अर्थ है। विलास नायकके
णको कहते हैं। साहित्य-दर्पणमें उसका यह लक्षण
या है—

'धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः' ॥

अर्थात् विलासके चिह्न हैं—गम्भीर दृष्टिसे देखना,
राली चालसे चलना और मुस्कराकर बातें करना। विलास
ायिकाके स्वभावज अलंकारोंमेंसे एक है। वह है—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ॥

तात्पर्य यह है कि प्रियतमके दर्शन मिलनेपर नायिकाके
ाने-जानेमें, उठने-बैठनेमें, हँसने-बोलनेमें, देखने-सुननेमें जो
क प्रकारका निरालापन आ जाता है, एक तरहकी अदा
ा हो आती है, उसे विलास कहते हैं। इन लक्षणोंके
नुसार बोल-चाल, उठने-बैठने तथा चलने फिरनेके
नोखे ढंगको ही विलास कहना उचित जान पड़ता है।

अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि नाटकमें यथार्थता और
[illegible] मनोहरता लानेका प्रयत्न करते हुए नट और
[illegible] सभी पात्रोंके वाचिक, आंगिक, आहार्य और
सात्त्विक चारों प्रकारके अभिनयकी और प्रसंगानुकूल
दृश्योंके प्रयोगकी उस विशेषताको वृत्ति कहते हैं जो
नाटकके रसकी अनुभूतिमें पूर्ण सहायक हो। इस प्रकार,
[illegible] वृत्तियोंको [illegible] समझना
चाहिए—

[illegible]

वृत्तियाँ चार प्रकारकी होती हैं—भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी।

भारती वृत्ति

इनमेंसे पहली शब्दवृत्ति और शेष तीन अर्थ-वृत्तियाँ कही जाती हैं। भारतीको शब्द-वृत्ति इसलिये कहते हैं कि उसमें वाचिक अभिनयकी ही अधिकता रहती है, उसकी योजनाके लिये किसी विशेष दृश्यकी अवतारणा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अन्य वृत्तियोंमें नृत्य, गीत, वाद्य तथा भिन्न भिन्न रसोंके अनुरूप भाव और दृश्य दिखलाए जाते हैं। भारती ऋग्वेदसे, सात्वती यजुर्वेदसे, कैशिकी सामवेदसे और आरभटी अथर्ववेदसे उत्पन्न मानी गई है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें संलापके ऐसे प्रसंग हैं जिनमें सूक्ष्म रूपसे नाटकका बीज निहित है। जैसे सरमा और पणियोंका संवाद (ऋ० १० । १ ८) विश्वामित्र और नदियोंका संवाद, (ऋ० ३ । ३३) इत्यादि। इसी प्रकार सत्त्व, शौर्य, दया आदि भावोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सात्वतीकी देव मंत्रोंसे पूर्ण से यजुः से, नृत्य गीत बहुल कैशिकीकी संगीत-मय सामसे, और बन्ध, वध, संग्राम क्रोध, इन्द्रजाल, माया आदि उद्धत तथा भीषण भावोंसे भरी आरभटीकी मारण, मोहन उच्चाटन आदि आभिचारिक क्रियाओंके वर्णनसे व्याप्त अथर्वसे उत्पत्ति मानना उचित ही है।

कैशिकी वृत्ति

जैसा पहले कहा जा चुका है, नायकके व्यापारके आधारपर ये वृत्तियाँ होती हैं। हम पहले अर्थ-वृत्तियोंके सम्बन्धमें विचार करेंगे। कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें गीत, नृत्य, विलास, रति इत्यादि आवें। इसमें स्त्रियोंके व्यापार भी सम्मिलित होते है। इन्हीं सब बातोंके कारण यह वृत्ति मधुर मानी गई है।

कैशिकीके चार भेद होते हैं—(१) नर्म (२) नर्म-स्फूर्ज (३) नर्मस्फोट (४) नर्म-गर्भ

१. नर्म—प्रियको प्रसन्न करनेवाली परिहास पूर्ण क्रीड़ाको नर्म कहते हैं। नर्मके भी तीन भेद होते हैं। पहलेमें केवल हास्य होता है। इसलिये उसे हास्यनर्म कहते हैं। दूसरेमें शृंगार-पूर्ण परिहास होता है इसलिये उसे शृंगार-

नर्म कहते हैं और तीसरेमें भय-युक्त परिहास होता है। जिससे उसे भयनर्म कहते हैं।

शृंगार-नर्मके आत्मोपक्षेप-नर्म, संभोग नर्म और मान-नर्म, ये तीन उपभेद और भय नर्मके शुद्ध और रसांतरांगभूत ये दो उपभेद होते हैं।

आत्मोपक्षेप-नर्म प्रियके प्रति अपना अनुराग निवेदन करनेके उद्देश्यसे होता है; जैसे

लगत अषाढ़ कहत हो, चलन किसोर।
घन घुमड़े चहुँ ओरन, नाचत मोर॥
मोहन जीवन-प्यारे, कसि हित कीन।
दरसन ही कों तरफत ये दृग-मीन॥

[रहीम]

संभोग-नर्म—कामाभिलाष प्रकट करनेके निमित्त; यथा—

जाइ पलंका पीवके, बैठी दाबति पाँय।
जमुहाती लखि बिहँसि पिय, लई गरे सों लाय॥

मान-नर्म—अपराधी पतिके ताड़नके लिये; उदाहरण—

जागेउ जहाँ रइनियाँ, तहवाँ जाउ।
जोरि नैन निरलजवा, कत मुसकाउ॥
पौढ़हु पीय पलँगिआ, मींड़उँ पाँय।
रैन जगे कर निदिआ, सब मिटि जाय॥

[रहीम]

शुद्ध भय-नर्म—इसका उदाहरण रत्नावलीके दूसरे अंकमें मिलता है। जहाँ चित्रको देख सुसंगता हँसीमें कहती है—

"चित्रपटके सहित मैं इस सारे वृत्तान्तको जान गई हूँ। मैं यह सब जाकर देवीसे कहूँगी' इत्यादि।

शृंगारांतर्गत भय-नर्म—

साँझ समै वा छैल की, छलनि कही नहीं जाय।
बिन डर बन डरपाय कैं, लई मोहि उर लाय॥

[मतिराम]

इस प्रकार नर्मके ६ भेद होते हैं। यह परिहास-वाणी, वेश और चेष्टा तीनोंसे हो सकता है। अतएव इन ६ भेदोंमेंसे प्रत्येकके वाणी, वेश और चेष्टा इन माध्यमोंके आधारपर तीन-तीन भेद होते हैं। सब मिलाकर १८ भेद हुए।

वाणी-नर्मका उदाहरण—

गौनके द्यौस सिंगारनको 'मतिराम', सहेलिनको गनु आयौ।
कंचनके बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
"पीतम स्रौन समीप सदा बजै," यों कहिकै पहिले पहिरायौ।
कामिनी कौल चलावसि कों, कर ऊँचौ कियो, पै चल्यौ न चलायौ॥

[मतिराम]

वेश-नर्म—विदूषकोंकी वेश-भूषा हास्योत्पादक हुआ करती है। नागानंद नाटकमें विदूषक शेखरककी वेशभूषा ऐसी ही हास्योत्पादक थी।

चेष्टा-नर्म—मालविकाग्निमित्रमें निपुणिका स्वप्न देखते हुए विदूषकके ऊपर एक छड़ी फेंकती है। विदूषक उसे सर्प समझता है और ऐसी चेष्टा करता है जिससे सब हँसने लगते हैं।

२—नर्मस्फूर्ज या नर्मस्फिंज—नायक-नायिकाके प्रथम सम्मिलनका सुखसे आरंभ होना तथा भयसे अंत होना नर्मस्फिंज कहलाता है। जैसे मालविकाग्निमित्रमें प्रथम सम्मिलनके अवसरपर अग्निमित्रके मालविकासे यह कहनेपर कि मैं बहुत कालसे तेरे प्रेममें अनुरक्त हूँ, तू उन्मुक्त लताकी तरह मुझसे लिपट जा, वह उत्तर देती है कि देवी (रानी) के भयसे मैं अपना इष्ट कार्य भी नहीं कर सकती। यहाँपर इस सम्मिलनसे प्रसन्न हुए नायक-नायिकाके सामने अन्तमें रानीका भय उपस्थित हो जाता है।

(३)—नर्मस्फोट—थोड़े भावोंसे सूचित अल्प रसको नर्मस्फोट कहते हैं। जैसे मालती-माधवमें मकरन्दके नीचे लिखे कथनमें—

चलतमें यह अति ही अलसात।
देह न करति वृष्टि सुखमाकी सूनी दृष्टि लखात॥
चिंतातुर सो सांस भरत छिन छिन दूनी दरसावै।
कारण का? यहिके सिवाय कछु और समझ नहिं आवै॥
अवलि रही फिरि भुवन भुवनमें मनमथ-विजय-दुहाई।
जोर मरोर भरी जोबन-नदि यहि तनमें उमड़ाई॥
प्रकृति मधुर कमनीय भाव जब जोबन-ज्योति प्रकासैं।
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू को नासैं।

[मालती-माधव]

यहाँ माधवकी चाल-ढालसे प्रकाशित थोड़े भावसे मालतीके प्रति उसका अनुराग किंचित् मात्रामें प्रकट होता है।

(४) नर्मगर्भ—नायकका गुप्त व्यवहार। जैसे प्रियदर्शिकाके गर्भाङ्कमें वत्सराजका वेश धारण की हुई सुसंगताके स्थानपर स्वयं वत्सराजका आ जाना। अथवा—

एकै थल बैठी हुतीं, दोउ प्यारी वाम।
मूँदि नैन इकके, उलटि, चूमी अपरहिं स्याम॥

भी इसका अच्छा उदाहरण है। वैसे ही मालतीमाधवमें माधव सखीके रूपमें जाकर विरह-पीड़ित मालतीके छूटते हुए प्राणोंकी रक्षा करता है और मालतीको इस बात का पता नहीं चलता।

सात्वती वृत्ति

नायकका व्यापार जहाँ शोकरहित, सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जव-सहित हो वहाँ सात्वती वृत्ति होती है। इसके चार प्रकार होते हैं—(१) संलापक, (२) उत्थापक (३) सांघात्य और (४) परिवर्त्तक।

१—संलापक नाना प्रकारके भाव और रसोंसे युक्त गम्भीर उक्ति या वार्त्तालापको कहते हैं, जैसे—

"राम—निश्चय यह कार्तिकेयको जीतनेपर सपरिवार प्रसन्न हुए महादेवका हजार नर्तक उनके शिष्य रहनेवाले तुमको दिया हुआ परशु है।

परशुराम—हे राम! यह मेरे गुरु महादेवजीका प्यारा यही परशु है। शस्त्र-परीक्षाके दिन गणोंसे घिरे हुए कुमार कार्तिकेयको मैंने हराया था। इसीसे प्रसन्न होकर मेरे गुरु गुणोंके प्रेमी भगवान शंकरने प्रसाद रूपमें यह परशु दिया था।"

[वीरचरित]

राम और परशुरामकी यह गम्भीर उक्ति-प्रयुक्ति नाना प्रकारके भावों और रसोंसे युक्त है इसलिये संलापक है।

२—उत्थापक—जहाँ नायक दूसरेको युद्धके लिये ललकारे या उभाड़े वहाँ उत्थापक होता है। जैसे लक्ष्मणका रावणको ललकारना—

रे खल का मारसि कपि-भालू। मोहि बिलोकु तोर मैं काल॥

[तुलसीदास]

३—सांघात्य—जहाँ मन्त्रके, धनके, या दैवी शक्तिके द्वारा किसी संघात (समाज) में फूट या भेदभाव उत्पन्न किया जाय वहाँ सांघात्य होता है। जैसे मुद्राराक्षसमें [illegible] राक्षसके सहायकोंमें चाणक्यने अपनी बुद्धि-बलसे भेद-बुद्धि उत्पन्न कर दी। यह मन्त्र-शक्तिका उदाहरण है। इस उदाहरणमें मन्त्रका अर्थ 'विचार' लिया गया है। राक्षसके हाथ पर्वतकके कपड़े पहुँचाकर चाणक्यने अर्थ शक्तिके द्वारा मलयकेतुका उससे भेद करवाया। रामायणमें विभीषणका रावणसे फूट जाना रामकी दैवी शक्तिका उदाहरण है।

४—परिवर्त्तक—हाथमें लिए हुए कामको छोड़कर दूसरा काम आरम्भ करना परिवर्त्तक कहलाता है, जैसे—

परशुराम—
गणपतिके मूसलसम दंतन सो अंकित है,
आनन षडानन मृगहानन सुहाई है।
उद्भूत वीर-लाभ सों, सुवस्त्र धारि पुलकनि कौं
छाती मम उत्सुक तोहिं भेंटिबेको धाई है।

राम—भगवान्! आलिंगन तो प्रस्तुत व्यापार युद्धके विरुद्ध है।

[वीरचरित]

आरभटी वृत्ति

आरभटी वृत्तिमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रांति प्रस्ताव आदि बातें होती हैं जो वस्तु वास्तवमें न हो उसे मंत्रके बलसे प्रकट कर दिखलाना माया कहलाता है। तंत्र बल या हाथकी सफाईसे कुछका कुछ कर दिखाना इन्द्रजाल होता है। चकित होकर चक्कर काटते रहने अथवा घूमते रहनेको उद्भ्रांति कहते हैं।

आरभटी वृत्ति चार प्रकारकी होती है—(१) संक्षिप्ति (२) सम्फेट (३) वस्तूत्थापन और (४) अवपात।

१—संक्षिप्ति—धनंजयके अनुसार शिल्पके योगसे संक्षिप्त वस्तु रचना संक्षिप्ति कही जाती है। धनिकने इसपर टीका करते हुए संक्षिप्तिकी व्याख्या की है 'मिट्टी, बाँस, पत्तों और चमड़ेके द्वारा वस्तुका उत्थापन' अर्थात् अपने कला-कौशल-द्वारा इन उपादानोंसे नाना प्रकारकी वस्तुएँ बनाना। उन्होंने इसका उदाहरण बताया है उदयन-चरितमें बनावटी बना हाथी। [illegible] इसका अर्थ कुछ और ही किया है। उसने इसका संक्षेपक या [illegible] अर्थ लगाया है। धनंजयने इसके विपक्षमें, जिनका नाम दिए ही और आचार्योंकी भी सम्मति दी है। उनके अनुसार संक्षिप्ति वहाँ [illegible] नायकके चले जानेपर दूसरे नायककी उपस्थि

स्थानपर प्रतिष्ठा करना है। जैसे बालिके निधन हो जाने पर सुग्रीवको नायक बनाना। धनिकने अपनी टीकामें इसीसे यह भी अर्थ लगा लिया है कि पात्रकी मनोवृत्तिका बदल जाना, जैसे वीरचरितमें परशुरामकी उद्धतताको त्यागकर शान्तता ग्रहण करना।

२—सफेट—इसमें क्रोधसे उत्तेजित दो व्यक्तियोंका पारस्परिक युद्ध होता है, जैसे, मालती-माधवमें माधव और अघोरघंटका या रामायणीय कथाके आधारपर लिखे गए नाटकोंमें मेघनाद और लक्ष्मणका।

(३) वस्तूत्थापन—माया, मन्त्र आदिसे उत्पन्न की हुई वस्तु।

पलँग-सहित अनिरुद्धको, मन्त्र चलाइ उड़ाय।
ल्यायी बानासुर-महल, ऊषै दई मिलाय॥

[उषा-अनिरुद्ध]

(४) अवपात—इसमें निष्क्रमण (जाना), प्रवेश, भय और भागना ये बातें होती हैं। इसका उदाहरण मालती-माधवके तीसरे अंकमें मिलता है—

(बुद्धिरक्षिता घबराई हुई आती है)

बुद्ध०—बचाना! बचाना! नंदनकी बहन सखी मदयंतिका इस व्याघ्रके पंजेमें फँस गई है। उसके साथके सब लोग भाग गए। जो लोग साहस करके आगे बढ़े उन्हें इस दुष्ट श्वापदने मार डाला। बस अब शीघ्र कोई आओ और उसे बेचारीको बचाओ।

माधव—(देखकर) ओ हो!

लटकत टूटी, मुख अंत्रजाल,
आवत मृगेन्द्र क्रुद्धत विशाल।
परे रुंड-मुंड कृत खंड-खंड,
फरकत कटि हालति भुज उदंड॥
वह रुधिर-पंक-पूरण लखात,
यहँ पिंडुरी लौं पग धँसे जात।
होगो कछुको कछु करि उताल,
अब यह मारग भयो अति कराल॥

[मालती-माधव]

प्रियदर्शिकामें विध्यकेतुपर किए गए आक्रमणके समयका कोलाहल भी इसका उत्तम उदाहरण है।

भारती वृत्ति—

"दशरूपक" में भारती वृत्तिका यह लक्षण दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः॥

अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें वाग्व्यापार या बातचीत अधिकांश संस्कृतमें हो, जो नटके आश्रित हो तथा जिसके प्ररोचनाके अतिरिक्त वीथी, प्रहसन और आमुख भेद होते हैं।

साहित्यदर्पणमें इसका लक्षण इस प्रकार लिखा गया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे॥
अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना।

भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें भारती वृत्तिका वर्णन इस प्रकार किया है।—

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

इन तीनों लक्षणोंके मिलानेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस रूपक-रचना शैली या भाषा-प्रयोगकी विशेषताका नाम है जिसे भरत अर्थात् नट लोग प्रयोगमें लाते हैं, नटियाँ नहीं, और जिसमें संस्कृत भाषाके वाक्योंकी ही अधिकता रहती है। धनंजय और साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथकी परिभाषा तो प्रायः मिलती-जुलती है, केवल धनंजयका 'नटाश्रयः' विश्वनाथमें आकर 'नराश्रयः' हो गया है। इसके कारणका भी अनुमान किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भमें नट लोग सभासदोंको प्रसन्न करने तथा उनके मनको मुग्ध करके नाटककी ओर आकृष्ट करनेके लिये मुख्य वस्तुके पूर्व ही इसका प्रयोग करते थे। पीछेसे नाटकके और और अंशोंमें भी इसके प्रयोगका विधान होने लगा, जिससे 'नटाश्रय'के स्थानपर 'नराश्रयः' हो गया। भारती वृत्तिके चार अंगोंमेंसे प्ररोचना और आमुखका संबंध स्पष्ट ही पूर्वरंगसे है। प्ररोचना प्रस्तुत विषयकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्कंठा बढ़ानेके कृत्यको कहते हैं और आमुख आपसकी बातचीतके द्वारा कौशलपूर्वक मुख्य नाटकीय वस्तुके आरंभ करनेके कृत्यको कहते हैं। पर भारती वृत्तिके संबंधमें वीथी और प्रहसनकी व्याख्या आचार्योंने स्पष्ट रूपसे नहीं की है। हाँ,

वीथीके तेरह अंग अवश्य बताए हैं, जिनका संबंध उतना पूर्वरंगसे नहीं है जितना कि स्वयं रूपकके कथानकसे। प्रहसन और वीथी रूपकके भेदोंमें भी आए हैं। प्रहसन एक ही अंकका होता है जिसमें हास्यरस प्रधान रहता है। वीथीमें भी एक ही अंक होता है, पर प्रधानता शृंगार रसकी होती है। दोनोंके इतिवृत्त कवि-कल्पित होते हैं। अनुमानसे ऐसा जान पड़ता है कि आरंभमें प्रहसन और वीथी प्रस्तावनाके अंगमात्र थे। हँसी या मसखरेपनकी बातें कहकर अथवा उनमें विशेष प्रयोगसे युक्त किसी छोटेसे कथानकको लेकर तथा शृंगार-रस युक्त और विचित्र उक्ति-प्रत्युक्तिसे पूर्ण किसी कल्पित पात्रको लेकर दर्शकोंका चित्त प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावनाके समय अनेक उपायोंसे सामाजिकोंके चित्तको प्रसन्न करके नाटक देखनेकी ओर उनकी रुचिको उन्मुख और उत्कंठित करना नटोंका विशेष कर्तव्य समझा जाता था। पीछेसे प्रहसन और वीथीने स्वतंत्र रूप धारण कर लिया और वे रूपकके भेद विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि आमुख और प्ररोचना तो नाटकके प्रति आकृष्ट करनेके लिये और वीथी तथा प्रहसन मध्य या अंतमें सामाजिकोंकी रुचिको सजीव बनाए रखनेके लिये प्रयोगमें आते रहे हों। आजकल भी किसी अन्य रसके नाटकके आरंभ, मध्य अथवा अंतमें दर्शकोंके मनोविनोदके लिये फार्स (जिसके लिये प्रहसन भी उपयुक्त शब्द है) खेला जाता है। पर धनंजयका यह कथन है कि वीथ्यंगोंके द्वारा सूत्रधार नाटकके अर्थ और पात्रका प्रस्ताव करके प्रस्तावनाके अन्तमें चला जाय और तब वस्तुका प्रपंचन आरंभ करे, इस अनुमानसे सिद्ध पड़ता है। इससे तो यही ज्ञात होता है कि संपूर्ण भारती वृत्तिका प्रयोग वस्तु-प्रपंचनके पूर्व ही होता था। फिर भी वीथी और प्रहसनको अन्य रूपकोंके [illegible] दोनों माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती।

यह भी हो सकता है कि विश्वनाथका 'नाटकादि' [illegible] नहीं [illegible] हो। भारती वृत्तिमें [illegible] है कि [illegible] भारती वृत्ति [illegible] होती है और [illegible] अनुसार [illegible]

और स्त्रियोंके साथ बढ़-बढ़कर मसखरेपनकी बातें करना हिंदू-समाजमें स्त्रियोंके लिये विहित आदर और शिष्टता के भावोंके विपरीत है। भारती वृत्तिके अंगोंका विवेचन आगे दिया गया है।

धनंजयने पहली तीन वृत्तियोंको ही सच्ची या क्रिया-वृत्ति माना है भारती वृत्तिको नहीं। नाटकीय व्यापारसे भारती वृत्तिका कोई संबंध नहीं, वह केवल वाचिक वृत्ति मात्र है।

इसके अतिरिक्त उद्भट और उनके अनुयायियोंने एक पाँचवीं वृत्ति भी मानी है। इसको उन्होंने अर्थवृत्ति संज्ञा दी है परन्तु अन्य नाट्याचार्योंने उसे मान्य नहीं समझा है।"

ॐ वस्तु-व्यापार-प्रकृतिः वृत्तिः ॥

[कथा वस्तु-व्यापार-प्रकृति ही कहलाती है वृत्ति।]

ऊपर वृत्ति शब्दकी जो व्याख्याएँ की गई हैं उनमें न तो राजशेखरकी काव्यमीमांसाकी व्याख्या उचित है न तर्कवागीशकी ही। यहाँ वृत्तिका अत्यन्त सीधा सादा अर्थ है प्रकृति जो वृत् धातुके साथ क्तिन् प्रत्यय लगाकर बनाई गई है। वृत्तिका अर्थ है होना अर्थात् जिस रूपमें नाटक उपस्थित हो, वही उसकी वृत्ति है, ढंग है, रूप है। इसे यों कह सकते हैं कि कथावस्तुमें जिस प्रकारका कार्य अधिक प्रदर्शित किया जाय वही उसकी वृत्ति कहलाती है। अर्थात् कथावस्तुमें विशिष्ट व्यापार या कार्यकी शैलीको ही वृत्ति कहते हैं। इस अध्यायके प्रारम्भमें ही हम यह बात समझा आए हैं कि नाटककार जिन्हीं विशेष प्रकारकी घटनाओं या व्यापारोंका प्रवेश करके जब रचना करता है तब वह व्यापार-योजना-शैली ही वृत्ति कहलाती है। राजशेखर और तर्कवागीशजीको जो भ्रम हुआ वह इस कारण कि दोनों नाटकके प्रयोगात्मक रूपसे सर्वथा अनभिज्ञ थे। और आश्चर्य तो इस बातका है कि बाल-रामायण नाटकके रचयिता होकर भी राजशेखरने इस प्रकारकी भूल की।

ऊपर रूपक-लक्षणमें वृत्तियोंका जो विवेचन उद्धृत किया गया है उनमें भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी नामी वृत्तियोंका पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। उसका सारांश यही है कि भारती वृत्ति उस नाटक रचना शैलीको

संवाद हो, स्त्रियाँ कम हों। हमारे मतसे नटाश्रयः ही ठीक पाठ है और उसका अर्थ यह है कि जैसा नट हो उसके अनुसार वाग्व्यापार अर्थात् संवाद जिसमें हो वह भारती वृत्ति कहलाती है। नाट्यशास्त्रके अनुसार भारती वृत्ति 'स्त्रीवर्जिता संस्कृत-वाक्ययुक्ता' हो अर्थात् उसमें स्त्रियोंके संवादको छोड़कर शेषका व्यापार संस्कृतप्राय हो। इसमें स्त्रीवर्जिताका अर्थ स्त्रियोंसे हीन नाटक नहीं है। नटाश्रय वाग्व्यापारको भी संस्कृतप्राय इसलिये कहा कि निम्न कोटिके पात्र और विदूषक तो प्राकृतमें ही बोलेंगे। इसलिये भरतका शुद्ध मत यही है कि भारती वृत्तिमें जितने संवाद हों वे नटोंकी प्रकृतिके अनुकूल हों अर्थात् जैसी उनकी योग्यता, उनका पद हो उसीके अनुकूल उनका संवाद हो और यह संवाद जहाँतक संभव हो संस्कृतमें ही हो या इसमें अधिकांश ऐसे पात्र रक्खे जायँ जिनके मुखसे संस्कृत कहलाई जा सके, साथ ही इस प्रकारके संस्कृतमें बोलनेका बंधन स्त्रियोंके लिये नहीं रहेगा, वे प्राकृतमें ही बोल सकेंगी। यद्यपि साधारणतः स्त्रियोंके लिये प्राकृतमें बोलनेका विधान है किन्तु उत्तररामचरितकी गौतमीके समान ऐसी चतुर देवियोंका भी प्रयोग हो सकता है जो संस्कृत बोल सकें फिर भी भारती वृत्तिमें उन्हें छूट अवश्य दे दी गई है।

धनंजयका यह कहना तो ठीक है कि यह वृत्ति क्रियावृत्ति नहीं है और यही कारण है कि इस वृत्तिके नाटकोंमें यह भय बना रहता है कि कहीं 'वाग्व्यापार' या संवाद सजानेकी झोंकमें नाटककार अपने नाटककी अभिनेयता न नष्ट कर दे और उसका नाटक दृश्यके बदले पाठ्य या श्रव्य काव्य न बन जाय जैसे कि बहुतसे नाटक हो भी गए हैं। भवभूतिका उत्तररामचरित इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। शेष वृत्तियोंमेंसे कैशिकी वृत्तिके नाटकमें गीत, नृत्य, विलास, शृंगार-चेष्टा आदिके व्यापार अधिक रहते हैं। सात्वती वृत्तिके नाटकमें किसी नायकके उदात्त गुणोंका विकास दिखाया जाता है। इसे हम व्यक्तिप्रधान नाटक कह सकते हैं। आरभटी वृत्तिके नाटकमें मारकाट, युद्ध, कलह, इन्द्रजाल, अग्नि आदिसे भयानक रोमांचकारी घटनाएँ प्रदर्शित की जाती हैं।

इन नाट्यवृत्तियोंके अनुसार तो नाटकके मोटे मोटे ये भेद किए जा सकते हैं—

(१) संवाद-प्रधान नाटक
(२) संगीत प्रधान नाटक
(३) व्यक्ति-प्रधान नाटक
(४) संघर्ष प्रधान नाटक

किन्तु इसके अतिरिक्त भी अन्य दृष्टियोंसे नाटकके भेद और उपभेद किए गए।

धनंजयने अपने दशरूपकमें रूपकोंके भेदका कारण बताते हुए कहा है—

वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः।

[कथावस्तु, नायक तथा रसके भेदके अनुसार इन रूपकों तथा उपरूपकोंके भेद किए गए हैं।] अर्थात् जो अनेक प्रकारके रूपक और उपरूपक गिनाए गए हैं उनमें या तो नायक भिन्न हैं या कथावस्तुकी शैली या वृत्ति भिन्न है या रसकी भिन्नता है। इन आधारोंपर हमारे यहाँ रूपक और उपरूपकके अनेक भेद किए गए हैं।

रस-मीमांसा

पिछले अध्यायोंमें हम कथावस्तु तथा नेता अर्थात् पात्रके संबंधमें विस्तारसे विचार कर चुके हैं किन्तु रसके संबंधमें हमने उचित विचार नहीं किया है। वास्तवमें रसका संबंध सामाजिक या दर्शकसे है इसलिये हम अगले अध्यायमें रसके सम्बन्धमें दार्शनिक तथा सैद्धान्तिक विवेचन करके द्वितीय खंडके अन्तमें रसके व्यावहारिक स्वरूपकी विस्तृत मीमांसा करेंगे। यहाँ केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि शृंगार, वीर, हास्य, करुण, भयानक, अद्भुत, बीभत्स तथा रौद्र नामके आठ रस हैं। कुछ लोग शान्तको भी नवाँ रस मानते हैं। इतनी ही सूचना देकर हम रूपक रहस्यके शब्दोंमें रूपक और उपरूपकके भेद स्पष्ट कर रहे हैं।

रूपक

रूपकके दस भेद बताए गए हैं। इन सबमें प्रधान नाटक है। नाट्य-शास्त्र-संबंधी सब लक्षण नाटकमें पाए जाते हैं और उसमें सब रसोंका समावेश भी हो सकता है, यद्यपि प्रधानता शृंगार अथवा वीर रसकी ही होती है। इसीलिये नाट्याचार्योंने उसे नाट्य-प्रकृति कहा है। उसे सब प्रकारके रूपकोंका प्रतिनिधि समझना चाहिए। नाटककी इसी सर्वग्राहिणी प्रकृतिके कारण

हिंदीमें 'नाटक' शब्द 'रूपक' का स्थानापन्न हो गया है। साधारण बोल-चालमें नाटक शब्दसे दृश्य काव्यके सभी भेदोंका बोध हो जाता है। यह एक शास्त्रीय शब्दका अनुचित प्रयोग तो है, पर चल पड़ा है। वास्तवमें अब नाटक एक ही अर्थका बोधक नहीं रहा बल्कि दो भिन्न अर्थ देने लगा है—नाटक=रूपक, और नाटक=रूपक-भेद। शास्त्रीय दृष्टिसे न लिखे हुए ग्रंथोंमें इस भेदको भली भाँति समझ लेना चाहिए।

नाटक

नाटककी कथा ख्यात अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध होती है। जो कथा केवल कवि-कल्पित हो, इतिहास-प्रसिद्ध नहीं, उसके आधारपर नाटक नहीं बनाना चाहिए। आधिकारिक वस्तुका नायक अभिगम्य गुणोंसे युक्त (सत्यवादिता, असंवादि आदि, जिनके विषयमें अन्य मत न हो सकें उनसे युक्त), धीर, गंभीर, उदात्त, प्रतापी, कीर्तिका अभिलाषी, महा उत्साहवाला, वेदोंका रक्षक (त्रयीत्राता), राजा अथवा राजर्षि या कोई दिव्य या दिव्यादिव्य पुरुष हो। नायकके गुण अथवा नाटकीय रसके विरोधी वृत्तांतको नाटकमें स्थान नहीं मिलना चाहिए। प्रधान कार्यकी सहायतामें चार या पाँच व्यक्तियोंका हाथ हो। नाटकेतर अन्य प्रासंगिक कथानकोंके नायक हो सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, नाटकमें शृंगार अथवा वीर-रसकी प्रधानता होती है, अन्य रस प्रधान रसके अंग होकर आते हैं और उसके परिपाकमें सहायता पहुँचाते हैं।

नाटकमें ५ से लेकर दसतक अंक हो सकते हैं। इससे अधिक अंकवाले नाटकको महानाटक कहते हैं। आचार्योंका कहना है कि नाटककी रचना गौकी पूँछके आकारके समान होनी चाहिए। गौकी पूँछके दृष्टान्त का कोई तो यह अर्थ लेते हैं कि अंक उत्तरोत्तर छोटे होने चाहिएँ। कोई यह कहते हैं कि जैसे गौकी पूँछके कुछ बाल छोटे और कुछ बड़े होते हैं, उसी प्रकार कुछ कार्य मुख-संधिमें और कुछ बादमें [illegible] समाप्त हो जाने चाहिएँ। [illegible] यह कहते हैं कि जैसे गौकी पूँछके [illegible] दो ही एक बाल [illegible] बढ़े होते हैं [illegible] [illegible] चाहिए, [illegible] पूँछके [illegible] संख्या उत्तरोत्तर बढ़कर एक स्थान पर समन्वित हो जाती है उसी प्रकार नाटकमें क्रमसे वृद्धि पाती हुई सब कथाओंका उपसंहारमें समन्वय हो जाना चाहिए। अभिनवभरतके मतसे यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। वास्तवमें इसका तात्पर्य शुद्ध यही है कि थोड़ेसे प्रारम्भ करके मध्य भाग अधिक क्रियाशील, बहुव्यापारगुम्फित हो और फिर अन्तमें इस प्रकार ढलकर कार्यकलाप कम हो जाय कि नाटकके उपसंहारमें बहुत समस्याओंका समाधान नाटकमें न करना पड़े जैसा शेक्सपियरने भूलसे अपने 'ऐज़ यू लाइक इट' नाटकमें किया है।

नाटकमें यथास्थान पाँचों संधियों और अर्थ-प्रकृतियोंका प्रयोग होना चाहिए। उसकी निर्वहण-संधि अत्यंत अद्भुत होनी चाहिए।

प्रकरण

रूपक का दूसरा भेद प्रकरण है। प्रकरणका कथानक लौकिक और कवि-कल्पित होता है। उसका नायक धीर-शांत होता है अर्थात् वह मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य हो सकता है। धर्म, अर्थ और कामकी प्राप्तिके लिये वह तत्पर रहता है और कई विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए अपने अभीष्टकी प्राप्ति करता है। प्रकरणमें नायिका कुलकन्या या वेश्या होती है, और कहीं दोनों भी होती हैं। इस दृष्टिसे प्रकरणके तीन भेद माने गए हैं—(१) जिसमें नायिका कुलकन्या हो वह शुद्ध, (२) जिसमें वेश्या हो वह विकृत, और (३) जिसमें दोनों हों वह संकीर्ण। 'तरंगदत्त' और 'मालती-माधव' शुद्ध प्रकरण हैं। उनमें नायिका कुलकन्या है। 'पुष्पदूतिका' विकृत है; उसमें नायिका 'वेश्या' है। 'मृच्छकटिक संकीर्ण (मिश्रित) है उसमें नायिका कुलकन्या और वेश्या दोनों हैं। कुल-कन्या सदा घरमें रहती है और वेश्या बाहर; और जिस प्रकरणमें दोनों हों वहाँ उनका सम्मिलन नहीं दिखाना चाहिए। संकीर्ण प्रकरण धूर्त, जुआरी, विट, चेटादि लोगोंसे भरा रहना चाहिए। रस, संधि, प्रवेशक आदि बातोंमें प्रकरण नाटकके ही समान होता है।

भाण

भाणमें एक अंक और एक ही पात्र होता है। यह पात्र कोई बुद्धिमान् विट होता है जो अपने तथा दूसरोंके

धूर्ततापूर्ण कृत्योंको वार्त्तालापके रूपमें प्रकाशित करता है। वार्त्तालाप किसी कल्पित व्यक्तिके साथ होता है। रंग-मंचपर आकर नायक आकाशकी ओर देखता हुआ सुननेका नाट्य करके कल्पित पुरुषकी उक्तियोंको स्वयं दुहराता है और उनका उत्तर देता है। इस प्रकारकी उक्ति-प्रत्युक्तिको आकाश-भाषित कहते हैं। इसमें वास्तवमें मनुष्य अपने ही आप दो मनुष्योंका काम करता है, अर्थात् स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है, तथा शौर्य और सौंदर्यके वर्णनसे वीर एवं शृंगार रसका आविर्भाव करता है। भाणमें प्रायः भारती वृत्तिका आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं कैशिकीका भी प्रयोग होता है। इसमें अंगोंके सहित मुख और निर्वहण दो संधियाँ होती हैं। लास्यके दस अंग भी इसमें व्यवहृत हो सकते हैं। इसका भी कथानक कल्पित होता है।

प्रहसन

भाणके समान ही प्रहसन भी होता है। पर इसमें आधिक्य हास्य-रसका होता है। वीथीके तेरह अंगोंमेंसे सभी इसमें आ सकते हैं। आरभटी वृत्ति तथा विष्कंभक और प्रवेशकका इसमें प्रयोग नहीं होता। प्रहसन तीन प्रकारका होता है—शुद्ध, विकृत और संकर।

शुद्ध प्रहसनमें पाषंडी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायककी योजना होती है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। इसका बहुत कुछ प्रभाव वेश-भूषा और बोलनेके ढंगसे ही डाला जाता है। हास्यपूर्ण उक्तियोंका इसमें बाहुल्य होता है।

विकृत प्रहसनमें नपुंसक, कंचुकी, और तपस्वी लोग कामुकोंके वेशमें तथा उन्हींकी सी बातें कहते दिखाए जाते हैं।

संकीर्ण प्रहसनमें हँसी-दिल्लगीकी बहुत विशेषता रहती है, नायक धूर्त होता है, प्रपंच (बनावटी प्रशंसा), छल (सुननेमें हितकर पर वास्तवमें अहितकर वचन), अधिबल (स्पर्धा-युक्त बातें), नालिका (अव्यक्तार्थ परि-हास-वचन), असत्प्रलाप (बे-सिरपैरकी बातें), व्याहार (हँसी-उड़ाना) और मृदव (गुणको अवगुण और अवगुणको गुण बनाकर कहना) इन वीथ्यंगोंका व्यवहार अधिकतासे किया जाता है।

डिम

डिमकी कथा पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है। यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उन्मत्त लोगोंकी चेष्टाओं तथा सूर्य-चंद्र-ग्रहण आदि बातोंसे पूर्ण रहता है। इसमें देवता, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, महोरग आदि १६ उद्धत नायक होते हैं। कैशिकीको छोड़कर शेष तीनों वृत्तियोंका इसमें प्रयोग होता है। इसमें हास्य और शृंगार रसको छोड़कर शेष सब रसोंका परिपाक होता है। इसमें चार अंक होते हैं और चार ही संधियाँ होती हैं, विमर्श संधि नहीं होती। 'त्रिपुरदाह' डिमका उदाहरण है।

व्यायोग

व्यायोगकी भी कथा-वस्तु पुराण या इतिहास-प्रसिद्ध होती है, पर उसका नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। उसमें पात्रोंकी बहुलता होती है, पर सब पात्र नर होते हैं, स्त्री एक भी नहीं होती। इसमें युद्ध होता है, पर वह स्त्रीके कारण नहीं होता। उदाहरणके लिये सहस्रार्जुनने जमदग्नि ऋषिको मारा। इस कारण जमदग्निके पुत्र परशुरामने उसके साथ युद्ध किया और उसे मार डाला। इसमें एक ही अंक होता है, जिसमें एक ही दिनका वृत्तांत रहता है, कैशिकी वृत्तिका प्रयोग नहीं होता। हास्य और शृंगारकी योजना नहीं होती। शेष सब बातोंमें व्यायोग डिमके ही समान होता है। उदाहरण—'सौगंधिका-हरण'।

समवकार

समवकारका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध परन्तु देवता तथा असुरोंके सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसमें बारह देवासुर नायक होते हैं। प्रत्येक नायकका पृथक् पृथक् फल होता है। जैसे, समुद्रमंथनमें वासुदेवको लक्ष्मी, इंद्रको रत्न, देवताओंको अमृत इत्यादि अलग अलग फलकी प्राप्ति हुई थी। इसमें वीर-रस प्रधान होता है, जिसकी पुष्टि अन्य सब रस करते हैं तथा सब वृत्तियोंका प्रयोग होता है, किन्तु कैशिकीका मंद (थोड़ा सा ही) प्रयोग होता है। इसमें तीन अंक होते हैं। पहले अंकमें छः घड़ीका वृत्तांत तथा दो संधियाँ होती हैं; और दूसरे तथा तीसरे अंकोंमें क्रमशः दो और एक घड़ीका वृत्तांत और

एक एक संधि होती है। विमर्श-संधि इसमें नहीं होती। शेष चारों संधियाँ होती हैं। नाटकके समान इसमें भी आमुखके द्वारा पात्रोंका परिचय कराया जाता है। प्रत्येक अंकमें एक एक प्रकारके कपट, शृङ्गार और विद्रव यथाक्रम होने चाहिएँ।

कपट तीन प्रकारका होता है—स्वाभाविक, दैविक और कृत्रिम। शृङ्गारके भी तीन प्रकार होते हैं—धर्म-शृङ्गार (जिसमें शास्त्रका विरोध न हो), अर्थ-शृङ्गार (धन-लाभके लिये), काम-शृङ्गार (कामोपलब्धिके लिये)। वैसे ही विद्रव (उपद्रव) के तीन प्रकार होते हैं (१) चेतन-कृत मनुष्यके द्वारा किया गया, जैसे शत्रुके नगर घेरने या आक्रमण करनेके कारण भगदड़) (२) अचेतन-कृत (जल, वायु, अग्नि, बाढ़, आँधी, अग्नि लगने आदिके कारण उत्पन्न) और (३) चेतनाचेतनःकृत (हाथी आदिके छूटनेके कारण उत्पन्न)। 'समुद्र-मंथन' समवकार है।

वीथी

वीथीमें एक ही अंक होता है और कोई उत्तम या मध्यम पुरुष उसका नायक होता है। पात्र एक ही दो होते हैं। भाणके समान आकाश-भाषितके द्वारा उक्ति-प्रत्युक्ति होती है, शृंगार रसका बाहुल्य रहता है और इसी कारण स्वभावतः कैशिकी वृत्तिको प्रधानता रहती है। इसमें मुख और निर्वहण संधियाँ तथा पाँचों अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं और वीथ्यंगोंका भी समावेश होता है।

अंक

अंक या उत्सृष्टिकांकमें एक ही अंक होता है और साधारण पुरुष नायक होता है। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है पर कवि अपनी कल्पनासे उसे विस्तार दे देता है। इसमें स्त्रियोंका विलाप प्रचुरतासे होता है, फलतः करुण रसकी प्रधानता होती है। जय तथा पराजयका इसमें वर्णन रहता है। युद्ध, घात-प्रतिघात आदि प्रहारमय नहीं होता बल्कि वाणीका होता है। वैराग्योन्मेषिणी भाषाका उपयोग होता है और भाणके समान ही मुख तथा निर्वहण संधियाँ और कहीं भारती तथा कहीं कैशिकी वृत्ति एवं लास्यके दशों अङ्ग होते हैं।

ईहामृग

जिस रूपकमें नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिकाकी इच्छा करे वह ईहामृग कहलाता है। ईहामृगमें कथानक मिश्रित होता है अर्थात् अंशतः प्रसिद्ध, अंशतः कवि-कल्पित। इसमें चार अंक और मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण ये तीन संधियाँ होती हैं। इसमें नायक और प्रतिनायक प्रसिद्ध धीरोद्धत मनुष्य या देवता होते हैं। प्रतिनायक छिपकर पापाचरण करता है। वह किसी दिव्य नारीको चाहता है जो उसे नहीं चाहती और जिससे वह खुलकर अपना प्रेम नहीं जता सकता। नायक उसे हरण करनेकी सोचता है। युद्धकी पूरी संभावना होती है, पर वह किसी बहानेसे टल जाता है। इतिहासमें किसी महात्माका वध प्रसिद्ध हो तो भी ईहामृगमें उसे नहीं दिखाना चाहिए।

[उपरूपक]

उपरूपकके अठारह भेद होते हैं, जिनमेंसे पहला भेद नाटिका है। उपरूपक होते हुए भी वह नाटक और प्रकरणका मिश्रण है। इसीलिये, संभवतः, धनञ्जयने नाटकके बाद ही उसका विवरण दिया है। नाटिकाकी कथा कवि-कल्पित होती है। इसमें चार अंक होते हैं। अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। नायक धीर-ललित राजा होता है। रनिवाससे सम्बन्ध रखनेवाली या राजवंशकी कोई गायन-प्रवीणा अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानीके भयसे नायक राजा अपने प्रेममें शंकित रहता है। महारानी राजवंशकी प्रगल्भा नायिका होती है। वह पद पद पर मान करती है। नायक और नवीन नायिकाका सम्मिलन उसीके अधीन रहता है। नाटिकामें प्रधान रस शृंगार होता है। कैशिकी वृत्तिके भिन्न रूपोंका क्रमशः चारों अंकोंमें पालन किया जाता है। विमर्श-संधि या तो होती ही नहीं या बहुत कम होती है, शेष चारों संधियाँ होती हैं। कुछ लोगोंका मत है कि इसमें एक दो या तीन अंक भी होते हैं। उदाहरण—रत्नावली, प्रियदर्शिका, विद्धशाल-भञ्जिका, चन्द्रप्रभा।

त्रोटक

त्रोटक पाँच, सात, आठ या नौ अङ्कोंका होता है। देवता तथा मनुष्य उसके पात्र होते हैं। प्रत्येक अङ्कमें

विदूषकका व्यापार रहता है। इसका प्रधान रस शृङ्गार होता है। शेष सब बातें नाटकके समान होती हैं। उदाहरण—विक्रमोर्वशीय (५ अङ्क) और स्तम्भितरम्भ (७ अङ्क)।

गोष्ठी

गोष्ठीमें केवल एक अङ्क होता है, जिसमें नौ या दस मनुष्यों तथा पाँच या छः स्त्रियोंका व्यापार रहता है। शृङ्गारके तीन रूपोंमेंसे काम-शृङ्गारकी प्रधानता रहती है कैशिकी वृत्तिका प्रयोग होता है, पर उदात्त वचनोंकी योजना नहीं होती। गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं; शेष सब होती हैं। उदाहरण—रैवत-मदनिका।

सट्टक

सट्टककी सम्पूर्ण रचना प्राकृतमें होती है। इसमें प्रवेशक और विष्कंभक नहीं होते और अद्भुत रसकी प्रचुरता रहती है। इसमें एक विलक्षणता यह है कि इसके अङ्कोंको जवनिका कहते हैं। अन्य सब बातें नाटिकाके सदृश होती हैं। उदाहरण—कर्पूर-मंजरी।

नाट्यरासक

नाट्यरासकमें एक ही अङ्क होता है, नायक उदात्त और उप-नायक पीठमर्द होता है। यह हास्यरस-प्रधान होता है। शृंगारका भी इसमें समावेश रहता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण-संधियाँ तथा लास्यके दसों अंगोंकी योजना होती है। कोई कोई इसमें प्रतिमुख-संधिको छोड़कर शेष चारों संधियोंका होना मानते हैं। परन्तु यह दो संधियोंका भी मिलता है। उदाहरण—विलासवती (चार संधियोंका), नर्मवती (दो संधियोंका)।

प्रस्थानक

प्रस्थानकमें दो अंक और दस नायक होते हैं। उपनायक हीन पुरुष होता है और नायिका दासी, कैशिकी और भारती वृत्तिका इसमें प्रयोग होता है। सुरापानके संयोगसे उद्दिष्ट अर्थकी सिद्धि होती है। उदाहरण— शृंगारतिलक।

उल्लाप्य

उल्लाप्यमें एक अङ्क, दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक, चार नायिकाएँ तथा शृंगार, हास्य और करुण रस होते हैं। किसी किसीके मतसे इसमें तीन अङ्क होते हैं। उदाहरण - देवी-महादेव।

काव्य

काव्यमें केवल एक अंक होता है, आरभटी वृत्ति नहीं होती, हास्य व्यापक रस रहता है, गीतोंका बाहुल्य रहता है, नायक और नायिका दोनों उदात्त होते हैं और मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं। उदाहरण – यादवोदय।

रासक

रासकमें भी एक ही अङ्क होता है, पात्र पाँच होते हैं, मुख और निर्वहण-संधियोंका प्रयोग होता है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियोंकी योजना होती है तथा भिन्न प्रकारकी प्राकृतोंका विशेष प्रयोग होता है। सूत्रधार इसमें नहीं होता। नायिका प्रसिद्ध और नायक मूर्ख होता है तथा उदात्त भाव उत्तरोत्तर प्रदर्शित किए जाते हैं। कोई कोई इसमें प्रतिमुख-संधि भी मानते हैं। उदाहरण—मेनकाहित।

प्रेंखण

प्रेंखण एक अंकका होता है। गर्भ और विमर्श-संधियाँ उसमें नहीं होतीं, हीन पुरुष नायक होता है। इसमें सूत्रधार नहीं होता और विष्कंभक तथा प्रवेशक भी नहीं होते। नांदी और प्ररोचना नेपथ्यसे पढ़ी जाती है। युद्ध और संफेट तथा सब वृत्तियाँ होती हैं। उदाहरण—वालिवध।

संलापक

संलापकमें तीन या चार अंक होते हैं। नायक पाखंडी होता है। शृङ्गार और करुण रस नहीं होते और न भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ ही होती हैं। नगरका घेरा, संग्राम तथा भगदड़ (विद्रव) का वर्णन रहता है। उदाहरण—मायाकापालिक।

श्रीगदित

श्रीगदितमें एक अंक, प्रसिद्ध कथा तथा धीरोदात्त नायक होता है। गर्भ और विमर्श संधियाँ इसमें नहीं होतीं पर भारती वृत्तिका आधिक्य होता है। एक पाश्चात्य विद्वान्का मत है कि इसमें नायिका लक्ष्मीका रूप धारण

करके आती है और कुछ गाना गाती या कुछ बोलती है। इसीसे इसका श्रीगदित नाम पड़ा। उदाहरण—क्रीड़ा-रसातल।

शिल्पक

शिल्पकमें चार अंक और चारों वृत्तियाँ होती हैं, शांत और हास्यको छोड़कर और रस होते हैं, नायक ब्राह्मण होता है तथा उपनायक कोई हीन पुरुष। मरघट, मुरदे आदिका वर्णन इसमें रहता है। इसके नीचे लिखे २७ अंग होते हैं—

१ आशंसा (आशा), २ तर्क, ३ संदेह, ४ ताप, ५ उद्वेग, ६ प्रसक्ति, (आसक्ति), ७ प्रयत्न, ८ ग्रथन (गूँथना), ९ उत्कंठा, १० अवहित्था (आकार गोपन) ११ प्रतिपत्ति, १२ विलास, १३ आलस्य, १४ वमन, १५ प्रहर्ष (विशेष हर्ष), १६ अश्लील (लज्जा, जुगुप्सा तथा अमंगल-सूचक बात, यह काव्यदोष माना गया है पर शिल्पककी प्रवृत्ति ही ऐसी है कि उसमें यह आ ही जाता है। श्मसानका वर्णन स्वयं ही घृणा (जुगुप्सा) उत्पन्न करनेवाला होगा), १७ मूढ़ता, १८ साधनानुगमन, १९ उच्छ्वास (आह भरना) २० विस्मय, २१ प्राप्ति २२ लाभ, २३ विस्मृति, २४ संफेट (रोषपूर्ण कथन), २५ वैशारद्य (विशारदता, कौशल) २६ प्रबोधन (समझाना), और २७ चमत्कृति। उदाहरण—कनकावती-माधव।

विलासिका

विलासिकामें एक अंक होता है जिसमें दस लास्यांगोंका विनिवेश तथा विदूषक, विट, पीठमर्द आदिका व्यापार होता है। गर्भ और विमर्श-संधियाँ इसमें नहीं होती। इसका नायक हीन गुणवाला होता है पर वेशभूषासे अच्छी तरह सज्जित रहता है। वृत्तांत थोड़ा होना चाहिए। इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता।

दुर्मल्लिका

दुर्मल्लिकामें चार अंक होते हैं। पहले अंकमें ६ घड़ीका व्यापार, तथा विटकी क्रीड़ा रहती है दूसरे अंकमें विदूषकका विलास रहता है जो दस घड़ी तक चलता है, तीसरे अंकमें पीठमर्दका विलास-व्यापार रहता है जो १२ घड़ी तक चलता है, और चौथे अंकमें नागरिक पुरुषोंकी क्रीड़ा रहती है जिसका विस्तार १० घड़ीका होता है। दुर्मल्लिकामें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं गर्भसंधि नहीं होती। पुरुष मात्र सब चतुर होते हैं, पर नायक छोटी जातिका होता है। उदाहरण—बिंदुमती।

प्रकरणिका

जैसे नाटकके जोड़का उपरूपक नाटिका है वैसे ही प्रकरणके जोड़का उपरूपक प्रकरणिका है। इसमें नायक व्यापारी होता है। नायिका उसकी अपनी सजातीया होती है। शेष बातें प्रकरणके समान होती हैं।

हल्लीश

हल्लीशमें एक ही अंक, सात आठ या दस स्त्रियाँ और उदात्त वचन बोलनेवाला एक पुरुष रहता है इसमें कैशिकी वृत्ति तथा मुख और निर्वहण-सन्धियाँ होती हैं एवं गान, ताल, लयका अधिकतासे प्रयोग होता है। उदाहरण—केलिरैवतक।

भाणिका—

भाणिकामें भी एक ही अंक होता है, नायक मंदमति तथा नायिका उदात्त और प्रगल्भा होती है। इसमें मुख, निर्वहण-संधियाँ एवं भारती और कैशिकी वृत्तियाँ होती हैं। यह भाणकी जोड़का उपरूपक है।

भाणमें ये सात अंग होते हैं—(१) उपन्यास (प्रसंग प्रसंगपर कार्यका कीर्तन करना), (२) विन्यास (निर्वेद-सूचक वाक्य), (३) विबोध (समझना या भ्रान्तिका नाश करना) (४) साध्वस, (मिथ्या-कथन) (५) समर्पण (कोपसे उपालंभके वचन कहना) (६) निवृत्ति (दृष्टांतका कीर्तन करना), (७) संहार (कार्यकी समाप्ति)। उदाहरण—कामदत्ता।

ऊपर रूपक और उपरूपकके प्रकारोंमें उन्हीं बातोंका उल्लेख किया गया है जिनमें उनका नाटकसे भेद है! शेष सब बातोंमें उन्हें नाटकके ही समान समझना चाहिए।

विदेशोंमें रूपक के भेद

हमारे यहां रूपककी जो परिभाषा है उसकी विस्तृत मीमांसा हम परिभाषा प्रकरणमें कर चुके हैं। योरपवालों

के विचारसे "नाटक या रूपक साहित्य कलाके उस रूपको कहते हैं जो व्यक्तिगत रूप धारण करनेके द्वारा मनुष्योंके व्यापारों और चरित्रोंका जनता या दर्शकोंके सम्मुख सीधा अभिनय करते हैं। योरपके साहित्यिक इतिहासमें नाटककी गणना काव्यके अन्तर्गत हुई है किन्तु वहाँ ऐसे भी नाटक हैं जो गद्यमें लिखे गए हैं। महाकाव्य या प्रबन्धकाव्य और गीतिकाव्यमें भी जो व्यक्तिगत मनोवेगोंकी अभिव्यञ्जना होती है उसका प्रयोग नाटकमें भी वहाँ होता है जहाँ कथाकी घटनाओंका विकास सम्वाद और अभिनयके मेलसे होता है। साधारण बात-चीत और नाटकमें यही बड़ा अन्तर है। चित्रकार और रङ्गव्यवस्थापकके कौशलसे दृश्य-काव्य सत्यवत्प्रतीत होने लगता है।

यूनानी नाटक

हम पहले कह चुके हैं कि यूनानमें दो प्रकारके नाटक होते थे त्रासद और प्रहसन जिन्हें भूलसे लोग दुःखान्त और सुखान्त कहते हैं। साधारणतः त्रासदका अन्त दुःखमय होता है और प्रहसनका सुखमय किन्तु दोनोंमें विशेष अन्तर यह है कि त्रासदमें गम्भीर कथाओंपर गम्भीर विचार किया जाता है तथा मनुष्यके कष्टों और विपत्तियोंका विशेष विवरण होता है। प्रहसनमें हास्यास्पद और निम्न कोटिके लोगोंकी मूर्खताओं और असगत कार्योंका विवरण होता है। त्रासदमें करुणा और भयके भावोंको उत्तेजित करके रसानुभूति कराई जाती है और प्रहसनमें हास्यके भावको उत्तेजित करके किन्तु पंछेके लेखकोंने इस प्रकारके भेद नहीं माने जिससे अनेक प्रकारके रूपक प्रकट होने लगे। इन विभिन्न प्रकारोंमें ऐतिहासिक और काल्पनिक नाटक तो अपने नामसे स्वयं ज्ञात है। मैलोड्रामा वास्तवमें इतालियामें उत्पन्न हुआ जिसमें त्रासद और प्रहसन दोनोंका सम्मिश्रण है जो हमारे अत्यन्त निम्नतम भावोंको प्रभावित करते हैं। फ्रांसीसी ड्रामे (नाटक) दो प्रकारके हैं जिनमें जीवनके वास्तविक स्वरूपका बहुत कम अनुकरण रहता है। ये दोनों रूप हैं ड्राजेदी बोर्जुवा और कोमेदीलार्मोयान्ते। प्रहसनके भी अनेक रूप प्रचलित हुए जो अठारहवीं शताब्दीमें आचार-विषयक प्रहसनों (कौमेडी ऑफ़ मैनर्स) से चलकर फ़ार्स (भँड़ैती), बर्लेस्क (स्वाँग), वादेविले (हास्य-प्रधान नृत्य-गीत नाटक), मूकाभिनय (पेन्टोमीम) तथा नृत्याभिनय (बाले) तक विकसित हुए और जो वास्तवमें प्राचीन नाटकोंसे ही उद्भूत हैं। मुँह बनाना या व्यङ्ग्यानुकरण (मिमिक्री) तो नाटकका ही एक अंग है और सर्वसाधारणमें भी वहाँ प्रचलित है जहाँ किसीका अपमान करनेके लिये, खिझानेके लिये या मूर्ख बनानेके लिये लोग मुँह बनाकर चिढ़ाते हैं।

त्रासद (ट्रेजेडी)

अत्तिका (यूनान) में दीअनूसी उत्सवोंके अवसरपर वारुणीके देवताके अनुयायी लोगोंका अनुकरण उन समेवत गायकों द्वारा किया जाता था जिनका आधा शरीर अजाचर्मसे ढका रहता था। इसीलिये यूनानी भाषामें इनके गीतोंको त्रैगोदिया या अजागीत कहते थे और इसीसे ट्रैजेडी (त्रासद) शब्दकी उत्पत्ति हुई। ये गायक वेदीके चारों ओर मदिराके देवता (बाकस) की स्तुतिमें उग्र स्तोत्र गाते हुए नृत्य करते थे। यह घटना है ६०० ईस्वी पूर्वसे पहलेकी। आधी शताब्दी पीछे अत्तिका निवासी थेस्पिसने इन गीतोंके बीचका समय भरनेके लिये कथा, व्यङ्ग्यानुकरण और छोटे सम्वाद बढ़ा दिए जिन्हें एक अभिनेता समेवत गायकोंके नेताके साथ वार्तालापके द्वारा व्यक्त करता था। इसके पश्चात् नाटकीय प्रतिद्वन्द्विताएँ होने लगीं और त्रासद लिखे जाने लगे। पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्वमें प्रसिद्ध त्रासदकार अस्कुलसने एकके बदले दो नट कर दिए और सफक्लेसने दोको तीन कर दिया। समेवत गायकोंका पचासका मण्डल बारह-बारहके चार विभागोंमें बँट गया।

त्रासदमें क्रमिक घटनाएँ रहती थीं, जिनके बीच-बीचमें समवेत गीतवाले गीत गाते रहते थे। इसके प्रारम्भमें प्रस्तावना (प्रोलोग) और अन्तमें उपसंहार (एग्ज़ोड) किया जाता था। नाटकोंका कुल व्यय वह नागरिक मण्डल देता था जिसे कोरेगस कहते हैं। अरस्तूने काव्यशास्त्र(पेरि पोइतिकीस)में कहा है कि काव्य-शास्त्रका उद्देश्य भय और करुणा उत्पन्न करके उन भावोंका परिष्कार (कैथार्सिस) करना है। त्रासदोंमें दैवी प्रतिहिंसा (नेमेसिस्) अस्कुलसके विचारसे सर्वव्यापक रहस्य है। सफक्लेसके मतसे वह जीवनका नैतिक नियम है। इयूरी-पिदेसके मतसे वह मनुष्यकी विपत्तियोंका प्रधान कारण है।

पीछे जब समवेत गान निकाल दिया गया तो इसका

गीत-तत्त्व भी नष्ट हो गया और दिअनुससकी पूजासे जो उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता था, वह भी टूट गया।

प्रहसन

यूनानी प्रहसन भी त्रासदके साथ ही साथ समुन्नत हुआ। इसका उद्भव उन ग्राम्य गीतोंसे हुआ जो दिअनूसी उत्सवोंपर प्रायः गाए जाते थे और जिन्हें पीछे नाटकका रूप दे दिया गया था। ये प्रहसन तीन प्रकारके हैं। प्राचीन-युगीन प्रहसन, मध्ययुगीन प्रहसन और नवयुगीन प्रहसन। अरिस्तोफ़नेस प्रथम प्रकारमें प्रहसनोंका सर्वोत्कृष्ट आचार्य था। प्रहसनोंकी रचना भी उसी प्रकार होती थी जैसे त्रासदोंकी। किंतु इसमें समेवत गायकोंकी संख्या चौबीस रहती थी और दूसरे इसमें पारानासिस् (सीधे दर्शकोंको सम्बोधित करने) का तत्त्व अधिक होता था। इनमें निःसंकोच रूपसे व्यक्तियोंकी आलोचना की जाती थी। ये प्रायः राजनीतिक होते थे और इतालीवासी नागरिकोंका ठट्ठा उड़ानेमें ये तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। मध्य-युगीन प्रहसनके कालमें इनपर बहुत रोकटोक लगा दी गई और व्यक्तिगत आलोचना करनेके बदले ये लोग विशेष वर्गोंकी आलोचना करने लगे और समवेत गान पूर्णतः निकाल दिया गया। नवयुगीन प्रहसनोंमें राजनीतिक प्रश्न पूर्णतः छोड़ दिए गए और केवल सामाजिक जीवन पर ही व्यङ्ग्य किए जाने लगे इनके विषय प्रायः ये होते थे—प्रवञ्चनीय वृद्ध, विनाशकारी पुत्र, मूर्ख, नौकर आदि।

अतः यूनानी नाटकोंके मुख्यतः दो ही भेद दिखाई पड़ते हैं, एक तो त्रासद दूसरा प्रहसन।

रोमके नाटक

रोममें अच्छे नाटककारोंकी कमी थी। अतः उन लोगोंने प्रहसनोंको अधिक ग्रहण किया और त्रासदोंको कम। प्रहसनोंके इन तत्वोंको उन सतूरो नामक प्रहसनोंमें हम अधिक पाते हैं जो प्राचीन नगरोंमें इतालवी नगरोंमें स्थान स्थान पर होते रहते थे। प्रायः रोमवालोंने नाट्य करना यूनानवालोंसे ही सीखा। कहा जाता है कि सर्वप्रथम एत्रस्कनोंसे ही नाटकका विचार लिया गया जिनसे हिस्त्रियो (अभिनेता) शब्द रोममें प्रचलित हुआ। फबूला ——— नामक जो प्रहसन यहाँ प्रचलित थे वे ओस्कनोंमें प्राप्त हुए थे। उन्होंने माइम (वास्तविक जीवनपर लिखे हुए प्रहसन) लिए मैगना ग्रीसासे। यहाँ त्रासद और प्रहसन दोनों ही लिखे गए। प्रहसनोंमें भी एक विशेष प्रकारके पल्लियाती वर्गके वे प्रहसन थे जो यूनानी आदर्शोंपर लिखे गए थे और तोगाती प्रहसन वे थे जो रोमके विषयोंपर लिखे गए थे। इन नाटकोंकी एक विशेषता यह थी कि इनमेंसे प्रस्तावनाका बहिष्कार हो गया था और उसके स्थानपर एक असम्बद्ध व्याख्या मात्र रहती थी।

त्रासदोंमें भी प्रातेक्स्ती प्रकारके वे नाटक थे जिनमें रोमके ऐतिहासिक विषयोंका निरूपण किया जाता था, शेष सब त्रासद यूनानी पौराणिक कथाओंपर ही अवलम्बित थे। रोम साम्राज्यके पतनके पश्चात् ये सब व्यवस्थित नाटक समाप्त हो गए और रंगमंचपर नर्तकों तथा मूका भिनयकारियोंने अधिकार कर लिया।

चीनी नाटक

चीनमें दो प्रकारके नाटक होते रहे हैं एक तो नागरिक और दूसरे सैनिक। चीनी नाटकोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण गुणोंका उत्कर्ष और अभ्युदय दिखलाया जाय। ये सब नाटक प्रायः रूढ़िगत है। किन्तु चीनी नाटकोंकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि खेलते समय अभिनेता लोग उसमें मनमाने ढंगसे चाहे जितना बढ़ा-घटा लेते हैं। इसलिये लिखे हुए तथा खेले हुए नाटकोंके पाठोंमें बड़ा अन्तर हो जाता है।

नागरिक नाटकोंमें सामाजिक जीवनके सर्वसाधारण पक्षका प्रदर्शन किया जाता है और उनकी प्रकृति शान्त तथा प्रहसनात्मक होती है। सैनिक नाटकोंमें द्वन्द्वयुद्ध तथा सब प्रकारके उत्तेजनात्मक व्यापार होते हैं। वास्तविकता या रङ्गविधानकी ओर वहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। स्त्रियोंकी भूमिका पुरुष ही ग्रहण करते हैं। एक साथ बिना अन्तरायके अनेक नाटक खेले जाते हैं और इसीलिये बहुत देरतक जो काम किया जाय उसके लिये यह उक्ति ही प्रचलित हो गई है कि 'चीनी नाटक खेला जा रहा है।'

जापानी नाटक

जापानियोंका सर्वप्राचीन नाटकीय रूप था कगूरा जिसमें देवताओंके सम्मुख त और नृत्यका प्रदर्शन किया

जाता था। यह आजतक उसी रूपमें शिन्तो मूर्तियोंके सम्मुख खेला जाता है, पीछे इसमें कुछ मन्त्र तथा कुछ तालयुक्त क्रियाएँ भी समाविष्ट कर दी गईं। तमाए अर्थात् खेत्र-नृत्य और देंगाकू अर्थात् खेत्र-संगीत जापानकी प्राचीन निधियां हैं। इनके अतिरिक्त सापवारा नामके सामाजिक नाटकीय रूप हैं जो प्रधानतः गीतात्मक हैं और जो राजाओं के पास राजकीय कर ले जाते समय लोग गाया करते हैं। एक इसी प्रकार के पूर्वी प्रान्तके ऐसे ही गीत हैं जिन्हें अजूका माए कहते हैं। जैसे हमारे यहाँ देव-यात्राएँ होती हैं उसी प्रकार जापानमें भी मत्सुरी नामके यान-यात्राके उत्सव अबतक प्रचलित हैं।

देंगाकूके छः नाटकीय रूप हैं—शिबा (घासवाले खेत), दाई (महान्), शो (लघु), मइको (नर्तकियाँ), मारू (ग्राम) और काची (टहलना)। ये छः प्रकारके नाटक एन्नेन नामक नृत्य-नाटकके साथ मिलकर बौद्ध धर्मकी उन्नतिके साथ अधिक व्यवस्थित हो गए और इन्होने नोह (योग्यता) का रूप धारण कर लिया। सारू गाकू नोह (वानर-संगीत), प्रारम्भमें प्रहसनात्मक था किन्तु बौद्ध पुरोहितोंके हाथमें पड़कर उसकी प्रहसनात्मिका प्रकृति समाप्त हो गई।

नोहमें दो या दो से अधिक अभिनेता होते हैं। नाटक गद्यमय होता है और मंत्रोंके समान उसका पाठ किया जाता है। अभिनेता प्रायः मुखौटे बाँधे रहते हैं और उनकी सम्पूर्ण गति एक नियममें बँधी रहती है। पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्ततक चार प्रकारके नोह नाटक प्रचलित थे—१ शिन्तो नोह - जिसमें पौराणिक विषय होते थे। १—शूगेन् नोह—जिसमें प्राचीन लोकाचार दिखाया जाता था। ३—यूरेई शैरेई नोह – जिसमें भूत-प्रेतों की कथा होती थी और ४—गेन्जाई मोनो नोह जिसमें कोई नैतिक लक्ष्य प्रतिपादित करनेके लिये लौकिक जीवनका सत्य प्रतिपादित किया जाता था। बौद्धोंके हाथमें रहनेके कारण इनमेंसे प्रहसनात्मक तत्वोंका पूर्णतः बहिष्कार कर दिया गया था।

प्रहसनात्मक नाटक मौखिक होते थे और क्योगेनमें प्रक्षिप्त कर दिए जाते थे। क्योगेन का अर्थ है तरल वाणी और ये अत्यन्त वास्तविक तथा असाहित्यिक सामाजिक प्रहसन हैं। ये भी गद्यमें होते हैं और प्रायः नोह नाटकों के बीच-बीचमें खेल दिए जाते हैं।

योरपके मध्य-युगीन नाटक

मध्य कालमें योरपके ईसाई पादरियोंने बहुदेव-वादियोंके मनोविनोदात्मक प्रदर्शनोंके समकक्ष नाटकोंकी प्रतिष्ठा की जो थोड़े दिनोंमें मिरैकिल प्लेज़ (अलौकिक नाटक), मिस्टरीज़ (रहस्यात्मक नाटक) और पैशन प्लेज़ (भावात्मक नाटक) के रूपमें प्रचलित हुए। इन्हींके साथ-साथ मोरैलिटीज़ (नैतिक नाटक) नामके उन नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ जो भ्रमणशील पादरी खेलते थे। इन्हींसे नवीन योरोपीय नाटकोंकी उत्पत्ति हुई।

इतालवी नाटक

इटलीमें सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार सर्वप्रथम हुआ। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें प्लाउतीय प्रहसनोंका जीर्णोद्धार किया गया किन्तु वास्तविक इतालवी नाटकोंका प्रारम्भ किया त्रिस्सीनोने अपने रूढ़िवादी त्रासद सोफोनिस्बासे जो अतुकान्त पद्यमें लिखा हुआ था। इसके पश्चात् तोरकातो ताओने पैस्तोरल प्लेज़ (ग्राम्य जीवनके नाटक) लिखे। उसी शताब्दीके अन्तमें गियमबत्तिस्ता दे ला पोर्ताने अपने मनोहर व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन प्रारंभ किए। कल्पनात्मक नाटकका प्रारम्भ तो यूनानमें हुआ किन्तु उसका प्रचार इटलीमें हुआ और प्राचीन रूढ़िवादी नाटकोंके विरोधमें एक दल ही खड़ा हो गया। उसी समय रिच्यूचिनी और उसके अनुयायियोंने इन रोमान्टिक (कल्पनात्मक) नाटकोंमें संगीतका पुट देकर मैलोड्रामा (संगीत-नाट्य) की सृष्टि की। फल यह हुआ कि त्रासद और प्रहसन का स्थान ले लिया म्यूज़िका अपेरा (संगीतनृत्यमय नाटक) ने जिसे साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया ज़ेनोने।

किन्तु थोड़े दिन पीछे फ्रांसीसी नाट्य-कलाने इटलीके रङ्गमञ्चको प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था विशेषतः अभिनेता नाट्यकार रिच्यूचिनीके प्रयत्नों द्वारा। गोल्डोनीने सार्वजनिक कोमीदिया दे ल आरते (मुखौटोंका प्रहसन) को साहित्यिक रूप प्रदान किया।

स्पेनी नाटक

स्पेनको कल्पनात्मक नाटककी जन्मभूमि समझनी चाहिए। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया सन्तिलाना लोपेद, रुएदा और नाहारोने जो स्पेनी रङ्गमञ्चके पिता समझे जाते हैं। कल्पनात्मक नाटकोंके अतिरिक्त कुछ तो त्रासद

गीत-तत्त्व भी नष्ट हो गया और दिअनुससकी पूजासे जो उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता था, वह भी टूट गया।

प्रहसन

यूनानी प्रहसन भी त्रासदके साथ ही साथ समुन्नत हुआ। इसका उद्भव उन ग्राम्य गीतोंसे हुआ जो दिअनूसी उत्सवोंपर प्रायः गाए जाते थे और जिन्हें पीछे नाटकका रूप दे दिया गया था। ये प्रहसन तीन प्रकारके हैं। प्राचीन-युगीन प्रहसन, मध्ययुगीन प्रहसन और नवयुगीन प्रहसन। अरिस्तोफ़नेस प्रथम प्रकारमें प्रहसनोंका सर्वोत्कृष्ट आचार्य था। प्रहसनोंकी रचना भी उसी प्रकार होती थी जैसे त्रासदोंकी। किंतु इसमें समवेत गायकोंकी संख्या चौबीस रहती थी और दूसरे इसमें पारानासिस् (सीधे दर्शकोंको सम्बोधित करने) का तत्त्व अधिक होता था। इनमें निःसंकोच रूपसे व्यक्तियोंकी आलोचना की जाती थी। ये प्रायः राजनीतिक होते थे और इतालीवासी नागरिकोंका ठट्ठा उड़ानेमें ये तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। मध्ययुगीन प्रहसनके कालमें इनपर बहुत रोकटोक लगा दी गई और व्यक्तिगत आलोचना करनेके बदले ये लोग विशेष वर्गोंकी आलोचना करने लगे और समवेत गान पूर्णतः निकाल दिया गया। नवयुगीन प्रहसनोंमें राजनीतिक प्रश्न पूर्णतः छोड़ दिए गए और केवल सामाजिक जीवन पर ही व्यङ्ग्य किए जाने लगे इनके विषय प्रायः ये होते थे—प्रवञ्चनीय वृद्ध, विनाशकारी पुत्र, मूर्ख, नौकर आदि।

अतः यूनानी नाटकोंके मुख्यतः दो ही भेद दिखाई पड़ते हैं, एक तो त्रासद दूसरा प्रहसन।

रोमके नाटक

रोममें अच्छे नाटककारोंकी कमी थी। अतः उन लोगोंने प्रहसनोंको अधिक ग्रहण किया और त्रासदोंको कम। प्रहसनोंके इन तत्त्वोंको उन सतूरो नामक प्रहसनोंमें हम अधिक पाते हैं जो प्राचीन नगरोंमें इतालवी नगरोंमें स्थान स्थान पर होते रहते थे। प्रायः रोमवालोंने नाट्य करना यूनानवालोंसे ही सीखा। कहा जाता है कि सर्वप्रथम एत्रस्कनोंसे ही नाटकका विचार लिया गया जिनसे हिस्त्रियो (अभिनेता) शब्द रोममें प्रचलित हुआ। फबूला अतेल्लानी नामक जो प्रहसन यहाँ प्रचलित थे वे ओस्कनोंसे प्राप्त हुए थे। उन्होंने माइम (वास्तविक जीवनपर लिखे हुए प्रहसन) लिए मैगना ग्रीसासे। यहाँ त्रासद और प्रहसन दोनों ही लिखे गए। प्रहसनोंमें भी एक विशेष प्रकारके पल्लियाती वर्गके वे प्रहसन थे जो यूनानी आदर्शोंपर लिखे गए थे और तोगाती प्रहसन वे थे जो रोमके विषयोंपर लिखे गए थे। इन नाटकोंकी एक विशेषता यह थी कि इनमेंसे प्रस्तावनाका बहिष्कार हो गया था और उसके स्थानपर एक असम्बद्ध व्याख्या मात्र रहती थी।

त्रासदोंमें भी प्रातेक्स्ती प्रकारके वे नाटक थे जिनमें रोमके ऐतिहासिक विषयोंका निरूपण किया जाता था, शेष सब त्रासद यूनानी पौराणिक कथाओंपर ही अवलम्बित थे। रोम साम्राज्यके पतनके पश्चात् ये सब व्यवस्थित नाटक समाप्त हो गए और रंगमंचपर नर्तकों तथा मूकाभिनयकारियोंने अधिकार कर लिया।

चीनी नाटक

चीनमें दो प्रकारके नाटक होते रहे हैं एक तो नागरिक और दूसरे सैनिक। चीनी नाटकोंका प्रधान उद्देश्य यह है कि मनुष्य सम्पूर्ण गुणोंका उत्कर्ष और अभ्युदय दिखलाया जाय। ये सब नाटक प्रायः रूढ़िगत है। किन्तु चीनी नाटकोंकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि खेलते समय अभिनेता लोग उसमें मनमाने ढंगसे चाहे जितना बढ़ा-घटा लेते हैं। इसलिये लिखे हुए तथा खेले हुए नाटकोंके पाठोंमें बड़ा अन्तर हो जाता है।

नागरिक नाटकोंमें सामाजिक जीवनके सर्वसाधारण पक्षका प्रदर्शन किया जाता है और उनकी प्रकृति शान्त तथा प्रहसनात्मक होती है। सैनिक नाटकोंमें द्वन्द्वयुद्ध तथा सब प्रकारके उत्तेजनात्मक व्यापार होते हैं। वास्तविकता या रङ्गविधानकी ओर वहाँ बहुत कम ध्यान दिया जाता है। स्त्रियोंकी भूमिका पुरुष ही ग्रहण करते हैं। एक साथ बिना अन्तरायके अनेक नाटक खेले जाते हैं और इसीलिये बहुत देरतक जो काम किया जाय उसके लिये यह उक्ति ही प्रचलित हो गई है कि 'चीनी नाटक खेला जा रहा है।'

जापानी नाटक

जापानियोंका सर्वप्राचीन नाटकीय रूप था कगुरा जिसमें देवताओंके सम्मुख गीत और नृत्यका प्रदर्शन किया

जाता था। यह आजतक उसी रूपमें शिन्तो मूर्तियोंके सम्मुख खेला जाता है, पीछे इसमें कुछ मन्त्र तथा कुछ तालयुक्त क्रियाएँ भी समाविष्ट कर दी गईं। तमाए अर्थात् क्षेत्र-नृत्य और देंगाकू अर्थात् क्षेत्र-संगीत जापानकी प्राचीन निधियां हैं। इनके अतिरिक्त सायवारा नामके सामाजिक नाटकीय रूप हैं जो प्रधानत: गीतात्मक हैं और जो राजाओं के पास राजकीय कर ले जाते समय लोग गाया करते हैं। एक इसी प्रकार के पूर्वी प्रान्तके ऐसे ही गीत हैं जिन्हें अजूका माए कहते हैं। जैसे हमारे यहाँ देव-यात्राएँ होती हैं उसी प्रकार जापानमें भी मत्सुरी नामके यान-यात्राके उत्सव अबतक प्रचलित हैं।

देंगाकूके छः नाटकीय रूप हैं—शिवा (घासवाले खेत), दाई (महान्), शो (लघु), मइको (नर्तकियाँ), मारू (ग्राम) और काची (टहलना)। ये छः प्रकारके नाटक एन्नेन नामक नृत्य-नाटकके साथ मिलकर बौद्ध धर्मकी उन्नतिके साथ अधिक व्यवस्थित हो गए और इन्होंने नोह (योग्यता) का रूप धारण कर लिया। सारू गाकू नोह (वानर-संगीत), प्रारम्भमें प्रहसनात्मक था किन्तु बौद्ध पुरोहितोंके हाथमें पड़कर उसकी प्रहसनात्मिका प्रकृति समाप्त हो गई।

नोहमें दो या दो से अधिक अभिनेता होते हैं। नाटक गद्यमय होता है और मंत्रोंके समान उसका पाठ किया जाता है। अभिनेता प्राय: मुखौटे बाँधे रहते हैं और उनकी सम्पूर्ण गति एक नियममें बँधी रहती है। पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्ततक चार प्रकारके नोह नाटक प्रचलित थे—१ शिन्तो नोह - जिसमें पौराणिक विषय होते थे। २—गुशेन् नोह—जिसमें प्राचीन लोकाचार दिखाया जाता था। ३—यूरेई शेरेई नोह – जिसमें भूत-प्रेतों की कथा होती थी और ४—गेन्ज़ाई मोनो नोह जिसमें कोई नैतिक लक्ष्य प्रतिपादित करनेके लिये लौकिक जीवनका सत्य प्रतिपादित किया जाता था। बौद्धोंके हाथमें रहनेके कारण इनमेंसे प्रहसनात्मक तत्त्वोंका पूर्णत: बहिष्कार कर दिया गया था।

प्रहसनात्मक नाटक मौखिक होते थे और क्योगेनमें प्रक्षिप्त कर दिए जाते थे। क्योगेन का अर्थ है सरल वाणी और ये अत्यन्त वास्तविक तथा असाहित्यिक सामाजिक प्रहसन हैं। ये भी गद्यमें होते हैं और प्राय: नोह नाटकों के बीच-बीचमें खेल दिए जाते हैं।

योरपके मध्य-युगीन नाटक

मध्य कालमें योरपके ईसाई पादरियोंने बहुदेव-वादियोंके मनोविनोदात्मक प्रदर्शनोंके समकक्ष नाटकोंकी प्रतिष्ठा की जो थोड़े दिनोंमें मिरैकिल प्लेज़ (अलौकिक नाटक), मिस्टरीज़ (रहस्यात्मक नाटक) और पैशन प्लेज़ (भावात्मक नाटक) के रूपमें प्रचलित हुए। इन्हींके साथ-साथ मोरैलिटीज़ (नैतिक नाटक) नामके उन नाटकोंका प्रादुर्भाव हुआ जो भ्रमणशील पादरी खेलते थे। इन्हींसे नवीन योरोपीय नाटकोंकी उत्पत्ति हुई।

इतालवी नाटक

इटलीमें सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार सर्वप्रथम हुआ। सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें प्लाउतीय प्रहसनोंका जीर्णोद्धार किया गया किन्तु वास्तविक इतालवी नाटकोंका प्रारम्भ किया अरिस्तीनोने अपने रूढ़िवादी त्रासद सोफोनिस्बासे जो अतुकान्त पद्यमें लिखा हुआ था। इसके पश्चात् तोरकातो तासोने पैस्तोरल प्ले़ज़ (ग्राम्य जीवनके नाटक) लिखे। उसी शताब्दीके अन्तमें गियमवत्तिस्ता दे ला पोर्तोने अपने मनोहर व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन प्रारंभ किए। कल्पनात्मक नाटकका प्रारम्भ तो यूनानमें हुआ किन्तु उसका प्रचार इटलीमें हुआ और प्राचीन रुढ़िवादी नाटकोंके विरोधमें एक दल ही खड़ा हो गया। उसी समय रिच्यूत्रिनो और उसके अनुयायियोंने इन रोमान्टिक (कल्पनात्मक) नाटकोंमें संगीतका पुट देकर मैलोड्रामा (संगीत-नाट्य) की सृष्टि की। फल यह हुआ कि त्रासद और प्रहसन का स्थान ले लिया म्यूज़िका अपेरा (संगीतनृत्यमय नाटक) ने जिसे साहित्यिक स्तरपर पहुँचाया ज़ेनोने।

किन्तु थोड़े दिन पीछे फ्रांसीसी नाट्य-कलाने इटलीके रङ्गमञ्चको प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था विशेषत: अभिनेता नाट्यकार रिच्यूत्रिनीके प्रयत्नों द्वारा। गोज़ीने सार्वजनिक कोमीदिया दे ल आरते (मुखौटोंका प्रहसन) को साहित्यिक रूप प्रदान किया।

स्पेनी नाटक

स्पेनको कल्पनात्मक नाटककी जन्मभूमि समझनी चाहिए। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया सन्तिलाना लोपेदे, रुएदा और नाहारोने जो स्पेनी रङ्गमञ्चके पिता समझे जाते हैं। कल्पनात्मक नाटकोंके अतिरिक्त कुछ तो त्रासद

लिखे गए किन्तु कुछ वे धार्मिक नाटक लिखे गए जिन्हें आउतोस सेक्रामेन्तालिस कहते हैं जिनमें यूखारिस्तके रहस्योंको नाटकीय रूप दिया गया है। उसी समय मोरेतो ने अनेक प्रहसन लिखे जो "चोगा और तलवार" (क्लोक ऐंड सोर्ड टाइप) श्रेणीके कहे जाते हैं और जिनके लिये स्पेनी रङ्गशाला प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् वह विद्रोही दल खड़ा हुआ जिन्होंने इन प्राचीन "पुन्तो दे औनर" नामक प्राचीनतावादी नाटकोंका विरोध किया, यहाँ तक कि वैनीतो पैरेज़ गाल्दोस्‌ने रङ्गमञ्चके विधानोंकी भी अवहेलना की।

फ्रान्सीसी नाटक

फ्रान्सने देश, काल और व्यापारके एकत्व (यूनिटी ऑफ़ प्लेस, टाइम ऐंड ऐक्शन) के सिद्धान्तको स्वीकार करके सांस्कृतिक नाटकोंका पुनरुद्धार किया। उनके मिस्तेरे (रहस्यात्मक नाटक), मोरालिते (नैतिक नाटक), सोतीस् (मूर्खतापूर्ण नाटक), फ़ार्स (व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन) में संस्कृति-विरोधी या कल्पनात्मक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती थीं। किन्तु कोई विशेष उन्नति उनके यहाँ नहीं हुई। वहाँ भी अन्य योरोपीय देशोंकी भाँति त्रासद लिखे गए। बहुत दिन पीछे वोल्तेयरने अपने कल्पनात्मक त्रासद लिखे और इसके पश्चात् तो ऐसे नाटककारोंकी बाढ़ ही आ गई जिन्होंने कल्पनावादी नाटक तथा काव्यात्मक नाटक लिखे। बीसवीं शताब्दीके नाटककारोंने काम-शास्त्र तथा मनःशास्त्रके आधारपर नाटक लिखे किन्तु जितने प्रकारके नाटक लिखे जाने चाहिएँ थे उतने प्रकार वहाँ न मिल सके।

जर्मन, आस्ट्रियन और जेकोस्लोवाकियन नाटक

जर्मन, आस्ट्रिया और जेकोस्लोवाकियामें भी प्रारम्भमें त्रासद लिखे गए। गेटेने अपने फ़ाउस्टमें आत्मसंस्कारको अधिक महत्त्व दिया है और अपने नाटककी प्रस्तावनामें यह बताया है कि नाटकीय रूपमें रचना करते हुए भी मैं सार्वजनिक रङ्गशालाकी आवश्यकताओंके साथ इसका समन्वय नहीं कर सका। हाउप्टमानने उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें प्रकृतिवादी और आदर्शात्मक नाटक लिखे हैं और वेडेकिन्डने अभिव्यञ्जनात्मक नाटक लिखे हैं जो मार्क्सवादी [illegible] रङ्गशालाके इतिहासमें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक प्रदर्शन करनेके लिये जो उसने दृश्यपीठोंका रूप विधान किया है वह सारे संसारमें प्रसिद्ध है।

स्कैण्डीनेवियन् और फ्लेमिश नाटक

फ्लेमिश नाटक तो फ्रांसके कल्पनात्मक नाटकोंके अनुकरण मात्र हैं। बेल्जियमके प्रसिद्ध कवि मैटरलिंकने प्रतीकवादी आन्दोलनका नेतृत्व किया और नाटकमें अतिशय प्रतीकवादकी प्रतिष्ठा की। नाटकके क्षेत्रमें महत्वपूर्ण प्रवृत्तियोंका आन्दोलन प्रारम्भ किया स्कैन्डीनेवियाने। ब्योर्नसन् और इब्सन्‌ने मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओंपर 'समस्या नाटक' लिखे हैं जिनका प्रभाव व्यापक रूपसे योरोपीय नाटकोंपर पड़ा है। स्ट्रिन्डबर्गने इब्सन्‌के महिलावादके विरोधमें शक्तिशाली नाटक लिखे।

रूसी नाटक

किसी युगमें रूसमें भी धार्मिक नाटक खेले जाते रहे हैं किन्तु वहाँ व्यवस्थित रूपसे अठारहवीं शताब्दीमें नाटकोंका विकास हुआ और त्रासद लिखे गए। उन्नीसवीं शताब्दीमें ग्रीबोयेडौफ़ और गोगोलने प्रहसन लिखे, पुश्किनने सेक्सपियरी शैलीपर नाटकोंकी रचना की, आष्ट्रोवस्कीने जनताके मनोभावोंका स्वाभाविक निरूपण किया अलेक्ज़ैन्डर टाल्स्टायने रूसी राजाओंकी कथाओंपर नाटक लिखे और काउन्ट लियो टाल्स्टायने सब रूढ़ियोंको तोड़ते हुए केवल चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे नाटक रचे। आन्तोन चेखवने मैस्को आर्ट थियेटरके लिये अत्यन्त स्वाभाविकतापूर्ण कलात्मक नाटक लिखे जिनमें सरल किन्तु भावात्मक अभिनयकी आवश्यकता होती है। नवीन नाटककार एव्रोनफ़ने अपने मोनोड्रामा (एकनटीय नाटक) के सिद्धान्तपर अपने नाटक लिखे। सन् १९१७ को क्रान्तिके पश्चात् नयी रङ्गशालाओंकी स्थापना हुई जिसमें सस्ते उपकरणोंसे तथा ज्यामितीय आकारोंकी सामग्रियोंपर विभिन्न प्रकारसे प्रकाश देकर दृश्य प्रभाव उत्पन्न करनेकी चेष्टा की गई। साथ ही रंगशालाको प्रचारका साधन भी बना लिया गया। मेयरहोल्ड जैसे लेखकोंने साधारण जनताके लिये ऐसे नाटक लिखे जो सार्वजनिक रूपसे खुले मैदानमें खेले जा सकते हैं। वहाँके विभिन्न प्रान्तोंमें छोटी या उठउवा रङ्गशालाएँ हैं और घुमन्तू अभिनेता घूमघूमकर नाटक

दिखाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रयोगात्मक राजकीय रङ्गशालाएँ भी हैं जहाँ निरन्तर नाटकीय प्रयोग होते रहते हैं।

अंग्रेजी नाटक

इंग्लैण्डमें भी प्रारम्भमें ईसाई पादरियों-द्वारा धार्मिक नाटक होते थे जिनमें अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज़) और रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरी प्लेज़) होते थे। किन्तु सोलहवीं शताब्दीमें पुनरुद्धार-कालमें ये बन्धन टूट गए और प्रहसन तथा त्रासद लिखे जाने लगे। किन्तु इन सबमें सर्वाधिक ख्याति पाई शेक्सपियर ने। जौन्सनने प्रहसन और त्रासद दोनों लिखे किन्तु उसे प्रसिद्धि मिली उस कलात्मक मास्क (मुखौटेवाले प्रहसन) से जिसकी राजद्वारमें बड़ी प्रशंसा हुई। इस प्रकार त्रासद और प्रहसन निरन्तर लिखे जाते रहे। पीछे जो अन्ना बेली, कौलरिज, बायरन, शैली और हेनरी टेलर जैसे लेखक हुए जिन्होंने ग्रन्थ-नाटक लिखे, जो केवल पढ़नेके लिये अच्छे थे, रंगमंच पर नहीं खेले जा जा सकते थे। टेनीसन, ब्राउनिंग और और स्विनबर्ग जैसे कवियोंने नाटकीय काव्योंकी रचना की और शैरिडन जैसे लोगोंने दृश्यात्मक शक्तिसे पूर्ण नाटक लिखे। इसके पश्चात् जोन्स पिनरो और औस्कर वाइल्ड जैसे नाटककारोंने वाग्वैदग्ध्यसे पूर्ण प्रहसन लिखे। इसके पश्चात् आए बर्नर्डशा और गाल्सवर्दी जिन्होंने रङ्गशालाको नया ही रूप दिया। अनेक विवादास्पद विषयोंपर निर्भीकता और व्यङ्ग्यसे आलोचना की तथा सामाजिक समस्याओंका नये ढंगसे समाधान किया। जे. एम बारीने अपने नाटकोंमें अलौकिक रहस्यात्मक तत्त्वोंका अधिक योग किया। हार्ले ग्रेनविल बार्करने रङ्गविधानकी योजनामें महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की। पीछेके कवियोंमें कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने व्यङ्ग्यात्मक प्रहसन भी लिखे।

आयरिश नेशनल थियेटरमें दो प्रकारके नाटक लिखे गए। एक तो साहित्यिक नाटक, दूसरे लोक-नाटक (फ़ोक प्लेज़)

अमरीकाके नाटक

अभी पचास वर्ष पहलेतक अमेरिकाके नाटकोंपर फ्रांसीसी और अंग्रेजी प्रभाव था। किन्तु डेन्मन टौम्सनके सार्वजनिक गीत-नाट्यके आ जानेके और हैरिगन तथा हार्टके निम्न कोटिके जीवनके देशी प्रहसनोंके प्रादुर्भावसे देशी मौलिकता जागने लगी। जेम्स हर्नने सर्वप्रथम नये इंगलैंडके ग्राम्य जीवनपर अत्यन्त स्वाभाविक नाटक लिखा। वर्तमान अमरीकाके नाटककारोंकी विशेषता यह है कि वे मानवीय प्रकृतिका अत्यन्त सच्चा और निःसंकोच चित्रण करते हैं। इधर अमरीकाकी जनताके मतका प्रतिनिधित्व करनेवाले भी कुछ नाटक लिखे जा रहे हैं जिनकी लोकप्रियता अधिक बढ़ रही है किंतु प्रभावशाली, नई सम्भावनाओंको समझनेवाला वास्तविकतावादी नाटककार है यूजेन ओ नील जो अभिव्यञ्जनात्मक कौशलका भी प्रयोग करता है, दूसरा अभिव्यञ्जनावादी नाटककार है एलमेर राइस।

विभिन्न देशोंमें प्रयुक्त होनेवाले जिन अनेक प्रकारके नाटकोंका वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त उनमें हमने नृत्यनाट्य, गीत-नाट्य तथा मूकनाट्यकी चर्चा की है किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ नाट्य शैलियाँ प्रचलित हो चली हैं जैसे एकांकी नाटक, जिनमें एक ही अंकमें पूरी कथा पूर्ण हो जाती है। दूसरा है श्रव्य नाट्य (रेडियो प्ले) जिसमें इस प्रकार संवादयोजना रक्खी जाती है कि मौलिक निर्देश और वाचिक अभिनयसे ही पूरा नाटक पूर्ण कर लिया जाता है। रेडियोपर जो नाटक होते हैं वे इसी प्रकारके होते हैं। किन्तु जब बेतार रूपध्वनि (टेलीविज़न) का प्रयोग होने लगेगा तब श्रव्य नाटक समाप्त हो जायँगे। तीसरा संवाद-नाट्य है जिनमें गद्य-संवाद नेपथ्यसे होते हैं और अभिनेता रंगमंचपर केवल अभिनय करते हैं। इनके अतिरिक्त भी और बहुतसे प्रकारके नाटक हो सकते हैं।

भारतकी वर्तमान भाषाओंमें जो नाटक लिखे गए हैं वे या तो संस्कृत-शैलीपर लिखे गए या वर्त्तमान योरोपीय शैलियोंमेंसे किसी एकमें। अतः उनका कोई अलग वर्गीकरण नहीं हो सकता। हाँ, पाठ्य पुस्तकोंमें नाटकोंके आ जानेसे कुछ नाटककार केवल पाठ्य नाटक लिखने लगे हैं जिनमें अभिनेयता कम होती है, किन्तु भाषा-चमत्कार अधिक होता है।

एकांकी नाटक

योरोपीय साहित्यमें योरपके आक्रमणकी प्रतिक्रियाके रूपमें एकांकी नाटकोंकी सृष्टि आरम्भ होने लगी क्योंकि

बोलपटमें आविष्कारकी नवीनता तथा अल्पव्ययताके साथ-साथ समयकी भी बचत होती है। अतः अच्छे कैंडेके लेखक इस ओर प्रवृत्त हुए। इन लोगोंको प्रारम्भमें यह कठिनाई हुई कि रंगशालाएँ इन एकांकी नाटकोंसे सन्तुष्ट न थीं और इनमें अभिनय तथा दृश्य-तत्त्वके रहते हुए भी कथा-तत्त्व भली भाँति स्पष्ट और विकसित न हो सका। पर धीरे-धीरे इनकी रूपरेखा सुधरने और कुछ सँवरने लगी। लोगोंने इनका महत्त्व समझा और स्कूल-कालेजोंकी छोटी रंगशालाओंने इन्हें अल्पकालिक मनोरंजनका सुन्दर साधन समझकर इन्हें अपनाया और इनका प्रचार भी किया। धीरे-धीरे शिष्ट समुदायने पत्रों तथा व्याख्यानों-द्वारा इनकी प्रशंसाके गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और अव्यवसायिक नाट्य-मंडलियोंने भी सार्वजनिक रंगशालाओंमें इनका प्रयोग आरम्भ कर दिया।

जिन लोगोंने संस्कृत नाट्यशास्त्र या नाट्य-साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकांकी नाटक वैज्ञानिक आविष्कारोंके समान ही बीसवीं शताब्दीकी देन है। किन्तु एकांकी नाटकोंका आरम्भ ईसासे बहुत पहले भासने कर दिया था और उसका 'मध्यम व्यायोग' उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरोपमें भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान और इतालियामें छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दीसे सत्रहवीं शताब्दी तक 'कमीदिया देल आर्ते' के नामसे इतालियामें तथा दूसरे योरोपीय देशोंमें प्रचलित थे।

सबसे पहले अँगरेज़ी नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकोंके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे और मध्ययुगमें प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्ट्रीज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज़) और गर्भांक नाटक (इन्टरल्यूड्स) सभी एकांकी नाटक ही थे।

जब रूढ़िवादियोंने सन् १६४२ में अपनी रंगशालाएँ कीलित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थान पर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे। १८ वीं तथा १९ शताब्दीमें भी 'पर्दे पठाऊ' (कर्टेन रेज़र्स) या पुछल्ले नाटक (आफ्टर पीसेज़) इत्यादिके रूपमें एकांकी नाटक व्यावसायिक रंगशालाओंके लिये भी लिखे गए थे अथवा अव्यावसायिकोंके लिये चित्ररेखाके रूपमें रचे गए थे जो अब भी हमारे ऊपर कभी-कभी लादे जाते हैं। वे मुख्यतः भँड़ैती (बर्लैस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूपसे एकांकी रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए हैं।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं किन्तु फिर भी अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इनका विकास या विस्तार योरप अथवा इंगलैण्डमें कबसे नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभीतक इस विषयपर पूरी खोज भी नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है कि बीसवीं शताब्दीमें एकांकी नाटकोंका इंगलैण्ड, फ्रान्स, रूस तथा इतालियामें पुनः निर्माण हुआ, नाटकीय रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ और यह भी समझा जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उपयुक्त है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके पास अपनी कोई रंगशाला नहीं है और इसलिये यहाँ उसकी कोई माँग नहीं है। योरोपमें भी व्यावसायिक रंगशालाओंमें इन नाटकोंका प्रचार नहीं हुआ है। किन्तु ज़ेकोस्लोवाकिया और अमेरिकाकी छोटी रंगशालाओं (लिटिल थियेटर्स) में इनका बड़ा आदर हुआ है और इंगलैण्ड की अव्यावसायिक नाटक-मंडलियोंमें भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

आजकल योरोपमें एकांकी नाटकोंकी बाढ़ सी आ गई है। इसका एक सुपरिणाम तो यह हुआ है कि लोगोंमें नाटक पढ़नेकी प्रवृत्ति जाग रही है और छपे हुए नाटकोंका पढ़ना भी वहाँ आजकलका एक शिष्टाभ्यास हो गया है। श्री स्लेडन स्मिथका कहना है कि नाटक पढ़नेसे बढ़कर कोई दूसरा आकर्षक मनोविनोदका साधन नहीं है और उपन्यास तो विशेष रूपसे उसके आगे बिल्कुल निकम्मा और रूखा है। वर्तमान अव्यावसायिक नाटक-मंडलियोंके पुनरुत्थानने एकांकी नाटकोंकी ओर लोगोंकी रुचि बहुत बढ़ा दी है और ब्रिटिश ड्रामा लीग तथा स्कौटिश कम्यूनिटी ड्रामा एसोसिएशनकी ओरसे जो दल प्रतियोगितामें भाग लेते हैं वे भी अपने लिये एकांकी नाटक ढूँढा करते हैं। परिणाम यह हुआ कि प्रतिवर्ष सहस्रों नाटक लिखे जाते हैं और सम्पादकका काम केवल यही रह जाता है कि वह उनमेंसे सर्वश्रेष्ठको चुन ले।

शिक्षा-प्रसारकी दृष्टिसे भी एकांकी नाटक आदर पा रहे हैं और नाटकीय समीक्षा सिखानेसे पूर्व वर्तमान नाटकों का अध्ययन कराना एक स्वाभाविक आरंभ समझा जाता है। फिर पिछले कुछ वर्षोंमें वर्णविन्यासको और उसके शिक्षणको अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और आजका अध्यापक केवल कुछ कविताओंके अथवा कुछ उच्च श्रेणी के गद्य-पाठ करानेसे सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भाषामें प्रकट किए हुए भावोंका अभिनय करना सिखाना भी अपना कर्त्तव्य समझता है। शिक्षाकी दृष्टिसे अभिनयका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अमूल्य समझा जाता है।

शिक्षा-शास्त्रियोंका कहना है कि बहुत छोटे बच्चोंके लिये ऐसे नाटक ढूँढ़ने चाहिए जिनके संवाद एक परिमित शब्द-समूहमें बँधे हों और जिनमें साधारण विचारों और भावोंका स्पष्टीकरण हो किन्तु बड़े छात्रोंके लिये जिनमें किशोर भी सम्मिलित हैं विशेष रूपसे लिखे हुए नाटकोंकी आवश्यकता नहीं है। स्कूलोंके लिये केवल सर्वश्रेष्ठ नाटक ही होने चाहिएँ। व्यावसायिक अभिनेता तो द्वितीय श्रेणीके नाटकोंको भी प्रभावशाली बना सकते हैं पर नाटककी रचना ऐसी पक्की होनी चाहिए कि नौसिखुए अव्यावसायिक लोगोंके हाथमें पड़कर भी वे खरे उतरें।

कुछ पाठशालाओंमें बालक और बालिकाओंको अलग अलग रखना भी कठिनाई उत्पन्न कर देता है। अँगरेजीमें हो केवल बालकोंके लिये अथवा केवल बालिकाओंके लिये कोई नाटक नहीं हैं। एक बालिका सरलता से, एक काल्पनिक नाटक (फ़ैन्टेसी प्ले) में या परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्ले) में पुरुष का अभिनय कर सकती है अथवा एक बालक शेक्सपियरके नाटकमें लड़की का अभिनय भी कर सकता है, किन्तु आजकलके नाटकोंमें जिनमें वर्तमान कालका चित्रण होता है इस प्रकारके परिवर्तन अवांछनीय हैं।

आजकल ऐसी भी माँग है कि केवल स्त्रियोंके लिये ही नाटक लिखे जायँ। यद्यपि ऐसे नाटक लिखे भी जा रहे हैं किन्तु वे बहुत ही निम्न कोटिके हैं। अँगरेजीमें स्त्री पात्रोंसे भरे केवल दो ही नाटक हैं—एक है "नाइन टिल सिक्स" और दूसरा है "चिल्ड्रेन इन यूनिफ़ॉर्म" और इन दोनोंमेंसे किसी में भी पुरुषकी अनुपस्थिति खटकती नहीं। एकांकी नाटकोंमें तो पुरुषोंकी उपस्थिति सरलता से दूर भी की जा सकती है और निम्नलिखित एकांकी नाटक तो बिना पुरुषोंके सर्वश्रेष्ठ उतरे हैं और तीन प्रकार के नाटकोंके प्रतिनिधि भी हैं—ऐतिहासिक नाटक, वर्त्तमान व्यावसायिक त्रासद, और वर्त्तमान संभूषित सुखान्त नाटक। वे नाटक हैं—एडवर्ड पर्सी का 'वीमेन ऐट वार,' डौने टोथेरो का 'दि ग्रेट डार्क' और हैरोल्ड ब्रिग हाउसका 'स्मोक स्क्रीन।' किन्तु इन नाटकोंके पढ़नेसे इनकी कृत्रिमता तत्काल प्रकट हो जाती है। इन सबसे अच्छे हैं अभिनव भारतका 'अलका' और कमलिनी मेहताका उर्मिला जिनमें सब स्त्री पात्रोंके होते हुए भी स्वाभाविकता बनी रहती है।

एकांकी नाटक की रचनाके सम्बन्धमें श्री टालबोटने दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—

(१) एकांकी नाटकमें यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता।

(२) यदि एकांकी नाटकमें विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए।

टालबोट ने प्रचार-नाटक तथा भावपूर्ण नाटकोंको इसलिये त्याज्य कहा है कि वे सब अत्यंत सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मतके प्रचारके लिये लिखे जाते हैं।

श्री टालबोटके सिद्धान्तके अनुसार वे नाटक भी नाटकोंमें सम्मिलित किए जाते हैं जो मशीनमें ढले नहीं होते अर्थात् जिनके व्यापार रंगमंचके उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढ़िगत नाटकोंके चरित्रोंके समान पचाने योग्य नहीं होते। दूसरे शब्दोंमें ये ट्रिकवाटरके सावयव नाटकोंके विरोधी हैं और ये सावयव नाटक कृत्रिम नाटकोंके विरोधी हैं। दूसरे सिद्धान्तके अनुसार श्री टालबोट उन तथाकथित तीव्र नाटकोंके अथवा विनोदरहित गंभीर नाटकों और प्रचार-नाटकों का बहिष्कार करते हैं जो अत्यंत अस्वाभाविक रूपसे प्रभावशाली बनाए जाते हैं। त्रासदोंमें भी कुछ-हँसी-विनोद होना ही चाहिए; कुछ तो मानसिक भावोंको तथा भावावेशोंको शान्ति देनेके लिये और कुछ तुलना-द्वारा उनपर बल देनेके लिये। जो नाटककार विनोदसे ऊपर उठता रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमें अनुपातका भाव ही नहीं है। हम मैटरलिंक या हेडा गैबलरके भावोंके साथ बहनेके लिये तैयार हैं किन्तु हमें

चोलपटमें आविष्कारकी नवीनता तथा अल्पव्ययताके साथ-साथ समयकी भी बचत होती है। अतः अच्छे कैंडेके लेखक इस ओर प्रवृत्त हुए। इन लोगोंको प्रारम्भमें यह कठिनाई हुई कि रंगशालाएँ इन एकांकी नाटकोंसे सन्तुष्ट न थीं और इनमें अभिनय तथा दृश्य-तत्त्वके रहते हुए भी कथा-तत्त्व भली भाँति स्पष्ट और विकसित न हो सका। पर धीरे-धीरे इनकी रूपरेखा सुधरने और कुछ सँवरने लगी। लोगोंने इनका महत्त्व समझा और स्कूल-कालेजोंकी छोटी रंगशालाओंने इन्हें अल्पकालिक मनोरंजनका सुन्दर साधन समझकर इन्हें अपनाया और इनका प्रचार भी किया। धीरे-धीरे शिष्ट समुदायने पत्रों तथा व्याख्यानों-द्वारा इनकी प्रशंसाके गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और अव्यवसायिक नाट्य-मंडलियोंने भी सार्वजनिक रंगशालाओंमें इनका प्रयोग आरम्भ कर दिया।

जिन लोगोंने संस्कृत नाट्यशास्त्र या नाट्य-साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकांकी नाटक वैज्ञानिक आविष्कारोंके समान ही बीसवीं शताब्दीकी देन है। किन्तु एकांकी नाटकोंका आरम्भ ईसासे बहुत पहले भासने कर दिया था और उसका 'मध्यम व्यायोग' उदाहरण-के रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरोपमें भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान और इतालियामें छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दीसे सत्रहवीं शताब्दी तक 'कमीदिया देल आर्ते' के नामसे इतालियामें तथा दूसरे योरोपीय देशोंमें प्रचलित थे।

सबसे पहले अँगरेज़ी नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकोंके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे और मध्ययुगमें प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज़) और गर्भाङ्क नाटक (इन्टरल्यूड्स) सभी एकांकी नाटक ही थे।

जब रूढ़िवादियोंने सन् १६४२ में अपनी रंगशालाएँ कीलित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थान पर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे। १८ वीं तथा १९ शताब्दीमें भी 'पर्दे पटाक' (कर्टेन रेज़र्स) या पुछल्ले नाटक (आफ्टर पीसेज़) कहलानेवाले बहुतसे एकांकी नाटक व्यावसायिक रंगशालाओंके लिये भी लिखे गए थे अथवा अव्यावसायि के लिये चित्ररेखाके रूपमें रचे गए थे जो अब भी ह ऊपर कभी-कभी लादे जाते हैं। वे मुख्यतः भँ (बर्लेस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूपसे एकां रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए हैं।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं वि फिर भी अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है इनका विकास या विस्तार योरप अथवा इंगलैण्डमें क नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभीतक इस विषय पूरी खोज भी नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है बीसवीं शताब्दीमें एकांकी नाटकोंका इंगलैण्ड, फ्रा रूस तथा इतालियामें पुनः निर्माण हुआ, नाट रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ और यह भी सम जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक ना अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उप है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके पास अपनी कोई रंगशाला है और इसलिये यहाँ उसकी कोई माँग नहीं है। योरे भी व्यावसायिक रंगशालाओंमें इन नाटकोंका प्रचार हुआ है। किन्तु ज़ेकोस्लोवाकिया और अमेरिकाकी छ रंगशालाओं (लिटिल थिएटर्स) में उनका बड़ा आ हुआ है और इंगलैण्ड की अव्यावसायिक ना मंडलियोंमें भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

आजकल योरोपमें एकांकी नाटकोंकी बाढ़ सी गई है। इसका एक सुपरिणाम तो यह हुआ है कि लो नाटक पढ़नेकी प्रवृत्ति जाग रही है और छपे हुए नाट पढ़ना भी वहाँ आजकलका एक शिष्टाभ्यास हो गया श्री स्लेडन स्मिथका कहना है कि नाटक पढ़नेसे ब कोई दूसरा आकर्षक मनोविनोदका साधन नहीं है उपन्यास तो विशेष रूपसे उसके आगे बिल्कुल निव और रूखा है। वर्तमान अव्यावसायिक नाटक-मंडलि के पुनरुत्थानने एकांकी नाटकोंकी ओर लोगोंकी बहुत बढ़ा दी है और ब्रिटिश ड्रामा लीग तथा स्को कम्यूनिटी ड्रामा एसोसिएशनकी ओरसे जो दल प्रतियो में भाग लेते हैं वे भी अपने लिये एकांकी नाटक करते हैं। परिणाम यह हुआ कि प्रतिवर्ष सहस्रों लिखे जाते हैं और सम्पादकका काम केवल यही रह है कि वह उनमेंसे सर्वश्रेष्ठको चुन ले।

शिक्षा-प्रसारकी दृष्टिसे भी एकांकी नाटक आदर पा रहे हैं और नाटकीय समीक्षा सिखानेसे पूर्व वर्तमान नाटकों का अध्ययन कराना एक स्वाभाविक आरंभ समझा जाता है। फिर पिछले कुछ वर्षोंमें वर्णविन्यासको और उसके शिक्षणको अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और आजका अध्यापक केवल कुछ कविताओंके अथवा कुछ उच्च श्रेणी के गद्य-पाठ करानेसे सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भाषामें प्रकट किए हुए भावोंका अभिनय करना सिखाना भी अपना कर्त्तव्य समझता है। शिक्षाकी दृष्टिसे अभिनयका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अमूल्य समझा जाता है।

शिक्षा-शास्त्रियोंका कहना है कि बहुत छोटे बच्चोंके लिये ऐसे नाटक ढूँढ़ने चाहिए जिनके संवाद एक परिमित शब्द-समूहमें बँधे हों और जिनमें साधारण विचारों और भावोंका स्पष्टीकरण हो किन्तु बड़े छात्रोंके लिये जिनमें किशोर भी सम्मिलित हैं विशेष रूपसे लिखे हुए नाटकोंकी आवश्यकता नहीं है। स्कूलोंके लिये केवल सर्वश्रेष्ठ नाटक ही होने चाहिएँ। व्यावसायिक अभिनेता तो द्वितीय श्रेणीके नाटकोंको भी प्रभावशाली बना सकते हैं पर नाटककी रचना ऐसी पक्की होनी चाहिए कि नौसिखुए अव्यावसायिक लोगोंके हाथमें पड़कर भी वे खरे उतर।

कुछ पाठशालाओंमें बालक और बालिकाओंको अलग अलग रखना भी कठिनाई उत्पन्न कर देता है। अँगरेजीमें तो केवल बालकोंके लिये अथवा केवल बालिकाओंके लिये कोई नाटक नहीं हैं। एक बालिका सरलता से, एक काल्पनिक नाटक (फ़ैन्टेसी प्ले) में या परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्ले) में पुरुष का अभिनय कर सकती है अथवा एक बालक शेक्सपियरके नाटकमें लड़की का अभिनय भी कर सकता है, किन्तु आजकलके नाटकों-में जिनमें वर्तमान कालका चित्रण होता है इस प्रकारके परिवर्त्तन अवांछनीय हैं।

आजकल ऐसी भी माँग है कि केवल स्त्रियोंके लिये ही नाटक लिखे जायँ। यद्यपि ऐसे नाटक लिखे भी जा रहे हैं किन्तु वे बहुत ही निम्न कोटिके हैं। अँगरेजीमें स्त्री पात्रोंसे भरे केवल दो ही नाटक हैं—एक है "नाइन लिल लिक्स" और दूसरा है "चिल्ड्रेन इन यूनिफ़ौर्म" और इन दोनोंमेंसे किसी में भी पुरुषकी अनुपस्थिति खटकती नहीं। एकांकी नाटकोंमें तो पुरुषोंकी उपस्थिति सरलता से दूर भी की जा सकती है और निम्नलिखित एकांकी नाटक तो बिना पुरुषोंके सर्वश्रेष्ठ उतरे हैं और तीन प्रकार के नाटकोंके प्रतिनिधि भी हैं—ऐतिहासिक नाटक, वर्त्तमान व्यावसायिक प्रहसन, और वर्त्तमान संभूषित सुखान्त नाटक। वे नाटक हैं—एडवर्ड पर्सी का 'वीमेन ऐट वार,' डौने टोथेरो का 'दि ग्रेट डार्क' और हैरोल्ड ब्रिगहाउसका 'स्मोक स्क्रीन।' किन्तु इन नाटकोंके पढ़नेसे इनकी कृत्रिमता तत्काल प्रकट हो जाती है। इन [illegible] अच्छे हैं अभिनव भारतका 'अलका' और [illegible] मेहताका उर्मिला जिनमें सब स्त्री पात्रोंके होते हुए [illegible] स्वाभाविकता बनी रहती है।

एकांकी नाटक की रचनाके सम्बन्धमें श्री [illegible] सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—

(१) एकांकी नाटकमें यदि चरित्र-चित्रण [illegible] तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता।

(२) यदि एकांकी नाटकमें [illegible] नाटक नहीं समझना चाहिए।

टालबोट ने प्रचार-नाटक तथा [illegible] इसलिये त्याज्य कहा है कि वे सब [illegible] तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मत [illegible] जाते हैं।

श्री टालबोटके सिद्धान्तके [illegible] नाटकोंमें सम्मिलित किए जाते हैं [illegible] होते अर्थात् जिनके व्यापार [illegible] और जिनके चरित्र भी रूढ़ि [illegible] पचाने योग्य नहीं होते। [illegible] सावयव नाटकोंके विरोधी हैं और [illegible] नाटकोंके विरोधी हैं। दूसरे [illegible] उन तथाकथित तीव्र नाट [illegible] नाटकों और प्रचार-नाटकों [illegible] अस्वाभाविक रूपसे प्रभा [illegible] भी कुछ-हँसी-विनोद हो [illegible] भावोंको तथा भावावे [illegible] तुलना-द्वारा उभार [illegible] विनोदसे ऊपर उठता [illegible] उसमें अनुपातका [illegible] गैल्सवर्दीके भावोंके [illegible]

[illegible] न हों [illegible] और होना [illegible] रहना। [illegible] दिखाई [illegible] चाहिए [illegible] नियम।

चोलपटमें आविष्कारकी नवीनता तथा अल्पव्ययताके साथ-साथ समयकी भी बचत होती है। अतः अच्छे कैंडेके लेखक इस ओर प्रवृत्त हुए। इन लोगोंको प्रारम्भमें यह कठिनाई हुई कि रंगशालाएँ इन एकांकी नाटकोंसे सन्तुष्ट न थीं और इनमें अभिनय तथा दृश्य-तत्त्वके रहते हुए भी कथा-तत्त्व भली भाँति स्पष्ट और विकसित न हो सका। पर धीरे-धीरे इनकी रूपरेखा सुधरने और कुछ सँवरने लगी। लोगोंने इनका महत्त्व समझा और स्कूल-कालेजोंकी छोटी रंगशालाओंने इन्हें अल्पकालिक मनोरंजनका सुन्दर साधन समझकर इन्हें अपनाया और इनका प्रचार भी किया। धीरे-धीरे शिष्ट समुदायने पत्रों तथा व्याख्यानों-द्वारा इनकी प्रशंसाके गीत गाने प्रारम्भ कर दिए और अव्यवसायिक नाट्य-मंडलियोंने भी सार्वजनिक रंगशालाओंमें इनका प्रयोग आरम्भ कर दिया।

जिन लोगोंने संस्कृत नाट्यशास्त्र या नाट्य-साहित्यका अध्ययन नहीं किया है, उनका यही विश्वास है कि एकांकी नाटक वैज्ञानिक आविष्कारोंके समान ही बीसवीं शताब्दीकी देन है। किन्तु एकांकी नाटकोंका आरम्भ ईसासे बहुत पहले भासने कर दिया था और उसका 'मध्यम व्यायोग' उदाहरण-के रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है। योरोपमें भी छोटे, सम्बद्ध तथा कलात्मक नाटक कोई नये नहीं हैं। प्राचीन यूनान और इतालियामें छोटे प्रहसन स्वतन्त्र रूपसे विकसित हुए थे और यह प्रमाणित है कि छोटे छोटे प्रहसन पन्द्रहवीं शताब्दीसे सत्रहवीं शताब्दी तक 'कमीदिया देल आर्ते' के नामसे इतालियामें तथा दूसरे योरोपीय देशोंमें प्रचलित थे।

सबसे पहले अँगरेज़ी नाटक यूनानी साहित्यिक नाटकोंके समान धार्मिक पूजासे विकसित हुए थे और मध्ययुगमें प्रचलित थे। रहस्यात्मक नाटक (मिस्टरीज़), अलौकिक नाटक (मिरेकिल प्लेज) और गर्भांक नाटक (इन्टरल्यूड्स) सभी एकांकी नाटक ही थे।

जब रूढ़िवादियोंने सन् १६४२ में अपनी रंगशालाएँ वर्जित कर दीं, उस समय भ्रमणशील अभिनेता प्रायः स्थान-स्थान पर 'ड्रौल्स' नामके छोटे-छोटे प्रहसन किया करते थे। १८ वीं तथा १९ शताब्दीमें भी 'पर्दे पठाऊ' (कर्टेन रेज़र्स) या पुछल्ले नाटक (आफ्टर पीसेज़) लेखकोंने बहुतसे एकांकी नाटक व्यावसायिक रंगशालाओंके लिये भी लिखे गए थे अथवा अव्यावसायिकों के लिये चित्ररेखाके रूपमें रचे गए थे जो अब भी हमारे ऊपर कभी-कभी लादे जाते हैं। वे मुख्यतः भँड़ैती (बर्लेस्क) या प्रहसन होते थे और सामूहिक रूपसे एकांकी रूपके विगलित प्रतिनिधि प्रतीत होते आए हैं।

यद्यपि ऐसे बहुतसे उदाहरण दिए जा सकते हैं किन्तु फिर भी अभी तक इसका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इनका विकास या विस्तार योरप अथवा इंगलैण्डमें कबसे नियमित तथा सक्रम रहा है क्योंकि अभीतक इस विषयपर पूरी खोज भी नहीं हो पाई है। हाँ, इतना तो निश्चय है कि बीसवीं शताब्दीमें एकांकी नाटकोंका इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस तथा इतालियामें पुनः निर्माण हुआ, नाटकीय रूपकी दृष्टिसे उसका आदर हुआ और यह भी समझा जाने लगा कि वह त्रासद, प्रहसन, उपदेशात्मक नाटक अथवा किसी भी विशिष्ट नाटकीय प्रभावके लिये उपयुक्त है। दुर्भाग्यवश हिन्दीके पास अपनी कोई रंगशाला नहीं है और इसलिये यहाँ उसकी कोई माँग नहीं है। योरोपमें भी व्यावसायिक रंगशालाओंमें इन नाटकोंका प्रचार नहीं हुआ है। किन्तु ज़ेकोस्लोवाकिया और अमेरिकाकी छोटी रंगशालाओं (लिटिल थियटर्स) में उनका बड़ा आदर हुआ है और इंगलैण्ड की अव्यावसायिक नाटक मंडलियोंमें भी उनका प्रचार बढ़ रहा है।

आजकल योरोपमें एकांकी नाटकोंकी बाढ़ सी आ गई है। इसका एक सुपरिणाम तो यह हुआ है कि लोगोंमें नाटक पढ़नेकी प्रवृत्ति जाग रही है और छपे हुए नाटकोंका पढ़ना भी वहाँ आजकलका एक शिष्टाभ्यास हो गया है। श्री स्लेडन स्मिथका कहना है कि नाटक पढ़नेसे बढ़कर कोई दूसरा आकर्षक मनोविनोदका साधन नहीं है और उपन्यास तो विशेष रूपसे उसके आगे बिल्कुल निकम्मा और रूखा है। वर्तमान अव्यावसायिक नाटक-मंडलियों-के पुनरुत्थानने एकांकी नाटकोंकी ओर लोगोंकी रुचि बहुत बढ़ा दी है और ब्रिटिश ड्रामा लीग तथा स्कौटिश कम्यूनिटी ड्रामा एसोसिएशनकी ओरसे जो दल प्रतियोगिता-में भाग लेते हैं वे भी अपने लिये एकांकी नाटक ढूँढ़ा करते हैं। परिणाम यह हुआ कि प्रतिवर्ष सहस्रों नाटक लिखे जाते हैं और सम्पादकका काम केवल यही रह जाता है कि वह उनमेंसे सर्वश्रेष्ठको चुन ले।

शिक्षा-प्रसारकी दृष्टिसे भी एकांकी नाटक आदर पा रहे हैं और नाटकीय समीक्षा सिखानेसे पूर्व वर्तमान नाटकों का अध्ययन कराना एक स्वाभाविक आरंभ समझा जाता है। फिर पिछले कुछ वर्षोंमें वर्णविन्यासको और उसके शिक्षणको अधिक महत्त्व दिया जा रहा है और आजका अध्यापक केवल कुछ कविताओंके अथवा कुछ उच्च श्रेणी के गद्य-पाठ करानेसे सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह भाषामें प्रकट किए हुए भावोंका अभिनय करना सिखाना भी अपना कर्त्तव्य समझता है। शिक्षाकी दृष्टिसे अभिनयका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अमूल्य समझा जाता है।

शिक्षा-शास्त्रियोंका कहना है कि बहुत छोटे बच्चोंके लिये ऐसे नाटक ढूँढ़ने चाहिए जिनके संवाद एक परिमित शब्द-समूहमें बँधे हों और जिनमें साधारण विचारों और भावोंका स्पष्टीकरण हो किन्तु बड़े छात्रोंके लिये जिनमें किशोर भी सम्मिलित हैं विशेष रूपसे लिखे हुए नाटकोंकी आवश्यकता नहीं है। स्कूलोंके लिये केवल सर्वश्रेष्ठ नाटक ही होने चाहिएँ। व्यवसायिक अभिनेता तो द्वितीय श्रेणीके नाटकोंको भी प्रभावशाली बना सकते हैं पर नाटककी रचना ऐसी पक्की होनी चाहिएकि नौसिखुए अव्यावसायिक लोगोंके हाथमें पड़कर भी वे खरे उतरें।

कुछ पाठशालाओंमें बालक और बालिकाओंको अलग अलग रखना भी कठिनाई उत्पन्न कर देता है। अँगरेजीमें हो केवल बालकोंके लिये अथवा केवल बालिकाओंके लिये कोई नाटक नहीं हैं। एक बालिका सरलता से, एक काल्पनिक नाटक (फैन्टेसी प्ले) में या परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्ले) में पुरुष का अभिनय कर सकती है अथवा एक बालक शेक्सपियरके नाटकमें लड़की का अभिनय भी कर सकता है, किन्तु आजकलके नाटकोंमें जिनमें वर्तमान कालका चित्रण होता है इस प्रकारके परिवर्त्तन अवांछनीय हैं।

आजकल ऐसी भी माँग है कि केवल स्त्रियोंके लिये ही नाटक लिखे जायँ। यद्यपि ऐसे नाटक लिखे भी जा रहे हैं किन्तु वे बहुत ही निम्न कोटिके हैं। अँगरेजीमें स्त्री पात्रोंसे भरे केवल दो ही नाटक हैं—एक है "नाइन टिल सिक्स" और दूसरा है "चिल्ड्रेन इन यूनिफौर्म" और इन दोनोंमेंसे किसी में भी पुरुषकी अनुपस्थिति खटकती नहीं। एकांकी नाटकोंमें तो पुरुषोंकी उपस्थिति सरलता से दूर भी की जा सकती है और निम्नलिखित एकांकी नाटक तो बिना पुरुषोंके सर्वश्रेष्ठ उतरे हैं और तीन प्रकार के नाटकोंके प्रतिनिधि भी हैं—ऐतिहासिक नाटक, वर्त्तमान व्यावसायिक त्रासद, और वर्त्तमान संभूषित सुखान्त नाटक। वे नाटक हैं—एडवर्ड पर्सी का 'वीमेन ऐट वार,' डौन टोथेरो का 'दि ग्रेट डार्क' और हैरोल्ड ब्रिग हाउसका 'स्मोक स्क्रीन।' किन्तु इन नाटकोंके पढ़नेसे इनकी कृत्रिमता तत्काल प्रकट हो जाती है। इन सबसे अच्छे हैं अभिनव भारतका 'अलका' और कमलिनी मेहताका उर्मिला जिनमें सब स्त्री पात्रोंके होते हुए भी स्वाभाविकता बनी रहती है।

एकांकी नाटक की रचनाके सम्बन्धमें श्री टालबोटने दो सिद्धान्त निर्धारित किए हैं—

(१) एकांकी नाटकमें यदि चरित्र-चित्रण सुन्दर हो तो नाटक कभी असफल नहीं हो सकता।

(२) यदि एकांकी नाटकमें विनोद न हो तो उसे नाटक नहीं समझना चाहिए।

टालबोट ने प्रचार-नाटक तथा भावपूर्ण नाटकोंको इसलिये त्याज्य कहा है कि वे सब अत्यंत सत्यता दिखाने तथा किसी विशेष सिद्धान्त या मतके प्रचारके लिये लिखे जाते हैं।

श्री टालबोटके सिद्धान्तके अनुसार वे नाटक भी नाटकोंमें सम्मिलित किए जाते हैं जो मशीनमें ढले नहीं होते अर्थात् जिनके व्यापार रंगमंचके उपयुक्त नहीं होते और जिनके चरित्र भी रूढ़िगत नाटकोंके चरित्रोंके समान पचाने योग्य नहीं होते। दूसरे शब्दोंमें ये ड्रिंकवाटरके सावयव नाटकोंके विरोधी हैं और ये सावयव नाटक कृत्रिम नाटकोंके विरोधी हैं। दूसरे सिद्धान्तके अनुसार श्री टालबोट उन तथाकथित तीव्र नाटकोंके अथवा विनोदरहित गंभीर नाटकों और प्रचार-नाटकों का बहिष्कार करते हैं जो अत्यंत अस्वाभाविक रूपसे प्रभावशाली बनाए जाते हैं। त्रासदोंमें भी कुछ हँसी-विनोद होना ही चाहिए; कुछ तो मानसिक भावोंको तथा भावावेशोंको शान्ति देनेके लिये और कुछ तुलना-द्वारा उसपर बल देनेके लिये। जो नाटककार विनोदसे ऊपर उठता रहता है वह ऐसा लगता है मानो उसमें अनुपातका भाव ही नहीं है। हम मैकबेथ या हेडा गैबलरके भावोंके साथ बहनेके लिये तैयार हैं किन्तु हमें

यह भी जान पड़ता रहता है कि जिस प्रतिभाशाली व्यक्तिने उनका निर्माण किया है उसने एक क्षणके लिये भी अपना आत्म-संयम नहीं खोया। शेक्सपियरका प्रलाप फ़ोर्डके प्रलापसे कहीं अधिक तीव्र है और इब्सन की हँसी उसके श्रासदोंको स्ट्रिन्डवर्गके क्रोधसे अधिक असह्य बना देती है। विनोद एक प्रकार का दार्शनिक उन्माद है, वह केवल नाटकोंमें ही नहीं वरन् इस रूखी दुनियाके लिये भी अपरिहार्य है।

योरोपमें एकांकी नाटक इतने अधिक लिखे गए कि उनके कई वर्ग बन गए। नीचे हम उन वर्गोंका तथा प्रत्येक वर्गके सर्वश्रेष्ठ नाटककार तथा रचनाका भी उल्लेख करेंगे।

(१) सभ्य प्रहसन (पोलाइट फ़ार्सेज़)—आर्नोल्ड बेनेका 'दि स्टेप-मदर'।

(२) देवताओं और मनुष्योंके नाटक (प्लेज़ ऑफ़ गौड्स्-ऐंड मेन)—लौर्ड डनसेनी का 'ए नाइट ऐट एन इन।'

(३) खुले मैदानके नाटक (ओपेन एअर प्लेज़)—हैरोल्ड ब्रिग हाउस का 'हाउ दि वेदर इज़ मेड।'

(४) परिधान नाटक (कौस्ट्यूम प्लेज़)—ओलाइव पोन्पेका 'मिर्मी'।

(५) गद्य-पद्य-मय नाटक (प्ले इन प्रोज़ ऐंड वर्स) डब्लू० बी० यीट्सका 'दि पौट ऑफ़ ब्रोथ'।

(६) गोचर भूमि तथा हरे मैदानोंके लिये नाटक (प्ले फ़ौर दि मीडो ऐंड प्ले फ़ौर दि लौन) हैरोल्ड ब्रिग हाउसका 'दि प्रिंस हू वाज़ ए पाइपर।'

(७) दूर और पासके नाटक (प्लेज़ ऑफ़ फ़ार ऐंड नियर)—लौर्ड डनसेनीका 'दि फ़्लाइट ऑफ़ दि क्वीन।'

(८) प्रचुररत्नमदिरा पूर्ण नाटक—(पिटी प्लेज़) जी. जी. [illegible] का 'दि स्पार्टन गर्ल।'

इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक-जीवन-सम्बन्धी विशेषतः लन्दनके आधारसे सम्बद्ध नाटक भी लिखे गए हैं। इन नाटकोंका प्रारम्भ किया था हैरोल्ड चैपिनने जिनका '[illegible]' नाटक बड़ा प्रसिद्ध है। इन लंदनीय नाटकोंमें [illegible] '[illegible]', [illegible] 'लंदन प्राइड,' [illegible] का 'दि लाइक्स ऑफ़ हर,' स्वर्गीय गर्टयूड जैनिन्स का 'मेकशिफ्टस,' हैरोल्ड ब्रिगहाउसके 'ट्रैम्प स्केच' तथा 'डोर-वे' उल्लेखनीय हैं। और स्वर्गीय विलियम आर्चरका दि 'डम्ब ऐंड दि ब्लाईंड' तो एकांकी नाटकोंमें सर्व श्रेष्ठ है जिसका कारण उसकी सरलता और स्पष्टता है।

इन सभी प्रकारके एकांकी नाटकोंकी रचनाएँ साधारण दृश्य मात्रसे लगाकर नाटकके सभी तत्वोंसे पूर्ण छोटे नाटकतकमें हुई हैं और विभिन्न नाटककारोंने अपने नाटकोंको यथासंभव प्रभावशाली बनानेका प्रयत्न किया है। इस प्रभावको उत्पन्न करनेके लिये उन्होंने प्रायः लोक-भाषाका आश्रय लिया है और दृश्य-विधान गुम्फित बना दिया है अर्थात् उसमें घटनाओं, पात्रों अथवा स्थितियोंका परिवर्तन दिखलाकर उनको सरस, बोधगम्य, कुतूहल-पूर्ण तथा प्रभाव-पूर्ण बनाया है। इनकी रचनामें भी दो रूप हैं एक तो वे जो केवल एक दृश्यमें ही समाप्त हो जाते हैं, दूसरे वे जो एक अंकमें तो समाप्त होते हैं किन्तु उनमें दृश्य कई होते हैं।

काशीमें जो अभिनव रंगशालाका निर्माण हुआ है वहाँ इस प्रकारकी रचनाओंका परीक्षण हो रहा है। वहाँ अभिनवभरतका 'अपराधी' नामक एकांकी नाटक सफलतासे खेला गया था। उस नाटकको विशेषता यह थी कि उसमें एक दृश्य होते हुए भी रसका परिपाक पूर्ण रूपसे हुआ है।

किन्तु एकांकी नाटक लिखनेका यह प्रयास बिलकुल मंद है और जब तक हिन्दीकी रंगशाला नहीं बन पाती तब तक नाटकोंका पनपना असंभव ही है।

कलावादी तथा वास्तविकतावादी नाटक

योरपमें जिन बुद्धिवादियोंने समस्याएँ लेकर नाटकोंकी रचना प्रारम्भ की उनके दो पक्ष हुए,—एक शुद्ध वास्तविकतावादी और दूसरे कलावादी।

कलावादियोंका यह तर्क है कि नाटक मनोरंजनका साधन है किन्तु साथ साथ उसमें तथ्यकी मात्रा समूची रहनी चाहिए। हाँ, तथ्यको प्रकट करनेके साधनोंमें कलाकी पूर्ण सहायता ली जा सकती है। इन लोगोंका यह विश्वास है कि संसार स्वयं संघर्ष और द्वन्द्वका क्षेत्र है। मनुष्य अपने चारों ओर इस प्रकारके अनेक वैषम्योंको नित्य

देखता-सुनता और भोगता चला आ रहा है अतः उनको देखने तथा सहन करनेका अभ्यास हो गया है। उनके आवेशमय प्रत्यक्षीकरणसे उसके हृदयपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और इसलिये नाटककारका जो उद्देश्य है वह भी इन लोगोंके हृदयतक नहीं उतर पाता है। अतः इन कलावादियोंका यह प्रस्ताव है कि नाटकमें विनोदके कलात्मक साधनोंका अर्थात् गीत, नृत्त और नृत्यका प्रचुर प्रयोग किया जाय। इस आधारपर गीति-नाटकोंकी सृष्टि हुई। इन गीति-नाट्योंकी विशेषता यही थी कि इनमें सब बातें पद्यमें ही होतीं थी किन्तु केवल पद्य-बद्धता ही इन गीति-नाट्योंकी विशेषता नहीं है। इसके दो स्पष्ट स्वरूप हैं—एक तो मूक अभिनयके साथ गीति-नाट्य और दूसरा शुद्ध संवादात्मक गीति-नाट्य। इनमें से पहलेमें एक दल विशेष भाव-युक्त, संवादयुक्त, वाद्ययंत्रोंकी सहायतासे गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतोंके अनुरूप भूमिकामें गीतके भावके अनुरूप अभिनय करता है। भारतमें उस प्रकारके गीति-नाट्योंका अधिक प्रचार महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अपने शान्तिनिकेतनमें किया। उनका 'चांडालिका' नामक गीति-नाट्य रंगपीठ पर बड़ी सफलता पा चुका है।

दूसरे प्रकारके गीति-नाट्य वे हैं जिनमें केवल पद्य-बद्ध संवाद-मात्र ही रहते हैं किन्तु इस प्रकार के नाटक फ्रांसीसी और इतालवी भाषामें जैसे सुन्दर बन पड़े हैं वैसे न तो अंग्रेजीमें बन पाए न रूसीमें और न जर्मनीमें। इन्हींकी देखादेखी भारतमें भी कुछ लोगोंने यहाँकी भाषाओंमें इस प्रकारके गीति-नाट्य लिखे जिन्हें गीति-नाट्य न कह कर पद्य-मय-नाटक कहना चाहिए। इन नाटकोंमें पद्योंकी विरसताके कारण न तो रसका उचित रूपसे परिपाक हो पाया, न संवादमें ही बल आ पाया, और न कथावस्तुका ही उचित प्रसार हुआ।

नवीन वर्गीकरण

जितने प्रकारके नाटक भारत तथा अन्य देशोंमें प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं उनका वर्गीकरण कई दृष्टियोंसे किया जा सकता है—१ विषय, २ रंगमंच, ३ प्रदर्शन-विधि, ४ प्रभाव, ५ रचना, ६ उद्देश्य, ७ सामाजिक या दर्शक तथा ८ पात्र।

१—विषयके अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

पौराणिक

ऐतिहासिक

प्रतीकात्मक जैसे प्रबोधचन्द्रोदय

रूढ़ (किसी देश या जातिकी रूढ़ कथाके आधारपर)

मौलिक

मौलिकके अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, घरेलू, आर्थिक तथा नैतिक।

२—रंगमंचके अनुसार निम्नलिखित प्रकारके हो सकते हैं—

खुले मैदानके योग्य नाटक (ओपिन एअर या मीडो प्लेज़)

चक्रिल रंगमंचके योग्य (फ़ौर रिवोल्विंग स्टेज)

छोटे रंगमंचके योग्य

बड़े रंगमंचके योग्य

पटहीन रंगमंचके योग्य

दुहरे रंगपीठके योग्य (जैसे रामलीला होती है जहाँ दो मंच होते हैं)

३—प्रदर्शन-विधिके अनुसार ये प्रकार हो सकते हैं—

छायानाटक

पुत्तलिका नाटक

मूकाभिनय नाटक

गीतिनाट्य नाटक

नृत्यनाट्य नाटक

श्रव्यनाटक (रेडियो प्ले)

दृश्य-श्रव्य नाटक

४—प्रभावके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

शृंगारात्मक

वीरतापूर्ण

त्रासजनक

हास्यजनक

कुतूहलोत्पादक

विनोदात्मक

उपदेशात्मक

करुण

घृणोत्पादक

क्रोधजनक या भावोत्तेजक (किसी व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, देश, वस्तु, जीव, क्रिया आदिके विरुद्ध)

वैराग्यजनक

५—रचनाके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

एकांकी
अनेकांकी
एक दृश्यात्मक
एक दृश्यान्तर्गत बहुदृश्यपीठात्मक तथा बहु-व्यापारात्मक जैसे अभिनवभरतका 'देवता'
आलंकारिक तथा लाक्षणिक भाषायुक्त पठनीय नाटक

६—उद्देश्यके अनुसार ये भेद हो सकते हैं—

समाजसुधार
किसीकी निन्दा या स्तुति
किसी विशेष सिद्धान्त या लक्ष्यका प्रतिपादन

७—सामाजिक या दर्शकके अनुसार निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं—

बालकोंके योग्य नाटक
स्त्रियोंके योग्य
सैनिकोंके योग्य
किसी विशेष वर्गके योग्य

८—पात्रके अनुसार

देवता या अलौकिक पात्र वाले
उच्चकोटिके पात्र वाले
निम्न वर्गके पात्र वाले
मध्य वर्गके पात्र वाले
निकृष्ट श्रेणीके पात्र वाले

वर्त्तमान वर्गीकरण

इतने सब भेद होते हुए हम सामान्यतः विश्वभरके नाटकोंको निम्नलिखित ६ वर्गोंमें बाँट सकते हैं—

१ कथाप्रधान—जिसमें मुख्यतः किसी प्रसिद्ध कथाको उपस्थित करना ही नाटककारका लक्ष्य हो।

२ चरित्र प्रधान—जिसमें किसी विशिष्ट नायक या नायिकाके गुणोंका विकास प्रदर्शित करना इष्ट हो अथवा किसीकी निन्दा करके उसके अवगुणोंका भंडाफोड़ करना उद्देश्य हो।

३ व्यापार-प्रधान—जिसमें घटनाओं और क्रियाओंका अधिक समावेश हो, संवाद कम हो और क्रियाओंके परिणामस्वरूप कोई विशेष स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल प्राप्त हो। इस प्रकारके मौलिक नाटक सर्वश्रेष्ठ होते होते हैं और वास्तविक नाटकीयता तथा नाट्यकौशल इसी प्रकारकी रचनाओंमें प्रकट होता है।

४ संगीत-प्रधान—जिसमें गीत, वाद्य, नृत्य आदिके द्वारा ही नाट्य-व्यापार प्रदर्शित किया जाय।

५ उद्देश्यप्रधान—जिसमें किसी विशेष उद्देश्यका प्रतिपादन किया जाय।

६ संवाद-प्रधान—जिसमे अधिकांश नाटकीय व्यापार संवाद-द्वारा सिद्ध हो और भाषा-शैलीपर अधिक ध्यान दिया गया हो।

नाटकीय भेद, वृत्ति तथा भेदोपभेदोंके संबंधमें इतना विवेचन पर्याप्त होगा। अगले अध्यायमें हम नाट्यग्रथनकी मीमांसा करके यह समझावेंगे कि सब तत्त्वोंका उचित सन्निवेश करके किस क्रम तथा अनुपातसे नाटककी रचना करनी चाहिए।

॥ इत्यभिनवभरतश्रीसीताराममिश्रविरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचना-खंडे नाट्यवृत्ति-प्रकरण नाम षोडशोध्यायः ॥

नाट्यग्रथन

पिछले अध्यायमें हमने विस्तारसे नाटकके सब तत्त्वोंका विस्तारसे विवेचन करते हुए यह भी समझा दिया है कि नाटकमें किस प्रकार इन तत्त्वोंका प्रयोग करना चाहिए। इसीके साथ हम यह भी समझा आए हैं कि नाटकमें प्रत्येक तत्त्वका समुचित प्रयोग करते समय हमें किन किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए। इस अध्यायमें हम व्याव-हारिक और प्रायोगिक दृष्टिसे यह विवेचन करेंगे कि नाटक-कारको नाटककी रचना करते समय किन किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए और किस क्रमसे उसे नाटककी रचना करनी चाहिए।

संविधानक की रचना

संविधानक या कथावस्तु किसे कहते हैं और उसकी रचना किस प्रकार करनी चाहिए इसका विवरण विस्तारसे कथावस्तु प्रकरणमें दिया जा चुका है। यहाँ केवल यही बताना अभीष्ट है कि नाटककी रचना करनेसे पूर्व संविधान-की रचना स्पष्ट रूपसे कर लेनी चाहिए जिससे यह ज्ञात हो जाय कि आप नाटकमें इष्ट उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अथवा नाटकमें वर्णित किसी पात्रके चरित्र-निर्वाहके लिये अथवा परिणामको प्रभावशाली बनानेके लिये व्यापार-योजना

अधिक उलझानेके लिये नाटककी कथाको किस रूपमें उपस्थित करना चाहते हैं। यह कार्य ऐतिहासिक नाटकके लिये दुहरा हो जाता है क्योंकि उसमें एक तो मूल ऐतिहासिक कथा रहती है और दूसरी संविधानककी कथा उस परिवर्त्तित रूपमें रची जाती है जिस रूपमें नाटककार उसे प्रस्तुत करना चाहता है। कभी कभी एक ही कथा कई पुराणोंमें कई प्रकारसे मिलती है। ऐसी अवस्थामें नाटककारके लिये यह सुविधा भी होती है और कठिनाई भी कि इनमेंसे कोई या कौनसी कथा वह ग्रहण करे। ऐसे अवसरपर उचित यही है कि नाटककार उन कथाओंमेंसे निर्द्वन्द्व होकर ऐसी सब घटनाएँ ले ले जो उसके नाटकके परिणामके लिये या नाटकको प्रभावशाली बनानेके लिये आवश्यक हों।

जहाँतक मौलिक नाटकोंके संविधानककी बात है उनमें नाटककारको इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि कथाका कोई व्यापार असंगत और असंभाव्य न हो। प्रत्येक घटना ऐसी हो जो नाटकीय कथाके देश, काल और पात्रोंकी मर्यादाके पूर्णतः अनुकूल हो। यदि उसमें कुछ अलौकिक तत्त्व जैसे भूत, प्रेत आदि लाने भी हों तो उन्हें इस प्रकार लाना चाहिए जिससे वे देश-काल-पात्रकी भावनासे भिन्न न प्रतीत हों।

नाटकका नामकरण

ॐ संविधानान्तरन्नामकरणम्।'

[संविधान रच लेनेपर ही नामकरण है ठीक।]

चाहे नाटकका नाम पहले रखकर या सोचकर संविधानककी रचना की जाय अथवा संविधानककी रचना कर लेनेके पश्चात् नामकरण किया जाय, दोनों दशाओंमें कोई अन्तर नहीं आ जाता किन्तु अच्छा यही है कि पहले संविधानककी रचना करके पीछे नामकरण किया जाय क्योंकि यह बहुत संभव है कि संविधानककी रचना करते समय न जाने उसमें कौनसे ऐसे व्यापार आ जायँ जिनके कारण नामकरणमें सुविधा हो जाय, क्योंकि प्रायः ऐतिहासिक नाटकमें पात्र ही प्रधान होता है किन्तु नाटककी प्रकृति उस पात्रके नामसे उतनी स्पष्ट नहीं होती जितनी किसी विशिष्ट घटनासे जैसे उरुभंग नाटकका नाम भीम या भीमसेन भी हो सकता था, पर उसका उचित नामकरण 'उरुभंग' ही है। महाकवि कालिदासने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का नामकरण अँगूठीके कारण ही रक्खा क्योंकि सम्पूर्ण घटना प्रवाहका आधार वही अँगूठीरूपी अभिज्ञान है। कभी कभी सनकमें आकर नाटककारोंने निरर्थक नाम भी रख लिए हैं जैसे शेक्सपियरने अपने एक नाटकका नाम रक्खा 'ऐज़ यू लाइक इट' (जो तुम चाहो)।

नाटकके नामकरणके सिद्धान्त

ॐ नायक-व्यापारोभय-जात्युद्देश्य-वस्तु-स्थान-परकानि नाट्यभावव्यंजकानि नामानि स्युः।

[नायक या व्यापार, कहीं दोनोंपर या हो जाति परक। उद्देश्य, वस्तुका स्थलबोधक हो नाट्यभावव्यञ्जक ही नाम।]

अतः नाटकका नाम रखते हुए इतनी बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

(१) नायक-प्रधान या पात्र-प्रधान नाटकका नाम उस नायक या पात्रपर ही होना चाहिए। जैसे अभिनव-भरतका सेनापति पुष्यमित्र या गेटेका डा० फ़ाउस्ट। यदि नायक-नायिका दोनों प्रधान हों तो दोनोंके सम्मिलित नामसे भी नाटकका नामकरण हो सकता है जैसे विक्रमोर्वशीयम्, मालविकाग्निमित्र, एण्टनी ऐण्ड क्लिओपैट्रा, कृष्ण-सुदामा।

२—व्यापार-प्रधान नाटकमें मुख्य घटना या व्यापारपर नामकरण करना चाहिए जैसे वेणीसंहार, उरुभंग, सुभद्रा-हरण, क्रौंचवध, मार मारकर हकीम (ठोक पीटकर वैद्यराज या फ़िज़ीशियन इन स्पाइट ऑफ़ हिमसैल्फ़) या मध्यम व्यायोग। प्रहसन या व्यंग्यात्मक नाटक (सैटायर) में व्यापार या घटनाके अनुसार ही नामकरण होना चाहिए जैसे मत्तविलास-प्रहसन, धूमके घर धूम, मच एडू अबाउट नथिंग, मिडसमर नाइट्स ड्रीम। किन्तु ऐसे नाम न हों जैसे भवभूतिका महावीरचरित जिसमें सारी रामलीला आ जाय।

३—जिन नाटकोंमें पात्र और घटना दोनों प्रधान हों उनका नामकरण पात्र और घटना दोनोंके अनुसार होना चाहिए जैसे—अभिज्ञानशाकुन्तल या स्वप्नवासवदत्ता।

४—यदि नाटकमें किसी जाति-विशेषकी वृत्ति दिखाई गई हो तो उस जातिके संकेतसे नामकरण करना चाहिए, जैसे नाईकी कन्दन, कायस्थ-कौशल, मर्चेंट ऑफ़ वेनिस।

५—उद्देश्य-प्रधान नाटकोंमें उद्देश्य या परिणामके अनुसार नामकरण करना चाहिए जैसे विश्वास, कन्या-विक्रय, मंगल प्रभात, दीनके आँसू, प्रायश्चित्त, बलिदान, परित्याग, आत्मोत्सर्ग सत्यकी विजय।

६—कभी कभी कुछ वस्तुएँ या स्थान ही नाटकीय घटनाओं या पात्रकी क्रियाओंके आधार होते हैं। ऐसी दशामें उन वस्तुओं या स्थानोंके अनुसार भी नाम हो सकते हैं—जैसे हीरेका हार, हाथीदाँतका डब्बा, भोजन-पेटिका, रूमाल। किन्तु ऐसी वस्तुका नाम न हो जिसका नाटकमें कम महत्त्व हो जैसे मृच्छकटिक। ऐसी दशामें ही यथासंभव स्थानका नाम नाटकके नामकरणके लिये ग्रहण करना चाहिए जब उसके बिना काम न चले अन्यथा नामसे नाटकका रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रायः बड़े बड़े नगरों या स्थानोंमें अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो चुकी हैं इसलिये उन नगरों या स्थानोंके अनुसार नामकरणमें यह समझनेमें कठिनाई हो जाती है कि नाटककार उस नगर या स्थानकी किस घटनाको आधार बना रहा है। किन्तु यदि कोई ऐसा स्थान हो जो किसी एक ही विशिष्ट घटनाके लिये प्रसिद्ध हो तब उस स्थानके नामपर नाटकका नामकरण उचित होगा जैसे कुरुक्षेत्र, वारणावत, पंचवटी, नन्दिग्राम या चित्रकूट। यह स्मरण रखना चाहिए कि हम अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन आदि नाम नहीं रख सकते क्यों कि इन नामोंसे यह भले ही व्यक्त हो जाय कि इसमें रामकी या कृष्णकी कथा होगी किन्तु कौनसी कथा होगी यह व्यक्त नहीं होगा। इसलिये ऐसे भ्रामक नाम नहीं रखने चाहिए।

७—प्रतीकात्मक नाटक यद्यपि नाटकीय दृष्टिसे अत्यन्त गर्हित और हेय होते हैं किन्तु यदि कोई लिखना ही चाहे तो उसके नामसे उसके विषयकी ध्वनि स्पष्ट होनी चाहिए जैसे प्रबोधचन्द्रोदय।

इसका तात्पर्य यह है कि नाटकका नामकरण इस प्रकार करना चाहिए कि दर्शक या सामाजिकको नाटकका नाम सुनते ही उसके विषयका ऐसा आभास मिल जाय कि उसे देखनेकी उसकी उत्कंठा जाग पड़े। ऐतिहासिक नामकरण करना चाहिए और यथासंभव इन नामोंको इतना आकर्षक बना देना चाहिए कि दर्शक उसे देखनेके लिये आतुर और आकुल हो उठें जैसे

अंगदका पैर, हल्दीघाटी, विश्वास, बाबूजीका बिल, दिवाला, प्यारके आँसू, निरन्तरघात, प्रतिहिंसा, अत्याचार, गर्भिणीका शाप, आगकी चिनगारी, हृदय-मन्थन, जीवित समाधि, स्वर्गमें नरक, नरककी आग, उजड़ा हुआ स्वर्ग, नयनोंकी प्यास आदि।

खंडित वाक्योंमें या पूर्ण वाक्योंमें नामकरण भी प्रशस्त निकला है। यह भी अत्यन्त मनोहर है जैसे—

आओ प्रियतम, मैं तुम्हारा हूँ, इधर न देखोगी, बादल बरसेंगे, घटा छा गई, ऊषा कब उदय होगी, चलो दिल्ली, देश हमारा है, दुर्ग टूट रहा है, बोलो सभी बोलो, बिजली चमक गई, जब तारे भी रोए थे, यह आपका पत्र है, मैं आ गया स्वामी, वह सुनो हाहाकार, हृदयपर तांडव करो, धरती काँप उठी।

स्नेहावेश, भय, अद्भुत, रौद्र तथा रोमांचकारी घटनाओंसे भरे नाटकोंके लिये ऐसे नाम अधिक उपयुक्त होते हैं।

पात्रोंका नामकरण

❀ प्रायेण स्वभावबोधकानि कल्पितपात्र-नामानि स्युः।

[हों स्वभाव-बोधक ही प्रायः सब कल्पित पात्रोंके नाम।]

जहाँतक ऐतिहासिक नाटकोंमें पात्रोंका नामकरण है, इस संबंधमें भरतने अपने नाट्यशास्त्रमें कहा है—

तल्लिङ्गस्थानि नामानि कार्याणि कविभिर्द्विजाः ॥
औत्पत्तिकानि यानि स्युर्न प्रख्यातानि नाटके।
ब्राह्मणस्य नामानि गोत्रकर्मानुरूपतः ॥
काव्ये कार्याणि कविभिः शर्मवर्मकृतानि च।
दत्तप्रायाणि नामानि वणिजान्तु प्रयोजयेत् ॥
शौर्योदात्तानि नामानि तथा शूद्रेषु योजयेत्।
विजयार्थानि नामानि राज्ञां स्त्रीणाञ्च कारयेत् ॥

यस्मान्नामानुसदृशं कर्म तेषां भविष्यति
जातिचेष्टानुरूपाणि शेषाणामपि कारयेत् ॥
नामानि पुरुषाणां तु स्त्रीणां चोक्तानि तत्त्वतः ।
एवं नामाभिधाने तु कर्त्तव्यं कविभिस्तथ ॥
[अध्याय १९, श्लो० २९-३६]

[जो जिसका लिंगस्थ (पुकारनेका) नाम हो वही नाम नाटकमें रखना चाहिए, उसकी उत्पत्तिका बोधक नाम (जैसे रामका दाशरथि या अर्जुनका कौन्तेय) नहीं रखना चाहिए (इसलिये इसमें बड़ा भ्रम हो सकता है क्योंकि दाशरथि तो राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों थे और कौन्तेय भी युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण चारों थे), ब्राह्मण और क्षत्रियोंके नाम शर्मा (ब्राह्मणके नामके साथ) और वर्मा (क्षत्रियोंके नामके साथ) गोत्र और कर्मके अनुरूप रखना चाहिए। वैश्योंके नामके साथ दत्त लगाना चाहिए (जैसे धनदत्त), राजाओं और रानियोंके नाम विजयवाची रखने चाहिए (जैसे जयसिंह, विजया), वेश्याओंके नाम दत्ता, मित्रा या सेना लगाकर रखना चाहिए (जैसे सुदत्ता, चारुमित्रा, वसन्तसेना), दूतियोंके नाम फूलों पर रखने चाहिए (जैसे मालती, माधवी मंजरी), चेटोंके नाम मंगलार्थक हों (जैसे शुभघर), श्रेष्ठ लोगोंके नाम गंभीर अर्थवाले हों जैसे (ज्योतिर्धन), शेष लोगोंके नाम उनके व्यवसाय, उनकी जाति और उनके आचरणके अनुसार रखने चाहिए। इस प्रकार पुरुषों और स्त्रियोंके नाम रखने की बात बता दी गई है, उसके अनुसार कवियोंको नाम रखने चाहिएँ।]

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकोंके लिये अधिकांश नाम तो पुराण और इतिहाससे मिल ही जाते हैं, शेष नामोंका प्रयोग उन देशोंकी नाम-प्रकृतिके अनुसार ही करना चाहिए। किन्तु इन नाटकीय नामोंके भी कुछ सिद्धान्त हैं—

१—प्रायः उदात्त चरित्रवाले नायकोंके नाम भी उदात्त अर्थवाले हों जैसे राणा प्रताप, रामचन्द्र, विक्रमसिंह आदि। ऐसे पात्रोंके लिये छोटूराम, नकछेद सिंह आदि नाम नहीं रखने चाहिए।

२—प्रहसनोंके लिये प्रायः हास्यजनक नाम रखने चाहिए जैसे मंकण चिपरू, घसीटा, छज्जू, बुद्धू, लपेट, पलटू, तीनकौड़ी, गोबरा।

३—क्रूर तथा दुष्ट चरित्रवाले पात्रोंके नाम क्रूरता या दुष्टताके द्योतक ही होने चाहिएँ जैसे, दुर्योधन, दुर्जन सिंह, गर्जन सिंह, रुलाघन, पहाड़ सिंह, भयावन देव, विकरालजंग, भालामार ठाकुर, डरावन भीम, नंगीराम, शार्ङ्गरव, दुःशासन,

४—कुछ दुष्ट पात्रोंके नाम अच्छे भी रक्खे जा सकते हैं यदि नाटककार व्यंग्यके लिये उसका प्रयोग करना चाहे जैसे किसी कपटीका नाम *निर्मलप्रसाद* रक्खा जाय और फिर किसी दूसरे पात्रके द्वारा यह कहलाया जाय—'इसका नाम निर्मल प्रसाद नहीं मलप्रसाद होना चाहिए था।

५—साधारण पात्रोंके नामके सम्बन्धमें कोई नियम नहीं बनाया जा सकता किन्तु इस बातका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यथासंभव पात्रके गुण या अवगुणकी व्यंजना नाममें अवश्य आ जाय जैसे कालिदासने शकुन्तलाकी दोनों सखियोंके नाम अनसूया और प्रियंवदा अत्यन्त सार्थक प्रयोजनके साथ रक्खे हैं और इनका यथानाम निर्वाह भी किया है। स्त्रियोंके नामकरणके संबन्धमें भी ये ही नियम व्याप्त समझने चाहिए। नीचे हम भारतके देशभेदके अनुसार नाम दे देते हैं। अन्य देशोंके नाम इतने विभिन्न प्रकारके हैं कि नाटककारको स्वयं उन्हें जानकर यथास्थान उनका प्रयोग करना चाहिए।

पंचनद

पुरुष	स्त्री
ग्यानीसिंह	करतार कौर
करतारसिंह	जानकी
भगतराम	मोहिनी
रूढ़ामल	पुष्पा
छोटूराम	मालती
बख्तावरसिंह	दुलारी
मोहनसिंह	शकुन्तला
गुरुदित्तामल	कमला
पिंडीलाल	निर्मला
मेलाराम	सुरजीत कौर

मध्यप्रदेश, राजपूताना उत्तरप्रदेश और बिहार

गेंदालाल	रामकटोरी
छम्मनलाल	गुलाबो
रामस्वरूप	चम्पा

श्रीराम	चमेली
सीताराम	गोविन्दी
लक्ष्मीनारायण	सीता
जगदीशप्रसाद	कमला
हरिहरस्वरूप	निर्मला
जगदीशस्वरूप	शान्ति
भवानीप्रसाद	दुर्गा
जवाहरलाल	कला
शिवशंकर	सुशीला
तुलाराम	सुमित्रा
मंगलसिंह	गंगा
नारायणप्रसाद	यमुना
दीनदयालु	सरस्वती
जीवनलाल	राधा
बनवारीलाल	कृष्णा
उमेश प्रसाद	चन्द्रलेखा
शंकरप्रसाद	इन्द्राणी
देवीदीन	भगवती
भगवतीदीन	श्यामा
सोमारू	सुधा
मंगरू	रामेश्वरी
बुद्धू	बागेश्वरी
द्वारिकाप्रसाद	शारदा
मथुराप्रसाद	वीणा
अयोध्याप्रसाद	शोभा
हरिद्वार राय	माधुरी
विन्ध्यवासिनीप्रसाद	उषा
गयाप्रसाद	भागीरथी
गंगाप्रसाद	वनमाला
रामचन्द्र	यशोधरा
कन्हैयालाल	लक्ष्मी
ललिताप्रसाद	उमा
चन्द्रिकाप्रसाद	रमा
रामखेलावनसिंह	जयदेवी
शिवप्रसाद नारायणसिंह	दुलारो
हरिनारायण राय	चण्डी
विक्रमप्रतापसिंह	दुलारी
करोड़ीमल	सलोनी
हजारीमल	सुखदेई

बंगाल

भुजंगभूषण भट्टाचार्य	निर्मला
तीनकौड़ी मुकर्जी	विमला
निर्मलानन्द मुखोपाध्याय	अमला
सत्यांशुमोहन बनर्जी	कमला
नीरदमोहन वन्द्योपाध्याय	सरोजिनी
विमलानन्दन गुहा	नलिनी
सन्तोषकुमार मित्र	गौरी
प्रफुल्ललोचन गांगुली	सुनयना
सुधीरकुमार बसु	चारुमित्रा
दीनबन्धु चटर्जी	मालिनी
सत्येन्द्रमोहनराय	दीपाली

गुजरात

पोपटलाल	प्रमिला
कन्हैयालाल	कंचन
माणिकलाल	वीरा
मफतलाल	कुसुमती
डाह्या भाई	नन्दिनी
नाना भाई	नर्मदा
कान्तिलाल	रेवती
जेठालाल	कुन्तला
मगनलाल	वीणा
रणसी	लक्ष्मी
नरसी	रेवा
चौकसी	नीरा
ठाकरसी	इन्दुमती
चापसी	उषा
गगल भाई	कान्ति

महाराष्ट्र

बलवन्त	कुसुम
गंगाधर	सुमन
विष्णुराव	कामिनी
सदाशिव	मालिनी
पांडुरंग	मंजुला

बालाजी	मन्दाकिनी
नरहरि	विनया
गोविन्द	वत्सला
नारायण	तारा
भालेराव	पद्मा
विनायक	पद्मिनी

द्रविड़ प्रदेश

महालिंगम्	तुंगम्मा
एकलिंगम्	अम्माकुट्टी
विश्वनाथम्	जानकी
नागप्पा	मुट्टुलक्ष्मी
मानप्पा	मीनाक्षी
शिवसुन्दरम्	विशालाक्षी
शंकरराजुलु	मंजुनाक्षी
राधाकृष्णन्	तारा
शेषय्या	सायमहालक्ष्मी
अनन्तशयनम्	लीला
शिवशांबमूर्त्ति	सुन्दरम्मा
भद्रशयनम्	शारदा
कृष्णाचलमूर्ति	सुगन्धादेवी
राममूर्त्ति	अश्वकी
वासुदेवन्	राजलक्ष्मी
रंगाचारी	चेल्लम

सिन्ध

चूहड़मल	हीराँ
होतराम	मीराँ
चोइथराम	देवी
मंघाराम	सती
मूलचन्द	नानकी

मुसल्मानी नाम

अख़्तर हुसैन	शीरीं
मुहम्मद अली	रशीदा
हाफ़िज़ इब्राहीम	महमूदा
हाजी उमर	शरीफ़ा
सफ़दर जंग	सुल्ताना
इनायत अली	रज़िया
महमूद बख़्श	नूरजहाँ
नूरुद्दीन	मुमताज बेगम
शहाबुद्दीन	करीमा
अकबर अली	महमूदा
ग़ज़नफ़र अली	सलीमा
सय्यद हुसैन	ज़ोहरा
सुल्तान अहमद	गुलबदन

इन नामोंके साथ जाति, वर्ण, देश, ग्राम आदिके बोधक अल्ल भी जोड़ लिए जा सकते हैं जैसे शर्मा, वर्मा, गुप्त, रावल, रावत, गाडगिल, करकरे, भट्टाचार्य, राम, राय, नायक, नैयर, मुदालियर, आयंगर, पिल्ले, चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी, मिश्र सहानी, मलकानी आदि। यह सूची न तो पूर्ण है न यह व्यापक है। प्रायः स्त्रियोंके नाम देश भरमें एकसे ही हैं, केवल पुरुषोंके नाममें अधिक अन्तर पड़ता है।

पात्र-परिचय

संविधानक बना लेनेके पश्चात् नाटककारका यह कर्त्तव्य है कि वह तत्काल यह निश्चय कर ले कि अपने संविधानकका निर्वाह करनेके लिये उसे कितने और किस प्रकारके पात्रोंकी आवश्यकता है। उसके अनुसार उसे पात्र छाँटकर उनका नामकरण कर लेना चाहिए और उन पात्रोंका परस्पर सम्बन्ध तथा उनकी अवस्था स्थिर कर देनी चाहिए अथवा उनका विवरण स्पष्ट कर देना चाहिए जैसे —

मथुराप्रसाद—एक महाजन (अवस्था ४५ वर्ष)
देवीप्रसाद—मथुराप्रसादका ज्येष्ठ पुत्र (अवस्था २२ वर्ष)
भगवानप्रसाद—मथुराप्रसादका द्वितीय पुत्र (अवस्था १८ वर्ष)
मज्जू—मथुराप्रसादका नौकर (अवस्था ५२ वर्ष)
गिरधारीलाल—वकील (अवस्था ४० वर्ष)
मोहिनी—मथुराप्रसादकी कन्या (अवस्था १६ वर्ष)
जाह्नवी—मोहिनीकी माता (अवस्था ४२ वर्ष)
सरला—मोहिनीकी सखी (अवस्था १८ वर्ष)
दुलारो—नौकरानी (अवस्था ६० वर्ष)

यह हम पहले ही कह आए हैं कि पात्र यथासंभव कम होने चाहिएँ। कुशल नाटककारकी पहचान यही है कि वह कमसे कम पात्रोंसे नाटकका निर्वाह करे। इसमें

नाटककारको भी अपने पात्रोंका उचित चित्रणका अवकाश रहता है और दर्शकोंको भी चरित्र समझनेमें और कथा-प्रवाहके साथ चलनेमें सुविधा रहती है। ऐतिहासिक नाटक लिखनेवालेको यह प्रलोभन रहता है कि अधिक पात्र भर दे, किन्तु यह उचित नहीं है। अधिक पात्र देनेसे कथा अस्पष्ट हो जाती है और पात्रोंके चरित्र भी।

अंक तथा दृश्य-विभाजन

ॐ मुख्यकार्यानुसारेणाङ्कः सहायक-कार्यानुसारेण दृश्यविभाजनं कार्यम्।

[मुख्य कार्य-अनुसार अंक हो और सहायकपरक दृश्य हो।]

संविधानकका निर्माण करके पात्रोंका चयन कर चुकने तथा नामकरणके पश्चात् उसे पहले अपने संविधानकको अंकोंमें विभाजित कर लेना चाहिए। मान लीजिए रामके विवाहको कथापर नाटक लिखना है तो नाटककारको यह देखना चाहिए कि इसमें मुख्य कार्य कितने हैं। इसकी परीक्षा सरलतासे करके वह समझ लेगा कि इसमें मुख्यतः चार कार्य हैं—

१—विश्वामित्रका दशरथके पास आना और यज्ञकी रक्षाके निमित्त राम और लक्ष्मणको माँगकर ले जाना।

२—विश्वामित्रके आश्रममें ही जनकपुरके धनुषयज्ञका निमन्त्रण मिलना और प्रस्थान।

३—जनकपुरकी फुलवारीमें राम और सीताका साक्षात्कार।

४—धनुषयज्ञमें धनुष तोड़नेपर रामके गलेमें सीताजी-का जयमाल डालना।

अतः रामविवाह नाटकमें चार अंक होंगे।

अंकका विभाजन कर चुकनेपर नाटककारको यह देखना चाहिए कि प्रत्येक अंकमें कार्यको पूर्ण करनेवाली कौन कौनसी घटनाएँ हैं। ऐसी प्रमुख घटनाएँ नाटककी दृष्टिसे तीन प्रकारकी होती हैं—संवाद, दिखाई जानेवाली (द्रष्टव्य), और सूचित की जानेवाली (सूच्य)। अर्थात् नाटक-कारको यह निश्चय कर लेना चाहिए कि एक अंकमें पूर्ण होनेवाले कार्यकी घटनाओंमेंसे कितनीको संवाद या अभिनय रूपमें रंगमंचपर दिखाना है, कितनी ऐसी हैं जिनकी केवल सूचना दिलानी है। जितनी घटनाएँ रंगमंचपर दिखानी हों वे जितने स्थलोंपर या जितने विभिन्न कालोंमें हुई हों उतने ही दृश्य एक अंकमें बना लेने चाहिए। यदि एक अंकका कार्य कुछ कुटियामें, कुछ नदीके तटपर, कुछ वनमें, कुछ यज्ञशालामें हुआ है तो उस अंकके चार दृश्य हुए—

१—कुटिया

२—नदीतट

३—वन

४ यज्ञशाला।

यदि दो घटनाएँ विभिन्न कालमें एक ही स्थानपर हुई हों तो भी दो दृश्य होने चाहिएँ और इन दोनों दृश्योंके बीच एक दृश्य प्रस्तुत कर देना चाहिए जिससे दोनों घटनाओंके बीचके समयका व्यवधान स्पष्ट हो जाय जैसे एक अंककी दो घटनाएँ कुटियामें, एक वनमें और एक नदीतटपर हुई है तो नाटककारको चाहिए कि कुटियाके दो दृश्योंके बीच वह किसी दूसरे दृश्यकी अवतारणा करके ऐसी कल्पित घटना प्रस्तुत करे जो मूल कथाके साथ संगत जान पड़े। अनेक नाटककार इसीलिये असफल हुए हैं कि उन्होंने अपने नाटकमें दृश्यका क्रम ठीक नहीं रक्खा।'

रामविवाहकी कथाका अंकविभाजन लेकर हम दृश्य-विभाजनकी समस्याका समाधान करते किन्तु इससे पूर्व यह भी समझा देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि यदि एक अंकका कार्य एक ही स्थानमें निर्बाध रूपसे होता हो तो एक ही दृश्यका एक अंक हो सकता है। हमारे यहाँ संस्कृतके नाटककारोंने एक अंकमें एक ही स्थानपर होनेवाले कार्यके लिये एक ही दृश्यका बहुधा प्रयोग किया है। एक अंकमें अनेक दृश्य रखनेकी प्रणाली योरोपसे यहाँ आई है और इसीलिये वर्त्तमान भारतीय नाटककार उसीका अनुवर्त्तन कर रहे हैं किन्तु यह न तो आवश्यक ही है न श्लाघ्य ही। यदि वास्तवमें एक अंकके लिये एक दृश्यसे काम न चलता हो तभी अनेक दृश्योंका प्रयोग करना चाहिए अन्यथा नहीं। दूसरा ध्यान यह रखना चाहिए कि रंगमंचकी सुविधाका ध्यान रखते हुए एक दृश्य ऐसा आगेका दिखाना चाहिए जिसमें रंगपीठपर सजावट या हटाई जानेवाली सामग्री न हो और दूसरा दृश्य गहरा हो, जिसमें कुटिया, चौकी, आसन, पीढ़ा आदि ऐसी सामग्री लगाई जा सके। आगे दिखाए जा सकनेवाले तो दो दृश्य एक साथ लाए जा सकते हैं क्योंकि

उसमें कोई झंझट नहीं होती किन्तु दो गहरे दृश्य अर्थात् सजावटवाले दृश्य कभी एक साथ नहीं लाने चाहिए। यद्यपि चक्रिल रंगमंचपर यह सुविधा होती है कि वहाँ तीन तीन गहरे दृश्य एक साथ लगातार दिखाए जा सकते हैं किन्तु सब नाट्यमंडलियोंके पास तो चक्रिल रंगमंच होते नहीं, इसलिये नाटककारको इस दृष्टिसे नाटक लिखने चाहिए जो सबके लिये ग्राह्य और सुलभ हो। तीसरी ध्यान देनेकी बात यह है कि लगातार दो या कई गंभीर, उत्तेजनात्मक आवेशात्मक दृश्य एक साथ नहीं दिखाने चाहिएँ। इससे दर्शक या तो ऊब जाते हैं या उनके मानसिक भावोंमें इतना तनाव उत्पन्न हो जाता है कि उनके मस्तिष्क और हृदयपर उसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये अच्छा यही है कि यदि एक दृश्य हमारे भावोंको अत्यन्त तान देनेवाला हो तो दूसरा इतना हल्का, विनोदात्मक अथवा मनोरंजक हो कि भावोंका तनाव शिथिल होता रहे।

इस प्रकार दृश्य-विभाजन करके प्रत्येक दृश्यमें होनेवाले या दिखाई जानेवाले तथा सूचित किए जानेवाले व्यापारों या बातोंको क्रमसे लिख लेना चाहिए और यह भी अंकित कर लेना चाहिए कि किस क्रमसे किस प्रयोजनसे कौनसा पात्र कब प्रवेश करता है और कब चला जाता है, कहाँ किस पात्रसे गीत गवाना है, कहाँ नृत्य कराना है, कहाँ किस प्रकारका वाद्य बजवाना है।

उपर्युक्त दृष्टिसे राम-विवाह नाटकके चार अंकोंमेंसे दोका दृश्य-विभाजन इस प्रकार होगा—

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य—विश्वामित्रका आश्रम, ऋषि लोग उदास बैठे हैं। विश्वामित्रका प्रवेश। यज्ञ न होनेका कारण पूछनेपर कई ऋषि विश्वामित्रको सूचना देते हैं कि सुबाहु, मारीच और ताड़का यहाँ आकर उपद्रव करते हैं। विचारविमर्श। एक ऋषिका प्रस्ताव कि दशरथसे कहा जाय। विश्वामित्र कहते हैं कि राम लक्ष्मणको ही क्यों न लाया जाय। विश्वामित्र चल देते हैं।

द्वितीय दृश्य—अयोध्याके द्वारपर कुछ नगरवासी रामको चौदहवीं वर्षगाँठ मना रहे हैं। केकय देशके एक सज्जनसे लोग हँसी कर रहे हैं। विश्वामित्रके आगमनकी चर्चा होती है। सब उसके विचित्र-विचित्र हास्यजनक, गंभीर तथा विचित्र अर्थ लगाते हैं। (यह कल्पित दृश्य है)।

तृतीय दृश्य दशरथकी राजसभा। दशरथ, राम, लक्ष्मण, वशिष्ठ तथा सभासद बैठे हैं। संगीत हो रहा है। एक प्रतीहारी आकर विश्वामित्रके आगमनकी सूचना देता है। राजा दशरथ, वशिष्ठ, राम, लक्ष्मण सब उठकर द्वारतक जाकर विश्वामित्रकी अगवानी करते हैं। प्रणाम, नमस्कार, कुशल मंगलके पश्चात् विश्वामित्र अपना उद्देश्य कहते हैं। दशरथ थोड़ा झिझकते हैं और सेना देनेका आग्रह करते हैं। विश्वामित्र रोष दिखाते हैं और चलनेको तैयार होते हैं। वशिष्ठ बीचमें पड़कर विश्वामित्रको शान्त करके दशरथको समझाते हैं। विश्वामित्रके साथ राम-लक्ष्मण चले जाते हैं।

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य—यज्ञशालामें यज्ञ, बाहर नेपथ्यमें कोलाहल। ऋषि मुनि इधर-उधर भागते हैं। राम धनुष-बाण लेते हैं, स्त्री ताड़काको देखकर संकुचित होते हैं किन्तु विश्वामित्रके आदेशसे राम बाण छोड़ते निकल जाते हैं। ताड़का-सुबाहु नेपथ्यमें हाहाकार करके मारे जाते हैं।

दूसरा दृश्य—सब ऋषि-मुनि राम-लक्ष्मणको प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं और विश्वामित्र उन्हें बला और अतिबला विद्या प्रदान करते हैं।

तीसरा दृश्य—रामको अयोध्या भेजनेकी सब व्यवस्था हो रही है। सब ऋषि लोग कन्द, मूल, फल, ला-लाकर रामको दे रहे हैं। इतनेमें जनकपुरका दूत आकर धनुषयज्ञका निमन्त्रण देता है। अयोध्याके बदले विश्वामित्र उन्हें साथ लेकर जनकपुर चल देते हैं।

इसी प्रकार अन्य दो अंकोंका भी दृश्य-विभाजन कर लेना चाहिए।

कुछ नाटक ऐसे भी हैं जिनमें एक ही स्थान अर्थात् एक दृश्य या दृश्यपीठपर ही नाटकके सभी मुख्य कार्य दिखलाए जाते हैं जैसे अभिनवभरतका 'देवता' और 'विश्वास' नाटक। ऐसे स्थलोंपर नाटकमें मुख्य कार्योंके अनुसार अंक तो भिन्न हो सकते हैं किन्तु दृश्य-भेदकी आवश्यकता नहीं है। कहीं कहीं कुछ नाटककार एकही अंकमें प्रकाश-भेदके द्वारा दृश्य-भेद या सहायक कार्य-भेद दिखानेकी योजना करते हैं। यह भी बहुत बुरा तो नहीं है किन्तु इससे कार्य-

भिन्नताकी उतनी व्यंजना नहीं हो पाती जितना अंक समाप्त करके दूसरा अंक नियमित रूपसे नया प्रारंभ करने अथवा दृश्य बदलनेसे। इसीलिये संस्कृत नाटककारोंने अत्यन्त चतुरताके साथ अंकावतारकी सृष्टिकी थी जिसमें एक अंकके ही पात्र दूसरे अंकमें आते हैं किन्तु पिछला कार्य पूर्ण होनेके कारण वह अंक समाप्त करके कार्यभेदके कारण दूसरेमें सब पात्रोंको प्रस्तुत करते हैं।

कथावस्तु-प्रकरणमें भारतीय पद्धतिसे नाट्य-ग्रथन की पद्धतिके विवेचनके साथ विस्तारसे अंक, सन्धि, अर्थ-प्रकृति, संध्यंग, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार आदि सबका वर्णन किया जा चुका है।

प्रस्तावना

संविधान-रचना, पात्रचयन, पात्रोंका नामकरण, अंक-विभाजन तथा दृश्य-विभाजन कर चुकनेपर नाटक लिखना प्रारम्भ करना चाहिए।

नाटकके प्रारम्भमें हमारे देशमें भी और योरोपमें भी प्रस्तावना देनेकी प्रथा रही है। भरतने नाट्यशास्त्रके पंचम अध्यायमें कहा है—

यस्माद्रङ्ग प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयोज्यते।
तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयोऽत्र द्विजोत्तमाः॥ ७॥
अस्याङ्गानि तु कार्याणि यथावदनुपूर्वशः।
तन्त्रीभाण्डसमायोगैः पाठ्ययोगकृतैस्तथा॥ ८॥
प्रत्याहारोऽवतरणं तथात्यारंभ एव च।
आसावणा वक्त्रपाणिस्तथा च परिघट्टना॥ ९॥
संघट्टना ततः कार्या मार्गोत्सारितमेव च।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठा च तथैवासारितक्रिया॥१०॥
एतानि च बहिर्गीतान्यन्तर्यवनिकागतैः।
प्रयोक्तृभिः प्रयोज्यानि तन्त्रीभाण्ड-कृतानि तु॥११॥
ततश्च सर्वकुतपैर्युक्तान्यन्यानि कारयेत्।
विघाट्य वै यवनिकां नृत्यपाठ्यकृतानि च॥ १२॥
गीतानां मुद्रकादीनामेकं योज्यं तुगीतकम्।
वर्धमानमथापोह्य ताण्डवं यत्र युज्यते॥ १३॥
ततश्चोत्थापनं कार्यं परिवर्तकमेव च।
नान्दी शुष्कापकृष्टा च रंगद्वारं तथैव च॥१४॥
चारी चैव ततः कार्या महाचारी तथैव च।
त्रिकं प्ररोचना चापि पूर्वरंगे भवन्ति हि॥१५॥
एतान्यङ्गानि कार्याणि पूर्वरंगविधौ तु च।

[जो कार्य नाटकके पहले किया जाता है वह रंग-प्रयोगसे पहले होनेके कारण पूर्वरंग पूर्वरंग कहलाता है। इसके सब अंग यथाक्रम करने चाहिए, जिसमें तंत्री-भाण्ड अर्थात् बाजे मिलाना, पाठ्ययोग, प्रत्याहार, अवतरण, आरंभ, आस्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघट्टना, मार्गोत्सारित, (जिसके तीन भेद हैं—ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ), परदेके पीछेसे बाजे-गाजेके साथ बहिर्गीत गवाना, परदा उठाकर बाजोंके साथ नृत्य और पाठ्यसे युक्त जहाँ वर्धमान तांडव भी कराना तो वहाँ मुद्रक आदि गीतोंमेंसे एक गीत गवाना, फिर उत्थापन, परिवर्त्तक, नान्दी, शुष्का और अपकृष्टा ध्रुवा, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिक आदि प्ररोचना नामक क्रियाएँ हों। पूर्वरंगमें इतने अङ्गोंका व्यवहार करना चाहिए। भावप्रकाशनकारने भी अपने ग्रन्थके सप्तम अधिकारमें यह कहा है—

नटी नटाश्च मोदन्ते पात्रान्योन्यानुरञ्जनात्।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते॥
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते।
कलापाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः॥
पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः।
तस्य द्वाविंशदङ्गानि प्रत्याहारी-मुखानि तु॥
प्रत्याहारोऽवतरणमारम्भाश्रावणे अपि।
वक्त्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत्तु परिघट्टना॥
संघट्टना ततो मार्गासारितञ्च ततो भवेत्।
शुष्कापकृष्टकं तत्रोत्थापनं परिवर्तनम्॥
नान्दी प्ररोचना तत्र त्रिगता सारिते अपि।
गीतं ध्रुवा त्रिसामस्याद्रङ्गद्वारमतः परम्॥
एतान्यङ्गानि कथ्यन्ते पूर्वरङ्गस्य सूरिभिः।

[नट और नटी जिस स्थानपर एक दूसरेका अनुरंजन करते हुए प्रसन्न होते हैं उसे रंग कहते हैं। उसके पूर्व जो क्रिया की जाती है उसे पूर्वरंग कहते हैं। क्योंकि उसमें नाटकसे पहले कवि लोग कला, पात्र, पाद-भाग और परिवर्तन करते हैं। इस पूर्व रंगके बाईस अंग हैं—प्रत्याहार, आरंभ, आस्रावणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघट्टना, मार्गासारित, शुष्कापकृष्टक, उत्थापन, परिवर्तन नांदी, प्ररोचना, त्रिगत, आसारिता, गीत-ध्रुवा, त्रिसाम, रंगद्वार, सवर्धमानक, चारि, महाचारि। इस क्रमसे कुतप अर्थात् बाजोंका बाजना प्रत्याहार कहलाता है, गायकोंका आकर बैठना अवतरण, नाट्य-संबंधी बहुतसे कार्य जैसे पर्दा

ठीक करना, रंगपीठकी सामग्री एकत्र करना, पात्रोंको सजाना आदि आरम्भ कहलाता है, सब बाजोंको ठीक करना आस्रावण, तंत्री आदिका शृंगार करना वक्त्रपाणि, बाजोंको बजा-बजाकर देखना परिघट्टना, वीणा आदिको बजाकर देखना संघटना, तंत्री और भाण्ड आदिका मेल मार्गासारित, अनर्थ वर्णोंको हटा देना अर्थात् पाठ्य प्रकरणसे निकाल देना शुष्कापकृष्टक, नान्दी पाठकोंके द्वारा नाटकका प्रयोग चलाना उत्थापक और लोकपालोंको प्रणाम करनेके लिये चारों ओर घूमना परिवर्तन। जगत्पति महादेवजीके बैल नंदीने सृष्टिके आदिमें नाचते हुए कल्पनाके योगसे रंगता प्राप्त कर ली थी इसलिये उस रूपके संबंधसे जो देवता आदिको नमस्कार या मंगलारम्भ नाटकके प्रारम्भमें किया जाता है वह नान्दी कहलाता है अथवा जो क्रिया सामाजिकोंको प्रसन्न करे या पूर्वरंगके सम्बन्धसे बाईस अंगवाली जो नाट्यके आरंभमें सबको प्रसन्न करनेवाली क्रिया की जाती है वह नान्दी कहलाती है। दर्शकोंको नाटककी प्रसिद्ध उदात्त कथाकी प्रशंसा करके उसकी ओर उन्मुख करना प्ररोचना कहलाती है। सूत्रधार, नट और पारिपार्श्वकका परस्पर वार्तालाप करना त्रिगत कहलाता है। बाहरी गीतका विधान करना आसारित, वाद्यके साथ विधान करना गीत। गीतकी पाँच प्रकारकी टेकोंको ध्रुवा कहते हैं तीन प्रकारके नृत्य, तीन लय, तीन पाणिके संयोगको त्रिसाम कहते हैं। वाणी और अंगके अभिनयका शृंगार-रसपूर्ण सुकुमार अभिनय ही रंगद्वार कहलाता है। अभिनयका बढ़ना ही वर्धमानक कहलाता है, एक बाजेका प्रयोग चारी कहलाता है और अनेक बाजोंके समूहका प्रयोग महाचारी कहलाता है। यह बाईस अंगवाला कार्य ही पूर्वरंग कहलाता है।

भारतीय शैलीसे नाटक रचनाकी प्रस्तावना प्रक्रिया रूपक-रहस्यमें इस प्रकार समझाई गई है—

रूपककी रूप-रचना

"किसी नाटककी मुख्य कथाको आरंभ करनेके पहले कुछ कृत्योंका विधान है। इन्हें पूर्वरंग कहते हैं। इसमें वे सब कृत्य सम्मिलित हैं, जिन्हें अभिनय करनेवाले नाटक आरंभ करनेके पहले रंगशालाके विघ्नोंको दूर करनेके लिये करते हैं। भरत मुनिने इन बातोंका वर्णन विस्तारसे किया है। उनके अनुसार सबसे पहले नगाड़ा बजाकर इस बातकी सूचना दी जाती है कि अब नाटक आरंभ होनेवाला है। इसके अनंतर गानेवाले रंगमंचपर आकर अपने यंत्र आदिको ठीक करते तथा उनके सुर आदि मिलाकर उन्हें बजाते हैं। तब सूत्रधार रंगमंचपर फूल छिटकाता हुआ आता है। उसके साथ एक सेवक पानीका पात्र और दूसरा इंद्रकी ध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार पहले उस जलपात्रसे पानी लेकर अपनेको पवित्र करता और ध्वजा हाथमें लेकर रंगमंचपर टहलता तथा स्तुति-पाठ करता है। इस स्तुति-पाठको नांदी कहते हैं। इसके अनंतर वह उस देवताकी स्तुति करता है जिसके उत्सवके उपलक्षमें नाटक होनेवाला है अथवा राजा या ब्राह्मणकी वन्दना करता है। नांदीके समाप्त हो जानेपर 'रंगद्वार' नामक कृत्यका आरंभ होता है, जिससे नाटकके आरंभकी सूचना होती है। सूत्रधार श्लोक पढ़ता और इंद्रकी ध्वजाकी वंदना करता है। फिर पार्वती और भूतोंकी प्रसन्नताके लिये नृत्य होता है और सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधारके सेवकमें बातचीत होती है। अंतमें नाटकके कथानककी सूचना देकर सूत्रधार और विदूषक आदि चले जाते हैं। भरत मुनिके अनुसार इसके अनन्तर स्थापकका प्रवेश होता है। इसका रूप, गुण आदि सूत्रधारके ही समान होता है और यह अपने वेशसे इस बातका आभास देता है कि नाटकका विषय देवताओंसे सम्बन्ध रखता है अथवा मनुष्योंसे। यह सुंदर छंदों-द्वारा देवताओं आदिकी वन्दना करता, नाटकके विषयकी सूचना देता हुआ नाटकके नाम तथा नाट्यकारके गुण आदिका वर्णन करता और किसी उपयुक्त ऋतुका वर्णन करके नाटकका आरंभ करा देता है।

"भरत मुनिके पीछेके नाट्यकारोंने इन सब व्यापारोंको बहुत सूक्ष्म रूप दे दिया है। धार्मिक कृत्योंका उन्होंने उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार नाटकका आरंभ नांदी-पाठसे होता है, जिसमें देवता, ब्राह्मण तथा राजाकी आशीर्वाद-युक्त स्तुति की जाती है। इसमें मंगल वस्तु, शंख, चंद्र, चक्रवाक और कुमुद आदिका वर्णन रहता है तथा यह ८ या १० पदों या पादों (चरणों) का होता है। वास्तवमें ऐसी स्तुतिको 'रंगद्वार' कहना चाहिए। यह नांदी नहीं है, क्योंकि इसमें तो नाटकका अवतरण हो जाता है। नांदी तो नटोंके स्वरूप-रचना किए बिना मंगल-

पाठ मात्र करनेको मानना चाहिए। इसमें नाटकके विषयका सूक्ष्म आभास मिल जाता था। जैसे मुद्राराक्षसके नांदीमें छल-कपटकी तथा मालती-माधवके नांदीमें शृंगार रसकी सूचना मिल जाती है। नांदी-पाठके अनंतर रंगद्वारका आरंभ होता है, जिसमें स्थापक आकर काव्यकी स्थापना करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य होती है तो देवताका रूप रचकर, यदि अदिव्य होती है तो मनुष्यका वेष धारण करके और यदि मिश्र होती है तो दोनोंमेंसे किसी एकका रूप धारण करके आता है। वह वस्तु, बीज, मुख या पात्रकी सूचना देता है। यद्यपि शास्त्रोंमें इन सब विधानोंके स्थापक द्वारा किए जानेका नियम है, पर वास्तवमें यही देखनेमें आता है कि सूत्रधार ही इनको करता है। वही नांदी-पाठ करता है और जिसके उपलक्षमें नाटक होनेवाला है उसका उल्लेख करके पारिपार्श्वक या अपनी पत्नी अथवा विदूषकका आह्वान करके बातचीत आरंभ कर देता है; तथा प्रायः किसी ऋतु आदिके वर्णनके साथ कवि तथा उसके नाटककी सूचना देकर प्रधान नाटकका श्रीगणेश करा देता है। इन कृत्योंका संपादन करनेमें उसे भारती वृत्तिका अनुसरण करना चाहिए जिसमें दर्शकोंका चित्त आकृष्ट हो जाय। भारती वृत्तिकी परिभाषा पिछले प्रकरणमें दी जा चुकी है।

भारती वृत्तिके चार अंग माने गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। जहाँ प्रस्तुतकी प्रशंसा करके लोगोंकी उत्कंठा बढ़ाई जाती है, उसे 'प्ररोचना' कहते हैं। प्रशंसा चेतन और अचेतनके आश्रयसे दो प्रकारकी होती है। देश-कालकी प्रशंसा अचेतनाश्रय कही जाती है और कथानायक, कवि, सभ्य तथा नटोंकी प्रशंसा चेतनाश्रय। अपने सम्बन्धमें कवि अपनी प्रकृतिके अनुसार चार प्रकारसे प्ररोचनाका प्रयोग करते हैं। प्रकृतिके अनुसार कवि भी चार प्रकारके होते हैं—उदात्त, उद्धत, प्रौढ़ एवं विनीत।

(१) उदात्त कवि मनमें छिपे हुए अभिमानसे हुई उक्तिका प्रयोग करते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्रमें सूत्रधारका यह वचन—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

["प्राचीन जानि कदापि वस्तुन दोषहीन न मानिए।
पुनि दोषयुत नव-ग्रन्थको जनि मित्र कबहुँ बखानिए॥
विद्वान पंडित नर सदा गुन-दोष आप बिचारहीं।
ते मूढ़ छोड़ विवेक जो पर बात नित हिय धारहीं॥]
[मालविकाग्निमित्र]

(२) उद्धत कवि दूसरोंके अपवाद करनेपर अपने उत्कर्षका कथन करते हैं। जैसे मालती-माधवमें सूत्रधारका यह कथन —

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पस्यते नु खलु कोपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वीः॥

["निदरत करि उपहास जे, लखि यह रचना-साज।
समझि लेहँ ते यतन यह, नहिं किंचित् तिन काज॥
उपजै मति कोऊ सुहृद, मो गुन परखनहार।
है यह समय अगाध बहु, औ अपार संसार॥"]
[मालती-माधव]

(३) प्रौढ़ कवि अपने उत्कर्षका कथन किसी युक्तिसे अथवा स्पष्ट करते हैं जैसे करुणाकंदलामें कविका यह वचन—

"भारद्वाज सुकविने अपने यशसे विश्व जगाया है।
वाणी-रसिक, रसोंके मर्मोंका व्यवहार दिखाया है॥
जिसकी वाणी रसिकजनोंके हृदय उल्लसित करती है।
उसकी शुभ आनंद मूर्त्ति महिमा गुणिगण-मन हरती है।"
[करुणाकंदला]

(४) विनीत कवि विनयपूर्वक अपने अपकर्षका उल्लेख करते हैं। जैसे तुलसीदासजीने रामचरितमानस में किया है—

"कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या-हीनू॥
आखर अरथ अलंकृत नाना।
छंद प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भावभेद रसभेद अपारा।
कवित दोष-गुन विविध प्रकारा॥

कवित-विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥
भनिति मोरि सब गुन-रहित, विश्व-विदित गुन एक।
सो विचारि सुनहहिं सुमति; जिन्हके विमल बिवेक॥"
[रामचरितमानस]

इसी प्रकार सभ्य (दर्शक या सामाजिक) भी दो प्रकारके कहे गए हैं—प्रार्थनीय और प्रार्थक। प्रार्थनीय सभ्य वे कहे गए हैं जिनके आगमनके लिये नाट्य-प्रयोक्ता उत्कंठित रहते हैं और जिनके आनेसे वे अपनेको सम्मानित समझते हैं। प्रार्थक वे हैं जो नाटक देखनेके लिये उत्कंठित रहते हैं तथा उसके लिये नाट्य-प्रयोक्ताओंके अनुगृहीत होते हैं।

उक्त प्ररोचनाके संक्षिप्त और विस्तृत नामके दो भेद होते हैं। रत्नावलीमें सूत्रधारका यह वचन संक्षिप्त प्ररोचना-का उदाहरण है—

"कवि श्रीहर्ष निपुन अति भारी।
गुन-ग्राहक सब सभा मझारी॥
वत्सराज कर कथा मनोहर।
तापर खेल करहिं हम सुन्दर॥
इन चारनमें एकहु बाता।
होत सकल शुभ फल करि दाता॥
हम चारों पाई एक बारा।
धन्य आज है भाग हमारा॥
[रत्नावली]

बाल-रामायण नाटककी प्ररोचना विस्तृत है। वीथी और प्रहसनके विषयमें पहले कहा जा चुका है। इनके द्वारा उत्कंठा बढ़ाकर सूत्रधार ही नटी, पारिपार्श्वक या विदूषक-के साथ प्रस्तुत विषयपर विचित्र उक्तियों-द्वारा वार्तालाप करता और बड़े कौशलसे नाटकका आरम्भ करा देता है। इसे आमुख कहते हैं। आमुखके प्रस्तावना और स्थापना नामके दो भेद माने गए हैं। जिसमें कतिपय वीथ्यंगोंका प्रयोग होता है उसे स्थापना कहते हैं। शृङ्गार रसके नाटकों-में आमुख, वीर और अद्भुत-रसके नाटकोंमें प्रस्तावना, तथा हास्य, बीभत्स और रौद्ररसके नाटकोंमें स्थापनाकी योजना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकारसे सम्पन्न किया जा सकता है; अतः इसके तीन अंग हैं—

(१) कथोद्घात—जहाँ सूत्रधारके वचन या उसके भावको लेकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंग-मंचपर आ जाता है और नाटक प्रारम्भ कर देता है। जैसे, रत्नावलीमें सूत्रधारके इस पदको दोहराता हुआ—

"द्वीपन जलनिधि मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥"

यौगंधरायण रंगमंचपर आकर अपना कथन आरंभ कर देता है। यह तो सूत्रधारके वचनोंको ही लेकर उससे नाटकका आरंभ करना है। जिसमें केवल उसका भाव लिया जाता है, उसका उदाहरण वेणीसंहारमें है। सूत्रधार कहता है—

शत्रु शमनकृत सुखी रहें श्रीकृष्ण सहित पांडव बाँके।
क्षिति सरुधिर कर, व्रणित देह, हों पुत्र स्वस्थ कुरु राजाके॥
[वेणीसंहार]

इस पर भीम यह कहता हुआ आता है—

"अरे दुरात्मा, यह मंगल-पाठ वृथा है। मेरे जीते जी धार्त्तराष्ट्रोंका स्वस्थ रहना कैसा।"

(२) प्रवृत्तक या प्रवर्तक—जहाँ सूत्रधार किसी ऋतुका वर्णन करे और उसीके आश्रयसे किसी पात्रका प्रवेश हो। जैसे—

घन तमीकर पावस भेदके,
प्रकट चंद्र हुआ नभमें अभी।
शरद प्राप्त हुआ शुभ कांतिसे,
निधन रावणका करि राम ज्यों॥

इसमें शरत्काल और रामकी तुलना करनेके कारण शरत्कालके आगमका वर्णन होते ही उसी समय रामका भी प्रवेश होता है।

(३)—प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार प्रविष्ट होनेवाले पात्रका "यह देखो इनके समान" या "यह तो अमुक व्यक्ति है" इत्यादि किसी ढंगसे साक्षात् निर्देश करे उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्रके—

परिषदकी शुभ आज्ञाका पालन वैसे ही मैं करता।
जैसे देवि धारिणीके आदेश सदा यह जन धरता॥

इस पदके द्वारा सूत्रधार "मैं परिषद्की आज्ञाको वैसे ही पूरा करना चाहता हूँ जैसे धारिणी देवीकी आज्ञाको उनका यह परिजन" यह कहता हुआ परिजनके प्रवेशकी सूचना देता है। अथवा जैसे शाकुंतलके—

लै बरबस तेरी गयो मधुर गीत सुधि संग।
ज्यों राजा दुष्यंतको लायो यह कुरंग॥

इस पदमें सूत्रधारने अपनी उपमा साक्षात् दुष्यंतसे देकर उसके आनेकी सूचना दी है।

साहित्यदर्पणमें प्रस्तावनाके पाँच भेद गिनाए हैं—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवगलित। उद्घातकका यह लक्षण दिया है—अभिप्रेत अर्थके बोधनमें असमर्थ पदोंके साथ अपने अभिलषित अर्थकी प्रतीति करानेके लिये जहाँ और पद जोड़ दिए जायँ वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। जैसे, मुद्राराक्षसमें सूत्रधार कहता है—

"चंद्र-बिंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप।
बल सों करिहै ग्रास यह......"

इसपर नेपथ्यसे यह कहता हुआ कि "मेरे जीते जी चंद्रको कौन बलसे ग्रस सकता है" चाणक्य प्रवेश करता है। प्रयोगातिशयके ऊपर दिए हुए लक्षणसे साहित्य-दर्पणका लक्षण भिन्न है। साहित्य-दर्पणमें प्रयोगातिशयका यह लक्षण दिया है—"यदि एक प्रयोगमें दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और उसीके द्वारा पात्रका प्रवेश हो तो वह प्रयोगातिशय है।" जैसे कुंदमालामें सूत्रधार नटीको बुलाने जा ही रहा था कि उसने नेपथ्यमें "आर्या! इधर इधर" की आवाज़ सुनी। इसपर यह कहते हुए कि "कौन आर्याको पुकारकर मेरी सहायत करता है" उसने नेपथ्यकी ओर देखा और यह पद पढ़कर लक्ष्मण और सीताके प्रवेशकी सूचना दी—

"किया निवास भवनमें लंकापतिके सीताने बहु काल,
इसी लोक-अपवाद-भीतिसे दुःखित हो कौशल्या-लाल।
बाहर किया नगरसे यद्यपि गर्भवती थीं शुभगीता,
लक्ष्मणके सँग चली जा रहीं वनको वैदेही सीता॥"

[कुंदमाला]

जहाँ एक प्रयोगमें किसी प्रकारके सादृश्य आदिकी उद्भावनाके द्वारा किसी पात्रके प्रवेशकी सूचना दी जाय, उसे "अवगलित" कहते हैं; जैसे, शाकुंतलामें सूत्रधारने यह कहकर—

"लै बरबस तेरो गयो मधुर गीत मुहि संग।
ज्यों राजा दुष्यंतको लायो यहै कुरंग॥"

[शाकुंतल]

दुष्यंतके प्रवेशकी सूचना दी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि दशरूपकका 'प्रयोगातिशय' वही है जो साहित्यदर्पणका 'अवगलित' है। कथोद्घातक और उद्घातकमें इतना ही भेद है कि एकमें सूत्रधारके वचन या भावको लेकर पात्रका प्रवेश होता है और दूसरेमें सूत्रधारके अन्यार्थक कथनको अपने मनके अर्थमें लेता हुआ पात्र आता है। दोनोंमें जो कुछ अन्तर है वह यही है।

नखकुट्टका कहना है कि नेपथ्यका वचन या आकाशभाषित सुनकर उसके आशयपर भी नाटकोंमें पात्रोंका प्रवेश कराया जाता है।

भारती वृत्तिके अन्तर्गत वीथीके तरह अंग होते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) उद्घात्य—गूढ़ार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दोंका अर्थ समझनेके लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो अथवा वस्तुविशेषके ज्ञानके लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो उसे उद्घात्यक कहते हैं। पहले भेदका उदाहरण—

"विदूषक—हे मित्र! यह कामदेव कौन है जो तुम्हें भी दुःख देता है? क्या वह पुरुष है या स्त्री?

राजा—हे सखा! मन ही जिसकी जाति है, जो स्वच्छंद है और सुखमें ही जिसपर चला जाता है, स्नेहके ऐसे ललित मार्गका ही नाम कामदेव है।

विदूषक—मैं तो यह भी नहीं जानता।

राजा—मित्र, वह इच्छासे उत्पन्न होता है।

विदूषक—क्या, जो जिस वस्तुको चाहता है वही उसके लिये काम है?

राजा—और क्या!

विदूषक—तब तो जान गया, जैसे रसोई-घरमें मैं भोजन की इच्छा करता हूँ।"

[विक्रमोर्वशीय]

दूसरे भेदका उदाहरण—

श्लाघनीय क्यों होते गुणिजन? क्षमा घर;
कौन निरादर? निजकुलवाले जिसे करें।
कौन दुखी है?—परका आश्रय लेनेवाला;
स्तुत्य कौन नर है?—आश्रय देनेवाला॥
जीवित भी कौन मृतक है?—दास व्यसनका;
शोक-विहीन है कौन? मर्दक अरिजनका।
हैं धन्य कौन नर इस तथ्य-ज्ञानसे युत?—
विराट् नगरमें छिपे हुए जो पांडु-सुत॥

[पांडवानंद]

पांडवानंदमें इस प्रश्नोत्तरमालासे पात्रों (पांडवों) का प्रवेश किया गया है ।

(२) अवगलित—जहाँ एकके साथ सादृश्य आदिके कारण दूसरे कार्यका साधन हो या प्रस्तुत व्यापारमें कोई दूसरा ही व्यापार हो जाय वहाँ अवगलित होता है । जैसे उत्तर-रामचरितमें गर्भिणी सीताको वनमें घूमकर ऋषियोंके आश्रमोंको देखनेकी इच्छा होती है । परन्तु इससे दूसरे ही कार्यका साधन हो जाता है । इस इच्छाकी पूर्तिके बहाने वह अपवादके कारण जंगलमें छोड़ दी जाती है ।

अथवा छलितमें राम जैसे—

राम—लक्ष्मण ! मैं पिताजीसे रहित अयोध्यानगरमें विमानपर चढ़कर जानेमें असमर्थ हूँ, इसलिये उतरकर चलता हूँ ।

वह देखो ! सिंहासनके नीचे पादुकाओंके सामने अक्षमाला पहने हुए तथा चँवर डुलाते हुए कोई जटाधारी शोभित है ।

यहाँ रथके उतरनेके कार्यसे भरतके दर्शन-रूप दूसरे कार्यकी सिद्धि हुई ।

साहित्य-दर्पणकारने इन दोनोंको प्रस्तावनाके अन्तर्गत माना है और वीथ्यंगोंमें भी इनका उल्लेख किया है ।

(३) प्रपंच—असत्कर्मोंके कारण एक दूसरेकी उपहासपूर्ण अल्प प्रशंशा । परस्त्री-गमन आदिमें चातुर्य्य असत्कर्ममें सम्मिलित है । कर्पूरमंजरीमें भैरवानन्दका यह कथन इसका उदाहरण है—

रंडा चंडा दीक्षिता विहित नारि हमारी ।
मांस मद्य खाते पीते हैं अति बलकारी ॥
है भिक्षावृत्ति चर्मका शय्यासन न्यारा ।
कौल धर्म यह, भाई, किसे न लगता प्यारा ॥

(४) त्रिगत—जिसमें शब्दोंकी श्रुति-समता (एकसे उच्चारण) के कारण अनेक अर्थोंकी कल्पना हो । इसकी सत्ता पूर्वरंगमें नट आदि तीन पात्रोंके संलापसे होती है । जैसे विक्रमोर्वशीयमें—

कुसुम-रसोंसे मतवाले भौंरे कोयल करते गुंजार ।
वैसे देव-सभा में बैठी गाती हीं किन्नरी वहार ॥

(५) छलन—देखनेमें प्रिय पर वास्तवमें अप्रिय वाक्यों-द्वारा धोखा देना । अन्य शास्त्रकारोंके मतसे किसीके कार्यको लक्ष्य करके धोखा देनेवाले हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना छलन है । जैसे, वेणीसंहारमें भीम-अर्जुन दोनों कहते हैं—

जूएमें छल, लाक्षागृहमें अग्नि-प्रदाता अभिमानी,
ज्येष्ठ भ्रात दुःशासन आदिक सौ का, कर्ण-मित्र मानी ।
कृष्णाका कच-वस्त्र-विकर्षक, पांडव जिसके दास बने,
कहाँ गया दुर्योधन ऐसा, आए हम उनसे मिलने ॥

(६) वाक्केली—किसी वक्तव्य बातको कहते कहते रुक जाना । जैसे, उत्तर-रामचरितमें वासंतीकी उक्ति—

"तुम ही प्रियप्रान सबै कछु हौ,
तुम ही मम दूजो हियो सुकुमारी ।
तुम ही तन काज सुधा सरिता,
इन नैननिकी तुम ही उजियारी ॥
हिय भोरे कि यों ही लई भरमाइ कैं,
बात बनाय बनाय पियारी ।
पुनि ता सिय कौं—बस मौन भलो,
अब होत कहा कहिबे तें अगारी ॥"

अथवा दो तीन व्यक्तियोंकी हास्यजनक उक्ति-प्रत्युक्ति जैसे रत्नावलीमें—

"विदूषक—मदनिके ! मुझे भी यह चर्चरी (एक प्रकारका छंद) सिखाओ ।

मदनिका—मूढ़ ! यह चर्चरी नहीं है, इसे द्विपदी खंड कहते हैं ।

विदूषक—क्यों जी ! इस खंडसे क्या लड्डू बनाए जाते हैं ?

मदनिका—नहीं ! यह पढ़ा जाता है ।"

कुछ लोगोंका कहना है कि जहाँ अनेकप्रश्नोंका एक ही उत्तर हो वहाँ भी वाक्केली ही होती है ।

(७) अधिबल—दो व्यक्तियोंका बढ़-चढ़कर स्पर्धा-युक्त बातें करना । जैसे वेणीसंहारमें धृतराष्ट्र और गांधारी को अर्जुन, प्रणाम करते हैं—

सकल शत्रुके जयकी आशा जहाँ बँधी थी ।
जिसके बलपर सृष्टि एक तृण सम समझी थी ॥
उस राधासुत कर्णवीरको मारनहारा ।
अर्जुन तुमको है प्रणाम करता जग न्यारा ॥

इसके पश्चात् दुर्योधन कहता है कि मैं तुम्हारे समान आत्मश्लाघी नहीं हूँ किन्तु—

(ब्राह्मण अपनी दृष्टिमें दोष समझकर बकरा पटककर चल देता है ।)

(५) उपपत्ति—उपपत्ति वहाँ होती है जहाँ किसी प्रसिद्ध बातको लोकप्रसिद्ध युक्तिसे हास्यका विषय बनाया जाय—

उस तनुमध्याका चरण, पीपल-दल सम जानि ।
वृक्षन महँ अश्वत्थ हूँ, नारायण लइ मानि ॥

(६) भय—नगर-रक्षकों आदिके कारण उत्पन्न डर, जैसे—

जैन—अहा ! यह राजकीय विषय है कि नगरमें रहनेवाले तपस्वियोंका धन चोरी जाता है । (हाथ उठाता है ।)

('अरे किसका कितना धन चोरी गया है !'—यह कहते हुए नगर-रक्षकोंका प्रवेश ।

अरूपांबर—अरे मारे गए । नगर-रक्षक आ गए । (ओठ फड़काने लगता है । मिथ्यातीर्थ गणिकाको धक्का देकर समाधि लगाता है और निष्कच्छकीर्ति एक पैरपर खड़ा होकर उँगली गिनता है ।)

(७) अनृत—झूठी स्तुति करना । कोई कोई अपने मतकी स्तुतिको अनृत कहते हैं, जैसे कर्पूरमंजरीमें—

रंडा चंडा, दीक्षिता धर्मदारा, पीना खाना मद्य औ मांसका है ।
भिक्षा वृत्ती चामका है बिछौना, किसको भाता कौलका धर्म है ना ॥

(८) विभ्रांति—वस्तु-साम्यसे उत्पन्न मोहको विभ्रांति कहते हैं, जैसे—

(सुंदरीको देखकर एक बौद्ध भिक्षुकको किसी नगरीका भ्रम होता है ।)

दूसरा—दीह नैनवाली है, पुरी है यह नाहिं मूढ !
तोरण नहीं हैं, ये भौंह-सान ताने हैं ।
दर्पण नहीं हैं, ये कपोल सुंदरीके हैं,
नहीं ये कलश, कुच पीन सरसाने हैं ॥

(९) गद्गदवाक्—झूठे रोनेसे मिले हुए कथनको गद्गदवाक् कहते हैं ।

गुह्यग्राही—(स्वगत दो वहनोंको परस्पर मिलकर रोनेपर)

आँसू बिन गद्गद कहति, छोड़ति दीरघ साँस ।
इनकी झूठी रोवनी, सुरति अंतकी रास ॥

यहाँ गद्गदवाक् स्पष्ट ही है ।

(१०) प्रलाप—अयोग्यका योग्यतासे अनुमोदन करना । जैसे—

राजा—(उदारताके साथ) अरे विडालाक्ष ! हमारे नगरमें जो पतिहीना स्त्री हो तथा जो स्त्री-हीन पुरुष हो वह इच्छानुसार व्यवहार करें, यह घोषणा कर दो ।

विडालाक्ष—जो आज्ञा ।

गुह्यग्राही—हे महाराज ! यह घोषणा आपने नष्टाश्व-भग्नशकट न्यायसे की है तथा मनु आदि जो सैकड़ों राजा हुए हैं उन्होंने भी पृथ्वीका पालन करते हुए ऐसे आश्चर्य और सौख्यको देनेवाला मार्ग नहीं निकाला ।

ऊपर हम देख चुके हैं कि प्राचीनोंने भारती वृत्तिका संबंध केवल नटोंसे माना है तथा अन्य पात्रोंके रंगमंचपर आनेके पहले ही उसका प्रयोग होना बतलाया है । धनञ्जयने अपने दशरूपकमें इन १३ वीथ्यंगोंका उल्लेख करके स्पष्ट लिख भी दिया है—

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ।
प्रस्तावनांते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपंचयेत् ॥

[इन वीथ्यंगोंके द्वारा अर्थ और पात्रका प्रस्ताव करके प्रस्तावनाके अंतमें सूत्रधार चला जाय और तब वस्तुका प्रपंचन आरंभ हो ।] किंतु वीथ्यंगों और प्रहसनके अंगोंका जो विवरण ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि आगे चलकर नाटकके सभी अंगोंमें भारती वृत्तिका प्रयोग होने लगा । इस विवरणसे यह भी स्पष्ट है कि ये सब ऐसे प्रयोग हैं, जिनसे प्रायः हास्य-रसका उद्रेक होता है और जो भारती वृत्तिके अनुरूप, सुननेवालोंके हृदयोंको चमत्कृत करके उन्हें आनन्दमें निमग्न कर देते हैं । हमारे विचारसे आरम्भमें वीथी और प्रहसन प्रस्तावनाके ऐसे अंशोंको कहते थे जिनमें हँसी या आमोदजनक चमत्कारपूर्ण उक्तियोंकी अधिकता रहती थी और जो सामाजिकोंके चित्तको प्रसन्न कर अभिनय देखनेके लिये उनकी रुचिको उत्कंठित करते थे । आगे चलकर नाटकके आरम्भमें ही नहीं, उसके अन्य अंशोंमें भी सामाजिकोंकी रुचिको आकृष्ट करनेकी आवश्यकताका अनुभव हुआ होगा जिससे और अंशोंमें भी उसका प्रयोग होने लगा । यही धनंजयके भारती वृत्तिके संबंधमें 'नटाश्रयः'का, विश्वनाथके 'नराश्रयः'में बदलनेका इतिहास है, जिसका उल्लेख पिछले अध्यायमें हो चुका है ।

'यहाँपर यह भी प्रश्न उठ सकता है कि भारती वृत्ति, वीथी और प्रहसन भेदोंका इन्हीं नामके रूपकोंसे कुछ सम्बन्ध है या नहीं। हमारे मतमें वीथी और प्रहसन वृत्तिके भेदोंके ही विकसित रूप हैं। जैसे ये प्रस्तावनासे नाटकके सर्वाङ्गमें संक्रमित हुए उसी प्रकार इन्होंने मनुष्यकी आमोद-विनोदी प्रकृतिसे लाभ उठाकर रूपक-जगत्‌में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर दी। परंतु पहले ये प्रस्तावनाके अंग मात्र थे, इसमें संदेहका स्थान नहीं।

'इस प्रकार प्रस्तावना-द्वारा मुख्य नाटकका आरम्भ होना चाहिए। मुख्य नाटकमें सबसे आवश्यक बात अन्तिम फलकी प्राप्ति है। इसके स्थिर करनेमें नाटककार-को बड़े सोच-विचारसे काम लेना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नाटक आमोद-प्रमोद और मनबहलाव-के उपादान हैं। इनसे ये सब बातें तो प्राप्त होती ही हैं और होनी भी चाहिएँ; पर साथ ही ये उच्च, उपकारी तथा उपदेशमय आदर्शका चित्र भी उपस्थित करते हैं। जीवनकी व्याख्या इनके द्वारा अवश्य होती है। पर जीवन कैसा होता है यही इनका उद्देश्य नहीं होना चाहिए, वरन् इन्हें यह भी दिखलाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए और उत्तमसे उत्तम कैसा हो सकता है। इसीलिये कहा गया है कि नाटकके द्वारा अर्थ, धर्म और कामकी प्राप्ति होती है। फलका निश्चय हो जानेपर नाटककार-को अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा संधियोंके अनुसार विचारपूर्वक उनकी रचना करनी चाहिए।

'रूपककारको चाहिए कि प्रस्तावनाके उपरांत कार्य-व्यापारपर ध्यान देकर आरम्भमें विष्कंभकका प्रयोग करे; अर्थात् वस्तुका जो विशेष भाग अपेक्षित तो हो पर साथ ही नीरस भी हो, उसे छोड़कर शेष अंशका नाट्य दिखावे और उस अपेक्षित अंशको विष्कंभकमें ले जाय परन्तु जहाँ सरस वस्तुका आरम्भसे ही प्रयोग हो सकता हो वहाँ आमुखमें की गई सूचनाका ही आश्रय लेकर कार्य आरंभ करना चाहिए।

'रूपकके प्रधान खंडको अंक कहते हैं। अंकमें नायक-के कृत्योंका प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। अतएव उसे रस और भाव-पूर्ण होना चाहिए। प्रत्येक अंकमें प्रधानता एक ही रसको मिलनी चाहिए और वह भी या तो शृंगारकी या वीरकी। और रसोंको गौण स्थान मिलना चाहिए। वे प्रधान रसके सहायक मात्र होकर आ सकते हैं। अद्भुत रस अंकके अंतमें आना चाहिए। अंकोंको रसपूर्ण तो होना चाहिए परंतु रसका इतना आधिक्य न हो कि कथाका व्यापार असंबद्ध-सा लगने लगे। वस्तुका सूत्र बराबर चलता रहना चाहिए।

'किसी भी कारणसे यदि कथा-प्रवाहसे ध्यान हट जाय तो कुतूहल-वृत्ति शांत हो जाती है और अभिनयसे रुचि हट जाती है। इसलिये प्रत्येक अंककी कथाको स्वतः पूर्ण नहीं होना चाहिए। अर्थात् अंकोंमें अवांतर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए किंतु बिंदु लगा रहना चाहिए, अर्थात् मुख्य कथाकी समाप्ति नहीं होनी चाहिए। आगे क्या होता है, मनमें यह उत्सुकता बनी रहनी चाहिए। एक अंकमें एक ही दिनकी कथा होनी चाहिए और नायकके अतिरिक्त तीन ही चार पात्र और होने चाहिएँ। तात्पर्य यह कि जो पात्र वस्तु-व्यापारको बढ़ानेमें नितान्त आवश्यक हों वे ही आने चाहिएँ, उनसे अधिक नहीं। एकके अनन्तर दूसरे अंककी रचना, अवस्था, अर्थ प्रकृति, संधि, उसके अंग तथा अर्थोपक्षेपकोंको ध्यानमें रखकर करनी चाहिए।

'कुछ शास्त्रकारोंने अंकके मध्यमें आनेवाले अंकोंको गर्भाङ्क कहा है और लिखा है कि इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायकका उत्कर्ष बढ़ानेके लिये होना चाहिए। इसमें रंगद्वार और आमुख आदि अंग होते हैं तथा बीज और फलका स्पष्ट आभास होता है। यह देखनेमें आता है कि किसी नाटकके अंतर्गत जो दूसरा नाटक होता है वह गर्भांकमें दिखाया जाता है जैसे, प्रियदर्शिकाके तीसरे अंकमें वासवदत्ताका अपनी सखियों-द्वारा वत्सराजसे अपने पूर्व प्रेम-कृत्योंका नाट्य कराना; अथवा उत्तर-रामचरितमें वाल्मीकि ऋषिका राम-लक्ष्मणके सम्मुख सीताके दूसरे वनवासकी कथा अप्सराओं-द्वारा दिखाना, अथवा बाल-रामायणमें सीता-स्वयंवरका प्रदर्शन।'

प्रस्तावनाके अन्य प्रकार

प्रस्तावनाके और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं—

१—नेपथ्यसे कथा सुना देना।

२—जहाँसे कथा प्रारम्भ होनेवाली है उससे पूर्वका प्रसंग बताकर समाप्त कर देना और इस प्रकार दर्शकोंके मनमें उत्सुकता भर देना।

किन्तु मूक संवाद-नाट्यमें संवादका वाचिक अभिनय अर्थात् पाठ तो नेपथ्यमें प्रत्येक पात्रके प्रतिनिधि संवाद-पाठक करते हैं और रंगमंचपर पात्रोंकी भूमिका धारण करनेवाले केवल अभिनय करते हैं । इसे ही नेपथ्यवाक् (प्ले बैक) कहते हैं । आजकल अनेक चलचित्रवाले प्रायः संगीतज्ञान-हीन अथवा कंठहीन सुन्दरी अभिनेत्रियोंके गीतोंके लिये इसीका प्रयोग करते हैं।

श्रव्यनाट्य (रेडियो प्ले)

यद्यपि नाटक तो दृश्य और श्रव्य दोनों होना चाहिए किन्तु रेडियोपर जो नाटक प्रस्तुत किए जाते हैं वे दृश्य-रेडियो (टेलिविजन)के प्रचलित होनेतक तो श्रव्य नाटक ही प्रस्तुत कर रहे हैं । ऐसे श्रव्य नाटकोंके चार अंग होते हैं—

१—सूचना
२—संवाद
३—ध्वनि-युक्त व्यापार योजना ।
४—संगीत (गीत, वाद्य तथा नृत्य)।

इसकी रचना करते समय संवादके अतिरिक्त शेष सब कार्य एक सूचकके द्वारा बीच-बीचमें सूचित कराते रहना चाहिए और इस सूचनाकी भाषा इतनी काव्यमय और प्रभावशाली किन्तु सरल हो कि सूचक उसे पढ़ते समय वाचिक स्वरके उतार चढ़ावके द्वारा उसके भाव व्यक्त करता चल सके ।

इसमें रंगनिर्देश तथा संवाद-कार्य ठीक वैसा ही होता है जैसे अन्य साधारण नाटकोंमें किन्तु संवाद ऐसे हों जिनमें अधिकसे अधिक वाचिक अभिनयका अवसर हो । इसका तीसरा अंग ही विशेष ध्यान देनेका है, वह है ध्वनियुक्त व्यापार-योजना । साधारण दृश्य नाटकमें तो अभिनेताओं की सारी क्रिया प्रत्यक्ष होती है इसलिये कोई असुविधा नहीं होती किन्तु 'वह उठकर जाता है, चलता है, सोचता है' आदि क्रियाएँ श्रव्यनाटकमें तो देखी नहीं जा सकतीं और प्रत्येक ऐसी क्रिया सूचित भी नहीं की जा सकती क्योंकि उससे भावधारा टूटनेकी आशंका पग-पगपर बनी रहती है। इसलिये प्रायः ध्वनियुक्त व्यापारोंकी योजना करनी चाहिए जिससे श्रोता उस व्यापारको कानसे समझ सके जैसे प्याले धोना, थाली गिराना, मोटरका भोंपा, चिड़ियों या अन्य जीवोंकी बोली, किवाड़की भड़भड़ाहट, घड़ीकी टिकटिक, घंटा ध्वनि, घोड़ेकी टाप, तलवारोंकी खनखन, पिस्तौलकी धायँ आदि।

चौथा अंग संगीतका तो वैसा ही है जैसा अन्य नाटकोंमें किन्तु इसमें यह संकेत करना चाहिए कि कहाँ, किस रागमें, किस ताल और लयमें किस वाद्यके साथ नृत्य या गीत हो या केवल वाद्य अथवा केवल नृत्य हो ।

इसी प्रकार अन्य नाट्य-रूपोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए और संवाद, अभिनय, संगीत और भाषाका आश्रय लेकर अनेक प्रकारके नाट्य-रूपोंकी सृष्टि करनी चाहिए ।

नाट्यकी रचना और उसके रूपके शास्त्रीय विचारके सम्बन्धमें इतना पर्याप्त होगा । यद्यपि नाटकके शास्त्रीय विचारमें रसका भी विवेचन होना चाहिये था किन्तु हम पहले ही कह आए हैं कि इसका संबंध दर्शकोंसे है अतः दर्शकोंका विश्लेषण करते समय हम रसका भी विवेचन करेंगे । यों जहाँ-जहाँ रसके जितने अंगोंका विवेचन रूपकके विभिन्न तत्त्वोंको समझानेके लिये अपेक्षित था उनका विवरण यथास्थान यथोचित रूपमें दिया गया है ।

॥ इत्यभिनवभरत-नैमिनेमिचतुर्वेद-श्रीसीताराम-विरचितेऽभिनवनाट्यशास्त्रे रूपक-रचना-खंडे नाट्यग्रथनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥

इति रूपक-रचना-खण्डं सम्पूर्णम् ॥